* श्रीः *

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

गोस्वामि श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त

श्रीअयोध्यानिवासी

श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद रूपकला

विरचित

भक्तिसुधास्वाद तिलक सहित

प्रकाशक

तेजकुमार-प्रेस, बुकडिपो लखनऊ.

उत्तराधिकारी—

नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ.
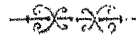
तीसरी बार] सन् १९५१ ई० [मूल्य १५)

श्रीभक्तमाल "भक्तिसुधास्वाद"

श्रीसीताराम शरण भगवान् प्रसाद रूपकला

S. R. S. B. P. R. K.

तेजकुमार-प्रेस, लखनऊ.

* श्रीः *

गोस्वामि श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

श्रीप्रियादासजी प्रणीत टीका-कवित्त

श्रीअयोध्यानिवासी

श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद रूपकला

विरचित

भक्तिसुधास्वाद तिलक सहित

प्रकाशक

तेजकुमार-प्रेस, बुकडिपो,

उत्तराधिकारी—नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो,

लखनऊ

तीसरी बार

सन् १९५१ ई०

❀ श्रीहंसकलायै नमः ❀

भूमिका।

—:o:—

श्रीसीताराम-कृपा से इस दीन को बचपन ही से श्रीभक्तमालजी के पढ़ने में, और श्रीहरिभक्तों की कथाओं के श्रवण करने में, असाधारण आनन्दानुभूति होती आई है। इस कारण श्रीप्रेरित होकर स्वभावतः इस दीन ने श्रीभक्तमालजी को अत्यन्त मनोयोग के साथ बड़ी श्रद्धा से, प्रथम तो अपने पूज्य पिता श्रीमहात्मा तपस्वीरामजी सीतारामीय से जो अपने समय में उस प्रान्त में "श्रीभक्तमालीजी" नाम से प्रसिद्ध थे अध्ययन किया था, और तत्पश्चात् यहाँ श्रीजानकीघाट के महात्मा स्वामी पंडितवर श्री १०८ रामवल्लभाशरण महाराजजी से और पंडित श्रीगंगादासजी से भी पढ़ा था।

श्रीभक्तमालजी के इस "भक्तिसुधास्वाद" नाम तिलकनिर्माण में तीनों महोदयों की शिक्षा से जो अनमोल सहायता ली गई है सो अकथनीय है, और यह दीन एतदर्थ सदा उपर्युक्त तीनों महोदयों का एकान्त ऋणी बना रहेगा।

इसका प्रथम संस्करण, श्रीकाशीजी में, बाबू बलदेवनारायण सिंहजी वकील ने छः जिल्दों में छपवाकर प्रकाशित किया, इसलिये वे सज्जन भी इस दीन के अमित अमित धन्यवाद के पात्र हैं।

तिलककार विनीत दीन

श्रीअयोध्याजी }
स० १९०६ }

श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद रूपकला

(S. S. R. S. B. P. R. K.)

* श्रीः *

❀ समर्पण ❀

——:o:——

सुमुख, सुलोचन, सरल, सत, चिदानन्द, छविधाम।
प्राण-प्राण, जिय जीव के, सुखके सुख, सियराम॥ १

पवनतनय, विज्ञानघर, कपि, बल पवन समान।
रामदूत, करुणायतन, बुद्धि विवेक निधान॥ २

सन्तशिरोमणि सन्तप्रिय, प्रेमी, सहज उदार।
जानकिघाटश्री "प्रेमनिधि", रामप्रेम आगार॥ ३

"रामवल्लभाशरण" शुचि, पण्डित सन्तप्रवीन।
तेजपुंज, सद्गुण-भवन, शोभा नित्य नवीन॥ ४

रामचरितमानस प्रभृति, भक्तमाल निगमाद।
वाल्मीकि भागौत की, कथा प्रेम रस स्वाद॥ ५

शान्ति, विरति, रति, ज्ञान, हरि-भक्ति, सुतत्त्व विभाग।
सन्त समाज बखानहीं, वचन अमिय अनुराग॥ ६

श्रीहरि गुरु करकंज यहि, अर्पति मन वच काय।
रुपिया सोई तुच्छ अति, कृपया लें अपनाय॥ ७

तुम्हारी

रुपिया (रूपकला)

श्रीअयोध्याजी.

* श्रीः *

तृतीयावृत्ति

"श्रीभक्तमाल सटीक सतिलक" का सूचीपत्र ॥

श्री हनुमतें नमः

श्री प्रेमनिधये नमः

श्रीः

श्रीअयोध्यासरयूभ्यां नमः।

श्रीसीताराम

ओ३म् नमो भगवते हनुमते श्रीरामदूताय।

श्रीमते रामानन्दाय नमः॥

अथ श्रीभक्तमाल सटीक

(तथा सतिलक)

दो० "भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुर नाम वपु एक।
इनके पद बंदन किये, नाशहिं विघ्न अनेक॥"

अथ टीकाकर्त्ता श्रीप्रियादासजी का मंगलाचरण, तथा आज्ञानिरूपण।

(१) कवित्त (८४२)

महाप्रभु "कृष्णचैतन्य", मनहरनजू के चरण कौ ध्यान मेरे, नाम मुख गाइयै। ताही समय "नाभाजू" ने आज्ञा दई, लई धारि, टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै॥ कीजिये कवित्त बंद छंद अति प्यारो लगै, जगै जगमांहि, कहि, वाणी बिरमाइयै। जानौं निजमति, ऐपै सुन्यौ भागवत शुक द्रुमनि प्रवेश कियौ, ऐसेई कहाइयै॥ १॥ (६२८)

अथ "भक्तिसुधास्वाद" वार्त्तिक तिलक।

ॐ नमो भगवते हनुमते श्रीरामदूताय। श्रीचारुशीलादेव्यै नमः। श्रीचन्द्रकलादेव्यै नमः। श्रीअग्रअलीदेव्यै नमः॥ श्रीश्यामनायिकायै नमः। श्रीहंसकलायै नमः॥ (श्लोक) "यं प्रव्रजंतमनुपेतमपेतकृत्यं

द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव। पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्व-भूतहृदयं मुनिमानतोस्मि" ॥ १ ॥

दो० भक्तमाल आचार्य्य वर, श्रीनाभा पदकंज।
प्रियादास पदकमलपुनि, बंदौं मङ्गल पुंज ॥
"सन्त सरलचित जगत हित, जानि सुभाव सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरण रति देहु ॥"
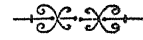
गोस्वामी "श्रीनाभाजी" करुणासिंधुकृत "श्रीभक्तमाल" जी की प्रसिद्ध टीका "श्रीभक्तिरसबोधिनी" के कर्त्ता, श्रीप्रियादासजी कृपा-निधि, यों कहते हैं कि "महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्य मनहरण" पदकंज का, तथा तद्रूप मनहरण [निज स्वामी] "श्रीमनोहरदास" जी का, ध्यान एक समय अपने मन में मैं कर रहा था, और साथ ही साथ श्रीनामकीर्त्तन भी। उसी समय गोस्वामी श्रीनाभाजी ने मुझे आज्ञा दी कि "भक्तमाल की विस्तृत टीका करो, और ऐसी कि कवित्त छंद से बंध बहुत ही मधुर तथा प्रिय लगे, और जगत् में प्रसिद्ध होवे ॥" ऐसी आज्ञा दे जब आप की वाणी शान्त हो गई, तब मुझे अपनी मति अति मंद जानकर पहिले अपने को संकोच तो निःसन्देह बड़ा भारी हुआ ही, परन्तु यह विचार करके आज्ञा को सीस पर धर लिया कि "श्रीमद्भागवत" में सुन चुका हूं कि "परमहंस श्रीशुकदेव जी" वृक्षों में प्रवेश करके * स्वयं बोल उठे थे और "शुकोहम्, शुकोहम्" कहने लगे थे ; ऐसे ही मुझ जड़मति में भी स्वयं श्रीनाभाजी ही प्रवेश करके अपनी कृपा से ही मुझसे भी तिलक बनवा लेंगे। इसमें आश्चर्य्य वा संदेह ही क्या है ॥

* श्रीमद्भागवत के आरम्भ में ही कहा है कि जब श्रीशुकदेव भगवान् जन्मते ही परम विरक्तिमान् सब त्यागकर, घर से निकल वन को चल दिये, और उनके पिता श्रीव्यास भगवान् पुत्र के (उनके) विरह में कातर होकर उनके पीछे पीछे "हे पुत्र ! हे पुत्र !" ऐसा पुकारते हुए साथ हो लिये; तब योगीश्वर सर्वहृदयप्रवेशक श्रीशुकदेवजी ने तो पीछे की ओर मुँह तक भी न फेरा, और न साक्षात् उत्तर ही (महर्षि पिताजी को) दिया, किन्तु उस प्रदेश के समस्त वृक्षगण आप आप को बोलने लगे कि "हाँ, मैं शुक हूँ, मैं शुक हूँ, क्या आज्ञा होती है ? ॥"

दो० "सरल वरण, भाषा सरल, सरल अर्थ मय मान।
तुलसी सरल सन्त जन, जाइ करिय पहिचान॥"
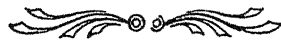
(२) टीका का नाम स्वरूप वर्णन कवित्त (८४१)

रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है। अच्छर मधुरताई अनुप्रास जमकाई, अति छवि छाई मोद झरीसी लगाई है॥ काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति नाभा जू कहाई, याते (ताते) प्रौढ़िकै सुनाई है। हदै सरसाई जोपै सुनियै सदाई, यह "भक्तिरसबोधिनी" सुनाम टीका गाई है॥ २॥ (६२७)

तिलक।

कविताई ऐसी रची है, कि अति सुहाई (सुहानेवाली) और सुखदाई लगती है; पुनरुक्ति के दोष को भी मिटा डाला है; सचाई, और कोमल अक्षरों की मधुरता, (रसों के स्वरूपादि और टीका के विचित्र चमत्कार,) तथा अनुप्रासों और यमकों की छवि ने मोद (आनन्द) की वृष्टि सी बरसाई है। अस्तु। अपने काव्य की प्रशंसा ("आप मुँहमिट्ठू") अपने ही मुख से कहनी, कुछ अच्छी बात तो नहीं ही है, परन्तु श्रीनाभाजी ने कहलाई है, (जैसी कि ऊपर निवेदन कर चुकाहूँ, अतएव पुष्टता से कहने में आ गई; सज्जन विचारवान् इसको क्षमा करेंगे॥ यदि इसको नित्यशः कोई पढ़े सुनेगा तो अवश्यमेव उसका अंतःकरण श्रीहरिभक्ति महारानीजी की कृपा से निःसन्देह सरस हो आवेगा॥ ऐसी टीका (गाई है) की है और इसका नाम "भक्तिरसबोधिनी" है॥
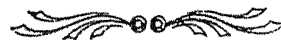
(३) श्रीभक्ति स्वरूप। कवित्त (८४०)

'श्रद्धा'ई (ही) फुलेल औ उबटनो 'श्रवण कथा', मैल अभिमान, अंगअंगनि छुड़ाइये। 'मनन' सुनीर, अन्हवाइ अंगुछाइ 'दया', 'नवनि' वसन, 'पन' सोधो, लै लगाइये॥ आभरन 'नाम हरि', 'साधुसेवा' कर्णफूल, 'मानसी' सुनथ, 'संग' अंजन, बनाइये। "भक्ति महारानी" कौ सिंगार चारु, बीरी 'चाह', रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी, गाइये॥३॥ (६२६)

तिलक ।

निम्नलिखित सुश्रृङ्गार श्रीभक्ति महारानीजी के जानिये। जो इन्हें निरखता रहता है उसको श्रीप्रिया प्रियतम (श्रीराम प्रिया सीताजी तथा श्रीमज्जनकनन्दिनी प्राणवल्लभ रामचन्द्रजी) कृपा करके आ मिलते हैं। ऐसा सब वेद पुराण शास्त्रादि में गाया हुआ है—

१. उबटन=कथा का सुनना। भगवत्लीला तथा भक्तों के यश का श्रवण।

चौपाई ।

"रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं ॥
जिनके श्रवण समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरिनाना ॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिनके हृदय सदन शुभ रूरे ॥"

२. मैल=अभिमान। सब प्रकार के अर्थात् भीतर के बाहर के अहंकार।

चौपाई ।

"उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी। वेगि सो मैं डारिहौं उपारी ॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ" इत्यादि।

दो० "विद्या रूप सुजाति, धन, इत्यादिक अभिमान।
जब लगि उर, तब लगि कभू, मिलें न श्रीभगवान ॥"

३. फुलेल=श्रद्धा। शास्त्र और आचार्य के वचनों इत्यादिक में प्रीति प्रतीति सहित स्पृहा।

श्लो० "भवानीशङ्करौ वन्दे 'श्रद्धाविश्वास' रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥"
"सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा, कर्म्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्म्मे या श्रद्धा, मत्सेवायान्तुनिर्गुणा ॥"(भागवते)

चौपाई ।

"रघुपति भक्ति सजीवनमूरी। अनूपान 'श्रद्धा' शुचि पूरी ॥"

४. सुनीर=मनन। मन में उसको चिंतवन करना कि जो कुछ श्रवण किया है वा जो कुछ पढ़ा है, श्रीहरिकृपासे ऐसे सविवेक चिन्तवन मनन-रूपी निर्मल सुगन्धित पवित्र अनुकूल सुन्दर जल से स्नान, [मान-हारी दीनसुखद अभिमानभंजन गर्वप्रहारी प्रणतहितकारी भगवत्चरित्रों

के श्रवणरूपी उपटन के अनन्तर] योग्य ही है; तथा दयारूपी अङ्गप्रक्षालन और नवनि (नम्रता) रूपी वसन (वस्त्र) की आवश्यकता भी, भक्ति के और और अनेक सुसाधनों से पूर्व ही समझना चाहिये। क्योंकि यह तो प्रसिद्ध ही है कि उपटन, स्नान, तथा वसन, सब शृङ्गारों और भूषणों से पहिले ही अत्यावश्यकीय हैं।

सो० "विद्या, बोध, विवेक, सुमति, ज्ञान, सद्गुणअमित।
श्रीहरिरहस अनेक, प्राप्ति 'श्रवण' ते; रामहित॥

चौपाई।

मनन विना है विद्या भार। "मननशील" सद्गुण आगार॥
विधुवदनी सबभांति सँवारी। सोह न वसन विना वरनारी॥"

५. अँगुछाइब (अङ्गप्रक्षालन)="दया"। करुणा से द्रवना, क्षमा करनी, छोह से पघिलना, कृपा से पसीजना; अहिंसा, अनुकम्पा; भलेबुरे जीवमात्र के क्लेश को देख सुनके दुखी होना।

दो० "दया धर्म्मको मूल है, यह प्रसिद्ध जगमाहिं।
शास्त्रनिपुण कैसोउ कोउ, भक्ति "दया" बिनु नाहिं॥"

चौपाई।

"परहित बस जिनके मन माहीं। तिनकहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥"

६. वसन (विशुद्ध सुन्दर अनुकूल वस्त्र)="नवनि" मान अहङ्कार अभिमान मदादि का अभाव; नम्रता, प्रणता, दीनता, कार्पण्य, झुकना; पूर्व ही वन्दना दण्डवत् करना, दूसरे के प्रणाम नमस्कार की कदापि प्रतीक्षा न करनी; अपनी निचाई समझना, अपने दोषों को कदापि न भूलना; श्रीगौरी गणपति विधाता गुरु त्रिपुरारि तमारि तो ईश ही हैं, ऋषि मुनि सुर महिसुर गो पितर माता पिता तो पूज्य हैं ही, किन्तु नरनारी गन्धर्व दनुज प्रेत और भूतमात्र को प्रणाम करके उनसे अविरल अमल "श्रीहरिभक्ति" की भीख मांगनी, भगवत् के अनन्य भक्तों की शोभा है॥

चौपाई।

"तब रामहि विलोकि वैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥
प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला वचन विगत अभिमाना॥

शाखामृग कै बड़ि मनुसाई। शाखाते शाखा पर जाई॥"
"मांगौं भीख त्यागि निज धरमू॥"

चौपाई।

"की तुम राम दीनअनुरागी। आएहु मोहिं करन बड़भागी॥"
"बरषहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये॥"

दो० "फलभर 'नम्र' विटप सब, रहे 'भूमि नियराइ'।
पर उपकारी पुरुष जिमि, 'नवहिं' सुसम्पति पाइ॥
सत्य वचन, अरु 'दीनता' पर त्रिय मात समान।
एहु पर हरि जो ना मिलैं, तुलसीदास जमान॥"

(स.) "हौं तो सदा खर कौ असवार तिहारोइ नाम गयन्द चढ़ायो॥"
(पद) "यह दरबार दीन कौ आदर, रीति सदा चलि आई।"

चौपाई।

"सकल शोकदायक 'अभिमाना'। संसृत मूल शूलप्रद नाना॥
'दम्भ कपट मद मान' नहरुआ। 'अहंकार' अति दुखद डमरुआ॥"

दो० "दीन रहा नहिं दीन भा, नाहिं दीन पद भास।
दीनबन्धु केहि विधि मिलैं, बिन दीनता निवास॥"

७. सोंधो (अरगजा, चन्दन, सुगन्ध)="पन"। श्रीगिरिराज-किशोरीकृपासे नियम, नेम, व्रत, दृढ़ता, अनन्यता॥

चौपाई।

"रामभक्ति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीश प्रवीना॥
तजौं न नारद कर उपदेशू। आपु कहैं शतवार महेशू॥"

दो० "चातकि कौ, अरु मीनकौ, भक्तनकौ 'पन' एक।
सुयश 'नेम' विख्यात जग, धनि धनि धन्य सो टेक॥"

तथा एकादशी व्रत, ऊर्ध्वपुण्ड्र, और वैष्णवों के चरणरज को सीसपर रखने का नेम और पन॥

८. आभरण (अनेक ❀ भूषण)="हरिनाम।" श्रीशारदाकृपा और श्रीनारददया से "श्रीसीताराम" "श्रीराधाकृष्ण" नाम का कीर्त्तन, अखण्ड तैलधारावत् रटना जपना उसमें रमना; रागस्वर से उसका मधुर कीर्त्तन सप्रेम; "चारु हरिनाम लेत अंश्रुअन भरी है"

चौपाई।

"पुलक गात, हिय सियरघुबीरू। जीह नाम जप, लोचन नीरू॥"

तथा, श्रीहरिसहस्रनाम, युगलनाममंजरी, और भगवन्नामकीर्त्तन का पाठ करना नेमप्रेमपूर्वक ❀ केश सुधारने और वेणी सँवारने तथा सेन्दुर से भूषित करने के उपरान्त, बेन्दी; अरगजा, चन्दन सुगन्ध; और तिलक; तिल, कस्तूरिबिन्दु, दन्तशृङ्गार, सुरमा [काजल, अंजन], मुखराग [बीरी]; इत्यादि; पुनि तिनके अनन्तर नाना मणि जटित स्वर्णाभरण पुष्पों के भूषण॥ भूषण विविध प्रकारके हैं और अनेक हैं, जैसे, चन्द्रिका, सीसफूल, मँगटीका, बँदनी, चूड़ामणि, बेसर, नथिया, कर्णफूल, बुलाक, कंठिका, चम्पाकली, झूमक, मुक्ताहार, पँचलरी, कंकना, चूड़ी, मुद्रिका, पहुँची इत्यादि॥

"१ कवित्तरामायण" "२ विनयपत्रिका" तथा "३ श्रीमानसरामचरित" और "४ नामतत्त्वभास्कर", "५ श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाश" में 'श्रीनाम प्रभाव' देखना चाहिये। यहां केवल एक श्लोक लिखे देते हैं॥

श्लो० "कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्म्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥"

चौपाई।

"कहौं कहां लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुण गाई॥"

दो० "राम नाम नर केसरी, कनककशिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि, पालहिं दलि सुरसाल॥
बरषाऋतु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
राम नाम वर वरण युग, श्रावण भादों मास॥
राम नाम जो चित धरै, सुमिरे निशिदिन सोइ।
योग, यज्ञ, तप, व्रत, सकल, तेहि पटतर नहिं कोइ॥"

६. कर्णफूल=मन, तन, अन्न, धन, वचन से "हरिसेवा, तथा साधु सेवा।" बाएँ कान का भूषण भगवत कैंकर्य्य को जानिये और दाहिने

कान का अलङ्कार भागवतसेवा को समझिये क्योंकि एक कुछ गुप्त होता है और दूसरा कुछ प्रत्यक्ष सा॥

चौपाई।

"उमा! रामस्वभाव जिन जाना। तिनहि भजन तजि भाव न आना॥
सेवहिं लषण सीयरघुबीरहि। जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहि॥"
"सुमिरन, सेवा, प्रीति, प्रतीती। गुरु शरणागति भक्ति कि रीती॥
सीतापतिसेवक सेवकाई। कामधेनु शत सरिस सुहाई॥"

१०. सुनथ (नाक की नथिया) = "मानसी" अष्टयामरीति, मानस पूजा; भावना; निरन्तर सुरति से स्मरण; सुरति से सप्रेम परिचर्य्या; भक्तियोग; ध्यान; गुप्तस्मरण; मनही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है॥

चौपाई।

"रहति न प्रभुचित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की॥"
"मन परिहरै चरण जनि भोरे।" पुनः,
"मन तहँ जहँ रघुपति बैदेही॥"

यह वार्त्ता किसको विदित नहीं है कि सब अंगों के शृङ्गारों तथा भूषणों आभरणों में नाक कान और आँखों के ही शृङ्गार मुख्य हैं; पुनः तिन में भी नाककी नथिया तो सर्वोत्तम है वरञ्च सुहाग ही कही और जानी जाती है॥

११. अंजन [काजल, सुरमा] = "सुसंग"। सत्संग, सन्तसंग, साधु संगति, सम्प्रदायी सजाती भक्तों का संग; सद्ग्रन्थ विचार; श्रीगुरु-हरिहरिजन चर्चा आदि; तथा, भक्तिशास्त्रावलोकन, सज्जन संसर्ग, महात्मा का दरस परस, भागवत धर्मवेत्ता महानुभावों से जिज्ञासा, हरि-भक्त समागम, निजसम्प्रदाय के रहस्य का ज्ञान, सन्तासन्तलक्षण विवेक, श्रीसीताराम गुण स्वभाव का कथन परस्पर॥

सवैया।

"सो जननी, सो पिता, सोई भ्रात, सो भामिनि, सो सुत, सो हित, मेरो।
सोइ सगो, सो सखा, सोइ सेवक, सो गुरु, सो सुर, साहिब, चेरो॥
सो तुलसी प्रिय प्राण समान, कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि देह को गेह को नेह, सनेह सो राम को होइ सबेरो॥"

चौपाई।

"मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि यतन जहाँ जे पाई॥
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥
सत्संगति मुद-मंगल मूला। सोइ फलसिधि सबसाधन फूला॥"

दो० "तात! स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग॥"

भक्ति।

१२. बीरी [पान, अधरराग]="चाह (नेह, भक्ति)"

चौपाई।

स्वारथ साँच जीव कहँ एहा। मन क्रम वचन राम पद नेहा॥

सो० "लोभिहि प्रिय जिमि दाम, कामिहि नारि पियारि जिमि।
हरि पद "रति" निःकाम, "भक्ति" सुसंज्ञा ताहि की॥"

"भक्ति" प्रेम, अनुरक्ति, चाह, इश्क, लव, लौ, लगन, भाव, भजन, आसक्ति, राग, प्रीति, अनुराग, रति॥

[सूत्र] "सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे" [श्रीशाण्डिल्य]
[सूत्र] "सा कस्मै परमप्रेमरूपा" [श्रीनारद]

"भक्ति"=भजना, भजन करना, प्रणय, प्रिय लगना, सेवा करनी, चाहना, प्यार करना, प्रीति, प्रेम, स्नेह, अनुरक्ति, अनुराग, परम प्रेम, परा प्रीति, रति, प्रियतम बिन दुखी रहना, प्यारे बिन न जीना, सकल प्यारी वस्तुओं को प्रियतम पर न्योछावर करना, कैंकर्य्य प्रिय लगना, सदैव चिन्तवन, प्रियतम की प्रसन्नता में ही सुख मानना, पीपी रटना॥ "मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पीके", "स्वाति सलिल रघुवंशमणि, चातक तुलसीदास"

चौपाई।

"प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना। "प्रेम" ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जे जाननिहारा॥
देवि! परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥"

श्लो० "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे [१८—६५]

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमो मताः [१२—२]
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः [१२—८]
अभ्यासेऽप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि" [१२—१०]

चौपाई ।

"थोरे महँ सब कहौं बुझाई । सुनहु तात ! मति मन चितलाई ॥
प्रथमहि विप्रचरण अति प्रीती । निज निज धर्म निरत श्रुति रीती ॥
यहि कर फल पुनि विषय विरागा । तब मम चरण उपज अनुरागा ॥
श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं❀" । मम लीला रति अति मन माहीं ॥

❀श्लोक—"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ १ ॥"

चौपाई ।

सन्त चरण पंकज अति प्रेमा । मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा । सब मोहिंकहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
मम गुण गावत पुलक शरीरा । गद्‌गद-गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दम्भ न जाके । तात निरन्तर बस मैं ताके ॥

दो० "मन क्रम वचन कपट तजि, भजन करै निष्काम ।
तिनके हृदय कमल महँ, करौं सदा विश्राम ॥"

चौपाई ।

प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

दो० "गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान ।
चौथि भक्ति मम गुणगण, करै कपट तजि गान ॥"

चौपाई ।

"मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा । पंचम भजन सो वेद प्रकासा
छठ दम शील विरति बहु कर्मा । निरत निरन्तर सज्जन धर्म्मा ॥
सातँव सम मोहिं मय जग देखा । मोते सन्त अधिक करि लेखा ॥

आठँव यथा लाभ सन्तोषा। सपनेहु नहिं देखै परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥
सन्मुख होय जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नाशों तबहीं॥
जननी जनक बन्धु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बांध बटि डोरी॥
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं। हर्ष शोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम हिय बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे॥
भक्ति स्वतन्त्र सकल सुखखानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता॥
पुण्य एक जगमहँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करै द्विज सेवा॥

दो० औरौ एक गुप्त मत, सबहि कहौं कर जोरि।
शंकर भजन बिना नर, भक्ति न पावइ मोरि॥

चौपाई।

कहहु भगति पथ कौन प्रयासा। योग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ सन्तोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करै तो कहहु कहां विश्वासा॥
बहुत कहौं का कथा बढ़ाई। यहि आचरण वश्य मैं भाई॥
बैर न विग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारम्भ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दक्ष विज्ञानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृण सम विषय स्वर्ग अपवर्गा॥
भगति पक्ष हठ नहिं शठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥

दो० मम गुण ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताके सुख सोइ जानै, चिदानन्द सन्दोह॥"

श्रीभक्तमाल सम्पूर्ण ही श्रीः "भक्ति" शब्द का अर्थ ही अर्थ तो है; तो फिर अब भक्ति का अर्थ अलग क्या लिखा जावे॥

इति "भक्ति के स्वरूप" का संक्षिप्त वर्णन।

---

(४) भक्तिपंचरस वर्णन कवित्त (८३६)

शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य, औ शृङ्गारु चारु, पांचौ रस सार बिस्तार नीके गाये हैं ❀। टीका को चमत्कार जानौगे बिचारि मन, इन के स्वरूप में अनूप लै दिखाये हैं॥ जिनके न 'अश्रुपात पुलकित गात कभूं', तिनहू को "भाव" सिन्धु बोरि सों छकाये हैं। जौलौं रहैं दूर रहैं विमुखता पूर, हियो होय चूर चूर नेकु श्रवण लगाये हैं॥ ४॥ (६२५)

(❀ सत्रहवीं शताब्दी में अर्थात् संवत् साढ़ेसोलहसौ तथा सत्रहसौ के बीच में, श्री "भक्तमाल" जी का अवतार जाना गया है। और संवत् १७६६ में श्री प्रियादासजी ने "भक्तिरसबोधिनी टीका" लिखी है, अनुमान तथा अनुसंधान से ऐसा ही निश्चय किया गया है।) प्रोफेसर लाला भगवान्दीन का "भक्ति भवानी" तथा बख़शी हंसराजकृत "सनेहसागर" देखिये॥

तिलक।

भक्ति के जो पांच रस हैं, अर्थात् (१) शान्तरस (२) दास्यरस (३) सख्यरस (४) वात्सल्यरस तथा (५) दिव्य शृङ्गाररस ("रसराज" वा "उज्ज्वल" रस), तिन पांचो रससार की भलीभांति विस्तार व्याख्या आप इस "भक्तिरसबोधिनी" में पाइयेगा॥ (विचारवान् महाशय!) आप स्वतः अपने मन में विचार करके टीका के चमत्कार को जान लीजियेगा, कि इन पांचो रसों के स्वरूप कैसे अनूप दिखलाए गए हैं॥ जिन पाषाण-हृदय प्राणियों की आंखों से कभी अश्रुबिन्दु नहीं निकलता, और जिनका अंग कभी पुलकित नहीं होता, ऐसे २ कठोर हिय जनों को भी श्रीसीतारामकृपा से प्रेमभाव के समुद्र में कहां तक बोर के छकाया है, सो स्वयं आप समझ लीजियेगा॥ यदि तनक भी कान लगाके भक्तों के भाव तथा भगवत् भागवतयश को वैसे लोग भी सुनें, तो उनके भी प्रेम से चूरचूर चित्त, गद्गद कण्ठ तथा पुलकतनूरुह, हो जायँगे और नेत्रों से प्रेमाश्रु प्रवाह बह आवेंगे। पूरे विमुख तो वे भी केवल उसी काल तक रहेंगे कि जब तक "भक्तमाल" तथा "भक्तिरसबोधिनी" से न्यारे रहेंगे॥

☞ भक्ति के पांच रसों "शृङ्गार, सख्य, वात्सल्य, दास्य और शान्त रस," की व्याख्या का संक्षेप कुछ, अब आगे यन्त्रों में लिखा जाता है॥

रस	विभाव			अनुभाव	सात्त्विक भाव	व्यभिचारी भाव	स्थाई भाव
	विषयालम्बन	आश्रयालम्बन	उद्दीपन				
"सख्य रस"	मित्रसुखद	लाललाडले	भूषण,	साथ साथ	१ रोमांच	३३ भाव	मित्र
	द्विभुजसुवेष	लखनजी, शिव,	धनुष,	भोजन,	२ स्तम्भ	(पृष्ठ १५ देखिये)	भाव
	चतुर-	श्रीसुग्रीव,	शर;	खेल,	३ प्रलय		निरन्तर
	शिरोमणि	श्रीविभीषण,	मधुर-	मृगया;	४ स्वेद		
	सत्यसंकल्प	श्रीवीरमणि	वचन;	विचित्र	५ विवर्ण		
	सुखसिन्धु	राजकुमार	&c.	परिहास	६ कम्प		
	श्रीरामभद्र	इत्यादि		&c.	७ अश्रु		
	रघुनाथ				८ स्वरभंग		
	अवधविहारी						
	श्रीरामचन्द्र						

रस	विभाव			अनुभाव	सात्त्विकभाव	व्यभिचारी भाव	स्थायीभाव
	विषयालम्बन	आश्रयालम्बन	उद्दीपन				
"शृङ्गार" रस व "उज्ज्वल" रस, "दम्पति रस", "रसराज" वा रसपुंज	माधुर्य्य-प्रेम-सिन्धु, रूपमाधुर्य्य कमनीय कि-शोर मूर्त्ति, प्राणवल्लभ, श्रीजानकी-जीवन, रामचन्द्र, शोभाधाम, छविसिन्धु &c	श्रीजनक-किशोरी जी	कमनीयता; वसन्त ऋतु, कोकिलकूक, त्रिविध पवन, पावन; कटाक्ष, मुस्कयान; वचन, शील, परम शोभा, &c	श्रीकिशोरी जी का संकल्प; प्रियतम का मंदस्मित भ्रूविक्षेप स्पर्श, कटाक्ष; कर में कर नयन में नयन, &c.	१ रोमांच २ स्तम्भ ३ प्रलय ४ स्वेद ५ विवर्ण ६ कम्प ७ अश्रु ८ स्वरभंग	३३ भाव (पृष्ठ १५ में देखिये)	प्रियतम पदरति; मनोहर छवि की अचला सुरति; भावना; प्रीति. प्रणय।

* अथ ३३ व्यभिचारी भाव ।

१ निर्वेद	१० चिन्ता	१९ निद्रा	२७ वितर्क
२ ग्लानि	११ त्रास	२० सुषुप्ति	२८ अवहित्था
३ शंका	१२ ईर्षा	२१ संज्ञा	२९ व्याधि
४ श्रम	१३ आमर्ष	वा अवबोध	
५ धृति	१४ गर्व	२२ व्रीड़ा	३० उन्माद
६ जड़ता	१५ स्मृति	२३ मोह	३१ विषाद
७ हर्ष	१६ अपस्मृति	२४ मति	३२ चपलता
८ दीनता	१७ मरण	२५ आलस्य	३३ औत्सुक्य
९ उग्रता	१८ मद	२६ आदेश	

(श्लो०) "पञ्चधा भेदमस्तीह तच्छृणुष्व महामुने ।
शान्तो दास्यस्तथा सख्यः वात्सल्यश्च शृङ्गारकः ॥ १ ॥
मधुरं मनोहरं रामं पतिसम्बन्ध पूर्वकम् ।
ज्ञात्वा सदैव भजते सा शृङ्गाररसाश्रया ॥ २ ॥"

(श्रीहनुमत् संहिता)

(श्लो०) "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(भ० गी० अ० ९ श्लोक ३४)

"ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥"

(भ० गी० ६)

(S. S. R. S. B. P. R. K.)

रस	भाव			अनुभाव	सात्त्विकभाव	व्यभिचारी भाव	स्थायीभाव
	विषयालम्बन	आश्रयालम्बन	उद्दीपन				
"वात्सल्य" रस	दाशरथी, श्रीकौशल्या नन्दवर्धक, बालक रामललाजी; सियावर, सीतापति; महाराज- कुमार; सुकुमार, लालजी, रामजी ।	अम्बा श्रीकौशल्या महारानीजी, म० श्रीदशरथजी; अम्बाश्रीसुनयना जी महारानी; अम्बाश्री सुमित्राजी;	मीठे तोतरे २ वचन; बुलाक, घुँघुरू, कालाविन्दु; बाललीला; भोलापन, सरलता ।	खिलाना; लाड़; दुलार; खेलौने देना; जन्मोत्सव &c.	१ रोमांच २ स्तम्भ ३ प्रलय ४ स्वेद ५ विवर्ण ६ कम्प ७ अश्रु ८ स्वरभंग	अंगताप कृशता, जागरण, आलंबन शून्यता, आधृति, उन्माद, मूर्च्छा, प्रहर्ष, मृत्यु	श्रीरामलाल जी में अलोल . मन ॥ "सुतविषयक हरिपद रति होऊ ॥"

रस	विभाव			अनुभाव	सात्विकभाव	व्यभिचारी भाव	स्थायीभाव
	विषयालम्बन	आश्रयालम्बन	उद्दीपन				
"दास्य" रस	सर्वेश्वर,	श्रीहनुमत	शरण सुखदता, सेवक प्रियत्व, अनन्यवत्सलता	आज्ञा	१ रोमांच	चितधड़क,	अविरल
	भक्तवत्सल,	श्रीप्रहलाद		पालन;	२ स्तम्भ	दुर्वलता,	भक्ति;
	दीनदयालु,	ब्रह्माजी,		तुलसीकंठी	३ प्रलय	रंगविकार,	तैलधारावत्
	सेवकसुखद,	शिवजी;		तुलसीमाला,	४ स्वेद	विराग,	स्मरण;
	ब्रह्म, सेव्य,	भक्त		ऊर्ध्वपुण्ड्;	५ विवर्ण	मूर्च्छा;	प्रेम;
	सच्चिदानन्द,	मात्र,		५ संस्कार;	६ कम्प	व्याधि,	भजन;
	जगदेकत्राता,	सन्त		भक्ति,	७ अश्रु	उन्माद,	सेवा,
	व्यापक,	नारदादि		भजन,	८ स्वरभंग	स्तम्भ,	पूजा,
	श्रीसीतापति,	इन्द्र		सेवा		प्रहर्ष,	अर्चा,
	श्रीराम भद्र,					मृत्यु,	स्तुति
	पतितपावन,						
	अशरणशरण,						
	अधमोद्धारण,						
	करुणायतन						

रस	विभाव			अनुभाव	सात्त्विकभाव	व्यभिचारी भाव	स्थायी भाव
	विषयालम्बन	आश्रयालम्बन	उद्दीपन				
"शान्त" रस	इष्ट श्रीराम चन्द्र हरि परब्रह्म सच्चिदानन्द जगदेककर्त्ता भगवान् विश्वम्भर व्यापकसर्वज्ञ शार्ङ्गधर श्रीसीतापति परमात्मा, अद्वैत, परमानन्दात्मा सचराचर- रूप	ब्रह्मा, शिव, सनकादि, श्रीनारद, श्रीवशिष्ठ, श्री अगस्ति, इत्यादि शान्त रस वाले भक्त	उपनिषद् विचार; तीव्र वैराग्य	नासाग्रपर दृष्टि; अवधूत चेष्टा; परमवैराग; निर्वैर; निर्ममता	१ स्तम्भ २ रोमांच ३ स्वेद ४ विवर्ण ५ कम्प ६ अश्रु ७ स्वरभंग ८ प्रलय	स्मृति, निर्वेद, आवेग, धृति, उत्सुकता, विषाद, वितर्क, इत्यादि	प्रशान्त, मग्न, निर्द्वन्द्व, समदरशी, विरक्तपर, तन्मय एकाग्र निस्पृह

(S. S. R. S. B. P. R. K.)

शान्त रस

c	नाथ, قابض مالک पति, Owner, Proprietor.	स्ववस्तु, property, owned مقبوض ملک मिल्क	४
d	आधार Supporter, भगवान्	Dependent. आधेय, supported.	५
e	रक्षक, शरण्य, शरणागतवत्सल, Saviour, Protector, حافظ پناہ	रक्ष्य, रक्षित, अनन्य, saved, محفوظ سپردہ शरणागत, dependent. भगवद्भक्त, प्रपन्न	६
f	वेदविद्य, ज्ञेय, गेय. Admired. जगदीश Almighty.	ज्ञाता, यशश्रोता, स्तुतिकर्त्ता, मार्म्मिक रसिक, विशेषज्ञ, रसिक, ज्ञानी, عارف praise-singer.	७
g	गुरु, शिक्षक, पतितपावन, दया-क्षमा-मन्दिर, तारण عفو دستگیر بری	शिष्य, पापात्मा, पतित, متعلم مرید گنہگار sinner. दोषभाजन, उपासक, سونگرن समाश्रित	८
h	مرشد ساقی مخدوم هادی परमार्थ, सर्वस्व, धेय, उपेय	त्यागी ,विरक्त, वैरागी, संन्यासी, ध्यानी योगी, आत्मनिवेदक, निर्द्वन्द्व, समदर्शी, व्रत-निष्ठ, शान्त	९
i	दयालु, दाता, त्राता, غریب نواز Merciful, دست گیر بخشنده غفار محسن رحیم کریم منعم	दीन, भिक्षुक, पानेवाला, पालित, आर्त्त, अनाथ favoured, پرورده گدا ممنون दुखिया مغفور beggar, receiver. بخشیده معاف غریب	१०
j	&c. &c.	&c. &c.	

वात्सल्य		d	भ्राता, भाई, धर्मधुरंधर, Brother, cousin	भाई, प्रेमनिधि, बहिन (यदि नारी हो) Brother, cousin	१४
		e	यजमान, पुरुषोत्तम, ब्रह्मण्यदेव,	पुरोहित (यदि ब्राह्मण हो)	१५
		f	&c. &c.	&c. &c.	
४ चौथा रस	सख्य रस	a	सखा, Friend رفیق‌الاعالی	सखा, मित्र, Friend, प्रेमी, प्रीते, دوست همدم	१६
		b	सखा, دوست یار رفیق	सहपाठी सखा,	१७
		c	सखा, همدم انیس مونس یار	नर्मसखा, बालसखा هم مکتب class friend	१८
		d	सखा, غمخوار همدم رفیق دوست یار انیس مونس	मन्त्री, مشیر مصاحب मुसाहिबादिक प्रौढ़सखा	१९
		e	सखा, भाई, Cousin برادر Brother	सखा, भाई, Cousin برادر، Brother	२०
		f	बहनोई, बहिन का पति, सखा	सखा, साला, स्त्री का भाई, साढ़ू	२१

e	अखण्डैकरसनित्यकिशोर नन्दोई, पति की बहिन का पति नायकोत्तम, रसिया, دلارام * मनमोहन, सौन्दर्य्यखान, प्रियतम Beloved محبوب अनूप	सरहज, सखी, साले की पत्नी, रसीली प्यारी, loving عاشقه † प्रौढ़ा सखी रसज्ञ	२५
d	&c. &c. *	&c. &c. †	

* चक्रवर्ति किशोर श्रीसीतापति रामचन्द्र

† श्रीमिथिलेश्वर जनकनन्दनीजी की दासी ☞

☞ जीव को श्रीरामजी से अनेक अनगिनती नाते (सम्बन्ध) हैं। "मोहि तोहि नातौ अनेक" इत्यादि "सर्व भाव भजु कपट तजि"॥ सभी उचित नाते इसे मानने योग्य हैं॥ soul जीव तो न स्त्री है, न पुरुष ही है॥ अपने तईं चाहे स्त्री माने चाहे पुरुष; जिस उचित नाते (भाव) से जी चाहे, उसी नाते (भाव) से ही श्रीराम को भज सकते हो। प्रेम और सेवा मुख्य हैं अवश्य है नाता उचित हो कोई हो॥

(१) अथ भक्ति के "शान्त" रस में कुछ वचनः—

श्लो० "यो मां पश्यति सर्वत्र मयि सर्वं च पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥" (गी० ६।३०)
"श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागं त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ १२॥"

दो० "तुलसी! यह तनु है तवा, सदा तपत त्रयताप।
शान्त होय जब "शान्ति" पद, पावै रामप्रताप॥ १॥
नासिकाग्र करि दृष्टि पुनि, धरै भेष अवधूत।
निर्ममता, निर्वाक्यता, यथा शास्त्र अनुसूत॥ २॥
दारुमाहिं पावक लगै, तीन रूप दरसाय।
जर, बर, हो भस्म जब, तबसो "शान्त" कहाय॥ ३॥
अतिशीतल, अतिही अमल, सकल कामनाहीन।
तुलसी ताहि "अतीत" गनि, "शान्ति" वृत्तिलयलीन॥ ४॥
अहङ्कार की अग्नि में, जरत सकल संसार।
तुलसी! बांचे सन्त जन, केवल "शान्ति" अधार॥ ५॥
ज्ञानाभूषण ध्यान धृति, ध्यानाभूषण त्याग।
त्यागाभूषण "शान्ति" पद, तुलसी अमल अदाग॥ ६॥"

(२) भक्ति के "दास्य" रस में कुछ वचनः—

श्लो० "दासोहं कौशलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनुमाञ्छत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥"

दो० "सेवक सेव्य भाव" बिनु, भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त विचारि॥

चौपाई।

सिर भर चलौं धर्म अस मोरा। सब ते "सेवक" धर्म कठोरा।
अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं "सेवक" रघुपति "पति" मोरे॥
"सेवक" हम "स्वामी" सियनाहू। होउ नाथ! यहि ओर निबाहू॥
मैं मारुत सुत हनुमत बन्दर। दानबन्ध रघुपति कर किंकर॥

सेवक प्रिय यह सब की रीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती ॥
सुनु कपि जिय जनि मानसि ऊना। तैं मम प्रिय लक्ष्मण ते दूना ॥
कोउ मोहि प्रिय नहिं तुमहि समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना ॥
"समदरशी" मोहि कह सब कोऊ। "सेवकप्रिय," अनन्यगतिसोऊ ॥
"तेंतिस कोटि भजैं संसार। खोटा बन्दा खोटी नार ॥
खाविन्दों का खाविन्द एक। तिसको जपै यह कबिरा टेक ॥"
"सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु शत सरिस सुहाई ॥"
दो० "भजबे को दोई सुघर,-(१) की हरि (२) की हरिदास ॥"

(३) अथ भक्ति के "वात्सल्य" रस में कुछ वंचनः—

चौपाई।

"सुत 'विषयक' हरि पद रति होऊ। मोहि बरु मूढ़ कहै किन कोऊ ॥
देखि "मातु" आतुर उठि धाई। कहि मृदु वचन लिये उर लाई ॥
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति चरित ललित करि गाना ॥"
दो० पिता विवेकनिधान वर, मातु दया युत नेह।
तासु "सुवन" किमि पाइहैं, अनत अटन तजि गेह ॥

चौपाई।

सो "सुत" "पितु" प्रिय प्राण समाना। यद्यपि सो सब भाँति अजाना ॥

गीत।

बूढ़ो बड़ो प्रमाणिक ब्राह्मण शङ्कर नाम सुहायो।
मेले चरण चारु चारिउ सुत माथे हाथ दिवायो ॥

चौपाई।

"सेवक, सुत "पितु मातु" भरोसे। रहै अशोच, बनै "प्रभु" पोसे ॥"
"मोहि बरु मूढ़ कहै किन कोऊ। सुतविषयक तव पद रति होऊ ॥"

(४) अथ भक्ति के "सख्य" रस में कुछ वचनः—

श्लो० "न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥"

(श्रीपरमहंससंहितायां एकादशे, २४। श्री उद्धवप्रति)

चौपाई।

"ये सब, मुनिवर! "सखा" हमारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे।
तुम सब प्रिय मोहि प्राण समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना॥"
"सेवक स्वामि सखा सियपी के। हितनिरुपधि सबविधितुलसीके॥"
मातु पिता आज्ञा अनुसरहीं। अनुज "सखा" सँग भोजनकरहीं॥"
बन्धु "सखा" संग लेहिं बुलाई। वन मृगया नित खेलहिं जाई॥"

दो० "चपल तुरंगन फेरनी, मृग तकि मारब बान।
करि पन लक्षण बेधनी, सब उद्दीपन जान॥
धरि भुजगलबतलावनी, इक सँग भोजन सैन।
अनूभाव ये "सखन" के, सब विधिसुखके ऐन॥"

(५) अथ भक्ति के "शृङ्गार" रस में कुछ वचनः—

श्लो० "यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥"
(श्रीभागवते)
"हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्" इत्यादि॥
(श्रीजयदेव गीतगोविन्दे)

दो० गंगा यमुन सरस्वती, सात सिंधु भरपूर।
तुलसी चातकि के मते, बिनु स्वाती सब धूर॥

चौपाई।

प्राणनाथ! तुम बिनु जग माहीं। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसेइ नाथ! पुरुष बिनु नारी॥
नाथ! सकल सुख साथ तुम्हारे। शरद विमल विधु वदन निहारे॥

दो० प्राणनाथ करुणायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिनु रविकुल कुमुद विध,! सुरपुर नरकसमान॥

चौपाई।

छिनु छिनु पिय पदकमल विलोकी। रहिहौं मुदित दिवस जिमिकोकी॥
"को न बिकी बिनु मोल सखी! लखि जानकीनाथ की सुन्दरताई॥"
दो० "जेहि के हिय सर" इत्यादि "तुलसी जनकसुता बिनु" &C

गात।

"सखि, रघुनाथ रूपनिहारु।" "सखि रघुवीर 'मुखछवि' देखु" इत्यादि॥
आली री राधाजी के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए। इत्यादि॥
"कोशलपुरी सुहावनि श्रीसरयू के तीर" इत्यादि॥

सवैया।

"सोहहिं स्वामिनि सीय सुसंग, सहेली सबै अलबेली नबेली;
गौरी, गिरा कहिये जिन आगे गवेली लगैं रति मानहुँ चेली।
सारी सबै जरतारी किनारिन की पहिरे तन रंग रँगेली;
पीरी, हरी, रसरंग सखी, कुसुमी, सित, ऊदी औ नीली रमेली॥
ऐसी "सखी" चहुँ ओर लसैं, सिय मध्य कृपारससागर बोरी;
दै सब को मुदपुंज विलोकहिं मंजुल कंज विलोचन कोरी।
को बरनै छवि सुन्दर राजकिशोरी की, जो तिहुँ लोक अँजोरी;
जासुकटाक्ष विलास पिया चित को, रसरंग सखी, लिए चोरी॥"

१ श्री कथा श्रवण	= उपटन
२ अभिमान	= मैल
३ श्रद्धा	= फुलेल
४ मनन	= सुनीर
५ दया	= अँगुछाइब
६ नवनि	= वसन
७ पन	= सोंधो
८ भगवन्नाम	= आभरण
९ हरि साधुसेवा	= कर्णफूल
१० मानसी	= सुनथ
११ सुसंग	= अंजन
१२ चाह	= बीरी

दो० "जेहि के हियसर सियकमल, पावन विकसे आय।
प्रियाशरण ! रघुबर भ्रमर, रहे तहाँ मँड़राय॥
नहिं जप तप व्रत ज्ञान ते, नहिं विराग ते कोय।
"उज्ज्वलरस" अधिकार वर, लली कृपा ते होय॥
सिद्ध योगि देखे नहीं, जो थल सुर समुदाय।
सीय कृपा अलिबेष धरि, सहजहिं देखहु आय॥"
निज निज सेवा द्रव्य युत, युवतिवृन्द सिय पास।
रूपकला तिन महँ लिये, बहु सुगन्ध सहुलास॥

चौपाई।

"सो मन रहत सदा तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस इतनेहि माहीं॥"
"द्विभुज श्याम दशरथ कुँवर, रामऽरुजनक कुमारि।
कारण कारज ते परे, इनहि कहत श्रुति चारि॥
सदा अवध में ध्यावहीं, रासादिक बहु रंग।
बीच बीच मिथिला गवन, चहुँ कुँअरिन मिलि संग॥
रीति भाव स्थायि पुनि, प्रणय प्रेम अरु नेह।
अनूराग अस जानिये, मनो एक दुइ देह॥
मन्द हँसनि दृग फेरनी, सो अनुभाव बखानु।
कोकिल शब्द वसन्त ऋतु, सो उद्दीपन जानु॥
स्थायी प्रियतम रती, नवनि प्रणय अति नेह।
कर पंकज स्परस पर, वारत तन मन गेह॥"

चौपाई।

"नाथ सकल सुख शरण तुम्हारे। शरद विमल विधु, वदन निहारे" इत्यादि॥

दो० "प्राणनाथ करुणायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिनु रविकुलकुमुदविधु! सुरपुर नरक समान॥
"सी" कहते सुख ऊपजै, "ता" कहते तम नास।
तुलसी "सीता" जो कहै, राम न छाड़ैं पास॥"

प्रिय पाठक ! श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कृत "श्रीगीतावली," श्रीदेव स्वामी (काष्ठजिह्वाजी) प्रणीत "शृङ्गारप्रदीप," श्रीजयदेव-स्वामीकृत "गीतगोविन्द"; प्रधानकृत "रासहोली, रामकलेवा," श्रीयुगलप्रिया श्रीरूप सखीजी की होली; श्रीनाभाजी, श्रीरसिकअली, श्रीतपस्वी रामजी, तथा श्रीरामचरणदासजी दीनरूपकला*कृत "अष्टयाम मानसपूजा"; "श्रीअगस्त्यसंहिता" इत्यादि और श्रीमद्भागवत (दशम), एवं श्रीकृपानिवासजी की पोथियाँ भी देखिये ॥

(५) कवित्त। (८३८)

पंचरस सोई पंच रंग फूल थाके नीके, पीके पहिराइबे को रचिकै बनाई है बैजयंती दाम, भाववती अलि "नाभा" नाम लाई अभिराम श्याम मति ललचाई है ॥ धारी उर प्यारी, किहूं करत न न्यारी, अहो! देखौ गति न्यारी ढरि पायन कौ आई है। भक्ति छबि भार, ताते नमित "शृंगार होत, होते वश लखै जोई याते जानि पाई है ॥ ५ ॥ (६२४)

भक्तिसुधास्वाद तिलक।

"शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार," ये जो भक्ति के पाँचो रस, सो पँचरँगे फूलों के विचित्र थाके हैं; इन्हीं की बैजयन्ती माला सप्रेम के रच रच के, प्रियतम को पहिराने के हेतु, श्रीनाभा नाम की अतिभावती अलीजी सुन्दर मनोहर बनाय लाई हैं; जिसको देख के, भक्तवत्सल भावग्राहक प्रेमप्रिय श्रीशार्ङ्गधर श्यामसुन्दरजी की भी मति ललचाई है; आपने इस माला को उर में धारण किया, यह विलक्षण अनूपाति गति देखने ही योग्य है कि आप इस परमप्रिय माला को किसी क्षण गले से अलग नहीं करते हैं। भक्ति रस पुष्प थाकों की यह बैजयी वनमाला है, इस कारण से यह श्रीचरणकमल पर झुक के आ लगी; अहा ! भक्ति की गति क्या न्यारी होती है, "उज्ज्वलरस" ("राज" अर्थात् "शृङ्गार" रस), भक्ति की अपार छवि के भार से नमि, क्या ही सुन्दर होता है; यह बात इससे जानने में आती है कि श्रीभक्ति महारानी का जो दर्शन पाता है सो अवश्य प्रभु के प्रेम के वश हो जाता है ॥

*टना खड्गविलास प्रेस से मिलती है ॥

(१) "सोह न वसन विना वर नारी ।"
(२) "नवनि वसन, (पन सोंधौ लै लगाइये)"
(३) "यद्यपि गृहसेवक सेवकिनी । विपुल
सकल सेवा विधि गुनी ॥ निज कर श्री
परिचर्य्या करई । रामचन्द्र आयसु अनुसरई ॥ इत्यादि ॥"
(४) "पद सेवा श्रीलक्ष्मी, (आसन वर श्रीशेष)"
इत्यादि, इत्यादि ॥

---

(६) सत्संग प्रभाव वर्णन । कवित्त । (८३७)

भक्तितरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरी हू कौ, बारि दै विचर, बारि सींच्यो सतसंग सों । लाग्योई बढ़न, गोंदा चहुँ दिशि कढ़न, सो चढ़न अकाश, यश फैल्यो बहुरंग सों ॥ संत उर आलबाल शोभित विशालछाया, जिये जीव जाल, ताप गये यों प्रसंग सों । देखौ बढ़-वारि, जाहि अजाहू की शंका हुती, ताहि पेड़ बाँधे झूलैं हाथी जीते जंग सों ॥ ६ ॥ (६२३)

तिलक ।

श्रीहरिभक्तिरूप तरुवर की आदि अवस्था एक नवीन वृक्ष की सी समझिये कि जिसको एक बकरी के बच्चे से भी विघ्न का भय रहा करता है, और संत वा भक्त के हृदय को थाला सरिस जानिये। इस पौधे की रक्षा चारों ओर विचाररूप घेरे ❀ से जब की गई तथा सत्संग के जल से यह सींचा गया तब यह बढ़ने लगा; चारों ओर गोंदे (शाखा प्रशाखा) निकले फैले और वृक्ष आकाश की ओर चढ़ने बढ़ने लगा, भगवद्भक्ति का सुयश अनेक प्रकार से लोक में विख्यात हो गया। इस तरुवर की विस्तृत छाया कैसी सुशोभित हुई कि जिसके तले पहुँचने ही से महाताप गये; और नारिनरवृन्द वरन् जीवमात्र

❀ मिट्टी, ईंटों वा काँटों के घेरे को "बारी" वा "बार" जानिये ॥

भक्तिसुधास्वाद तृतीयावृत्ति

❀ श्रीसीताराम ❀
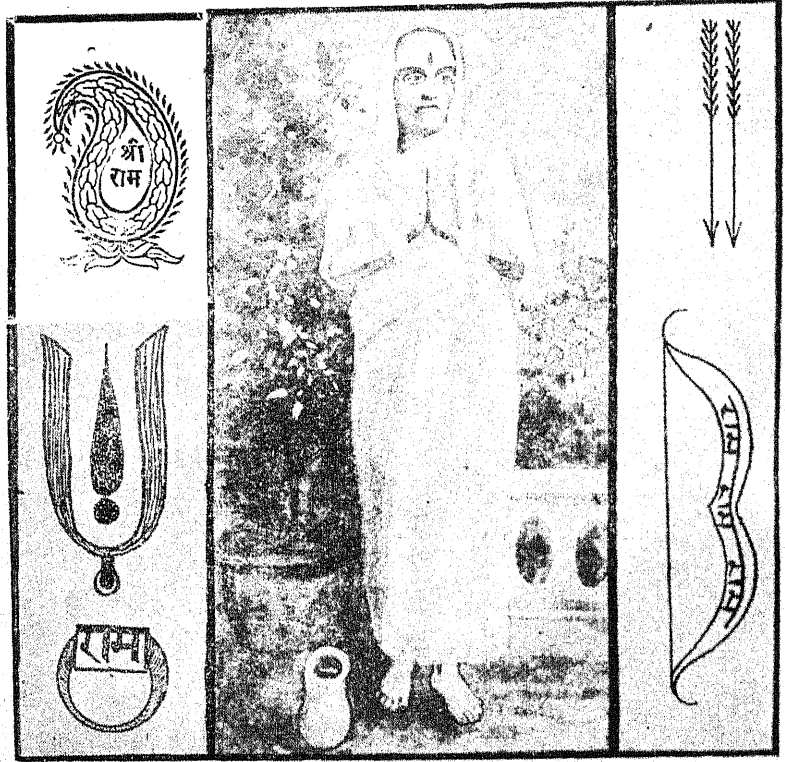
श्रीरूपकला

श्रीअयोध्याजी (अवध)

श्रीभक्तमाल तिलककार

स्वर्गीय श्रीसीतारामशरण भगवान्‌प्रसाद रूपकला

तेजकुमार यन्त्रालय, लखनऊ.

जी उठे अत्यन्त सुखी हुए। इस वृक्ष की उन्नति पर तनक चित्त की दृष्टि तो दीजिये कि जिसको प्रथमतः छेरी बकरी की भी महाशंका रहा करती थी वही अब आज (रामकृपा से) ऐसा सुदृढ़ हो गया कि ज्ञान वैराग्य यश महत्त्वादिक बड़े बड़े प्रबल हाथी भी इसमें बँधे हुए झूला करते हैं; सत्सङ्ग के प्रभाव को विचारियेगा॥

चौपाई।

"सतसङ्गति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि, सब साधन फूला॥"

दो० "तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला एक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग॥"

---

(७) श्रीनाभाजूका वर्णन। कवित्त। (८३६)

जाको जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियो, कियो यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल है। गुण पै अपार साधु कहैं आंक चारिही में, अर्थ विस्तार कविराज कटसाल है॥ सुनि संत सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानौं, घूमि रही, कहैं यह कहा धौं रसाल है। सुने हे अगर अब जाने मैं अगर सही, चोवा भये नाभा, सो सुगंध भक्त-माल है॥ ७॥ (६२२)

तिलक।

जिस सन्त का जैसा स्वरूप है, श्रीनाभाजी स्वामी ने उसको अपने अनूठे काव्य में वैसा ही अनूप दिखा दिया है और कविताई ऐसी की है कि जिसका अर्थ ऐसा झलकता है कि जैसे बहुत झीने वस्त्र के बाहर से उसके भीतर का लालमणि (रत्न) झलकता है॥ सन्तों के अपार गुणों को श्रीनाभाजी ने थोड़े ही अक्षरों में यों कहा है कि उनमें अर्थ अनोखे विस्तृत भरे हैं, जैसे बड़े बड़े कविवरों की चमत्कृत रीति होती ही है॥ सन्तों की सभाएँ इस भक्तमाल काव्य को सुनके भ्रमर वृन्दों की भाँति मँड़राती तथा झूमती रहती हैं, और यह कहती हैं कि "यह कैसा आश्चर्य्यरसमय रसाल है॥" मैंने "अगर" जी का नाम सुना तो था परन्तु अब ठीक ठीक जान भी लिया कि

आप वस्तुतः 'अगर' हैं, जिनसे "नाभा" * रूप 'वोम्रा' हुए, कि जिन नाभा ("नाफ़ा")† का "भक्तमाल" ऐसा 'सुगन्ध' फैल रहा है॥

☞भागवतधर्माचरण के प्रसिद्ध तथा प्रधान आधार "भक्तमाल" की क्या बात है। इस आदरणीय ग्रन्थ का अनुवाद केवल महाराष्ट्री, बङ्गला, फ़ारसी, उर्दू, इङ्गरेज़ी आदि अनेक प्राकृत भाषाओंमात्र में ही नहीं, वरंच देववाणी (संस्कृत) में भी हो गया है॥ यह तो ठीक ही है कि इस ग्रन्थ (भक्तमाल) में प्रायः दश सौ से अधिक भक्तों के नाम हैं, अर्थात् सतयुग त्रेता द्वापर के अतिरिक्त कलियुग के,—

हिन्दू महाराजाओं के ४२६६ वर्ष के, तथा
मुसल्मान बादशाहों के ४४४ वर्ष के,
कलियुग के ४७४० वें वर्ष पर्य्यन्त के महात्माओं के
(सम्बत् १६९६, सन् १६३९ ईसवी,) तथा
(विक्रमी सत्रहवीं शताब्दि तक के);
कि जिस समय को आज (1903)‡, २६४ वर्ष हुए॥
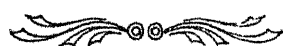
गोस्वामी श्री ६ नाभाजी के "भक्तमाल" के अनुवाद और टिप्पणी तथा टीकाएँ भी, अपनी अपनी चाल पर, अनेक हो चुकी हैं—

"थाके" शब्द का अर्थ।

एक एक रंग के पांच सात फूलों का समूह एकत्रित, ऐसे समूहों को "थाके" कहते हैं। जैसे गुलाबी वा लाल पुष्पों का एक थाका, ऐसे ही, पीले, हरे, श्वेत, श्याम तुलसी दलों फूलों के विचित्र थाके॥ ऐसे पँचरँगे थाकाओं से मालाएँ रची जाती हैं, यह प्रसिद्ध ही है॥

---

* नाभाजी "नभोभूज" का अपभ्रंश है॥ † नाफ़ा (कस्तूरीवाला)
‡ कलियुगीय संवत्सर ५००४=विक्रमीय संवत् १९६०=सन् १९०३ ईसवी॥

	गिनती	संवत्	भक्तनामावलियों के नाम	उनके कर्त्ताओं के नाम
1	१	१७६९	भक्तिरसबोधिनी टीका	श्रीप्रियादासजी
2	२	१८००	भक्तउरवशी (अनुवाद)	लालचन्द्रदास
3	३	१८००	भ० म० टिप्पनी (श्रीकाशी १९२३ लखनऊ १९५२, बम्बई १९५७ मे छपी है)	निम्बार्कसम्प्रदायी श्री वृन्दावनवासी वैष्णवदास
4	४	१८९८	(फ़ारसी)	मुंशी गुमानीलाल साहिब
5	५	,,	गुरुमुखी भक्तमाल	कीर्तिसिंहजी
6	६	१९११	भक्तिप्रदीप (२४ निष्ठा) उर्दू	श्रीतुलसीरामजी साहिब
7	७	१९५८	भक्तकल्पद्रुम (२४ निष्ठा)	प्रतापसिंहजी
8	८	१९२१	रामरसिकावली (चौपाई दोहे)	राजा रघुराजसिहजी, रीवां
9	९	१९२५	रसिकभक्तमाला	श्रीयुगलप्रियाजी (चिरांद)
10	१०	१९३०	भक्तमालछप्पय	श्रीहरिश्चन्द्रजी भारतेन्दु, प्रेमी
11	११	१९३४	“[illegible]”	श्रीतपस्वीरामजी सीतारामीय
12	१२	१९५५	हरिभक्तिप्रकाशिका	पं० ज्वालाप्रसाद मिश्रजी
13	१३		भक्तनामावली	श्रीध्रुवदास
14	१४	१९५८	भक्तनामावली	श्रीराधाकृष्णदास, “श्रीकाशी नागरीप्रचारिणी सभा”
15	१५	१९६५	भक्तमाल का इंग्रेजी खर्रा	श्रीभानुप्रताप तिवारी, चनार,
16	१६	१९६६	Gleanings	Sir George Grierson, I.C.S., C.I.E., M.R.A.S. &C.,

इनमें भक्तों के निवासस्थान देश तो प्रायः वर्णित हैं, परन्तु उनके जन्मादि के काल की चरचा पाई नहीं जाती। हां इस बात के अनुमान तथा अनुसन्धान की ओर महाशयों की दृष्टि तो अवश्य ही गई है (१) प्रेमीवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजी (२) “प्रेमगंगतरंग” “रुमूज़ मिह्रो वफ़ा” और “वक़ाए देहली” इत्यादिक के कर्त्ता श्रीतपस्वीरामजी सीतारामीय (३) श्रीराधाकृष्णदासजी बनारस, (४) “दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर् अव हिन्दुस्तान” के कर्त्ता सरजार्ज ग्रियर्सन् साहिब बहादुर ॥ तथापि, किसीको उनकी तारीखें मिली नहीं॥ तो जिन वार्त्ताओं की टोह ऐसे २ ऐतिहासिक तत्त्वरसिक अनुसन्धान-कर्त्ताओं को न मिलीं, उन बातों में इस दीन का हस्तक्षेप भला कब फलदायक होना सम्भव ?

चौपाई।

"जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥"

अतः उसको छोड़कर, इस दीन ने स्वमति अनुसार इस तिलक में केवल मूल तथा कवित्त के अर्थमात्र ही लिखने पर चित्त दिया। सब सज्जनों से पुनः पुनः कृपा असीस की इस दीन † को प्रार्थना है॥

यह बात विदित ही है कि "भक्तमाल" की शुद्ध प्रति आजकल ढूंढ़ निकालनी भी कोई सहज ही सी वार्त्ता नहीं है॥

(८) भक्तमालस्वरूप वर्णन। कवित्त। (८३५)

बड़े भक्तिमान, निशिदिन गुण गान करैं, हरैं जग पाप, जाप हियो परिपूर है। जानि सुखमानि हरि सन्त सनमान सचे, बचेऊ जगत रीति, प्रीति जानी मूर है॥ तऊ दुराराध्य, कोऊ कैसे कै अराधि सकै, समझो न जात, मन कंप भयो चूर है। शोभित तिलकभाल, मालउर राजै, ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है॥ ८॥ (६२१)

वार्त्तिक।

चाहे कोई कैसे ही बड़े भक्तिमान हों, रात दिन हरिगुण गाया करते हों, संसार के पापों को हरते भी हों, भगवन्नाम जपा करते भी हों, उनका हृदय सद्गुणों तथा भगवद्ध्यान से भरा भी हो, ज्ञानमान भी हों, (तनु कम्प और हिय चूर्ण भी हों,) श्रीहरि तथा सन्तों के सन्मान में भी सांचे हों, और उसी में सुख मानते भी हों, रीति से नाम जपते भी हों; सांसारिक प्रपंच से बचे भी हों, प्रेम को ही जड़ वा सार जानते हों, ललाट में तिलक और उर में माला भी सुशोभित हों; यह सब ठीक है सब कुछ हो, तथापि भक्ति की आराधना कठिन ही है; ओह! कोई किस प्रकार से आराधना कर सकता है? भक्ति की विलक्षण सूक्ष्मगति समझ में नहीं आती, मन कांप उठता है, हृदय चूर-चूर हो जाता है। सारांश यह कि "श्रीभक्तमालजी" को पढ़ेसमझे और मनन किये बिना,

† श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद रूपकला।

श्रीभक्तिमहारानी की आराधना और उनके स्वरूप का जानना अतीव दूर तथा असम्भव है॥

इस कवित्त में यह शंका है कि "जो जो श्रीभक्ति के अंग इसमें कहे हैं, तिनसे पृथक् भी क्या और भी कोई भक्ति का रूप है?" समाधानः—नहीं, परन्तु इन्हीं अंगों की निष्ठा, पराकाष्ठारूप, भक्तमाल में भक्तों ने आचरण करिकै दिखाए हैं, कि जिन के श्रवणमात्र से ही, इन अंगों-संपन्न जन भी, निज भक्ति का अभिमान त्याग के निरभिमान पराकाष्ठा भक्तिपद का आशा करते हैं॥ (उदाहरण) यथा, बड़े भक्तिमान श्रीपीपाजी ने श्रीधर-भक्त की भक्ति को देखि निज भक्ति को लघु माना॥ 'गुन गान'; जैसे नृतकनारायणदास कि शरीर ही त्याग दिया॥ 'नाम जाप'; अंतर्निष्ठ राजा का कि, तन ही त्याग दिया॥

'श्रीहरिसन्मान सेवा'; जैसे मामा भानजे की कि, सरावगी के शिष्य होके कहा कि "पावैं प्रभु सुख हम नरक हूं गए तो कहा"। 'सन्तसन्मान'; जैसे सदाव्रती वणिकजी की कि वेषधारा ने बेटा वध किया तब बेटी विवाह दे प्रसन्न किया॥ इत्यादिक उदाहरण श्रीभक्तमाल में देख लीजिये। विस्तार के भय से बहुत नहीं लिखे॥

"श्रीभक्तमाल" क्या है? उन महानुभावों का जीवनचरित्र कि जिनको हमारे करुणाकर प्रभु की दयालुता विशेष अपने छवि समुद्र में मग्न कर चुकी है। उसके श्रवण मनन निदिध्यासन बिना, उस रस में किसी का प्रवेश कैसे सम्भव है? क्रिया का यथार्थ स्वरूप कर्त्ताओं ही के आचरण जानने से पूर्णतः तथा शीघ्रतर अन्तःकरण में श्रवणादि द्वारा पहुँच कर गुणकारक और सुखप्रद होता है। श्रीभक्तमाल के अपूर्व अधिकार की विलक्षणता चित्त पर कैसी होती है, इसका अनुभव श्रीभक्तमाल के पढ़ने सुननेवालों ही को होता है॥

---

(९) अथ मूल मंगलाचरण॥ दोहा॥ (८३४)

भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु, चतुर नाम बपु एक।
इनके पद बंदन किये, *नाशैं विघ्न अनेक॥१॥ (२१३)

*१ बिनशैं

तिलक।

"श्रीभगवद्भक्त" "श्रीभगवद्भक्ति" "श्रीभगवत्" और "श्रीगुरु", इनके नाम ही मात्र तो चार हैं, परन्तु वास्तविक स्वरूप एक ही जानिये; इनमें भेद कुछ भी नहीं॥

विश्वासपूर्वक ऐसा समझ रखिये कि इनके पदसरोज की वन्दना

समस्त विघ्नों को निःशेष नाश करती है, चाहे विघ्न हृदय के भीतर के हों; वा बाहर के ही हों॥

आठवें कवित्त तक तो श्रीप्रियादासजी की ही निज भूमिका, मंगलाचरण, और उपक्रमणिका हुई। हाँ, अब आगे, नवें कवित्त से, उनकी "टीका" प्रारम्भ होती है॥

(१०) टीका। कवित्त। (८३३)

हरि गुरु दासनि सों साँचो सोई भक्त सही, गही एक टेक, फेरि उरते न टरी है। भक्ति रस रूप को स्वरूप यहै छवि सार चारु हरि नाम लेत अँसुवन झरी है॥ वही भगवंत संत प्रीति को विचार करै, धरै दूरि ईशता हू, पांडुन सो करी है। गुरु गुरताई की सचाई लै दिखाई जहां गाई श्री पैहारी जू की रीति रंग भरी है॥९॥ (६२०)

तिलक।

(१) "भक्त" उनको समझिये सही कि जिनको "हरि" (भगवत्) चरणारविन्द में तथा श्री "गुरु" पदकंज और "हरि-दासों" (भागवतों) के पदपंकज में 'सच्चा' प्रेम हो; तथा "श्रीहरि, श्रीगुरु और श्रीहरिगुरुदासों" के प्रति जिनका सत्य (निश्छल निष्कपट) बर्ताव होवे; और जो श्रीकृपा से अपनी निज गृहीत निष्ठा के टेक में सदैव अचल रहैं॥ भक्तिमान जन भक्त कहे जाते हैं अर्थात् जिन भाग्यभाजनों के हृदयकमल में श्री भक्ति महारानी विराजती हैं तिन्ह सज्जनों को भक्त कहते हैं॥

(श्लोक) वैष्णवो मम देहस्तु तस्मात्पूज्यो महामुने।
अन्ययत्नं परित्यज्य वैष्णवान् भज सुव्रत॥

(२) "भक्ति" जो रसरूपा है उसका सुन्दर छवि सार स्वरूप संक्षेपतः यह पहिचान लीजे कि श्रीसीताराम नाम उच्चारण करने के साथ ही आँखों में से प्रेमाश्रु के बिन्दु टपकने लगें वरंच आँसू की झड़ी बरसने लगे॥

"भक्ति" की कुछ व्याख्या पृष्ठ ३ से ३३ पर्य्यन्त लिख आए हैं। "भक्त" के भाव का नाम "भक्ति" है अर्थात् जिस अनूप सम्पत्ति के

भाजन को "भक्त" कहते हैं उस अविरल अमल पवित्र सर्वोत्तमोत्तम फलों के रस का नाम "भक्ति" जानिये॥

(३) "भगवत्" तो सन्तों और भक्तों की प्रीति ही को विचार करता है; प्रेम के आगे अपनी ईशता (ईश्वरत्व) को न्यारे ही छोड़ देता है; जैसे कि गृद्ध, निषाद, शबरी, पाण्डवों इत्यादिकन्ह के साथ। ऐसा भगवत्, सो उसकी इस भक्तवत्सलता की जय॥

(४) ऐसे व्यापक, सच्चिदानन्द, परब्रह्म, सुखराशि, शार्ङ्गधर, शोभाधाम, परमसमर्थ, "भगवंत" श्रीजानकीवल्लभजी के पद-पंकज की भक्ति जिसके उपदेश तथा कृपाद्वारा भक्तों को प्राप्त होती है, उसको श्री "गुरु" कहते हैं। गुरुताई की रीति तथा सचाई को श्रीकृष्णदास पैहारी (पयोहारी) जी महाराज के रङ्ग भरे चरित्र में सुनना समझना चाहिये॥ कुछ न लेना और पूरा २ कृतार्थ कर देना॥

(१) प्रीति जिसको होती है (भक्त); (२) तथा प्रीति (भक्ति); (३) और जिसकी प्रीति होती है (भगवन्त); (४) एवं जिसके द्वारा प्रीति होती है, और प्रियतम मिलता है, जो कि भगवत् प्रेम के ही निमित्त पूजा जाता है, (गुरु); ये चारों के चारों ही केवल कहने मात्र को ही चार हैं, नहीं तो ध्रुव करके इन्हें वस्तुतः एक ही जानिये॥

जैसे यदि किसी को अपनी आंखें दर्पण में देखनी हों, तो उस समय विचारिये कि कर्त्ता वा देखनेवाली तो आंखें ही हैं तथा देखना आंखों ही की क्रिया है; और जिसको (कर्म) आंखें देखती हैं सो भी अपनी आंखें ही हैं; एवं जो आपके देखने के करण स्वरूप हैं नाम जिन से आप देखते हैं वे भी आंखें ही हैं, और फिर दर्पण बना भी है केवल आंखों ही के लिये; अर्थात् कर्त्ता कर्म करण सम्प्रदान ये सब कारक आंखें ही हैं। वा सब एक ही तत्त्व हैं। उनमें भेद वा भिन्नता कहां है? ऐसे ही भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, ये चारों अभेद हैं॥ भगवत् की ही विचित्रता हैं। चारों नामों से भगवत् ही वन्दनीय है वही एक नामी है॥

चारों की एकता का तात्पर्य्य यह है कि श्रीभगवत् ही जीवों के

कल्याण के निमित्त अपनी कृपा से चार रूप हुए हैं, क्योंकि भक्तों के अन्तर्यामी तथा उत्प्रेरक आप ही हैं; उपाय रूपा भक्ति भी आपही की साक्षात् कृपाशक्ति है; हितोपदेशक इष्टमन्त्र गर्भित श्रीगुरु तो भगवद्रूप प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार से तत्त्वतः चारों एक हैं। "श्रीभक्ति भवानी" नाम की छोटी सी पुस्तिका (छंदबद्ध) प्रोफ़ेसर लाला भगवान्‌दीनजी "दीन" की रची देखने योग्य अवश्य है॥

(११) ॥ दोहा ॥ (८३२)

मंगलआदि विचारिरह, वस्तुन और अनूप। हरिजन कौ यश गावते, हरिजन मंगलरूप॥२॥ (२१२)

(१२) सब सन्तन निर्णय कियो, * श्रुति पुराण इतिहास। भजिबे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास॥३॥ (२११)

तिलक।

मंगलाचरणों तथा मंगल वस्तुओं में विचारने से भगवत् भक्तों का गुण वर्णन ही अनूप जँचता है, इसके सरीखा मंगल मूल और कुछ भी नहीं ठहरता। भगवत् तथा महात्माओं के सुयश को गाते गाते ही, भगवत् के जन मंगलमय हो जाया करते हैं॥

सब वेदों पुराणों इतिहासों ने तथा सब सन्तोंने यह बात पक्की ठहरा रक्खी है कि भजे जाने के योग्य दो ही हैं (१) भगवान् तथा (२) भगवान् के साधु तथा भक्त; सो इन दोनों ही की सेवा वा भजन, उत्तम ठीक और सुन्दर है॥

(१३) ॥ दोहा ॥ (८३०)

अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन कौ यश गाउ। भवसागर के तरन कौं, नाहिन और उपाउ॥४॥ (२१०)

तिलक।

स्वामी श्री ६ अग्रदेव महाराजजी ने आज्ञा दी कि भागवतों के

* प्रकट हो कि "अशुद्ध" प्रतियों में ऐसा पाठ है कि सब सन्तनमिलि निर्णय कियो, मथि श्रुति पुराण इतिहास॥ इत्यादि॥ मिलि और मथि अधिक हैं!!!

सुयश वर्णन कर; भवसिंधु से पार होने के अर्थ अमोघ महानौका दूसरा कोई नहीं है॥

(१४) आज्ञा समय की टीका। कवित्तं। (८२६)

"मानसी स्वरूप" में लगे हैं अग्रदास जू वै, करत बयार नाभा मधुर सँभार सों। चढ्यो हो जहाज पै जु शिष्य एक, आपदा में कस्यो ध्यान, खिच्यो मन. छुट्यो रूपसार सों॥ कहत समर्थ "गयो बोहित बहुत दूरि आओ छवि पूरि, फिर ढरौ ताही ढार सों॥" लोचन उघारिकै निहारि, कह्यो "बोल्यो कौन ?" "वही जौन पाल्यो सीथ दै दै सुकुँवार सों" ॥ १० ॥ (६१६)

तिलक।

एक समय स्वामी श्री ६ अग्रदास महाराज जी मानसी भावना में मग्न थे, और श्रीनाभाजी महाराज आप को प्रेम से धीरे धीरे पंखा झल रहे थे। उसी समय आप के शिष्य ने, कि जो सागर (समुद्र) में एक जहाज़ पर चढ़ा था, जहाज़ के रुक जाने से आर्त्तवश स्वामी श्री ६ अग्रदेव महाराजजी का ध्यान किया। एक तो स्मरण, दूसरे दीनता से, फिर क्या था, उक्त स्वामीजी कृपालु के मन को सार स्वरूप की सेवा से छुड़ा के अपनी ओर आकर्षण कर ही तो लिया। समर्थ श्री नाभाजी अपने स्वामी के अनुपम रहस्य सेवा का यों विघ्न सह न सके, कृपापूर्वक उसी पंखे के वायुबल से जहाज़ को उस आपदा से छुड़ाकर, विनय किया कि "प्रभो! वह बोहित (जहाज़) तो आपकी कृपा ही से आपदा से बचकर बहुत दूर निकल गया; अब आप अपने चित्त को उधर से लौटाय के शान्तिपूर्वक स्वकार्य्य में तत्पर करके पुनः उसी अनुपम छवि में लगाइये।" इस वार्त्ता के सुनते ही नेत्र उघार उनकी ओर निहार आपने पूंछा कि "कौन बोला ?" श्रीनाभाजी ने हाथ जोड़ के प्रार्थना की कि "नाथ! वही शरणागत बालक, कि जिसको सीथ प्रसाद देदे के आपने कृपापूर्वक पाला है॥"

(१५) टीका। कवित्त। (८२८)

अचरज दयो नयो यहां लौं प्रवेश भयो, मन सुख छयो, जान्यो

संतन प्रभाव को। आज्ञा तब दई, "यह भई तोपै साधु कृपा, उनहीं को रूप गुण कहो हिय भाव को॥" बोल्यो करजोरि, "याको पावत न ओर छोर, गाऊँ राम कृष्ण नहीं पाऊं भक्ति दाव को।" कही समुझाइ, "वोई हृदय आइ कहैं सब, जिन लै दिखाइ दई सागर में नाव को" ॥ ११ ॥ (६१८)

तिलक।

इतना सुनते ही आप नवीन आश्चर्य्य में आकर विचारने लगे कि इसकी यहाँ तक पहुँच हुई! तथा मन में अत्यन्त आनन्द छा गया, और जाना कि यह सन्तों के प्रसादी और चरणामृत का प्रभाव है। तब आपने इन्हें आज्ञा दी "वत्स! यह तुझ पर साधुओं की अलभ्य कृपा हुई; अतः अब तू सन्तों ही के गुण स्वरूप तथा हृदय के भाव को वर्णन कर।" (भवसागर के तरने का यही उपाय है।)

इनने हाथ जोड़ के निवेदन किया कि "स्वामी! श्रीराम कृष्ण चरित्र गा सकूं, परन्तु भक्तों के अपार रहस्य चरित्रों का आदि अन्त पाना तो मुझको असम्भव ही है।" आपने समझाया कि "पुत्र! जिनने तुम्हें समुद्र में जहाज़ को दिखा दिया, वे ही तुम्हारे हृदय में प्रवेश करके अपने अलौकिक रहस्यों को कहेंगे। सो, तुम अब भक्त यश कह ही चलो॥"

ऐसे वरदानात्मक वचनवर सुनके श्रीकृपा से श्रीनाभाजी महाराज आनन्दपूर्वक उद्यत होही तो गए, और "श्रीभक्तमाल" रचही तो दिया॥

☞ श्रीभक्तमालजी में १६५ छप्पय (षट्पदी) हैं; आदि में चार दोहे हैं; एक कुण्डलिया तथा एक दोहा मध्य में; अन्त में तेरह दोहे हैं; सब मिलके २१४ (दो सौ चौदह) छन्द हैं॥ यही "मूल भक्त-माल" है, जो इस ग्रन्थ में 'बड़े अक्षरों में' छपा है॥ और श्रीप्रियादासजी की "भक्तिरसबोधिनी" नाम उसी की टीका ६२६ कवित्तों में है। इन्हीं आठ सौ तेंतालीस (२१४ + ६२९=८४३) छन्दों का भावार्थ, यथामति, सन्तों की कृपा से लिखना; इस दीन का उद्देश्य है॥

(१६) श्रीनाभाजी की आदि अवस्था वर्णन। कवित्त। (८२७)

हनूमान् वंश ही में जनम प्रशंस जाको भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये। उमरि बरष पांच, मानि कै अकाल आंच, माता वन छोड़ि गई विपति विचारिये॥ कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दियो लियो यों अनाथ जानि, पूछी, सो उचारिये। बड़े सिद्ध जल लै कमण्डलु सों सींचे नैन, चैन भयो खुले चख, जोरी को निहारिये॥ १२॥(६१७)

तिलक।

स्वामी श्रीनाभाजी महाराज के जन्म, और प्रथम अवस्था की दशा इस प्रकार है कि परम प्रशंसनीय श्रीहनुमान् वंश में अवतार लिया॥

सो हनुमान् वंश का निर्णय मुन्शी श्रीतुलसीराम जी और "रुमूज़े मिह्र व वफ़ा" के कर्त्ता श्रीतपस्वीरामजी ने, इस प्रकार किया है कि दक्षिण में तैलङ्ग देश गोदावरी के समीप श्रीरामभद्राचल के पास "श्रीरामदास" जी समर्थ नाम के एक महाराष्ट्र ब्राह्मण श्रीहनुमान् जी के अंशावतार हुए, (उनके छोटी सी पूंछ भी थी) वे बड़े प्रसिद्ध श्रीरामोपासक परम भक्त सानुराग सिद्ध थे बहुतों को श्रीसीताराम भक्त भव विरक्त श्रीचरणानुरक्त करके श्रीसीताराम धाम को प्राप्त हुए। इस प्रकार श्रीहनुमान् अवतार होने से वह हनुमान् वंश करके विख्यात है, अबतक उस वंश के लोग गानविद्या के अधिकारी होते हैं, राजा लोगों के यहां नौकरी गानेपर करते हैं ऐसा उन्होंने लिखा है॥

और इसी भक्तमाल को, दोहा चौपाई में रचनेवाले राजा श्रीरघुराजसिंहजी ने ऐसा लिखा है कि "सो शिशु लाङ्गूली द्विजकेरो" अर्थात् उन्होंने हनुमान् वंश का "लाङ्गूली" ब्राह्मण अर्थ किया है॥

और, कोई २ तो स्वामी श्रीनाभाजी का जन्म डोमवंश में भी कहते हैं, परन्तु पश्चिम देश में "डोम" किस को कहते हैं यह न जाननेवाले लोग इस देश में डोम भंगी का नामान्तर समझ के "भंगी" भी कह बैठते हैं सो भंगी कहना महा अनुचित अविचार वो पाप है क्योंकि पश्चिम माड़वार आदिक देशों में डोम, कलावँत, ढाढ़ी, भाट, कथक, इन गानविद्या के उपजीवियों की तुल्य जाति (ज्ञाति) और प्रतिष्ठा है।

इसका प्रमाण (१०७ वें छप्पय) में श्रीमूलकारने "लाखा" भक्त को वानर अर्थात् वानरवंशी लिखा और (४२२ वें कवित्त में) भक्तमाल के टीकाकार ने—"लाखा नाम भक्त ताको वानरो बखान कियो कहैं जग डोम जासो मेरो शिरमोर है" ऐसा लिखके आगे इनके गृह में सन्तों का जाना और रोटी प्रसाद का पाना भी लिखाहै सो देख लीजे ॥ "लाखा" भक्त के यहां सन्तों का प्रसाद रोटी पाना अन्यथा असंभव था ॥ अस्तु, यहां तो दोनों प्रकार से उत्तमता है श्रीनाभा स्वामी तो श्री सीतारामजी के अनन्य विशुद्ध जगत्पूज्य दास हैं न ब्राह्मण हैं न डोम इन अच्युतगोत्र की देह तो जात्यभिमान से रहित है ! इत्यलम् ॥

और श्रीनाभाजी के अवतार की कथा इस प्रकार भी सन्तों से सुनी है कि जब ब्रह्माजी ने वत्स बालकों को हरण किया तब श्रीकृष्ण कृपालु जी ने कहा "ब्रह्माजी आपने विमोह दृष्टि से हमारे प्रिय वत्स बालकों का हरण किया तिस हेतु से कलिकाल में लोचनहीन जन्म लोगे" तब श्रीब्रह्माजी ने स्तुति की और श्रीभगवान् ने प्रसन्न होके वर दिया कि "पांच वर्ष तक अंधे रहोगे तदुपरि बाहर भीतर दोनों प्रकार के दिव्य नेत्र खुलेंगे और परम यश को प्राप्त होगे।" सोई श्रीब्रह्माजी के अंश से श्रीनाभाजीका अवतार जानिये ॥

प्रशंसनीय "हनुमान् वंश" में, हरि इच्छा से आपने अन्धे ही जन्म लिया, और "नवीन बात," सो यही किनेत्रों के चिह्नतक न थे, तिन को भी महात्माओं की कृपा से दिव्य लोचन मिले। आप पाँचवर्ष के हुए तब देश में अति दुकाल पड़ा। पिता का भी शरीर छूट गया। माता आपको लेके और देश को चलीं; परन्तु भूखों मरने लगीं, लेके न चल सकीं इसी विपत्ति के वश वनही में छोड़कर चली गई। वह दीनता, और भगवत् की यह दीनदयालुता विचारनेही योग्य है कि स्वामी श्री-कील्हदेवजी तथा स्वामी श्रीअग्रदेवजी श्रीहरिकृपा से उसी ओर जा निकले; अनाथ बालक को देख आपने पूछा कि "बालक ! तू कौन है ? और अकेला क्यों है ? कोई और भी तेरा संगी सहायक है ? तेरे माता पिता कौन हैं ?"

सो उसी अवस्था में, (होनेहार बिरवे के चिकने चिकने पात) आपने उत्तर कुछ विलक्षण सा दिया, कि "महाराज ! अबतक तो यह दीन अपने को असहाय ही समझे था परन्तु आपका कृपापूर्वक पूछना ही मुझे सुधि दिलाता है कि मेरा और तो माता पिता संगी सहायक कोई नहीं है, पर जो सब जगत् का माता पिता साथी और सहायक है, सोई अनाथ नाथ मेरा भी संगी सहायक और माता पिता है ॥"

दोनों महात्मा सिद्ध तो थे ही, बड़े भाई श्रीकील्हदेवजी ने अपने कमण्डल से कृपारूपी जल के छींटे ज्यों ही उनकी आँखों पर दिये, उसी क्षण उनकी आँखें खुलही तो गईं। दोनों महानुभावों की जोड़ी का दर्शन पाकर उनके नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आए ॥

अब इस विषय में (अर्थात् श्रीनाभाजी के जन्म, जाति तथा नाम की वार्त्ता) कुछ और भी निवेदन किया जाता है।

स्वामी श्रीनाभाजी का नाम 'नभभूज" है; आप अयोनिज पुरुष हैं; आपकी जाति तो कोई नहीं; आप श्रीहनुमत-स्वेद से हैं, अतएव हनुमान्वंशी प्रसिद्ध हैं।

"श्रीसूर्य्य भगवान् से विद्या पढ़ने के अनन्तर जिस समय श्रीअंजनी-नन्दन पवनतनय श्रीहनुमान्जी श्रीशिवजी के समीप योग सीख रहे थे, उस समय विचार के परिश्रम से जो स्वेद (पसीना) श्रीमारुति भगवान् के अङ्ग से निकला, उसको भक्तिरत्न के कोषाध्यक्ष त्रिकालज्ञ जगद्गुरु श्रीशिवजी ने एक पात्र में रख लिया। कालान्तर में श्री-भगवद्भक्ति के विवर्द्धन के निमित्त उसी को नभ से भू में निक्षेप किया; इसी से इनका नाम "नभभूज" हुआ कि जो "नाभाजी" के नाम से प्रसिद्ध है। हनुमान्वंशी इसी से कहलाए।" अयोनिज पुरुष की जाति कोई नहीं ॥ वह पसीना (स्वेद) उस समय का था कि जब आप नेत्रों को बन्द किये हुए योग की पराकाष्ठा दशा (समाधि) में थे; अतएव श्रीनाभाजी भी बाह्यनयनों से हीन (परन्तु अन्तःकरण की दिव्य दृष्टि से अनुपम रहस्य के देखने वाले ही) हुए ॥"

(१७) टीका । कवित्त (८२६)

पायँ परि आँसू आये, कृपा करि संग लाये, कील्ह आज्ञा पाइ, मंत्र अगर सुनायो है। "गलते" प्रगट साधु सेवा सो विराजमान जानि अनुमान, ताही टहल लगायो है ॥ चरण प्रछालि संत सीथ सों अनंत प्रीति, जानी रस रीति, ताते हृदय रंग छायो है। भई बढ़वारि ताकौ पावै कौन पारावार, जैसो भक्तिरूप सो अनूप गिरा गायो है॥ १३॥ (६१६)

तिलक ।

बड़ी श्रद्धा से उनने अपना सीस दोनों महात्माओं के पदकंज पर रख दिया। कृपापूर्वक वे "गलता" स्थान में (गालव मुनि के आश्रम में कि जो जयपुर के पास है,) लाए गए ॥

स्वामी श्रीकील्हदेवजी की आज्ञा से, स्वामी श्रीअग्रदेवजी ने नारायणदास नाम रखकर इनको श्रीराममन्त्र उपदेश किया। उक्त गादी की साधुसेवा तो प्रसिद्ध है ही, श्रीनाभाजी (नारायणदासजी) को यह टहल सौंपा गया कि "सन्तों के चरण धोया करें, तथा उच्छिष्ट पत्तल उठाया करें" वही सन्तप्रसादी पाया करें और सन्तचरणामृत पिया करें ॥"

महात्माओं की आज्ञानुसार कुछ काल पर्य्यन्त ऐसा ही करने से श्रीरामकृपा से इनको सन्तों के चरणामृत तथा सीथप्रसाद में अत्यन्त प्रीति हो गई; और उसका स्वादविशेष भी इनने जाना। एवं इनका अन्तःकरण भागवतों तथा भगवत् के विलक्षण प्रेमरङ्ग से रँग गया, और ऐसे अनुपम विद्युत् के चमत्कृत प्रकाश से सुशोभित हुआ कि जिसकी अलौकिक किंचित् झलक की अपूर्व अवस्था से (कवित्त १० पृ. ४१) ज्ञान वैरागरूपी नेत्रों को चकाचौंध सी हो जाती है ॥

जैसी अपार बढ़वारी (बड़ाई) इनकी हुई उसका वारपार कौन पा सकता है ? देखिये, श्रीभक्तिजी का जैसा विलक्षण स्वरूप है उसको अपनी अनूप वाणी से श्रीभक्तमाल में आपने (श्रीनाभास्वामीजी ने) कैसा गाया है ॥ श्रीगोस्वामी नाभाजी का यश थोड़ा सा इस दसवें ग्यारहवें बारहवें तेरहवें कवित्त के तिलक में कहे ॥

श्रीभक्तमालकार स्वामी श्रीनाभाजी प्रथमतः "दोहाओं" में ही मंगलाचरण करके, अब "षट्पदी (छप्पय) छन्द" के आरम्भ में पहले, चौबीसों अवतारों का जयकारात्मक मङ्गलाचरण करते हैं।

(१८) (मूल) छप्पय। (८२५)

जय जय मीन[१], वराह[२], कमठ[३], नरहरि[४], बलि-बावन[५]। परशुराम[६], रघुवीर[७], कृष्ण[८] कीरति जगपावन ॥ बुद्ध[९], कल्कि[१०], व्यास[११], पृथू[१२], हरि[१३], हंस[१४], मन्वन्तर[१५]। यज्ञ[१६], ऋषभ[१७], हयग्रीव[१८], ध्रुववरदैन[१९], धन्वन्तर[२०] ॥ बद्रीपति[२१], दत्त[२२], कपिलदेव[२३], सनकादिक[२४] करुणा करौ। चौबीस, रूप लीला रुचिर, श्रीअग्रदास उर पद धरौ ॥५॥ (२०९)

तिलक।

जय जय जय, हे श्रीमच्छरूप भगवान्! आपकी जय, हे श्रीशूकररूप भगवान्! आप की जय; हे श्रीकच्छपरूप भगवान्! आपकी जय; हे श्रीप्रह्लादपति नरसिंहजी! आपकी जय; हे बलियुत श्रीवामनजी! आपकी जय; हे श्रीपरशु-राम! आपकी जय; हे प्रभो श्रीरामचन्द्र रघुवंश-मणि! आपकी जय; हे यदुपति श्रीकृष्णचन्द्र! आपकी जय; हे बुद्धावतार! आपकी जय; हे श्रीकल्कि भगवान्! आपकी जय; हे श्रीवेदव्यासजी! आपकी जय; हे श्रीपृथुजी! आपकी जय; हे गजेन्द्र रक्षक श्रीहरि! आपकी जय; हे श्रीहंसरूप भगवान्! आपकी जय; हे चतुर्दश मनु अवतार! आपकी जय; हे श्रीस्वयंभू मनु के रक्षक श्रीयज्ञ भगवान्! आपकी जय; हे श्रीऋषभ भगवान्! आपकी जय; हे श्रीहयग्रीवरूप भगवान्! आपकी जय; हे श्रीध्रुवजी के वरदाताजी! आपकी जय; हे श्रीधन्वन्तरजी! आपकी जय; हे बद्रीपति श्रीनरनारायणजी! आपकी जय; हे श्रीदत्तात्रेयजी! आपकी जय; हे श्रीकपिलदेवजी! आपकी जय; हे श्रीसनक श्रीसनन्दन श्रीसनातन श्रीसनत्कुमारजी! आपकी जय जय; हे भगवन्! आपके चौबीस रूपों की रुचिर लीलाओं की कीर्त्ति जगत् को पावन करनेहारी है; आप मेरे ऊपर कृपा कीजै, अर्थात्

अपने निज भक्तन सहित रुचिर लीला मेरे हृदय में प्रकाश कीजिये। और हे गुरुदेव श्रीअग्रदासजी ! इन चौबीस अवतारों के साथ आप भी अपना २ पदसरोज मेरे हृदय में रखिये ॥

☞स्वामी श्रीअग्रदासजी कृत यह छप्पय मंगल हेतु श्रीनाभाजी ने यहां रक्खा अथवा आपही ने गुरुका नाम छाप दिया हो ॥

गिनती	अवतारों के नाम	युग	मास *	पक्ष *	तिथि *	समय	जिस देश में अवतीर्णहुए उसका नाम
१	मत्स्य	कृत	अ०	शु०	११	प्रात	पुष्पभद्रा
२	कच्छप	कृत	आ०	कृ०	३	प्रात	समुद्र
३	शूकर	कृत	भा०	शु०	५	मध्याह्न	हरिद्वार
४	नृसिंह	कृत	वै०	शु०	१४	मध्याह्न	पंजाब मुलतान
५	वामन	त्रेता	भा०	शु०	१२	मध्याह्न	प्रयागजी
६	परशुराम	त्रेता	वै०	शु०	३	मध्याह्न	यमुनिया ग्राम
७	श्रीरघुपति	त्रेता	चै०	शु०	९	मध्याह्न	श्रीअयोध्याजी
८	श्रीकृष्ण	द्वापर	भा०	कृ०	८	अर्द्धरात्रि	मथुराजी
९	बुद्ध	द्वापर	पू०	शु०	७	प्रात	गया (कीकट)
१०	कल्कि	कलि	भा०	शु०	३		सम्बल ग्राम मुरादाबाद

☞ये प्रसिद्ध "दश" अवतार हैं।

दो० दुइ वनचर, दुइ वारिचर, चार विप्र, दो राउ ।
तुलसी दश यश गाइके, भवसागर तरि जाउ ॥

---

*कल्पभेद से तिथियों में भी कहीं कहीं कभी कभी भेद पाया जाता है ॥

गिन्ती	अवतारों के नाम	युग	देश	
११	व्यास	द्वापर		
१२	पृथु	कृत	श्रीअयोध्या	
१३	हरि	कृत	त्रिकूटाचल	
१४	हंस	कृत	ब्रह्मलोक	
१५	मन्वन्तर *	कृत	बिठूर	* चौदह
१६	यज्ञ (उरुकुरुम)	कृत	बद्री	
१७	ध्रुववरदेन	कृत	बिठूर	
१८	हयग्रीव	कृत	कामरूप	
१९	ऋषभदेव	कृत	श्रीअयोध्या	
२०	धन्वन्तर	कृत	समुद्र	
२१	नरनारायण	कृत	बद्रिकाश्रम	
२२	दत्तात्रेय	कृत	चित्रकूट	
२३	कपिलदेव	कृत	बिन्दसर के समीप	
२४	सनकादि †	कृत	ब्रह्मलोक	† चार

(१९) टीका। कवित्त। (८२४)

जिते अवतार, सुखसागर न पारावार, करै विस्तार लीला जीवन उधार कौं। जाही रूप माँझ मन लागै जाको, पागै ताही; जागै हिय भाव वही, पावै कौन पार कौं ॥ सब ही हैं नित्त, ध्यान करत प्रकाशै चित्त, जैसे रंक पावैं वित्त, जोपै जानै सार कौं। केशनि कुटिलताई ऐसे मीन सुखदाई, अगर सुरीति भाई, बसौ उर हारकौं॥ १४॥ (६१५)

तिलक।

भगवत् के जितने अवतार हैं, वे सबही सुखके समुद्र हैं, जिनका वार-पार (ओरछोर) कौन पासकता है; प्रत्येक की लीला का विस्तारपसार, जीवों के ही उद्धार के निमित्त है। जिस भक्त का, जिस अवतार के रूप नाम लीला धाम में मन लगै, और उसमें वह रँगै पगै, उसके हृदय में वही भाव ऐसा जाग उठता है (प्रकाशमान होता है) कि कहां तक उसकी प्रशंसा की जाय, उसका अन्त नहीं। सबही अवतार नित्य हैं, सबही ध्यान करने से चित्त को प्रकाशकारक; और सबही ऐसे सुखद हैं

कि जैसे दरिद्री को धन का मिलना सुख देता है। हां, इतनी बात तो अवश्य है कि यदि सारांश तत्त्व का ज्ञान होवे, तब सुख की प्राप्ति होती है॥

जिस प्रकार से 'टेढ़ापन' रूपी दोष भी बालों (केशों) के सम्बन्ध में सुखद गुणही होता है, वैसेही मीन वाराह आदि तिर्यक् शरीर भी भगवत् की प्रभुता के सम्बन्ध से अति सुखदायी ही हैं॥

"सबही अवतारों को भावपूर्व्वक पूर्ण मानना" श्रीअग्रदेव स्वामीजी की ऐसी जो मनभावती रीति सो मेरे हृदय में मनोहर हार के सरिस बसै॥

प्रेम एक ऐसा अनुपम और अनोखा पदार्थ है कि वह जाति पाँति का कदापि विचार न करके तड़ितवत् जिसपर पड़ता है लोक परलोक के झगड़ों से उसको छुड़ा ही के छोड़ता है। जोकि इस ग्रन्थ में जगदुद्धारक निषाद श्वपचादि महानुभावों के विमल पवित्र चरित, कि जिनको देख सुनकर कर्मकाण्ड के बड़े २ अभिमानी नाक सिकोड़ते और दाँतों तले उङ्गली दबाते चले आए हैं, वर्णन किए हैं; इसीसे ग्रन्थकर्ता ने भूभार उतारनेवाले और भक्तों के सुख देनेहारे भगवत् के भी शूकरादि विलक्षण स्वरूपों की वन्दनारूपी मंगलाचरण पहले किया है॥

जी में आया था कि चौबीसों अवतारों की संक्षेप लीलाएँ भी यहां लिखदूँ; परन्तु विस्तार के भय से छोड़ दिया, न बढ़ाया॥

(२०) छप्पय (८२३)

चरण चिह्न रघुवीर के, संतन सदा सहायका॥ अंकुश[१], अंबर[२], कुलिश[३], कमल[४], जव[५], धुजा[६], धेनुपद[७]। शंख[८], चक्र[९], स्वस्तीक[१०], जंबुफल[११], कलस[१२], सुधाह्रद[१३]॥ अर्द्धचन्द्र[१४], षटकोन[१५], मीन[१६], बिंदु[१७], ऊरधरेखा[१८]। अष्टकोन[१९], त्रैकोन[२०], इन्द्रधनु[२१], पुरुषविशेखा[२२]॥ सीतापति पद नित बसत, एते मंगल दायका। चरण चिह्न रघुवीर के, संतन सदा सहायका॥६॥ (२०८)

तिलक।

चौबीसों अवतारों का मङ्गलाचरण करके, स्वामी श्रीनाभाजी महाराज अब, साकेतपति श्रीअवधविहारी निज प्रभु श्रीसीतापति रघुवीरजी के

चरणपङ्कजों में के सुखदायक सहायक पापहारी जन उद्धारकारी बाईस चिह्नों का मङ्गलाचरण करते हैं।

श्रीजानकी जीवन रघुवीरजी के पदकंज में "अंकुश" प्रमुख (अड़तालीस) चिह्न सदैव विराजते हैं; परम मङ्गल के देनेवाले तथा संतों की विशेष सहायता करनेवाले हैं॥

"महारामायण," "तपस्वीभाष्य," प्रमुख की मति से श्रीचरणचिह्न तो वस्तुतः ४८ (अड़तालीस) हैं, २४ (चौबीस) दक्षिण पदपंकज में, और २४ (चौबीस) वामचरणसरोज में॥

श्रीअगस्त्यमुनीश्वरकृत "श्रीरघुनाथचरणचिह्नस्तोत्र" में ४८ में से केवल १८ (अठारह) ही रेखाओं का वणन है अर्थात् (१) अम्बुज (२) अंकुश (३) यव (४) ध्वज (५) चक्र (६) ऊर्द्ध्वरेखा (७) स्वस्तिक (८) अष्टकोण (९) पवि (१०) बिन्दु (११) त्रिकोण (१२) धनु (१३) अंकुश वा अम्बर अर्थात् वस्त्र (१४) मत्स्य (१५) शंख (१६) चन्द्रार्द्ध (१७) गोष्पद और (१८) घट॥

ऐसे ही, श्रीकिशोरीजी की एक कृपाश्रिता ने केवल ९ (नव) ही रेखाओं की वन्दना की है (सोरठा) "वन्दौं सियपद" (१) रेख, (२) श्रीलक्ष्मी, अरु (३) श्रीसरयू। (४) शक्ति (५) सुपुरुष विशेष, (६) स्वस्तिक (७) शर (८) धनु (९) चन्द्रिका॥

एवं, श्रीयामुनाचार्य्य महाराजजी ने "आलवन्दार स्तोत्र" में इन अड़तालीस में से केवल सातही चिह्न चुन के लिखे (१) दर (२) चक्र (३) कल्पवृक्ष (४) ध्वजा (५) कमल (६) अंकुश और (७) वज्र॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने तो अति कल्याणदायक केवल चारही चिह्न लिखे, अर्थात् (१) ध्वज (२) कुलिश (३) अंकुश (४) कमल॥

(कवित्त) "ध्यावहीं मुनीन्द्र राम पदकंज चिह्न राज, सन्तन सहायक सुमङ्गल सन्दोहहीं। ऊर्द्ध्वरेखा स्वस्तिक, रु अष्टकोण, लक्ष्मी, हल, मूसल, औ शेष, शर, जन जिय जोहहीं॥ अम्बर, कमल, रथ, वज्र, जव, कल्पतरु, अंकुश, ध्वजा, मुकुट, मुनि, मन मोहहीं। चक्र जू सिंहासनऽरु यमदण्ड, चामर औ छत्र नर, जयमाल दहिने पद सोहहीं॥ १॥"

(अथ चिह्नों के स्थान)

भक्तवत्सल श्रीजानकीवर के दक्षिण पद की रेखाएँ ।

२४ जयमाल		१३ जव (अँगूठी मे)
२३ नर		१२ वज्र
२२ छत्र		११ रथ
२१ चामर		१० कमल
२० यमदण्ड	१ ऊर्ध्वरेखा	९ अम्बर
१९ सिंहासन		८ शर
१८ चक्र		७ शेष
१७ मुकुट		६ मूसल
१६ ध्वजा		५ हल
१५ अंकुश		४ लक्ष्मी
१४ कल्पतरु		३ अष्टकोण
	२ स्वस्तिक	

(कवित्त) "वाम पद, सरयू, गोपद, मही, कलश, पताका, जम्बूफल, अर्द्धचन्द्र, शंख, राजहीं । षटकोण, तीनकोण, गदा, जीव, बिन्दु, शक्ति, सुधाकुण्ड, त्रिबली, प्रताप, सुर गाजहीं ॥ मीन, पूर्णचन्द्र अरु वीणा अपि, बंशी पुनि धनुष, तुणीर, हंस, चन्द्रिका, विराजहीं । एते चिह्न श्रीसियपिय पदपंकज के, "तपसी" मंगलमूल, सब सुख साजहीं ॥ २ ॥"

☞ श्रीचरण-चिह्न-चित्र देखिये ॥

(अथ चिह्नों के स्थान)

दीनबन्धु श्रीजानकीवर के वामपद की रेखाएँ ।

३७ बिन्दु (अँगूठे में)		४८ चन्द्रिका
३६ जीव		४७ हंस
३५ गदा		४६ तूणीर
३४ तीन कोण		४५ धनुष
३३ षट्कोण	२५ सरयू	४४ बंशी ×
३२ शंख		४३ वीणा
३१ अर्धचन्द्र		४२ पूर्णचन्द्र
३० जम्बूफल		४१ मीन
२९ पताका		४० त्रिबली
२८ कलश		३९ सुधाकुण्ड
२७ भूमि		३८ शक्ति
	२६ गोपद	

गिनती	रेखाओं के नाम	उनके रंग	उनके ध्यान में लाभ विशेष	उस चिह्न से कार्य्यावतार	
१	ऊर्ध्वरेखा	लाल(गुलाबी)	महायोग; भवसिन्धु सेत	। सनकादिक *	* चारो
२	स्वस्तिक	पीत	मंगल, कल्याण	श्रीनारदजी	
३	अष्टकोण	लालऔर सफेद	अष्टसिद्धिदायक यन्त्र	कपिलदेव	
४	महालक्ष्मी	महासुन्दर गुलाबी	सर्व सम्पत्ति	श्रीलक्ष्मीजी	
५	हल	श्वेत	विजय	बलरामजी का हल	
६	मूसल	धूम	शत्रु का नाश	बलरामजी का मूसल *	
७	शेष	श्वेत	शान्तिप्रद	श्रीरामानुजस्वामी, शेष	
८	शर	श्वेत;पीत	सद्गुण	प्रसिद्ध २ बाण सब	
९	अम्बर (वस्त्र)	नीला, बिजलीसा	भयार्त्तिहरण	वराह भगवान्	
१०	कमल	गुलाबी	हरिभक्ति	विष्णु का कमल	
११	चार घोड़ों का रथ	घोड़ेसफेद रथ विचित्र	विशेष पराक्रम	स्वयंभूमनु; पुष्पक विमान	
१२	वज्र (पवि)	बिजलीसा	बलदायक पापसंहारक	इन्द्र का वज्र	
१३	यव (जव)	श्वेत, रक्त	मोक्ष; शृङ्गार	कुबेर; यज्ञावतार	
१४	कल्पतरु	हरा	इच्छित फल	सुरतरु, पारिजात	
१५	अंकुश	श्याम	मन निग्रह		
१६	ध्वजा	विचित्र	विजय; यश		
१७	मुकुट	सोनहरा	भूषण	पृथु; दिव्यभूषण	
१८	चक्र	तप्तकांचन	शत्रु का विनाश	सुदर्शन कल्कि	
१९	सिंहासन	तप्तकांचन	विजय		
२०	यमदण्ड	कांस	निर्भयता	यमराज; धर्मराज	
२१	चामर	धवल	हिय में प्रकाश	हयग्रीव	
२२	छत्र	शुक्ल	दया, बुद्धि, ध्यान	कल्कि	
२३	नर	गौर	भक्ति, शान्तिसत्त्वगुण	दत्तात्रेय	
२४	जयमाल	तड़ित,विचित्र	उत्सव		

अथ वामचरणसरोज के चिह्न।

संख्या	रेखाओं के नाम	उनके रंग	ध्यान से लाभ विशेष	उस चिह्न से कायावतार
१	सरयू	श्वेत	भक्ति	विरजा गंगा इत्यादि
२	गोपद	श्वेत, लाल	भवसिंधु लंघन	कामधेनु, पृथु, धन्वन्तरि
३	भूमि	पीत, लाल	क्षमा	कमठावतार
४	कलश	सुनहरा, श्वेत	भक्ति, जीवनमुक्ति	अमृत
५	पताका	विचित्र	विमलता	
६	जम्बुफल	श्याम	चारोंपदार्थ	गरुड़जी, व्यासजी
७	अर्धचन्द्र	धवल	भक्ति, शान्ति, प्रकाश	बामन भगवान्
८	शंख	श्वेत, गुलाबी	जय, बुद्धि	वेद, हंस, दत्त, शंख
९	षट्कोण	लाल, सफेद	यन्त्र, षट्विकाराभाव	कार्त्तिकेय
१०	तीन कोण	लाल	यन्त्र, योग	हयग्रीव, परशुराम
११	गदा	श्याम	जय	महाकाली, गदा
१२	जीव	दीप सा		जीव
१३	बिन्दु	पीत	सर्व पुरुषार्थ	सूर्य; माया
१४	शक्ति	पीली गुलाबी सुन्दर	श्री	मूलप्रकृति, शारदा, महामाया
१५	सुधाकुण्ड	श्वेत, लाल	अमृत रत्न	ऋषभ
१६	त्रिबली	हरा, लाल, धवल	शोभा	वामन
१७	मीन	रूपासा	मङ्गलार्थ, शुभशकुन	
१८	पूर्णचन्द्र	धवल	सरलता, शान्ति, प्रकाश	चन्द्र
१९	वीणा	पीत, रक्त श्वेत	यशगान	श्रीनारदजी
२०	वंशी	विचित्र		श्रीकृष्णजी की वंशी
२१	धनुष	हरा, पीला, लाल	यमवशगान् हंतु	शार्ङ्ग, पिनाक, आदि
२२	तूणीर	बिचित्र	सप्त भूमि ज्ञान	परशुराम
२३	हंस	श्वेत, गुलाबी	विवेक, ज्ञान	हंसावतार
२४	चन्द्रिका	सर्वरंगमय तड़ितवत्	अकथ प्रभाव	

☞अठतालिसों चिह्नों में से २४ चौबीस चिह्न दोनों चरणकमलों में विराजमान हैं ॥ और, जो २४ रेखाएँ श्रीजनककिशोरी महारानी जी के वाम पदकंज में हैं, सोई २४ चिह्न श्रीप्राणवल्लभजी के दक्षिण चरण-सरोज में हैं। तथा जो २४ रेखा स्वामिनी श्रीजनकलली महारानीजी के बाएँ चरणारविंद में हैं, सोई २४ चिह्न श्रीप्राणप्रियतम के दाहिने पद-पद्म में हैं ॥ यह मनस्थ रखना चाहिए।

दुःखहारी रेखाएँ	सुखकारी रेखाएँ	
१ अष्टकोण *	१ ऊर्ध्वरेखा	१६ पृथ्वी
२ हल	२ स्वस्तिक	१७ घट
३ मूसल	३ महालक्ष्मी	१८ जम्बुफल
४ अम्बर	४ शेष	१९ जीव
५ कुलिश	५ शर	२० बिन्दु
६ यव *	६ कंज	२१ शक्ति
७ अंकुश	७ स्यन्दन	२२ सुधाह्रद
८ ध्वजा	८ कल्पवृक्ष	२३ त्रिबली
९ चक्र	९ मुकुट	२४ मत्स्य
१० यमदण्ड	१० सिंहासन	२५ पूर्णशशि
११ गोपद	११ चामर	२६ वीणा
१२ पताका	१२ छत्र	२७ निषंग
१३ अर्द्धचन्द्र *	१३ पुरुष	२८ हंस
१४ दर	१४ जयमाल	२९ चन्द्रिका
१५ षट्कोण	१५ सरयू	* यव
१६ त्रिकोण	* अष्टकोण	* अर्द्धचन्द्र
१७ गदा	४८ में १९ दुःखहारी हैं और २९ सुखकारी ।	
१८ वंशी	अष्टकोण, यव, और अर्द्धचन्द्र ये * तीन दुखःहारी	
१९ धनुष	भी हैं और सुखकारी भी ॥	

करुणासिन्धु श्रीनाभाजी महाराज ने ४८ में से विशेष सहायक २२ (बाईस) चिह्नों का ही मंगलाचरण किया है, जिनमें से ११ (ग्यारह) प्रत्येक पद के हैं ॥ अर्थात् (१) अंकुश (२) अम्बर (३) कुलिश (४) कमल (५) जव (६) ध्वजा (७) चक्र (८) स्वस्तिक (९) ऊर्ध्वरेखा (१०) अष्टकोण (११) पुरुष। ये ग्यारह दाहिने पद के, और (१) गोपद (२) शंख (३) जम्बु-फल (४) कलश (५) सुधाकुण्ड (६) अर्द्धचन्द्र (७) षट्कोण

(८) मीन (९) बिन्दु (१०) त्रिकोण (११) इन्द्रधनुष ये ग्यारह बाएं चरणकंज के।

---

(२१) टीका। कवित्त। (८२२)

सन्तनि सहाय काज, धारे राम नृपराज चरणसरोजन में चिह्न सुखदाइये। मनही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं, ताके लिये "अंकुश" लै धास्यो, हिये ध्याइये॥ सठता सतावै शीत, ताही तें "अम्बर" धस्यो हस्यो जन शोक ध्यान कीन्हे सुखपाइये। ऐसे ही "कुलिश" पाप पर्वत के फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबे को "कंज" मनल्याइये* ॥१५॥ (६१४)

तिलक।

सन्तों की सहायता के अर्थ नृपराज महाराज श्रीरामचन्द्र कृपा-सिन्धजी ने अपने पदकमलों में भक्तों के सुखदाई चिह्नवृन्द धारण किये हैं॥ मनरूपी मतवाला गजेन्द्र अपने वश में नहीं होता है; इसीलिये प्रभु ने "अंकुश" चिह्न निज चरणपंकज में धारण किया, कि भक्तजन निज मनरूपी मत्त हस्ती को वश करने के निमित्त, उक्त चिह्न का ध्यान अपने हृदय में करके, इसकी सहायता से वश करलें। इससे "अंकुश" चिह्न का ध्यान करना चाहिये॥ शठता (जड़ता †) रूपी शीत हरिजनों को दुःख देता है, इसीलिये "अम्बर" (वस्त्र) चिह्न को धरा, कि जिसमें इस चिह्न का ध्यान भक्तजनों के शोक को हरे, तथा प्रतिष्ठादि सुख प्राप्त हों॥

इसी प्रकार, पापरूपी पर्वत के फोड़ने के हेतु "वज्र" रेखा, और प्रेममय नवधा भक्तिरूपी नवों निधियोंके जोड़ने के हेतु, सर्व निधीश्वरी श्रीलक्ष्मी-जी का वासस्थान कमल तिसका चिह्न धारण किया है। उक्त सहाय के हेतु दोनों चिह्न मन में लाके ध्यान करना चाहिये॥

(२२) टीका। कवित्त। (८२१)

"जव" हेतु सुनो सदा दाता सिद्धि विद्याहीं को, सुमति सुगति सुख सम्पति निवास है। छिनुमें सभीत होत कलि की कुचाल देखि "ध्वजा"

---

* इन पांच (१५ वें से १९ वें तक) कवित्तों को कोई कोई "क्षेपक बताते हैं, अस्तु॥"

† चौ० "जड़ता जाड़ विषम उर लागा। गयहु न मज्जन पाव अभागा॥"

(मानसरामचरित)

सो विशेष जानो अभै को विश्वास है ॥ गोपद सो ह्वै हैं भवसागर नागर नर जोपै नैन हिय के लगावै, मिटै त्रास है। कपट कुचाल मायाबल सबै जीतबे को, "दर" को दरस कर, जीत्यो अनायास है ॥ (६१३)

तिलक ।

"जव (यव)" चिह्न के धारण का अभिप्राय सुनो कि ध्यान करनेवाले को यह चिह्न सर्वविद्या सर्वसिद्धियां देता है; और सुमति सुगति सुखसम्पति का निवासस्थान है; इससे, ध्याता को भी इन गुणों का घर ही कर देता है ॥

कलि की कुचालों को देख देख के भक्तजन क्षणमात्र में भय-त्रसित हो जाते हैं, उनको विशेष करके अभयत्व का विश्वास दिलाने के लिये प्रभु ने "ध्वजा" चिह्न को धारण किया है। और "गोपद" चिह्न धारण करने का हेतु यह है कि जो प्रवीण (नागर) जन इसका ध्यान करेगा तिसको अपार भवसागर गोपद के सरीखा सुलभ हो जायगा, सो जो कोई जन अपने हृदय के नेत्रों को इस "गोपद" के ध्यान में लगावै, तो उसको भवसागर में डूबने आदि का डर मिट जावै। दंभ कपट कुचाल इत्यादिक माया के जालों को विना प्रयास जीतने के हेतु "शंख" चिह्न को श्री प्रभु ने धारण किया तिसको दर्शन करके भक्तजनों ने उक्त माया-जाल को विना प्रयास ही जीत लिया, क्योंकि शंख विजयकारी शब्द संयुक्त है ॥ इस सहायतारूप कृपा की जय ॥

(२३) टीका । कवित्त । (८२०)

कामहु निशाचर के मारिबे को "चक्र" धास्यो, मङ्गल कल्याण हेतु स्वस्तिक हुँ मानिये । मंगलीक "जम्बूफल", फल चारिहूं को फल, कामना अनेक विधि पूर्ण, नित ध्यानिये ॥ "कलश" "सुधा को सर" भस्यो हरि भक्ति रस, नैनपुट पान कीजै, जीजै मन आनिये । भक्ति को बढ़ावै औ घटावै तीन तापहूं को, "अर्धचन्द्र" धारण ये कारण हैं जानिये ॥ १७ ॥ (६१२)

तिलक ।

कामरूपी निशाचर के वध के लिये "चक्र" चिह्न को धारण किया, मङ्गल और कल्याण के निमित्त "स्वस्तिक" रेखा का धारण मानिये ॥

"जम्बूफल" को मङ्गलों का करनेवाला, तथा चारों ही फलों का फलरूप और सब मनकामनाओं को नाना प्रकार से पूरा करनेवाला, जानके नित्य ध्यान कीजे ॥ "अमृत का घड़ा" और "अमृत का ह्रद" (तालाब) इसलिये धारण किये कि इन्हें ध्यान करनेवाले के हृदय में भक्तिरस भरें; और मानसिक नयनपुट से पीकर परम अमरत्व प्राप्त हो ॥ "अर्धचन्द्र" चिह्न के धारण के कारण ये जानिये कि, इसके ध्यान से तीनों ताप घटते हैं, और प्रेमाभक्ति बढ़ती है ॥

(२४) टीका । कवित्त । (८१६)

विषया भुंजङ्ग बलमीक तनमाहिं बसै, दास को न डसै, ताते यत्न अनुसस्यो है । "अष्टकोन" "षटकोन" औ "त्रिकोन" जंत्र किये जिये जोई जानि जाके ध्यान उर भस्यो है ॥ "मीन" "बिन्दु" रामचन्द्र कीन्हों बशीकर्ण पायँ ताहिते निकाय जन मन जात हस्यो है । संसारसागर को पारावार पावैं नाहिं, "ऊर्ध्वरेखा" दासन को सेतुबन्ध कस्यो है ॥ १८ ॥ (६११)

तिलक ।

शरीररूपी बल्मीक (बामी वा बमीठ) में कामादिक विषयरूपी सांप जो वास करता है, सो जिसमें भक्तों को न काटखाय, इसलिये प्रभु ने ये यत्न किये कि "अष्टकोण", "षट्कोण", और "त्रिकोण" यंत्रों को धारण किया । जिसने इस बात को जानके इन रेखाओं का ध्यान हृदय में किया, सोई जन विषय-भुजंग से बच के अखण्ड जिया ॥

और श्रीरामचन्द्रजी ने अपने पायँ (पदपङ्कज) में "मीन" और "बिन्दु" चिह्नों को बशीकरण यन्त्र बनाके धारण किया, क्योंकि मीन जगत बशीकारक "कामदेव" का ध्वजा है तथा "बिन्दु" (बेंदी) भी बशीकरण तिलकरूप है । इसी से, श्रीप्रभुचरण चिन्तवन करनेहारे समस्त जनों के मन हरे जाते हैं अर्थात् प्रभु के विवश होते हैं ॥ अपार संसाररूपी समुद्र का पार कोई नहीं पा सकता; अतएव ऊर्ध्वरेखारूप सेतु (पुल) बाँधा है कि जिसमें ध्यानारूढ़ होके, मेरे भक्त, सुगम ही, संसारसागर उतर जावें ॥

(२५) टीका । कवित्त । (८१८)

"धनु" पद माहिं धस्यो, हस्यो शोक ध्यानिन को, मानिन को मास्यो मान, रावणादि साखिये। "पुरुष विशेष" पदकमल बसायो राम हेतु सुनो अभिराम, श्याम अभिलाखिये ॥ सूधो मन सूधी बान सूधी करतूति सब ऐसो जन होय मेरो, याही के ज्यों राखिये। जोपै बुधिवन्त रसवन्तरूप सम्पति में, करि हिये ध्यान हरिनाम मुख भाखिये ॥ १९ ॥ * (६१०)

तिलक ।

श्रीधनुधारीजी ने पदकंज में "इन्द्रधनुष" का चिह्न धारण करके ध्यानधारी जनों का शोक नाश किया, क्योंकि महामानी रावणादिकों के मान और प्राण का क्षय, धनुष ही से किया; सो वे मरके साक्षी दे रहे हैं कि हम लोग भक्तद्रोही थे तिन्हों को श्रीराम धनुष ने नाश किया; तैसे ही, "इन्द्रधनुष" चिह्न ध्यानियों के समस्त शत्रुओं का नाश करके विशोक करेगा॥ "पुरुष" नाम चिह्न को अपने पदकमल में बसाया, तिसका अति सुन्दर कारण सुनके श्यामसुन्दर सियावर श्रीराम की अभिलाषा कीजे; श्रीप्रभु इस चिह्न से यह जनाते हैं कि जो हमारा जन सरल (सूधा) मनवाला, सरल वचनवाला, सरल कर्मवाला और इस चिह्न का ध्यान करनेवाला हो, तिसको इसी चिह्न के समान मैं अपने पद में अर्थात् पद प्रेम रूपी स्थान में, तथा (अन्त में) परमपद श्रीसाकेत धाम में रखूंगा ॥ जो जन कदाचित् ऐसे बुद्धिमान् हों, तथा श्रीरामरूप सम्पत्ति में रस (स्नेह) वन्त हों, सो समस्त श्रीचरण चिह्नों का ध्यान करके श्रीसीताराम नाम ही मुख से निरन्तर कहें ॥

---

(२६) छप्पय । (८१७)

बिधि[1], नारद[2], शङ्कर[3], सनकादिक[4], कपिलदेव[5], मनुभूप[6] । नरहरिदास[7], जनक[8], भीषम[9], बलि[10], शुक[11] मुनि, धर्म स्वरूप ॥ अंतरंग अनुचर हरि जू के जो इन को यश गावै। आदि अन्त लौं मङ्गल तिनको स्रोता वक्ता

* १५ वें से १९ वें तक, इन पाँच कवित्तों को किसी-किसी ने "क्षेपक" बताया है ।

पावै ॥ अजामेल परसंग यह निर्णय परम 'धर्म' के जान। इनकी कृपा और पुनि समझै "द्वादश भक्त" प्रधान ॥ ७ ॥ (२०७)

तिलक।

स्वामी श्रीनाभाजी अब १२ (द्वादश) महाभक्तराजों के नामोच्चारणपूर्व्वक भक्तों की "माला" का प्रारम्भ करते हैं ॥

(१) श्रीब्रह्माजी (२) श्रीनारदजी (३) श्रीउमापति शिवजी (४) [१] श्रीसनक [२] श्रीसनन्दन [३] श्रीसनातन [४] श्रीसनत्कुमार (५) श्रीकपिलदेवजी (६) महाराज श्रीमनुजी (७) श्रीप्रह्लादजी [नृसिंहदास] (८)पिता श्रीजनकजी महाराज (९) श्रीभीष्माचार्य्यजी (१०) श्रीबलिजी (११) परमहंस श्रीशुकदेवजी महामुनि, भागवत, (१२) धर्मस्वरूप (धर्मराजजी, श्रीअजामिल प्रसंग) ॥

जो जन श्रीसीतारामचन्द्रजी के इन ऐकान्तिक प्रिय समीपी प्रधान द्वादश भक्तराजों के यश गावें, तिन महाभक्तों के यशों के श्रोता वक्ता आदि अन्त तक (सदैव) मंगल पावें । परम धर्म के निर्णय में श्रीअजामिलजी का प्रसंग जानने योग्य है; अर्थात् श्रीनामोच्चारणादि भागवत धर्म सप्रेम करने की तो बात ही क्या है, नामाभासमात्र ने भी सब महापातकों का विनाश कर ही दिया ॥ ये द्वादश (ऊपर लिखे हुए श्रीविरंचि महेश नारदादि बारहो), तो महाप्रसिद्ध भक्तराज हैं ही, पुनि और समस्त भक्तमात्र इन्हीं की कृपा उपदेश तथा सत्संग से समझना चाहिये; अर्थात् श्रीलक्ष्मीनारायण की शिक्षित वैष्णवसंप्रदायों के भागवत धर्म (धर्मविशेष) के आचार्य्यवर और प्रचारकशिरोमणि ये ही बारहो तो हुए ॥

दो० "विधि, शिव, नारद, शुक, जनक; सनकादिक, प्रह्लाद।
ज्यों हरि आपुन नित्य हैं; त्यों ये भक्त अनाद ॥"

(१) श्रीब्रह्माजी।

सो० "बन्दौं विधिपद रेणु, भवसागर जिन कीन्ह यह।
सन्त सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल विष वारुणी॥"

सृष्टि और सुख दुःखादि प्रारब्धरेखाओं के कर्त्ता जगत्पिता सुगम अगमवरदाता श्रीब्रह्माजी की (श्रीभगवतनाभीकमल से जन्म आदि) कथाएँ, पुराणों में अगणित हैं। "हानि लाभ जीवन मरन, यश अपयश विधि हाथ॥" श्रीविधाताजी यद्यपि सब निष्ठाओं में श्रेष्ठ तथा प्रधान हैं, तथापि इनकी गणना "धर्मप्रचारक निष्ठा" में प्रत्यक्ष है। जिन देव मुनि गो महि इत्यादिक की प्रार्थना से भगवत् के विविध अवतार होते हैं उन मण्डलों के अगुआ और मुखिया श्रीअज ही तो होते हैं, सो व्यवस्था किसको विदित नहीं है ?॥

---

(२) श्रीनारदजी।

चौपाई।

बन्दौं श्रीनारद मुनिनायक। करतल वीण राम गुणगायक॥

अप्रतिहतगति देवर्षि श्रीनारद भगवान् तो परमात्मा के मन ही हैं, भगवत् के अवतार हैं, और जगत् के परम उपकारक प्रसिद्ध हैं। सेवा, पूजा, कीर्तन, प्रसाद, भक्ति प्रचारक इत्यादिक सबही निष्ठाओं में प्रधान हैं। पुराणमात्र में आपकी शुभ कथा भरी है। सर्वलोकों में आपका पर्य्यटन केवल परोपकार के निमित्त, यही आपका व्रत सा है॥

---

(३) श्रीशिवजी।

(२७) टीका। कवित्त। (८१६)

द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा "भागवत" अति सुखदाई, नाना विधि करि गाए हैं। शिवजी की बात एक बहुधा न जानैं कोऊ, सुनि रस सानैं, हियो भाव उरझाए हैं॥ "सीता" के बियोग "राम" बिकल बिपिन देखि "शंकर" निपुण "सती" बचन सुनाए हैं। "कैसे ये प्रवीन ईश ? कौतुक नवीन देखौं"; मनेहूँ करत, अंग वैसे ही बनाए हैं॥ २०॥ (६०६)

वार्त्तिक तिलक ।

बारहो प्रधान भक्तराजों की कथाएँ "श्रीमद्भागवत" प्रभृति में व्यास शुकादि ने नाना प्रकार से कही हैं। परन्तु त्रिभुवन गुरु श्रीमहादेवजी की एक बात प्रायः सब लोग नहीं जानते; सो उस अपूर्व वार्त्ता को सुनके, अपने हृदय को श्रीसीताराम भक्तिरस में सान देना चाहिये, देखिये श्रीमहेश्वरजी श्रीसीतारामभक्ति के भाव में अपने मन को कैसा उलझाए (अटकाए) हुए हैं ॥

श्रीशंकरजी तो परमप्रवीण ही हैं परन्तु "सती" जी ने मोहवश श्रीमहादेवजी से कहा कि "हे प्रभो ! इन (श्रीराम) को आप प्रवीण परमेश्वर परमात्मा कहते हैं सो कैसे ? क्योंकि इनका यह कौतुक नवीन तो देख ही रही हूँ कि स्त्री श्रीसीता के वियोग से वन में ये विकल हैं !" तब श्रीशिवजी ने बहुत समझाया पर न समझीं, और परीक्षा लेने को चलीं ही । तब जगद्गुरु श्रीशिवजी ने वरज दिया कि "सावधान ! कोई अविवेक की क्रिया मत करना ।" तथापि, सतीजी ने जगज्जननी स्वामिनी श्रीरामप्रिया श्रीजानकीजी महारानी का सा अपना रूप बनाया !!!

(२८) टीका । कवित्त । (८१५)

सीता ही सो रूप बेष, लेश हू न फेर फार, रामजी निहारि नेकु मन में न आई है । तब फिरि आइ कै सुनाइ दई शंकर को; अतिदुख पाइ, बहुबिधि समुझाई है ॥ इष्ट को स्वरूप धस्यो, ताते तनु परिहस्यो, पस्यो बड़ो शोच मति अति भरमाई है । ऐसे प्रभु भाव पगे, पोथिन में जगमगे, लगे मोको प्यारे, यह बात रीझि गाई है ॥ २१ ॥ (६०८)

वार्तिक तिलक ।

अपने जानते तो सतीजी ने कुछ भी श्रीजनकललीजी के रूप और वेष से अन्तर न रक्खा; पर सर्वज्ञ श्रीप्रभु उसको देख के मन में कुछ भी न लाए । तब फिर आके सतीजी ने श्रीशिवजी को सब सुना दिया; श्रीशिवजी ने मन में बड़ा ही दुख पाया और अनेक प्रकार से सतीजी को समझाया कि तुमने मेरी परम इष्ट देवता स्वामिनी श्री-

जानकी सीताजी महारानी का रूप धारण किया, अतः मैंने तुम्हारे इस शरीर में से पत्नीभाव को त्याग किया। श्रीसतीजी मति के भ्रमवश यों बड़े ही शोच में पड़ीं। सो कथा प्रसिद्ध ही है कि सतीजी ने वह तन त्याग ही तो दिया और श्रीशिवजी से तब मिल सकीं कि जब श्रीगिरिवरराजकिशोरी हुईं॥

अहो! धन्य श्रीगिरिजापति हैं कि अपने प्रभु के भाव में ऐसे पगे हुए हैं कि पुराणों में आप की भाव भक्ति की कथाएँ जगमगा रही हैं। यह बात अतिशय प्रिय मुझे लगी; इससे रीझ २ के गान किया है॥

---

(२९) टीका। कवित्त। (८१४)

चले जात मग उभै खेरे शिव दीठि परे, करे परनाम, हिय भक्ति लागी प्यारी है। पार्वती पूछें "किये कौन को? जू! कहो मोसों, दीखत न जन कोऊ" तब सो उचारी है॥ "बरष हजार दश बीते तहां भक्त भयो; नयो और ह्वैहै दूजी ठौर बीते धारी है।" सुनिकै प्रभाव, हरिदासनि सों भाव बढ़्यो, रढ़्यो कैसे जात चढ़्यो रंग अति भारी है॥ २२॥ (६०७)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय श्रीचन्द्रभूषण अपनी प्राणप्रिया श्रीपार्वतीजी के सहित कैलास शिखर को छोड़कर भूमण्डल में विचरने के हेतु निकले, मार्ग में दो उजड़े २ छोटे ग्रामों के टीले (खेरे) देख के नन्दी से उतर के दोनों को प्रणाम किया। क्योंकि भक्तों की भक्ति आप को अति ही प्यारी लगती है। तब श्रीपार्वतीजी ने पूछा कि "प्रभो! आपने प्रणाम किस को किया? प्रत्यक्ष में तो कोई जन दिखाई देता ही नहीं।" श्रीमहादेवजी ने उत्तर दिया कि "हे प्रिये! यह जो एक टीला दीखता है तहां दस हज़ारवर्ष बीते कि एक श्रीसीता-रामानुरागी परमभक्त निवास करते थे; और वह जो दूसरा खेरा दिखाई दे रहा है उसमें दस सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर एक दूसरे भक्तराज निवास करनेवाले हैं। इसीसे ये दोनों स्थल मेरे वन्दनीय हैं" ऐसा आश्चर्यजनक प्रेम देख और भागवत प्रभाव सुनके, श्रीपार्वतीजी ने इस बात को अपने मन में धारण किया,

उनका प्रेमभाव भगवद्भक्तों में अत्यन्त ही बढ़ा, कि जो क्योंकर कहा जा सकता है (रढ्यो कैसे जात), क्योंकि उनके अन्तःकरणरूपी स्वच्छ वस्त्र पर अनुराग का रंग गहरा चढ़ आया ॥

श्लो० । भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

श्रीशिवजी इसी से भागवतों में शिरोमणि गिने जाते हैं और इनके अनेक चरित्र ऐसे पर उपकार भरे हैं कि जैसे "विषभक्षक, त्रिपुरारि," इत्यादिक नामों से ही सूचित होते हैं। आपकी कथा-समूह पुराणों में प्रसिद्ध हैं; आप जगद्गुरु परमोपदेशक हैं, श्रीरामनाममाहात्म्य के प्रकाशक हैं, और श्रीकाशीजी में मरनेवाले जीवमात्र को श्रीरामतारक मंत्र सुनाके मुक्ति देते हैं ॥

(४) श्रीसनकादि ।

सनकादिक चारो भाई (१) श्रीसनक (२) श्रीसनन्दन (३) श्रीसनातन (४) श्रीसनत्कुमार, श्रीभगवत् के अवतार और श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं ॥

चौपाई ।

जानि समय सनकादिक आए । तेज पुंज गुण शील सुहाए ॥
ब्रह्मानन्द सदा लय लीना । देखत बालक बहु कालीना ॥
रूप धरे जनु चारिउ वेदा । समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥
आसा बसन व्यसन यह तिनहीं । रघुपति चरित होय तहँ सुनहीं ॥
मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी । भए मगन मन सके न रोकी ॥

दो० बार बार अस्तुति करि, प्रेम सहित सिरु नाइ ।
ब्रह्म भवन सनकादि गे, अति अभीष्ट बर पाइ ॥

(५) श्रीकपिलदेव ।

श्रीकपिलदेवजी श्रीभगवत् के अवतार पुरुष प्रकृति विवेकमय तत्त्वज्ञान खानि साङ्ख्यशास्त्र के विशेष आचार्य्य हैं ॥

चौपाई।

आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि "कपिल" कृपाला॥
"सांख्य शास्त्र" जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्व विचार निपुन भगवाना॥

---

(६) श्रीमनुजी श्रीदशरथजी।

यह बात तो सभी जानते हैं कि "मनु" ही से मनुज, मनुष्य (नर) वा मानव सृष्टि हुई है। "श्रीस्वायंभू मनुजी," की कथित "मनुस्मृति" सर्व धर्मशास्त्रों में अग्रगण्य है॥ आपकी कठिन तपस्या, अलौकिक भजन, विलक्षण प्रीति, तथा अनन्यभक्ति तो श्रीतुलसीकृत रामायण "मानसरामचरित" बालकाण्ड में प्रसिद्ध ही है कि जिन्होंने सर्वावतारी परब्रह्म को पुत्र करके प्रत्यक्ष सबको सुलभ कर दिया॥

चौपाई।

स्वायंभू मनु अरु शतरूपा। जिनते भइ नरसृष्टि अनूपा॥
दो० जासु सनेह सँकोच बश, राम प्रगट भए आइ।
जे हरहिय नयनन कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ॥

छप्पय।

"भक्ति भूमि भूपाल श्रीदशरथ दश दिशि विदित यस॥ मनुबपु में बहु भक्ति सुतपकरि ब्रह्म विलोके। परमातम प्रिय पुत्र पाय सिय बधू बिलोके॥ फणि मणि इव जल मीन सरिस प्रभु प्रीति सुपागे। सत्य प्रेम के सींव राम बिछुरत तन त्यागे॥ कौशल्यापति पूज्य जग धर्मध्वज बात्सल्य रस। भक्ति भूमि भूपाल श्रीदशरथ दशदिशि विदित यस॥"

---

(७) श्रीप्रह्लादजी।

श्रीनरहरिदास अर्थात् "प्रह्लादजी" द्वादश भक्तराज में हैं; ये महाभागवत "दास्यनिष्ठा" में अग्रगण्य हैं। श्रीनरसिंहावतार आपही के हेतु होना प्रसिद्ध है ही। श्रीनरसिंहजी तथा श्रीप्रह्लादजी का यश अनेक पुराणों में गाया हुआ है। भगवत् की इच्छा से एक समय श्रीसनकादिक ने "श्रीजय, श्रीविजय" को तीन जन्म निशाचर होने का शाप दिया; पुनः भगवत् तथा श्रीसनकादिक ने शापानुग्रह किया कि भगवत् अवतार लेले के तीन जन्म में उद्धार करेंगे। सो पहिले जन्म में "हिरण्याक्ष तथा हिरण्य-

कशिपु" हुए; दूसरे जन्म में वही "रावण और कुम्भकर्ण"; एवं तीसरे जन्म में "शिशुपाल और दन्तवक्र॥"

जब हिरण्याक्ष को भगवत् ने वाराह अवतार लेके मारा, तब हिरण्यकशिपु ने तप करके श्रीब्रह्माजी से वर माँगा कि किसी देशकाल में किसी अस्त्र-शस्त्र से किसी जीव से मैं मारा न जाऊँ। श्रीब्रह्माजी ने ऐसा ही वर दिया। उसकी स्त्री के गर्भ में श्रीप्रह्लादजी थे इसलिये श्रीनारदजी ने राजा इन्द्र से उसे बचाकर ज्ञानोपदेश किया। हिरण्यकशिपु अलौकिक वर पाके राजगद्दी पर बैठ देवतों को कष्ट देने लगा। परन्तु श्रीप्रह्लादजी जिसके बेटे हुए उसके भाग्य की क्या बात है। जब गुरुजी पढ़ाने लगे आपने "श्रीसीताराम सीताराम" की मधुरध्वनि करना आरम्भ किया। वरंच पाठशाला भर के लड़कों को इसी में लगा दिया। और इसके विरुद्ध यद्यपि उनके पिता माता गुरु ने लाख समझाया पर आपने भगवत् विमुख बाप की एक न मानी॥

दुष्टपिता की आज्ञा से ये पहाड़पर से गिराए गए, जल में डुबाये गए, आग में जलाये गए, हाथी तथा हत्यारों से प्राण लेने का उद्योग किया गया, विष दिया गया, यह सब किया, परन्तु जिस श्रीप्रह्लादजी के मुखारविन्द पर अष्टप्रहर "श्रीसीताराम" नाम बसता था उनका एक बाल भी बाँका न हुआ। तब हिरण्यकशिपु खड्ग निकाल क्रोध से लाल हो आप से पूछने लगा "बता तेरा रक्षक कहाँ है?" आपने उत्तर दिया कि "वह समर्थ सर्वव्यापी है" उसने पूछा कि "क्या वह इस खम्भे में भी है जिसमें तू बँधा है?" श्रीभक्तराज महाराज बोले कि "हाँ निस्सन्देह ऐसाही है" उस मूर्ख तामसी ने ज्योंही उस खम्भे में मुष्टिका मारी, उस खम्भे में से महाभयङ्कर प्रचण्ड शब्द के साथ साथ अति तेजोमय महाभयानकरूप ऐसी एक तेजोमयी मूर्ति उसको देखपड़ी कि जिसको वह न तो मनुष्यही कह सकता था और न सिंह ही समझ सकता था। यह अद्भुत अवतार सायङ्काल समय वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को भक्तवत्सल भगवत् ने श्रीप्रह्लादजी के निमित्त लिया, "मुलतान" में कि जो उक्त कनककशिपु की राजधानी थी।

बहुत काल तक लड़ाई होती रही। अन्त को सन्ध्याकाल में

घर के द्वार की देहली पर अपनी जाँघ पर रख के अपने नखों से उसका शरीर बिदार डाला। ब्रह्मा शिव इन्द्र तथा सब देवतों की और विशेष करके श्रीप्रह्लादजी की स्तुति से प्रसन्न हो भक्ति वर दिया। और राजतिलक देके अन्तर्द्धान हो गए॥

सवैया।

"आरतपाल कृपाल जो राम जहाँ सुमिरे तेहिको तहँ ठाढ़े।
नाम प्रताप महामहिमा अकरे किय छोटेउ खोटेउ बाढ़े॥
सेवक एक ते एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े।
प्रेम बदौं प्रहलादहिं कौ जिन पाहन ते परमेश्वर काढ़े॥"

श्रीप्रह्लादजी के राज में भगवद्भक्ति कैसी फैली इसका कहना ही क्या है॥ श्रीभगवत की भक्तवत्सलता की जय॥

(८) राजर्षि श्रीजनकजी महाराज

पिता श्रीजनकजी महाराज योगिराज की महिमा वर्णन कर सके ऐसा त्रिभुवन में कौन है? भगवद्गीता में भगवत् ने प्रसंगतः आपही का नाम कहा है ("जनकादयः" अ० ३ श्लो० २०) जिनके ज्ञान वैराग्यरूपी प्रचण्ड प्रभाकर को देख श्रीशुकादि ऋषीश्वरों के भी हृदयकमल विकशित होते थे॥

चौपाई।

प्रणवौं परिजन सहित बिदेहू। जिनहिं रामपद गूढ़ सनेहू॥
योगभोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥
जासु ज्ञान रबि भवनिशि नाशा। बचन किरण मुनि कमल विकाशा॥

आपकी "सौहार्द निष्ठा" की बात ही क्या है कि जगज्जननी महारानी श्रीजानकीजी ने ही जिनको स्वयं अपना पिता मान लिया, और प्रभु ने भी "पितु कौशिक वशिष्ठ सम जाने"॥

---

(९) श्रीभीष्मजी।

श्रीभीष्माचार्यजी को बहुतेरे महाशयों ने "धर्म-कर्म" निष्ठा में

☞ पृष्ठ ६० में, बारहवाँ "धर्मस्वरूप" जानिये ("अजामिल" नहीं)।

लिखा है। श्रीभीष्माचार्यजी आठ वसुओं में से एक "वसु" के अवतार हैं। इनकी माता साक्षात् "श्रीगंगाजी" और पिता महाराज "शन्तनु" जी हैं। इनकी प्रशंसनीय कीर्ति "महाभारत" इत्यादि में देखने ही सुनने योग्य है। ज्ञान वैराग्य भक्ति और धर्मशास्त्र के बड़े ही विज्ञ आचार्य्य हुए हैं, बड़े ही पर उपकारी थे यहां तक कि महाभारत की कठिन लड़ाई में श्रीयुधिष्ठिर महाराजके लिये, अपने मरने का उपाय आपही बता दिया, आपने बाणशय्या पर शयन किया, और पर्व का पर्व नीतिव्याख्या की॥ महाभारत में भगवान् अपनी प्रतिज्ञा छोड़ के महाभागवत भीष्मजी के प्रण को पूरा करने के निमित्त अपने भक्त अर्जुनजी के हितार्थ रथ का चक्र लेकर भीष्मजी पर दौड़े, यहां तक भक्तवत्सलता भगवत् की देखिये॥

बावन दिनपर्य्यन्त शरशय्या पर रह के सन्त और भगवन्त के समागम में प्राण परित्याग किया॥

श्रीकृष्ण भगवान् के सामने ही परमधाम को गए॥

---

(१०) श्रीबलिजी

राजा बलिजी श्रीप्रह्लादजीके पौत्र (बिरोचन के पुत्र) "धर्म कर्म" निष्ठा में वर्णित हैं। इनने १०० (एकसौ) यज्ञ का संकल्प करके यज्ञ करना आरम्भ किया। सुरेशमाता श्रीअदितिजी ने भगवत् से विनय किया कि बलि मेरे बेटे (इन्द्र) का राज लेके इन्द्रपद की अचलता के निमित्त यज्ञ कर रहा है। भगवत ने "श्रीवामनरूप" धारण कर राजा बलि से तीन डेग पृथ्वी भीख मांगी। यद्यपि दैत्यकुलगुरु शुक्रजी ने बलि को रोका, पर इनने उनकी एक न सुनी और दान देही दिया। पृथ्वी नापने के समय वामन से विराट् होकर हरि ने दोनों लोक (स्वर्ग पाताल) नाप लिये; और शेष तीसरे डेग की जगह बलिजी ने अति हर्षित मन से अपना शरीर निवेदन कर दिया। प्रभु ने प्रसन्न हो अगले जन्म में सुरपुर का राज्य और तत्काल इस जन्म में पाताल का राज्य बलिजी को अनुग्रह किया। केवल इतना नहीं वरन्

भक्त से छल करने के कारण स्वयं आपने (उनके द्वारपाल होकर) उस (वामन) रूप से नित्यशः उनको दर्शन देना स्वीकार कर लिया ॥

(११) श्रीशुकजी।

श्लो० निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

परमहंस श्रीशुकदेवजी की आदि अवस्था की कथा कुछ दूसरे पृष्ठ में लिख भी आए हैं। आप महर्षि श्रीव्यास भगवान् के पुत्र हैं। आपही ने श्रीमद्भागवत सुनाके श्रीपरीक्षित महाराज को एक ही सप्ताहमात्र में परमधाम को पहुँचा दिया॥

किसी समय श्रीपार्वतीजी ने श्रीशिवजी से श्रीरामनाममाहात्म्य के तत्त्वज्ञान का गुप्त रहस्य सुनना चाहा; तब श्रीशङ्करजी ने अपनी प्राण-प्रिया की यह अनोखी अभिलाषा देखकर (जैसे प्रभु की कृपा ने उनके अन्तःकरण से अन्य साधनों की महिमा का अभाव कर दिया था) प्रथम उस शुभस्थान को अपर जीवों से शून्य करके उसके अनन्तर अपना उपदेश प्रारम्भ किया। श्रीगिरिजाजी तो नींदवश हो गईं, परन्तु हरिइच्छा से शुक पक्षी का एक बच्चा वहाँ रह गया था, सो श्री-रामनाममाहात्म्य श्रवण के प्रभाव से वही बच्चा परम तत्त्ववेत्ता तथा अमर होकर "हूं हूं" कार भरता रहा; महेश्वर ने यह जानकर शीघ्र उसको मारने की इच्छा की। भागकर उसने श्रीव्यासजी की धमपत्नी के पट में जा शरण लिया॥

(१२) श्रीधर्मराजजी। और (१३) श्रीअजामेलजी।

(३०) "अजामिल" जी की टीका। कवित्त। (८१३)

धस्यो पितु मात नाम "अजामेल", साँचो भयो, भयो अजामेल, तिया छूटी शुभ जात की। कियो मद पान, सो सयान गहि दूरि डास्यो, गास्यो तनु वाही सों, जो कीन्हो लैकै पातकी॥ करि परिहास काहू दुष्ट ने पठाए साधु, आए घर, देखि बुद्धि आइ गई सातकी। सेवा करि सावधान, सन्तन रिझाइ लियो, "नारायण" नाम धस्यो गर्भ बाल पातकी॥ २३॥ (६०६)

वार्त्तिक तिलक।

ये ब्राह्मण के पुत्र थे; इनका नाम माता पिता ने अजामेल रक्खा था॥ सो वह अजामेल सच्चा ही हो गया, अर्थात् अजा (माया, अविद्या) की अन्त सीमा शूद्री वेश्यामय वह हो गया; और ब्राह्मणज्ञाति शुभ धमपत्नी को छोड़ दिया। इस कार्य्य का कारण अब टीकाकार बताते हैं कि "कियो मद पान" अर्थात् मदपान करते ही सात्त्विकी बुद्धि ने अन्तःकरण को परित्याग किया उसके पयान करते ही तामसी दशा प्रकट हुई, तमोगुण के करतब होने लगे; पिता के रक्खे हुए नाम ने अपनी सचाई दिखाई॥ सत्यसंकल्प प्रभु के अनुरागियों के साथ लौकिक परिहास का भी कैसा अनोखा फल होता है सो देखिये।

किसी खल ने हँसी से सन्तों को भेज दिया (कि अजामिल बड़ा साधुसेवी हरिभक्त है उसके घर जावो) सन्त चले चले अजामिल के घर आए; उनके दर्शन से उसकी बुद्धि श्रीसीतारामकृपा से सात्त्विकी हो आई; अर्थात् सन्तन में श्रद्धा आ गई। और सावधानता से सेवा करके साधुओं को रिझाय लिया। जब सन्त चलने लगे तब उस गर्भवती अपनी दासी को सन्तनके चरण पर गिरायके बोला कि इस गर्भवती को असीस दिया जाय। सन्त ने प्रसन्न होके कहा कि श्रीरामकृपा से "इसके पुत्र ही होगा, सो उसका तू 'नारायण' नाम रखना"। साधु तो ऐसा कहके चले गए; कालान्तर में उसके पुत्र जन्मा और कुछ काल का हुआ॥

(३१) टीका। कवित्त। (८१२)

आइ गयो काल, मोहजाल में लपटि रह्यो, महाबिकराल यमदूत सों दिखाइये। वोही सुत "नारायण" नाम जो कृपा कै दियो, लियो सो पुकारि सुर आरत सुनाइये॥ सुनत ही पारषद आए वोही ठौर दौर, तोरि डारे पास कह्यो धर्म्म समुझाइये। हरि लै बिडारे जाइ पति पै पुकारे कहि "सुनो वज्रमारे! मत जावो हरि गाइये॥" २४॥ (६०५)

स्त्री पुत्र के स्नेहरूप महामोहजाल में लपटा पड़ा था, इतने में उसका मरणकाल आ गया। महाभयानक यमदूत मुगदर (मुद्गर)

फाँसी लिये हुए देखपड़े। तब अतिशय मोह तथा महाभय से उस सुत का कि जिसको सन्तों ने कृपा करके दिया था और नाम भी रख दिया था बड़े आर्त और उच्च स्वर से "नारायण!!!" ऐसा पुकारा।

भक्तरक्षार्थ जो भगवत्पार्षद जगत् में विचरते रहते हैं वे नारायण शब्द आर्त्तनाद से सुनते ही उसी ठिकाने दौड़ के आ ही तो पहुँचे। और उस बेचारे की फाँसी को तोड़ के उसको छुड़ा ही लिया॥

यमदूतों ने पापी की सहायता का कारण पूछा तब पार्षदों ने बिबशहु भगवन्नामोच्चारण का माहात्म्य कहिके उनको हराया ही नहीं बरंच भगा भी दिया उनने जाके अपने पति यमराज से पुकार किया। यमराज ने सब व्यवस्था सुनके उन दूतों को डाट बतायी कि "अरे! तुम सबों पर वज्र पड़े, मेरी बात समझके चित्त में दृढ़ गहि रक्खो कि कोई कहीं कैसाहू पापी क्यों न हो परंतु वह यदि किसी प्रकार से भगवन्नामोच्चारण करे तहाँ तुम भूल के भी कदापि मत जाव वहाँ तो तुम्हारा वा मेरा भी कोई प्रयोजन ही नहीं। उनको तो भगवद्भक्त ही जानना॥" प्रियपाठक! नाम का माहात्म्य तनक चित्त लगाके देखिये॥

चौपाई।

बिबशहु जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक सँचित अघ दहहीं॥
सादर सुमिरन जे नर करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

(३२) छप्पय (८११)

मो चित वृत्ति नित तहँ रहौ जहँ नारायण (पद)* पारषद॥ विषवकसेन, जय, बिजय, प्रबल बल, मङ्गलकारी। नन्द, सुनन्द, सुभद्र, भद्र, जग आमयहारी॥ चण्ड, प्रचण्ड, विनीत, कुमुद, कुमुदाक्ष, करुणालय। शील, सुशील, सुषेन, भावभक्तन, प्रतिपालय॥ लक्ष्मीपति प्रीणन प्रवीन भजनानन्द भक्तन सुहृद। मो चित वृत्ति नित 'तहँ रहौ जहँ' "नारायण (पद) पारषद"॥ ८॥ (२०६)

* (पद) शब्द पीछे से मिलाया हुआ है। मूल "नारायण पारषद" ही मात्र है॥

वार्त्तिक तिलक।

मेरे चित्त की वृत्ति सर्वदा तहाँ रहे कि जहाँ श्रीनारायणजी के (पद-पंकजसेवी) पारषद हों, कि जो मंगल के करनेवाले; संसाररूपी महारोग के हरनेवाले; करुणा के स्थान; विनीत; और भावयुक्त भक्तों के प्रतिपालक हैं; जो श्रीलक्ष्मीपतिजी की सेवा करके उनको प्रसन्न करने में परम प्रवीण हैं; तथा जो भजनानन्द भक्तों की हद हैं; अर्थात् सबमें श्रेष्ठ सीमारूप हैं॥

(१) श्रीविष्वकसेनजी,	(९) श्रीभद्रजी,
(२) श्रीसुषेनजी,	(१०) श्रीसुभद्रजी,
(३) श्रीजयजी,	(११) श्रीचण्डजी,
(४) श्रीविजयजी,	(१२) श्रीप्रचण्डजी,
(५) श्रीबलजी,	(१३) श्रीकुमुदजी,
(६) श्रीप्रबलजी,	(१४) श्रीकुमुदाक्षजी,
(७) श्रीनन्दजी,	(१५) श्रीशीलजी,
(८) श्रीसुनन्दजी,	(१६) श्रीसुशीलजी॥

(३३) टीका। कवित्त। (८१०)

पारषद मुख्य कहे सोरह सुभाव सिद्धि सेवा ही की ऋद्धि हिये राखी बहु जोरि कै। श्रीपति नारायण के प्रीणन प्रवीण महा, ध्यान करै जन पालैं भाव दृग कोरि कै॥ सनकादि दियो शाप, प्रेरि कै दिवायो आप, प्रगट ह्वै कह्यो पियो सुधा जिमि घोरि कै। गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई, याते रीति हद गाई धरी रङ्ग बोरि कै॥ २५॥ (६०४)

वार्त्तिक। तिलक।

श्रीनाभाजी ने जो सोलह मुख्य पारषद कहे सो उनको स्वाभाविक सिद्ध अर्थात् नित्यमुक्त जानिये, सो प्रभु की सेवारूपी सम्पत्ति को एकट्ठी करके अपने अपने हृदय में रख ली है; श्रीलक्ष्मीपतिनारायणजी को प्रसन्नकारणी सेवा में महा प्रवीण हैं; और सर्वदा उन्हीं के ध्यान में मग्न

☞ श्रीयमराज (श्रीधर्म्मराज) महाभागवत की, श्रीरामनाममाहात्म्य वर्णन द्वारा श्रीभगवद्भक्ति, अजामिल के प्रसंग में वर्णन हो ही चुकी है॥

रहते हैं; समस्त भगवद्भक्त जनों का पालन यों करते हैं कि जैसे पलक नेत्रगोलकों की रक्षा करते हैं ॥

और तत्सुखी आज्ञाकारी यहाँ तक हैं कि उनमें श्रीजयजी और श्रीविजयजी को जब श्रीप्रभु की प्रेरणा से सनकादिकों ने तीन जन्म तक असुर होने का शाप दे दिया (पृष्ठ ६५) और उसी समय शील-सिन्धु श्रीनारायणजी प्रगट होके बोले कि "इस शाप को मेरी ही इच्छा समझके सुधापान सरिस ग्रहण करो," तब इतना सुन कहा कि "जो यह आपकी इच्छा है तो हमको सहस्र सुधा समान है ॥" इससे सेवक-धर्म की रीति "हद" (सीमा) है, क्योंकि नित्य सेवा का सुख छोड़ के आपकी आज्ञा से प्रसन्नतापूर्वक प्रतिकूलता को अर्थात् असुर भाव को अङ्गीकार किया। ऐसे रँगीले सेवक हैं ॥

(३४) छप्पय। (८०१)

हरि वल्लभ सब प्रार्थौं, जिन चरणरेणु आसाधरी ॥ कमला[१], गरुड़[२], सुनन्द आदि षोड़श[३] प्रभु पद रति। हनुमन्त[४], जामवन्त[५], सुग्रीव[६], विभीषण[७], शबरी[८], खगपति[९] ॥ ध्रुव[१०], उद्धव[११], अम्बरीष[१२], विदुर[१३], अक्रूर[१४], सुदामा[१५]। चन्द्र-हास[१६], चित्रकेतु[१७], ग्राह[१८], गज[१९], पाण्डव[२०], नामा ॥ कौषारव[२१], कुन्ती[२२], बधू[२३], पट ऐंचत लज्जा हरी। हरि वल्लभ सब प्रार्थौं, जिन चरणरेणु आसा धरी ॥ ६ ॥ (२०५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरि के समस्त परमप्रिय श्रीप्रभुपदप्रीतिपरायण भक्तों की प्रार्थना करता हूँ कि जिन्हके चरणरजकण का आसरा संसार सागर के तरने के हेतु अपने हृदय में रक्खे हुआ हूँ—

(१) श्रीलक्ष्मीजी (२) श्रीगरुड़जी (३) श्रीसुनन्द आदि (पृष्ठ ७२) सोलहो पारषद (४) श्रीरामदासाधिपति कपीन्द्र श्रीहनुमन्तजी (५) श्रीजामवन्तजी (६) श्रीरामसखा श्रीसुग्रीवजी (७) श्रीविभी-षणजी (८) श्रीशबरीजी (९) खगपति श्रीजटायूजी (१०) श्रीध्रुवजी

(११) श्रीउद्धवजी (१२) श्रीअम्बरीषजी (१३) श्रीविदुरजी (१४) श्रीअक्रूरजी (१५) श्रीसुदामाजी (१६) श्रीचन्द्रहासजी (१७) श्रीचित्रकेतुजी (१८) गजराज (१६) ग्राह (२०) पाण्डव [१ श्रीयुधिष्ठिरजी २ श्रीअर्जुनजी ३ भीमसेनजी ४ नकुलजी ५ सहदेवजी] (२१) श्रीमैत्रेय मुनिजी (२२) श्रीकुन्तीजी (२३) श्रीकुन्तीबधूजी जिनकी लज्जा दुःशासन के पट छीनते समय श्रीप्रभु ने रक्खी है सो अर्थात् श्रीद्रौपदीजी ॥

(३५) टीका । कवित्त । (८०८)

हरि के जे बल्लभ हैं दुर्लभ भुवन माँझ तिनही की पदरेणु आसा जिय करी है। योगी, यती, तपी, तासों मेरो कछु काज नाहिं प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है॥ कमला, गरुड़, जाम्बवान्, सुग्रीव, आदि, सबै स्वादरूप कथा पोथिन में धरी है। प्रभु सों सचाई जग कीरति चलाई अति मेरे मन भाई सुखदाई रस भरी है॥ २६ ॥ (६०३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरि के वल्लभ जगत् में परम दुर्लभ हैं, सो मैंने उन्हीं के पदरजरेणु की आशा की है। और कोरे योगी यती तपस्वी लोगों से मुझे कुछ कार्य्य नहीं है; मेरी मति को तो श्रीभगवत् के प्यारों की "प्रीति" "प्रतीति" और "रीति" ने ही हर ली है। पूर्व कथित भक्तों में, श्रीलक्ष्मीजी, श्रीगरुड़जी, श्रीजामवन्तजी, श्रीसुग्रीवजी आदिकों की भक्तिरसास्वादरूपी कथाएँ तो पुराणों में प्रसिद्ध ही हैं, जिन्होंने प्रभु से सच्ची प्रीति करके जगत् में अपनी कीर्त्तियाँ फैलाई हैं, और मुझे अत्यन्त ही भली लगी हैं क्योंकि रसीली तथा सुखदाई हैं ॥ †

चौपाई।

वन्दनीय पद पंकज तिन्हके। सियपियप्रिय, प्रिय सियपिय जिन्हके ॥

---

(१४) श्रीलक्ष्मीजी।

जगजननी श्रीलक्ष्मीजी महारानी तथा श्रीमन्नारायणजी, गिरा अर्थं

† सोलहो पारषद तथा पाँचो पाण्डव समेत ४२ (बयालीस) हरिवल्लभों के नाम इस (नवें) छप्पय में हैं॥

जलवीचि सम वास्तव में एक ही हैं। भक्तों के हेतु युगल मूर्ति से प्रकट हैं वस्तुतः जो यह हैं सो वह और जो वह हैं सो यह॥ भगवत् आपही, श्रीलक्ष्मीरूप से, जगत् को उत्पन्न करके, संरक्षण पालन करि भुक्ति, मुक्ति, भक्ति, प्रभु मंत्र नेम प्रेम देके जीवों को श्रीप्रभु समीप निवासी करते हैं॥ इसीसे श्रीलक्ष्मीजी भक्तिमार्ग "श्रीसंप्रदाय" की परमाचार्य आदि भक्ति-रूपी श्रीहरिवल्लभा हैं। जितने वेद पुराण भागवत इतिहास और सद्ग्रन्थ हैं, सबके सब युगल सरकार की ही लीला यशचरित्र को तो वर्णन करते हुए "नेति नेति" पुकारते हैं। श्रीकृपा की जय जय जय॥

श्लो० या देवी सर्वभूतेषु भक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

(१५) श्रीपार्षद।

भगवत् के प्रमुख पार्षद जो सोलह [१६] हैं श्रीसुनन्द प्रमुख, तिनका वर्णन पृष्ठ ७१ में कुछ हो ही चुका है; और इनकी कृपा अजामिल के प्रसङ्ग में भी विदित ही है। भक्तों के रक्षक हैं, इनकी कृपा कौन वर्णन कर सकता है। यहाँ श्रीनाभाजी स्वामी ने इनकी प्रार्थना "हरिवल्लभों" में भी पुनः की है॥

"रामउपासक शम्भुसम, काकभुशुंडी भक्त भल।
पंचवर्ष वय बाल नित्य रघुनन्दन ध्यावत। मानसि सेवा मंत्र जपत रामायण गावत॥
आयजन्म सुनि अवध विपुलब्रह्मानँदघूँटै। कलवत्सल रसरसिक ललित लीला सुखलूटै॥
भजन करत नितप्रेमते जिवन मुक्त प्रभुप्रेमबल। रामउपासक शम्भुसम काकभुशुंडीभक्त भल

(१६) श्रीगरुड़जी।

श्रीहरिवल्लभ (श्रीगरुड़) जी भी भगवत्पार्षद हैं, प्रभु के बाहन हैं "श्रीहनुमान् गरुड़देव की जय" यह तो सबको प्रसिद्ध है ही॥

चौपाई।

गरुड़ महाज्ञानी गुण रासी। हरि सेवक अति निकट निवासी॥

आप अनेक भावरूप, अर्थात् दास, सखा, बाहन, आसन, ध्वजा, वितान, व्यजन होके श्रीप्रभु की सेवा करते हैं और सदा सम्मुख खड़े रहते हैं॥

"श्रीयामुनाचार्य्य स्वामीजी" ने तो श्रीगरुड़जी को वेदत्रयी रूप ही कहा है, जिनके पक्षों से "सामवेद" उच्चारण होता है, सो प्रभु चढ़े हुए सप्रेम सुनते हैं॥

श्रीकाक "भुशुण्डि" जी से आपने "श्रीरामचरितमानस" जिस प्रेम से श्रवण किया उसका कहना ही क्या॥

चौपाई।

सुनि शुभ रामकथा खगनाहा। विगत मोह मन परम उछाहा॥
सुनि भुशुण्डि के वचन सुहाए। हरषित खगपति पंख फुलाए॥
नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति प्रताप उर आना॥
पुनि पुनि काग चरण सिरु नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा॥
दो० काग चरण सिर नाइ करि, प्रेम सहित मति धीर।
गरुड़ गयउ वैकुण्ठ तब, हृदय राखि रघुवीर॥

और इनका बल पराक्रम भक्तिचरित्र के वर्णन में तो महाभारत एक "सौपर्ण" पर्व का पर्व ही प्रसिद्ध है॥

श्रीवाल्मीकि युद्धकाण्ड में श्रीवैनतेयजी ने निज वल्लभता श्रीसीताकान्तजी से स्वयं कही है कि "हे श्रीककुत्स्थकुलभूषणजी! मैं आपका सखा हूँ, परमप्रिय बाहर का बिचरनेवाला आपके प्राण हूँ, यह नरनाट्य नागपास बंधनलीला सुनके निज सख्य सेवा निवेदन करने को आया हूँ॥

---

(१७) श्रीरामदूत हनुमान्‌जी।

चौपाई।

पवनतनय बल पवन समाना। बुधि विवेक विज्ञाननिधाना॥ १॥
महावीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु यश आपु बखाना॥ २॥

(३६) टीका। कवित्त। (८०७)

रतन अपार सारसागर उधार किये लिये हितचायकै बनाइ मालाकरी है। सब सुख साज रघुनाथ महाराज जू को, भक्ति सों, विभीषणजू आनि भेंट धरी है॥ सभा ही की चाह अवगाह हनुमान गरे डारिदई सुधि भई, मति अरवरी है। राम बिन काम कौन, फोरि मणि दीन्हें डारि, खोलि त्वचा नामही दिखायो; बुद्धि हरी है॥ २७॥ (६०२)

वार्तिक तिलक।

सागर से निकाले हुए जिन रत्नों में अपार सार अर्थात् अति प्रकाशयुत अमूल्यता थी, वे रत्न तीनों लोकों के देव भूप नागों के मस्तकों के महामुख्य भूषण थे; तिनको जीत के रावण ने बड़े चाव से अपने कोश में रक्खा था। उन्हीं रत्नों को बड़े हित चाह से श्रीविभीषणजी ने माला बनाके, सब सुखसाजयुक्त महाराज श्रीरघुनाथजी को भक्तिपूर्वक भेंट दी॥

उस महामनोहर माला को देखके सभा भर के लोगों को उसकी अथाह (अवगाह) चाह उत्पन्न हुई। श्रीजानकीजीवनजी ने देखा कि इस माला ने तो हमारे सब निष्काम भक्तों के मन को चाहयुक्त कर दिया; इससे सबको चाहरहित करने के निमित्त श्रीहनुमान्‌जी के गले में वह माला पहिरा दी॥ श्रीमारुतीजी तो प्रभु के रूप अनूप के अवलोकन से छके अपनपौ बिसारे हुए थे ही माला कण्ठ में पड़ते ही मणियों के सौन्दर्य्य को देखकर और उसमें कहीं श्रीराम नाम न देखकर आपकी मति अकुला उठी और विचार किया "कदाचित् इसके भीतर श्रीनाम हो" इस हेतु से उस माला की एक मणि को फोर के आपने देखा तो भीतर भी श्रीनाम न पाया। तब यह विचार किया कि "यह तो श्रीरहित हो चुकी है" उस मणि को डाल दिया; इसी प्रकार से एक एक मणि को फोर फोर देख देख फेंकने लगे। यह कौतुक देखके सब सभा चकित हुई और श्रीविभीषणजी बोल ही उठे "कपिवरजी! आप इन अमूल्य मणियों को फोर फोर फेंकते क्यों हैं? कपि जाति स्वभाव से ही, वा इसमें कोई हेतु भी है?"

तब श्रीसीताराम सम्पत्ति के धनिक श्रीअंजनीनन्दनजी ने उत्तर दिया कि "श्रीरामनाम से हीन ये मणि मेरे काम के नहीं" यह सुन श्रीविभीषणजी ने पुनः पूछा कि आपके शरीर में भी तो श्रीरामनाम दीखता नहीं, फिर उसे क्यों रक्खे हुए हैं? इतना सुनते ही आपने नखों से अपने दिव्य विग्रह की त्वचा खोल के दिखाया तो तेजोमय सूक्ष्म शब्दयुत सर्वाङ्ग में श्रीरामनाम सबको देख पड़े॥ और सबकी मति आश्चर्य में मग्न हो गई॥

देखिए, इस कौतुक से श्रीकपिकुलकेतुजी ने सबोंको परम वैराग्ययुत

निष्काम श्रीरामानुराग का उपदेश किस प्रकार दृढ़ाया। भला इनके ज्ञान वैराग्यादि दिव्य रत्नों से पूर्ण विमल भक्तिजल से भरे हुए परम प्रेमरूपी सिंधु की थाह किसको मिल सकती है? और श्रीसीताराम सेवा में ऐसा अनूठा अनुराग किसका होगा कि अनेक रूप से सेवा सुख लेते हैं (१) "श्रीनिमिकुलकुमारी चारुशीलाजी" होके सखीसेवासुख अनुभव करते हैं; (२) एवं "श्रीअंजनीनन्दन" रूप से दिव्य दम्पतीजी के दास्य सेवा का सुख लेते हैं। इस कपिरूप की प्रीति भक्ति सेवा तो लोक प्रसिद्ध है कि जिसके वश अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी श्रीजानकीजीवनजी आप तो ऋणी कहाए और सेवाधर्मधुरंधर श्रीहनुमन्तजी को धनी बनाया॥

चौपाई।

"सुनु सुत तोहिं उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सम्मुख होइ न सकत मन मोरा॥
हनूमान सम नहिं बड़ भागी। नहिं कोउ रामचरण अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥"

श्रीहनुमान्जी के यश को बार-बार सुनते भी हैं॥

दो० किमि बरनौं हनुमन्त की, कायकान्ति कमनीय।
रोम रोम जाके सदा, राम नाम रमनीय॥ १॥

(विनय)

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पयज पूजि आई यह रेखा कुलिश पखानकी॥
अघटित घटन सुघट विघटन ऐसी विरुदावली नहीं आनकी।
सुमिरत संकट सोच विमोचन मूरति मोद निधानकी॥
तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम श्रीजानकी।
तुलसी कपि की कृपा विलोकनि खानि सकल कल्यान की॥

दो० जय जय कपि श्रीराम प्रिय, धन्य धन्य हनुमन्त।
नमो नमो श्रीमारुती, बलिहारी बलवन्त॥ १॥

सिया दुलारे, पवनसुन ! मम गुरु, अंजनिपूत।
सतसंगति, निज चरण रति, देहु, सीयपियदूत ॥ २ ॥
श्रीसियसियपिय पदकमल, अविरल अमल सनेहु।
युगल चरण कैंकर्य्य पुनि, मोहि कृपा करि देहु ॥ ३ ॥
"वीरकला श्रीमारुती", तुमहि निहोरि निहोरि।
रूपकला सियचेरि लघु, विनय करति कर जोरि ॥ ४ ॥

चौपाई।

महावीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना ॥
सीताराम चरन रति मोरे। अनु दिन बढ़ौं अनुग्रह तोरे ॥

---

(१८) श्रीजाम्बवानजी।

श्रीजाम्बवानजी, श्रीब्रह्माजी के अवतार हैं। श्रीप्रभु तथा सुग्रीवजी के मन्त्रीवर हैं। लंका के युद्ध में बुढ़ापे में भी बड़ा पराक्रम ऋक्षपतिजी का प्रसिद्ध है। और युवावस्था में तो—

दो० "बलि बाँधत प्रभु बाढेउ, सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घड़ी महँ दीन्ह मैं, सात प्रदक्षिण धाइ ॥"

श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि इनने बहुत बूढ़ेपन में भी, श्रीकृष्ण भगवान् के साथ बड़ा पराक्रम दिखाया, जब तक कि इनने आपको पहिचाना न था ॥ फिर तो अपनी कन्यारत्न "जाम्बवती" को भगवत् को प्रदान कर दिया ॥

---

(१९) श्रीसुग्रीवजी।

श्रीसुग्रीवजी, श्रीसूर्य्य भगवान् के पुत्र हैं। श्रीसुकण्ठजी से प्रभु ने श्रीअग्निदेव को साक्षी करके मित्रता की। आपने जैसी सख्यता सम्पत्ति आपको प्रदान किया और निबाहा, सो श्रीवाल्मीकीय रामायण ही के देखनेवालों को विदित है ॥

कपीश्वरजी सब ऋक्षों और कपियों के राजा थे। और श्रीजानकी-जीवनजी के तो प्राण से भी प्रिय "पंचम भ्राता" ही थे।

(२०) श्रीविभीषणजी।

श्रीसीतारामभक्त लंकेश श्रीविभीषणजी की भक्ति तथा शरणागति को वर्णन कर सके ऐसा कौन जन है? तथापि कुछ थोड़ा सा कहा ही जाता है, सो चित्त लगाके सुनिये। देखिये कि प्रात समय इनका नाम लेना बड़ा ही मंगलदायक है। और श्रीरामायणजी में जो इनकी कथा है, सो तो प्रसिद्ध है ही, एक नवीन इतिहास यों है–

(३७) टीका। कवित्त। (८०६)

भक्ति जो विभीषण की कहै ऐसो कौन जन, ऐ पै कछु कही जाति सुनो चित लाइकै। चलत जहाज परी अटकि, विचार कियो, कोऊ अंगहीन नर दियो लै बहाइकै॥ जाइ लग्यो टापू ताहि राक्षसनि गोद लियो, मोद भरि, राजा पास गए किलकाइकै। देखत सिंहासन ते कूदि परे, नैनभरे, "याही के आकार राम देखे भाग पाइकै"॥ २८॥ (६०१)

वार्त्तिक तिलक।

एक वणिक की जहाज चली जाती थी। किसी कारण से अटक गई; उसने बहुत यत्न किये पर नहीं चली। तब वणिक ने ऐसा विचार करके कि समुद्र के देवता ने रोका है; उसके लिये किसी मनुष्य को बलि की भाँति समुद्र में गिरा दिया॥ वह मनुष्य श्रीरामकृपा से मरा नहीं, वरंच "लंका टापू" के तीर पर जा लगा। उसे राक्षसों ने देखा; और वे बड़े आनन्द से उसको अपने गोद में उठाके, बहुत खिलखिलाते हुए, राक्षसेन्द्र "श्रीविभीषणजी" के समीप ले गये॥

उस समय श्रीविभीषणजी श्रीरामविरह अनुराग में छके प्रभु का ध्यान करते हुए बैठे थे; आप इस मनुष्य को देखते ही सिंहासन से कूद पड़े; क्योंकि मनुष्यरूप का दर्शन आपको एक उद्दीपन ही हो गया। ऐसा विचारने लगे कि "इसी की नाईं मेरे स्वामी नराकार विग्रह श्रीरामजी हैं, इनके दर्शन इस समय बड़े भाग्य से पाये" इस भाव से नयनों से प्रेमाश्रु बह चले॥

(३८) टीका। कवित्त। (८०५)

रचि सो सिंहासन पै लै बैठाए ताही छन, राक्षसन रीझि देत मानि

शुभघरी है। चाहत मुखारविन्द, अति ही अनन्द भरि, ढरकत नैननीर, टेकि ठाढ़ो छरी है॥ तऊ न प्रसन्न होत, छन छन छीन ज्योति, हूजिये कृपाल, मति मेरी अति हरी है। "करो सिन्धु पार, मेरे यही सुखसार;" दियो रतन अपार, लाये वाही ठौर फेरी है॥ २९॥ (६००)

वार्त्तिक तिलक।

दिव्य वस्त्र, चन्दन, मणि और सुवर्ण के भूषणों से, उनके शरीर की रचना शृङ्गार करके सिंहासन पर बैठाय धूप, दीप, नैवेद्य, आरती के अनन्तर भूषण वस्त्रादि न्योछावर करके, राक्षसों को रीझ पारितोषिक दिये॥ उस घड़ी को अति शुभदायक माना। और श्रीप्रभु का भाव करके सुवर्ण की छड़ी लेके प्रतीहार की भांति सम्मुख खड़े हो, उनके मुखारविन्द का सप्रेम दर्शन करने लगे और आपके नेत्रों से आनन्द का जल चलने लगा; तथापि उस मनुष्य के मुख में प्रसन्नता का लेश भी न दीख पड़ा, वरंच क्षण क्षण प्रति उसकी चेतना (चेष्टा) क्षीण ही होती जाती थी, उसकी आंखों से आंसू बहते थे, और उसके मन में यह भय बढ़ता जाता था कि इन सब सत्कार पूर्वक, मुझे ये सब बलि दे देंगे॥

श्रीविभीषणजी ने प्रार्थना की कि "इस दास पर कृपा करके कुछ आज्ञा दीजे, क्योंकि आपको उदास देखके मेरी मति सभीत हो रही है" तब वे बोले कि "मुझे समुद्र पार उतार दीजे, मुझको तो इसी में परम सुख होगा"॥

तब श्रीविभीषणजी बहुत रत्न देके फिर उसी ठौर सिन्धुतीर उनको ले आये॥

(३९) टीका। कवित्त। (८०४)

"राम" नाम लिख, सीस मध्य धरि दियो; "याको यही जल पार करै," भाव सांचो पायो है। ताही ठौर बैठ्यो, मानो नयो और रूप भयो, गयो जो जहाज सोई फिरि करि आयो है॥ लियो पहिचान, पूछ्यो सब, सो बखान कियो, हियो हुलसायो, सुनि, बिनै कै चढ़ायो है। पर्यो नीर कूदि, नेकु पांय न परस कर्यो, हर्यो मन देखि, 'रघुनाथ नाम' आयो है॥ ३०॥ (५९९)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीविभीषणजी ने "श्रीराम नाम" लिख के उनके मस्तक पर श्रीकरकमल से भावपूर्वक रख के वस्त्र से बांध दिया; और कहा कि "इस 'श्रीराम' के प्रताप से लोग संसारसागर से पार हो जाते हैं, सो इस समुद्र के जल को तो आप विना प्रयास ही पार हो जाइयेगा॥"

उनके सच्चे भाव और विश्वास से वह मनुष्य जल में स्थल की नाईं चलके उसी ठौर पहुँच गया कि जहां संयोगवश वही जहाज़ लौटके आ लगा था॥ उन लोगों ने इसको देखके पहिचाना और उसके शरीर के तेज तथा अवस्था को दिव्य पाया। पूछने पर उसने अपनी सब कथा और श्रीविभीषणजी की भक्ति कह सुनाई। सुनके सबको अति आनन्द हुआ बड़े विनय से उसको जहाज़ पर चढ़ाके क्षमा मांगी। प्रसन्न होके श्रीराम नाम का प्रभाव उन सबोंसे कहा वरंच समुद्र में कूद के दिखा दिया कि जल में उसका पांव तक भी भीगा नहीं॥

अथवा (ऐसा भी कहते हैं कि), उसके पास अनमोल रत्नों की गठरी देखकर नौकापति को लोभ प्रबल हुआ; उसके ये ढंग देख के उसकी माया से बचने के निमित्त यह मनुष्य पुनि जल में कूद पड़ा और यों चल दिया जैसे कोई सूखी धरती पर सहज ही में चले॥

इस प्रभाव को देखके, "श्रीसीताराम" नाममें सबों को श्रद्धा और प्रतीति उपजी, और अति प्रीतिपूर्वक जप के सबके सब संसार के पार हो गए॥

---

(२१) देवी श्रीसवरीजी।

समस्त प्रेमी भक्तों में शिरोमणि रूपा श्री "सवरी" जी, किसी हेतु से सवर (भिल्ल) जाति में उत्पन्न हुईं; परन्तु बालपन से ही इनकी दशा तथा मति लोक से विलक्षण ही थी। जब विवाह योग्य अवस्था इनकी हुई, तब माता पिता उसके प्रबन्ध में उद्यत हुए और सम्बन्धी लोगों के भक्षण के लिये, बहुत से जीव, इकट्ठे किये। इन्होंने विचारा कि "ओह! मेरे निमित्त इतने जीवों का वध होगा! धिक् इस लोक के प्रपंच को है"। रात्रि में आपने उन सब जीवों को छोड़ दिया और उसी रात आप

भी वहां से चलके पंपासर के पास जा छुपीं, और वहीं वन के फल मूल से निर्वाह करती हुई दिन बिताने लगीं॥

(४०) टीका। कवित्त। (८०३)

वन में रहति, नाम "सवरी" कहत सब, चाहत टहल साधु, तनु न्यून ताई है। रजनी के शेष, ऋषि आश्रम प्रवेश करि, लकरीन बोझ धरि आव, मन भाई है॥ न्हाइबको मग झारि, कांकरनि बीनिडारि, बेगि उठि जाइ, नेकु देति न लखाई है। उठत सबारें, कहँ "कौनधौ बहारि-गयो," भयो हिये शोच, "कोउ बड़ो सुखदाई है" ॥३१॥ (५६८)

वार्त्तिक तिलक।

उसी वन में रहती थीं; इनको सब "सवरी" ही कहते थे॥ इन्हें संतों की सेवा की चाह विशेष थी, परंतु अपनी नीच जाति जानि के साधुवों के समीप नहीं जाती थीं। तथापि विना सेवा किये नहीं ही रहा गया, तब कुछ रात रहते श्रीमतंगादि ऋषि जनों के आश्रम में लकड़ियों के बोझ रख आया करती थीं; मन में इससे सुख मानती थीं; और स्नान के माग की कंकड़ियां भी रात्रि ही में बहार के चली आया करती थीं, जिसमें कोई देख न लवे। श्रीरामभक्त ऋषिजन प्रभात उठके इस टहल को देख विचारते कि "मार्ग को झाड़ बहार के लकड़ियां रख जानेवाला सुखदायक कौन है ?" ॥

(४१) टीका। कवित्त। (८०२)

बड़ेई असंग वे "मतंग" रस रंग भरे, धरे देखि बोझ, कह्यो "कौन चोर आयो है ? कर नित चोरी; अहो ! गहो वाहि एक दिन; बिना पाए, प्रीति वाकी मन भरमायो है॥" बैठे निशि चौकी देत शिष्य सब सावधान; आइ गई; गहि लई; कांपै, तनु नायो है। देखत ही ऋषी जल धारा बही नैनन ते बैनन सों कह्यो जात, कहा कछु पायो है॥३२॥ (५६७)

वार्त्तिक तिलक।

सब ऋषियों में बड़े ही असंग श्रीराम-रंग से भरे श्रीमतङ्गजी लक-ड़ियों का बोझ धरा देखके बोले कि "हमारे सुकृत का चोर यह कौन आता है ? जो नित्य ही चोरी से सेवा करके चला जाता है। उस प्रीति-

वान् को विना देखे उसकी प्रीति ने मेरे मन को चपल कर रक्खा है। रात्रि में जागके उसको पकड़ो ॥" रात को शिष्य लोगों ने सावधान रहक चौकी देके उसको पकड़ा । उससे शिष्यों ने पूछा कि तू ने यहाँ लकड़ियां पहुंचाने के लिये किसी से कुछ पाया है? ॥

अतिभय से वह कांपती हुई पाँवपर गिरपड़ी। देखते ही श्रीमतङ्गजी के नेत्रों से प्रमानन्दजल की धारा चलने लगी। और ऐसे अकथ आनन्द में मग्न हो गए मानो कोइ महा अलभ्य वस्तु पाया है ॥

(४२) टीका । कवित्त । (८०१)

डीठी हू न सोंही होत, मानि तन गोत छोत, परी जाय सोच-सोत, कसे क निकारियें। भक्ति को प्रताप ऋषि जानत निपट नीके "कैऊ कोटि विप्रताई याप वारिडारिये ॥" दियो बास आश्रम में, श्रवण में नाम दियो, कियो सुनि रोष सबै, कीनी पाँति न्यारियै। सबरी सों कह्यो "तुम राम दरशन करो, मैं तो परलोक जात, आज्ञा प्रभु पारियै ॥ ३ ३ ॥" (५६६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसवरीजी की तो दृष्टि भी मुनिवरजी के सामने नहीं होती थी, अपनी जातिको अति नीच मानके सोचरूपी प्रवाह में पड़ गई। इधर श्रीमतङ्गमुनिजी सोच विचार के प्रवाह में पड़े कि इसको सोच के सोतं (धारा) से कैसे निकालूं ? क्योंकि ऋषीश्वरजी "श्रीरामभक्तिजी" का प्रताप भल प्रकार जानते थे। शिष्यों से कहने लगे कि "यह जाति की तो नीच है सही, परन्तु इसकी भक्ति पर तो कई कोटि ब्राह्मणाभिमान को न्योछावर करना योग्य है ॥" निदान सवरीजी को अपने आश्रम ही में निवास दे करके महामंत्र श्रीसीतारामनाम श्रवण में सुना दिया ॥

इस वार्त्ता को सुनके और सब मुनि जनों ने अति रोष करके आपको अपनी ज्ञाति पंक्ति से न्यारा कर दिया ॥

इस बात का कुछ हर्ष विषाद श्रीरामभक्त "मतङ्ग" मुनिजी को लेश भी न हुआ। श्रीसवरीजी सेवा में तत्पर होके रहने लगीं। कुछ काल में श्रीमतङ्गजी के देह त्याग का समय आ पहुँचा; श्रीसवरीजी से आपने कहा कि "मुझे तो अब इसलोक में रहनेकी प्रभुकी आज्ञा नहीं है, श्रीरामधाम

को जाता हूं; परन्तु तुम यहाँ ही बनी रहो।" इतना सुन श्रीसवरीजी अत्यन्त व्याकुल हुईं। आपने समझाके कहा कि "मेरे इस आश्रम में 'परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी' अपने अनुज 'श्रीलक्ष्मणजी' के सहित आवेंगे, तू उनका दर्शन पूजन सप्रेम करना। तब श्रीरामधाम को आना॥" ऐसा समझाके श्रीमतङ्गजी परमधाम को पधारे॥

(४३) टीका। कवित्त। (८००)

गुरु के वियोग हिये दारुण लै शोक दियो, जियो नहीं जात; तऊ राम आसा लागी है। न्हाइबे को बाट निशि जात ही बहारि सब, भई यों अबार ऋषि देखि व्यथा पागी है॥ छुयो गयो नेकु कहूँ, खीजत अनेक भाँति; करिकै विवेक गयो न्हान; यह भागी है। जल सो रुधिर भयो, नाना कृमि भरि गयो, नयो पायो शोच, तौहू जानै न अभागी है॥ ३४॥ (५६५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीसवरीजी को श्रीगुरु-वियोग से बड़ा ही दुःसह दुःख हुआ कि जिसमें वह प्राण को नहीं रक्खा चाहती थीं; पर श्रीरामरूप अनूप के दरशन की लालसा ने प्राणों को निकलने न दिया। आप मुनियों के स्नान के पथ को रात ही को झार आया करती थीं॥

एक दिन कुछ विलम्ब होगया; प्रतिपक्षी एक मुनि ने श्रीसवरीजी को देख लिया, इससे श्रीसवरीजी भय से व्यथित हुईं। वन का मार्ग पतला तो होता ही है, मुनि, किंचित् छू जाने से, क्रोध करके अनेक दुर्वचन बोले॥

अपने मन में विचार के उस मुनि ने फिर जाके स्नान किया। और श्रीसवरीजी भागके अपनी कुटी में चली आईं। मुनि जब स्नान करने लगे, तो श्रीरामभक्त सवरीजी के प्रति अपराध से, जल रुधिर हो गया, और देखते ही देखते उस सर में कीड़े भी पड़ गए। मुनि को यह एक नया शोच हुआ तथापि इस बात को तो न समझे कि 'श्रीसवरीजी को नीच मान के दुर्वचन जो कहे, और उनके स्पर्श के अनन्तर पुनः स्नान किया, तिसी से इस सर का जल रुधिर हो गया'; किन्तु भक्ति भाग्यहीन

मुनि ने उलटे ऐसा समझा कि "सवरी ही के स्पर्श के दोष से यह जल बिगड़ गया है॥"

(४४) टीका। कवित्त। (७९९)

लावैं बन बेर, लागी राम को अवसेर भल, चाखैं ❀ धरिराखैं फिर, मीठे उनजोग हैं। मारग में जाइ, रहै लोचन बिछाइ, कभूँ आवैं रघुराइ, दृग पावैं निज भोग हैं॥ ऐसे ही बहुत दिन बीते मग जोहत ही, आइ गए औचक सो; मिटे सब सोग हैं। ऐपै तनु नूनताई आई सुधि, छिपि जाई; पूछैं आप "सवरी कहां?" ठाढ़े सब लोग हैं॥ ३५॥ (५९४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीसवरीजी के मन में श्रीरामजी की अति अवसेर थी अर्थात् प्रभु के आने के सोच सन्देह में मग्न हो रही थीं; सो बन के बेर आदिक फल लाकर चखती थीं ❀ और मीठे प्रभु के योग्य जानकर रख छोड़ती थीं॥

प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा में अपनी आंखें बिछाए रहती थीं और अति उत्कण्ठा से ऐसा बिचारा करती थीं कि "कब वह दिन आएगा? कि जिस दिन श्रीरघुनन्दनलालजी आवेंगे और उनके दर्शनरूपी सुधा को मेरे नेत्र चखेंगे॥"

प्रिय पाठक! श्रीसवरीजी का प्रेम अकथ अगाध है। "गीतावली" में गोस्वामी श्री ६ तुलसीदासजी ने भी कुछ गाया है॥

"छन भवन, छन बाहर बिलोकति पंथ," इत्यादि॥

इसी प्रकार मार्ग जोहते २ बहुत दिन व्यतीत हुए। अवचक ही एक दिन लालजी (प्रभु) आयही तो पहुँचे; सुनके सब शोक सन्देह जाते रहे; पर अपने शरीर की नीचता की सुधि आगई, और प्रेम की विचित्र विकलता से, आगे लेने को तो न बढ़ीं, वरंच छुप गईं॥

प्रभु आके, वनवासी लोगों से पूछने लगे कि "वह सरस भक्तिवती सवरी कहां रहती है?"

❀ इसका अर्थ कोई एक महात्मा ऐसा बताते हैं कि चखने पर जिस वृक्ष के फल मीठे पाती थीं उसी वृक्ष के फल प्रभु के योग्य जान तोड़के रख छोड़ती थीं॥

(४५) टीका। कवित्त। (७९८)

पूछि पूछि आए तहां, स्योरी कौ अस्थान जहां, कहां वह भागवती ? देखौं दृग प्यासे हैं। आइ गई आश्रम में; जानिकै पधारे आप, दूर ही ते साष्टाङ्ग करी चष भासे हैं॥ रवकि उठाइ लई, बिथा तनु दूरि गई, नई नीर झरी नैन, परे प्रेम पासे हैं। बैठे, सुख पाइ फल खाइ कै सराहे, वेइ कह्यौ "कहा कहौं मेरे मग दुख नासे हैं॥" ३६ ॥ (५९३)

वार्त्तिक तिलक।

इस प्रकार पूछते २ जहां श्रीसवरीजी की कुटी थी तहां ही आके यह बात पूछी कि "हमारी वह परम भागवती सवरी कहां है ? हम उस को नयन भर देखा चाहते हैं, हमारे नेत्र उसके दर्शनरूपी जल के प्यासे हो रहे हैं।" प्रीतिपगे श्रीमुख वचनों को सुनके उनको अपनी नीचता का शोच मिट गया और यह देखा कि आश्रम में ही दोनों भाई कृपा करके आ खड़े हैं; तब सम्मुख आके जहां से आपके दर्शन पाए वहीं से प्रेम पूरित साष्टाङ्ग प्रणाम किया। प्रभु ललक के आए और श्रीकर-कमलों से आपने श्रीसवरीजी को उठा लिया। श्रीकरकंज के स्पर्श ही से वियोग की सब व्यथा जाती रही और नेत्रों से नवल प्रेममय जल की झड़ी लग गई। क्योंकि इस समय इनके पौ बारह सरीखे प्रेम के पासे अनुकूल पड़ गए अथवा श्रीसवरीजी के नयन श्रीराम प्रेमपाश में बँध गए॥

चरण धोके दोनों भाइयों को अनुराग रंजित आसन पर बैठाय फूलमाला पहिराय फलों को नवीन २ दोनाओं में करके आगे रक्खा। प्रभु उनफलोंको खाते हुए बारम्बार उनके स्वाद की प्रशंसा, और शिवजी आदि उसके भाग्य की तथा प्रभु की भक्तवत्सलता की सराहना, करने लगे। और बोले कि क्या कहूँ आज तुमने मेरे मार्ग भर के परिश्रम दुःखों को मिटाके परम सुख दिया॥

(४६) टीका। कवित्त। (७९७)

करत हैं सोच सब ऋषि बैठे आश्रम में, जल को बिगार ! सो सुधार कैसे कीजिये ?। आवत सुने हैं बन पथ रघुनाथ कहूँ; आवैं जब, कहैं

"याको भेद कहि दीजिये ॥" इतने ही माँझ सुनी "सवरी के बिराजे आन" गयो अभिमान! चलो पग गहि लीजिये। आय, खुनसाय, कही "नीर को उपाय कहो" "गहो पग भीलिनी के छुए स्वच्छ भीजिये ॥ ३७ ॥" (५६२) ।

वार्त्तिक तिलक ।

उधर ऋषि लोग अपने आश्रमों में बैठे सोच रहे थे कि यह जल जो बिगड़ गया है सो इसकी शुद्धता किस प्रकार से की जावे। इतने में कोई बोल उठे कि सुनते हैं कि इस बन-मार्ग से कहीं श्रीरघुनाथजी चले आते हैं; सो जब आवें तब इसका हेतु तथा शुद्धि का उपाय आपही से पूछ लिया जायगा। ये बातें हो ही रही थीं कि उसी क्षण मुनियों ने सुना कि आप आ ही गए, सवरी की कुटी में बिराज रहे हैं ॥

यह सुनते ही सभों के अभिमान जाते रहे और वे लोग बोले कि चलो उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम करें। खुनसाए हुए आए और प्रभु से कहा कि हमारे स्नान पान का जल बिगड़ गया है इसके सुधरने का यत्न बता दीजिये ॥

इसके उत्तर में प्रभु ने कहा कि आप लोगों ने परम भागवती सवरी का अनादर किया इसी भक्तापराध से जल की यह दुर्दशा हो रही है। अतएव इसी के चरणों को गहिये और "सादर इन्हें ले जाके इनका चरण स्पर्श कराइये तो जल निःसन्देह निर्मल हो जावेगा, आप लोग सुख से स्नान पान कीजियेगा ॥"

क्या करें उनने ऐसा ही किया; और जल परमनिर्मल और स्वाद सुगन्धियुक्त हो गया ॥

प्रभु ने जब वहाँ से चलना चाहा, श्रीसवरीजी ने अपना प्राण न्यवछावर कर दिया और परमधाम को चली गई। धन्य, धन्य! अहो! प्रीति परमेश्वरी परमआश्चर्य्य! श्रीसवरीजी के प्रेम की प्रशंसा करें कि श्रीप्रभु की प्रेमपालकता की? दोनों ही की बलिहारी। देखिये तो श्रीसवरीजी ने केवल बन के फल ही खिलाने में प्रभु में अनुराग, उससे शतसहस्रगुण अधिक किया कि जो प्रेम माता सुत को खिलाने में करती

है; और वैसे ही प्रभु ने श्रीमातु कौशल्याजी महारानी के पवाए भोजनों से भी अधिकतर मीठे स्वादिष्ठ मानके उन फलों को पाया ॥

इस प्रेम की जय हो और इस प्रेमभाव ग्राहकता की जय ॥

"घर गुरु गृह ससुरारि प्रिय, सदन पाय पहुनाय।
सवरी फल रुचि माधुरी, कहुँ न लही रघुराय ॥ १ ॥
प्रेम पगे चखि चार फल, कौशल्या के लाल।
भक्तन की कबरी मणी, सवरी करी कृपाल ॥ २ ॥
अधिक बढ़ावत, आप ते, जन महिमा, रघुबीर।
तुलसी, सवरीपदरज से, शुद्ध भयो सरनीर ॥३ ॥"

---

(२२) खगपति श्रीजटायुजी।

(४७) टीका। कवित्त। (७९६)

"जानकी" हरण कियो "रावण" मरण काज; सुनि "सीता" वाणी "खगराज" दौड़ो आयो है। बड़ी ये लड़ाई लीन्ही, देह वारि फेरि दीन्ही, राखे प्राण, राम मुख देखिबो सुहायो है ॥ आए आपु, गोद शीशधारि दृग धार सींच्यो, दई सुधि लई गति तनहू जरायो है। "दशरथ" वत मान कियो जल दान, यह अतिसनमान, निजरूप धाम पायो है ॥ ३८ ॥ (५६१)

वार्त्तिक तिलक।

पक्षियों के राजा महाभक्त श्रीजटायुजी ने अपना तन भी भगवत् के निमित्त अर्पण कर दिया। जब रावण अपना मरना प्रभु के शर से संकल्प करके उसके निमित्त श्रीमाया सीताजी को हर के ले चला, तो आपकी आर्त्तवाणी और विलाप सुन के सहायता करने को उक्त श्रीभक्तराज महाराज अति शीघ्र पहुँचे। आप जगतविख्यात निशाचरपति रावण से बहुत लड़े, रावण ने भी जाना कि किसी से काम पड़ा ॥ जब उस दुष्ट ने आपके दोनों पक्ष काट डाले तब आपने अपना शरीर प्रभु के निमित्त न्यवछावर करदिया; परन्तु श्रीचक्रवर्त्तिकुमार महाराज के प्रिय दरशन के हेतु प्राण रक्खे हुए प्रभु का स्मरण कर रहे थे ॥

श्रीप्रियाजी को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते श्रीजानकीजीवनजी श्रीलक्ष्मणजी के साथ-साथ वहाँ आए॥

(क०) "जाति के निसिद्ध, मांसभक्षक अशुद्ध "अवधेश" धर्म्मवृद्ध, सखा किये निज शुद्ध हैं। पातक पिनद्ध बली रावण अबुद्ध मूढ़ काल पास बद्ध कियो करम विरुद्ध हैं॥ सुनत सनद्ध जुरे रसरङ्ग जुद्ध, सिया छीनि लिये क्रुद्ध परे पंख बिनु बिद्ध हैं। रामकृपा रुद्ध दिये प्रेम ते प्रबुद्ध धाम सुख को समृद्ध धन्य श्रीजटायू गृद्ध हैं॥"

दो० "कर सरोज सिर परसेउ, कृपासिन्धु रघुबीर।
निरखि राम छबिधाम मुख, बिगत भई सब पीर॥"

प्रभु ने श्रीजटायुजी का सीस अपने श्रीगोद में लेके, स्नेह के आँसुओं से सींचा॥

(सवैया)

"दीन मलीन अधीन है अंग विहंग परेउ छिति खिन्न दुखारी।
"राघव" दीनदयालु कृपालु को देखि दुखी करुणा भइ भारी॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन सरोजन में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख "जटायु" का धूरि जटान सों झारी॥"

चौपाई।

"राम कहा तनु राखहु ताता"। मन मुसकाइ कही तिन्ह बाता॥
"जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुक्त होय श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं नाथ! देह केहिखाँगे?॥"
"गीधअधम खग आमिषभोगी। गतितेहिदीन्हजोजाँचतजोगी॥"

प्रभु ने पिता श्रीदशरथजी महाराज के सदृश जान के, क्रिया की; इस सनमान की बलिहारी॥

चौपाई।

"गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषण बहु पट पीत अनूपा॥

दो० अविरल भगति माँगि वर, गीध गएउ हरि धाम।
तेहि की क्रिया यथोचित, निज कर कीन्ही राम॥"

गीत❀"फिरत न बारहिंबार प्रचारयो। चपरिचोंच चंगुलहति हय रथ खंड खंड करिडारयो॥ विरथ विकल कियो, इत्यादि, इत्यादि॥" तुलसीदास सुर सिद्ध सराहत धन्य बिहंग बड़भागी॥

दो० "दशरथ से दशगुन भगति, सहित तासु कृत काज ।
तुलसी सोचत बन्धु युत, राम गरीबनिवाज ॥ १ ॥
मुए, मरत, मरिहैं, सकल, घरी पहर के बीच ।
लही न काहू आजु लौं, गीधराज की मीच ॥ २ ॥
गोदसीस धरि, पितुसखा, जानि कृपा के धाम ।
झारी धूरि जटायु की, निजजटान सों राम ॥ ३ ॥"

छप्पय ।

"भक्ति भूमि भूपाल श्रीदशरथ दश दिशि विदित जस ॥ मनुवपु में बहुभक्ति सुतपकरि ब्रह्म विलोके । परमातम प्रिय पुत्र पाय सिय वधू विशोके ॥ फणि मणि इव जलमीन सरिस प्रभु प्रीति सुपागे । सत्य प्रेम के सीम राम बिछुरत तन त्यागे ॥ कौशल्यापति पूज्य जगधर्मध्वज वात्सल्यरस । भक्तिभूमि भूपाल श्रीदशरथ दशदिशि विदितजस ॥ १ ॥ वारिधि रस वात्सल्य की कौशल्या बेला मनहु ॥ कृपा प्रीति प्रभु भक्ति सुकीरति सकल सकेली । विरचेउ चतुर विरंचि रामजननी मुदवेली ॥ सीता सरिस स्वभाव धर्मधुरधरनि उदारा । भरतादिक को करनि रामते अधिक दुलारा ॥ मातु सुमित्रा आदि सब रसरज्ञ बड़े तेहिं सम गनहु । वारिधि रस वात्सल्य की कौशल्या बेला मनहु ॥ २ ॥

---

(२३) श्रीअम्बरीषजी, महाराज महारानी ।

(४८) टीका । कवित्त । (७६५)

"अम्बरीष" भक्त की जो रीस कोऊ करै और, बड़ो मतिबौर, किहूँ जान नहीं भाखिये । "दुरबासा" रीसि खीसि सुनी नहीं कहूँ साधु मानि अपराध, सिर जटा खैंचि नाखिये ॥ लई उपजाइ काल कृत्या विकरालरूप भूप महाधीर रह्यो ठाढ़ो अभिलाखिये । चक्र दुखमानिलै कृशानुतेज राखकरी, परीभीर ब्राह्मणको भागवत साखिये ॥ ३६ ॥ (५६०)

वार्तिक तिलक ।

श्रीअम्बरीष भक्तराज ऋषिजी की समानता जो और कोई किया चाहे सो बड़ाही मतिमन्द विक्षिप्तहै, क्योंकि उनकी भक्ति किसीप्रकार कथन में भी नहीं आसकती । देखिये, दुर्वासाऋषि ने किसी साधुकी सिखावनि नहीं सुनी, श्रीअम्बरीषजी के बिना अपराध ही अपराध माना, अर्थात् एक समय द्वादशी के दिन महाराज के यहां दुर्बासा जी आए महाराज ने नमस्कार बिनय के अनन्तर भोजन के लिये प्रार्थना की ऋषि

जी ने कहा कि स्नान कर आवैं तो भोजन करें। इतना कह स्नान को गए। परन्तु उस दिन द्वादशी दो ही दण्ड थी। राजा ने बिचार किया कि त्रयोदशी में पारण करने से शास्त्राज्ञा उल्लंघित होगी। तब ब्राह्मणों ने कहा कि चरणामृत पी लीजिये॥

ऐसाही किया। दुर्बासाजी आए और अनुमान से जाना कि इन्होंने जल पिया है। फिर तो अत्यन्त क्रोध करके अपने जटा को भूमि में पटक के महाविकराल "कालकृत्या" उत्पन्न करके उससे कहाकि "इस राजा को भस्म करदे" इतने पर भी श्रीअम्बरीषजी हाथ जोड़े, दुर्बासा की प्रसन्नता के अभिलाष में खड़े ही रहे। श्रीसुदर्शनचक्रजी" जो श्रीप्रभु की आज्ञानुसार राजा की रक्षार्थ सदा समीप ही रहते थे, उनने दुर्बासा के दुखदाई क्रोध से दुखित हो के उस कालाग्नि कृत्या को अपने तेज से जलाके राख कर दी। और ब्राह्मण की ओर भी चले, यह देख दुर्बासाजी भागे और चक्रतेज से अत्यन्त बिकल हुऐ, कि जैसा श्रीमद्भागवत में लिखा ही है॥

(४९) टीका। कवित्त। (७९४)

भाज्यो दिशा दिशा सब लोक लोकपाल पास गये, नयो तेजचक्र चून किये डारे हैं। ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम टेव बुरी, दासन को भेद नहीं जान्यो, बेद धारे हैं॥ पहुँचे बैकुंठ जाय, कह्यो दुःख अकुलाय, हाय हाय! राखौ प्रभु! खरौ तन जारे हैं। "मैं तो हौं अधीन; तीनगुण को न मान मेरे 'भक्तवात्सल्य गुण' सबही को टारे हैं" ॥४०॥ (५८९)

वार्त्तिक तिलक।

ऋषिजी श्रीचक्र के भय से भागे हुए चारों दिशाओं, तथा चारों विदिशाओं को और सब लोकों में गए; और लोकपालों के पास अर्थात् इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम के पास जाके, उनने शरण शरण पुकारा; परन्तु चक्र का प्रतिक्षण बढ़ता हुआ तेज दुर्बासाजी को यों जला के चूनासा किये डालता था जैसे अग्नि कंकड़ पत्थर को। जब श्रीब्रह्माजी एवं श्रीशिवजी के लोक में वह पहुँचे, तब आप दोनों ने कहा कि "दुर्बासाजी! तुमने यह बड़ी निकम्मी टेव पकड़ी है कि भगवद्भक्तों का भेव (भेद, मर्म) न

समझके उनसे उलझते हो, कि जिनका प्रभाव वेद गान करते हैं। तुम्हारी रक्षा हम नहीं कर सकते।" हां, श्रीनारदजी ने हित उपदेश दिया॥

तब अन्त में, श्रीवैकुण्ठ जा पहुँचे और हाय हाय! करके अकुला के प्रभु से अपना दुःख कहा कि "हे प्रभो! रक्षा कीजिये। त्राहि त्राहि दयालु रघुराई! रघुबीर करुणा सिन्धु आरतबन्धु जनरक्षक हरे!! इस चक्र का अति तीक्ष्ण तेज मुझे जलाए डालता है। (१) आप शरणागतपाल हैं, मैं शरणागत हूं, (२) आप आर्तिनाशक हैं, मैं आर्त्त हूं; और (३) आप ब्रह्मण्यदेव हैं, मैं ब्राह्मण हूं॥" यह सुन श्रीभगवान् बोले कि "आपने बात तो ठीक कही परन्तु मैं भक्तों के आधीन अस्वतन्त्र हूं जो मेरे उक्त तीन गुण आपने कहे उनका मान मुझको नहीं है, क्योंकि 'भक्तवात्सल्यगुण' ने इस देश काल में उन तीनों गुणों का तिरस्कार कर दिया है॥"

(५०) टीका। कवित्त। (७९३)

"मोको अतिप्यारे साधु, उनकी अगाधमति; कर्यो अपराध तुम सह्यो कैसे जातहै। धाम, धन, वाम, सुत, प्राण, तनु, त्याग करैं ढरैं मेरी ओर निशि भोर मोसो बात है॥ मेरेऊ न सन्त बिनु और कछु; सांची कहौं, जाओ वाहीठौर, जाते मिटै उतपात है। बड़ेई दयाल, सदा दीनप्रतिपाल करैं; न्यूनता न धरैं कहूं; भक्ति गातगात है" ॥४१॥ (५८८)

वार्त्तिक तिलक।

"मुझे साधु अत्यन्त प्यारे हैं, काहे कि उनका अगाधमत है। सो जब तुमने उन्हींका अपराध किया तो मुझसे कैसे सहा जा सकता है? वे मेरे लिये, गृह, धन, तन, अन्न, जन, वरंच स्त्री, पुत्र तथा प्राणतक, परित्याग करके मेरी ओर, लगते हैं। और रात्रि दिवस मेरा भजन छोड़ उनके दूसरी बात ही नहीं॥

एवं, मेरे भी सन्तों के लालन पालन सार सँभार बिना और कोई कार्य्य कुछ भी नहीं है, मैं सच्ची २ कहे देता हूँ॥

चौपाई।

"अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥"

आप उन्हींके पास जाइये, जिससे यह चक्र-कृत दुःख उत्पात मिट जावे। यह शंका न कीजिये कि वे मुझे कैसे क्षमा करेंगे, क्योंकि मेरे सन्त भक्त बड़े ही क्षमाशील, अकारण पर-उपकारी एवं दयालु होते हैं तथा दीनों का सदा प्रतिपाल करते हैं। दूसरे की चूक अपने हिये में नहीं रखते; क्योंकि उनके तो सम्पूर्ण अङ्गों में मेरी भक्ति ही भरी है, किसी की न्यूनता रखने के लिये कुछ भी जगह ही उनके चित्त में बची नहीं है॥"

चौपाई।

"सुनु, मुनि! सन्तन के गुण जेते। कहि न सकहिं श्रुति शारद तेते॥"

(५१) टीका। कवित्त। (७६२)

ह्वै करि निरास, ऋषि आयो नृप पास चल्यो गर्ब सों उदास, पग गहे, दीन भाष्यो है। राजा लाज मानि, मृदु कहि, सनमान कर्यो ढर्यो, चक्र ओर, कर जोर, अभिलाष्यो है॥ भक्त निसकाम, कभू कामना न चाहत हैं चाहत है विप्र, दूरि करो दुख, चाख्यो है। देखि कै बिकलताई, सदा सन्त सुखदाई, आई मन मांझ, सब तेज ढांकि राख्यो है॥४२॥ (५८७)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभु के ऐसे वचन सुन के ऋषि जी निरास, तथा अपने गर्व (अभिमान) से उदासीन होके चले, और राजा अम्बरीषजी के पास आके चरणों को पकड़कर ऋषि ने दीन वचनों से क्षमा मांगी। महाराज लज्जित हो, सादर पग छुड़ा, कोमल वचनों से मुनिजी का सनमान करके, श्रीचक्रजीकी ओर जा हाथ जोड़, यों प्रार्थना करने लगे कि "हे क्षमामन्दिर श्रीसुदर्शनजी! यद्यपि हरि भक्तों को कोई कामना नहीं होती, वे सदा निष्काम रहते हैं तथापि मेरी यह कामना है कि, इन विप्रजीने बहुत दुःख पाया सो अब, आप मुझ पर कृपा करके इनकी रक्षा कीजिये" सन्तों के सुखदाता श्रीसुदर्शन चक्रजी ने द्विजके दुःख से श्रीभगवतभक्त को विकल देख, प्रसन्न हो, प्रार्थना मान, अपने तेजको छिपालिया, और भाग्यभाजन राजा ने दुर्वासा जी को अभयदान दे भोजन करा, बिदा किया॥

चौपाई।

"श्रापत ताड़त परुष कहन्ता। पूजिय विप्र कहहिं अस सन्ता॥
दो० मन क्रम बचन, कपट तजि, जो कर भूसुर-सेव।
बिष्णु समेत बिरंचि शिव, बश ताके सब देव॥"

(५२) टीका। कवित्त। (७९१)

एक नृपसुता सुनि अम्बरीष भक्ति भाव, भयो हिय भाव ऐसो, बर कर लीजियै। पिता सों निशंक ह्वैके कही "पति कियो मैं ही, विनय मानि मेरी, बेगि चीठी लिखि दीजियै॥" पाती लेके चल्यो विप्र, छिप्र वही पुरी गयो, नयो चाव जान्यो ऐपै कैसे तिया धीजियै। कही तुम जाय, "रानी बैठीं सत आय, मोको बोल्यो न सुहाय प्रभु सेवा मांझ भीजियै" ॥४३॥ (५८६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीअम्बरीषजी की एक आख्यायिका कहकर अब राज सुता सम्बन्धी भक्ति उनकी वर्णन करते हैं। एक राजकन्या को श्रीअम्बरीष जी की भक्ति और प्रेम भाव सुनके बड़ा आनन्द हुआ, उसके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि "ऐसा पति कर लेना चाहिये; जो भाग्य-शालिनी ऐसे भक्तराज की दासी हो वह धन्य है" यों विचार कर, निशंक हो, उसने अपने पिता से कहा कि मैंने श्री ६ अम्बरीषजी को पति मान लिया, "बरौं ताहि न तु रहौं कुमारी"; "आप मेरी विनय मान के राजा को एक पत्रिका लिख दीजिए।" कन्या के पिता ने पत्र लिख के एक ब्राह्मण के हाथ दिया। ब्राह्मण ने, वह पत्र ले, बड़ी शीघ्रता से उस पुरी में जा, महाराज (श्रीअम्बरीषजी) को दिया। महाराज ने पत्र पढ़ के कहा कि "उसका नवीन अभिलाष मैंने भलीभाँति जाना, परन्तु मैं स्त्री को कैसे ग्रहण करूँ? क्योंकि मेरे तो सैकड़ों रानियाँ घर में बैठी हैं और मुझको उनसे बात तक करनी नहीं भाती॥

चौपाई।

"उमा! राम सुभाव जिन जाना। तिनहिं भजन तजि भाव न आना॥"

"मेरा मन तो केवल भगवत सेवा ही में रंग गया है। यह बात आप जाके राजकन्या से कह दीजिये॥"

(५३) टीका। कवित्त। (७९०)

कह्यो नृपसुतासो जु कीजिये यतन कौन ? पौन जिमि गयो आयो काम नाहीं बिया कौ। फेरिकै पठायो, सुख पायो मैं तो जान्यों वह बड़े धर्मज्ञ, वाके लोभ नाहीं तिया कौ॥ बोली अकुलाइ मन भक्ति ही रिझाइ लियो, कियो पति, मुख नहीं देखौं और पिया कौ। जाइ के निशंक यह बात तुम मेरी कहौ, "चेरी जौ न करौ तौ पै लेवो पाप जिया कौ" ॥ ४४ ॥ (५८५)

वार्त्तिक तिलक।

ब्राह्मण ने आके राजकन्या से सब वार्त्ता सुना के कहा कि "क्या यत्न किया जाय ? मैं पवन के समान बेग से गया और आया पर कार्य्य कुछ भी (गुंजा के बीया भर भी) न हुआ ! राजकन्या ने कहा कि "उनके तीव्रतर वैराग्य की अनुपम व्याख्या सुनके मुझको बड़ा ही आनन्द हुआ; मैं जानती हूँ कि वे बड़े ही धर्मज्ञ हैं तथा उनके शुद्ध अन्तःकरण में भक्ति-लता ऐसी सघन फैली है कि स्त्री आदिक की चाह के अङ्कुर की जगह रही नहीं है।" इतना कहने के साथही साथ भक्तराज के स्नेह से व्याकुल हो के वह सुशीला फिर बोल उठी कि "उनकी भगवद्भक्ति ही ने मेरे अंतःकरण को आकर्षण करके मुझे ऐसा रिझा लिया है कि मैं उनको अपना पति मान चुकी हूँ। और अब दूसरे पुरुषका मुँह मैं देखनेवाली नहीं। आप फिर जाके निःशंक कहिये कि 'जो आप अपने चरण की चेरी न कीजियेगा तो मेरे देह त्याग का पाप लीजिये' मैं उनके बिन अपने प्राण नहीं रखने की॥"

दो० "कै अपनावहिं मोहि वे, कै मैं त्यागौं देह।
भक्तशिरोमणि नृपति ते, कहेहु विप्रवर ! नेह॥"

(५४) टीका। कवित्त। (७८९)

कही विप्र जाय, सुनि चाय महराय गयो, दयो लै खड़ग "यासों फेरी फेरि लीजियै।" भयो जू बिवाह उत्साह कहूं मात नाहिं; आई पर अम्बरीष देखि छबि भीजियै॥ कह्यो "नवमन्दिर में झारिकै बसेरो देवो, देवो सब भोग विभौ, नाना सुख कीजियै। पूरब जनम कोऊ मेरे भक्ति गन्ध हुती, याते सनबन्ध पायो यहै मानि धीजियै" ॥ ४५ ॥ (५८४)

वार्त्तिक तिलक ।

ब्राह्मण ने फिर जाके श्रीअम्बरीषजी से राजकन्या की प्रीति प्रतीति प्रणय पातिव्रत्य का पन और प्राणत्याग का संकल्पपर्यन्त कहा। राजा ने, ऐसा सप्रेम चाव सुन, धर्मसंकट से अधीर हो, अपना खड्ग दिया, कि "इसी से भांवरी फिरा लीजियेगा ॥"

[राजा ने खड्ग इस कारण से दिया कि क्षत्रियों का शस्त्र शास्त्र में उनका अंग ही माना गया है ॥]

इस प्रकार से विवाह हो जाने पर राजकन्या का आनन्द तन मन में अँटता नहीं था। बड़े ही उत्साह से मन्त्री वर्गों के साथ पुर में आई। राजसुता तथा श्रीअम्बरीषजी दोनों श्रीयुगल सरकार के भक्तिरस माधुरी से छके हुए अन्योन्य छबि देखके श्रीप्रभु प्रेम में मग्न हो गए। महाराज ने आज्ञा दी कि "नए मन्दिर को झाड़ बहार, स्वच्छ कर रानी को निवास देके, सब भोगसामग्री दिया जावे, कि वे नाना प्रकार के सख भोगें। जाना जाता है कि पूर्वजन्म की मेरी इनकी कोई भक्ति सम्बन्धी विमल वासना थी; इसी हेतु से मेरा इनका सम्बन्ध हुआ; और ऐसाही अनुमान करके इनको स्वीकार किया गया ॥"

(५५) टीका । कवित्त । (७८८)

रजनी के सेस पति भौन में प्रवेश कियो, लियो प्रेम साथ, ढिग मन्दिर के आइये । बाहिरी टहल पात्र चौका करि रीझि रही, गही कौन जाय, जामें होत ना लखाइये ॥ आवत ही राजा देखि लगै न निमेष क्यों हूँ कौन चोर आयो मेरी सेवा लै चुराइये । देखी दिन तीनि, फेरि चीन्हि कै प्रबीन कही, "ऐसो मन जोपै प्रभु माथे पधराइये" ॥ ४६ ॥ (५८३)

वार्त्तिक तिलक ।

भक्तिवती रानी अपने निवास में रहने लगी। एक दिन कुछ रात रहते हुए अकेली केवल अपने प्रिय प्रेम ही को संग लेके पति के पूजामहल में प्रवेश करके भगवतमन्दिर के समीप आके बाहर की सेवा टहल किये अर्थात् पूजा के पार्षद मांज के चौका लगाके, उस

सेवा सुख के अनुभव से अति प्रसन्नतापूर्वक चली आईं, जिसमें किसी को लखाई न पड़े। तो अब इसमें सेवा करनेवाली कौन रानी कही जावे? तदनन्तर श्रीभक्तराजाजी ने, आके देखा कि बाह्य कैंकर्य (पाषद चौका) कोई कर गया है। इससे उनको ऐसी चंचलता हुई कि उनके मनरूपी नेत्र में स्थिरता का निमेष भी नहीं लगता था। विचारने लगे कि यह कौन चतुर चोर आके मेरी सेवासम्पत्ति चुरा ले गया?॥

इस प्रकार तीन दिन पर्य्यन्त देखा; चौथे दिन उसी समय परम प्रवीण राजा छिपके बैठे, और देख के भक्तिवती रानी को पहिचान के कहा कि "जो तुम्हारे मन में ऐसी ही सेवा की उत्कंठा और भक्ति है तो अपने मनभावन को अपने निज भवन में ही क्यों नहीं पधरा लेती हो? जिसमें तुम्हारे ही सीस पर सेवा सुख भार रहे॥"

सलोक० "पुस्तक, माला, असनो, बसनो।
ठाकुर बटुआ, अपनो अपनो॥"

(५६) टीका। कवित्त। (७८७)

लई बात मानि, मानो मन्त्र लै सुनायो कान; होत ही बिहान, सेवा नीकी पधराई है। करति सिंगार, फिर आपुही निहारि रहै, लहै नहीं पार, दृग झरी सी लगाई है॥ भई बढ़वार, राग भोग सों अपार भाव, भक्ति विस्तार रीति पुरी सब छाई है। नृपहू सुनत अब लागि चोप देखिबे की; आए ततकाल मति अतिअकुलाई है॥ ४७॥ (५८२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभक्तराज के स्वच्छ अंतःकरण से प्रीतियुक्त निकले हुए ऐसे अनुपम वचन सुनते ही प्रेममूर्ति रानी ने महामुदित मन में इस प्रकार मान लिया कि मानो गुरुमन्त्र ही कान में सुना दिया गया है। प्रातःकाल होते ही उनने भगवत के दिव्य अर्चा विग्रह नीके प्रकार से उत्सवपूर्व्वक विराजमान किया॥

चौपाई।

जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू॥

फिर अब क्या कहना है, अपने हाथों से सप्रेम शृङ्गार करके पुनि

उस छवि को आपही अवलोकन करती हुई चन्द्रचकोरवत एकटक रह जाती, शोभासिन्धु श्रीप्रभु की शोभा का पार नहीं पाती थी; उसके नेत्रों से प्रेमानन्द जल की झड़ी सी लग जाती थी। सेवा राग भोग से अपार भाव हुआ। इस भक्तिरसिका रानी की प्रीति प्रतीति रीति भक्ति की ऐसी अभिवृद्धि हुई कि संपूर्ण नगर में सुकीर्त्ति छा गई॥

यहाँ तक कि राजा ने भी सुना; तब उनको भी प्रेमवती के प्रेम-वर्द्धक प्रभु के दर्शन की अतिशय चाह उत्पन्न हुई; वरंच दर्शन बिना व्याकुल होके ततकाल चलही तो दिया॥

(५७) टीका। कवित्त। (७८६)

हरे हरे पांव धरै, पौरियानि मने करै, खरे अरबरै, कब देखौं भागभरी को। गए चलि मन्दिर लौं, सुन्दरी न सुधि अङ्ग, रङ्ग भीजि रही, दृग लाइ रहे झरी को॥ बीन लै बजावै, गावै, लालन रिझावै, त्यों त्यों अति मन भावै, कहैं धन्य यह घरी को। द्वार पै रह्यो न जाय, गए ढिग ललचाय, भई उठि ठाढ़ि, देखि राजा गुरु हरी को॥ ४८॥ (५८१)

वार्त्तिक तिलक।

जब निकट पहुँचे तब धीरे धीरे पांव रखते और पौड़ियों को अर्थात् वृद्ध द्वाररक्षकों तथा द्वाररक्षिणियों को रसे रसे निवारण करते, कि रानी को जाके ज़ताओ मत। और अत्यन्त अकुला रहे हैं कि उस भक्ति भाग्यपूर्ण को मैं कब देखूँ। यों ही जब मन्दिर के समीप जा पहुँचे तब देखते क्या हैं कि सानुरागा सुन्दरी अपने शरीर की सुधि भूल के प्रेमरसरंग में मग्न है, और उसके नेत्रों से प्रेमानन्द जल की अवि-च्छिन्न वर्षा हो रही है; बीणा बजा के झीने स्वर से प्रभु का नाम यश गाके प्राणप्रिय को रिझा रही है। यह दशा ज्यों ज्यों देखते हैं त्यों त्यों श्रीअम्बरीषजी के मन में यह दशा तथा प्रीतिदर्शावती रानी अत्यन्त ही प्रिय लगती हैं। महाराज मन में कहते हैं कि यह घड़ी धन्य है॥

रा० क० "कोउ लै बान नवीन सुरनते, मनहु बशीकर जापैं॥
कोउ मृगनयनी कोकिलबयनी, पंचम राग अलापैं॥"

श्लोक "नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि, नारद!॥"

प्रेमसुख के लालच से द्वार पर ठहरा नहीं गया, तब रानी के पास ही जा खड़े हुए। "हरि ते अधिक गुरुहि जिय जानी" के आशय ने, प्रेम-निमग्न रानी की सुरति को श्रीसेवा से खींचके, भक्तराज के सन्मुख कर दिया; रानी ने देखा कि मेरे हरि (पति) हितोपदेशक गुरु, राजा, पास ही खड़े हैं। इससे उनके आदर के निमित्त उठ खड़ी हुई॥

(५८) टीका। कवित्त। (७८५)

वैसे ही बजाओ बीन ताननि नवीन लैकै, भीनसुर कान परै, जाति मति खोइये। जैसे रंग भीजि रही, कही सो न जाति मोपै, ऐपै मन नैन चैन कैसे करि गोइये॥ करिकै अलाप चारो फेरिकै सँभारि तान, आइगयो ध्यान रूप ताहि माँझ भोइये। प्रीति रसरूप भई, राति सब बीति गई, नई कछु रीति अहो! जामें नहिं सोइये॥ ४६॥ (५८०)

वार्त्तिक तिलक।

तब राजा ने कहा कि "इस सम्मान को इस घड़ी जाने दो; जैसे बीन बजाती रहीहो, वैसे ही बजाके नए तान लेके मधुर स्वर से स्वामी के यश गान करो; क्योंकि उस श्रवणामृत के सुने बिना मेरी मति विकल हुआ चाहती है॥"

रानी जैसे अनुराग रंग में मग्न हो रही है, सो दशा मुझसे कही नहीं जा सकती, परन्तु ध्यान से देखते ही मन तथा मानसिक नेत्रों को ओपती अर्थात् चमाचम प्रेमप्रभामय कर देती है; वह प्रेमानन्द कुछ कहे बिना किसी प्रकार से रहा नहीं जाता।

राजा के वचन सनते ही रानी ने वीणा लेके फिर सरस स्वर अलाप करके गान तान को सँभाला; कि जिसके साथ ही मन में श्यामसुन्दर-रूप अनूप का ध्यान आ गया और उसी में मग्न हो गई। इस भांति, रानी राजा दोनों को ऐसी भक्तिरसरूपा प्रीति बढ़ी कि जिसमें सारी रात पल सरीखी व्यतीत हो गई। आश्चर्यमय प्रीति की अलौकिक रीति की

अनूठी घटनाएँ ऐसी ही विलक्षण हैं, कि जिसमें नींद आलस भूख इत्यादि बाधाओं का तो कहना ही क्या है, जागरित स्वप्न सुषुप्ति अवस्था-पर्यन्त भी अपना २ निरादर देखकर अन्तःकरण और बाह्य इन्द्रियों से अपना शासन आप ही उठा लेती हैं ॥

(५६) टीका। कवित्त। (७८४)

बात सुनी रानी और, राजा गए नई ठौर, भई सिर मोरे, अब कौन वाकी सर है। हमहूँ लै सेवा करैं, पति मति बश करैं, धरैं नित्य ध्यान, विषय बुद्धि राखी धर है॥ सुनिकै प्रसन्न भए अति अम्बरीष ईस लागी चोप, फैल गई भक्ति घर घर है। बढ़ै दिन दिन चाव, ऐसोई प्रभाव कोई, पलट सुभाव होत आनँद को भर है॥ ५०॥ (५७६)

वार्त्तिक तिलक।

यह वृत्तान्त और सब रानियों ने सुना कि नई रानी के समीप में जाके प्रभु का नाम गुण गान सुनते २ राजा ने आज रात्रिभर, बिता दिया; अतएव वह तो अब सबकी शिरोमणि हो गई, अब उसकी समानता हम सब कैसे कर सकती हैं। तब सबों ने यह विचारा कि महाराज यदि श्रीभगवतसेवा भक्ति ही से प्रसन्न होते हैं तो हम सब भी क्यों न भगवत सेवा करके प्राणपति को अपने वश कर लें।

सब रानियों ने ऐसा ही किया; विषयात्मक बुद्धि को अलग रखके केवल भगवतसेवा पूजा गुण गान और रूप अनूप के ध्यान में ही दिन रात बिताने लगीं। उन सबों की भक्ति को भी उनके स्वामी श्रीअम्बरीष-जी सुनके बड़े ही प्रसन्न हुए। और उन सब रानियों के हरिमन्दिरों में भी जा जाके उनको वैसा ही आनन्द देने लगे॥

महाराज की यह रीति समस्त पुरवासियों ने सुनी; तब तो नगर भर के लोगों को भगवद्भक्ति में अतिशय भाव चाव उत्पन्न हुआ और घर घर में भक्तिकल्पलता फैल फूलके फलयुक्त हुई। इस प्रकार महाराज श्री-अम्बरीषजी के घर नगर तथा देश में दिन दिन प्रति प्रेमभाव भक्ति की वृद्धि और उन्नति हुई। देखिये, परम प्रेमवती एक रानी की भक्ति के

प्रभाव से ही, सब रानियों बरंच सम्पूर्ण नगरवासियों का स्वभाव संसार से पलटके प्रभु में लग गया। और सर्वत्र भगवतप्रेमानन्द छा गया। सत्संग ऐसा पदार्थ है ॥

(२४) श्रीविदुरानीजी और (२५) श्रीविदुरजी ।

(६०) टीका । कवित्त । (७८३)

न्हात ही विदुर नारि, अंगन पखारि करि; आइ गए द्वार कृष्ण बोलि कै सुनायो है। सुनत ही स्वर, सुधि डारी लै निदरि, मानो राख्यो मद भरि, दौरि आनिकै चितायो है ॥ डारि दियो पीत पट, कटि लपटाय लियो, हियो सकुचायो, वेष वेगि ही बनायो है। बैठी ढिग आइ, केरा छीलि छिलका खवाइ; आयो पति, खीझ्यो, दुःख कोटि गुनो पायो है ॥ ५१ ॥ (५७८)

वार्त्तिक तिलक ।

महाभारत होने के पूर्व श्रीकृष्ण भगवान् पाण्डवों की ओर से मिलाप की वार्ता करने को दुर्योधन के पास गए; पर उसने नहीं माना; इससे उसके घर भोजन भी नहीं किया ॥

श्रीविदुरजी के गृह आए, उस समय श्रीविदुरजी की स्त्री, दूसरे वस्त्र के अभाव से विवस्त्र हो अंगों को धो २ स्नान कर रही थीं। द्वारपर आके श्रीकृष्ण भगवान् ने महामधुर स्वर से पुकारा; श्रीविदुरानीजी आपका वह मधुर स्वर सुनते ही सुध बुध भूल गईं, क्योंकि वह स्वर मानो प्रेम से भरा हुआ था; दौड़ती हुई आके किवाड़ों को खोलके दर्शन किया। श्रीयादवेन्द्रजी भी उनको प्रेमोन्मत्त वस्त्रहीन देखके अपना पीताम्बर शीघ्र ही आपको उढ़ा दिया; जिसको आपने अपनी कटि में लपेट लिया और संकोचयुक्त हो, शीघ्रता से अपने वेष को सँभाल लिया ॥

श्रीकृष्ण भगवान् ने कुछ भोजन मांगा। आप केले ला, पास बैठ, केले को छीलने लगीं, पर प्रेम तथा हर्ष से विह्वल होके, छिलकों ही को तो खिलाती जाती थीं और सार को फेंक २ देती थीं ॥

भक्तवत्सल भगवान् प्रेम के स्वाद में छके छिलकों ही को बड़े चाव

से खाते जाते थे; इतने में श्रीविदुरजी आके इस कौतुक को देख अपनी धर्मपत्नी पर बहुत झिझलाए; तब सचेत हो अपने व्यतिक्रम को समझ-के श्रीविदुरानीजी ने अत्यन्त दुःख पाया ॥

दो० अहह ! भइउँ मैं बावरी ! रही न तनु सुधि नेकु ।
ऐसी सुधि भूली कि नहिं छिलका सार विवेकु ॥

(६१) टीका । कवित्त । (७८२)

प्रेम को विचार आपु लागे फल सार दैन, चैन पायो हियो, नारि बड़ी दुखदाई है । बोले रीझि श्याम, तुम कीनो बड़ो काम ऐपै स्वाद अभिराम वैसी वस्तु में न पाई है ॥ तिया सकुचाय, कर काटि डारौं हाय, प्राणप्यारे को खवाई छीलि छीलिका न भाई है । हित ही की बातें दोऊ, पार पावै नाहिं कोऊ, नीके कै लड़ावै, सोई जानै, यह गाई है ॥ ५२ ॥ (५७७)

वार्त्तिक तिलक ।

प्रिय पाठक ! प्रेम के प्रबल प्रभाव को विचार कीजे । विदुरजी अपनी धर्मपत्नी के प्रेम-प्रमाद को विचार के, प्रभु को फल का सारांश खिलाने लगे, तब उनके हृदय में आनंद आया; और मन में वे यह कहने लगे कि इसने प्रेम से विक्षिप्त होके यह दुःखप्रद कार्य्य किया ।

श्यामसुन्दरजी ने प्रसन्न होके कहा कि "आपने काम तो बहुत अच्छा किया कि केलों का सारांश खिलाया; परन्तु न जानूँ क्या कारण है कि जैसा उन छिलकाओं में अत्यन्त सुन्दर स्वाद मुझे मिलता था वैसा इस सारांश में नहीं प्राप्त हुआ ।

श्लो० पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥

अभी, अभी, दुर्योधन के घर अनेक षटरस व्यंजनादि का त्याग किये हुए चला आता हूँ ॥

उधर श्रीविदुरानीजी अतिशय संकोच को पाके पश्चात्ताप करने लगीं कि, "हाय ! मैं तो इन हाथों को काट डालूँ, जिन हाथों से प्राणप्रिय को छिलके खिलाए । लालन को छिलके कैसे प्रिय लगे होंगे ?"

देखिये ! श्रीविदुरानीजी तथा श्रीविदुरजी का छिलका और सार खिलाना, ये दोनों ही बातें प्रेम की ही हैं; तथापि प्रेमरूपी सागर ऐसा अपार है कि कोई उसका पार नहीं पा सकता; हाँ, जो इस प्रेम में परायण होके प्रेमग्राहक प्रभु को लाड़ लड़ावे, प्रेम करे, सोई इस अनुरागसिन्धु की गम्भीरता तथा अपारता को कुछ जाने; अपने तो, आप सबकी कृपा से, केवल गानमात्र कर दिया है॥

(२६) श्रीसुदामाजी (दामनजी)

(६२) टीका। कवित्त। (७८१)

बड़ो निसकाम, सेर चूना हू न धाम, ढिग आई निज भाम, प्रीति हरि सों जनाई है। सुनि सोच पर्यो हियो खरो अरबर्यो, मन गाढ़ो लैकै कर्यो, बोल्यो "हांजू सरसाई है"॥ "जावो एक बार, वह बदन निहार आवो, जोपै कछु पावो, ल्यावो मोको सुखदाई है"। "कही भली बात, सात लोक में कलंक ह्वै है, जानियत याही लिये कीन्ही मित्रताई है"॥ ५३॥ (५७६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकृष्ण भगवान् के मित्र श्रीसुदामाजी बड़े निष्काम भक्त थे; यहां तक कि घर में सेरभर आटा भी न रहता था। एक दिन उनकी धर्मपत्नी श्री "सुशीला" देवी, समीप में आके, कहने लगीं कि "सुना है कि श्री-लक्ष्मीपति द्वारकाधीश श्रीकृष्णचन्द्रजी से और आपसे मित्रता है।" यह सुन; श्रीसुदामाजी उसका आशय विचारके, हृदय में अत्यन्त घबड़ाकर सोच में पड़ गए; परन्तु फिर मन को दृढ़ करके बोले कि "हां, उनकी मेरी तो बड़ी सरस प्रीति है।"

इस पर ब्राह्मणी (उनकी स्त्री) ने कहा कि "एक बेर जाके अपने मित्रवर का मुखचन्द्र अवलोकन कर आइये; और यदि कुछ मिले तो लाइये कि वह मुझे बड़ा सुखदाई होगा।"

भक्तजी ने उत्तर दिया कि "तुमने बात तो भली कही, परन्तु मुझको

समस्त लोकों में कलंक होगा कि इस अर्थार्थी भिक्षुक ब्राह्मण ने केवल द्रव्य ही के लालच से प्रभु से मित्रता की है॥

दो० भजन बिगाड़ी कामिनी, सभा बिगाड़ी कूर।
भक्ति बिगाड़ी 'लालची', केसर मिलगइ धूर॥१॥

एवमादि, इनने बहुत "नहीं, नहीं" किया; परन्तु--

(६३) टीका। कवित्त। (७८०)

तिया सुनि कहै "कृष्णरूप क्यों न चहै? जाय, दहै दुख आपही सो", बचन सुनाए हैं। आई सुधि प्यारे की, विचारें, मति टारे अब, धारे पग, मग भूमि "द्वारावती" आए हैं॥ देखिकै विभूति, सुख उपज्यो अभूत कोऊ, चल्यो मुखमाधुरी के लोचन तिसाए हैं। डरपत हियो, ड्योढ़ी लांघि, मन गाढ़ो कियो, लियो कर गहि चाह तहां पहुँचाए हैं॥५४॥(५७५)

वार्त्तिक तिलक।

इनका उत्तर सुन, इनकी स्त्री ने कहा कि "जाके केवल अपने प्रिय मित्र के रूप अनूप का दर्शनमात्र क्यों नहीं करते? और ऐसा प्रमाण वचन भी सुनाया कि "भगवत् के दर्शन ही से दारिद्रयादि सब दुःख आपही आप भस्म हो जाते हैं॥"

श्रीसुदामाजी को प्राणप्यारे मित्र के रूप का ध्यान आगया; तब विचार करके लोभादिकों के उपहास की शङ्का को चित्त से हटाके, श्रीकृष्ण भगवान् के दर्शन को सानुराग चले; प्रेममद में छके झूम झूम पग धरते, मिलनसुख का मंजु मनोरथ करते हुए श्रीहरिकृपा से अति शीघ्र श्रीद्वारका-जी में आपहुँचे। परम प्रिय प्रभु का ऐश्वर्य्य विभूति देखके मन में कोई आश्चर्य सुख उत्पन्न हुआ, और आगे बढ़े॥

मित्र मुखचन्द्र सुधापान के हेतु नेत्र चकोर अतिशय प्यासे हैं; इससे आप अत्यन्त आतुर हो रहे हैं; हृदय में किसी के रोक देने का भय भी हो रहा है; परन्तु मन को दृढ़ करके, राजसदन पर आ विप्रजी ने डेवढ़ियों को उल्लंघन किया, मानो मिलनकी चाहरूपी प्रतिहारी ने इनका हाथ गहके (थांभ के) इनको श्रीकृष्ण महाराज के पास पहुँचा दिया॥

"जाकी सुरति लगी है जहां। कहै कबीर सो पहुँचै तहां॥"

(६४) टीका। कवित्त। (७७९)

देख्यो श्याम आयो मित्र, चित्रवत रहे नेकु; हितको चरित्र, दौरि रोइ गरे लागे हैं। मानो एकतन भयो, लयो ऐसे लाइ छाती, नयो यह प्रेम, छूटैं नाहिं अंग पागे हैं॥ आई दुबराई सुधि, मिलन छुटाई ताने; आने जल रानी, पग धोए भाग जागे हैं। सेज पधराइ, गुरु चरचा चलाइ, सुखसागरबुड़ाइ, आपु अति अनुरागे हैं॥ ५५॥ (५७४)

वार्तिक तिलक।

श्रीश्यामसुन्दरजी ने देखा कि मेरे मित्र आए, तब प्रेमानन्द की विचित्रता से कुछ काल तो अपनपौ भूलके चित्रवत जहां के तहां रह गए; फिर दौड़के अति विह्वल होके मित्र के चरित्र में पगे, नेत्रों में आंसू भर, सखा (सुदामाजी) को अपने कण्ठ में लपटा, और इस प्रकार से अपने हृदय में लगा लिया कि मानो श्याम-सुदामा एक ही मूर्त्ति हो गए; एवं इस लोकोत्तर प्रेम के वश होके परस्पर अंग ऐसे पग गए कि छुड़ाए से दोनों छूटते नहीं। फिर श्रीश्यामसुन्दरजी को यह सुधि आगई कि "मेरे मित्र अति दुर्ब्बल हैं, सो कहीं इनको क्लेश न हो"; तब आपने छोड़ दिया॥

हाथ में हाथ मिलाए हुए रंगमहल में लाए; श्रीरुक्मिणीजी जल और थार लाईं, आपने अपने करकमलों से उनके चरणकमल धोए; और कहा कि आज मेरे धन्य भाग्य हैं॥

सवैया।

"ऐसे बेहाल बेवाइन सों भए कंटक जाल गुँधे पग जोए।
हाय सखा! दुख पाए महा, तुम आए इतै न कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दशा करुणा करिकै करुणामय रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जलसों पग धोए॥"

(श्रीनरोत्तम कवि)

ले जाके निज दिव्य सेज पर विराजमान करके, कुशल पूछ, श्रीगुरुगृह में जो इकट्ठे पढ़ते थे सो उन दिनों के चरित्रों की चरचा चलाके,

आनन्द के सागर में इनको मग्न कर दिया; और आप भी इनके अनुराग में मग्न हो गए ॥

(६५) टीका । कवित्त । (७७८)

चिउड़ा छिपाए कांख, पूछे कहा ल्याए मोको ? अति सकुचाए, भूमि तकैं, दृग भीजे हैं। खैंचि लई गांठि, मूठि एक मुख मांझ दई दूसरी हूँ लेत स्वाद पाइ आपु रीझे हैं ॥ गह्यो कर रानी, "सुखसानी प्यारी बस्तु यह, पावो बांटि" मानों श्रीसुदामा प्रेम धीजे हैं। श्याम जू बिचारि दीनी सम्पति अपार, बिदा भए, पै न जानी सार बिछुरनि छीजे हैं ॥ ५६ ॥ (५७३)

वार्त्तिक तिलक ।

आपने पूछा कि "सखे ! मेरे लिये क्या लाए हो ?" यह सुन श्रीसुदामाजी संकोच के वश होके पृथ्वी की ओर देखने लगे और इनकी आंखों में आंसू भर आए ॥

श्रीश्यामसुन्दरजी ने देखा कि फटे कपड़े में एक छोटी सी गठरी बांधे हुए ये कांख में दबाए छुपाए हुए हैं; देखतेही उसको खींच के खोल देखा कि उसमें चिउड़े हैं। आप उसमें से एक मुट्ठी लेके शीघ्रता से श्रीमुख में डालके चबाने, पुनः दूसरी मुट्ठी भी भरके पाने लगे और मित्र की लाई वस्तु जानके उसमें अपूर्व स्वाद पा अत्यन्त रीझ के आपने तीसरी मुट्ठी भी भर ली; मानों उस चिउड़े को श्रीसुदामाजी के प्रेम का रूप ही मान के ग्रहण करते हैं। श्रीरुक्मिणीजी महारानी ने आपका करकंज पकड़के कहा कि "यह वस्तु प्रेमसुख से सनी हुई आप अकेले ही सब न पा लीजिये, किंतु हम सबों का भाग भी बांट दीजिये।" तब आपने मुट्ठी छोड़ दी और उसको श्रीमती रुक्मिणीजी को दे दिया ॥

सत्यसंकल्प श्रीकृष्ण भगवान् ने उस चिउड़े को ग्रहण करके विचार के, अपने मन ही से इनको अपार सम्पत्ति दे दी, प्रत्यक्ष में कुछ न दिया; परन्तु इनने इस भेद को न जाना ॥

श्रीसुदामाजी प्रिय मित्र का परम सत्कार पाते हुए (बहुत आग्रह

करने से) सात दिन रहकर, बिदा हुए। श्रीमित्रवर के वियोग से अतिशय दुःख पाते अपने गृह को लौट चले॥

चौपाई।

मिलत एक दारुण दुख देहीं। बिछुरत एक प्राण हरिलेहीं॥

(६६) टीका। कवित्त। (७७७)

आए निज ग्राम वह, अति अभिराम भयो, नयो पुर द्वारका सों, देखि मति गई है। तिया रंग भीनी संग सतनि सहेली लीनी, कीनी मनुहारि यों प्रतीति उर भई है॥ वहै हरि ध्यानरूप माधुरी को पान, तासों राखैं निज प्रान; जाके प्रीति रीति नई है। भोग की न चाह ऐसें तनु निरबाह करैं, ढरैं सोई चाल सुख जाल रसमयी है॥ ५७ ॥(५७२)

वार्त्तिक तिलक।

जब अपने गांव (सुदामापुर) में आ पहुँचे तो देखते क्या हैं कि वह ग्राम अतिशय रमणीय होगया है यहां तक कि सब नवीन रचना युक्त मानों साक्षात् द्वारका ही है। ऐसा देखते ही श्रीसुदामाजी की मति तो भ्रम में डूब गई॥

परन्तु इनकी धर्मपत्नीजी अपनी अटारी पर से इनको देखके परम अनुराग में भरी हुई आरती कलश चँवर आदिक सामग्रियों सहित प्रभु की दीहुई सैकड़ों सहचरियों के साथ-साथ, सामने आके, आरती कर, प्रभु की कृपा से इन सब विभवों की प्राप्ति परम प्रिय वचनों से समझाके विश्वास कराके अपने कंचन भवन में ले गईं॥

यद्यपि श्रीसुदामाजी ने सब प्रकार के विभव भोग पाए तथापि उसमें आसक्त न हुए। श्यामसुन्दर सखावरजी के उसी रूप अनूप का ध्यान और सुधामाधुरी का पान मन से करते, नवीन प्रीति रीति में पगे हुए, अपने प्राणों को रखते थे; इसी प्रकार से अपने शरीर का निर्वाह करते, विषय भोगों से विरक्त रहके भक्तिप्रेमानन्दमयी रसभरी चाल से जीवनावधि पर्य्यन्त चलते रहे॥

चौपाई।

अमित बोध अनीह, मितभोगी। सत्यसार, कवि, कोविद, योगी॥

दो० "गुणागार संसार दुख, रहित बिगत सन्देह।
तजि प्रभु चरणसरोज प्रिय, तिनके देह न गेह॥"

श्लो० "युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥"

वैराग्य की जय! अनुराग की जय!!

प्रिय पाठक! कहां श्रीसुदामाजी का विमल चरित्र, और कहां इस दीन की असमर्थ लेखनी॥

---

(२७) श्रीचन्द्रहासजी।

(६७) टीका। कवित्त। (७७६)

हुतो नृप एक, ताके सुत "चन्द्रहास" भयो; परी यों विपति, धाई ल्याई और पुरहै। राजा को दीवान, ताके रही घर आन, बाल आपने समान संग खेलै रसढुरहै॥ भयो ब्रह्मभोज, कोई ऐसोई संयोग बन्यो, आए वै कुमार, जहां विप्रन को सुरहै। बोलि उठे सबै "तेरी सुताको जुपति यहै, हुवो चाहै जानी;" सुनि गयो लाजघुरहै॥ ५८॥(५७१)

वार्त्तिक तिलक।

केरलदेश का एक मेधावी नाम राजा था, उसके पुत्र "चन्द्रहास" हुए। उनके पिता को दूसरे राजा ने युद्ध में मार डाला, तब माता भी सती होगई; इस विपत्ति से एक दासी उनको लेके, कुन्तलपुर के राजा के प्रधानमन्त्री "धृष्टबुद्धि" के घर में रहने, और निज पुत्र करके इनको पालने लगी। जब चन्द्रहासजी पांच वर्ष के हुए, वह धाई भी मर गई। क्या बात है! जय हरि॥

एकदिन इनके भाग्यवश दयासिन्धु श्रीनारदजी कृपाकर आके एकान्त में मिले, और एक श्रीशालग्रामजी की छोटीसी मूर्त्ति देके समझागए कि "इनको धोके पीलिया करो, और दिखाके खायाकरो;" फिर उस मूर्त्ति को मुख में ही रखने की युक्ति भी बताके श्रीभगवन्नाम का उपदेश कर गए। ये वैसा ही करते और समान वयसवाले बालकों के साथ २ भगवत सम्बन्धी (रसढुर) खेल खेला करते थे॥

एकदिन धृष्टबुद्धि के घर ब्राह्मणों का भोजन था। विधिसंयोगवश

लड़कों के साथ २ उन ब्राह्मणों के मुखिया पण्डित के सामने आके उनको श्रीचन्द्रहासजी ने प्रणाम किया। उसी समय धृष्टबुद्धि ने विप्रवर से पूछा था कि "मेरी इस कन्या को पति कैसा मिलेगा?" तब वे श्रीचन्द्रहासजी की ओर अंगुल्यानिर्देश करके कह उठे कि यही बालक तेरी इस कन्या का पति होगा। हम यह भावी निश्चय जानते हैं॥"

सुनते ही, वह प्रधान लज्जा ग्लानि में डूब गया॥

(६८) टीका। कवित्त। (७७५)

पस्यौ सोच भारी "कहा करौं?" यौं बिचारी; "अहो! सुता जो हमारी, ताको पति ऐसो चाहियै?। डारौं याहि मार, याकौ यहै है विचार;" तब बोलि नीचजन, कह्यौ "मारौ, हिय दाहियै"॥ लैकै गए दूर, देखि बाल छबिपूर, "हम योनि परै धूर, दुःख ऐसो अवगाहियै"। बोले अकुलाय, "तोहि मारैंगे; सहाय कौन?" "मांगौ यक बात 'जब कहौं तब बाहियै'"॥ ५६॥ (५७०)

वार्त्तिक तिलक।

उसके मन में बड़ाभारी सोच हुआ कि "अब क्या करना चाहिये?" तब धृष्टबुद्धि ने निज भ्रष्टबुद्धि से ऐसा विचार किया कि "इस बालक (चन्द्रहास) को मार डालना चाहिये। बड़े आश्चर्य्य की बात है! क्या मेरी बेटी को ऐसा दासीपुत्र दीन पति होना चाहिये?" ऐसा अविचार ठीक करके घातक नीचजनों को बुलवाके आज्ञा दी कि "इस बालक को देख मेरा हृदय जलाभुना जाता है, इसको लेजाव शीघ्र मारडालो॥"

वे घातक लोग इनको बाहर बन में ले गए; परन्तु मारने के काल में इनका अतिशय सुन्दरता देख श्रीप्रभुप्रेरित दया उनके हृदय में आ गई; वे अपने मन में कहने लगे कि "धिक! धिक!! हमारी जाति कर्म को है, इस पर छार पड़े कि ऐसे दुःख झेलने पड़ते हैं;" फिर, अकुलाके श्रीचन्द्रहासजी से बोले कि "अब हम तुम्हारा बध करेंगे, बताओ तुम्हारा सहायक रक्षक कोई है?"॥

इनने उत्तर दिया कि "मैं केवल एक ही बात चाहता हूँ कि जब मैं कहूँ तब मुझपर खड्ग का हाथ छोड़ना"॥

(६६) टीका। कवित्त। (७७४)

मानि लीन्हो बोल वे, कपोल मध्य गोल एक "गंडकी को सुत" काढ़ि सेवा नीकी कीनी है। भयो तदाकार, यों निहार सुख भार भरि, नैननि की कोर ही सों आज्ञा बध दीनी है॥ गिरे मुरझाइ, दया आइ, कछु भाय भरे, ढरे प्रभु ओर, मति आनँद सों भीनी है। हुती छठी आंगुरी, सो काटि लई, दूषन हो, भूषन ही भयो, जाइ कही सांचु चीनी (चीन्ही) है॥ ६०॥ (५६६)

वार्त्तिक तिलक।

दुष्टों ने इनकी वार्त्ता मान ली। तदनन्तर श्रीचन्द्रहासजी अपने गाल में से श्रीनारदजी की दी हुई श्रीशालग्रामजी की मूर्ति को निकालके तड़ाग के जल एवं वन के पुष्पों से उनकी सप्रेम पूजन भले प्रकार से कर, अपने करकमल पर विराजमान करके, एकाग्रचित्त हो देखने लगे; तब प्रभु ने उसी मूर्ति में ऐसा सच्चिदानन्द सूक्ष्म रूप का दर्शन दिया कि जिसके भारी प्रेमानन्द में ये मग्न होके देहाभिमान भूलके तन्मय हो गए। जय, जय॥

उसी क्षण अपनी आंखों की कोर से अपने बध की आज्ञा दे दी। ज्योंही बधिकों ने मार डालने का विचार किया त्योंही प्रभुप्रेरित ऐसी दया बधिकों के हृदय में आई कि मूर्च्छित होके वे सब भूमि पर गिर पड़े। फिर सावधान होके उठे तो उनके मन में भगवत की भक्ति का भाव भी कुछ आगया। अपने पापों से ग्लानि कर, प्रभु के सम्मुख हो; प्रेमानन्द को प्राप्त हुए। प्रभु की जय॥

श्रीचन्द्रहासजी के एक पग में छः अँगुलियाँ थीं कि जिसका होना सामुद्रिक में दूषण बताया है। उसी छठी अँगुली को काट, उन्होंने इनको छोड़दिया मानों वह अधिक अँगुलीरूप दूषण (अपलक्षण) निकल गया और अब आप भवभूषणरूप सुलक्षण रह गए॥

जाके, दुष्ट धृष्टबुद्धि को वही अँगुली सहदानी (चिन्हासी) दिखा, कहदिया कि "हमने उसको मार डाला।" उसने अँगुली पहिचानी, और वह बात सच मानी।

"कौन की त्रास करै? तुलसी, जोपै राखिहै राम, तो मारिहै को रे?"

चौपाई।

"गरल सुधा, रिपु करै मिताई। गोपद सिन्धु, अनल शितलाई॥
गरुअसुमेरु रेणुसम ताही। राम कृपाकरि चितवहिं जाही॥"

(७०) टीका। कवित्त। (७७३)

वहै देश भूमि मैं रहत लघु भूप और, और सुख सब, एक सुत चाह भारी है। निकस्यौ विपिन, आनि, देखि याहि, मोद मानि, कीन्ही खग छांह, घिरी मृगी पांति सारी है॥ दौरिकै, निशंक लियो, पाइ निधि रंक जियो, कियो मनभायो, सो बधायो, श्री हु वारी है। कोऊ दिन बीते, नृप भए चित चीते, दियो राजको तिलक, भाव भक्ति विसतारी है॥ ६१॥ (५६८)

वार्त्तिक तिलक।

उसी कुन्तलपुर के राजा के राज्य ही में एक छोटा सा राजा रहता था; वह स्त्री धनादि सब प्रकार के सुखों से तो सुखी था, परन्तु उसके पुत्र न था, सो उसके पुत्र की अतिशय अभिलाषा थी। भावीवश वह राजा उसी बन के मार्ग से जा निकला; देखता क्या है कि श्रीचन्द्रहासजी बैठे हुए हैं, और श्रीसर्वान्तर्यामी प्रभु का प्रिय जानके, इनके सुन्दर रूप को देखती हुई, हरिनियों के समूह इनको घेरे हैं, और एक बड़ा पक्षी सीस पर छाया किये हुए है कि जिसकी छाया माथे पर होना महाराज्य प्राप्ति का सूचक है "उसे कृपा करते नहीं लगती बार॥"

यह देख, अत्यन्त आनन्दयुक्त हो, इस प्रकार से दौड़के राजा ने अपने गोद में ले लिया कि जैसे दरिद्री महाधन को पाके प्राणसमान ग्रहण करता है; घर में लाके, जैसा निजपुत्र होने से मनमाना मंगल लोग करते हैं वैसा ही आनन्दबधावा नाच गान करकश के बहुतसा द्रव्य लुटाया, और लालन पालन करने लगा॥

कुछ दिन बीतने पर श्रीचन्द्रहासजी की योग्यता देख अपने चित्त में विचार करके उस राजा ने इनको राज्यतिलक कर दिया॥

दो० "मसकहि करहि विरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन।
अस विचारि तजि संशय, रामहिं भजहिं प्रवीन॥"

राजा होके श्रीचन्द्रहासजी ने अपने राज्य में भगवद्भक्ति और प्रेमभाव का बड़ा ही प्रचार किया ॥

(७१) टीका। कवित्त। (७७२)

रहै जाकेदेश सो नरेश कछु पावै नाहीं बांह बल जोरि दियो सचिव पठाइकै। आयो घर जानि, कियो अति सनमान, सो पिछान लियो वहै बाल मारो छल छाइ कै॥ दई लिखि चिट्ठी, जाओ मेरे सुत हाथ दीजे, कीजे वही बात जाको आयो लै लिखाइकै। गए पुर पास बाग सेवामति पागकरि, भरी दृग नींद नेकु सोयो सुख पाइकै ॥ ६२॥ (५६७)

वार्त्तिक तिलक।

चन्दनावती का राजा कलिन्द जिस महाराज (कुन्तलपुरवाले) के राज्य में था, उस महाराज को अब श्रीचन्द्रहासजी के यहां से कर नहीं पहुँचने लगा, क्योंकि साधुसेवा ही में इनका पैसा लग जाता था, कौड़ी बचती न थी। इसी से उसने कुछ सेना समेत अपने मन्त्री धृष्टबुद्धि को कर लेने के लिये चन्दनावती में भेजा। राजा कलिन्द तथा श्रीचन्द्रहासजी ने (अपने घर में आया हुआ जान करके) उसका बड़ा आदर सत्कार किया ॥

धृष्टबुद्धि ने पहिचान लिया कि यह तो वही लड़का है जिसके बध का प्रबन्ध किया था; वह क्रोध से जलभुनकर सोचने लगा कि अब "छल से इसका बध करो।" कुछ बातें बनाकर चन्द्रहासजी को एक पत्र दे धृष्टबुद्धि ने अपने घर भेजा कि यह पाती मेरे पुत्र मदन के हाथ में दीजिये और कहिये कि जो कुछ इसमें लिखा है सो कृपा करके शीघ्र करवा दीजिये ॥

पत्र ले,उस ग्राम में पहुँच, एक सुन्दर बाटिका में, जो उसी मन्त्री धृष्टबुद्धि की थी, ठहरके इनने श्रीशालग्रामजी की सेवा बड़े प्रेम से की; और प्रसाद पाके श्रीराम भरोसे निर्द्वन्द्व विश्राम किया। हरि इच्छा से उनको नींद आ गई, सुख से सो गए ॥

(७२) टीका। कवित्त। (७७१)

खेलति सहेलिनिमों, आइ वाहि बाग मांझ करि अनुराग, भई न्यारी,

देखि रीझी है। पाग मधि पाती छबिमाती झुकि खैंचि लई, बांची खोलि, लिख्यो बिष दैन पिता खीझी है॥ "विषया" सुनाम अभिराम, दृगअंजन सों विषया बनाइ, मनभाइ, रसभीजी है। आइ मिली आलिन में लालन को ध्यान हिये, पिये मद मानो, गृह आइ तब धीजी है॥ ६३॥ (५६६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरि इच्छा से उसी मन्त्री की लड़की "विषया" नामा अपनी उस बाटिका में अपनी सखियों सहित आई; अचानक उसकी दृष्टि चन्द्रहासजी पर पड़ी, और साथ ही अति अनुरक्त और आसक्त हो गई। दूसरी ओर जा, वहां से अपनी सहचरियों से अलग हो, वह चक्कर लगाके फिर वहीं पहुँची जहां श्रीचन्द्रहासजी सोए थे; "जिनसे अटकत हैं ये नैना। खटकत है उर सो दिन रैना॥" इनको देखही रही थी कि इतने में एक पत्रिका दिखाई दी जिसको उस सुन्दरी ने निकालके पढ़ा; उस पत्र को अपने भाई मदन के नाम अपने पिता धृष्टबुद्धि का लिखा पाया; और उसका आशय यह था कि "इस पत्रिका ले जानेवाले को शीघ्र ही बिष दे देना, विलम्ब करने से मैं तुम पर क्रोध करूँगा॥"

यह पढ़ उस बालिका को अपने पिता पर क्रोध, तथा प्रीतिवश इस प्रिय मूर्त्ति पर दया आई; श्रीहरिकृपा से उसी क्षण उसको ऐसी सूझी कि उसने बड़ी ही फुरती के साथ अपनी आँख के काजल से बिष शब्द के अन्त में 'या' अक्षर बना दिया, जिससे "बिष" अब "बिषया" होगया। श्रीभगवत कृपा का मनन करती हुई, प्रेमरस में पगी, वहां से चटपट चली और अपनी सहचरियों में आ मिली॥

जैसे मद से माती हो इस भांति वह प्रेमासक्त हो अपने मनोरथ की सफलता के लिये घर आई। और संतुष्ट हो प्यारे के ध्यान में मग्न, परमात्मा से प्रार्थना करने लगी॥ "जगदम्बे! मोर मनोरथ जानसि नीके"

(७१) टीका। कवित्त। (७७०)

उठ्यो चन्द्रहास; जिहि पास लिख्यो लायो, जायो देखि मन भायो गाढ़े गरे सों लगायो है। दई कर पाती, बात लिखी मों सुहाती; बोलि

बिप्र, घरी एक मांझ ब्याह उभरायी है । करी ऐसी रीति, डारे बड़े नृप जीति, श्री देत गई बीति, चाव पार पै न पायो है । आयो पिता नीच; सुनि घूमि आई मीच मानो; बानौ लखि दूलह को, शूल सरसायो है ॥ ६४ ॥ (५६५)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीचन्द्रहास जी उठे और ठिकाने पर पहुँचके चिट्ठी दी; मदनसेन बहुत ही प्रसन्न हुआ उसने इनको अपने गले से लगा लिया और अपना हर्ष प्रकट किया; बड़ी त्वरा से, ब्राह्मणों को बुला, लग्न सोधके भगवत कृपा से एकही घड़ी के भीतर अपनी बहिन विषया का विवाह चन्द्रहास से करदिया । सारी रात आनन्द और दान पुण्य में व्यतीत हुई; ऐसा उत्सव किया कि अपने से बड़े २ राजासे भी बढ़के, और तबभी महोत्सव से अघाता न था । प्रिय पाठक ! देखिये—

"विष देते विषया भयो; राम गरीबनिवाज ॥"

उसका बाप, नीच धृष्टबुद्धि, आने पर यहां यह रंग, और चन्द्रहास-जी को दूलह वेष में देख, अतिशय शूल पा, अत्यन्त मूर्च्छित हो गया ॥

"पर दुख लागि असन्त अभागी ! ॥"

(७४) टीका । कवित्त । (७६६)

बठ्यो लै इकान्त, "सुत ! करी कहा भ्रान्त यह ?" कह्यो सो नितान्त, कर पाती लै दिखाई है । बांचि आंच लागी; मैं तो बड़ोई अभागी ! ऐ पै मारो मति पागी बेटी रांड़ ह्वै सुहाई है ॥ बोलि नीच जाती, बात कही "तुम जावो मठ, आवै तहां कोऊ, मारि डारौ मोहि भाई है ।" चन्द्रहास जू सों भाष्यो "देवी पूजि आवो आप मेरी कुलपूज, सदा रीति चलि आई है" ॥ ६५ ॥ (५६४)

वार्त्तिक तिलक ।

परहितघृतमाखी दुर्मति क्रोधी धृष्टबुद्धि ने अपने पुत्र से एकान्त में पूछा कि "रे ! तूने यह क्या गड़बड़ किया ?" मदनसेन ने पाती दिखा दी । पढ़के कुबुद्धि के तन में आगसी लग गई; यहां तक कि बेटी का विधवा रहना तक, वह अभागा अच्छा समझा ॥

वध करनेवालों को बुलाया और चुपचाप आज्ञा दी कि "कल भोरे जिसको देवी मन्दिर में पाना, विना विचार किये ही उसका वध कर देना"; और इधर निरपराधी चन्द्रहासजी से कहा कि "देवी मेरी कुलपूज्य है, तुम प्रात ही उठके जाके उसकी पूजा कर आओ, विवाह के अनन्तर उसकी पूजा हमारे कुल की रीति चली आती है॥"

सठने अपनासा उपाय, गढ़ा रचा तो परन्तु उसने यह न जाना कि—

दो० "जो भावी सो होइ है, झूठी मन की दौर।
मेरे मन कछु और है, करता के कछु और॥१॥
पर अनहित कौ सोचिबो, परम अमंगल मूल।
कांट जो बोवे और को, ताही को तिरसूल॥२॥"

(७५) टीका। कवित्त। (७६८)

चलाई करन पूजा; देशपति राजा कही "मेरे सुत नाहीं, राज वाही को लै दीजिये।" सचिव सुवन सों जु कह्यो "तुम लावो जावो, पावो नहीं फेरि समय, अब काम कीजिये॥" दौर्‌यो सुख पाइ चाइ, मग ही में लियो जाइ, दियो सो पठाइ, नृप रंग माहिं भीजिये। देवी अपमान ते न डरो, सनमान करौं; जात मारि डार्‌यो, यासों भाष्यो भूप "लीजिये" ॥ ६६ ॥ (५६३)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभात होते स्नान और श्रीशालग्रामजी की पूजा से अवकाश पा श्रीचन्द्रहासजी, श्रीदेवीजी महारानी को पूजने चले। उसी समय श्रीसीताराम कृपा से देशाधिपति (कुन्तलपुर के महाराज) के मन में आया कि "मेरे पुत्र है ही नहीं, तो अब यही उत्तम है कि सुयोग्य चन्द्रहास को ही मैं राज्यतिलक कर दूँ; हरि भजूँ।"

ऐसा विचार कर मन्त्री के पुत्र मदन को बुलाकर हरिकृपा से यों कहा कि "मेरे मन में यह बात आई है, सो तुम अभी अभी दौड़े जाव; अपने बहनोई चन्द्रहास को लाओ; इसी समय काम कर लो; नहीं तो विलम्ब करने से फिर न होगा; हरिइच्छा ऐसी ही है; पीछे पछताओगे॥" ("मन! पछतै है अवसर बीते")

मदनसेन प्रहर्ष में भरा बड़े चाव से दौड़ा, पंथ ही में दोनों (साला बहनोई) मिले। चन्द्रहास को महाराज के पास भेजा कि ऐसी ऐसी वार्ता है, इस घड़ी महाराज बैराग और अनुराग में पगे हैं, इस संकल्प में दृढ़ हैं, सीधे उनके पास पहुँचो, राज्य को प्राप्त हो; श्रीदेवी महारानीजी के अपमान का भय मत करो; मानसी प्रार्थना कर लो; मैं मठ में जा उनका पूरा सनमान पूजन करता हूँ॥"

उधर जाते ही मदनसेन को घातकों ने मारडाला; और इधर चन्द्रहास से महाराज ने कहा कि "यह लीजिये;" और राज्याभिषेक कर ही दिया। आप भगवद्भजन में लगा॥❀

चौपाई।

"उमा! कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना"

(७६) टीका। कवित्त। (७६७)

काहू आनि कही "सुत तेरो मारो नीचनिने," सींचन शरीर दृग नीर झरी लागी है। चल्यो ततकाल, देखि गिस्यो ह्वै बिहाल, सीस पाथर सों फोरि मस्यो ऐसो ही अभागी है॥ सुनि चन्द्रहास, चलि वेगि मठपास आये, ध्याये पग देवता के, काटे अंग, रागी है। कह्यो "तेरो द्वेषी, याहि क्रोध करि मास्यों मैं हीं," "उठैं दोऊ दीजै दान" जिये बड़भागी है॥ ६७॥ (५६२)

वार्त्तिक तिलक।

कुबुद्धि से आकर किसी ने कहा कि "तेरे बेटे को घातकों ने बध करडाला?" यह सुन, डाढ़ें मार मारकर, वह रोने पीटने लगा। दौड़ता हुआ मन्दिर में जा वैसा ही देखा। वह अभागा भी पत्थर पर सीस पटक-कर कालवश हो गया! "कर्म प्रधान विश्वकरि राखा॥"

श्रीचन्द्रहासजी सब वृत्तान्त सुनकर शीघ्र ही देवी भवन में आ स्तुति करने लगे; वरंच अपना शीश बलिदेने पर उद्यत हुए। श्रीदेवी महा-रानी जी प्रगट हो, इनका हाथ पकड़, यह बोलीं कि "धष्टबुद्धि तेरा द्वेषी है इसलिये वत्स! मैं ही ने उसको पुत्र समेत मार डाला है॥"

❀ (मनुस्मृति) "प्रवृत्त कर्म संसेव्यं देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूता-न्यत्येति पञ्च वै (१२—९०)"

श्रीचन्द्रहासजी ने उनको प्राणदान सुमतिदान के लिये देवीजी से विनय किया और पुनः स्तुति की॥

"जय महेश भामिनी! अनेक रूप नामिनी, समस्तलोक स्वामिनी, हिमशैल बालिका। सिय पिय पद पद्म प्रेम, तुलसी चह अचलनेम, देहु ह्वै प्रसन्न, पाहि प्रणत पालिका॥"

श्रीदेवीमहारानीजी ने साधुता देख, हरिभक्त जान इनकी प्रार्थना स्वीकार की और प्रसन्न हो दोनों को जिलाके उन्हें सुमति भी दी कृपा की जय जय॥

"सन्त सहहिं दुख परहित लागी॥" ❀

(७७) टीका। कवित्त। (७६६)

कर्‌यो ऐसो राज, सब देश भक्तराज कर्‌यो, ढिग को समाज ताकी बात कहा भाखिये। "हरि हरि" नाम अभिराम धाम धाम सुन, और काम कामना न, सेवा अभिलाखिये॥ काम, क्रोध, लोभ, मद आदि लैके दूरि किए, जिये नृप पाइ, ऐसो नैननि में राखिये। कही जिती बात आदि अन्तलों सुहाति हिये, पढ़ै उठि प्रात फल "जैमिनि" में साखिये॥ ६८॥ (५६१)

वार्त्तिक तिलक।

कहते हैं कि श्रीचन्द्रहासजी ने तीन सौ वर्ष राज्य किया और राज्य भी इस प्रकार से कि देश में हरिभक्ति फैला दी, अपने समीपियों की तो वार्त्ता ही क्या है, घर घर "श्रीसीताराम सीताराम" प्रीति से और मधुर स्वर से सुन लीजिये; किसी को किसी काम की कामना न थी; सब भगवत् सेवा भजन में रत रहते थे; इसके कहने की आवश्यकता ही क्या कि ऐसा राजा पाकर सब प्रजा चैन से जीवन बिताती थी; और कहती थी कि ऐसे नृपति को आंखों में रखना चाहिये॥

चौपाई।

"असिसख तुम बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथरत ओऊ॥
हेतु रहित जग युग उपकारी। हरिसेवक, अरु श्रीअसुरारी॥

❀ वाञ्छितकल्पतरुभ्यश्च, कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यश्च, वैष्णवेभ्यो नमोनमः॥

श्रस सुराज बसि दूनौ लाहू। लोक लाभ परलोक निबाहू ॥ ”

श्रीचन्द्रहास कथा सुनने का तथा श्रीचन्द्रहासजी के प्रात समय नाम लेने के माहात्म्य को "जैमिनी" जी ने वर्णन किया ही है ॥

(२८) श्रीमैत्रेयऋषिजी।

(६८) टीका। कवित्त। (७६५)

"कौषारव" नाम सो बखान कियो नाभाजूने मैत्रे अभिरामऋषि जानि लीजै बात में। आज्ञा प्रभुदई जाहु 'विदुर' है भक्त मेरौ, करौ उपदेश-रूप गुण गात गात में ॥ 'चित्रकेतु' प्रेमकेतु 'भागवत' ख्यात, जाते पलट्यो जनम प्रतिकूल, फल घात में। 'अक्रूर' आदि 'ध्रुव' भए सब भक्त भूप 'उद्धव' से प्यारेन की ख्याति पात पात में ॥ ६६ ॥ (५६०)

वार्तिक तिलक।

आपकी माताजी का नाम श्रीमित्राजी और पिताजी का नाम श्री-कुषारुजी था; इसी से, आप "श्रीमैत्रेय" ऋषि, तथाश्री "कौषारव" भी कहे जाते हैं; कि जो नाम श्रीनभोभूज (श्रीनाभाजी) स्वामी ने वर्णन किया है। आप श्रीपराशर मुनि के शिष्य हैं ॥

जिसघड़ी श्रीकृष्णभगवान् विदुरजी के लिये, अपने सखा श्रीउद्धवजी को, ज्ञान और भक्ति का उपदेश कर रहे थे, उस समय वहीं श्रीमैत्रेय ऋषिजी भी थे तथा उन्होंने भी उपदेश लाभ किया था; और प्रभु ने इन से आज्ञा की थी कि "मैत्रेयजी! आप मेरे परम प्रिय भक्त विदुरजी को यह उपदेश इस प्रकार सुना दीजियेगा कि जिसमें मेरा नाम मेरे गुण और मेरा रूप उनके रोम रोम में, नाड़ी नाड़ी में, प्रविष्ट व्याप्त और विराजमान हो जावे ॥"

जब श्रीकृष्णभगवान् गोलोक को गए, और श्री "उद्धवजी" प्रभु के विरह में बदरिकाश्रम को चले जा रहे थे, तो श्रीविदुरजी से श्रीउद्धव-जी मिले, परन्तु श्रीविरह में अत्यन्त विकल हो रहे थे इससे कुछ उपदेश न करके श्रीउद्धवजी ने श्रीविदुरजी से इतना ही मात्र कह दिया कि प्रभु ने श्रीमैत्रेयजी के सामने मुझसे आपके लिये बहुत कुछ उपदेश किया है, सो मैं तो बिरहाकुल हूँ, आप उनसे सत्संग

करके उसको प्राप्त कर लीजियेगा। श्रीविदुरजी ने ऐसा ही किया; यह प्रसंग (श्रीमैत्रेयविदुरसंवाद) श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध में विस्तारपूर्वक है॥

धन्य वे कि जिनने स्वयं भगवत ही से उपदेश पाया॥

प्रेम के भवन वा प्रेम के ध्वजा "श्रीचित्रकेतु" जी की कथा श्रीमद्-भागवत में ख्यात है कि कई शरीर पलटके प्रतिकूल जन्म अर्थात् असुर ("वृत्रासुर") होके, श्रीइन्द्रजी के त्रिशूल को फूल सरीखा समझ, घात से प्रसन्न हो, अपनी भक्ति और ज्ञान के चमत्कार से सबको प्रफुल्लित कर दिया॥

"श्रीअक्रूरजी", श्रीभक्तराज "ध्रुव" जी, तथा अतिशय प्रिय श्री "उद्धव" जी, इत्यादिक (समुदाय) की कथाएँ श्रीमद्भागवत के पत्र पत्र में प्रख्यात और प्रसिद्ध हैं ही॥ ६६॥

श्रीअक्रूरजी।

श्री ग्रन्थकर्त्ता, श्रीअक्रूरजी का वर्णन, आगे चलके करेंगे, अर्थात् 'नवधाभक्ति' के भक्तों के प्रसंग में॥

(२६) श्रीचित्रकेतुजी।

राजा "चित्रकेतु" के लाखों स्त्रियाँ थीं। "कृतदूती" नामा एक स्त्री के (श्रीनारदजी के एवं श्रीअंगिराजी के यज्ञ कराने से) एक पुत्र हुआ था, जिसको और सब रानियों ने मिलकर विष दे दिया; वह मर गया॥

स्नेहवश राजा उसका दाहकर्म नहीं करता था; यद्यपि श्रीनारदजी ने उपदेश किया समझाया, तथापि उसका मोह नहीं गया, बोध नहीं हुआ। तब श्रीनारदजी के प्रभाव से वह पुत्र जीवित होके स्वयं कहने लगा कि "हे राजा! सैकड़ों बार मैं तुम्हारा और तुम मेरे पुत्र हो चुके हो; मोह कहाँ तक और कैसा?॥"

"अस्तु, पूर्वजन्म में मैं साधु था और श्रीशालग्रामजी की पूजा करता था। एक दिन इस माई ने, जो अब मेरी माता कृतदूती है, मुझे भोजन कराना चाहा तो अमनिया सीधा के साथ रसोई करने के लिये

जो जलावन दी, उसमें लाखों चींटियां भरी थीं!!! मैंने प्रभु को भोग लगाकर प्रसाद पा लिया॥

"उन चींटियों के कारण एक एक बेर प्रत्येक के हाथों से मुझे मरने के लिये (ओह!) लाखों जन्म लेने पड़ते (हरे! हरे!!) परन्तु अपने लिये तो रसोई नहीं की थी वरंच प्रभु के निमित्त करके, और प्रभु ही को भोग लगाया था, इसी से श्रीसीताराम कृपा से, इस एक ही जन्म में वह बात सधगई, अर्थात् वे ही लाखों चींटियां सबकी सब रानियां हुई, वही माई मेरी यह माता हुई, मैं पुत्र हुआ, जिन हम दोनों से उन्होंने अपना पलटा इस प्रकार से ले लिया॥"

"प्रभु राखेउ श्रुति नीति अरु, मैं नहिं पाव कलेश॥"

इतना कह, लड़के ने पुनः उस शरीर को छोड़ दिया। उसका दाहक्रिया कर श्रीचित्रकेतुजी मोहरहित हो गए। "यह सब माया कर परिवारा॥"

श्रीनारदजी ने चित्रकेतुजी को संकर्षण भगवान् का मन्त्र उपदेश किया; जिससे सातही दिन में श्रीनारदकृपासे चित्रकेतु श्रीसंकर्षण भगवान् के समीप जापहुँचे। स्तुति कर, श्रीवासुदेव मन्त्र पा, उसके जप से अव्याहत (अप्रतिहत) गति पाई अर्थात् जहां चाहें जावें, रोके न जावें॥

एक दिन विमान पर चढ़ श्रीशिवजी के पास पहुँचे वहां सभा में देखा किसमर्थमहाप्रभुश्रीशिवजी अपनीप्राणप्रिया श्रीपार्वती जगत् माता को अपने जंघा पर बिठाये हैं। यह देख मूर्खतावश ("छोटा मुँह बड़ी बात") वह देव देव महादेव को उपदेश करने लगा॥

श्रीगिरिजाजी ने शाप दिया; शापवश "वृत्रासुर" होने पर भी उसको ज्ञान बना रहा। दधीचि राजा की हड्डी के वज्र द्वारा इन्द्र के हाथों से मारा गया। संग्राम में जो विलक्षण वार्त्ता उसने सुरेन्द्रजी से कही है, सो श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में पढ़ने सुनने ही योग्य है। शरीर त्याग करके उसने परांगति पाई॥

---

(३०) श्रीउद्धवजी।

महात्मा श्रीउद्धवजी को श्रीकृष्ण भगवान् अपना अतिसमीपी नातावाले सुहृद जानते थे। आप परम ज्ञानी महाभागवत थे और श्री-

यदुवंशमणि महाराज की सेवा प्रेमपूर्वक अतिशय उत्तम प्रकार से किया करते थे॥

जब श्रीव्रजराजजी की आज्ञा से आप श्रीगोपियों के पास व्रज पहुँचे, तो उनकी अद्भुत प्रीति देखी—

(पूर्वी) सुधि न लीन्हि पिय बिरहिनि हियकी। सखि! मोहिं कत दिन तरसत बीते, सुधि न लीन्हि पिय बिरहिनि हिय की॥ आह धुआं मुख, हिय बिरहागी, ठाढ़ि जरौं जैसी बाती दिय की। अधिक दाह चित चातक कोकिल, बिरह अनल जिमि आहुति घिय की॥ सब उर व्यापक, अन्तरयामी, जानत हैं पिय रुचि तिय जिय की। सांचहु स्वपनेहु कब लगि देखिहौं मधुर मनोहर छबि सियपिय की॥ क्षमानिधान विलोकिहैं निज दिशि, करिहहिं खोज न मोरे किय की। कृपानिधान दया सुखसागर, मनिहैं सखि! बिनती लघु तिय की॥ रूपकला बिनवति हनुमत ही, चन्द्रकला अरु गिरिवर धिय की। एको उपाय न सूझत आली! मोहिं आशा केवल श्रीसियकी॥ १॥

(रूपकला)

"अब तो सुरतिया दिखा दे पियरवा, धीर धरो नहिं जात रामा। तलफत बीति गई ऋतु सारी, शीत गरम बरसात रामा॥ हाय तिहारो सँदेसवो न पायों, रहि रहि जिय अकुलात रामा॥ अब तो०॥ नीको न लागत भोजन भूषण, तात मात अरु भ्रात रामा। संग की सहेली अली अवली सब, जहँ लों कुटुम अरु नात रामा॥ अब तो०॥ घर ना सुहात घने बन बाहर, भीतर दिन अरु रात रामा। सांझ सुहात न धूप छांह कछु, अरु न सुहात प्रभात रामा॥ अब तो०॥ जानत हौं नहिं ज्ञान ध्यान जप, जोग जुगुत की बात रामा। श्रवण मनन निदिध्यासन आसन, कीर्त्तन सुमिरन प्रात रामा॥ अब तो०॥ सहि नहिं जात व्यथा बिछुरन की, नाहिं कछुक कहि जात रामा। काह करौं जिय निकसत नाहीं, नातो बनत बिष खात रामा॥ अब तो सु०॥ हारा जनत करि राह न सूझत, कित जाऊँ नहिं ज्ञात रामा। दीनदयाल दया दरसाओ,

"जीत" जगत विख्यात रामा ॥ अब तो सुरतिया दिखा दे पियरवा, धीर धरो नहिं जात रामा ॥" (सर्वजीतलाल)

प्रिय पाठक! सूरसागर, कृष्णगीतावली, ललितगीत, गीतगोविन्द इत्यादिक देखने ही योग्य हैं॥

निदान श्रीसखावर उद्धवजी महाराज उनके चरणरज में लोटनेलगे और अपने को धन्य और कृतकृत्य, तथा अपना सब सुकृत सफल समझा। धन्य धन्य श्रीउद्धवजी, जिनने श्रीव्रजसुन्दरियों की महिमा अपने हृदय में बसाई॥

"तव महिमा जेहि उर बसै, तासु परम बड़ भाग॥"

आप जब ब्रज से लौटके ब्रजवल्लभ महाराज के पास आए, तो प्रभु से श्रीव्रजसुन्दरियों की ऐसी स्तुति की कि जिसके लिये श्रीउद्धवजी की प्रशंसा जहां तक की जावे सब थोड़ी ही है॥

आप मथुरा से श्रीगोपिकाप्राणवल्लभजी के साथ साथ श्रीद्वारकाजी को गए। वहां से देशकालानुसार उपदेश तथा ज्ञान और भक्ति प्रभु से प्राप्त करके, आज्ञा पाके, प्रभु के वियोगाग्नि से बदरिकाश्रम को गए॥

(३१) श्रीध्रुवजी।

जैसे करुणाकर प्रभु श्रीप्रह्लादजी का कष्ट न सहके उनके रक्षार्थ आप प्रगट हो ही गये, वैसे ही आपने "श्रीध्रुववरदेन" अवतार भी धारण किया॥ श्रीध्रुवजी की कथा प्रसिद्ध ही है॥

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नामू। पायउ अचल अनूपम ठामू॥

राजा उत्तानपाद की रानी सुनीति के गर्भ से आपका जन्म हुआ; और श्रीसुनीतिजी की सपत्नी सुरुचि के गर्भ से जो पुत्र था, उसका नाम "उत्तम" था। एक समय, राजा उत्तम को गोद में लिये हुए थे, श्रीध्रुवजी ने भी (जो चार वर्ष के थे) राजा के गोद में बैठना चाहा; परन्तु उनकी वह सौतेली माता बोल उठी कि "भगवत का तप करके तू पहिले मेरे उदर से जन्म तो ले, तब तुझको राजा के अंक में बैठने की योग्यता और अधिकार होवे" यह सुन आप रोते हुए निज माता के पास गए, और उनकी आज्ञा पाकर तप करने को निकले॥

मार्ग में दयासिन्धु देवर्षि श्रीनारदजी मिले। "लागिदया कोमल चित सन्ता" श्रीदेवर्षिजी ने अतिशय कृपासे "द्वादशाक्षर मन्त्र" का उपदेश किया; श्रीध्रुवजी मथुराजी में श्रीयमुनाजी के तट पर आकर–"द्वादश अक्षरमंत्रवर जपेउ सहित अनुराग।"

हरि ने साक्षात् प्रगट होकर भक्तिवर दिया और कृपा करके, अपना शंख श्रीध्रुवजी के कपोल में स्पर्श कर दिया जिससे उसी ही अवस्था में आपने भगवत की स्तुति की–

"जै अशरन शरन, राम ! दशरथकिशोर। जनकनंदिनी मुख बिधूवर चकोर॥ अवधनाथ, श्रीनाथ, मम प्राणनाथ। लखन मारुती नाथ, शर चाप हाथ॥ प्रभो ! जानकीप्राणवल्लभ हरी। कृपासिंधु, भगवंत, रावण अरी॥ मुनिजन अगम कृत सखाभालुकीश। निजच्छाबिहारी, रमा-स्वमिनीश॥ विबुध वृन्द सुखदाइ, दूषण दमन। महीदेव गोदेव महिदुख-शमन॥ अलख, सच्चिदानन्द, छबि मूर्तिमान। पतितपावन अव्यक्त, करुणा-निधान॥ न गुन में, न निर्गुण, न तू रत्न में। न है ज्ञान में तू, न है यत्न में॥ पै सब रंग में, और परतीत में। चमकता है तू प्रेम में प्रीत में॥ तुझी में मही, स्वर्ग, सातो पताल। नहीं शून्य तुझसे कोई देशकाल॥ तुही सबमें है, औ तुझी में हैं सब। तुही एकही था, न था कुछ भी जब॥ सकल ही पदारथ भरे हैं यहीं। पै तुझ बिन तो कुछ भी है अपना नहीं॥ भटकते बहुत दूर ढूँढ़ें अजान। तुम्हें आपमें ही हैं पाते सुजान॥ मैं दिन रात देखूँ हूँ लीला तेरी। है चक्कर में, हे प्यारे ! बुद्धी मेरी॥ अगम औ अकथनीय महिमा तेरी। है अतिक्षुद्र बुधि, मन्दतर मति मेरी॥ न देखी किसू ने "गिरा" थाह लेति। कहा "शेष" औ "वेदों" ने "नेति नेति"॥ बड़े से बड़े भी सके कर न जो। प्रभु स्तुति तेरी मुझसे किस भांति हो॥ तेरे पद्म पद छूट नहीं और ठौर। न तव प्रेम तजि, जग में कुछ सार और॥ मैं कलिमलग्रसित, अतिबिकल पाहि पाहि। तेरी माया गाढ़ी प्रबल, त्राहि त्राहि॥ अधिक इससे क्या कह सके 'रामहित'। अमित है, अमित है, अमित है, अमित॥ कृपा करके दो प्रेम अपना, विभो ! "सियाराम सियराम" जपना, प्रभो !" (* पण्डित श्रीरामहितोपाध्यायजी)

प्रभु ने कहा कि "छत्तीस सहस्र वर्ष इस पृथ्वी का राज्य करके, तब अचल अनुपम लोक का राज्य करोगे; अब तुम घर जाव।" आप घर को चलो ॥

श्रीनारदजी की आज्ञा से महाराज उत्तानपादजी ने आगे आके इनका आदरसत्कार कर, घर ला, इनको राज्य दे दिया, स्वयं और स्त्री भगवद्भजन करने के लिये बन को गए ॥

भूमण्डल के राज्य के अनन्तर, श्रीध्रुवजी अपनी दोनों माताओं और पिता के समेत "ध्रुवलोक" में जा विराजमान हैं; महाप्रलय के पीछे परमपद को जायँगे ॥

(३२) श्रीअर्जुनजी।

श्रीअर्जुनजी श्रीयादवेन्द्रजी प्रभु के फुफेरे भाई थे; भगवत में सखा भाव से प्रेम रखते थे। सुहृद होने के उपरान्त मित्रता भी आपस में ऐसी थी कि करुणाकर प्रभु आपके सारथी का काम भी किया करते थे ॥

मित्रता की अधिकता से श्रीअर्जुनजी निष्कपट भी ऐसे हो गए थे कि जब आप श्रीयदुपति महाराज की बहिन सुभद्राजी की सुन्दरता पर आसक्त हो गए—

दो० व्याकुलता अरु व्यग्रता, व्याप्यो रगरग आय।
चंचल चित अतिछटपटी, घर आँगन न सुहाय ॥१॥
गदगद स्वर रोमांच अरु, नैनन नीर बहंत।
प्रेम मग्नउन्मत्त ज्यों, अन्तः पीर सहंत ॥ २ ॥

तो अपनी पूरी विकलता श्रीकृष्ण भगवान् से निःशंक होके कह सुनाई ॥

दो० "परदा कौन सुमित्र सन, हित सन कौन दुराव।
हियकी सब परगट करै, तुरतहि भाव कुभाव ॥"

चौपाई।

"जिन्हके असमति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई ॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण सन्त सब साखी ॥
जेहि जन पर ममता अरु छोहू। तेहि करुणाकर कीन्ह न कोहू ॥"

श्रीकृष्णचन्द्रजी ने लौकिक निन्दा उपहास के भयशंका को धरखे परधर भक्त रहस्यानुकूल ऐसा गुप्त मन्त्र बताया कि उसके अनुसार श्रीअर्जुनजी अपने मनोरथ को प्राप्त ही हो गए। मित्रवत्सलता की जय॥

चौपाई।

"जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु सन्देहू॥"

एक बेर प्रभु अपने सखा अर्जुनजी के पास, बेखटके वहां चले गए कि जहां आप श्रीसुभद्राजी के साथ बिराजते थे॥ "हो सख्य जो तो ऐसा, हो प्रीति जो तो ऐसी। विश्वास हो तो ऐसा, परतीति हो तो ऐसी॥" भक्त की प्रशंसा की जावे? कि भक्तवत्सलजी की? कि प्रेमा-भक्ति महारानी की?

एक समय मंगलमूर्ति श्रीमारुतिजी गन्धमादन निजस्थल से श्रीसीतारामजी के दर्शनार्थ दिव्यसाकेतलोक आए, जहाँपर श्रीसनकादि ऋषिवृन्द और श्रुतियां स्तुति कर रही हैं किञ्चित् काल प्रभु सेवाकर श्रीरामदूतजी ने गन्धमादन जाना चाहा; तो भक्तवत्सल श्रीसीतानाथजी ने कहा कि "जाव, परन्तु हमारे अवतारान्तर के भक्त 'पाण्डवों' की रक्षा कौरवों से अवश्य ही करना॥"

इस प्रभुवचनामृत को अङ्गीकार और दण्डवत् कर श्रीपवनात्मजजी आकाशमार्ग होकर चले; जब "द्वैतवन" के समीप पहुँचे, तब अर्जुनादि-पाण्डव और श्रीकृष्णचन्द्र की वार्त्ता सुनी। सो वह वार्त्ता यह है—अर्जुनादि ने कहा कि "कौरवरूपी दुःख से कैसे बचेंगे?" यह सुन, श्रीकृष्णचन्द्रजी ने कहा कि "देखो, ये पवनपुत्र हनुमान् श्रीसाकेत-विहारी के दूत, आकाशमार्ग होके जा रहे हैं; सो ये ही तुम्हारी रक्षा करेंगे॥"

इतना सुनते ही, वृत्त जानने की वाञ्छा से श्रीमारुतिजी श्रीकृष्ण-चंद्रजी के समीप पहुँचे, तब आपने अपने को 'श्रीसाकेतविहारीजी का अवतार' ज्ञापन करने के लिये, श्रीरामरूप हो दर्शन दिया; और पाण्डवों को श्रीहनुमत्शरण में लगा दिया॥

श्रीअंजनीनन्दनजी ने पाण्डवों को, निज अनूप भक्त और दास

जान, कौरवों से उनकी रक्षा की॥ इसी से, श्रीमारुतिजी का "अर्जुन सहायकारी" ऐसा ख्यात हुआ॥

पाण्डवों की भक्ति की प्रशंसा किससे हो सकती है॥
"तुलसी, सकलसुकृत सुख लागे रामभक्ति के पाछे॥"

(३३।३६) श्रीयुधिष्ठिरादि * [पाण्डव]

श्रीपाण्डव पांचों भाइयों में से, श्रीअर्जुनजी की कथा तो अभी अभी निवेदन की जा चुकी है। श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज, श्रीभीमसेनजी, श्रीनकुलजी, और श्रीसहदेवजी, ये चारों श्रीयादवेन्द्रजी के ममेरे भाई थे। वे आपको पूर्णब्रह्म तथा अपना स्वामी मानते थे। श्रीयुधिष्ठिरजी और श्रीभीमसेन को (जो बड़े थे) आप प्रणाम; तथा श्रीनकुलजी और श्रीसहदेवजी (जो छोटे थे) आपको दण्डवत् किया करते थे॥

श्रीयुधिष्ठिरजी की महिमा कौन कह सके कि जो साक्षात् "धर्म" के ही अवतार थे। महाभारत में भगवत् की भक्तवत्सलता और बारम्बार सहायता के साथ पाण्डवों का सुयश भी प्रसिद्ध है ही॥

"कहां न प्रभुता करी? हे प्रभु! तुम कहां न प्रभुता करी"

(३७।३८) गजेन्द्रजी; ग्राहजी।

(कल्पान्तभेद से एक कथा)

श्वेतद्वीप में एक सर में श्रीदेवलमुनि स्नान कर रहे थे, हाहा नाम गन्धर्व ने, खेल से पानी के भीतर, ग्राह की नाईं उनका पांव पकड़ लिया; इसलिये मुनि के शाप से वही वहीं ग्राह हुआ॥

बड़ों से हँसी खेल का फल ऐसा ही है॥

इन्द्रदवन राजा अपने मन्त्री को राज्य देकर पहाड़ पर जा मौनी हो भजन करता था; भक्तराज ऋषीश्वर श्रीअगस्त्यजी महाराज कृपा कर वहां गए, पर उसने अभिमान से आपका आदर सत्कार नहीं किया फलतः मुनिजी के शाप से गजेन्द्र हुआ॥

ओह! अभिमान से किसका सर्वनाश न हुआ?॥

---

* श्रीयुधिष्ठिर १, श्रीभीम २, श्रीअर्जुन ३, श्रीनकुल ४, श्रीसहदेव ५॥

(कल्पान्तभेद से दूसरी कथा)

मरु देश के राजा के यज्ञ में भगवद्भक्त दो भाई ब्राह्मणों में, एक ब्रह्मा दूसरे होता हुए; होता ने बहुत परन्तु ब्रह्मा ने उनकी अपेक्षा थोड़ी दक्षिणा पायी; अतएव ब्रह्मा ने दोनों दक्षिणा इकट्ठा मिलाके आधा-आधा बांट लेना चाहा। होता ने न माना। ब्रह्मा ने शाप दिया "तुम गंडकी में ग्राह हो; एवं होता ने भी शाप दिया तुम गज हो॥"

आपस की लड़ाई और लोभ के लाभ हैं तो ये हैं॥

सारांश यह कि ये दोनों वैष्णव वा ब्राह्मण थे और शाप से एक ग्राह दूसरे गजेन्द्र हुए थे॥

एक दिन संयोगवश गजेन्द्र उसी ठौर अपनी हथिनियों और पट्ठों के समेत जल पीने गया कि जहां वही ग्राह रहता था; ग्राह ने गज का पांव पकड़ लिया; ग्राह अपनी ओर जल में, गजजी अपनी ओर थल में खींचते थे; कुछ कालपर्यन्त और हाथियों ने गजेन्द्रजी की सहायता की, परन्तु अंत को हारमान के उनको अकेले असहाय छोड़ छोड़ के चले गए॥

"कौन काको मीत कुसमय कौन काको मीत"

दो० "हरे चरैं, तापहिं बरे, फरे पसारहिं हाथ।
तुलसी स्वारथ मीत जग, परमारथ रघुनाथ॥"

सहस्र वर्षपर्यन्त लड़ाई होती रही। अंत को ग्राह प्रबल हो गज को नदी में ले चला, केवल सूँड़मात्र बाहर रह गयी॥

अब गज का ध्यान दीनरक्षक आरतहरन की ओर आया। "सुख समय तो दुइ निशान सबके द्वार बाजे। दुख समय दशरथ के लाल तू गरीबनिवाजे॥"

श्रीगजेन्द्रजी ने भगवान् की शरण ली और एक कमल का फूल तोड़कर श्रीवैकुण्ठनाथ को अर्पण करके पुकारा:——

"यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात् प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्। भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥ नायं वेदस्वमात्मानं यच्छक्त्याहं धियाहतम्। तं दुरत्ययमाहात्म्यं भगवंतं नतोऽस्म्यहम्॥"

आर्त की टेर को सुनते ही आर्तिहरण चक्रधर हरि गरुड़ को छोड़के वैकुण्ठ से दौड़ उसी निमिष श्रीगजेन्द्रजी के पास पहुँच, ग्राह को चक्र से मार श्रीगजेन्द्रजी को छुड़ा लिया॥

शीघ्रता देखिये कि "पानी में प्रगट्यो किधौं बानी से गयंद के॥"

भगवत् ने श्रीगजेन्द्रजी को तो परमपद दिया ही, किन्तु ग्राह ने भी मुक्ति पाई॥

श्रीमद्भागवत आदिक में श्रीगजेन्द्रकृत स्तुति पढ़ने ही योग्य है॥

किसने प्रभु को पुकारा और अपने कष्ट से छुटकारा न पाया?॥

---

(३९) श्रीकुन्तीजी

(७९) टीका। कवित्त। (७६४)

कुन्तीकरतूति ऐसी करै कौन भूत प्राणी; मांगति विपति, जासों भाजैं सब जन हैं। देख्यो मुख चाहों लाल! देखे बिनु हिये शाल, हूजिये कृपाल, नहीं दीजै बास बन हैं॥ देखि बिकलाई प्रभु आंखि भरि आई, फेरि घरही को लाई, कृष्ण प्राण तन धन हैं। श्रवण बियोग सुनि तनक न रह्यो गयो, भयो बपु न्यारो अहो! यही सांचो पन हैं॥७०॥ (५५९)

वार्तिक तिलक।

श्रीयादवेन्द्र महाराज श्रीकुन्तीजी के भतीजा थे; परन्तु आप प्रभु में ब्रह्मसच्चिदानन्द ही का भाव रखती थीं, उनकी अन्तःकरणदृष्टि के सामने मोह माया का धूँधलापन नहीं था, सदा भगवत् की मूर्ति सम्मुख विराजमान ही रहती थी॥

श्रीकुंतीजी की प्रशंसा कर सके ऐसा कौन है? जिस विपत्ति से सब लोग भागते हैं, सोई विपत्ति आपने प्रभु से माँगी कि "हे लाल जी! सुख से वह दुःख ही मुझे भला है कि जिस दुःख में तुम सदैव दर्शन दिया करते हो; मैं सदा तुम्हारा मुखारविंद देखती रहा चाहती हूँ; जिसके अवलोकन विना मेरे हृदय में बड़ा शूल होता है; मुझपर कृपा करके सदा मेरे पास रहा करो; और नहीं तो वनवास दो, क्योंकि बनवास में सदा तुम साथ रहते थे, राज्य होने पर तुम्हारा वियोग हुआ चाहता है॥"

जबकि श्रीयुधिष्ठिरजी को राज्य प्राप्त होने के अनंतर भगवत् द्वारका

जाने का विचार करते थे, तब इस प्रकार की प्रार्थना आप किया करतीं ॥

आपकी यह व्याकुलता और विकलता देखके प्रभु की आंखों में प्रेम अश्रु भर आया, और श्रीद्वारका की यात्रा को छोड़ दिया; आप इस प्रकार से आनंदकंद को रथ पर से उतार के अपने पास लौटा लाइ ॥

सारांश यह कि श्रीकृष्ण भगवान् ही आपके धन, जन, तन, प्राण, सब कुछ थे ॥

जब हरि इस जगत् को छोड़ गोलोक को गए, तो यह समाचार सुनने के साथ ही, श्रीकुंतीजी भी शरीर परित्याग करके, हरि के पास जा पहुँचीं ॥

देखिये 'प्रेम का पन निबाहना' इसको कहते हैं, ऐसे पन का नाम सच्चापन है ॥

दो० "मीन आदि के प्रेम कौ, कविगण कियो बखान।
प्रीति सो सांचि सराहियै, बिछुरत निसरै प्रान ॥ १ ॥"
"आली! मैंने यह सुनी, पह फाटत पिय गौन।
'पह' में, 'हिय' में ह्वै रही, "पहिले फाटै कौन ?॥ २ ॥"
नारायण अति कठिन है, प्रेम नगर कौ बाट।
या मारग सो पग धरै, प्रथम सीस दे काट ॥ ३ ॥

(४०) श्रीद्रौपदीजी

(८०) टीका। कवित्त। (७६३)

द्रौपदी सती की बात कहै ऐसो कौन पटु ? खैंचत ही पट, पट कोटि गुनै भए हैं। "द्वारका के नाथ !" जब बोली तब साथ हुते द्वारका सों फेरि आए, भक्तवाणी नए हैं ॥ गए दुर्वासा ऋषि बन में पठाए नीच धर्म-पुत्र बोले विनय आवें पन लए हैं। भोजन निवारि त्रिया आइ कही शोच पर्‌यो, चाहैं तनु त्यागों कह्यो "कृष्ण कहूँ गए हैं ?" ॥ ७१ ॥ (५५८)

वार्त्तिक तिलक।

परमसती श्रीद्रौपदीजी की महिमा वर्णन करने की सामर्थ्य किस प्रवीण (पटु) को है ? आप श्रीयादवेन्द्र भगवान् को ब्रह्मसच्चिदानन्द

जानके देवरभाव से उनमें अमल विशुद्ध भक्ति रखती थीं और श्रीहरि भी आपको अपनी भावज जानते थे ॥

चौपाई।

"तिन सम पुण्य पुंज जग थोरे। जिनहिं राम जानत करि "मोरे" ॥
को रघुबीर सरिस संसारा। शील सनेह निबाहनिहारा ॥"

श्रीद्रौपदीजी की कथा महाभारत में विस्तार के साथ वर्णित है। जब श्रीयुधिष्ठिरजी बरबस जुआ खेलके छली दुर्योधन के हाथ श्रीद्रौपदी सतीजी को हार गए, और कलिरूप दुर्योधन की आज्ञा से दुष्ट दुःशासन भरी सभा में आपको नग्न करने के निमित्त वस्त्र खींचने लगा, (केवल एक सारीमात्र आप उस समय पहिरे हुए थीं) तब उस कठिन काल में, आपने अपने देवर श्रीकृष्ण भगवान् भक्तवत्सल प्रणतहित को "द्वारकानाथ!" नाम लेके स्मरण किया ॥

करुणासिन्धु महाराज यद्यपि साथ ही में विद्यमान थे, तथापि भक्तवचन चरितार्थ करने के लिये उसी क्षण द्वारका से हो आये ॥

भक्तरक्षक भगवान् उस चीर (सारी) को अपनी कृपा से बढ़ाने लगे, वह वस्त्र इतना बढ़ता जाता था कि दुःशासन, जिसको दश सहस्र हाथियों का बल था, खींचते खींचते हार गया, परन्तु आपके एक नख के कोर का भी वस्त्र मर्य्यादा से नहीं सरका; वरंच आप सारी से हरि कृपा से ज्यों की त्यों सम्पूर्णतः ढँकी हुई खड़ी रहीं। दुष्टों के मुख काले हो गये! और सज्जनों के मुख से "भक्ति भक्त भगवन्त की जय" ध्वनि गूँज उठी, आपके चारो ओर वस्त्र का ढेर हो गया ॥

(क०) दुर्जन दुशासन दुकूल गह्यो "दीनबन्धु!" दीन ह्वै के द्रुपद-दुलारी यों पुकारी है। आपनो सबल छांड़ि ठाढ़े पति पारथ से भीम महा-भीम ग्रीवा नीचे करि डारी है ॥ अम्बर लौं अम्बर पहाड़ कीन्हों, शेष कवि, भीषम, करण, द्रोण, सभी यों विचारी हैं। नारी मध्य सारी है, कि सारी मध्य नारी है, कि सारी ही की नारी है, कि नारी ही की सारी है?"

दो० "कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुबीर।
दशहजार गजबल घट्यो, घट्यो न दशगज चीर ॥"

कृष्ण गीतावली।

अपनेनि को अपनो विलोकि बल, सकल आस विश्वास बिसारी। हाथ उठाइ अनाथनाथ सों "पाहि पाहि प्रभु पाहि!" पुकारी॥ तुलसी परखि प्रतीति प्रीति गति आरतपाल कृपालु मुरारी। "बसन बेष" राखी विशेष लखि बिरदावलि मूरति नरनारी॥ १॥ प्रीति प्रतीति द्रुपदतनया की भली भूरि भयभभरि न भाजी। कहि पारथ सारथिहि सराहत गई बहोरि गरीबनिवाजी॥ शिथिल सनेह मुदित मनही मन, बसन बीच बिच बधू बिराजी। सभा सिन्धु यदुपति जयमय जनु रमाप्रगटि त्रिभुवन भरि भ्राजी॥ युग युग जग साके केशव के शमन कलेश कुसाज सुसाजी। तुलसी को न होइ सुनि कीरति कृष्णदयालु अगति पथ राजी॥ २॥

एक दिन जब नीच दुर्योधन ने जगत्प्रसिद्ध श्रीदुर्वासाऋषिजी को श्रीयुधिष्ठिरजी के पास बन में (किसी प्रकार से) भेजा तो वह महात्मा ऐसे समय पहुँचे कि जब श्रीद्रौपदीजी सबको भोजन कराके श्रीसूर्य भगवान् की दी हुई टोकनी को धो धा चुकी थीं ❀। अतः श्री युधिष्ठिर आदि बड़े शोच में पड़े कि दससहस्र चेलों समेत दुर्वासाजी को अब कहां से भोजन करावें?

दुर्वासाजी ने कहा कि "जब तक तुम भोजन का ठीकठाक करो इतने में हम सब स्नानादिक नित्य क्रिया करके आते ही हैं॥"

धर्म्मात्मा श्रीयुधिष्ठिरजी ने विचार किया कि "अब तो शरीर परित्याग करना ही भला जान पड़ता है॥"

परन्तु श्रीद्रौपदीजी ने कहा कि "आप किसी प्रकार की चिन्ता मत कीजिये; क्या हमारे शोकबिमोचन प्रभु कहीं गए हैं?"

(८१) टीका। कवित्त। (७६२)

सुन्यो भागवती को बचन भक्तिभावभस्यो, कस्यो मन, आए श्याम, पूजे हिये काम है। आवतही कही "मोहि भूख लागी देवो कछु," महा सकुचाये मांगैं प्यारो "नहीं धाम है"॥ "विश्व के भरणहार

❀ "श्रीसूर्य्यनारायणजी ने प्रसन्न होकर वह टोकनी दी थी। उसका यह चमत्कार था कि जब तक श्रीद्रौपदीजी भोजन कराके उसको नहीं धोडालती थीं, तब तक विविधभाँति की भोजनसामग्री उसमें से निकला करती थी।"

धरे है अहार, अजू, हमसों दुराके" कही वाणी अभिराम है। लग्यो शाक पत्र पात्र, जल संग पाइ गए पूरण त्रिलोकी विप्र गिनै कौन नाम है॥ ७२॥ (५५७)

वार्तिक तिलक।

प्रेमी के शुद्धान्तःकरण की भक्तिभावभरी वाणी ("क्या श्रीकृष्ण-चन्द्र कहीं गए हैं?") सर्वव्यापी करुणाकर ने ज्योंही सुनी, फिर क्या था? दयालुता ने सुहृद के अन्तःकरण का चित्र सामने धर ही तो दिया। भक्तवत्सलता कैसे स्थिर रहने देती? निजधाम छोड़ने और भक्त के सम्मुख पहुँचने में शीघ्रता ने विद्युत् को लज्जित कर दिया। भगवत् तथा भक्त के एकत्र होने से प्रमोद पाकर अन्तःकरण की जो दशा होती है, वह अन्तःकरण ही के समझने की वार्त्ता है; लेखनी की सामर्थ्य से बाहर है कि उसका किञ्चित् अंश भी प्रकाश कर सके॥

चौपाई।

"बार बार प्रभु चहत उठावा। प्रेम मगन तेइ उठब न भावा॥"

आनन्द कन्द विश्वभरण प्रभु ने बड़ी आतुरता से आपसे मांगा कि "भौजी! शीघ्र कुछ खिलाओ, मैं बड़ा भूखा हूँ।" यह सुन, अति सकुचाय, आपने उत्तर दिया कि "प्यारे! खाने पीने की तो कोई वस्तु घर में नहीं है!"

हरि मुसक्या के बड़े ही मधुरस्वर से बोले कि "भौजी! मुझसे तुम दुराव क्यों करती हो? तुमने तो वह बटुई (टोकनी) घर में धर रक्खी है कि जिससे चाहो तो हरिकृपा से तुम संसार भर को खिला सकती हो।" आपने कहा कि "प्यारे! मैं पाकर उस बटुई को धो धा चुकी हूँ॥" प्रभु ने टोकनी मांगी, कि "लाओ देखूँ" आप उठा लाईं, और प्रभु के सामने उसको रख दिया॥

भगवत् ने उसमें से एकपत्ता साग का (सटाहुआ) ढूँढ़ निकाला, जिसको, श्रीद्रौपदीजी को दिखलाके, आप पागए और उसके ऊपर से थोड़ा सा जल भी पी लिया। उसी क्षण, दुर्वासाजी और उनके चेलों की कौन कहे, वरंच सारे त्रैलोक्य के प्राणी भोजन से पूर्ण होगये॥

दुर्वासाजी, श्रीअम्बरीषजी की वार्ता स्मरण करके, डरे; और बाहरही से बाहर नदी तट से अपने चेलों समेत भागे॥

"जन को पन, राम ! न राखो कहां ?"

चौपाई।

शील सकोचसिन्धु रघुराऊ। सुमुख, सुलोचन, सरल सुभाऊ॥
"वह अपनी, नाथ ! कृपालुता तुम्हें याद हो कि न याद हो;
वह जो कौल भक्तों से था किया, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥
सुनी गज की ज्योंहीं वह आपदा, न बिलम्ब छिन का सहा गया;
वहीं दौड़े उठके पयादा पा, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ १॥
वह जो चाहा लोगों ने द्रौपदी को कि लाज उसकी सभामें लें;
वह बढ़ाया वस्त्रको तुमने आ, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ २॥
वह अजामिल एक जो पापी था, लिया नाम मरने में बेटे का;
उसे तुमने ऊंचों का पद दिया, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ३॥
जिन बानरों में न रूप था न तो जाति थी, न तो गुन ही था;
रहे उलटे उनके ऋणी सदा, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ४॥
वह जो गोपी गोप थे ब्रज के सब, उन्हें इतना चाहा कि क्या कहूँ;
उन्हें भाइयों कासा मानना, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ५॥
वह जो गीध था, गनिका जो थी, वह जो ब्याध था, वह मलाह था;
उन्हें तुमने भक्तोंका पद दिया, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ६॥
खाना भिल्लनी के वह जूठे फल, कहीं भाजि छिलके विदुर के चल;
योंही लाखों किस्से कहूँ मैं क्या, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ७॥
वह गोपियों से कहा था क्या करो याद गीता की भी ज़रा;
यानी बिरद शरण निबाह का, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ८॥
यह तुम्हारा ही "हरिचन्द" है, गो फ़साद में जग के बन्द है;
वह है दास जन्मों का आपका, तुम्हें याद हो कि न याद हो॥ ९॥

(८२) छप्पय (७६१)

पदपङ्कज बांछौं सदा, जिनके हरि नित उर बसैं॥
योगेश्वर, श्रुतिदेव, अङ्ग, मुचुकुन्द, प्रियव्रत जेता।

पृथु[6], परीक्षित[7], शेष[8], सूत[9], शौनक[10], परचेता[11] ॥ सतरूपा[12], त्रय[13]सुता[14][15], सुनीति[16], सती[17] सबही[18], मन्दालसा[19]। यज्ञपत्नि[20], ब्रजनारि[21], किये केशव अपने बस ॥ ऐसे नरनारी जिते[22] तिनही के गाऊँ जसैं *। पदपङ्कज बांछौं † सदा, जिनके हरि नित उर बसैं ॥ १० ॥ (२०४)

वार्त्तिक तिलक।

जिन जिन भक्तजनों के हृदय में श्रीहरि भगवान् नित्य ही निवास करते हैं, तिन भक्तों के कमलरूपी चरणों को (मैं मधुपसम) सदा इच्छा करता हूँ--

दो० "जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, हरि सन सहज सनेह।
बसहिं निरन्तर तासु उर, सो हरि को निज गेह ॥"

(१) ९ (नव) योगीश्वर, इत्यादिक योगीश्वर वृन्द।
(२) श्रीश्रुतिदेवजी,
(३) राजा श्रीअङ्गजी,
(४) श्रीमुचुकुन्दजी,
(५) जगतविजयी श्री-प्रियव्रतजी महाराज,
(६) श्रीपृथुजी,
(७) श्रीपरीक्षितजी,
(८) सहस्रानन श्रीशेष भगवान्,
(९) श्रीसूतजी,
(१०) श्रीशौनकादिक,
(११) श्रीप्रचेतागण,
(१२) श्रीसतरूपाजी; उनकी तीनों कन्या अर्थात—
(१३) श्रीप्रसूतीजी,
(१४) श्रीआकूतीजी,
(१५) श्रीदेवहूतीजी,
(१६) श्रीसुनीतीजी,
(१७) श्रीसती (शिवा) जी,
(१८) सम्पूर्णसती (पतिव्रता) स्त्रीवर्ग,
(१९) श्रीमन्दालसाजी,
(२०) श्रीमथुरावासिनी यज्ञ-पत्नीसमूह

* जसैं=यशैं; † बांछौं=याचौं ॥

(२१) श्रीव्रजगोपिकावृन्द, जिन्होंने भगवान् को अपने वश कर लिया॥ जय जय जय॥

(२२) भगवत् को इस प्रकार अपने हृदय में बसानेवाले पुरुष वा स्त्रीवर्ग जितने हैं, तिन्हीं के सुयश को मैं नित्य गान करता हूँ और करूँगा॥

(८३) टीका। कवित्त। (७६०)

जिनही के हरि नित उर बसैं तिनही की पदरेनु चैनु दैनु आभरण कीजियै। योगेश्वर आदि रस-स्वाद में प्रवीन महा, बिप्रश्रुतिदेव ताकी बात कहि दीजियै॥ आए हरि घर देखि गयो प्रेम भरि हियो ऊँचो कर करि, पट फेरि, मति भीजियै। जिते साधु संग, तिन्हैं विनय न प्रसंग कियो, कियो उपदेश "मोसों बाढ़, पाँव लीजियै"॥ ७३॥ (५५६)

वार्त्तिक तिलक।

जिन महानुभावों के हृदय में सर्वदुःखहरनहारे तथा मन हरनेवाले भगवान् सर्वदा बसते हैं, तिन्हीं के पदपंकज की सर्वसुख देनेहारी धूरि को अपने मस्तक में सदा धारण करना चाहिये। तिन भक्तों में योगीश्वर आदिक प्रेमापराभक्तिरस के छके हुए परम प्रवीण प्रसिद्ध ही हैं॥

उनमें से, "श्रुतिदेव" नाम ब्राह्मण परम प्रेमी की वार्त्ता कहे देता हूँ—

---

(४१) श्रीश्रुतिदेवजी।

एक समय श्रीकृष्णचन्द्रजी द्वारकाजी से श्रीविदेहपुर (जनकपुर) में निमिवंशी राजा श्रीबहुलास्वजी से जाके मिले; और साथ ही, उसी समय सब साथियों समेत दूसरे रूप से बिप्र श्रीश्रुतिदेवजी के घर में भी कृपा करके गए। ये दर्शन करते ही परम प्रेम में भरे, भक्तिरस में मति को भिगोए, ऊँचे हाथों से, अपने वस्त्र को फिरा २ के, नाचने लगे। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् के साथ में और जो सन्त थे, तिनको विनय प्रणाम आदर सत्कार इनने कुछ नहीं किया! तब प्रभु ने इनके प्रेम विचित्रता को देखके स्वयं यों उपदेश किया कि "तुमने सन्तों का तो सत्कार नहीं किया! इनको मुझसे अधिक जानके दण्डवत् प्रणाम

तथा पूजन करो॥" ऐसा सुन, सुख मान, इनने वैसा ही किया। चतुर्मासा भर दोनों के घर कृपा कर रहे; तब भी एक को दूसरे का समाचार नहीं मिला॥

(४२) योगीश्वर।

(६) नवो योगीश्वरों के नाम श्रीग्रन्थकर्त्ताजी आगे चलके (१३) तेरहवें मूल में कहेंगे॥

(४३) राजा श्रीअङ्गजी

राजा "अङ्ग" सोमवंशी बिठूरनिवासी बड़े धर्म्मात्मा थे; इनके पुत्र न था। ब्राह्मणों से यज्ञ कराया। परन्तु देवतों ने (पूर्व पाप के कारण) यज्ञ स्वीकार न किया। बहुत विनयवश ब्राह्मणों ने वसु का यज्ञ किया; वसु महाराज ने प्रगट होकर हविष (क्षीरान्न) दिया; जिससे राजा बेणु उत्पन्न हुआ। परन्तु वह अपने धर्म्मात्मा पिता श्रीअङ्गजी की आज्ञानुसार नहीं चलता था॥

अतः श्रीअङ्गजी चुपचाप अरण्य में जाकर भगवत् के भजन में भली भाँत लगे। भजन-प्रभाव से परमधाम को गए॥

अङ्ग नाम के दूसरे राजा "अङ्गप्रदेश" (पटना बिहार प्रान्त) के थे। इनके पुत्र श्रीरोमपादजी बड़े भक्त हुए॥

(४४) राजा मुचुकुन्दजी।

श्रीमुचुकुन्दजी श्रीअयोध्याजी के राजा थे; देवतों की लड़ाई में बड़ी सहायता की; थकके एक पर्वत के कन्दरे में विश्राम कर रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्र "कालयवन" के पीछा करने से, भागते भागते उसी खोह में पहुँचे; और अपना पीताम्बर श्रीमुचुकुन्दजी के शरीर पर उढ़ाकर आप कहीं छुप गए। कालयवन इन्हीं को श्रीकृष्णजी समझकर उलटी पुलटी सुनाने लगा॥

इनने आँखें खोलीं तो इनकी दृष्टि पड़ते ही कालयवन मृत्यु को प्राप्त हो गया। क्योंकि भक्तापराध का दण्ड शीघ्रतर मिलता है। और भगवान् ने स्वयं इसलिये उसको न मारा कि गर्गाचार्य्य का वचन था कि कालयवन किसी यदुवंशी के हाथ से न मरे॥

(ऐसा सुना गया है कि यही श्रीमुचुकुन्दजी श्रीजयदेव कवि-शिरोमणि हुए कि जिनका "गीतगोविन्द" प्रसिद्ध है)॥

(४५) महाराज श्रीप्रियव्रतजी।

भगवान् श्रीस्वयंभू मनुजी तथा महारानी श्रीसतरूपाजी के पुत्र, श्रीप्रियव्रतजी, पांच वर्ष के ही जब थे श्रीनारद भगवान् के उपदेश से, विरक्त हो वन में हरिभजन करने लगे॥

चौपाई।

"जेतो श्रम संसृति हित कीजै। कस नहिं तेतो हरि मन दीजै॥"

महाराज श्रीमनुजी ने श्रीब्रह्माजी से कहा। तब दोनों प्रियव्रतजी को समझाने चले। इसलिये श्रीनारदजी ने आज्ञा दे दी कि "वत्स! श्रीब्रह्माजी तथा श्रीमनु महाराज तेरे पास आते हैं, उनके वचन मान लेना॥"

श्रीब्रह्माजी के उपदेश से श्रीप्रियव्रतजी विवाह कर गृहस्थ हुए। उनके दस बेटे, तीन ऊर्द्ध्वरेता (विरक्त) और सात गृहस्थ कि जो सातों द्वीप के राजा हुए॥

ये महाराज ऐसे प्रतापी भक्त और तेजस्वी थे कि इनका प्रकाश सूर्य के तेज के तुल्य था; जब सूर्यनारायण अस्ताचल को जाते तब भी इनके रथ के प्रकाश और तेज से दिन बना ही रहता था। श्रीब्रह्माजी के उपदेश से इनने अपने तेज को ढांप लिया, तब सबको रात्रि का बोध होने लगा॥

चौपाई।

"लघुसुत नाम "प्रियव्रत" ताही। वेद पुराण प्रशंसत जाही॥"
"गुरुशासन गुनि पुनि घर आयो। कियो राज्य रघुपति पद ध्यायो॥"

श्रीप्रियव्रतजी ग्यारह अर्बुद वर्ष राज्य कर भगवद्भजन करते हुए, शरीर का परित्याग करके परमधाम को गए॥

(४६) राजा श्रीपृथुजी

राजा श्रीपृथुजी का नाम पहिले चौबीस अवतारों (मूल ५ छप्पय १ पृष्ठ ४७) में आ चुका है॥

आप भगवद्यश के ऐसे बड़े प्रेमी थे कि उसके श्रवण के निमित्त अपने कानों में दस सहस्र कर्णों की सामर्थ्य माँगी और पायी॥

(४७) महाराज श्रीपरीक्षितजी।

हस्तिनापुर के राजा श्रीपरीक्षितजी ही के प्रति, परमहंस श्रीशुकदेवजी ने श्रीमद्भागवत सुनाया कि जो सब पुराणों में श्रेष्ठ तथा पारमहंसी-संहिता है; सबका सार और संसारसमुद्र के तरने की दीर्घ नौका (जहाज़) है॥

आप श्रीअर्जुनजी के पोता थे। भगवान् ने गर्भ में ही इनकी विशेष रक्षा की थी। आपने "कलियुग" को दण्ड किया था, और इसको बासके लिये पाँच ही स्थान दिये थे अर्थात् (१) हिंसा जहां हो; (२) मद्यपान जहां हो; (३) द्यूत (जुआ) जहां हो; (४) वेश्या जहां रहें; और (५) सुवर्ण पर॥ आपको ५००४ वर्ष हुए॥

(४८) श्रीशेषजी।

"शेष सहस्र सीस जग कारण। जो अवतरेउ भूमिभयटारण॥"
"चौदह भुवन सहित ब्रह्मण्डा। एक सीस सरसब सम मंडा॥"

श्रीशेष भगवान्। श्रीक्षीरशायी प्रभु के शय्या तथा छत्ररूप से अखण्ड सेवा करते हैं और सहस्र मुख से शेषी (भगवत्) का यशगान करते हैं। "अनन्त" के चरित्र का अन्त कौन पा सकता है? किससे वर्णन हो?

"श्रीसम्प्रदाय" के प्रगट करनेवाले आचार्य्य आप ही हैं। इसीलिये श्रीसम्प्रदाय को शेष सम्प्रदाय के नाम से भी पुकारते हैं। आपकी ही सम्प्रदाय "श्रीरामानुज सम्प्रदाय" कही जाती है जिसकी परम्परा यों है (१) नारायण (२) श्रीलक्ष्मीजी (३) श्रीविष्वक्सेन (४) श्री-शठकोप (५) श्रीश्रीनाथ (६) श्रीपुण्डरीकाक्ष (७) श्रीराममिश्र (८) श्रीयामुनाचार्य्यजी जिनके "आलवन्दारस्तोत्र" इत्यादि हैं (९) श्रीपूर्णाचार्य (१०) स्वामी अनन्त श्रीरामानुज भगवान्॥

(४६-५०) श्रीसूतजी ; श्रीशौनकजी।

यह बात प्रसिद्ध है ही कि सब पुराणादिक के कीर्त्तन करनेवाले श्री-सूतजी हैं; एवं, उनके अठासी सहस्र श्रोताओं में श्रीशौनकजी प्रसिद्ध ही हैं॥

---

(५१) श्रीप्रचेताजी।

ये दस भाई थे और दसों का नाम "प्रचेता" ही है; ये प्राचीन बर्हीं के पुत्र थे॥

पिता की आज्ञानुसार तप करने के लिये सिद्धिसर वा "नारायणसर" को जाते थे। पन्थ में श्रीनारदजी मिले और कृपा करके भक्ति के लिये तप का उपदेश कर दिया। दस सहस्र वर्ष तप करने के अनन्तर, गरुड़ पर चढ़े आकर भगवत् ने दर्शन तथा भक्ति का वरदान दिया, पुनः एक ही लड़की से दसो भाइयों को विवाह करने की आज्ञा भी दी। उससे "एक" प्रजापति का दूसरा जन्म हुआ, जिनको राज्य दे करके दसो भाई पुनः भगवत्भजन करने के लिये बन में गए॥

देवर्षि श्रीनारदजी कृपासिन्धु के उपदेश से ऐसी भक्ति की कि देह त्यागकर दिव्य शरीर धर भगवत् के धाम को चले गए॥

---

(५२) श्रीसतरूपाजी (श्री १०८ कौशल्याजी)।

महाराज श्रीस्वायंभुवमनु की धर्मपत्नी, श्रीसतरूपा और महाराज श्री-दशरथजी की महारानी श्रीकौशल्याजी थीं॥

चौपाई।

सतरूपहिं बिलोकि करजोरे। "देवि ! माँगु बरु जो रुचि तोरे॥"
"जो बरु नाथ ! चतुर नृप माँगा। सोइकृपालुमोहि अति प्रियलागा॥
प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई। जदपि भगतहित तुम्हहिं सुहाई॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जगस्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥
अस समुझत मन संशय होई। कहा जो प्रभु प्रमान पुनि सोई॥
जे निज भगत नाथ ! तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥

दो० सोइ सुख, सोइ गति, सोइ भगति, सोइ निज चरन सनेहु।

सोइ बिबेक, सोइ रहनि प्रभु ! हमहिं कृपाकरि देहु ॥"

चौपाई ।

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बचरचना । कृपासिन्धु बोले मृदु बचना ॥
"जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं । मैं सो दीन्ह सब संशय नाहीं ॥
मातु ! बिबेक अलौकिक तोरे । कबहुँन मिटिहि अनुग्रह मोरे ॥"

श्रीसतरूपाजी श्रीसुरपुर में बसने के अनन्तर श्री १०८ अयोध्या-जी में, मातु श्री १०८ कौशल्याजी महारानी हुईं, जिनकी भक्तिवश अखण्डैक परात्पर ब्रह्म प्रियतम प्रभु श्रीरामचन्द्रजी, श्रीअवध में आ प्रगट हुए ॥ अम्बा श्री १०८ कौशल्या महारानीजी की जय ॥

चौपाई ।

मङ्गल मूल राम सुत जासू । जो कछु कहिय थोर सब तासू ॥
तेहिते मैं कछु कहेउँ बखानी । करन पुनीत हेतु निज बानी ॥

दो० "कौन तासु महिमा कहौं, जासु सुवन श्रीराम ।
बिना काम सब कामप्रद, सहित काम नहिं काम ॥"

बारिधि रस बात्सल्य की कौशल्या बेला मनहु ॥ कृपाप्रीति प्रभुभक्ति सुकीरति सकल सकेली । बिरच्यौ चतुर बिरंचि राम जननी मुद बेली ॥ सीतासरिस स्वभाव धर्म्मधुरधरणि उदारा । भरतादिक को करति रामते अधिक दुलारा ॥ मातु सुमित्रा आदि सब अति अनन्य तेहि समगनहु । बारिधि रस बात्सल्य की कौशल्याबेला मनहु ॥

(५३) श्रीप्रसूतीजी ।

श्रीसतरूपा मनुजी की कन्या, श्रीदक्षजी की धर्मपत्नी, श्रीप्रसूती-जी, अतिशय पतिव्रता तथा भगवद्भक्तिपरायणा हुईं । आपकी स्तुति किससे हो सकती है । तीनों बहिनें एक से एक बढ़के प्रशंसनीय हुईं ॥

(५४) श्रीआकूतीजी ।

महाराज श्रीस्वायंभुवमनु और महारानी श्रीसतरूपाजी की नन्दिनी श्रीआकूतीजी का विवाह, श्रीरुचिऋषिजी से हुआ । इनकी भगवद्भक्ति तथा पातिव्रत की प्रशंसा कौन कवि कर सकता है । आप तीनों श्री-उत्तानपादजी और श्रीप्रियव्रतजी की भगिनी (बहिन) थीं ॥

(५५) श्रीदेवहूतीजी।

चौपाई।

"स्वायंभूमनु अरु सतरूपा। जिन्हते भइ नरसृष्टि अनूपा॥
दम्पति धरम आचरन नीका। अजहुँ गाव श्रुति जिन्हकै लीका॥
देवहूति पुनि तासु कुमारी। जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी॥
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥"
"देवहूति, तहँ करि दृढ़ नेमा। करि सियपिय पद पूरण प्रेमा॥
रही जगत महँ सो कछु काला। लग्यो न तेहि संसृत जंजाला॥"

जो स्वयं हरि (कपिलजी) की माता हुई, और जिन्ह देवी ने साक्षात् भगवत् से उपदेश पाया, उनकी स्तुति जहां तक की जा सके सो थोड़ी ही है। तीनों बहिनों की कथा उक्त प्रकार से है॥

(५६) श्रीसुनीतीजी।

"ध्रुवहरि भक्त भएउ सुत जासू।" ये महारानी, महाराज उत्तानपाद की धर्मपत्नी, भक्तराज श्रीध्रुवजी की माता हैं, जिनने अपने प्रियपुत्र (श्रीध्रुवजी) को पांच वर्ष की अवस्था में हरिभजनपरायण कर दिया॥

"छोड़ि भवन बन गवन कीजिये। रघुपति पद रति रंग भीजिये॥
श्रीहरि संकट काटनहारे। दूज न रक्षक और तिहारे॥"
"हरिभरोस करि कियो न मोहू। पंच वर्ष बालक तजि छोहू॥
चढ़ि बिमान सुन्दर सखछाई। गइ बैकुंठ निसान बजाई॥
ध्रुवहु लख्यो निज नैन उठाई। गवन करत आगू निज माई॥"
"पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपतिभक्त जास सुत होई॥"

(५७) देवी श्रीमन्दालसाजी।

श्रीसीतारामकृपा से श्रीमन्दालसाजी ने ऐसा पन किया कि, "जौन जीव मम गर्भहि आवै। सो पुनि जनम मरण नहिं पावै॥ भगवद्भक्त होके आवागमन से छूटजाय" आपने अपने पिता से यह विनय किया कि "यदि मेरा बिवाह कीजिये तो ऐसे पुरुष से कीजिये कि जो "दूसरी

स्त्री के पास नहीं जाने की प्रतिज्ञा करले॥" इसी के अनुसार आपका विवाह राजा रतिध्वज (प्रतर्दन) से हुआ। श्रीमन्दालसाकी कथा श्रीप्रियादासजी आगे चलके कहेंगे। माता हो तो ऐसी॥

इनके जो पुत्र होता था, श्रीमन्दालसाजी उसको बचपन ही से ऐसा उपदेश किया करतीं कि वह ग्यारहवें ही वर्ष में तीक्ष्ण विरक्त हो, हरिभक्त परम अनुरक्त हो जाता था। इसी प्रकार से जब पांच छः पुत्र विराग और अनुरागपूर्वक हरिभजनपरायण हो ही गए, तब राजा ने बड़ी युक्ति से रानी श्रीमन्दालसाजी से यह वर मांग लिया कि "यह सातवां बेटा अलर्क (सुबाहु) मेरे लिये रहने दो कि राजकाजप्रवृत्ति नीति सीख सके।" वचनवश रानी ने यह बात स्वीकार की। और एक श्लोक लिख-के एक यन्त्र अपने इस लघुतम पुत्र सुबाहु के दक्षिणहस्त में बांधके यह सिखा दिया कि "वत्स! जब तुझपर कोई कष्ट पड़े तो तू इस यन्त्र को खोलके पढ़ना।" पुत्र को राज दिलवा रानी श्रीमन्दालसाजी पति को सुन्दर उपदेश कर, हरिभजन के निमित्त पति के साथ साथ वन को गईं; और सुबाहु (अलर्क) राज्य करने लगा॥

वन में अपने पुत्रों को वासनाविगत श्रीहरिपदरत देख अति प्रसन्न हो यह बोलीं कि "हे पुत्र! सबसे छोटे सुत की मुझे चिन्ता है उसको भी किसी प्रकार से निवृत्ति मार्ग में लावो॥"

सबसे बड़े पुत्रजी ने मातुवचन सीस धर, घर आ सबसे छोटे भाई (राजा) से उचित वार्त्ता करके देखा कि 'वह रजोगुण में बहुत ही डूबा है और उस प्रमाद में उपदेश कुछ काम नहीं करता।' तब उनने अपने मामू काशिराज को उभारा, आधा राज देने का वचन दिया, और यों उसने इनके छोटे भाई पर चढ़ाई की॥

इस संकट के समय सुबाहु (अलर्क) ने अपनी माता के दिये यन्त्र को खोलके पढ़ा॥

चौपाई।

"करै न संग कबहुँ केहु केरो। करै तौ सन्तहि संग घनेरो॥"

श्लोक। "संगः सर्वात्मना त्याज्यः सचेच्छातुं न शक्यते।
सत्सद्भिः सहकर्तव्यः संगः संगारिभेषजम्॥ १॥

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारनिद्रां त्यज स्वप्नरूपां" मन्दालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥२॥

यह पढ़ते ही श्रीसीतारामकृपा से श्रीमाता के आसीस से इस वचन का ऐसा अधिकार इनके चित्त पर हुआ कि उसी क्षण वहीं से वन की ओर चल निकले। श्रीरामकृपा से श्रीदत्तात्रेयजी मिले।

"बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम शमन विषादा॥"

उनके सत्संग के उपरान्त, प्रसन्नतापूर्वक अपने बड़े भाईजी से जा मिले तथा माता के चरण पर गिरे और पिता एवं सब भाइयों के सत्संग का आनन्द पाया। सब मिल भगवद्भजन करने लगे॥

दो० "ऐसी श्रीमन्दालसा, राम भक्त सिरताज।
पति सुत तारण भव उदधि, आपुहिं भई जहाज॥"

यह घटना सुन वह राजा भी कि जिसने अलर्क (सुबाहु) पर चढ़ाई कर सुबाहु के जाने पर राज कर रहा था, अपने पुत्र को राज्य दे उन्हीं के पास जा भगवद्भजनपरायण हो गया॥

श्रीमन्दालसाजी की जय॥

(५८) श्रीसतीजी (श्रीउमाजी)

दक्षसुता श्रीसतीजी महारानी की कथा, श्रीशिवजी की कथा के अन्तर्गत (पृष्ठ ६२।६३) हो चुकी है॥

"सिय बेष सती जो कीन्ह तेहि अपराध शंकर परिहरी।
हर बिरह जाइ बहोरि पितु के यज्ञ योगानल जरी॥"

(५९) यज्ञपत्नी (श्रीमथुरानी चौबाइन)

संसार का प्राण "प्रेम" ही है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने गऊ चराते समय एक दिन चतुर्वेदी विप्रों (चौबे लोगों) को, यज्ञ करते देखा; अपने सखाओं को उनसे भोजन माँगने के लिये भेजा; चौबे लोगों ने नहीं दिया; सखा सब लौट आए॥

पुनः प्रभु ने उनको भेजा कि "चौबाइनों (उनकी स्त्रियों) से माँगना"। ब्रजचन्द महाराज का नाम सुनते ही वे सब अतिशय प्रेम से (अपने पतियों की आज्ञा के विरुद्ध) थालियों में भोजन व्यञ्जन ले ले

बन में पहुँच, श्रीनन्दनन्दन महाराज को सखाओं समेत भोजन करा, मनमानी भक्ति का बरदान पा, घर घर आ मंगलकारिणी हुईं ॥

सवैया।

"रूप गुन्यौ प्रथमै सुनिकै हरि देखन की अति लालसा जागी।
आय प्रत्यक्ष लखी तिनको अपने को गुनी जग में बड़ भागी॥
श्रीरघुराज अनूप स्वरूप हिये धरि मूँदि दृगैं अनुरागी।
मोहन को मिलिके मन में द्विजनारि बुझाइ दई बिरहागी॥"

---

(६०) श्रीगोपिकावृन्द।

"प्रेम"–हा! इस शब्द (प्रेम) के तो सुनते ही हृदय की कुछ और ही दशा हो जाती है; नेत्रों के सामने एक व्यवधान सा आ जाता है। प्रिय पाठक! संसार में ऐसा कौन सा अन्तःकरण है कि जिस पर इस तीक्ष्णशस्त्र ने अपना कठिन घाव न किया हो? चाहे थोड़ा चाहे बहुत।

परन्तु कहीं कहीं तो इसने ऐसी अपूर्व तथा विलक्षण दशा प्रकट की है कि जिसके सुनने समझने से बड़े बड़े कठोर चित्तवालों के नयनों से भी मघा की सी झड़ी लग जाती है। श्रीब्रजगोपियाँ ज्ञान और भक्ति की खानि वरञ्च साक्षात् परा प्रीति ही तो थीं॥

"श्री नारद भक्ति सूत्र" देखिये। वेद, ब्रह्मा, शिव, शेष, सनकादि, गणेश, नारद, शारदा, सूत, श्रीनाभास्वामी, श्रीतुलसीदासजी, श्रीसूरदासजी इत्यादिक बड़े-बड़े कुशल, कोई भी तो श्रीब्रजगोपिकाओं की पूरी प्रशंसा न कर सका, पर अपनी अपनी बाणी को कृतार्थ करने के हेतु कोई कुछ न कुछ कहे बिन रहा भी तो नहीं॥

आज तक साधारण लोक भी इनके प्रेम को गाते ही हैं। श्रीब्रज के कंज-कंज घर-घर हाट घाट बाट से सुन्दरियों की ऐसी पुकार सुनाई देती है कि–"हायश्याम! मिलिहौ कबै तुम बिन छिनु युग जात॥ १॥"

ऊधो! जोग कहत हैं काको?।
की दधि माखन के चाखन को, लाखन आंखन ताको॥
की जमुनातट पनघट ऊपर घट पटकन लीला को।

की मधुबन सँग श्याम बिहरिबो, हरिबो चीर अबला को ॥
की मुरली की तान मनोहर प्रान हरो नहिं थाको ।
की रस रास बास में बसिबो हसिबो हेरि हहा को ॥
हौं तो गई गुजरी उनहीं पै बांकी चितवनि जाको ।
इनते कछू और नहिं चाहों पावों "जीत" पिया को ॥ २ ॥
कबसे पियारे तिहारे दरस को, तरसत हैं मोरे नैन–राम ।
जोहत बाट कपाट सो लागी आठो पहर दिन रैन–राम ॥
ऐसी सुरतिया हा री बसी है, पलको न लागन दैन –राम ।
जानों न ठांव कहां तुम छाये, आये नहीं सुधि लैन–राम ॥
पतियां की बतियांको कौन चलावे,नेकहु सँदेसवो सरै न–राम ।
कासों कहूँ कोऊ सुनत न मोरी, बिछुरन की तोरी बैन–राम ॥
जो कोउ सुनत करेजवा है थामत, बिसरावत सुख चैन–राम ।
आवो प आवो देखावो छटा छबि, नना नोकीले व पैन–राम ॥
जो नहिं आवो पठावो खबरिया, ऐसी निठुरता पैन –राम ।
अन्तर की गति जाननहारो, तुम बिन कोऊ तो है न–राम ॥
जो मन भावे करो सोई प्रीतम,जीत कबहुँ बिसरै न–राम ॥ ३ ॥

माधो ! कहि न जाति गति ब्रज की । &c. &c ॥ ४ ॥
कहि न जात ब्रज की कछु बतियां ।
देखत ही मो को उठिधाईं ग्वाल गोपिका जतियां ॥
दिन की औरै दसा गोसाईं ह्वां की औरै रतियां ।
नहिं प्रतीति कोऊ उर आनत रहत वैसिये पतियां ॥
काह कहूँ कहि जात न मोपै भरिआवत हैं छतियां ।
जीत आपही जाय तो देखो निबहत है केहि भँतियां ॥ ५ ॥

(सर्व्वजीतलाल)

सवैया ।

सुत दारा औ गेह को नेह सबै तजि जाहि बिरागी निरन्तर ध्यावैं ।
यम नेम औ धारना आसन आदि करैं नित योगी समाधि लगावैं ॥
जेहि ज्ञान औ ध्यान ते जानै कोऊ औ अनादि अनन्त अखण्ड बतावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियां, छछिया भर छाँछ पै नाच नचावैं ॥ ६ ॥

श्लो० । "यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ॥
ते नाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषं नः ॥"

(जो दशमस्कन्ध का प्राण कहा जाता है,) सो कैसे अनूठे चित्त से निकला है ॥

गोपियों के प्रेम सा प्रेम, न तो होनेवाला, न है, और न हुआ; हाँ, श्रीजनकनगर की युवतियों की प्रीति और श्रीरघुवीरचरणानुरक्ति का क्या कहना ॥

चौपाई ।

कहि न सकहिं सत शारद शेसू । बेद बिरंचि महेश गनेसू ॥
सो मैं कहउँ कवनि बिधि बरनी । भूमि नाग सिर धरइ कि धरनी ॥

(८४) छप्पय (७५६)

अंघ्री अम्बुज पांशु को जनम जनम हौं जाचिहौं ॥ प्राचीन बर्हि[1], सत्यव्रत[2], रहुगण[3], सगर[4], भगीरथ[5]। बाल्मीकि[6], मिथिलेश[7],गए जे जे गोबिन्द पथ ॥ रुक्माङ्गद, हरिचन्द[10], भरत[12], दधीचि[13], उदारा । सुरथ[14], सुधन्वा, शिविर[16], सुमति अतिबलि-की-दारा[17] ॥ नील[18], मोरध्वज[19], ताम्रध्वज[20], अलर्क[21] की कीरति राचिहौं । अंघ्री अम्बुज पांशु को, जनम जनम हौं जाचिहौं ॥ ११ ॥ (२०३)

वार्तिक तिलक ।

इन भक्तों के चरणकमल की धूरि (पांशु) को, मैं जन्म जन्म याचूँगा इन्हीं भक्तों की रँगीली कीर्तियों से मैं रँग जाऊँगा ॥

(१) श्रीप्राचीनबर्हीजी	(४) श्रीसगरजी
(२) श्रीसत्यव्रतजी	(५) श्रीभगीरथजी
(३) श्रीरहूगणजी	(६) महर्षि श्रीबाल्मीकिजी

(७) श्रीबाल्मीकिजी, दूसरे	(१४) श्रीसुरथजी
(८) श्रीमिथिलेशजी महाराज	(१५) श्रीसुधन्वाजी
(९) जो जो श्रीविदेहवंशी श्रीभगवद्भक्ति के पथ में चले, ते सब	(१६) राजा श्रीशिविजी
(१०) श्रीरुक्माङ्गदजी	(१७) अतिसुमति श्रीबलिपत्नी रानी श्रीबिन्ध्यावलीजी
(११) श्रीहरिश्चन्द्रजी	(१८) श्रीनीलजी
(१२) श्रीभरतजी	(१९) श्रीमयूरध्वजजी
(१३) परमोदार श्रीदधीचिजी	(२०) श्रीताम्रध्वजजी
	(२१) श्रीअलर्कजी

(८५) टीका। कवित्त। (७५८)

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु साच, अहो! सन्तपद कंजरेनु सीसपर धारिये। प्राचीनबर्हि आदिकथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित्ततें न टारिये॥ भए भील संग भील, ऋषि संग ऋषि भए, भए रामदरशन, लीला बिसतारिये। जिन्हें जग गाय किहूं सकै ना अघाय चाय भाय भरि, हियो भरि, नैन भरि ढारिये॥ ७४॥ (५५५)

वार्त्तिक तिलक।

अहो! मुझको इस बात का तो कुछ भी शोच नहीं है कि मोक्ष न पाके जगत् में बारम्बार जन्म लूं, क्योंकि जन्म लेके यदि सन्तों के चरण कमल की रज सोस पर धारण करूं तो मुक्ति से भी अधिकतर सुख मानूंगा। प्राचीनबर्ही आदिक भक्तों की कथा श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों से जगत् में प्रसिद्ध ही है। परन्तु महर्षि श्रीबाल्मीकि जी, तथा दूसरे बाल्मीकिजी, इन दोनों भक्तों की कथा चित्त से न टालना चाहिये क्योंकि दोनों की वार्त्ता अनोखी हैं॥

(६१) महर्षि श्रीबाल्मीकिजी

आदि कवि श्रीबाल्मीकिजी भिल्लों का संग पाके भिल्ल ही होगए; पुनः श्रीसप्तर्षि के सत्संग से महर्षि होगए, कि साक्षात् श्रीसीताराम लक्ष्मणजी ने आपके आश्रम में जाके दर्शन दिया॥

आपने विस्तारपूर्वक श्रीरामायणलीला को गान किया, कि

जिसके श्रवण अनुकथन से संसार के सज्जनों को किसी प्रकार से तृप्ति होती ही नहीं। "रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन नाहीं॥" वरंच श्रवण और गान करने पर अत्यन्त चाव भाव हृदय में भर आता है। और नेत्रों से प्रेमाश्रु का प्रवाह ढलने लगता है॥

सो० "बन्दौं मुनि पद कंज, रामायण जिन निर्मयउ।
सखर सकोमल मंजु, दोष रहित दूषण सहित॥"

श्रीबाल्मीकिजी थे तो ब्राह्मण परन्तु भीलद्वारा पाले गए तथा भीलिनी ही से विवाह भी हुआ। पथिकों को मारना लूटना यही उनका उद्यम था। "को न कुसंगति पाइ नशाई।" करुणाकर हरि की इच्छा से एक दिन श्रीसप्तर्षि (१ कश्यप २ अत्रि ३ भरद्वाज ४ बसिष्ठ ५ गौतम ६ विश्वामित्र और ७ जमदग्नि) उसी ओर से जा निकले। इन्हें भी जब आपने लूटना मारना चाहा तो महात्माओं ने यों उपदेश दिया कि "रे द्विजाधम!

दो० जो तेरे यमदण्ड में, भागी होइ न कोइ!
तौ कत कीजत पाप हठि, घोर दण्ड जिहि होइ?"

चौपाई।

सुत तिय उत्तर दियो प्रचण्डा। "हम नाहीं भागी यमदण्डा॥"

श्रीसीताराम कृपा से महाभागवत सप्तर्षि के दर्शन सम्भाषण से उनकी किरातबुद्धि जाती रही; विरक्ति तथा सुबुद्धि उत्पन्न हुई; "पाहि पाहि" कह, चरण पर गिर, अपने कल्याण का उपदेश पूछा। दिव्यदर्शन करुणापूर्ण सन्तों ने कृपा करके देशकाल पात्रानुसार आज्ञा यह दी कि "मरा मरा रट।" वे वहीं बैठ अमित काल पर्य्यन्त "मरामरामरामरा" रटते जपते रहे॥

चौपाई।

"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परसि कुधातु सुहाई॥"

सहस्र युग बीतने पर पुनः श्रीसप्तर्षि कृपा करके उधरही से आए और बाल्मीकि (बामी) में से अन्वेषण करके उन्हें ढूँढ निकाला,

"बाल्मीकि" नाम रक्खा। व्याध को राम कृपा तथा नाम प्रताप से शुद्ध सिद्ध मुनीन्द्र पाया। सत्सङ्ग की जय॥

"जहां बालमीकि भए व्याध तें मुनीन्द्र साधु 'मरा मरा' 'जपि' सुनि सिष ऋषि सात की॥"

चौपाई।

"उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥"

श्रीसीताराम मन्त्रराज का उपदेश करके, श्रीसप्तर्षि चले गए। श्रीरामनाम का माहात्म्य कौन किस प्रकार से कहे?॥

श्रीनारद भगवान् तथा जगत्पिता श्रीब्रह्माजी ने कृपा करके महर्षि आदिकवि महाराज को श्रीरामगुण तथा रामचरित से परिचित किया। महर्षि ने शतकोटि रामायण कीर्त्तन किया। "चरितं रघुनाथस्य शतकोटि-प्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥ कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम्" (कवित्त) विधिजू सुजस बीज बोये बिश्वबाग बीच, बारिबर दै बढ़ाए मोक्षफल काम हैं। सगुणावतार ब्रह्मयश 'रसराम' थंभ, काण्ड सप्तकाण्ड, सर्ग पत्र अभिराम हैं॥ त्रेता ऋतुराज, रामअयन रसाल तरु, कबिता सुसाखा पै बिराजैं बसु जाम हैं। कूजत मधुर मधुराखर श्रीराम राम बन्दौं बालमीकि कबि कोकिल ललाम हैं॥

चौपाई।

"राम लषन सिय प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥
देखत बन सर सैल सुहाए। बालमीकि आश्रम प्रभु आए॥"

दो० "सुचि सुन्दर आश्रम निरखि, हरषे राजिवनैन।
सुनि रघुबर आगमन मुनि, आगे आयउ लैन॥"

चौपाई।

"मुनि कहँ राम दण्डवत कीन्हा। आसिरबाद बिप्रबर दीन्हा॥
देखि राम छबि नैन जुड़ाने। करि सनमान आश्रमहिं आने॥
मुनिबर अतिथि प्रान प्रिय पाए। कंदमूलफल मधुर मँगाए॥
सिय सौमित्रि रामफल खाए। तब मुनि आसन दिये सुहाए॥

बालमीकि मन आनँद भारी। मंगल मूरति नैन निहारी॥"

सो० "राम स्वरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार, 'नेति नेति' नित निगम कह॥"

"श्रीबाल्मीकीय रामायण" बड़ा प्रामाणिक ग्रन्थ है।

(१) श्रीबाल्मीकीय रामायण (२) श्रीभागवत (३) पराशरीय-श्रीविष्णुपुराण (४) मनुस्मृति और (५) *महाभारत, ये पांचों बड़े ही प्रामाणिक माने जाते हैं॥ अङ्गरेजी, फ़ारसी आदि में भी इनके अनुवाद हैं॥

(६२) दूसरे श्रीबाल्मीकिजी।

(८६) टीका। कवित्त। (७५७)

हुतो बालमीकि एक सुपंच[१] सुनाम, ताको श्याम लै प्रगट कियो, भारथ में गाइये। पांडवन मध्य मुख्य धर्मपुत्र राजा, आप कीनो यज्ञ भारी, ऋषि आए, भूमि छाइये॥ ताको अनुभाव शुभ शंख सो प्रभाव कहै, जो पै नहीं बाजै तो अपूरनता आइये। सोई बात भई बहु बाज्यो नाहिं, शोच पख्यो, पूछैं प्रभु पास "याकी न्यूनता बताइये"॥ ७५॥ (५५४)

वार्त्तिक तिलक।

अब दूसरे बाल्मीकिजी की कथा कहते हैं। एक सुपच गुप्त भगवद्भक्त "बाल्मीकि" नाम के थे। उनको श्रीश्यामसुन्दरजी ने प्रगट किया; सो कथा "महाभारत" ग्रन्थ में गाई हुई है॥

पांचो पाण्डवों के मध्य में ज्येष्ठ धर्म्मपुत्र श्रीयुधिष्ठिरजी राजा थे। आपने इन्द्रप्रस्थ में एक बड़ा भारी यज्ञ किया, जिसमें सम्पूर्ण ऋषिवर्ग आए, जिनसे समस्त यज्ञभूमि भर गई॥

उस यज्ञ के पूर्ण होने का अनुभाव प्रभाव यह था कि एक शंख रक्खा गया, कि जब वह आपसेआप बज उठे तब यज्ञ को सम्पूर्ण जानें। और यदि शंख स्वतः न बजे, तो जानिये कि यज्ञ पूर्ण न हुआ; सो वैसा ही हुआ अर्थात् शंख नहीं बजा॥

तब युधिष्ठिरादिक को बड़ा ही शोच हुआ; और श्रीकृष्णचन्द्रजी

---

* श्रीभगवद्गीता तो महाभारत के अन्तर्गत है॥

१ "सुपच" (श्वपच)=जो श्वान का मांस भी राँध के खा जावे, भंगी॥

से पूछने लगे कि "किस घटती (न्यूनता) से शंख नहीं बजा ? सो कारण आप कृपा करके बता दीजिये ॥"

(८७) टीका । कवित्त । (७५६)

बोले कृष्णदेव, याको सुनो सब भेव, ऐपै नीके मानिलेव बात दुरी[1] समुझाइये । भागवत संत रसवंत कोऊ जेंयो नाहिं, ऋषिनसमूह भूमि चहूँ दिशि छाइये ॥ जोपै कहौ "भक्त नाहीं" नाहीं कैसे कहौं गहौं गांस[2] एक और कुलजाति सो बहाइये । दासनि को दास, अभिमान कोन बास[3] कहूँ, पूरण को आस, तौपै ऐसो लै जिंवाइये ॥ ७६ ॥ (५५३)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीकृष्ण भगवान् ने उत्तर दिया कि इसका सब भेद सुनो । परन्तु सुनके उसको भलेप्रकार से मानना । क्योंकि मैं तुम्हें गोप्य रहस्य बताए देता हूँ । यद्यपि ऋषियों के वृन्द तो आके यज्ञभूमि में चारों ओर छाए हुए हैं, परंच किसी भक्तिरसरसिक भागवत मेरे प्यारे सन्त ने तुम्हारे इस यज्ञ में भोजन नहीं किया, इसीसे शंख नहीं बजा । यह यदि कहिए कि "क्या ये सब मुनिगण आपके भक्त नहीं हैं ?" तो यह कैसे कहूँ कि "ये मेरे भक्त नहीं हैं" परन्तु एक और ही गांस ग्रहण करने योग्य है; कि ये सब ऋषिमुनि आचार, ब्रह्मज्ञान, जाति तथा कुल के अभिमान से भरे हुए हैं; पर मेरा भक्त तो जाति और कुल आदिक के अभिमान को भक्तिरूपी निर्मल नदी में बहा के मेरे दासों का भी दास हो कर समस्त अभिमानों के लेशसे रहित रहता है ॥

चौपाई ।

"भक्ति बिरति बिज्ञान निधाना । बास बिहीन गलित अभिमाना ॥
रहहिं अपनपौ सदा दुराए । सब बिधि कुशल कुबेष बनाए ॥
तेहिते कहहिं सन्त श्रुति टेरे । परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥
प्रभु जानत सब बिनहिं जनाए । कहहु लाभ का लोक रिझाए ॥"

दो० "तिनहिं न जानहिं प्रगट सब, ते न जनावहिं काहु ।
लोकमान्यता अनल सम, कर साधन बन दाहु ॥"

---

१ "दुरी"= छुपी, गुप्त । २ "गांस"= गुप्त सूक्ष्म बात । ३ "बास" = गन्ध; तनक कुछ ॥

"यदि तुम्हें यज्ञ की पूर्णता की इच्छा हो, तो ऐसे मेरे प्यारे भक्त को भोजन कराओ ॥"

(८८) टीका । कवित्त । (७५५)

ऐसो हरिदास पुरआसपास दीसै नाहिं, बासबिनु[1] कोऊ लोक लोकनि में पाइये । "तेरेई नगर मांझ निशि दिन भोर सांझ आवै जाय, ऐपै काहू बात न जनाइये" ॥ सुनि सब चौंकि परे, भाव अचरज भरे, हरे मन नैन "अजू ! बेगिही बताइये । कहां नाव ? कहां ठांव ? जहां हम जाय देखैं, लेखैं करि भाग, धाय पाय लपटाइये ॥ ७७ ॥ (५५२)

वार्त्तिक । तिलक ।

ऐसे श्रीमुखबचन सुनके श्रीयुधिष्ठिरजी बोले कि "ऐसे भगवत् दास तो हमारे नगर के आसपास कहीं दिखाई नहीं देते; वरंच ऐसे विरक्त सर्व वासनाविगत सन्त कदाचित् कहीं किसी लोक लोकान्तर में मिलें तो मिलें।" तब आपने कहा कि "तुम्हारे ही पुर में तो दिन रात रहते हैं, और नित्यही सांझ सबेरे तुम्हारे यहां आते जाते हैं; परन्तु न कोई उनके प्रभाव को जानता है, और न वे किसी को जताते हैं ॥"

यह सुनते ही सब चकित होके आश्चर्य्यभाव में मग्न हो गए; सब के मन तथा नेत्र दर्शन के अभिलाष से अकुला उठे; और सब कहने लगे कि अब कृपा करके शीघ्र ही बता दीजिये कि "उनका क्या नाम है और वे कहां विराजते हैं, जहाँ हम जाके दर्शन करके अपना धन्यभाग्य मानें और उनके चरणकमल में लपट जायँ ॥"

(८९) टीका । कवित्त । (७५४)

"जितै मेरे दास कभं चाहैं न प्रकास भयो, करौं जो प्रकास, मानैंमहा-दुखदाइये । मोको पर्‌यो सोच यज्ञपूरन की लोच[2] हिये वाको नामकहूं; जिनि[3] ग्रामतजि जाइये ॥ ऐसौ तुम कहौ, जामें रहो न्यारे प्यारे ! सदा, हमहीं लिवाइ ल्याइ, नीकेकै जिमाइये[4] । जावो 'बालमीक' घर, बड़ो अवलीक[5] साधु; कियो अपराध हम दियो जो बताइये" ॥७८॥ (५५१)

१ "बासबिनु"=गृहहीन, विरक्त; वासना विगत, इच्छा रहित ।

२ "लोच" =देखने की इच्छा । ३ "जिनि" =मत, नहीं ४ "जिमाइये" =जिंवाइये, भोजन कराइये । ५ "अवलीक" =निर्व्यलीक, सच्चा ॥

वार्त्तिक तिलक।

तब प्रभु ने कहा कि "जितने मेरे सच्चे दास हैं, वे कभी लोक में प्रकाशित नहीं हुआ चाहते; और यदि मैं उनके गुणों का प्रकाश करूँ, तो वे उस प्रकाश को अपने मन में बड़ा दुखदाई मानते हैं। परन्तु अब मुझे बड़ा ही सोच पड़ा क्योंकि तुम्हारे यज्ञ को पूर्ण देखने की बड़ी भारी इच्छा है। और यदि मैं तुम से उनका नाम बताऊँ तो कहीं ऐसा न हो कि वे इस ग्राम ही को छोड़ के चले जावें।"

श्रीयुधिष्ठिरजी बोले कि "हे प्यारे! आप इस प्रकार से बता दीजिये कि जिसमें आप तो सदा अलग के अलग ही रहिये, पर हम ही जाके लिवाय लावें, और भली भाँति से भोजन करावें।" श्रीकृष्णभगवान् ने आज्ञा दी कि "बाल्मीकि के घर जाओ; वे सच्चे बड़े ही साधु हैं। क्या कहूँ! मैंने उनका बड़ा अपराध किया कि तुमसे प्रगट कर बता दिया॥"

(६०) टीका। कवित्त। (७५३)

अर्जुन औ भीमसेन चलेई निमन्त्रन को, अन्तर उघारि कही भक्ति-भाव दूर[1] है। पहुँचे भवन जाइ, चहुँ दिशि फिरि, आइ, परे भूमि, झूमि, घर देख्यो छबि पूर है॥ आए नृपराजनि को देखि, तजे काजनि को, लाजनि सों कांपि कांपि भयो मन चूर है। पायनि को धारिये जू, जूठन को डारिये जू, पापग्रह[2] टारिये जू, कीजे भाग भूर है॥ ७६॥ (५५०)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभुआज्ञानुसार श्रीअर्जुनजी तथा भीमसेनजी उनको नेवता देके लाने के लिये चले; प्रभु ने हृदय खोलके कह दिया कि "जाते तो हो परन्तु मन में कोई न्यूनता नहीं लाना, क्योंकि भक्ति का भाव बहुत ही अगम होता है॥"

वे दोनों इनके घर जा पहुँचे; चारो ओर फिरके इनके घर की परिक्रमा कर, सम्मुख आ, प्रेम से झूम झूम भूमि में पड़ उन दोनों

१ "दूर"=दुरी, समीप नहीं, छुपी, अप्रगट। २ "पापग्रह"=शनि, राहु, केतु, जो जो प्रतिकूल हों॥

ने दण्डवत् किये, और देखा कि इनका भवन, भीतर श्रीभगवन्नाम शंख चक्र चिह्न श्रीतुलसीवृन्द इत्यादिक भक्ति सामग्री की छवि से भरा है। जब इनने देखा कि राजाओं के राजा मुझ दीन के घर आए, तो भजन के कार्य्यों को छोड़ दिया, और अत्यन्त लज्जा से मन में चूर चूर होके काँपने लगे॥

श्रीअर्जुनजी ने प्रार्थना की कि "महात्माजी! आप कृपा करके मेरे घर चरण धरिये, भोजन करके अपना जूठन गिराइये और हमारे घर को सम्पूर्ण पापों से रहित तथा शुद्ध करके हमको पापग्रहों से छुड़ाके हम सबको बड़ भागी कीजिये॥

(६१) टीका। कवित्त। (७५२)

"जूठनि लै डारौं, सदा द्वार को बुहारौं, नहीं और कों निहारौं अजू! यही सांचोपन है"। "कहो कहा?" जेंवो कछू पाछे लै जिंवावो हमें जानी गई रीति भक्तिभाव तुम तन है॥ तब तो लजानौ, हिये कृष्ण पै रिसानौ, नृप चाहौ सोई ठानौ, मेरे संग कोऊ जन है। भोर ही पधारौ अब यही उर धारौ और भूलि न बिचारौ कही भली जो प मन है॥ ८०॥ (५४६)

वार्त्तिक तिलक।

यह सुन, श्रीबाल्मीकिजी अपने प्रभाव को छिपाते और निज जाति की न्यूनता को प्रगट करते हुए बोले कि, "अजी महाराज! मेरी तो यही प्रतिज्ञा है ही कि सदा आपके जूँठे पत्तल आदि बाहर फेंक आया करता हूँ, और आपही के द्वार को झाड़ता बहारता हूँ दूसरे किसी की ओर तो मैं देखता तक नहीं॥"

श्रीअर्जुनजी ने सादर कहा कि "आप यह क्या कहते हैं? कृपा करके चलिये, हमारे यहाँ कुछ भोजन कीजिये और पीछे हम लोगों को खिलाइये; आपको भोजन कराए बिन हम लोग खा नहीं सकते, क्योंकि हम आपके स्वरूप तथा प्रभाव को भले प्रकार से जान चुके हैं कि प्रभु की प्रीति रीति भक्तिभाव से आपका तन मन पूर्ण है॥"

तब तो श्रीबाल्मीकिजी लजाए और हृदय में श्रीकृष्णचन्द्र पर

रिसियाने कि "प्रभो! मुझे प्रगट करना यह तुम्हारा ही काम है! तुमने यह क्या किया?" फिर प्रत्यक्ष में श्रीअर्जुनजी से कहा कि "आप राजा हैं, जो चाहिये सो कीजिये; मैं क्या कर सकता हूँ, क्या कोई सहाय करनेवाले मनुष्य मेरे साथ हैं?"

श्रीअर्जुनजी ने कहा कि "इन सब बातों को छोड़के हम पर कृपा कीजिये, और हमारे घर आप कल सवेरे ही पधारिये; अब दूसरा कुछ भूलके भी न बिचारिये; केवल हमारी प्रार्थना ही को अङ्गीकार कीजिये॥"

जब महात्माजी ने उनका यह आग्रह तथा ऐसी श्रद्धा और प्रीति देखी, तो सरलवाणी से बोले कि "बहुत अच्छा, जो आपकी वही रुचि है तो वैसा ही करूँगा॥"

(६२) टीका। कवित्त। (७५१)

कही सब रीति, सुनि धर्मपुत्र प्रीति भई, करी लै रसोई, कृष्ण द्रौपदी सिखाई है। "जेतिक प्रकार सब ब्यञ्जन सुधारि करो, आजु तेरे हाथनि को होति सफलाई है"॥ ल्याए जा लिवाइ, कहे "बाहिर जिमाई देवो," कही प्रभु "आपु ल्यावो अंक भरि भाई है"। आनि कै बैठायो पाकशाल में, रसाल आसलेत बाज्यो शंख, हरि दण्डकी लगाई है॥८१॥(५४८)

वार्त्तिक तिलक।

आयके, श्रीअर्जुनजी और भीमसेनजी ने श्रीयुधिष्ठिरजी से श्री-बाल्मीकिजी की रीति प्रीति भक्ति का वर्णन किया। सुनके श्रीधर्मपुत्र महाराज को अत्यन्त प्रेम हुआ और मन में कहा कि--

"हरि को भजै सो हरि को होई। जाति पांति पूछै नहिं कोई॥"

तदनन्तर श्रीद्रौपदीजी रसोई करने लगीं; श्रीकृष्ण भगवान् ने उनको सिखाया कि "जितने प्रकार के ब्यञ्जन तुम जानती हो सो सब अच्छे प्रकार से सुधार के करो; आज तुम्हारे हाथों की सफलता है॥"

फिर भोजन के समय युधिष्ठिरादि स्वयं जाके उनको सादर ले आए। श्रीबाल्मीकिजी ने कहा कि "मुझे बाहर यहीं बैठाके प्रसाद पवा दीजिये" परन्तु प्रभु ने श्रीअर्जुनजी से आज्ञा की कि ऐसा नहीं, बरंच मेरी

तो यह रुचिहै कि इनको सादर भीतर ले चलके बैठाओ"। ऐसाही किया अर्थात् पाकशालामें ही बिठलाके उनके आगे व्यंजनों के थार ला रक्खे॥

श्रीबाल्मीकिजी ने मनही में श्रीकृष्ण भगवान् को अर्पण किया।

चौपाई।

"प्रभुहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषण धरहीं॥"

फिर ज्योंहीं परम रसाल ग्रास मुख में डाला, उसी क्षण शंख बजा। बजा तो सही, परन्तु भली भाँति से नहीं। तब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उस शंख को एक छड़ी लगाई॥

(६३) टीका। कवित्त। (७५०)

सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो? कछु लाज्यो कहा? भक्ति को प्रभाव तैं न जानत यों जानिये"। बोल्यो अकुलाय, "जाय पूछिये जू द्रौपदी कों, मेरो दोष नाहिं, यह आपु मन आनिये"॥ मानि सांच बात "जाति बुद्धि आई देखि याहि, सबही मिलाई मेरी चातुरी बिहानिये"। पूंछेते, कही है बालमीकि "मैं मिलायों यातें आदि प्रभु पायो पाउँ स्वाद उन मानिये"॥ ८२॥ (५४७)

वार्त्तिक तिलक।

और, प्रभु ने पूछा कि "क्योंरे शंख! तू प्रत्येक सीथ पर नीके प्रकार से क्यों नहीं बजता? कुछ लज्जित सा होके क्यों बजा है? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तू इनकी भक्ति के प्रभाव को नहीं जानता।" तब वह अभिमन्त्रित दिव्य शंख अकुलाके स्पष्ट बोला कि "इसका कारण आप जाके श्रीद्रौपदीजी से पूछिये; इसमें मेरा दोष नहीं है आप इसे अपने मन में निश्चय मानिये॥"

श्रीप्रभु के पूछने पर श्रीद्रौपदीजी ने शंख की वार्त्ता को सत्य मानके कहा कि "हां प्रभो! मुझे इनमें जाति बुद्धि आ गई क्योंकि इन्होंने पदार्थों को एक में मिला करके मेरी चातुरी की हानि कर डाली। मैं इनसे, शंख से, तथा आपसे तीनों से क्षमा माँगती हूँ॥"

इस पर प्रभुने श्रीबाल्मीकिजी से पूछा कि "तुम, इन बिबिध प्रकार के व्यंजनों को एक में मिलाके क्यों पाते हो?॥"

आपने उत्तर दिया कि "इन सब पदार्थों को प्रथमतः आपने तो पाया ही है, इससे ये सब आपके प्रसाद हुए। अब मैं इन्हें पृथक् पृथक् पाके, प्रत्येक के स्वाद को अनुमान नहीं किया चाहता हूँ, स्वाद लेने से प्रसाद का भाव जाता रहेगा॥"

ऐसा सुनते ही, श्रीद्रौपदी युधिष्ठिरादिका अधिक भाव इनमें हुआ तब शंख की ध्वनि भली भाँति हुई और यज्ञ पूर्ण हुआ। देवता फूलों की बर्षा करने लगे। सब बोले कि श्रीभक्ति महारानीजी की जय!॥

(६३) श्रीप्राचीनबर्हिजी।

राजा प्राचीनबर्हि पूर्व मीमांसा के अनुसार यज्ञादिक कर्म विधिवत् किया करते थे। इनके कई सहस्र पुत्र हुए; परन्तु देवर्षि श्रीनारदजी कृपासिन्धु ने दया करके भक्तियोग के अनुपम रहस्य का उपदेश कर, उन सबको विरक्त बना, हरिभजन में तत्पर कर ही तो दिया। कृपा करके राजा से कहा कि "आँखें मूंद के देख तो"। उसने और यज्ञ करानेवालों ने देखा कि बहुत पशु कि जिनको उन्होंने यज्ञ में बलि दिया था कोप करके खड़े हैं और इनसे अपना अपना पलटा लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। "पर पीड़ा सम नहिं अधमाई"॥ "परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा"॥

वह देख राजा के रोमांच खड़े हो गए और वह समझ गया कि हिंसा वास्तव में महापाप है। श्रीनारदजी का उपदेश पाकर श्रीरामकृपा से राजा तथा यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण सब भगवद्भक्तिरूपी बोहित के सहारे संसार सागर तर के परमधाम को चले गए॥

दो० "उमा! दान, मष, यज्ञ, तप, नानाब्रत, अरु नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निःकेवल प्रेम॥"

(६४) श्रीसत्यब्रतजी।

श्रीभगवत् के "मीन" अवतार इन्हीं की अंजली में प्रगट हुए थे। राजा सत्यब्रतजी सिन्धुतीर सन्ध्या कर रहे थे सूर्य्य भगवान् को अर्घ देने के समय एक विचित्र मत्स्य इनकी अञ्जली में आ गिरा। राजा ने कमण्डल में छोड़ दिया। वह बढ़ने लगा और ऐसी

विलक्षण रीतिसे कि जब क्रमशः घट, ह्रद, और सर में भी नहीं अँटा तब उसे समुद्र में पहुँचा दिया। वहाँ आप दशलाख योजन लंबे हो गये और उसके सातवें दिन प्रलय हुआ। मीन भगवान्‌की आज्ञा और उपदेशसे, एक अलौकिक नौका पर, सप्तर्षि इत्यादि और औषधियों समेत, राजा चढ़े। मत्स्यभगवान् ने अपने शृङ्ग में उस नौका को वासुकी नाग से बँधवालिया और उस महा जलार्णव में राजा को उनके साथियों सहित बचा लिया। यही राजा सत्यव्रत की संक्षिप्त कथा है॥

"केशव! धृत मीनशरीर; जय जगदीश हरे!"

(२) एक दूसरे "श्रीसत्यव्रतजी" रघुवंशी "श्रीबीरमणिजी" थे जिनके नाम "अन्नदाता" आदि भी थे॥

(६५) श्रीमिथिलेशजी।

श्रीमिथिलेश "निमि" जी महाराज की चर्चा श्रीग्रन्थकार स्वामीजी आगे चलके, नवें छप्पय (तेरहवें मूल) में करेंगे; और श्रीमिथिलेश जनकजी महाराज की कथा, हो चुकी है॥

(६६) राजा श्रीनीलध्वजजी।

राजा श्रीनीलजी श्रीनर्मदा तट माहिष्मती में रहते थे। उनके पुत्र प्रवीर ने श्रीअर्जुनजी के यज्ञ के घोड़े को बांध रक्खा; पर लड़ाई में वह हार के अपने पिता नील राजा के पास भाग गया। श्रीनीलजी ने अपने जामाता पावक देव को स्मरण किया जिनने उनके साथ समर में जाकर श्रीअर्जुनजी की बहुत सेना जला डाली; श्रीअर्जुनजी ने वारुणास्त्र से अग्नि को शान्त किया चाहा, पर न होसका। तब श्रीकृष्ण भगवान् के उपदेश से वैष्णवास्त्र चलाया, जिससे पावक देव भाग चले और जाकर उनने नीलजी से कहा कि "जीतना कदापि सम्भव नहीं; अब यज्ञाश्व को छोड़दो, देदो॥"

श्रीनीलजी ने घोड़ा देकर अश्वमेध के अनन्तर, प्रभु के प्रिय सखा श्रीअर्जुनजी से विनय कर, उनके तथा प्रद्युम्नजी के द्वारा, श्रीहरिभक्ति पाके, श्रीवैकुण्ठ में अचल बास पाया॥

(६७) श्रीरहूगणजी।

राजा श्रीरहूगणजी बड़े प्रतापी तथा बुद्धिमान् थे। एक दिन आप, ज्ञानप्राप्तिके लिये श्रीकपिल भगवान् के दर्शन को शिविका (पालकी) पर, जा रहे थे। पंथ में एक कहार की आवश्यकता आ पड़ी तो लोग एक हृष्ट पुष्ट मनुष्य को पकड़ लाए और पालकी में डुरादिया (लगादिया)। आप "श्रीजड़भरतजी थे"। आप मार्ग को देखभालके जीव जन्तु बचाके पग धरते और कभी २ कूद भी जाते थे। इससे पालकी बहुत हिलती तथा राजा को कष्ट होता था॥

राजा के रजोगुणी हृदय से तमोगुणमय वार्त्ता श्रवण करके जब महात्मा ने सतोगुणी प्रसंग प्रारंभ किया तब राजाजी समझ गए कि ये कोई महान् पुरुष (परमहंस) हैं। तब शिविका से उतर, पांव पड़, आपसे सादर विनय किया, क्षमा मांगी, और इष्ट वार्तालाप करने लगे॥

आपके उपदेश से राजा कृतार्थ हो अपनी राजधानी को लौट आए॥

श्री "जड़भरत" जी और राजा रहूगण का संवाद श्रीमद्भागवत के पांचवें स्कन्ध में अवश्य देखना सुनना चाहिये॥

---

(६८) श्रीसगरजी।

राजा सगर को उनकी सौतेली माता ने गर्भ ही में विष दे दिया था; परन्तु रामकृपा से बचे। राजा सगर के, एक स्त्री से, असमंजस नाम एक पुत्र, और दूसरी स्त्री से ६०००० (षष्टिसहस्र) बेटे हुए। असमंजस ने प्रजा के साथ कठिन उपद्रव किया इससे राजा ने उसको देश से निकाल दिया। तब असमंजसजी, अपने योगबल से प्रजा का कल्यान करके, आप बन में रहके हरिभजन करने लगे॥

राजा सगर के अश्वमेध यज्ञ से इन्द्र घोड़ा चुरा लेजाकर श्रीकपिलदेवजी के आश्रम में बांध आए। सगर के साठसहस्र पुत्रों ने घोड़ा ढूंढ़ने में पृथ्वी खोदी कि जिससे सागर हुआ। वे जब श्रीकपिलदेवजी के पास यज्ञपशु (अश्व) को देख कपिल भगवान् को दुर्वचन कहनेलगे, तब आपने आंखें खोलीं। दृष्टि पड़ते ही साठो सहस्र भस्म होगए॥

असमंजस के पुत्र अंशुमान ने श्रीकपिल महाराज की स्तुति की। आपने प्रसन्न हो घोड़ा दे दिया; तथा श्रीगंगाजी को लाने की आज्ञा दी। घोड़ा लाकर अंशुमान ने अपने दादा (पितामह) राजा सगर को दिया॥

श्रीसगरजी ने यज्ञ पूर्ण कर, अंशुमान को राज्य दे, आप वन को जा भगवद्भजन कर परांगति पाई॥

(६९) महाराज श्रीभगीरथजी।

राजा अंशुमान ने बहुत दिन राज्य कर, अपने पुत्र दिलीप को राज्य दे, तप किया तथा दिलीप राजाने भी श्रीगंगाजी ही के लिये तपकिया। राजा भगीरथ ने विवाह करने के पूर्व ही तप करना आरम्भ किया, उनके तप से श्रीरामकृपा से श्रीगंगाजी आईं, इसीलिये श्रीगंगाजी भागीरथी के नाम से भी पुकारी जाती हैं। श्रीभगीरथजी की भक्ति को धन्यवाद जिनके द्वारा श्रीगंगाजी प्रगट हुई हैं। "जय जय जय सुरसरि! तवरेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू॥ जय भगीरथनन्दिनी, मुनिचय चकोर-चन्दिनी, नरनाग बिबुधबन्दिनी, जय जह्नुबालिका। बिष्णु पद सरोजजासि, ईश सीस पर बिभासि, त्रिपथगासि पुण्यराशि, पाप छालिका॥ बिमल बिपुल बहसि बारि, शीतल त्रय तापहारि, भवँरबर विभंगतर तरंगमालिका। पुरजन पूजोपहार शोभित शशिधवलधार, भंजनि भवभार भक्तकल्पथालिका॥ निज तटबासी बिहंग जलथलचर पशु पतंग कीट जटिल तापस, सब सरिस पालिका। "अवधपुरीसरयुतीर सुमिरत रघुबंशबीर बिचरत मति" देहि मोहमहिष कालिका!॥"

(७०) श्रीरुक्माङ्गदजी।

(९४) टीका। कवित्त। (७४९)

रुक्मांगद बाग शुभ गन्ध फूल पागि रह्यो, करि अनुराग देवबध लेन आवहीं। रहि गई एक, कांटा चुभ्यो पग बैंगन को, सुनि, नृप माली पास आए सुख पावहीं॥ कहौ "को उपाय स्वर्गलोक को पठाइ दीजै" "करै 'एकादशी' जलधरै कर जावहीं"। "ब्रत को तो

नाम यहि ग्राम कोऊ जानै नाहिं" "कीनो हो अजान कालिह, लावो गुन गावहीं" ॥ ८३ ॥ (८४६)

वार्त्तिक तिलक ।

भगवद्भक्त राजा श्रीरुक्माङ्गदजी की पुष्पवाटिका फूलकर सुन्दर सुगन्धित फूलों से भरी पगी सुशोभित हो रही थी, यहां तक कि स्वर्ग की वाटिकाओं से भी अधिक उत्तम थी, और इससे स्वर्गस्त्रियाँ (अप्सराएँ) भी रात्रि में प्रेम से फूल ले जाया करती थीं ॥

एक बार उनमें से एक अप्सरा के पांव में भांटे का काँटा चुभ गया, अतः उसका पुण्य क्षीण होने से उसकी आकाश में उड़ने की दिव्यगति नष्ट होगई अतएव बाटिका ही में रह गई। यह वार्त्ता मालियों से सुनके श्रीरुक्माङ्गदजी ने, स्वयं वहां पहुँचके उस अप्सरा को (श्रीरामकृपा से अकाम दृष्टि से ही) देखा, और प्रसन्न होके उससे पूछा कि "तुम्हारे स्वर्ग जाने का कोई उपाय हो तो बताओ कि जिससे हम तुमको स्वर्ग को भेज दें ॥"

उस अप्सरा ने उत्तर दिया कि "जिसने 'एकादशी' का व्रत किया हो, वह यदि अपने एक एकादशी के व्रत का फल संकल्प करके जल मेरे हाथ में दे देवे तो मैं स्वर्ग को चली जाऊँ" राजा ने उत्तर दिया कि "इस व्रत का तो नाम भी कोई इस नगर में नहीं जानता ॥"

तिसपर अप्सरा बोली कि "कल एकादशी थी; कदाचित् कोई अज्ञात हू से भूखा रह गया हो, तो उसको लाके उसका ही फल मुझको दिलवा दीजिए, तो मैं स्वर्ग को चली जाऊँगी और आपके इस उपकार को सदा मानती गाती रहूँगी ॥"

(६५) टीका । कवित्त । (७४८)

फेरी नृप डौंड़ी; सुनि, बनिक की लौंड़ी भूखी रही ही कनौड़ी, निशि जागी, उन मारियै। राजा ढिग आनि करि दियो व्रतदान; गई तिया यों उड़ानि निज लोक को पधारियै ॥ महिमा अपार देखि भूप ने विचारी याकों "कोउ अन्नखाय ताको बांधि मार डारियै"। याही के प्रभाव भाव भक्ति बिसतार भयो, नयो चोंज सुनो सब पुरी लै उधारियै ॥ ८४ ॥ (५४५)

वार्त्तिक तिलक ।

यह सुन, राजा ने अपने नगर में डौंड़ी फिरवा दी कि "कल जो कोई दिनरात भूखा रह गया हो सो राजा के समीप चले !!! उस पर महाराज अति प्रसन्न होंगे"। ऐसा ढिंढोरा सुनके एक बनिये की कनौड़ी टहलनी सामने आई, जिसको किसी अपराध से बनिये ने बहुत पीटा और भोजन भी नहीं दिया था; इसी हेतु से वह भूखी और रात भर रोती जागी हुई थी। राजा ने उसी लौंड़ी (टहलनी) से संकल्प कराके उस अज्ञात ब्रत का फल अप्सरा को दिलादिया; इतने ही मात्र के प्रभाव से उस अप्सरा को दिव्य गति प्राप्त हो गई, तथा उड़के वह निज लोक को चली भी गई ॥

इस प्रकार एकादशी ब्रत का आश्चर्य्यजनक अमोघ माहात्म्य देखके, राजा ने अपने पुर और देश भर में आज्ञा दे दी कि "एकादशी को यदि कोई अन्न खायगा, तो उसको बांध के प्राणान्त दंड दिया जायगा ॥"

यों सब लोग राजा की आज्ञा से ब्रत और जागरन तथा भगवन्नाम कीर्त्तन में तत्पर होगए ॥

इसी ब्रत के प्रभाव से राजा के पुर भर में भावभक्ति का अति प्रचार हुआ; और नवीन अनोखी बात यह हुई कि अन्त में सब के सब मुक्तरूप होकर श्रीभगवद्धाम को प्राप्त होगए ॥

---

(७१) राजा रुक्माङ्गद की सुता ।

(६६) टीका । कवित्त । (७४७)

एकादशी ब्रत की सचाई लै दिखाई राजा; सुता की निकाई सुनौ नीके चित लाइकै। पिताघर आयो पति, भूख ने सतायो अति, मांगै तिया पास, नहीं दियो यह भाइकै ॥ "आजु 'हरिबासर' सो ता सर न पूजै कोऊ; डर कहा मीच को" यों मानी सुख पाइकै। तजे उन प्रान, पाए बेगि भगवान, बधू हिये सरसान भई; कह्यौं पन गाइकै ॥ ८५ ॥ (५४४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीएकादशीव्रत का प्रभाव और सचाई तो राजा ने प्रगट की, अब राजा की लड़की की महिमा वा प्रशंसा लिखते हैं सो भली भांति से चित्त देके सुनिये॥

उसका पति रुक्माङ्गदजी के घर (अपनी ससुराल) में आया; उसी दिन एकादशी थी। राजपुत्र अतिसुकुमार तो था ही, उसको क्षुधा ने अत्यन्त बाधा किया; जब उसको किसी ने भोजन न दिया तब उसने अपनी स्त्री से यह कहा कि खाने बिना मेरे प्राण छूट जाएँगे; परन्तु तब भी उसने एकादशी के भाव से भोजन नहीं दिया, और बोली कि "आज हरिबासर है कि जिसकी समानता को कोई और व्रत नहीं पहुँच सकता। आज की मृत्यु का क्या भय है? कि जिसमें अभय परमपद को प्राप्ति है"। सुखपूर्वक ऐसी दृढ़ता को वह गहे रही॥

उसने भूख से प्राण छोड़ ही तो दिये। उसी समय वैकुण्ठ से विमान आया और सबके देखते दिव्य रूप हो वह उस पर चढ़ भगवद्धाम को चला गया॥

यह देखके उनकी स्त्री का हृदय भक्ति से अत्यन्त सरस हुआ। प्रभु ने प्रसन्न हो पार्षदों को विमान समेत भेजकर आपका (उनकी प्रिया को) भी कृपा करके अपने धाम में बुला लिया॥

इस भाँति उनके एकादशीव्रत का पन हमने गान किया॥

टीका (समुदाय)।

(९७) कवित्त। (७४६)

सुनो "हरिचंद" कथा, व्यथा बिन द्रव्य दियो, तथा नहीं राखी बेचि सुत तिया तन है। "सुरथ" "सुधन्वा" जू सों दोष के करत मरे, "शंख" औ "लिखित" बिप्र भयो मैलो मन है॥ इन्द्र औ अगिन गये शिबि पै परीक्षा लेन, काटि दियो मांस रीझि सांचो जान्यो पन है। "भरत", "दधीच" आदि भागवत बीच गाए, सबनि सुहाए जिन दियो तन धन है॥ ८६॥ (५४३)

वार्त्तिक तिलक।

महाराज श्रीहरिश्चन्द्रजी की कथा सुनिये। दुःखरहित मन से

(श्रीविश्वामित्रजी को) सम्पूर्ण द्रव्य दिया, तथा अपना पुत्र अपनी रानी और अपना शरीर तक भी नहीं रक्खा तीनों को बेच डाला ॥

श्रीसुरथजी तथा श्रीसुधन्वाजी इन भक्त राजपुत्रों से शंख और लिखित मलीन मनवाले ब्राह्मण, द्वेष एवं भक्तद्रोह करते ही मर गए ॥

इन्द्र, सेन पक्षी का रूप धरके एवं अग्नि कपोत का रूप बनाके राजा शिबिजी की परीक्षा लेने के निमित्त गए। उनके धर्म की सचाई पर रीझ के प्रगट होके इन्द्र और अग्नि ने बरदान दिया ॥

श्रीभरतजी श्रीदधीचिजी, आदिक[1] भक्तों की कथा श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में गान की हुई हैं ॥

इन सबने अपने तन और धन परमार्थ में दे दिये इससे ये धर्म और भगवद्भक्ति की शोभा को प्राप्त हुए ॥

---

(७२) महाराज श्रीहरिश्चन्द्रजी।

राजा श्रीहरिश्चन्द्रजी सूर्यवंशी श्रीअयोध्याजी के राजा धर्म-कर्म-निष्ठा में बड़े पक्के तथा प्रतापी थे। एक समय इनके कुलपूज्य पुरोहित श्रीवशिष्ठजी महाराज कहीं गए थे इसी से श्रीविश्वामित्रजी से इन्होंने यज्ञ कराया जिनने दक्षिणा में राज्यादि तथा तीन भार (इक्कीस मन) सोना भी संकल्प करा लिया; और उक्त तीन भार सुवर्ण राजा से बड़ी कड़ाई से मांगा।

श्रीवशिष्ठजी आकर राजा से बोले कि "श्रीकाशीजी श्रीविश्वनाथ-पुरी है किसी प्राकृत राज्य के मध्य नहीं गिना जाता सो तुम वहीं कुमार रोहिताश्व तथा रानी समेत अपने आपको बेचकर दक्षिणा का सोना मुनि को दे सकते हो, उसमें विश्वामित्रजी कोई बखेड़ा नहीं लगा सकते"। तब, श्रीकाशीजी में जाकर राजा के पुत्र और धर्मपत्नी एक ब्राह्मण के हाथ बिके और स्वयं राजा एक चाण्डाल के यहाँ बिका। यों पूर्ण दक्षिणा दे डाली ॥

कालिया चाण्डाल ने इनको मृतक का कर लेने को श्मशान घाट पर रख दिया ॥

---

१ इन सबकी कथा नीचे लिखी जाती है, देखिए ॥

श्रीकौशिक (विश्वामित्र) जी ने सांप होकर रोहिताश्व को काटा, कुमार मरगया; रानी पुत्र के मृतशरीर को ले रोती पीटती हुई घाट पर गई। उससे भी धर्म्मात्मा दुःखी राजा ने चाण्डाल (डोम) के लिये कर मांगा ही। और कुछ तो था ही नहीं इसलिये इन्होंने रानी के वस्त्र में से ही आधा फड़वाके ले लिया, अपना धर्म न छोड़ा। इन्द्र तथा विश्वामित्रजी ने जब राजा को यों दृढ़ पाया, तो वे पुनः दूसरी चाल चले अर्थात् काशीनरेश के पुत्र को मारकर, और श्रीहरिश्चन्द्रजी की निर्दोष रानी को डाकिनी बताकर राजपुत्र के मृत्यु का कलंक उसपर लगाया, यहां तक कि काशीनरेश ने राजा हरिश्चन्द्र ही को उस रानी के मार डालने की आज्ञा दी। 'इस अन्तिम परीक्षा में भी हरि कृपा से उत्तीर्ण धर्म्मात्मा श्रीहरिश्चन्द्रजी' ने ज्यों ही रानी के वध के अर्थ शस्त्र उठाया, त्यों ही श्रीसूर्य्य भगवान् ने, निज कुलभूषण पर प्रसन्न हो, आकाशवाणी की कि "धर्म्मात्मा हरिश्चन्द्रकी जय;" एवं इन्द्रादि ने पुष्पवृष्टि भी की; विष्णु विधाता महेश्वर ने साक्षात् प्रगट होकर दर्शन दे राजा का हाथ रोक लिया; राजकुमार को भी जिला दिया; विष्णुभगवान् ने भक्ति वरदान दिया; विश्वामित्र ने भी नरेश को, अपनी सब करतूत कहके, प्रशंसायुत श्रीअयोध्याजी के राज्य करने की आज्ञा दी॥

श्रीसीताराम कृपा से राजा ने भक्ति प्रचार और राज्य कर अपने उसी पुत्र को राज्य दिया; परम धाम को सिधार, जग में अपना और धर्म का यश फैलाया॥

(७३-७४) श्रीसुरथ; श्रीसुधन्वाजी।

ये दोनों परम भागवत तथा सगे भाई थे; किसी ग्रन्थकार ने लिखा है ये दोनों चम्पकपुरी के राजा "हंसध्वज" के पुत्र थे; औरों ने राजा नीलध्वजजी के पुत्र इन्हें लिखा है; अस्तु॥

इनके पिता ने एक समय अर्जुनजी से युद्ध करने के हेतु यह आज्ञा दी कि "सब सेना तुलसीमाला तथा ऊर्द्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करके रणभूमि में आवे और जो कदराई करेगा सो तप्त तेल के कड़ाह में छोड़ा जावेगा॥"

परमभक्त राजकुमार श्रीसुधन्वाजी चलते समय श्रीमातुचरणकमल को दण्डवत् करके निज धर्मपत्नी से बिदा होने गये। स्त्री ने कर जोड़ के प्रार्थना की कि "प्राणनाथ ! मैंने स्त्रीधर्म से छुट्टी पा आज ही स्नान किया है तुमसे विशेष प्रेमालिङ्गन चाहती हूं; मेरे परितोष के अनन्तर स्नान करके, तिलक माला शस्त्रादि सजके तब हरिस्मरण करते हुए सानन्द समरभूमि में जाओ।" श्रीसुधन्वाजी ने, जो "एक स्त्रीव्रतधारी" थे, ऐसा ही किया। इसीलिये वह धर्मकर्मनिष्ठा में प्रसिद्ध हुए॥

रण में विलम्ब के साथ पहुँचने से निज आज्ञा भंग समझ राजा (इनका पिता) बड़ा अप्रसन्न हुआ और "शंख" तथा "लिखित" नाम के मनमलीन दो ब्राह्मण मन्त्रियों ने, द्वेष से, राजा के उस क्रोध को और भड़का दिया। निदान निर्दोष राजकुमार श्रीसुधन्वाजी खौलते तेल के कड़ाह में डाल दिए गये। परन्तु वह तो परम भागवत थे, भक्तरक्षक हरि की कृपा से तप्त तेल उनको श्रीसरयू जल (शीतल सुखद) हो गया जैसे श्रीप्रह्लादजी को॥

दो० "पिता बिबेक निधान बर, मातु दयायुत नेह।
तासु सुवन किमि पाइहै, अनत अटन तजि गेह॥"

शंख और लिखित ने तेल के ताप की परीक्षा के लिये कड़ाह में एक सजल नारियलफल छुड़वाया जो पड़ते ही फूटा; और दो टुकड़े होकर हरिइच्छा से शंख तथा लिखित की खोपड़ियों पर ऐसे जा लगे कि उन दोनों भक्तद्रोहियों के प्राण ही ले लिये॥

चौपाई।

"कर्म प्रधान बिश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥
जो अपराध भक्त कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
भक्त द्रोह करि कोउ न बांचा। भक्त सुरक्षक हरि पन सांचा॥"

दोनों भाइयों श्रीसुरथ तथा सुधन्वाजी ने श्रीअर्जुनजी से (जिनके सारथी स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् थे), भली भांति लड़के रणक्षेत्र में शरीर त्यागा। उनके शीशों को श्रीशिवजी ने अपनी माला में रख लिया॥

छप्पय।

"भस्म अंग, मर्दन अनंग, संतत असंग, हर।
सीस गंग, गिरिजा अर्द्धंग, भूखन भुजंग, वर॥
गल मुण्डमाल, बिधुबाल भाल, डमरू कपाल, कर।
बिबुध बृंद, नवकुमुदचंद, सुखकंद, शूलधर॥
त्रिपुरारित्रिलोचनदिगबसन विषभोजन भव भय हरन।
कहतुलसिदाससेवतसुलभ, शिवशिवशिवशंकर शरन॥"

यों भगवत् के सम्मुख तन तजके, परम भागवत दोनों भाई श्रीभगवत् के धाम को गए॥

श्रीभक्ति महारानीजी की जय॥

---

(७५) राजा श्रीशिबिजी।

दानशील धर्मधुरन्धर महाराज श्री "शिबि" जी दयासिन्धु "धर्मकर्मनिष्ठा" में प्रसिद्ध हैं, यहां तक कि इसमें देवतों के राजा इन्द्रजी ने इनकी परीक्षा लेनी चाही॥

इन्द्र ने आप तो सेन (बाज) पक्षी का रूप धारण किया और अग्निदेव कपोत बने। सेन कपोत पर झपटा, तब कपोत भागकर श्रीशिबिजी के गोद में जा छुपा और बोला कि "महाराज! मैं आपके शरण हूँ मुझे सेन के चंगुल से अभय देकर रक्षा कीजिये"; साथही सेन भी पहुँचा और कहा कि "यह पक्षी मेरा भक्ष्य है, मैं भखा हूँ; आप मेरे आहार में बाधा न डालिये इसको मुझे दीजिये"। राजा ने कहा "मैं न दूँगा"॥

धर्म्माधर्म पर वाद-विवाद के अनन्तर दोनों में प्रसन्नतापूर्वक यह बात ठहरी कि महाराज कपोत के तुल्य मांस अपने शरीर से सेन को दें। राजा कपोत को तुला के एक पल्ले पर बैठाके, दूसरे पल्ले पर अपने शरीर का मांस काट २ तुलवाने लगे। परन्तु समस्त शरीर का मांस भी उस कपोत के तुल्य न हुआ, कबूतर भारी होता ही गया। अन्त को राजाजी ज्योंही अपना शीश देने पर उद्यत हुए, त्यों ही उसी क्षण अतिप्रसन्न हो, सेन और कपोत का रूप छोड़ छोड़, प्रगट होके,

श्रीसुरेश इन्द्रजी तथा पावकदेव ने दरशन दे, राजा को शीश काटने से रोका, और उनका तन जैसा था पुनः वैसा ही हृष्ट पुष्ट कर दिया; फिर उनकी शरणागतवत्सलता, दानशीलता, दया दृढ़ता आदिक धर्म्मों की प्रशंसा कर, वे यह बरदान दे चले गए कि—

दो० "जीवत भोगो अति बिभव, तनु तजि हरिपुर जाइ।
पान करो हरिभक्ति रस, पुनरागमन बिहाइ॥"

(७६) श्रीभरतजी।

श्रीभरतजी के पिता का नाम श्रीऋषभदेवजी था। आप जो नव योगीश्वरों के बड़े भाई थे, बहुत दिन राज करने के अनन्तर अपने बड़े लड़के को राज देकर बहुत काल पर्य्यन्त मुक्तिनाथक्षेत्र में गंडकीजी के तीर तप करते रहे॥

एक दिन नदी तट बैठे थे; उसी समय एक गर्भवती हरिणी जल पीने आई; सो सिंह की गर्जना अकस्मात् सुनके ऐसी घबड़ाहट में कूदी कि उसका गर्भपात होगया, और वह मरगई; उसका बच्चा श्रीभरतजी के सामने नदी में बहचला; यह देख दयावश इन्होंने उसको शीघ्र निकाला, तथा असहाय जान, कृपाकर ये उसको निज आश्रम में ला पालने लगे॥

उसमें इनका मन इतना लगा, उसको इतना चाहने लगे कि उस मृग-शावक की प्रीति में ये बहुत ही आसक्त होगए; यहांतक कि जब वह सयाना हो, मृगाओं के झुण्ड में मिल किसी ओर चला गया, तो उसके लिये ये अत्यन्त विकल हुए। यह आख्यायिका श्रीमद्भागवत में पढ़ने सुनने योग्य है। हरे! हरे! मोह, माया, आसक्ति, इनकी बातें विलक्षण और अपार हैं॥

जब इनका शरीर छूटा तो उस राग (स्नेह) तथा मनगति के कारन इनको पुनर्जन्म लेकर मृगा ही होना पड़ा॥

जो भरत एक समय सारे भरतखंड के महाराज थे अब वह मृगा होकर कलिंजर के वन में रहने लगे; परन्तु पूर्वभजन और प्रभु की कृपा से हरिण तन में भी आपको पूर्वजन्म की सुधि तथा शुद्ध बुद्धि

बनी की बनी ही रही; इसी लिये आप अकेले ही रहा करते थे। कारण रहित कृपालु प्रभु ने उस मृग शरीर से छुड़ाकर आपको ब्राह्मण के घर में जन्म दिया। यहाँ भी 'भरत' नाम पड़ा। श्रीहरिकृपा से ज्ञान तथा दोनों जन्मों की सुधि इनको बनी रही॥

चौपाई।

"निशिदिन लगे रहत हरि ध्याना। का जानत का होत जहाना॥
जिनकी हृदय ग्रन्थि सब छूटीं। सब इन्द्रिय हरिपद महँ जूटीं॥"

आपकी मति बचपन से ही विरक्त और श्रीहरिभक्ति में अनुरक्त हुई। पूर्वघटना स्मरण कर आप किसी से न मिलते न कोई संसारी काम यथार्थ कर देते किसी से बोलते भी न थे बरन् किसी के प्रश्न का उत्तर तक नहीं देते थे॥

दो० "धन्य रहनि "जड़भरत" की, धन्य तासु बैराग्य।
जग से जड़ बनि राम पद, पगे धन्यतर भाग्य॥ १॥"

एक दिन भिल्लों का राजा इनको पकड़वा, अपनी इष्टदेवी काली के सामने ले जाकर खड्ग ले इन्हें बलि देने को उद्यत हुआ। श्रीदुर्गाजी महारानी ने वही खड्ग छीनके उन सब दुष्टों को वध किया और श्रीभगवद्भक्त आपको जानकर आपसे अपना अपराध क्षमा कराया। भक्तभयहारिणी श्रीभगवती महामाया की जय॥

चौपाई।

"श्रीसियराम कृपा जाही पर। सुर नर मुनि प्रसन्न ताही पर॥"

राजा रहूगण की कथा में लिख आए हैं कि एक बेर उसने आपको पालकी में लगाया, आप चींटियाँ बचाकर पग धरते थे. जिससे पालकी उचकी तो आपसे उसने कड़ाई के साथ बात की; आपने ऐसे उत्तर दिये कि शीघ्र वह श्रीचरणों पर गिरा, तथा आपके सत्सङ्ग से ज्ञान विराग प्राप्त किया; सो यह संवाद श्रीभागवत में पढ़ने सुनने ही योग्य है। अस्तु॥

समय पा, योगाभ्यास से तनुत्याग, श्रीजड़भरतजी परम धाम को गए॥

(७७) श्रीदधीचिजी।

परमोदार दधीचि ऋषि का सुयश प्रसिद्ध ही है। वृत्रासुर के उत्पात से अकुलाके देवता भगवत् के शरण में गए, तब प्रभु ने आज्ञा दी कि "ऋषीश्वर दधीचि महाराज की हड्डी का वज्र बनाओ तो इस उपाय से असुर का नाश होगा; मुनि महादानी धर्म्मात्मा हैं, अस्थि माँगने पर 'नाहीं' नहीं कहेंगे।" ऐसा ही किया। ऋषि ने अपनी पीठ की अस्थि दे डाली उसी का वज्र इन्द्र ने बनवाकर उसी से वृत्रासुर का वध किया॥

चौपाई।

"ते नर बर थोड़े जग माहीं। मंगन लहहिं न जिनके नाहीं॥
शिबि दधीचि हरिचन्द कहानी। सुनी न चित दे ते नहिं दानी॥"

---

(७८) श्रीविन्ध्यावलीजी।

(६८) टीका। कवित्त। (७४५)

बिन्ध्यावली तिया सी न देखी कहूँ तिया नैन, बाँध्यो प्रभु पिया, देखि किया मन चौगुनौ। "करि अभिमान, दान देन बैठ्यो तुमहीं को, कियो अपमान मैं तो मान्यों सुख सौगुनौ" ॥ त्रिभुवन छीनि लिये, दिये बैरी देवतान प्रान मात्र रहे, हरि आन्यों नहीं औगुनौ। ऐसी भक्ति होइ, जो पै जागो रहो सोइ, अहो! रहो! भव मांझ ऐपै लागै नहीं भौ गुनौ॥ ८७॥ (५४२)

वार्त्तिक तिलक।

जैसी राजा बलि (पृष्ठ ६८) की स्त्री श्रीविन्ध्यावलीजी थीं, वैसी स्त्री तो कहीं देखने सुनने में नहीं आती कि श्रीवामन भगवान् ने इनके प्रियपति को बाँध डाला और इन्होंने उनको बँधे हुए अपने नेत्रों से देखा तिसपर भी इनका मन मलीन न हुआ वरंच प्रभु की कृपा समझ चित्त में चौगुना हर्ष बढ़ाया॥

प्रभु से ये प्रार्थना करने लगीं कि "प्रभो! आपने बहुत अच्छा किया; ये अभिमान करके, त्रिभुवन के नाथ स्वयं आपको दान देने

बैठे, आपकी ही तो पृथ्वी, तिसको अपनी समझके, अपने को दानी मान, इन्होंने जो आपको भिक्षुक माना, सो यही बड़ा अपमान किया। आपने इनका अभिमान छुड़ाया, इससे मैंने शतगुण सुख माना॥"

देखिये! त्रिभुवन को इनसे छीनि के इनके शत्रु देवतों को दे डाला और केवल प्राणमात्र इनके रहगए, तब भी श्रीविन्ध्यावलीजी ने प्रभु में अवगुण नहीं आरोपण किया वरंच गुण ही समझा॥

अहा! जो कदाचित् ऐसी प्रबल भक्ति जिसके हो, सो जन चाहे भजन करता हुआ जागता रहे, चाहे प्रभु पर विश्वास कर निश्चिन्त सोता हुआ संसार ही में रहे तथापि उसको संसार के कोई गुण स्पर्श नहीं कर सकते। वह भक्त जीवन्मुक्त ही है॥

अति सुमति रानी श्रीविन्ध्यावली की प्रेमाभक्तिनिष्ठा की प्रशंसा कौन कर सकता है?॥

(७९-८०) श्रीमोरध्वजजी; श्रीताम्रध्वजजी।

(९९) टीका। कवित्त (७४४)

अर्जुन के गर्ब भयो, कृष्ण प्रभु जानि लयो, दयो रस भारी, याहि रोग ज्यों मिटाइयै। "मेरो एक भक्त आहि, तोको लै दिखाऊँ ताहि, भए बिप्र बृद्ध, संग बाल, चलि जाइयै॥ पहुँचत भाष्यो जाइ "मोरध्वज राजा कहाँ? बेगि सुधि देवो" काहू बात जा जनाइयै। "सेवा" प्रभु करौं, नेकु रहौ, पाँउ धरौं, जाइ कहौ तुम बैठो; कही, आग सी लगाइयै" ॥ ८८ ॥(५४१)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय श्रीअर्जुनजी को अपनी भक्ति का अभिमान हुआ। इस बात को भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने जानकर मन में विचार किया कि "इनको हमने अपना भारी सख्यरस दिया तिसका अभिमान इनको रोग सरीखा हो गया, सो उसको यत्नरूपी ओषधि से मिटा डालूँ॥"

ऐसा विचारकर अर्जुनजी से बोले कि "हे सखे! मेरा एक भक्त है चलो मैं उसको तुम्हें दिखा लाऊँ। तुम ब्राह्मण का बालक बन

जावो और मैं वृद्ध ब्राह्मण होके दोनों चलें।" ऐसा ही किया॥

राजा मोरध्वज के द्वार पर पहुँचके प्रतिहार से कहा कि "राजा कहाँ हैं? शीघ्र जाके जनावो कि दो विप्र आए हैं" किसी ने जाके राजा से जनाया। मोरध्वजजी ने उत्तर दिया कि "प्रभु की पूजा कर रहा हूँ; जाके कहो कि थोड़ा ठहरिये कृपाकर बैठ जाइये, अभी मैं आके आपके चरणों पर पड़ता हूँ॥"

आकर प्रतिहार ने ऐसा ही कहा; सो सुनते ही, ब्राह्मण देवता के आग सी लग गई॥

(१००) टीका। कवित्त। (७४३)

चले अनखाय[1] पाँय गहि अटकाय जाय नृप को सुनाय ततकाल दौरे आए हैं। "बड़ी कृपा करी आज फरी चाह बेलि मेरी, निपट नबेल फल पाँय[2] याते पाये हैं॥ दीजै आज्ञा मोहिं सोई कीजै, सुख लीजै यही, पीजै बाणी रस, मेरे नैन लै सिराए[3] हैं। सुनि क्रोध गयो, मोद भयो, सो परिच्छा हिये लिये चित चाव ऐसे बचन सुनाए हैं॥ ८६॥ (५४०)

वार्त्तिक तिलक।

ब्राह्मण देवता रिसाय के चल दिये। तब राजा के सेवकों ने उनके चरणों को पकड़ के बहुत विनय कर उन्हें रोक रक्खा, और सब वृत्तान्त महाराज से जा सुनाया॥

सुनते ही उसी क्षण राजा दौड़े आए और प्रणाम करके हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगे कि "प्रभो! आपने बड़ी कृपा की; आज मेरी चाहरूपी बेलि फलयुक्त हुई जिससे अत्यन्त नवीन फलरूपी आपके पाँय (चरण) मैंने पाए। अब जिस हेतु आपने कृपा की हो सो मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं वही करके सुख लूटूँ और आपके अमृतरसमय वचन श्रवणपुट से पान करूँ; आपके दर्शनों से मेरी आँखें भलीभाँति शीतल हुईं॥"

भक्तराजजी के ऐसे वचन सुन विप्रदेव ने क्रोध को त्याग कर

१ "अनखाय"=रिसाय, अनखसे। २ किसी प्रति में पाँय नहीं है, 'पायो' पाठ है। ३ "सिराए"=ठंढे, शीतल, जुड़ाने, तृप्त॥

आनन्द पाया; फिर परीक्षा लेने का विचार जो आपके हृदय में है तिससे चित्त में प्रसन्न होके राजा से यों बोले ॥

(१०१) टीका । कवित्त । (७४२)

"देबे की प्रतिज्ञा करो", "करी जू प्रतिज्ञा हम, जाहि भाँति सुख तुम्हैं सोई मोको भाई है"। "मिल्यो मग सिंह यहि बालक को खाए जात, कहो खावो मोहिं नहीं यही सुखदाई है।" "काहू भाँति छोड़ो" ? "नृप आधो जो शरीर आवै तौही याहि तजौं", कहि बात मो जनाई है। बोलि उठी तिया "अरधंगी मोहिं जाइ देवो", पुत्र कहै "मोको लेवो", "और सुधि आई है" ॥ ९० ॥ (५३६)

वार्त्तिक तिलक ।

ब्राह्मण—हे राजा ! तुम देने की प्रतिज्ञा करो तो मैं कहूँ ॥

राजा—मैंने प्रतिज्ञा की, जिस प्रकार से आपको सुख हो, सोई मुझे परम प्रिय है; मैं वही करूँगा ॥

ब्राह्मण—हमको मार्ग में एक अद्भुत सिंह मिला सो इस बालक को खाए जाता था। मैंने उससे कहा कि "हे सिंह ! तुम इसको तो छोड़ दो और मुझे खा लो।" परन्तु सिंह बोला कि "मुझको इसी के मांस खाने से सुख होगा।" तब मैंने पूछा कि "भला किसी प्रकार से तुम इस बालक को छोड़ सकते हो ?" उसने उत्तर दिया कि "हाँ, यदि राजा मोरध्वज का आधा शरीर पाऊँ, तब ही तो इसको न खाऊँगा" इस भाँति बार्ता उसने कही है ॥

श्रीमोरध्वजजी की रानी (विप्र से)—मैं राजा की अर्द्धाङ्ग ही हूँ। मुझे ही ले चलिये, उसको दे दीजिये, खा जावे ॥

श्रीमोरध्वजजी का पुत्र ताम्रध्वज—मैं राजा का आत्मज अतः दूसरा शरीर ही हूँ, मुझे ही उस सिंह को दे दीजिये कि खा ले क्योंकि उसको बालक का मांस बहुत प्रिय है ॥

ब्राह्मण—हाँ, उसकी कही हुई एक बात मैं भूल गया था सो अब सुधि आई है, सुनो ॥

१ "भाई"=सुहाई, नीक वा भली लगी, सुखदाई हुई ॥

(१०२) टीका । कवित्त । (७४१)

सुनो एक बात "सुत तिया लै करौंत[1] गात चीरैं धीरैं भीरैं[2] नाहिं," पीछे उन भाखिये । कीन्ह्यो वाही भाँति, अहो नासा लगि आयो जब, ढस्यो दृग नीर, भीर वाकर[3] न चाखिये ॥ चले अनखाय गहि पाँय सो सुनाये बैन "नैन जल बायों, अंग काम किहिं नाखिये[4] ।" सुनि भरि आयो हियो, निज तनु श्याम कियो, दियो सुख रूप, व्यथा गई, अभिलाषिये ॥ ६१ ॥ (५३८)

वार्त्तिक तिलक ।

उस सिंह ने पीछे से यह एक बात कही सो भी सुनो कि "आधा अंग यों ही न लाना, वरन् इस भाँति से चीर के दाहिना अंग लाना कि आरा का एक छोर राजा का पुत्र, तथा दूसरा छोर उनकी रानी पकड़ औैर दोनों धीरे धीरे चीरें, पर तीनों मन को दृढ़ रक्खें कोई कदराय नहीं ॥"

श्रीरामकृपा से तीनों ने ऐसा ही किया ॥

अहाहा ! ये भगवत् कृपापात्र धन्य हैं ॥

जब चीरते चीरते आरा नासिकापर्य्यन्त आया, तब राजा की बाईं आँख से आँसू निकलने लगा । यह देख ब्राह्मणदेव बोल उठे कि "राजा ! तुम कदरा गए, रोने लगे, तिससे वह तुम्हारा मांस नहीं खाएगा और इतना कह रिसियाके चल भी दिये ।

ब्रह्मण्यशिरोमणि राजा ने विप्रदेव के चरण पकड़के प्रार्थना की कि "हे द्विजदेवजी ! देखिये, मेरे दाहिने नेत्र में अश्रुबिन्दु का लेश भी नहीं है कि जो ब्राह्मण के अर्थ लगा; हाँ, बाँई आँख से आँसू इस कारण से चलता है कि बाम अंग आपके कार्य्य में न आया, व्यर्थ ही फेंक दिया जायगा ॥"

यह भावयुक्त वचन सुनते ही अपार करुणा से आपका हृदय भर आया, और अपने सुन्दर श्याम शरीर को प्रगट करके सपरिवार भक्तराज को दर्शन दिये तथा सिर पर करस्पर्श कर घाव और व्यथा

१ "करौंत"=आरा, अरकस । २ "भीरैं" =डरें, कादर हों । ३ "वाकर"=उस करके, तिससे ४ "नाखिये"=पटकना ॥

दोनों का नाश करके अभूत सुख दिया। राजा अति अभिलाषपूर्वक दर्शनानन्द में मग्न हो गए ॥

श्रीकृष्ण भगवान् को यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि राजा कुछ वरदान माँगे ॥

(१०३) टीका । कवित्त । (७४०)

"मो पै तो दियो न जाइ निपट रिझाइ लियो, तऊ[1] रीझि दिये बिना मेरे हिये साल है। माँगौ बर कोटि, चोट बदलो न चूकत है, सूकत[2] है मुख, सुधि आए वही हाल है ॥" बोल्यो भक्तराज "तुम बड़े महाराज, कोऊ थोरोऊ करत काज, मानो कृत जाल[3] है। एक मोको दीजै दान" "दीयो जू बखानो बेगि", "साधु पै परीक्षा जनि करो कलिकाल है" ॥ ६२ ॥ (५३७) ॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीप्रभु ने भक्तराज से कहा कि "जैसा तुमने अपना शरीर चीर के दिया वैसा मुझसे तो नहीं दिया जाता, और अब जो इसका पलटा मैं तुमको दिया चाहता हूँ तो भी इसके योग्य की तो कोई वस्तु है ही नहीं; इससे सो भी मुझसे नहीं दिया जाता, क्योंकि तुमने मुझको अत्यन्त ही रिझा लिया ॥

तथापि कुछ रीझकर (पारितोषिक) दिये बिना मेरे हिये का साल मिटता नहीं; अतः यदि करोड़ों वरदान माँगो तो भी जो चोट मैंने तुम्हें दी है उसका पलटा चुक नहीं सकता; इसलिये कुछ अवश्य माँगो। हे प्रिय भक्त! तुम्हारी उस दशा की सुधि आने से मेरा मुख सूख जाता है, और क्या कहूँ ॥"

श्रीभक्तराजजी प्रेम से विह्वल हो हाथ जोड़के बोले कि "नाथ! आप बड़े महाराज हैं जो कोई थोड़ा भी भला कार्य्य करे उसको आप अपनी कृतज्ञता से सुकृतों का पुंज मान लेते हैं ॥"

चौपाई ।

"जेहि समान अतिशय नहिं कोई। ताकर शील कस न अस होई ॥"

१ "तऊ" = तथापि, तिस पर भी । २ "सूकत" = सूखता है । ३ "जाल" = समूह ॥

श्लो० ❀ कथञ्चिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
नस्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥ १ ॥

"बहुत अच्छा, आप एक वरदान मुझे दीजिये" प्रभु ने कहा कि "दिया, शीघ्र कहो क्या माँगते हो?" तब परोपकारी श्रीमोरध्वजजी ने यह वर माँग लिया कि "कलिकाल में भक्त सन्तों की परीक्षा मत लिया कीजियेगा।" श्रीमोरध्वजजी की जय ॥

(८१) श्रीअलर्कजी।

(१०४) टीका। कवित्त। (७३६)

अलर्क की कीरति में राँचौं[1] नित, साँचौ हिये, किये उपदेश हू न छूटैं बिष बासना। माता मन्दालसा की बड़ी यह प्रतिज्ञा सुनौ "आवै जो उदर माँझ, फिरी गर्भ आस ना ॥" पति को निहोरो[2] ताते रह्यो छोटो कोरो[3]; ताको लै गए निकासि; मिलि काशी नृप शासना। मुद्रिका उघारि, औ निहारि दत्तात्रेयजू को, भए भवपार करी प्रभु की उपासना ॥ ६३ ॥ (५३६)

वार्तिक तिलक।

श्रीअलर्कजी की माता श्रीमन्दालसाजी की कथा पीछे लिख आए हैं ॥

श्रीअलर्कजी की कीर्त्ति को मैं सच्चे हृदय से नित्य ही रँगता हूँ। लोगों की विषयभोगवासना, उपदेश किये से भी नहीं छूटती, परन्तु श्रीरामकृपा से अलर्कजी की सर्वथा छूट गई ॥

सुनिये, श्रीअलर्कजी की माता श्रीमन्दालसाजी की यह बड़ी भारी दृढ़ प्रतिज्ञा थी कि "जो जीव मेरे गर्भ में आवे, उसको फिर गर्भ में नहीं जाना पड़े अर्थात् आसा तृष्णा आदि से छूटके वह मोक्षपद को प्राप्त हो जावे।" "बद्धो हि को?" "यो विषयानुरागः" "का वा

❀ यदि किसी प्रकार से कोई किंचित् भी उपकार करे, तो उसी से प्रभु अतिशय सन्तुष्ट हो जाते हैं। फिर जो सैकड़ों अपकार भी करे, तो उस जन में अपनपौ मानके उसके दोषों का स्मरण ही नहीं करते; ऐसा प्रभु का स्वभाव है (श्रीवाल्मीकिः)

१ "राँचौं" = रँग जाता हूँ। २ "निहोरो" = प्रार्थना, विनय। ३ "कोरो" = गोद का लड़का, कोंछे का बालक ॥

विमुक्तिर् ?" "विषये विरक्तिः।" सो अपनी प्रतिज्ञा उनने पूर्ण की ही तो सही ॥

कई पुत्रों को उपदेश करके आपने विरक्त जीवन्मुक्त कर दिया। जब सबसे छोटा पुत्र श्रीमन्दालसाजी के हुआ, तो उनके पति ने आपसे बहुत विनय निहोरा किया कि "इस पुत्र को भी उपदेश देकर विरागी मत बना दो, इसको राज्य तथा वंश के निमित्त गृहस्थ रहने दो ॥"

यों, पति के विनयवश उसको वन में न भेजा ॥

परन्तु पतिसमेत आप वनको चलीं और उसी समय एक श्लोक लिख मुद्रिका में रखके अलर्कजी को दे दिया कि तुम्हें जब कोई कष्ट पड़े तो इसको खोलके देखना ॥

श्लो० संगः सर्वात्मना त्याज्यः यदि त्यक्तुं न शक्यते।
सद्भिरेव प्रकर्तव्यः सत्सङ्गो भवभञ्जनः॥ १ ॥

वन में जा आपने अपने ज्येष्ठ पुत्रों से कहा कि "जिसमें मेरी प्रतिज्ञा भंग न हो इसलिये जाके किसी भाँति अपने भाई अलर्क को भी विरक्त करके प्रभु के चरणों में लगा दो।" आज्ञा मान, आके, उन्होंने प्रथम अलर्क को बहुत उपदेश किया, परन्तु उपदेश से विषयवासना नहीं छूटी। तब अपने मामूँ काशिराज को सेनासहित लाके पुर को घेर लिया ॥ इस आपदा के समय अलर्कजी ने मुद्रिका को खोलके देखा तो लिखा पाया कि "संसार के संग को सर्वथा त्याग करना चाहिये और जो त्याग न सके तो समीचीन महात्माओं का संग करे क्योंकि सत्सङ्ग भवरोग-नाशक है" यह विचार श्रीअलर्कजी राज्य को परित्याग कर रात्रि में निकलके श्रीदत्तात्रेयजी से मिले ॥

एवं उनके उपदेश से भगवत् की उपासना करके मोक्षपद को प्राप्त हुए ॥

श्रीअलर्कजी ने अपनी आँखें निकालके एक वेदपाठी ब्राह्मण को उनके माँगने पर दे दी थीं ॥

अलर्कजी एक समय कालंजर के समीप वन में विचरने लगे; तो एक दिव्य सर देखा, जिसके तट में एक मृतक मनुष्य पड़ा था.

इतने में दो पिशाचों में झगड़ा होने लगा, एक कहता था कि मैं खाऊँगा, दूसरा कहता था कि मैं ॥

अलर्कजी ने पूछा क्यों विवाद करते हो? तब दोनों पिशाच बोले कि वस्तु एक ही है और हम दोनों भूखे हैं; उदर कैसे भरे? श्री-अलर्कजी ने कहा कि "एक शव को खावे, और दूसरा मेरी देह को।" यह सुन प्रसन्न हो दोनों ने "वरं ब्रूहि" कहा ॥

श्रीअलर्कजी ने पूछा कि तुम दोनों कौन हो? तब उसी क्षण, एक श्रीविष्णु, दूसरे शिवजी होके बोले कि "हम विष्णु, शिव हैं" इस पर, स्तुति कर उनसे यह वर मांगा कि "सकल विश्व सुखी रहे, किसी वस्तु का कोई दुःखी न रहे," यही वर दीजिये ॥

इस पर दोनों ने आज्ञा की कि "यह नहीं होसकता कर्म सबके पृथक् २ हैं; परन्तु हमारी कृपा से अब यह सामर्थ्य तुझमें रहेगी कि जिस वाञ्छा से तेरे पास कोई आवेगा तू पूरी कर सकेगा; अन्त में तुझे मोक्ष प्राप्त होगा ॥"

इस प्रकार श्रीविष्णुजी और शिवजी, अलर्कजी की परीक्षा ले, वर दे, निज निज स्थल को चले गए ॥

(१०५) छप्पय। (७३८)

तिन चरण धूरि मो भूरि सिर, जेजे हरिमायातरे ॥ रिभुं[१], इक्ष्वाकरू[२], * ऐल[३], गाधि[४], रघु[५], रै[६], गै[७], शुचि शत-धन्वा[८]। अमूरति[९], अरु रन्ति[१०], उतंग[११], भूरि[१२], देवल[१३], वैवस्वत[१४] मन्वा ॥ नहुष[१५], जजाति[१६], दिलीप[१७], पूरु[१८], यदु[१९], गुह[२०], मान्धाता[२१]। पिप्पल[२२], निमि[२३], भरद्वाज[२४], दक्ष[२५], † सरभंग[२६], सँघाता ॥ संजय[२७], समीक[२८], उत्तानपाद[२९], याज्ञवल्क्य[३०], जस जग भरे। तिन चरण धूरि मो भूरि सिर, जेजे हरि-माया तरे ॥ (२०२)

* "ऐल" = इला के पुत्र पुरुरवा। † "सरभंग सँघाता" = श्रीसरभंग प्रभृति दण्डकवन के मुनिवृन्द ॥

वार्त्तिक तिलक।

उन श्रीभगवद्भक्तों के चरणों की धूर बहुत सी बहुमान्यपूर्वक मेरे शीश पर है कि जो जो भगवान् की माया के पार हो गए हैं, और उन पवित्रात्माओं के सुयश सम्पूर्ण जगत् में भर रहे हैं॥

१ श्रीऋभुजी
२ श्रीइक्ष्वाकुजी[१]
३ श्रीऐल (पुरूरवा) जी
४ श्रीगाधिजी
५ श्रीरघुजी महाराज
६ श्रीरयजी
७ श्रीगयजी
८ श्रीशतधन्वाजी
९ श्रीअमूरतजी
१० श्रीरन्तिदेवजी
११ श्रीउत्तंकजी
१२ श्रीभूरिषेणजी
१३ श्रीदेवलजी
१४ श्रीवैवस्वतमनुजी
१५ श्रीनहुषजी
१६ श्रीययातिजी
१७ श्रीदिलीपजी
१८ श्रीपुरुजी
१९ श्रीयदुजी
२० श्रीगुह (निषाद) जी
२१ श्रीमान्धाताजी इक्ष्वाकुवंशी
२२ श्रीपिप्पलायनजी
२३ श्रीनिमिजी
२४ श्रीभरद्वाजजी
२५ श्रीदक्षजी
२६ श्रीशरभंगजी
२७ श्रीसंजयजी
२८ श्रीसमीकजी
२९ श्रीउत्तानपादजी
३० श्रीयाज्ञवल्क्यजी

---

(८२) श्रीरन्तिदेवजी

(१०६) टीका। कवित्त। (७३७)

अहो! रंतिदेव नृप सन्त दुसकंत[२] बंस अति ही प्रशंस सो

---

१ (श्लोक) इक्ष्वाकुरैलमुचुकुन्दविदेहगाधिरघ्वम्बरीषसगरा गयनाहुषाद्याः। मान्धात्रलर्क-शतधन्वनुरन्तिदेवा देवव्रतो बलिरमूर्तरयो दिलीपः॥१॥ सौभर्युतंकशिबिदेवलपिप्पलादसार-स्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः। येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्तपार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतिदेववर्याः॥२॥ ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः। यद्यद्भुतक्रम-परायणशीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतिधारणा ये॥३॥ (श्रीमद्भागवते)

२ "दुसकन्त" नाम दुष्यन्त जिनकी स्त्री शकुन्तला-संज्ञक प्रसिद्ध है।

अकाशवृत्ति[1] लई है। भूखे को न देखि सके, आवै सो उठाइ देत, नेति नहिं करैं भूखे देह छीन[2] भई है। चालिस-औ-आठ दिन पाछे जल अन्न आयो, दियो विप्र शूद्र नीच श्वान, यह नई है। हरि ही निहारैं उन माँझ, तब आए प्रभु, भाए, जग दुख जिते भोगौं, भक्ति छई है॥ ६४॥ (५३५)

वार्त्तिक तिलक।

राजा दुष्यन्त के वंश में महाराज श्रीरन्तिदेवजी अतिआश्चर्य्य प्रशंसनीय सन्त हुए कि जिन्होंने आकाशवृत्ति जीविका ग्रहण की। तिस पर भी उस आकाशवृत्ति में भी जो कुछ भोजन आ जाता था सो भी भूखों को दे दिया करते थे क्योंकि किसी को भूखा नहीं देख सकते थे। अपने लिये यत्न वा संचय नहीं करते थे, अतएव भूख से शरीर अति दुर्बल हो गया।

एक बेर अड़तालीस उपवास हो चुकने पर अन्न जल हरिकृपा से आया सो प्रथम एक भूखे ब्राह्मण को खिलाया; फिर उसके पीछे एक भूखे शूद्र को दिया; पुनः एक नीच को, और फिर शेष भूखे श्वान को खिला पिला दिया। यह इनकी कृपालुता तथा समदृष्टि की नवीन रीति है, क्योंकि सबों में वे सर्वात्मा हरि ही को देखते थे। जब जलपर्य्यन्त भी दे दिया और आप भूखे वरंच प्यासे रह गये, तब इनकी दया और समदृष्टि देखके प्रभु ने आके दर्शन दिया परम कृतार्थ किया। प्रभु को प्रसन्न पा यह वर माँगा कि सब जीवमात्र का दुःख मैं ही भोगूँ और वे सबके सब दुःखरहित हो जायँ॥ प्रभु अति प्रसन्न हो उनको स्त्री पुत्र तथा पुत्रवधू तीनों सहित विमान पर बैठाके निज लोक को ले गये॥

ऐसे विलक्षण सन्त थे तब तो उनकी भक्ति की महिमा जग में छा रही है॥

---

१ "आकाशवृत्ति"=ऐसी वृत्ति कि जीविका के अर्थ कम चेष्टा शून्य; ऐसी वृत्ति कि जो कुछ अनाश्रित अकस्मात् (बिना प्रबन्ध जैसे आकाश से जल) आ जावे, उसी को लेना।
२ "छीन"=क्षीण, खिन्न, दुर्बल।

(८३) श्रीगुह निषादजी।

जिस समय श्रीभरतजी महाराज प्रभु के दर्शन को चित्रकूट जा रहे थे, उस समय कुछ और संदेह होने के कारण, श्रीनिषादजी ने पहिले यह चाहा था कि यद्यपि श्रीभरतजी की सेना अपार है तथापि अपनी अतिअल्प सेनासहित अपने को श्रीसीताराम हेतु न्योछावर कर देना चाहिये सो यह संकल्प कर लड़ने के लिये इच्छा की थी। किंतु जब प्यारे भरतजी को मन कर्म वचन से श्रीसीतारामभक्त पाया, तब श्रीभरतजी की सेवा की॥

पुनः जिस समय श्रीसर्कार रघुवंशमणि आनंदकंद, लंकापत्तन का विजय हस्तगत कर, श्रीभरद्वाजजी के आश्रम पहुँचे, उस क्षण निज दूत श्रीपवनसुतजी को अवध श्रीभरतजी की चेष्टा देखने को भेजा और निषादजी से भी श्रीमान् अनंत ऐश्वर्य्य ने अपना सुखागमन निवेदन करने की श्रीहनुमान्जी को आज्ञा दी। उसी समय "द्रुमिल राक्षस" को जो श्रीअयोध्यानिवासी जनों को दुःख देने को प्राप्त था, निषादराज ने शृङ्गवेरपुर ही में यह विचार रोक डाला, कि "यह दुष्ट स्वामिपुर को न जाने पावे, बरन् बीच ही में इसको यमद्वार दिखलाऊँ।" तीन सहस्र धनुर्धरों को साथ ले, "द्रुमिल" से श्रीनिषादराजजी तीन दिन से युद्ध कर रहे थे; उस समय तक निषादराज द्रुमिल की सात सहस्र सेना मार चुके थे, शेष तीन सहस्र सेना थी; परन्तु निषादराज बड़े थके तथा कुछ हत पराक्रम प्रतीयमान होते थे। वहीं उसी क्षण पहुँचते ही श्रीरामदूतजी ने हाँक दिया कि जिसमें निषादराज का बल संवर्द्धन हो "मैं श्रीरामदूत पहुँच गया।" यह हाँक सुनाकर तीन सहस्र राक्षसों को लाङ्गूल में लपेट वायुमण्डल को पहुँचा दिया; और निषादराजजी ने द्रुमिल के साथ मल्लयुद्ध करके उसको पृथ्वी में पटक, उसके हृदय में शस्त्र चुभा दिया, जिससे द्रुमिल का प्राणान्त हो गया। इसके अनन्तर दोनों श्रीरामप्रेमी परस्पर मिले; और निषादराज से स्वामि आगमन जना करके श्रीमारुति-

जी भरतजी के समीप चले गये। श्रीनिषादराजजी श्रीभरद्वाजजी के आश्रम को प्राणनाथ से मिलने चले॥

छन्द॥

"पदकमलधोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम! राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं॥
बरु तीर मारहिं लषन पै जब लगि न पाँव पखारिहौं।
तबलगि न तुलसीदास नाथ कृपालु पार उतारिहौं॥ १॥"

(कवित्त) "प्रभुरुख पाइके बुलाइ बाल घरनी को, बन्दि कै चरण चहुँदिशि बैठे घेरि घेरि। छोटोसो कठौतो भरि आनि पानी गंगाजी को, धोइ पांय पियत पुनीत बारि फेरि फेरि॥ तुलसी सराहें ताको भाग सानुराग, सुर बरषि सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि। बिबिध सनेह सानी बानी असयानी सुनि, हँसे राघौ जानकी लषनतन हेरि हेरि"॥ १॥

दो० "पदपखारि, जलपान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहिं पुनि, मुदित गयउ लेइ पार॥ १॥"

(१०७) टीका। कवित्त। (७३६)

भीलन को राजा "गुह" राम अभिराम प्रीति भयो बनबास, मिल्यो मारग में आइकै। करौ यह राज जू बिराजि सुख दीजै मोको, बोले चैनसाज[1] तज्यौं आज्ञा पितु पाइकै॥ दारुण वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पाछे लोहु जात[2], वह सकै कौन गाइकै। रहे नैन मूँदि "रघुनाथ बिन देखौं कहा?" अहा! प्रेम रीति, मेरे हिये रही छाइकै॥ ६५॥ (५३४)

वार्त्तिक तिलक।

सम्पूर्ण वनवासी भिल्लों के राजा शृङ्गवेरपुरवासी श्रीगुहनिषाद-राजजी की, प्राणनाथ शोभाधाम श्रीरामचन्द्र कृपालुजी से अतिशय अभिराम प्रीति थी कि जिनको प्राणनाथ आत्मसमान सखा मानते कहते थे। सो जब श्रीप्रभु वनविहार मिसु सुर मुनिजनों का

१ "चैनसाज"=राज्य। २ "जात"=बहता था, झरता था, निकलता था।

दुःख छुड़ाने के लिये चलके, श्रीगंगाकूल में शृङ्गवेरपुर के समीप आए; तब निषादजी श्रीप्रभु का वनगमन सुन, पगों से चलके, समाजसहित प्राणनाथ से मिले। प्रभु ने हृदय से लगाके अपने परम समीप बैठा लिया। तब निषादराज हाथ जोड़ बोले कि "हे सुखराशि, रघुवीरजी! चलिये, यह राज्य आपका ही है, यहीं विराज, राज्य करते हुए, मुझे सुख दीजिये, मैं आपका सेवक हूँ, आप मेरे स्वामी हैं, मैं सब प्रकार से सेवा करूँगा॥"

यह सुन, प्राणेश्वर श्रीरघुनन्दनजी ने उत्तर दिया कि "हे सखे! इस बात को क्या कहना है, आपका राज्य तथा आप मेरे हैं ही, परन्तु मैं तो श्रीपिताजी की आज्ञा से राज्यभोग सुख सामग्री त्याग के चला हूँ चौदह वर्षपर्य्यन्त वन ही में बसूँगा।" इतना सुनते ही श्रीनिषादराज विह्वल हो गए। तब श्रीप्राणपति प्रभु बहुत प्रकार से इनको समझाके श्रीचित्रकूट में जा बसे॥

दो० "गमन समय अंचल गह्यो, छाड़न कह्यो सुजान।
प्राणपियारे! प्रथम ही, अंचल तजौं कि प्रान?"

यहाँ श्रीनिषादराजजी अपने प्राणप्रिय मित्र के दारुण वियोग से अत्यन्त व्याकुल हुए; आँखों से अश्रुपात की धारा निरन्तर बहने लगी; यहाँ तक कि कुछ दिन पीछे नेत्रों से रक्त टपकने लगा। हा! वह दशा कौन कह सकता है! प्रेमनिधि निषादजी अपनी आँखें मूँदे ही रहा करते थे, इस विचार से कि "मित्रवर प्राणप्रिय श्रीरघुनाथजी के बिना और क्या देखूँ?"

अहा! यह इनके परम प्रेम की रीति मेरे हृदय में छा रही है मुख से कहते नहीं बनती॥

दो० "जासु संग सुख लहि रह्यों, सारे दुख बिसराइ।
ता प्रियतम के विरह में, छुटत न यह तनु हाइ!"

सवैया।

"प्रीति की रीति कछू नहिं राखत जाति न पाँति नहीं कुल गारो।
प्रेम के नेम कहूँ नहिं दीसत लाज न कानि, लग्यो सब खारो॥

लीन भयो हरि सों अभ्यन्तर, आठहु याम रहै मतवारो।
"सुन्दर" कोउ न जानि सकै यह प्रेम के गाँव को पैंड़ोहि न्यारो ॥"

पद।

"सदन मोरे, आवो हो बाँके यार ! दशरथ राजकुमार ! ॥
कित गयो ? हाय ! बिहाय सेज को करद करेजे मार ॥
हाय निहारत डगर तिहारी, होइ गई भिनुसार ॥
कित जाऊँ ? पाऊँ कहँ तुमको ?, जग मो को अँधियार ॥
तुम्हरे कारन, हम सब त्यागा, लाज काज घर बार ॥
बिरह बारि बिच, बूड़त तुम बिनु, कौन लगै है पार ॥
सुधि लीजे; दीजे देखाय छबि, प्रीतम प्राण अधार ! ॥
जो नहिं अइहौ, मैं मरि जइहौं, "जीत" पुकार पुकार ॥"

(१०८) टीका। कवित्त। (७३५)

चौदह बरस पाछे आए रघुनाथ नाथ; साथ के जे भील कहैं "आए प्रभु देखिये।" बोल्यो "अब पाऊँ कहाँ होति न प्रतीति क्यों हूँ" प्रीति करि मिले राम, कहि "मोको पेखिये[1]" ॥ परसि पिछाने[2] लपटाने सुख सागर समाने प्राण पाये, मानो भाल भाग लेखिये। प्रेम की जू बात क्योंहूँ[3] बानी में समात नाहिं अति अकुलात कहो कैसे कै बिशेखिये ॥ ६६ ॥ (५३३)

वार्त्तिक तिलक।

इस प्रकार चौदह वर्ष व्यतीत हुए पर निषादराज के नाथ श्री-रघुनाथजी आ, पुष्पक विमान से उतर, श्रीनिषादराज से मिलने को पधारे; सो देख, इनके साथ के भिल्लों ने दौड़ के श्रीनिषादजी से कहा कि "आपके प्रभु आए, आँखें खोल के दर्शन कीजिये।" तब आप बोले कि "मैं प्राणनाथ प्रभु को अब कहाँ पा सकता हूँ, मुझे किसी प्रकार से भी प्रतीति नहीं होती ॥"

इतने में स्वयं प्राणप्रिय मित्रवरजी आ, हाथों से उनको उठा, सप्रेम हृदय में लगा, कहने लग कि "सखे ! नयन उघार मुझको

१ "पेखिये" =देखिये। २ "पिछाने" =पहिचाने। ३ "क्योंहू" =किसी भांति से भी।

देखो ॥ श्रीप्रभु के वचनामृत सुन, तथा दिव्य मङ्गल-विग्रह का सुखद स्पर्श पहिचान, ये भलीभाँति से लपट गए ॥

श्रीनिषादराज से मिलने का सुख श्रीभक्तवत्सल कृपालुजी को श्रीभरतजी के ही मिलन सुख के समान हुआ; और श्रीनिषादराज जिस असीम आनन्दसिन्धु में मग्न हुए, सो सर्वथा अगाध और अपार ही है। "मृतक शरीर प्राण जनु भेंटे" और ये अपने भाल में लिखे सुन्दर भाग्य का पूर्ण उदय जान के धन्यतर कृतार्थ हुए ॥

प्रेम की बातें वाणी में किसी प्रकार समाती ही नहीं, प्रीति की वार्त्ता वर्णन करने के लिये बुद्धि बानी अतिशय अकुलाती है परन्तु किस विशेषण से उसकी व्याख्या की जा सके ॥

दो० "प्रेम न बारी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय।
माथो बदले मिलत है, भावै सो लैजाय ॥ १ ॥
आंखड़ियन झाईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाले पड़े, नाम पुकारि पुकारि ॥ २ ॥
छनक चढ़ै, छन ऊतरै, सो तो प्रेम न होइ।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोइ ॥ ३ ॥"

(८४) श्रीऋभुजी

श्रीऋभुजी ब्राह्मण के बालक थे एक दिन श्रीउमामहेश्वरजी के मन्दिर हो के चले जा रहे थे, शिवलिङ्ग को बहुत चिकना सुन्दर देख चित्त में पूजन की श्रद्धा हुई; सो एक फूल (जो उस समय इनके हाथ में था) उसको उस विग्रह पर रख के बोले कि "नमः शिवायै च नमः शिवाय।" आशुतोष औढरदरन महादानी श्रीगिरिजावरजी के मन्दिर से वाणी हुइ कि "वर मांग ॥"

इन्होंने कर जोड़ के प्रार्थना की कि "महाप्रभो! आपसे भी बड़ा जो कोई परम पुरुष हो, आप कृपा करके उनका दर्शन इस अबोध बालक को अपनी कृपा से करा दीजिये ॥"

सवैया।

"देवन के शिर देव बिराजत ईश्वर के शिर ईश्वर कहिये।

लालन के शिर लाल निरंतर खूबन के शिर खूबन लहिये ॥
पाकन के शिर पाकशिरोमणि देखि बिचार वही दृढ़ गहिये।
सुन्दर एक सदा शिर ऊपर और कछू हमको नहिं चहिये ॥"

इस भारी वर की याचना से श्रीगिरिजापति कुछ विचारने लगे। इतने ही में, अपने भक्तराज महाभागवत परमप्रिय देव-देव महादेव के वचन के पूरा करने के हेतु, श्रीहरि स्वयं वहाँ प्रगट हो गये। करुणा-सागर भक्तवत्सल त्रिभुवनपति जगदाधार शोभाधाम को देखते ही, श्रीशिवजी भी प्रत्यक्ष हो, प्रेम और हर्ष में चकित होते हुए द्विजबालक (श्रीऋभुजी) से बोले कि "वत्स! ले जिन दीनबन्धु ब्रह्मण्यदेव जगत्त्राता प्राणेश्वर को तू ढूंढ़ता था, सो तेरे सुकृतियों के फल कारण-रहित कृपालु यही हैं; तेरे भाग्य धन्य, तू धन्य, तेरी माता और तेरे गुरु धन्य ॥"

सवैया।

"होत बिनोद जितौ अभिअंतर सो सुख आप में आपही पैये।
बाहिर क्यों उमग्यो पुनि आवत कंठ ते सुन्दर फेर पठैये ॥
स्वाद निवेर निवेर्‍यो न जात मनो गुड़ गूंगहि ज्यों नित खैये।
क्या कहिये कहते न बनै कछु जो कहिये कहते ही लजैये ॥"

श्रीऋभुजी को भक्ति वरदान देके दोनों अन्तर्धान हो गये ॥

---

(८५) महाराज श्रीइक्ष्वाकुजी।

श्रीसूर्यवंश में महाराज श्रीइक्ष्वाकुजी बड़े ही प्रतापी हुए आप की राजधानी यही साकेतपुरी अर्थात् श्रीअयोध्याजी थी, आप तपबल से शरीर त्याग कर परमधाम को चले गये ॥

आपने तप करके जब वरदान मांगा था तो, "मुसकाइ कह्यो हरि तेरेइ वंश में खेलिहौं औध के आँगन में ॥"

पुराणों में अपकी विचित्र कथा है। उसके लिखने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं देखी ॥

---

(८६) श्रीऐल (पुरूरवा) जी।

राजा पुरूरवा ही का नाम ऐल है क्योंकि उनकी माता इलाजी

थीं, और पिता श्रीबुधजी श्रीइलाजी की कथा पुराणों में विचित्र लिखी है जिसकी संक्षिप्त वार्ता यह है कि एक महीना यह स्त्री रहती थी और दूसरे महीने में पुरुष अर्थात् राजा सुद्युम्न, अस्तु॥

सोई इलाजी के पुत्र श्रीपुरूरवाजी उर्वशी अप्सरा के संग और प्रेम में बहुत दिन तक मृत्युलोक और गन्धर्वलोक में रहे। पुनः जब पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आये तो पिछली बातें स्मरण होने से इनको बड़ा विराग हुआ जिस विराग का फल श्रीहरिपद अनुराग पाकर आप हरिकृपा से वैकुण्ठ को गये॥

---

(८७) श्रीगाधिजी।

राजा श्रीगाधिजी के ही पुत्र श्रीविश्वामित्रजी हैं जिनने साक्षात् प्रभु को अपनी वात्सल्य भक्ति से प्रसन्न किया कि जिनको प्रभु ने श्रीवशिष्ठजी के समान आदर दिया, यह कथा श्रीमानसरामायणजी में सब प्रेमियों ने देखी ही है॥

गाधिजी की बेटी के पुत्र श्रीयमदग्निजी हैं॥

राजा गाधि बड़े भक्तिमान् हुये॥

---

(८८) महाराज श्रीरघुजी।

श्रीअयोध्याजी के महाराज श्रीरघुजी का प्रताप चौदहो भुवन में छाया हुआ था॥

एक समय उनकी महारानी को देख एक ब्राह्मण वैसी ही स्त्री पाने के लिये श्रीशिवजी को अपना मस्तक अर्पण कर देना चाहा। यह वार्त्ता सुन के महाराज ने अपनी स्त्री राज समेत उस ब्राह्मण देवता को दे दी और उसी विप्र के मनोरथ हेतु इन्द्र ब्रह्मा तथा स्वयं श्रीवैकुण्ठनाथ से बहुत विनय प्रार्थना की कि जिससे प्रसन्न होके उस ब्राह्मण ने वैकुण्ठ में निवास पाया॥

आप ऐसे प्रतापी हुए कि आप ही के नाम पर वह वंश आज

तक (रघुवंश के नाम से) प्रसिद्ध है और भाग्य की बड़ाई इससे अधिक और क्या कि श्रीसाकेतविहारी आपही के वंश में आके प्रकट हुए ॥

(८९) श्रीरयजी।

श्रीरयजी राजा पुरूरवा के पुत्र थे (उर्वशी अप्सरा जिनकी माता थी) (१) जय (२) विजय (३) रय (४) आयु (५) श्रुतायु (६) सत्यायु ये छः सहोदर भ्राता थे। "रय" इनमें बड़े प्रतापी थे ॥

(९०) श्रीगयजी।

महाराज श्रीप्रियव्रतजी के कुल में राजा "नक्त" के पुत्र श्रीद्रुतिजी से हुये। एक बार यज्ञ में आपने ऐसा मनोरथ किया कि जिस प्रकार से देवता लोगों ने कृपा करके प्रत्यक्ष होके अपना २ भाग लिया, वैसे प्रभु भी अनुग्रह करके प्रकट हों, पर जब ऐसा न हुआ तो राजा ने अन्न जल त्याग दिया और प्रभु की प्रतीक्षा करते रहे ॥

सच्चे व्रत और प्रेमवाले पर हमारे प्रभु ने कब कृपा नहीं की है? करुणाकर भक्तवत्सल हरि मख में आ ही तो पहुँचे ॥

यज्ञ पूर्ण करके राजा बदरिकाश्रम जाय योग से शरीर तज प्रभु के लोक में जा पहुँचे और उनकी धर्मपत्नी भी सती होकर पति से जा मिलीं ॥

(९१) श्रीशतधन्वाजी।

शतधन्वा की कथा (स्यमन्तक मणि के सम्बन्ध में) श्रीमद्भागवत में विस्तार से वर्णित है। इनको श्रीकृष्ण भगवान् ने मारा और मुक्ति दी ॥

(९२) श्रीउतङ्कजी।

श्रीउतंग (उतङ्क) जी दण्डकवनवासी थे। उनके गुरु, स्वामी श्रीमतंगऋषिजी, जब श्रीरामधाम जाने लगे तो उनको आज्ञा दी

कि तुम इसी बन में भजन करो। यहीं श्रीसीतानाथ साकेतपति शार्ङ्गधर आवेंगे और कृपाकरके तुमको दर्शन देंगे सो वैसाही हुआ॥

(६३)(६४) श्रीदेवलजी; श्रीअमूर्तजी।

श्रीदेवलजी, जो ब्राह्मण और मौनी थे; और श्रीहरिदास (अमूर्त) जी, ये दोनों बचपन ही से त्यागी बड़भागी और रामानुरागी हुये॥

(६५) श्रीनहुषजी।

एक नहुष श्रीसूर्य्यवंश में हुये हैं और दूसरे नहुष श्रीचन्द्रवंश में। श्रीसूर्य्यवंशी नहुषजी श्रीअयोध्याजी के राजा थे। जब गौतमजी के शाप से वा ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र मशक सरिस लघु होके मानसरोवर के कंजनाल में जा छिपे तब नहुषजी देवतों के राजा इन्द्र के स्थान पर बिठाये गये। वह उस समय अपने यान को मुनियों के कन्धे पर उठवा के इन्द्राणी के पास चला। उन ब्राह्मणों के शाप से सर्प होकर मृत्युलोक में गिरा और एक गिरिकन्दरा में काल बिताने लगा। भाग्यवश श्रीयुधिष्ठिरजी उधर से जा निकले उनके पुण्यप्रभाव से शाप से उद्धार होके परमधाम को पाया॥

(६६) श्रीययातिजी।

श्रीनाहुषजी अर्थात् श्रीनहुषजी के पुत्र श्रीययातिजी, आखेट को बन में गये वहाँ श्रीशुक्राचार्य्य की बेटी देवयानी से बहत बात चीत हुई; संक्षेप यह कि शुक्राचार्य्यजी ने देवयानी का विवाह राजा ययाति से करदिया। उनसे दो लड़के हुये॥

श्रीशुक्राचार्य्यजी के शाप से वृद्ध हो गये, फिर अपने पुत्र की सहायता से आपने युवावस्था पाई, अन्त को घर छोड़ बन में गये॥

निदान भगवद्भजन के प्रभाव से परमधाम पाया॥

(६७) श्रीदिलीपजी ।

श्रीदिलीपजी सातो द्वीप के राजा थे; आपकी राजधानी श्रीअयोध्याजी थी ॥

एक दिन रावण विप्रवेष बनाके आपके पास पहुँचा, उस समय महाराज पूजा कर रहे थे ॥

एक कुश और किंचित् जल दक्षिण दिशा की ओर फेंका; यह देख रावण को संदेह हुआ और उसने पूछा कि आपने यह क्या किया ? महाराज ने उत्तर दिया कि बन में गायें चररही थीं, उनको सिंह ने पकड़ना चाहा था। इसीलिये मैंने मंत्रित करके वह तृण फेंका है, सो उस बाण ने बाघ को मार के गायों की रक्षा की और लंका में जाके रावण का घर जलाने लगा इसलिये उसके पीछे जल छोड़ दिया कि जिसने वह आग बुझा दी है ॥

यह सुनकर रावण झटपट चलदिया और जाकर देखा तो आपकी सब बातें ठीक पाईं और आश्चर्य्य तथा शंका में डूबके फिर कभी यहाँ (श्रीअयोध्याजी) आने का नाम न लिया बरन् महाराज दिलीप के नाम से डरा करता था ॥

यशस्वी महाराज दिलीपजी ने अपने पुत्र श्रीभगीरथजी को राज देकर बन जाय श्रीगंगाजी के हेतु तप करते करते तन तज दिया ॥

आपका मनोरथ श्रीभगीरथजी ने पूरन किया कि जिनकी कथा लिखी जा चुकी है ॥

---

(६८) श्रीयदुजी ।

श्रीयदुजी, राजा श्रीययाति के पुत्र थे देवयानी के गर्भ से ॥

श्रीदत्तात्रेयजी महाराज ने कृपा करके राजा यदु के यहाँ आकर दर्शन दिया और इनके सत्सङ्ग से राजा यदु को विवेक उत्पन्न हुआ और राज तज बन में जा भगवत् भजन कर परम धाम को गये ॥

आपही के वंश में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रगट हुये थे॥

(१) श्रीपुरुषोत्तमभगवान्; उनके
(२) श्रीब्रह्माजी; उनके
(३) श्रीअत्रिजी; जिनके
(४) श्रीचन्द्रजी; जिनके
(५) श्रीबुधजी; जिनके
(६) श्रीपुरूरवाजी; जिनके
(७) आयु; जिनके
(८) श्रीनहुषजी; जिनके
(९) श्रीययातिजी; उनके
(१०) पुत्र "श्रीयदुजी" और
श्री "पुरु" जी थे॥

---
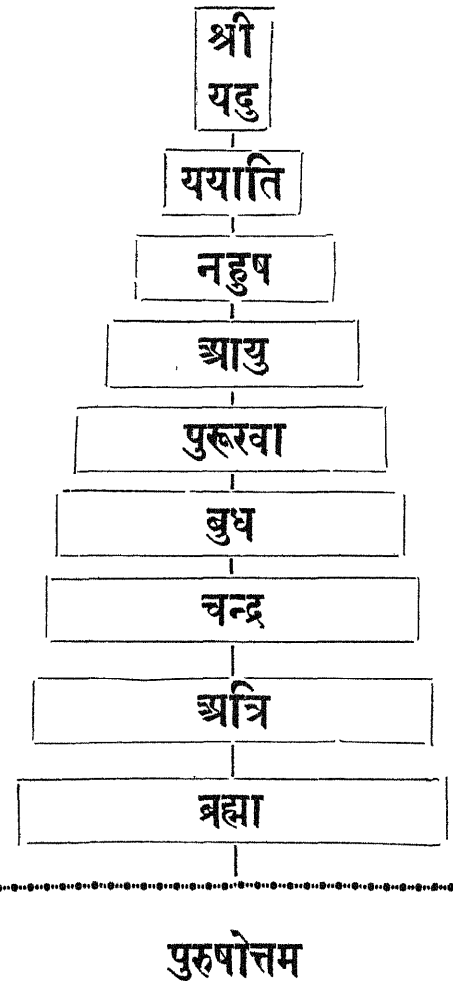
(९९) श्रीमान्धाताजी

श्रीमान्धाताजी श्रीअयोध्याजी के राजा बड़े प्रतापी और धर्म्मात्मा थे। श्री "सौभरि" ऋषि ने आपसे मांगा कि "मुझे अपनी एक कन्या दीजिये," राजा ने उत्तर दिया कि "बहुत अच्छा, मेरी पचासों कन्याओं में से जो आपको बरे, आप उसको ले जाइये॥"

मुनि को देखके सब ही ने उनको बरा; तब राजा ने पचासों कन्याएँ मुनि को दान कर दीं॥

(१००) श्रीविदेहनिमिजी।

महाराज श्री "निमि" जी विदेह ने, जिनकी राजधानी श्रीमिथिलापुरी थी, यज्ञ करना चाहा; उसी समय उनके पुरोहित श्री १०८ वशिष्ठजी महाराज को श्रीइन्द्रजी ने बुला लिया। जब महामुनीश्वर श्रीवशिष्ठजी इन्द्रलोक से लौट आये, तब देखा कि राजा तो गौतमजी से यज्ञ करारहे हैं; क्रोध में आके राजा को शाप दिया कि तू विदेह हो जा; राजा ने भी वशिष्ठजी को शाप दिया कि आप भी विदेह हो जाइये। यह देख श्रीब्रह्माजी ने वशिष्ठजी को देह (शरीर) दिया; और राजा को यह आशीष कि "तुम्हारा बास सबकी आंखों की पलकों पर रहे॥"

तब से, वहां के राजा "विदेह" कहलाने लगे। महाराज श्रीनिमिजी के पास एक दिन नवो योगेश्वर कृपाकर पहुँचे महाराज ने आदर सत्कार पूजा के उपरान्त, आपसे कई प्रश्न पूछे; और नव योगेश्वरों से एक एक करके सबका उत्तर पाया; कि जो विस्तारपूर्वक श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्ध में है। उसको अवश्य ही पढ़ना सुनना चाहिये॥

श्रीनिमिजी महाराज एक अंश से तो सबकी पलकों पर बसते हैं, और एकरूप से श्रीसाकेत में विराजते हैं॥

(१०१) श्रीभरद्वाजजी।

महामुनि श्री "भरद्वाज" जी का यश श्री "मानसरामचरित्र" में प्रसिद्ध है, कि जिनके ही मनोरम प्रश्न पर श्री "याज्ञवल्क्य" जी ने परम हितकारिणी कथा प्रगट की। आपकी महिमा कहां तक वर्णन की जावे कि जिनके अतिथि श्रीरामप्राणप्रिय "भरत" जी हुये, पुनः स्वयं प्रभु श्रीजनकनन्दिनीजी और लाललाड़िले श्रीलषणजी समेत बड़े प्रेम से इनके आश्रम में आए॥

श्रीतीर्थराज प्रयाग में आपका पावन आश्रम आज भी प्रसिद्ध है॥

(१०२) श्रीदक्षजी।

श्रीदक्षजी ने एक पहाड़ पर भजन किया, भगवत् ने प्रसन्न होकर दर्शन दे यह आज्ञा की कि "पहिले गृह में रह के भोगविलास और प्रजा उत्पत्ति करलो तब मेरे धाम में आना॥"

श्रीदक्षजी के, कई बेर, दश दश सहस्र बेटे हुये और इनने सब को सृष्टि हेतु तप करने के लिये "नारायणसर" पर भेजा; परन्तु,

"श्रीनारद उपदेशेउ आई। ते पुनि भवन न देखेउ जाई॥"

तब, श्रीब्रह्माजी के उपदेश से श्रीदक्षजी ने साठ कन्यायें उत्पन्न कीं; जिनकी कथा श्रीमद्भागवत में विस्तारपूर्वक है, अस्तु॥

अन्ततः, श्रीहरिहरकृपा से श्रीदक्षजी ने परमगति पाई॥

(१०३।१०४) श्रीपुरुजी। श्रीभूरिषेनजी।

श्री "पुरु" जी श्रीयदुजी के भाई थे। दोनों बड़े भगवद्भक्त थे॥

(१०५) श्रीवैवस्वतमनुजी।

चौदह मनुओं में एक मनु प्रथम श्रीस्वायम्भुवमनुजी हैं कि जिन की धर्मपत्नी श्रीसतरूपाजी हैं कि जिनकी कथा लिखी जा चुकी है। शेष तेरह मनु और हैं॥

(१०६) मनु और मन्वन्तर।

अथ चौदहो मनु के नाम—

(१) श्रीस्वायम्भुवमनुजी
(२) स्वारोचिष मनु
(३) उत्तम मष
(४) तामस मनु
(५) रैवत मनु
(६) चाक्षुष मनु
(७) श्रीवैवस्वत मनु
(८) सावर्णि मनु
(९) दक्षसावर्णि मनु
(१०) ब्रह्मसावर्णि मनु
(११) धर्मसावर्णि मनु
(१२) रुद्रसावर्णि मनु
(१३) देवसावर्णि मनु
(१४) इन्द्रसावर्णि मनु

जैसे सातों दिनों का एक "सप्ताह", तथा बारहो महीनों का एक "वर्ष" हुआ करता है; वैसे ही सत्ययुग त्रेता द्वापर कलियुग इन चारों की एक "चौकड़ी" ("चतुर्युग") जानिये। तथा ऐसे ऐसे सहस्र चतुर्युगों वा १००० चौकड़ियों का, केवल "एक दिन श्रीब्रह्माजी का" होता है; सो, ब्रह्माजी के प्रत्येक दिन में चौदह मनु हो जाया करते हैं। अर्थात् एक एक मनु, (१०००÷१४) कुछ ऊपर एकहत्तर चतुर्युगों पर्य्यन्त रहा करते हैं। जब एक मनु की अवधि पूरी होती है तो उनके साथही साथ उस समय के इन्द्र, सप्तर्षि, मनुपुत्र, भगवदवतार, और देवता ये छओ पहिले की जगह नए नए होते हैं। प्रत्येक समूह (इन छओं का), एक एक "मन्वन्तर" कहलाता है; जब चौदह मन्वन्तर हो चुकते हैं, अर्थात् चौदहो (१) मनु (२) इन्द्र (३) सप्तर्षि (४) मनुपुत्र (५) भगवदवतार (६) देवता की एक एक आवृत्ति हो चुकती है, तब एक सहस्र चौकड़ियाँ व्यतीत होती हैं वा श्रीब्रह्माजी का एक दिन पूरा होता है। उतने ही काल की ब्रह्माजी की रात्रि होती है। ऐसे ऐसे रात्रि दिनों से जब एक सौ बर्ष पूरे होते हैं, तब श्रीराम-इच्छा से पूर्व ब्रह्मा के स्थान में नए ब्रह्माजी होते हैं। प्रभु की रचना की महिमा अपार तथा अकथनीय है ❀॥

सवैया।

"बेद थके कहि, तन्त्र थके कहि, ग्रन्थ थके निशि बासर गाते।
शेष थके, शिव, इन्द्र थके पुनि खोज कियो बहु भाँति बिधाते॥
पीर थके, औ फ़क़ीर थके, पुनि धीर थके, बहु बोलि गिराते।
"सुन्दर" मौन गही सिध, साधक, कौन कहे उसकी मुख बाते॥"

---

(१०७) श्रीशरभंगजी।

महामुनि श्रीशरभंगजी की स्तुति जितनी की जाय थोड़ी है।

❀ नोट—एक चिउँटा चिउँटी को देखकर एक समय श्रीकृष्ण भगवान् के हँसने पर श्रीरुक्मिणीजी के पूछने के उत्तर में भगवत् ने कहा कि जो चिउँटा स्त्री के पीछे दौड़ा जाता है उसको मैं इकहत्तर बार इन्द्र बना चुका हूँ तब भी उसकी तृप्ति भोग से नहीं हुई, कामवश दौड़ा जाता है उसी पर हँसी आई है॥

आप कृतयुग से ही श्रीसीतारामदर्शन के लिये तप कर रहे थे। इन्द्र ने बहुत विघ्न किये पर श्रीरामकृपा से मुनिजी का मनोरथ सुफल हुआ ही ॥

चौपाई ।

"पुनि आये जहँ मुनि सरभंगा। सुन्दर अनुज जानकी संगा ॥"

दो० "देखि राम मुख पंकज, मुनिवर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति, धन्य जनम सरभंग ॥"

चौपाई ।

"कह मुनि सुनु रघुवीर कृपाला। शंकर मानस राजमराला ॥
जात रहेउँ विरंचि के धामा। सुनेउँ श्रवन बन अइहहिं रामा ॥
चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती ॥
नाथ ! सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना ॥
सो कछु देव ! न मोहि निहोरा। निजपन राखेहु जनमन चोरा ॥
तब लगि रहहु दीन हित लागी। जबलगि मिलउँ तुम्हहिंतनुत्यागी ॥
जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा ॥
एहिबिधि सररचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा ॥"

दो० "सीता अनुज समेत प्रभु, नीलजलद तनु श्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुनरूप श्रीराम ॥"

चौपाई ।

"अस कहिजोगअगिनि तनुजारा। राम कृपा बैकुंठ सिधारा ॥
तातें मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति मन दयऊ ॥
ऋषि निकाय मुनिबर गति देखी। सुखी भये निज हृदयबिशेखी ॥
अस्तुति करहिं सकल मुनि वृंदा। जयति प्रनतहित करुनाकंदा ॥"

(१०८) श्रीसंजयजी ।

सत्यवादी हरिभक्त श्रीसंजयजी, महर्षिश्री "व्यास"जी के शिष्य और राजा "धृतराष्ट्र" के मंत्री तथा पुरोहित थे। श्रीप्रभुकृपा और व्यासजी के आशिष से इनको दिव्यदृष्टि मिली "श्रीभगवद्गीता" को पहिले श्रीसंजयजी ही ने धृतराष्ट्र से कहा था। महाभारत में

इनकी कथा बहुत विस्तार से है। जब धृतराष्ट्र ने अपनी स्त्री गान्धारी समेत श्रीविदुरजी के उपदेश से सप्तधारा गंगा के तट जाके प्राण त्याग किया तब श्रीसंजयजी भी विरक्त हो मुक्त हो गये॥

(१०९) श्रीउत्तानपादजी।

श्रीमहाराज उत्तानपादजी सब विधि प्रशंसनीय हैं, कि जिन्होंने भक्तराज श्री "ध्रुव"जी सा पुत्र पाया। श्रीध्रुवजी को राज दे, बन जा, हरि का भजन कर आपने परांगति पाई॥

(११०) ऋषीश्वर श्रीयाज्ञवल्क्यजी।

श्रीसूर्य्य भगवान् ने कि जिनसे श्रीयाज्ञवल्क्य महर्षिजी ने विद्या प्रथमतः पढ़ी थी, अतिशय प्रसन्न होके यह आशिष दिया कि "जो तुमसे विवाद करेगा उसका शीश स्वतः फट जावेगा॥"

आप महर्षियों में हैं। आपने श्रीभरद्वाजजी के प्रश्न के उत्तर में कृपा करके श्रीपार्वतीशिवसंवाद "मानसरामचरित" गाया है। आपकी स्मृति भी प्रसिद्ध है ही। आप अत्यन्त प्रेमी महाभागवत परम विवेकी महानुभाव हैं। आपकृत उपदेश विख्यात हैं॥

(१११)(११३) श्रीसमीकजी, श्रीपिप्पलादजी, श्रीपिप्पलाइनजी।

श्रीसमीकजी तथा महाभागवत श्रीपिप्पलादजी, और श्रीपिप्पलाइनजी तीनों बड़े ज्ञानी ध्यानी प्रेमी थे॥

(१०९) छप्पय। (७३४)

निमि अरु नौ योगेश्वरा पादत्राण* की हौं शरण॥ कवि[१], हरि[२], करभाजन[३], भक्ति रत्नाकर भारी। अन्तरिक्ष[४], अरु चमस[५], अनन्यता पधति उधारी॥ प्रबुध[६], प्रेम की राशि; भूरिदा† आविरहोता[७]। पिप्पल[८], द्रुमिल[९] प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता॥ जयन्ती[१०] नन्दन

* "पादत्राण" = खड़ाऊँ, पनही, जोड़ा, पगरखी। † "भूरिदा" = बहुत देनेवाला॥

जगत के त्रिविध ताप आमय हरण । निमि[11] अरु नव योगेश्वरा पादत्राण की हौं शरण ॥ १३ ॥ (२०१)

वार्त्तिक तिलक ।

महाराज श्रीनिमिजी और नव (६) योगेश्वरों के पादत्राणों के मैं शरणागतहूँ और उनके पादत्राण मेरे रक्षक हैं । उन नवो योगेश्वरों के नाम और गुण कहते हैं । श्रीकविजी, श्रीहरिजी, और श्रीकरभाजनजी, जो नवधा प्रेमा परादि भक्तियों के महारत्नाकर [समुद्र] हैं । श्रीअन्तरिक्षजी और श्रीचमसजी, जो भागवतधर्म अनन्य मार्ग के उद्धार करनेवाले हैं । श्रीप्रबुधजी जो भगवत्प्रेम की राशि ही हैं । श्रीआविर्होताजी जो भक्ति ज्ञान वैराग्य के महादानी हैं । श्रीपिप्पलायनजी और श्रीद्रुमिलजी, जो संसारसागर से पार जाने के अर्थ प्रसिद्ध महानौका हैं ॥

१ श्रीकविजी,
२ श्रीहरिजी,
३ श्रीकरभाजनजी,
४ श्रीअन्तरिक्षजी,
५ श्रीचमसजी,
६ श्रीप्रबुधजी,
७ श्रीआविर्होताजी,
८ श्रीपिप्पलायनजी,
९ श्रीद्रुमिलजी,
१० श्रीजयन्तीजी देवी ।
११ श्रीनिमिजी महाराज,

(११४) देवी श्रीजयन्तीजी ।

श्रीऋषभदेवजी की धर्मपत्नी परम भागवती देवी श्रीजयन्तीजी धन्य हैं, कि जिनके एकसौ पुत्रों में, परम आनन्ददायक ये नवो पुत्र संपूर्ण जगत् के जनों के तीनों ताप तथा काम क्रोधादिक मानसिक महारोगों के हरनेहारे, और श्रीभरतजी भगवत् के प्यारे, हुए । धन्य धन्य, जय जय ॥

दम्पति के उन एकसौ पुत्रों में से ८१ महिसुर (ब्राह्मण) और शेष महीश (अवनीश) हुए ॥

(११०) छप्पय । (७३३)

पदपराग करुणा करौ, (जे) नेता "नवधा भगति"

के॥ श्रवण[1] परीक्षित; सुमति व्यास सावक*सुकीरतन[2]। सुठि सुमिरन[3] प्रहलाद; पृथु पूजा[4]; कमला चरनन मन॥ बन्दन[5]† सुफलकसुवन; ‡ दास्य[6] दीपत्ति + कपीश्वर। सख्यत्वे[7] पारत्थ[8]; समर्पन आतम[9] बलिधर॥ उपजीवी इन नाम के एते त्राता अगति के। पदपराग करुणा करौ (जे)× नेता÷ नवधा भगति के॥ १४॥(२००)

श्लो० "श्रीकृष्णश्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकी कीर्तने, प्रह्लादःस्मरणेऽङ्घ्रि,पद्म भजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने। अक्रूरस्त्वभिवादने कपिपतिर्दास्ये च सख्येऽर्जुनः सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेते विदुः॥ १॥"

वार्त्तिक तिलक।

जो जो महानुभाव नवधा भक्ति के प्राप्त करनेवाले आचार्य्यरूप हों, सो आप सब मुझपर करुणा करके, अपने पदपंकजों की धूरि मुझको दीजिए॥

(१) श्रवणभक्तिनिष्ठ मतिमान श्रीपरीक्षितजी;

(२) कीर्तनभक्तिनिष्ठ वैयासकी महासुमति परमहंस श्रीशुकजी;

(३) सुन्दर स्मरणभक्तिनिष्ठ श्रीप्रह्लादजी;

(४) भगवच्चरण सेवन भक्तिनिष्ठा मानसवती महारानी कमला श्रीलक्ष्मीजी;

(५) अर्चनपूजनभक्तिनिष्ठ श्रीपृथुजी;

(६) वन्दनभक्तिनिष्ठ श्रीअक्रूरजी;

(७) श्रीसीतापतिदास्य भक्तिनिष्ठा दीप्तियुक्तकपीन्द्र श्रीहनुमान्‌जी;

(८) सख्यभक्तिनिष्ठ पृथापुत्र श्रीअर्जुनजी;

(९) आत्मनिवेदनभक्तिनिष्ठाधारी श्रीबलिजी;

* "व्याससावक"=व्यासजी के पुत्र परमहंस श्रीशुकदेवजी। † "वन्दन"=नमस्कार" अभिवादन। ‡ "सुफलकसुवन"=अक्रूरजी। + "दीपत्ति"=दीप्ति; प्रकाश। × (जे) यह शब्द पीछे से मिलाया है मूल में नहीं। ÷ "नेता" के स्थान में पाठान्तर नियन्ता भी है। "नेता"=प्रवर्तक प्राप्त करानेवाले॥

ये श्रवणादिक नवो नामवाली भक्तियाँ ही जिनकी प्राणाधार जीविका हैं, सो नवो महाभागवत, सब गतिमतिहीन जनों के रक्षक हैं॥

छप्पय।

"नवधा भक्ति निधान ये, रामप्राण प्रिय भक्त दश॥
श्रवण समीरकुमार[१]; कीरतन कुश लव[२] निर्भर।
शुचि सुमिरन रत भरत[३]; चरण सेवन अङ्गद[४] कर॥
पूजन शबरी[५]; शुभ सुमन्त्र[६] बन्दन अधिकारी॥
लखन[७] दास्य; सुग्रीव[८] सख्यसुख लूट्यो भारी॥
आत्म समर्पण गीधपति[९]; कृत अपूर्व्व करि लिये यश।
नवधा भक्ति निधान ये रामप्राणप्रिय भक्त दश"॥

(११५) श्रीपरीक्षितजी।

(१११) टीका। कवित्त। (७३२)

श्रवणरसिक कहूँ सुने न परीक्षित से, पानहुँ करत लागी कोटि गुण प्यास है। मुनि मन माँझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वहीं गर्भ मध्य देखि आयो रूपरास है॥ कही सुकदेवजूसों टेव[१] मेरी लीजै जानि, प्रानलागे कथा, नहीं तक्षकको त्रास है। कीजिये परीक्षा उरआनी मति-सानी अहो! बानी बिरमानी[२] जहां जीवन निरास है॥ ९७॥ (५३२)

वार्त्तिक तिलक।

राजा परीक्षित के समान भगवत्कथा श्रवणरसिक कहीं सुनने में नहीं आता। श्रवणपुटन से हरिकथा सुधा पान करते हुए भी प्यास कोटि गुनी बढ़ती ही जाती थी। ऐसा क्यों न हो? देखिये जो प्रभु मुनियों के ध्यान करने से भी उनके मन में किसी प्रकार से नहीं आते, उन्हीं रूपराशि भगवान् का गर्भ के मध्य आप दर्शन कर आए हैं। श्रीभागवत सुनते समय श्रीशुकजी से कहा कि "मेरी प्रकृति जान लीजिये कि प्रभु की कथा ही में मेरे प्राण लगे हैं। मुझको तक्षक का कुछ भय नहीं है। चाहे आप मेरी परीक्षा ले लीजिये;" यह सुन श्रीशुकदेवजी अपने हृदय में यह बात लाए कि राजा सत्य कहते हैं कथा में इनकी मति सनि गई है॥

---

१ "टेव"=बान, प्रकृति, स्वभाव। २ "बिरमानी"=ठहर गई, रुकी॥

अहो! श्रीपरीक्षितजी की क्या प्रशंसा की जावे कि सातवें दिन ज्योंही श्रीशुकदेवजी की वाणी समाप्त हुई, उसी क्षण शरीर को त्याग दिया परमधाम को चले गए॥

श्रीपरीक्षितजी की कथा लिखी जाचुकी है कि ("जिनके हरि नित उर बसैं")॥

(११६) परमहंस श्रीशुकदेवजी।

(११२) टीका। कवित्त। (७३१)

गर्भ ते निकसि चले बनही में कीयो बास, ब्यास से पिता को नहिं उत्तरहु दियो है। दशम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई, लई नई रीति, पढ़ि भागवत लियो है॥ रूप गुन भरि सद्योजात कैसे करि आए सभानृप ढरि[1] भीज्यो प्रेम रस हियो है। पूछे भक्त भूप ठौर ठौर परे भौंर, जाई, गाई उठे जबै मानो रंगभर कियो है॥ ६८॥ (५३१)

वार्त्तिक तिलक।

परमहंस श्रीशुकदेवजी की कथा यहाँ तक तो लिखी जाचुकी है कि शुक का बच्चा श्रीव्यासजी की स्त्री के मुखद्वारा उदर में प्रवेश कर गया। बारह वर्ष उनके उदर में ही आप रहे। पुनः देवतों, मुनीश्वर की प्रार्थना से आप गर्भ से निकल के उसी क्षण चल दिये और जाके वन ही में बसे। महर्षि व्यासजी सरीखे पिता के "पुत्र! पुत्र!!" पुकारने पर स्वयं उत्तर तक न दिया, किन्तु वृक्षों से ही "शुकोऽहं शुकोऽहम्" कहलाके प्रबोध कर दिया॥

तब श्रीव्यासजी ने एक अनुराग का जाल फेंका अर्थात् भगवद्यश के श्लोक सिखाकर लड़कों को (श्रीअगस्त्यजी के शिष्यों को) वन में आपकी ओर भेजा। किसी दिन एक लड़के को अपूर्व भगवद्यश का एक*श्लोक भागवत के दशमस्कन्ध का गाते सुनके आपकी मति हर गई। भगवत्प्रेम में आप ऐसे पगे कि उस लड़के से पता पूछकर श्रीव्यासजी के पास आकर नवीन रीति ग्रहणकर (अर्थात् जिन्होंने उत्तर

१ "ढरि"=चलिके, ढरक के, कृपा करके॥

* अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

भी न दिया था सो) अब पास में रहके श्रीमद्भागवत को पढ़ा ॥

तब संपूर्ण श्रीभागवत में जो श्रीभगवत्रूप और गुणों का वर्णन था, सो सब इनके मन में भरके उसके आनन्द का भार इतना हो गया कि जो किसी प्रकार से सहा नहीं जाता था ॥

एवं, जब ऋषिपुत्र के शाप से राजा परीक्षितजी राज तज के श्रीगंगाकूल में मुनियों के वृन्द समेत सभा में बैठे, और भक्त राजाजी ठौर ठौर के मुनीश्वरों से अपनी सुगति का उपाय पूछ रहे थे; मुनीश्वरलोग इस विचार के चक्कर (भँवर) में पड़े थे कि राजा को क्या उपदेश देना चाहिये ॥

उसी क्षण उस सभा में, श्रीपरीक्षितजी के भाग्यवश, श्रीशुकदेवजी कि जिनका हृदय श्रीभगवत्प्रेमरस से भीगा हुआ है, सो परोपकारिता की ढरन से ढर के, आ पहुँचे और राजा से कहा कि "तुम भगवद्यश सुनो।" यह कह श्री "भागवत" कथा गा चले मानो प्रेमरंग की झड़ी सी लगा दी। श्रीभागवत श्रीपरीक्षित महाराज को श्रीशुकजी ने ऐसा सुनाया कि सात ही दिन में महाराज ने परमपद ही तो पा लिया ॥

श्रीव्यासजी तथा सुरगुरु श्रीबृहस्पतिजी की आज्ञा से श्रीशुकजी ने विज्ञानसिन्धु श्रीजनकजी महाराज से उपदेश लिया ॥

एक समय किसी तीर्थ पर देवाङ्गनाएँ वस्त्ररहित स्नान कर रही थीं परमहंस श्रीशुकदेवजी अकस्मात् उधर ही से जा निकले, उन देवियों ने आपसे तो लज्जा न की, परन्तु व्यासजी को देखते ही शीघ्रता एवं लज्जापूर्वक वस्त्र धारण करने लगीं। और व्यासजी की शंका का उत्तर उन बड़भागियों ने यह दिया कि "प्रभो ! आपसे अथवा सबसे लज्जा तो सामान्यतः अवश्य है ही, रही वार्त्ता यह कि परमहंस श्रीशुकदेवजी से लज्जित क्यों न हुईं ? सो उनको तो स्त्री पुरुष का भेद ही नहीं, वे तो सबको भगवत्मय ही देखते हैं; उनको इतनी भी सुधि नहीं कि हमको लज्जा आई वा नहीं, सवस्त्र हैं वा नग्न, वे तो भगवद्रूप में छके केवल उसी में मग्न हैं ॥"

(११७) श्रीप्रह्लादजी।

(११३) टीका। कवित्त। (७३०)

सुमिरन साँचो कियो, लियो देखि सबही में एक भगवान कैसे काटै तरवार है। काटिबो खड़ग जलबोरिबो सकति[1] जाकी, ताहि को निहारै चहुँओर सो अपार है॥ पूछेते बतायो खंभ, तहाँही दिखायो रूप प्रगट अनूप भक्त बाणीही सों प्यार है। दुष्ट डार्यो मारि, गरे आँतैं लईं डारि; तऊ क्रोध को न पार, कहा कियो यों बिचार है॥६६॥ (५३०)

वार्त्तिक तिलक।

महाभागवताग्रगण्य श्रीप्रह्लादजी की कथा "द्वादश भक्त राजों" के साथ लिखी जा चुकी है। इन्होंने श्रीराम नाम का सच्चा स्मरण किया; जिस स्मरण से इनको पूर्ण परब्रह्म दृष्टि प्राप्त हुई कि जिस दृष्टि से चराचर में एक भगवान् ही को देखा। यह भजन और स्मरण देखके भक्तद्रोही हिरण्यकशिपु ने इनके वध के अनेक प्रयत्न किये; अग्नि में जलाया, जल में डुबाया; तथा खड्ग का प्रहार भी कराया; परन्तु इनको खड्ग कैसे काट सकता था। क्योंकि खड्ग में काटने की शक्ति, अग्नि में जलाने की एवं जल में डुबाने की शक्ति जिस परमात्मा श्रीरामजी की है, उन्हीं को आप चारो ओर अग्नि जल खड्गादिकों में अपार प्रीति प्रतीति से देखते थे॥

अन्त में हिरण्यकशिपु ने पूछा कि "तेरा राम कहाँ है?" तो आपने उत्तर दिया कि "प्रभु सर्वत्र हैं॥"

दो० "तोमें मोमें खड्ग में, खम्भहु में हैं राम।
मोहि दीखैं, तोहि नाहिं, पितु! बिना जपे हरिनाम॥"

ऐसा सुन दुष्ट ने पुनः पूछा कि "क्या इस खंभे में भी है?" आपने उत्तर दिया कि "हाँ, निस्सन्देह हैं" तिस पर, उसने महाक्रोध करके उस खंभे में एक घूसा (मुष्टिक) मारा॥

तब अपने भक्त की प्रियवाणी को सत्य करनेवाले प्रभु, उसके

१ "सकति"=शक्ति। "आगेहु रामहि, पीछेहु रामहि, व्यापक रामहि हैं वन ग्रामै। सुन्दर राम दशोदिशि पूरण स्वर्गहु राम पतालहु रामै॥"

मुष्टि मारतेही, उस खंभे में से महा-अट्टहास शब्द करके अद्भुत रूप से (अर्थात् आधा "नर" का और आधा "सिंह" का शरीर धारण कर) प्रगट हो उस दुष्ट को मार डाला। फिर उसकी आँतें निकाल के अपने गले में डाल लीं; पर इतने पर भी आपका अपार क्रोध बना ही रहा, शान्त नहीं हुआ, न जाने मन में क्या विचार आ गया॥

(११४) टीका। कवित्त। (७२६)

डरे शिव अज आदि, देख्यो नहीं क्रोध ऐसो, आवत न ढिग[1] कोऊ लछिमीहूँ त्रास है। तब तो पठायो प्रहलाद अहलाद महा, अहो भक्ति भाव पग्यो आयो प्रभु पास है॥ गोद में उठाइ लियो, शीश पर हाथ दियो, हियो हुलसायो, कही वाणी विनयरास है। आई जगदया लगि-पर्यो[2] श्रीनृसिंहजू को, अर्यो[3] यों छुटावो कर्यो माया ज्ञान नास है॥ १००॥ (५२६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरहरि भगवान् का वह क्रोध देखके, औरों की तो बात ही क्या है श्रीब्रह्माशिवादिक भी डर गए क्योंकि इन्होंने प्रभु का ऐसा क्रोध कदापि देखा ही न था। कोई समीप नहीं जा सकते थे, वरंच श्रीलक्ष्मी-जी भी भय से प्रभु के पास नहीं जा सकीं॥

तब तो श्रीब्रह्मादिक ने श्रीप्रह्लादजी से कहा कि "वत्स! तुम प्रभु के पास जाके क्रोध की शान्ति करावो" यह सुन आश्चर्य्य भक्ति भाव के महान् अह्लाद में पगे हुए श्रीप्रह्लादजी श्रीप्रभु के पास बेखटके गये॥

श्रीभक्तवत्सलजी ने प्रसन्न हो दोनों हाथों से उठाके आपको गोद में बिठला लिया, और मस्तक आघ्राण कर शीश पर अखण्ड अभयप्रद हस्त फेरा॥

तदनन्तर, श्रीप्रह्लादजी का हृदय अकथनीय आनंद से हुलास को प्राप्त हुआ; और प्रेमराशिसानी वाणी से स्तुति प्रार्थना करने लगे। प्रभु ने आज्ञा की कि "वत्स! कुछ वर माँग॥"

---

१ "ढिग"=समीप, पास, लगे। २ "लगिपर्यो"= मुँहलगू हुए, लट्टू हुए, अरुझि पर्यो, उलझ पड़े। ३ "अर्यो"=हठ पड़े, अड़ गए॥

आप बोले कि प्रभो! मैं वरदान नहीं चाहता हूँ॥

परन्तु पुनः आज्ञा पाय आपको जगत् के जीवों पर दया आ गई; इससे चरणों में लग के और हठ करके यही वर माँगा कि नाथ! इस आपकी माया ने सब जीवों का ज्ञान हर लिया है इसलिये अपनी माया से जीवों को छुड़ाइये, जिसमें आपका भजन करें॥

"काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु कालकराल बिलोकि न भागे।
"राम कहाँ?" "सबठाउँ हैं" "खंभ में?" "हाँ" सुनिहाँक नृकेहरि जागे॥
बैरी बिदारि भए बिकराल, कहे प्रहलादहि के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी, तुलसी, तबते सब पाहन पूजन लागे॥ २॥

(११८) महावीर श्रीहनुमान्‌जी।

(ॐ नमो भगवते हनुमते श्रीरामदूताय)

"श्रीहरिवल्लभों" में भी, परमप्रिय श्रीवीरमारुतिजी की कथा कही जा चुकी है; फिर यहाँ "नवधा भक्ति" की निष्ठा में आपका यश श्रीग्रन्थ-कर्त्ता ने गाया है; और पुनः आगे, १६ वें छप्पय (मूल २०) में भी, "श्रीरघुबीर सहचर" महावीर पवनात्मजजी का सुयश देखिये॥ उसी प्रसंग में आपके जन्म की कथा भी पढ़के परमानन्द लाभ कीजिये॥

चौपाई।

"सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥"

और आपकी "श्रवण" निष्ठाभक्ति इस वार्ता से प्रसिद्ध ही है कि जब श्रीअवधेश राघवेन्द्रजी महाराज निज साकेत धाम को जाने लगे, आपको आज्ञा दी कि "तात! तुम यहीं (श्रीअयोध्याजी में) रहो"; तिस पर आपने कहा कि "प्रभो! जो आज्ञा, परन्तु यह वरदान मिले कि कदापि किसी काल में श्रीरामायण मुझे सुनानेवालों का अभाव नहीं हो।" प्रभु बोले कि "अच्छा, ऐसा ही होगा, सदैव मेरी कथा तुम्हारे श्रवण गोचर होती रहेगी; नर नाग गन्धर्व सुर, मेरे यश तुम प्रति गाया ही करेंगे, तथा भाग्यशालिनी अप्सराएँ निरन्तर मेरे चरित्र तुम्हें सुनाती ही रहेंगी॥" निदान, आप किस रस के आचार्य्य नहीं हैं? सबही के हैं॥

चौपाई।

"दुर्गम काज जगत में जेते। सुगम अनुग्रह कपि के तेते॥
कवनसो काजकठिनजगमाहीं। जोनहिं तात होय तुम पाहीं॥
सीयदुलारे रामपियारे। सन्त भक्त के कपि रखवारे॥
नहिं कोउ हनुमतसमबड़भागी। सीताराम चरण अनुरागी॥
मंगल मूरति मारुतनन्दन। सकल अमंगलमूलनिकन्दन॥"
सो० "सेइय श्रीहनुमान, भुक्ति-मुक्ति-हरिभक्ति-प्रद।
जनरक्षक, भगवान, बीर, धीर, करुणायतन॥"

(११९) (१२०) श्रीअर्जुनजी; श्रीपृथुजी।

"श्रीहरिवल्लभों" में भी, श्रीअर्जुनजी की कथा होचुकी है; और यहाँ (इस छप्पय में) आपको श्रीग्रन्थकारस्वामी ने "नवधाभक्ति" (सख्यरस) के प्रसंग में लिखा है॥

श्लो० "सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
&C. &C. प्रियोसि मे॥"

(२) भगवत् के अवतारों में तथा "जिनके हरि नित उर बसैं" तिन भाग्यभाजनों में भी महाराज श्रीपृथुजी की चर्चा हो चुकी है। किसी २ महात्मा ने आपको "श्रवण" निष्ठा में लिखा है; और यहाँ आपको श्रीनाभास्वामीजी प्रमुख ने "पूजन" निष्ठा में वर्णन किया है॥

(१२१) श्रीअक्रूरजी।

(११५) टीका। कवित्त। (७२८)

चले अकरूर मधुपुरीतें, बिसूरं[१], नैन चली जल धारा, कब देखौं छबि पूर को। सगुन मनावैं, एक देखिबोई भावै, देहसुधि बिसरावैं, लोटैं, लखि पगधूर को॥ बंदन प्रबीन, चाह निपट नबीन भई, दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को। मिले राम कृष्ण, झिले[२] पाइ कैं मनोरथ को हिले[३] दृगरूप कियो हियो चूर चूर को॥१०१॥ (५२८)

१ "बिसूरना"=रूप चिन्तवन करना। २ "झिले"=आगे बढ़े, लपके। ३ "हिले"=प्रवेश किया, हिल गए, हिताए, परके, सस्नेह मिले॥

वार्तिक तिलक।

श्रीअक्रूरजी कंसके भेजे हुए मथुराजी से (श्रीव्रज की ओर) अति विरह उत्कण्ठा से चले, यों विचारते हुए कि--

पद-"जे पदपदुम सदा शिवके रह, सिन्धुसुता उरते नहिं टारे।
सूरदास तेई पदपंकज, त्रिविध ताप दुख हरन हमारे॥

दो० ब्रजबाला जे पदकमल, रहीं सदा उर लाइ।
तेइ पदपंकज देखिहौं, हौं इन्ह नैनन्ह जाइ॥

श्रीकृष्ण बलदेवजी का रूप चिन्तवन करते ही आंखों से प्रेम जल की धारा बहने लगी; और श्याम गौर छविपूर्ण दोनों भाइयों के दर्शनका मनोरथ भी हृदय में भर आया। सगुन मनाते जाते थे; केवल दर्शनही सुहाताथा, इससे अपने शरीर का भान भूल जाया करते थे॥

इसी दशा से जब श्रीव्रज के समीप पहुँचे, तो मार्ग की धूरि में "कमल वज्र ध्वज अंकुशादि चिह्न" युक्त भगवत् के चरण उबटे हुए देखके उनको दण्डवत् कर आप उन्हीं चरणचिह्नों में लोटने लगे और इन्हें प्रीति चाह अतिशय नवीन उत्पन्न हुई उसी से इनकी "जीवन की जड़ी बन्दन भक्ति प्रवीणता" श्रीशुकदेवजी ने श्रीभागवत में भलीभाँति कही है॥

श्रीवृन्दावन में आप आ पहुँचे; श्रीबलरामजी तथा श्रीकृष्णजी का दर्शन कर, अपना मनोरथ पूर्ण देखा आगे बढ़, जा मिले; छवि-सागर में इनके नेत्र मग्न हो गए और हृदय प्रेम से चूर चूर हो गया॥

प्रेमपूरित अन्तःकरण से शुभ मार्ग में जिनका चिन्तवन करते चले आते थे, यहाँ आकर, उनके और विचित्र चरित्रों के अतिरिक्त, यह भी देखा कि--

सवैया।

"सुतदारा औ गेहकी नेह सबै तजि जाहि बिरागी निरन्तर ध्यावैं।
यम नेम औ धारणा आसन आदि करैं नित योगी समाधि लगावैं॥
जेहिज्ञान औ ध्यान तें जानैं कोऊ सो अनादि अनन्त अखण्ड बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छँछिया भर छाँछ पै नाच नचावैं॥"

जिससे आप असीम सुख को प्राप्त हुए॥

श्रीअक्रूरजी की चरचा "श्रीहरिवल्लभों" में भी हो आई है और यहाँ "नवधा भक्ति" के प्रसंग में ॥

(१२२) श्रीबलिजी।

(११६) टीका। कवित्त। (७२७)

दियो सरबसु, करि अतिअनुराग बलि, पागिगयो हियो प्रहलाद सुधि आई है। गुरु भरमावै[1], नीति कहि समुझावै, बोल उर में न आवै केती भीति उपजाई है॥ कह्यो जोई कियो साँचो भाव पनलियो, अहो दियो डर हरिहूँ ने, मति न चलाई[2] है। रीझे प्रभु, रहे द्वार, भये बस हरि मानी, श्रीशुक बखानी, प्रीति रीति सोई गाई है॥ १०२ ॥ (५२७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबलिजी ने अति अनुरागपूर्वक श्रीवामन भगवान् को अपना सर्वस्व दे डाला; यद्यपि इनके गुरु शुक्राचार्य्य ने इनको बहुत भरमाया; और यह भी जता दिया कि ये देवतों के पक्षपाती विष्णु हैं; तथापि इन्होंने न माना, वरंच इनको अपने पितामह श्रीप्रह्लादजी की प्रेमाभक्ति की सुधि आ गई। इससे श्रीबलिजी का हृदय प्रभु के अनुराग में पग गया॥

पद।

"जाके प्रिय न राम बैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥ तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषण बन्धु, भरत महतारी। बलि गुरु तजेउ, कन्त ब्रजबनितनि, भयो मुदमंगलकारी॥ नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँलों। अंजन कहा? आँखि जो फूटै, बहुतक कहौं कहाँलों॥ तुलसी, सो सब भाँति परमहित पूज्य प्राणते प्यारो। जाते होय सनेह रामपद, एतो मतो हमारो॥" (वि० प०)

पुनः शुक्राचार्य्य ने बहुत प्रकार से राजनीति समझाई तथा अनेक भय भी दिखाए परन्तु शुक्र का वचन आपके मन में एक भी न जमा; किन्तु जो कुछ प्रभु से प्रतिज्ञा की थी, सोई बात की। सच्चे भाव से अपना दृढ़ प्रण (पन) गहे ही रहे॥

---

१ "भरमावै"=घुमावे फिरावे, इधर उधर करे, बहकावे, टाल मटोल करे, हेर फेर करे।
२ "चलाई"=चली, टसकी, हटी, डोली॥

श्रीहरि ने भी बहुत डराया, पर इन्होंने अपनी मति हरिकृपा से स्थिर ही रक्खी; अर्थात् अपना देह आत्मा सब प्रभु को समर्पण कर दिया ॥

सवैया ।

"कै यह देह सदा सुख सम्पति कै यह देह बिपत्ति परोजू ।
कै यह देह निरोग रहो नित कै यह देहहि रोग चरोजू ॥
कै यह देह हुताशन पैठहु कै यह देह हिमालै गरोजू ।
"सुन्दर" रामहिं सौंपिदियो जब, तब यह देह जियो कि मरोजू ॥"

प्रभु इनकी सत्यसन्धता तथा आत्मनिवेदन भक्ति देख, अत्यन्त ही रीझ, इनके द्वारपाल बनके सदा द्वार पर ही रहने लगे और अपने मन में हार मान, आपके वश ही हो गए। सो परमहंस श्रीशुकजी ने श्रीभागवत में अच्छे प्रकार से बखान किया है। सोई श्रीबलि की प्रीति रीति हमने भी गान की है। श्रीबलिजी की कथा "द्वादश भक्तों" में भी लिखी जा चुकी है और यहाँ "आत्मसमर्पण" में ॥

---

(१२३) प्रसादनिष्ठ भक्त ।

(११७) छप्पय । (७२६)

हरिप्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान ॥ शङ्कर[१], शुक[२], सनकादि[३], कपिल[४], नारद[५], हनुमाना[६]। विष्वकसेन[७], प्रहलाद[८], बलि[९], भीषम[१०], जग जाना ॥ अर्जुन[११], ध्रुव[१२], अम्बरीष[१३], विभीषण[१४], महिमा भारी। अनुरागी अक्रूर[१५], सदा उद्धव[१६], अधिकारी ॥ भगवन्त भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहत सुजान। हरिप्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परमान ॥ १५ ॥ (१९९)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीहरि के प्रसाद के रसस्वाद लेनेवाले, और श्रीभगवत् के भोजन किये हुए शेष अमृतान्न की कीर्त्ति महिमा कहने में परम सुजान, इतने भक्त प्रमाण हैं—श्रीशङ्करजी, श्रीशुकजी, सनकादिक चारो भाई श्रीकपिलजी, श्रीनारदजी, श्रीरामानन्य हनुमान्‌जी, श्रीविष्वकसेनजी, श्रीप्रहलादजी, श्रीबलिजी और प्रसिद्ध देवव्रत श्रीभीष्मजी, श्रीअर्जुन-

जी, श्रीध्रुवजी, श्रीअम्बरीषजी, महामहिमायुक्त श्रीविभीषणजी, अनुरागी श्रीअक्रूरजी, सदा प्रेमाधिकारी श्रीउद्धवजी ॥

तात्पर्य्य यह है कि भगवत् का उच्छिष्ट प्रसाद इन भक्तों को अवश्य अर्पण करना चाहिये, उसमें प्रमाण पद्मपुराण का—

श्लो० "बलिर्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्जुनः।
प्रह्लादो जनको व्यासो अम्बरीषः पृथुस्तथा ॥ १ ॥
विष्वक्सेनो ध्रुवोऽक्रूरो सनकाद्याः शुकादयः।
वासुदेवप्रसादान्नं सर्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः ॥ २ ॥"

१ श्रीशिवजी,
२ श्रीशुकदेवजी,
३ श्रीसनकादिजी,
४ श्रीकपिलदेवजी,
५ श्रीनारदजी,
६ श्रीहनुमान्जी,
७ श्रीविष्वक्सेनजी,
८ श्रीप्रह्लादजी,
९ श्रीबलिजी,
१० श्रीभीष्मजी,
११ श्रीअर्जुनजी,
१२ श्रीध्रुवजी,
१३ श्रीअम्बरीषजी,
१४ श्रीविभीषणजी,
१५ श्रीअक्रूरजी,
१६ श्रीउद्धवजी,

(११८) छप्पय। (७२५)

ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यो, तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं ॥ अगस्त्य[१] पुलस्त्य[२] पुलह[३] च्यवन[४] वशिष्ठ[५] सौभरि[६] ऋषि। कर्द्दम[७] अत्रि[८] रिचीक[९] गर्ग[१०] गौतम[११] सुव्यास[१२]शिषि ॥ लोमश[१३] भृगु[१४] दालभ्य[१५] अङ्गिरा[१६] शृङ्गि[१७]प्रकासी। मांडव्य[१८] विश्वामित्र[१९] दुर्वासा[२०] सहस अठासी ॥ जाबालि[२१] यमदग्नि[२२] मायादर्श[२३] कश्यप[२४] परवत[२५] पराशर[२६] पदरज धरौं। ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यो, तिन्हैं शरण हौं अनुसरौं ॥ १६ ॥ (१९८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवान् के चतुर्भुज रूप का ध्यान जिन भक्त ऋषियों ने अपने चित्त में धारण किया, मैं उनके शरण में प्राप्त हूँ और उन्हीं के चरणों की धूरि अपने शीश में धरता हूँ——

१ श्रीअगस्त्यजी
२ श्रीपुलस्त्यजी
३ श्रीपुलहजी
४ श्रीच्यवनजी
५ श्रीवशिष्ठजी
६ श्रीसौभरिजी
७ श्रीकर्द्दमजी
८ श्रीअत्रिजी
९ श्रीऋचीकजी
१० श्रीगर्गजी
११ श्रीगौतमजी
१२ श्री (संजयजी) व्यासशिष्य
१३ श्रीलोमशजी
१४ श्रीभृगुजी
१५ श्रीदालभ्यजी
१६ श्रीअङ्गिराजी
१७ श्रीऋष्यशृङ्गजी
१८ श्रीमांडव्यजी
१९ श्रीविश्वामित्रजी
२० श्रीदुर्वासाजी
२१ श्रीजाबालिजी
२२ श्रीयमदग्निजी
२३ श्रीमायादर्श (मार्कण्डेय) जी
२४ श्रीकश्यपजी
२५ श्रीपर्वतजी
२६ श्रीपराशरजी
(२७) अठासीसहस्र (८८०००)

(१२४) महर्षि श्रीअगस्त्यजी।

श्रीसीतारामकृपापात्र शिरोमणि ऋषीश्वर श्री १०८ अगस्त्य भगवान् को कि जिनका दूसरा नाम "श्रीघटयोनि वा कुम्भजजी" भी है, अन्य महर्षियों के ही सरिस नहीं, वरंच इनको श्रीप्रभु का दूसरा व्यक्ति ही समझना चाहिये; किमधिकम्? एवं, आपकी स्त्री "श्रीलोपामुद्राजी", श्रीजनकनन्दिनीजी की अतिशय कृपापात्र सखी हैं। आप दोनों की जय॥

श्रीअगस्त्य भगवान् की उत्पत्ति घड़े से हुई; वरुण देवता तथा मित्रजी दोनों के तेज एक कलश में रक्खे हुए थे, श्रीब्रह्माजी की इच्छा से उसी घट से आप निकले। और ऐसा भी कहा है कि एक राजा ने पुत्रकाम यज्ञ कराया; उससे जो चीरान्न मिला, उसको उसने एक कलश में रख दिया (वह अपनी रानी को न खिला सका); उस घड़े से आप प्रगट हुए॥

आपकी बनाई "श्रीअगस्त्यसंहिता" प्रसिद्ध ही है॥

साकेतपति शार्ङ्गधर दिव्य अखण्डैक नित्यकिशोर मूर्त्ति व्यापक

परात्पर भगवत् सच्चिदानन्दघन शोभाधाम श्रीजानकीवल्लभ रामचन्द्रजी की उपासनापूजा इत्यादि के बड़े भारी आचार्य्य श्रीअगस्त्य भगवान् हैं। आपने सर्व जगत् पर कैसी कृपा की वर्षा की है, वर्णन नहीं हो सकता॥

पाँच छः कारणों से एक समय आप सम्पूर्ण विशाल समुद्र ही को पान कर गए थे; सो कथा विख्यात है ही॥

चौपाई।

कहँ कुम्भज कहँ सिन्धु अपारा। सोखेउ विदित सकल संसारा॥

आज भी आपका नाम लेते ही महाअजीर्ण कोसों भागता है॥

श्रीपार्वतीजी और महादेवजी के विवाहउत्सव में जब गिरिराज हिमाद्रि के यहाँ देवतों दानवों आदिक के इकट्ठे होने पर उनके बोझ से धरती उत्तर की ओर नीची हो गई, तो सबकी प्रार्थना से परम समर्थ श्रीअगस्त्यजी दक्षिण को चले गए; तब आप ही के प्रभाव से पृथ्वी दक्षिण की ओर नीची हो गई॥

अन्नदान न करके केवल मणि सुवर्ण वसन भूषणादि दान करने पर भी एक व्यक्ति बड़ी दुर्गति को प्राप्त हुआ था; सो उसका उद्धार महामुनि श्रीअगस्त्यजी ही महाराज ने कराया। और उसके दिये भूषणों से आपने श्रीप्रभु की पूजा की। श्रीसीतारामनाम का माहात्म्य, श्रीअगस्त्यजी ने कहा भी है और श्रीशेषजी की सभा में देवतों तथा मुनियों को आपने नामप्रभाव दिखा भी दिया है॥

देवतों की प्रार्थना पर श्रीअगस्त्य भगवान् ने ही मन्दराचल (विन्ध्यागिरि) को आज्ञा दी जिसके अनुसार वह अचल आज तक वैसा ही पड़ा का पड़ा ही है जैसा आपको साष्टाङ्ग दण्डवत् करने के समय गिरा था॥

श्रीहनुमान्‌जी, श्रीशिवजी, और श्रीब्रह्माजी, जिस प्रकार से श्रीअगस्त्यजी महाराज की महिमा जानते हैं, वैसी और कोई क्या जानेगा? आपके शिष्य श्रीसुतीक्ष्णादि* की ही भक्ति प्रीति की व्याख्या तो अपार है फिर स्वयं आपकी तो वार्त्ता ही क्या?

* श्रीसुतीक्ष्णजी की प्रीति श्रीरामचरितमानस में पाठक देख ही चुके हैं।

लंका में सर्कार पर कृपा करके राक्षस-प्रेरित अस्त्र-शस्त्रों से रक्षा की है; और श्रीआदित्यहृदय पढ़ाया है कि जिसकी महिमा प्रसिद्ध ही है॥

चौपाई।

"दीन दयाल दिवाकर देवा। कर मुनिमनुज सुरासुर सेवा॥
हिम तम करि केहरि करमाली। दहन दोष दुख दुरित रुजाली॥
कोक कोकनद लोक प्रकाशी। तेजप्रताप रूप रस राशी॥
सारथि पंगु दिव्य रथ गामी। विधि शंकर हरि मूरति स्वामी॥
बेदपुराण प्रगट यश जागै। तुलसी राम भक्ति वर माँगै॥"

अरण्य में, प्रभु ने स्वयं आपके आश्रम में जाके आपको दर्शन दिया है॥

श्रीअयोध्याजी में राज्याभिषेक के अनन्तर श्रीअगस्त्यजी से प्रभु ने अनेक कथा, तथा श्रीमहावीर हनुमान्जी के सुयश सुने हैं॥

श्रीअगस्त्यगुणग्राम वेद तथा पुराणों में विदित है। श्रीसीतारामजी की पूजा भक्ति के आचार्य महामुनि अगस्त्य भगवान् की जय जय॥

सवैया।

"पूरण ब्रह्म बताय दियो जिन एक अखंड है व्यापक सारे।
रागरु द्वेष करै अब कौन सों जोई है मूल सोई सब डारे॥
संशय शोक मिट्यो मन को सब तत्त्व विचारि कह्यो निरधारे।
"सुन्दर" शुद्ध किये मलधोयकै है गुरु को उर ध्यान हमारे॥"

---

(१२५) श्रीपुलस्त्यजी।

श्रीपुलस्त्यजी श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं। गृहस्थाश्रम में रह, पुत्र उत्पादन कर, बेटों को विद्या पढ़ा, आपने मोक्षपद का साधन किया॥

---

(१२६) श्रीपुलहजी।

श्रीपुलहजी श्रीपुलस्त्यजी के भाई हैं। इन्होंने भी अपने भ्राता ही के सरिस आचरण किये॥

---

(१२७) श्रीच्यवनजी।

श्रीच्यवनजी वन में रह, भगवान् के ध्यान समाधि में ऐसे निमग्न हो गए कि उनके शरीर भर में दीमकों ने मिट्टी का ढेर (बलमीक) लगा दिया॥

उसी वन में राजा शर्याति आखेट को गया। उसकी कन्या तथा कुछ सेना भी साथ थी। उस कन्या ने उसी मिट्टी के ढेर (बलमीक) में कुछ चमकती सी वस्तु देखके कौतुकवश उसमें लकड़ी खोद दी। उसमें से रुधिर निकल आया। लड़की बहुत डरी और चुपचाप अपनी सेना में भाग आई ॥

मुनि के उद्वेग पाने से, राजा तथा उसके सब साथियों का अपान-वायु रुक गया। इस प्रकार से सबको अतिकष्ट होने के कारण को बुद्धिमान् राजा ने यह ठीक ठीक अनुमान कर लिया कि "किसी ने यहाँ के किसी तपस्वी का कोई अपराध अवश्य किया है।" तब राजा इसकी पूछ जाँच करने लगा ॥

राजकन्या ने विनय किया कि "पिताजी ! मुझ बालिका की अज्ञता से एक तपस्वी के नेत्रों में लकड़ी चुभ गई है। मुझे उसका बड़ा ही पश्चात्ताप तथा भय है ॥"

श्रीमुनिजी की सेवा में [उस कन्या को साथ लिये] जाके, नृपति ने, स्तुति प्रार्थना की। मुनि प्रसन्न हुए। श्रीरामकृपा से सबका कष्ट जाता रहा ॥

राजा, मुनि महाराज को वह कन्या दान कर, अपनी राजधानी श्रीअयोध्याजी में लौट आए ॥

स्वपत्नी के तोषार्थ, श्रीच्यवन ऋषिजी हरिकृपा से अश्विनीकुमार की सहायता से युवाअवस्था को प्राप्त हो, विषयभोग करने लगे ॥

यद्यपि मुनिजी शरीर से तो इतने बड़े भोगी थे, तथापि वास्तव में मन के निर्दोष और परम विरक्त ही थे, क्योंकि भोगाभोग सुख-दुःख से निर्द्वन्द्व थे ॥

श्लोक "सुखदुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ १ ॥"

दो० "तुलसी" सीताराम-पद, लगा रहै जो नेह ।
तौ घर घट बन बाट में, कहूँ रहै किन देह ॥

सवैया ।

"छीणरु पुष्ट शरीर को धर्म्म जो शीतहु उष्ण जरामृत ठानै ।
भूख तृषा गुण प्राण को व्यापत शोकरु मोहहु भय मन आनै ॥

बुद्धि बिचार करै निशि बासर चित्त चितेसे अहं अभिमानै ॥
सर्ब को प्रेरक सर्ब को साक्षिजु "सुन्दर" आपको न्यारोहिजान ॥ १ ॥"
"एकही कूप ते नीरहि सींचत ईख अफीमहि अम्ब अनारा।
होत वही जलस्वाद अनेकनि मिष्ट कटुकनि खट्टक खारा ॥
त्योंहिं उपाधि सँयोगते आतम दीसत आय मिल्यो सबिकारा।
काढ़िलिये सुबिबेक बिचार सों "सुन्दर" शुद्धस्वरूप है न्यारा ॥ २ ॥"

भगवत्कृपा से दम्पति भगवद्भजन से न चूके वरंच भजन प्रभाव से भगवद्धाम को गये ॥

चौपाई।

रघुपति चरण प्रीति अति जिनहीं। विषयभोग वश करै कि तिनहीं ॥

---

(१२८) गुरुवर्य्य श्रीवशिष्ठजी।

"बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं ॥"

मुनीश्वर अनन्त श्रीवशिष्ठजी महाराज श्रीब्रह्माजी के पुत्र, श्रीरघुकुल के गुरु हैं। आप प्रायः सब शास्त्रों के आचार्य हैं। स्वर्ग और भूमि के बीच आकाश में बहुत दिन स्थित रहके आपने युगुल सरकार का भजन किया है॥

"सो गुसाइँ विधिगति जिन छेंकी ॥"

अपने भजनप्रभाव से एक दूसरे ब्रह्माण्ड में जाके वहाँ के ब्रह्माजी से मिले हैं ॥

उपदेश आदि के लिये आप कई शरीर धारण किये हुए कई स्थान पर रहते हैं; जैसे (१) ब्रह्मलोक में; (२) धर्म्मराज की सभा और (३) श्रीअवधमें। (४) "सप्तऋषियों" में भी आप हैं। इत्यादि॥

श्रीविश्वामित्रजी अपार तप करने पर भी "ब्रह्मर्षि" तो तब हुए कि जब आप (भगवान् श्री १०८ वशिष्ठजी) ने उनको "ब्रह्मर्षि" कहा। परमाचार्य्य जगद्गुरु महर्षि श्री १०८ वशिष्ठजी महाराज की, तथा, अपने २ श्रीगुरु महाराज की महिमा को जो विचारै सो परम बड़भागी है॥

कवित्त।

"जग में न कोऊ हितकारी गुरुदेव सों ॥

बूड़त भवसागर में आय कै बँधावै धीर पारहू लगाय देत नाव को

ज्यों खेव सों । परउपकारी सब जीवन के सारे काज कबहूँ न आवै जाके गुणन को छेव सों ॥ बचन सुनायकर भ्रम सब दूरि करैं "सुन्दर" दिखाय देत अलख अभेव सों । औरहू सुनेहि हम नीके करि देखे शोधि जग में न कोऊ हितकारी गुरुदेव सों ॥ १ ॥"

"गुरु की तो महिमा है अधिक गोबिंदते ॥

गोबिंद के किये जीव जात हैं रसातल को गुरु उपदेशै सोतो छूटै यमफंदते । गोबिंद के किये जीव बशपरे कर्मनके गुरु के निवाज सूँ तो फिरत सुछंदते ॥ गोबिंद के किये जीव बूड़त भवसागर में "सुन्दर" कहत गुरु काढ़ै दुखद्वंदते । कहाँलौ बनाय कछु मुखते कहूँ जू और, गुरु की तो महिमा है अधिक गोबिंदते॥ २ ॥

दो० "श्रीबशिष्ठ मुनिनाथयश, कहौं कवन मुँह लाय।
जिन्हें स्वयं श्रीराम ही, लीन्हों गुरू बनाय ॥ १ ॥"

चौपाई ।

"राम!सुनहु" मुनि कहकर जोरी । "कृपासिन्धु ! बिनती कछु मोरी ॥
महिमा अमित बेद नहिं जाना । मैं केहि भाँति कहउँ भगवाना ! ॥
उपरोहिती कर्म अति मन्दा । बेद पुराण स्मृति कर निन्दा ॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही । कहा "लाभ आगे सुत ! तोही ॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा । होइहि रघुकुलभूषन भूपा" ॥"

दो० "तब मैं हृदय बिचारा, जोग जज्ञ ब्रत दान ।
जाकहँ करिय सो पइहउँ, धर्म न यहि सम आन ॥"

चौपाई ।

"तव पदपंकज प्रीति निरन्तर । सब साधन कर यह फल सुन्दर ॥"
दक्ष सकल लच्छनजुत सोई । जाके पदसरोज रति होई ॥

दो० "नाथ ! एक बर माँगउँ, राम ! कृपा करि देहु ।
'जनम जनम प्रभुपदकमल, कबहुँ घटइ जनि नेहु' ॥"

चौपाई ।

अस कहि मुनि बशिष्ठ गृह आये । कृपासिंधु के मन अति भाये ॥

(१२९) श्रीसौभरिजी।

श्रीसौभरिजी की कुछ कथा श्रीमान्धाताजी की कथा के अन्तर्गत आचुकी है॥

श्रीसौभरिजी को जल में मछलियों का विलास देखके विषय-वासना हुई। श्रीमान्धाताजी की कन्याओं को तपबल से अपना युवा स्वरूप दिखाके प्रसन्न कर उनके पिता से माँग लिया; और अपने तप प्रभाव से बड़ा विभव रचके उन पचासों सहित वास किया। बहुत दिन भोग-विलास करने पर मोहनिशा से नींद टूटी और श्रीरामकृपा से तब मुनिजी महाराज पश्चात्ताप करने तथा सोचने विचारने लगे कि—

चौपाई।

"जप तप नेम जलाशय भारी। ह्वै ग्रीषम सोखै सब नारी॥"

दो० "दीपशिखा सम युवतिजन, मन जनि होसि पतंग।
भजसि राम तजि काम मद, करसि सदा सतसंग॥"

सवैया।

"हे तृष्णा! अब तौ करि तोषा॥
बाद बृथा भटकै निशि बासर दूरि कियो कबहूँ नहिं धोषा।
तू हतियारिनि पापिनि कोढ़िनि साँच कहूँ मति मानहिं रोषा॥
तोहिं मिले तबते भयो बंधन तू मरि है तबहीं होय मोषा।
"सुन्दर" और कहा कहिये त्वहिं हे तृष्णा! अबतौ करितोषा॥ १॥"

"हे तृष्णा! त्वहिं नेक न लाजा॥
तूही भ्रमाय प्रदेश पठावत बूड़तजाय समुद्र जहाजा।
तूही भ्रमाय पहाड़ चढ़ावत बाद बृथा मरिजाय अकाजा॥
तैं सब लोक नचाय भली बिधि भाँड़ किये सब रंकहु राजा।
"सुन्दर" एतो दुखाय कहौं अब हेतृष्णा! त्वहिं नेक न लाजा॥२॥"

"भौंह कमान सँधान सुठान जो नारि बिलोकनि बाण ते बाँचै।
कोप कृसानु गुमान अवा घट जे जिनके मन आँच न आँचै॥
लोभ सबै नट के बश ह्वै, कपि ज्यों जग में बहु नाच न नाचै।
नीके हैं साधु सबै "तुलसी", पै तेई रघुबीर के सेवक साँचै॥३॥"

पद।

अब लौं नसानी सो अब न नसैहौं ॥ इत्यादि ॥

इनकी उन स्त्रियों को भी विराग उत्पन्न हुआ; श्रीसीतारामजी का भजन करके आपने और उन सबकी सबने परमधाम पाया ॥

(१३०) श्रीकर्दमजी।

श्रीकर्दमजी श्रीब्रह्माजी की छाया से प्रगट हुए ॥

श्रीब्रह्माजी ने सृष्टि की आज्ञा दी, पर इनको इनके तीव्र वैराग्य ने गृहस्थाश्रम अंगीकार करने न दिया। और वे वन में जाकर तप करने लगे। प्रभु ने दर्शन दिया ॥

चौपाई।

"रामचरण पंकज जब देखे। तब निज जन्म सफल करि लेखे ॥"

प्रभु ने आज्ञा की कि "परसों स्वायम्भूमनु तुम्हारे पास आकर अपनी लड़की देवहूती तुम्हें देंगे; स्वीकार कर लेना ॥"

चौपाई।

"ताके मैं लेहौं अवतारा। करिहौं योग ज्ञान परचारा ॥"

श्रीदेवहूतीजी की सेवा से प्रसन्न होकर, आप (श्रीकर्दमजी ने) विश्वकर्मा से एक विमान बनवाया तथा श्रीदेवहूतीजी की सेवा के अर्थ सहस्र सुन्दरियाँ भी प्रगट कीं। सब समेत विमान में बसके भोग विलास करते लोकों में विचरने लगे। श्रीदेवहूतीजी को अति सुख दिया ॥

दो० "धर्मशील हरिजनन के, दिन सुख संयुत जाहिं।
सदा सुखी अति मीनगण, जिमि अगाधजल माहिं ॥"

दम्पति से श्रीकपिल भगवान् ने अवतार लिया; और ९ (नव) लड़कियाँ भी हुईं, जिनका विवाह श्रीब्रह्माजी के ९ (नव) बेटों से हुआ—

१ श्रीअरुन्धतीजी से श्रीवशिष्ठजी महाराज का;
२ श्रीकला, मरीचिजी;
३ श्रीअनुसूया, अत्रिजी;
४ श्रीश्रद्धा, अङ्गिराजी;
५ श्रीहवी, पुलस्त्यजी;
६ श्रीगति, पुलहजी;
७ श्रीक्रिया, क्रतुजी;
८ श्रीख्याति, भृगुजी;
९ श्रीशान्ति, अथर्वनजी ॥

श्रीकर्द्दमजी, अपनी धर्म्मपत्नी देवहूतीजी को यह आशीष देकर कि "भगवान् श्रीकपिलदेव (तुम्हारे पुत्र) अपनी माता का (तुम्हारा) भवबन्धन छुड़ावेंगे", आप परम विरक्त हो, वन में जा, भगवत्चरण-कमल के परम अनुरक्त हुए ॥

---

(१३१)(१३२) श्रीअत्रिजी; श्रीअनुसूयाजी ।

श्रीअत्रिजी श्रीब्रह्माजी के पुत्र हैं। आपने अपनी धर्मपत्नी श्रीअनुसूयाजी सहित महेन्द्राचल पर (श्रीचित्रकूट में) तप किया ॥

आप निज तपबल से श्रीसुरसरिधार मन्दाकिनीजी, पयसरनीजी को लाईं ॥

श्रीअत्रिजी ने चाहा कि जगदीश मेरे पुत्र हों। हरि ने विधि हर युत कृपा करके दर्शन तथा वरदान दिया कि "बहुत अच्छा, श्रीअनुसूयाजी के गर्भ से हम तीनों के अंशावतार होंगे"। सो वैसाही हुआ, अर्थात्–

१ श्रीविष्णु भगवान् के अंश से "दत्तात्रेयजी;"
२ श्रीब्रह्माजी के अंश से "चन्द्रमा" मुनिजी;
३ और रुद्रांश से श्रीदुर्वासाजी ॥

श्रीअनुसूयाजी और श्रीअत्रिजी को अभिलाषा हुई कि श्रीसीतारामजी के दर्शन पाऊँ ॥

लाल लाडले श्रीलखनजी सहित भक्तवत्सल श्रीसीतारामजी ने आपके आश्रम पर जा दर्शन दिये। और पातिव्रतधर्म श्री "रामचरितमानस" से सब प्रेमियों को विदित ही है ॥

---

(१३३) श्रीगर्गजी ।

श्रीगर्गाचार्य्यजी ने बड़ा तप किया । बहुतों को विद्या पढ़ाई। यदुवंश के पुरोहित और श्रीकृष्ण भगवान् के गुरु हैं । श्रीगर्गसंहिता में श्रीकृष्ण भगवान् के अति मनोहर चरित लिखे हैं । "गर्गसंहिता" विख्यात ग्रन्थ है ॥

---

(१३४) श्रीगौतमजी।

श्रीसरयू के तट पर जहाँ, (गोदना सेमरिया), कार्त्तिक पूनो को बहुत सन्त और लोग एकट्ठे होते हैं वहाँ अहल्याजी की सुन्दर मूर्त्ति है, वही श्रीगौतमजी का आश्रम है। आप "न्यायशास्त्र" के आचार्य्य हैं॥

गुणवती, आदरणीया, सुशीला, परमसुन्दरी श्रीअहल्याजी "पंच कन्याओं" (१ अहल्या; २ द्रौपदी; ३ तारा; ४ कुन्ती; ५ मन्दोदरी) में से प्रसिद्ध हैं ही; बहुतों ने आपकी चाह की तब श्रीब्रह्माजी ने आज्ञा दी कि "जो एक दण्ड (२४ मिनट) भर में त्रिभुवन की परिक्रमा कर आवे उसी को यह कन्या दी जावे॥"

श्रीगौतमजी की सालिग्रामजी में अलौकिक निष्ठा थी; उनके सालिग्रामजी ने आज्ञा की कि तू मेरी प्रदक्षिणा कर ले; इन्होंने ऐसा ही किया। इन्द्रादि जो अपने अपने वाहन ऐरावतादि पर सहर्ष चले थे, सबने अपने अपने आगे ही श्रीगौतमजी को जाते हुए देखा और सबने उनका अग्रगम्य होना स्वीकार किया। इन्द्रादि हाथ मलते रह गए, और श्रीगौतमजी का विवाह श्रीअहल्याजी से हो गया। श्रीगौतमजी की कृपा से श्रीअहल्याजी को प्रभु ने दर्शन दिया॥

एक समय बड़े दुःकाल में पंचवटी से भाग के मुनिवृन्द श्रीगौतमजी के आश्रम में आए। तपबल से आप सबका आतिथ्य और बहुत सत्कार करते रहे॥

आपके ही पुत्र महामुनि श्रीशतानन्दजी महाराज हैं कि जो परमपुनीत श्रीनिमिवंश के गुरु हैं॥

---

(१३५) परमहंस श्रीशुकदेवजी।

श्रीव्यासपुत्र अर्थात् परमहंस श्रीशुकदेवजी की कथा देखिये। गऊ के दूध दुहने में प्रायः जितना काल लगता है, आप उससे अधिक काल पर्य्यन्त एक समय कहीं नहीं विलम्बते (रुकते) हैं। आप अमर हैं। आपने श्रीमद्भागवत सुनाके एक ही सप्ताह में भाग्यवान् राजा परीक्षित को परमपद को पहुँचा दिया। नंगी स्नान करनेवाली स्त्रियों ने आपको

"परमहंस" कहा और समझा और श्रीव्यासजी से लज्जा का बर्ताव किया। आपने पत्ते पत्ते से 'शुकोऽहं' 'शुकोऽहं' कहला दिया था॥

(१३६) श्रीलोमशजी।

श्रीलोमशजी के आयु की दीर्घता प्रख्यात ही है॥

श्रीलोमशजी यमुनाजी के तट पर तप कर रहे थे, श्रीकृष्ण भगवान् का बालचरित देखके भ्रमवश हुए कि "ये परमेश्वर कैसे कहे जाते हैं?" अतः हरि ने उनको अपने श्वास से खींचकर अपने में अनेक ब्रह्माण्ड तथा अनेक लोमश और बहुत से अद्भुत चरित्र दिखाए, जिसे कल्पान्त पर्य्यन्त देखते देखते ये अति घबराए, व्याकुल हुए; तब कृपासिन्धु ने इनको श्वास ही द्वारा बाहर कर दिया। इनको वे कई कल्पान्त केवल एक क्षणमात्र सरीखे जान पड़े॥

भ्रम से छूट प्रभु की स्तुति की; भक्ति वरदान लिया॥

इन्होंने भगवत् की माया देखनी चाही, और श्रीमन्नारायण से अपना मनोरथ निवेदन किया। भगवत् की इच्छा से प्रलयादि देखा; जब बहुत विकल हुए, हरि ने माया अलग की। तब इन्होंने ज्यों का त्यों अपने को पाया और सब अद्भुत चरित्र को एक क्षणमात्र का खेल जाना। बड़ी स्तुति की। "चिरंजीवी मुनि" यह नाम और वर पाया।

एक समय अपने चिरंजीवित्व वा दीर्घायुता से अकुलाकर इन्होंने अपनी मृत्यु भगवान् से माँगा। प्रभु ने उत्तर दिया कि "यदि जल ब्रह्म की वा ब्राह्मण की निन्दा करो तो उस महापातक से मर सकते हो।" इन्होंने कहा कि आश्रम में जाता हूँ वहाँ पहुँचकर ऐसा ही करूँगा। मार्ग में भगवत् इच्छा से इन्होंने थोड़ा सा जल देखा जिसमें शूकर के लोटने से अतिशय मलीनता आ गई थी, और एक स्त्री भी देखी जिसके गोद में दो बालक थे। इनके देखते ही देखते उसने पहिले एक बालक को दूध पिलाया फिर अपना स्तन धोकर तब दूसरे बच्चे को। लोमशजी ने इसका कारण पूछा; उसने कहा कि "यह एक पुत्र तो ब्राह्मण के तेज से है, और वह दूसरा दुसाध [नीच जाति] से अर्थात् मेरे पति से जन्मा है; अतएव ब्राह्मणोद्भव को धोए स्तन का दूध पिलाया है॥"

श्रीलोमश मुनिजी का नियम था कि ब्राह्मण का चरणोदक नित्य अवश्य लेते थे। दूसरा जल वा दूसरा ब्राह्मण वहाँ मिला नहीं; मुनि महाराज ने उसी जलसेउसी ब्रह्मवीर्य्य से उत्पन्न बालक का चरणामृत ले लिया। उसी देशकाल में, प्रभु प्रगट हो बोले कि "तुमने जब ऐसे जल को भी आदर दिया और ऐसे ब्राह्मण के चरणसरोज की भी भक्ति की, तो तुम जल वा विप्र के निन्दक कब हो सकते हो? मैं तुमसे अति प्रसन्न हूँ और आशीष देता हूँ कि विप्रप्रसाद से तुम 'चिरंजीव' ही बने रहोगे॥"

चौपाई।

"जे नर विप्ररेणु शिर धरहीं। ते जनु सकल विभव वश करहीं॥"

रे मन! आजकल के एक प्रकार के बुद्धिमानों की बातें न सुन, नहीं तो ब्राह्मणों के चरणरज की यह महिमा तुझे भूल ही जावेगी "हरितोषक व्रत द्विज सेवकाई॥"

चौपाई।

"पुण्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन विप्र पदपूजा॥"

(१३७) श्रीऋचीकजी।

भृगुवंशी "श्रीऋचीकजी" ने श्रीगाधिजीसे उनकी सुता (श्रीविश्वामित्रजी की बहिन) श्री "सत्यवती" जी को माँगा। उन्होंने विचारा कि 'कन्या तो छोटी है और मुनि बूढ़े हैं' परन्तु सीधे २ "नहीं" कहने में मुनि के क्रोध का भय है; अतः उन्होंने इनसे कहा कि "यदि आप १००० [एक सहस्र] श्यामकर्ण घोड़े लाइये तो मैं आपको अपनी कन्या दूँ"। वह इस बात को असम्भव जानते थे॥

पर, मुनि ने "श्रीवरुणजी" से माँग के सहस्र श्यामकर्ण घोड़े विना प्रयास उनके सामने प्रस्तुत कर दिये; तब तो उन्हें लड़की देनी ही पड़ी। मुनिजी श्रीसत्यवती सी धर्मपत्नी पा अतीव प्रसन्न हुए॥

अपनी सास (श्रीगाधिजी की स्त्री) की तथा अपनी धर्मपत्नी की प्रार्थना से आपने दोनों को क्षीरान्न मन्त्रित करके दिया कि जिसमें उनकी प्रिया को ब्राह्मण और उनकी सास को क्षत्री प्रसव हो। परन्तु ईश्वर की इच्छा से माँ बेटी ने अपना अपना भाग क्षीरान्न पलट दिया।

आपने यह बात जानली और अपनी स्त्री से कहा कि तुमने अयोग्य कार्य्य किया, अब तुम्हारे सतोगुणी पुत्र नहीं होगा, किन्तु राजस-तामस-प्रकृति का होगा ॥

पुनः श्रीसत्यवतीजी की प्रार्थना के अनुरूप आपने यह वर दिया कि "अच्छा, पुत्र तो रामकृपा से समदर्शी परन्तु पौत्र बड़ा क्रोधी होगा।" इसी आशीर्वाद से पुत्र तो श्रीसीतारामकृपा से श्रीयमदग्निजी सरिस किन्तु पौत्र परशुरामजी सरीखे हुए; तथा गाधिजी के पुत्र श्रीविश्वामित्रजी इव । अस्तु ॥

श्रीऋचीक मुनिजी बड़े प्रभावशाली और भगवद्भक्त थे। आपके समागम से गाधिजी भी हरिभक्त हो गए ॥

सवैया ।

"संतनको जु प्रभाव है ऐसो ॥
जो कोउ आवत है उनके ढिग ताहि सुनावत शब्द संदेसो ।
ताहिको तैसही औषध लावत जाहि को रोगहि जानत जैसो ॥
कर्मकलंकहि काटत हैं सब शुद्ध करैं पुनि कंचन पैसो ।
"सुन्दर" तत्त्व बिचारत हैं नित संतन को जु प्रभाव है ऐसो ॥"

(१३८) श्रीभृगुजी ।

श्रीभृगुऋषिजी श्रीनारदजी के उपदेश से बड़े भगवद्भक्त हुए। ये बहुत सी विद्याओं के आचार्य्य हैं। इन्होंने परीक्षा के अर्थ भगवान् की छाती में लात मारकर ब्राह्मणों की महिमा और भगवत् का अपार सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मण्यदेवत्व यश प्रगट किया है। प्रभु ने इनको त्रिकालदर्शी ऐसा आशीष दिया है ॥

श्रीभृगुजी का माहात्म्य प्रगट ही है कि—

श्लो० "महर्षीणां भृगुरहं, गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ १ ॥"

श्रीगीताजी में भगवत् ने श्रीमुख से कहा है कि 'मैं महर्षियों में "भृगु" हूँ; शब्दों में एकाक्षरी मंत्र ॐ और रां हूँ; यज्ञों में जपयज्ञ हूँ; और पहाड़ों में गिरिराज हिमालय हूँ ॥' आपकी भृगुसंहिता प्रसिद्ध

है, परंतु पंडितों ने अगणित क्षेपकें बढ़ाकर बहुत बड़ा और कुछ अनादर का कारण बना दिया है ॥

(१३९) श्रीदालभ्यजी।

विप्रवर श्रीदालभ्यजी ने भगवान् श्रीदत्तात्रेयजी के उपदेश से श्रीसीतारामजी का भजन किया। प्रभु ने दर्शन दिया। हरि आशिष से दालभ्यसंहिता दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापों को छुड़ानेवाली और सर्वकार्य्य सिद्ध करनेवाली है ॥

(१४०) श्रीअङ्गिराजी।

श्रीअङ्गिराजी ने श्रीनारदजी के उपदेश से वासुदेव भगवान् की पूजा की। इनके बृहस्पतिजी पुत्र हुए, जिनको अपनी जगह पर समझ-के, भगवत् का ध्यान करते हुए आपने भगवद्धाम पाया ॥

(१४१) श्रीऋषिशृङ्गजी।

श्रीऋषिशृङ्गजी श्रीविभाण्डकमुनि के पुत्र हैं। इन्होंने अपने पिता से विद्या पढ़ी। ये नित्य विपिन ही में रहा करते थे, ग्रामपुरी नगर को स्वप्न में भी नहीं देखा था। बड़े ही वैराग्यवान् थे ॥

बंग देश से पश्चिम जो देश (जिसमें बिहार) है उसको ही "अङ्ग" देश कहते हैं; उसकी राजधानी अभी तक पटना नगर है। वहाँ के राजा "श्रीरोमपाद" जी थे; उनमें और चक्रवर्ती महाराजाधिराज अवधेश श्रीदशरथजी में परस्पर बड़ी मित्रता थी। श्रीरोमपादजी की कन्या श्रीशान्ताजी थीं, जो प्रभु श्रीरामचन्द्रजी की भगिनी (बहिन) प्रसिद्ध * हैं। अस्तु ॥

अङ्गदेश में दुःकाल पड़ा; ज्योतिषियों ने बताया कि यदि श्रीशृङ्गी-ऋषिजी आवें तो यह महाअवर्षण मिटे, जल बरसे ॥

निदान वेश्याओं ने बड़ी युक्ति की और वन से आपको पटने लाईं। दुर्भिक्ष मिट गया और विभाण्डक मुनि के भय से श्रीरोमपाद-

* श्लोक—श्रीमान् दशरथो राजा शान्तां नाम व्यजीजनत्।
अपत्यकृतिकां राज्ञे लोमपादाय यां ददौ ॥

जी ने अपनी कन्या का विवाह श्रीशृङ्गीऋषिजी से कर दिया। इस प्रकार इनके पिता को प्रसन्न किया॥

जब श्रीचक्रवर्ती महाराज को वंश न होने से खेद हुआ, तो—

चौपाई।

शृंगी ऋषिहिं वशिष्ठ बुलावा। पुत्र काम शुभ यज्ञ करावा॥ तब,
दो० विप्र धेनु सुर सन्त हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, मायागुन गो पार॥"

(१४२) श्रीमाण्डव्यजी।

श्रीमाण्डव्य मुनि श्रीभगवत् के अनुराग में रँगे प्रेम में मग्न ध्यान समाधि में थे, उनकी कुटी के पास ही चोर सब चोरी के द्रव्य को बाँट रहे थे। राजा सुकेतु के भट वहाँ पहुँचे, एक चोरने फुर्ती से एक मणिमाला मुनि के गले में छोड़ दी। भटों ने मुनि समेत कई चोरों को पकड़, न्यायकर्त्ता तथा राजा की आज्ञा से सबके सबको शूली पर चढ़ा दिया। मुनि हरिस्मरण में मग्न थे, इसकी कुछ सुधि न हुई॥

सब चोर मर गए, पर मुनि की फाँसी तीन बेर टूट २ गई। राजा ने "एक चोर का मुनि के वेष में होना तथा शूली पर चढ़के भी उसका जीते ही बचना" सुनके, उसको अपने सामने लाने की आज्ञा दी। चोर के भ्रम में, वा कर्मचारियों के अत्याचार में, अथवा पूर्वकर्म के फन्दे में पड़े हुए श्रीमाण्डव्यजी राजा के सामने लाये गए॥

मुनिजी को पहिचान, थर थर काँपता हुआ राजा सिंहासन से उठ शीघ्र आपके पदपंकज पर शीश धर हाथ जोड़ सजल नयन हो अपराध की क्षमा माँगने लगा। महामुनि ने धीरे से कहा कि "राजा! तेरा कुछ दोष नहीं; यह यमराज की चूक है; मैं अभी जाके इसका उत्तर उससे ही पूछता हूँ॥"

मुनि के क्रोध से डर यमराज ने हाथ जोड़ कहा कि "मुनिनाथ! यह आपके पूर्वजन्म की बाल अवस्था के दोष का फल था, कारण जो आपने एक पतंगे (फरफुंदे) के शरीर में नीचे से ऊपर तक एक काँटा छेद दिया था॥"

आप बोले "रे मूर्ख ! अज्ञान बालक को भी तूने न छोड़ा, जिसका दोष धर्म्मशास्त्र भी ग्रहण नहीं करता। जा, शूद्र की योनि में जन्म ले, दासीपुत्र हो।" वही श्रीयमराजजी श्रीविदुरजी बड़े भगवद्भक्त हुए "मुनि शाप जो दीन्हा अति भल कीन्हा॥"

श्रीमाण्डव्यमुनि भगवद्भजन कर, शरीर तज, परमधाम को गए॥

---

(१४३) श्रीविश्वामित्रजी।

श्रीविश्वामित्र राजा थे, राजा गाधि के पुत्र। एक बेर राजा विश्वामित्र नगर ग्राम देखते वन में गए। मुनीश्वर श्रीवशिष्ठजी का आश्रम देखा। वहाँ इनकी सेना सहित सारा सत्कार और पहुनई हुई। यह नन्दिनी वा सबला नाम गऊ का प्रताप जानकर राजा ने गऊ माँगी, पर ब्रह्मर्षि शिरोमणि ने नहीं कर दी। राजा ने युद्ध किया। परन्तु, यद्यपि उसकी बड़ी भारी सेना थी तथापि राजा जीत न सका, पराजय पाया। तब ब्रह्मर्षि की महिमा ❀ समझ उसने चाहा कि ब्राह्मण

❀ शृंगी ऋषि का यश देखिये—कानपूर के ज़िले में बल्हौर स्टेशन से मकनपुर को जाना होता है उसी मण्डल में "शृङ्गीरामपुर" ग्राम है।

ऐसी प्रख्याति है कि मकनपुर "विभाण्डक ऋषि" का स्थान है। उसमें लोग यह प्रमाणित करते हैं कि जब राजा के कर्मचारियों से प्रेरित वेश्यायें बड़ी नौका पर आरूढ़ हो मधुर गान-नृत्य करती हुई बाजे के साथ वहाँ आ पहुँचीं, उस समय श्रीविभाण्डकजी कहीं दूर जाने के लिये अपने पुत्र के सर्वोपद्रव से रक्षार्थ एक मेड़रा ⊙ खींचकर चले गये थे। धीरे २ गङ्गातट पर नाव आन पहुँची। शृङ्गीऋषिजी मधुर अपूर्व गान सुनकर मेड़रे को उल्लंघन करके देखने चले। श्रीशृंगीऋषिजी तो स्त्रीजाति पुंजाति का भेद ही नहीं जानते थे, तट पर जाकर खड़े २ गान सुनते रहे। इस भाँति तीन दिन जाते आते रहे। नौका पर लगे गमलों के वृक्षों के फलों की जगह लड्डू लटकाये गये थे। एक वेश्या ने उसमें से कुछ फल लेकर ऋषि को भेंट किया और कहा कि हमारे देश के ये फल हैं; ऋषि ने खाकर अपने स्थान के भी फल उन्हें उपकार किये। चौथे दिन एक वेश्या ने कहा कि हमारे देश की यह रीति है कि अपने प्रेमियों से प्रेमी लोग भेंटते हैं। शृंगीजी तो कुछ जानते ही न थे, आलिङ्गन के साथ ही कुछ ऋषि का चित्त उस ओर खिंच गया, तदनन्तर वे नौका पर भी गान सुनने जाने लगे। एक दिन ऋषि को राग सुनने में मग्न देख शनैः नौका छोड़ दी गई। परंच ऋषि को नौका के भीतर न जान पड़ा कि हम कहीं जाते हैं क्योंकि उन्होंने कभी नौका देखी न थी। स्वस्थान में जब नाव कई दिनों के पीछे आ गई, तब ऋषि लोग शृंङ्गीजी को लेने गये फिर अवर्षण मिटा। आगे की कथा तो विख्यात ही है।

उसी विभाण्डक के मेड़रा ⊙ के स्थान में स्त्री जाने से भस्म हो जाती थी। इस चमत्कार को देख मुसल्मानों ने स्वराज्य के समय उस पर अधिकार कर लिया। अब भी स्त्री जाति मात्र को भीतर जाने की आज्ञा नहीं है। अद्यापि वहाँ बड़ा मेला लगता है, परन्तु मेला दूसरे ही अभिप्राय से होता है, वाणिज्य विशेष होती है॥

बनूँ; इसलिये अपार तप किया; और अन्त को, श्रीवशिष्ठजी महाराज की कृपा से, श्रीविधिजी से विश्वामित्रजी "ब्रह्मर्षि" पद पाके बहुत प्रसन्न हुए॥

श्रीविश्वामित्रजी को अब यह लालसा बाढ़ी कि--

"सियपियपदसरोज जब देखौं। सुकृत समूह सफल तब लेखौं॥"

इस मनोरथ से यज्ञ करने लगे, पर ताड़का राक्षसी और उसके पुत्र सुबाहु आदि ने उपद्रव और उत्पात करना आरंभ किया॥

चौपाई।

"तब मुनिवर मन कीन्ह विचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥
यहि मिस देखहुँ प्रभुपद जाई। करि बिनती आनउँ दोउ भाई॥"

सो० "पुरुषसिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनिभयहरन।
कृपासिन्धु मतिधीर, अखिल विश्वकारन करन॥"

प्रभु ने आपसे अस्त्रादि विद्या पढ़ी, और आपको अनन्त श्रीगुरु वशिष्ठजी सम आदर दिया। जय, जय॥

श्रीविश्वामित्रजी की स्तुति और क्या की जावे? इससे इति है कि

चौपाई।

"जिन्हके चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरुपद कमल पलोटत प्रीते॥"

(१४४) श्रीदुर्वासाजी।

श्रीअत्रिजी की कथा लिखी जा चुकी है कि श्रीदुर्वासाजी उनके पुत्र और रुद्र के अवतार हैं। श्रीब्रह्माजी प्रायः इन्हीं के द्वारा, लोगों को शाप दिलाया करते थे। इनकी कथा पुराणों में बहुत है। समर्थ की ईर्षा कौन कर सकता है? भगवत् के जितने काम हैं वे गूढ़ हैं। उनका भेद जानना कठिन है॥

श्रीअम्बरीषजी के तथा श्रीद्रौपदीजी के सुयश के प्रसङ्ग में कुछ इनकी चरचा इस ग्रंथ में भी हो चुकी है॥

साठ सहस्र वर्ष तप किया, पूरे होने पर श्रीनन्दजी के घर आए; माता श्रीयशोमतिजी ने प्रेम से अति उत्तम दधि, जिसमें से भगवत् को पवाया था, आपको भी पवाया। श्रीदुर्वासाजी ने अति प्रसन्न होकर

उनको "गोपालकवच" पढ़ा दिया और वरदान दिया कि इस कवच को जो पढ़ेगा वा इससे जिसको झार देगा सो तीनों तापों से बचेगा ॥

(१४५) श्रीयाज्ञवल्क्यजी।

आप बड़े प्रतापी मुनि हैं। आपने पहिले श्रीसूर्य्यनारायण से विद्या पढ़ी। किसी कारण से सूर्य्य भगवान् अप्रसन्न हुए तो इन्होंने सब विद्या उगल दी (वमन कर दिया)। यह पराक्रम देख प्रसन्न हो श्रीरविदेव ने वर दिया कि जो तुमसे वाद-विवाद करेगा उसका शीश फट जायगा ॥

कह चुके हैं कि आपने श्रीरामचरितमानस (तथा अद्भुतरामायण) श्रीभरद्वाजजी को सुनाया है ॥

(१४६) श्रीजाबालिजी।

आप श्रीअवधेशजी के मंत्रियों में से थे।

(१४७) श्रीयमदग्निजी।

श्रीयमदग्नि ऋषि भक्तिसहित अग्निहोत्र यज्ञ किया करते थे और इनकी स्त्री श्रीरेणुकाजी आपकी सेवा करती थीं। एक दिन अति अप्रसन्न होके, आपने अपने पुत्र श्रीपरशुरामजी से आज्ञा की कि तू अपनी माता (रेणुका) का तथा अपने दोनों बड़े भाइयों के शीश अपने परशु से उतार ले ॥

श्रीपरशुरामजी ने पिता की आज्ञा मान ली ॥

दो० "अनुचित उचित बिचार तजि, जे पालहिं पितुबैन।
ते भाजन सुख सुयश के, बसहिं अमरपति ऐन ॥"

आपने बहुत प्रसन्न हो पुत्र से कहा, वर माँग। परशुरामजी ने माँगा कि "एक तो इन तीनों को जिला दीजिये, दूसरा यह वरदान दीजिये कि ये तीनों मुझसे सदैव अति प्रसन्न रहा करें ॥

श्रीसीतारामकृपा से ऐसा ही हुआ ॥

(१४८) श्रीकश्यपजी।

श्रीकश्यपजी श्रीमरीचि मुनि के पुत्र हैं। भगवत् ने आपको दर्शन दे आज्ञा की कि सृष्टि उत्पन्न करो ॥

कश्यपजी से बहुत कुल प्रगट हुए हैं कि जो "कश्यप गोत्र" प्रसिद्ध है॥

एक काश्यपी कल्प हुआ था जिसमें सब सृष्टि कश्यपजी से ही हुई थी॥

(१४९) श्रीमार्कण्डेयजी।

श्रीमार्कण्डेयजी ने प्रभु से विनय की कि मुझे अपनी माया दिखाइये। देखा कि जल बाढ़ आया और प्रलय हो गया, सर्वत्र जलमय है और कहीं कुछ नहीं। अपने को उस जल में इधर उधर बहते डूबते उतराते पाया। अनेक वर्ष पर्य्यन्त ऐसा ही बीतने पर, एक वट-वृक्ष के एक पत्ते पर बालकस्वरूप प्रभु का दर्शन पा, श्वास द्वारा उनके उदर में जा, वहाँ अनेक अद्भुत देख, पुनि बाहर आ बड़ी स्तुति कर, हरिकृपा से हरि की उस माया से निकले॥

(१५०) श्रीमायादर्शजी।

कोई कहते हैं कि मायादर्श एक भक्तविशेष का ही नाम है, पर उनका पता तो कहीं चलता मिलता नहीं॥

बहुतेरे बताते हैं कि मायादर्श श्रीलोमशजी वा श्रीमार्कण्डेयजी हैं; क्योंकि दोनों ने माया देखी है। इन महात्मा की कथा देखिये॥

(१५१) श्रीपर्वतजी।

"अद्भुतरामायण" में लिखा है कि एक कल्प में इन्हीं के शाप से श्रीलक्ष्मीनारायणजी ने अवतार लेकर रावण कुम्भकर्ण का वध किया॥

(१५२) श्रीपराशरजी।

श्रीब्रह्माजी के पुत्र श्रीवशिष्ठजी उनके पुत्र श्रीशक्तिजी उनके पुत्र श्रीपराशरजी हैं। प्रभु ने दर्शन देके आज्ञा की कि "मैं तुम्हारा पुत्र हूँगा॥"

श्रीपराशरजी ही के पुत्र श्रीव्यास भगवान् (पृष्ठ ४७) हैं, जिन्होंने पुराण बनाए हैं॥

(१५३) (१८ महापुराण)

(११९) छप्पय । (७२४)

साधन साध्य सत्रह पुरान, फलरूपी श्रीभागवत ॥ ब्रह्म[1], विष्णु[2], शिव[3], लिङ्ग[4], पद्म[5], स्कन्द[6], बिस्तारा । बामन[7], मीन[8], बराह[9], अग्नि[10], कूरम[11], ऊदारा ॥ गरुड़[12], नारदी[13], भविष्य[14], ब्रह्मवैवर्त[15], श्रवण शुचि । मार्कण्डे[16], ब्रह्माण्ड[17], कथा नाना उपजै रुचि ॥ परम धर्म श्रीमुख कथित चतुःश्लोकी निगम सत । साधन साध्य सत्रह पुरान, फलरूपी श्रीभागवत[18] ॥ १७ ॥ (१९७)

वार्त्तिक तिलक ।

सत्रहों पुराण साधनरूप हैं; और अठारहवाँ पुराण श्रीमद्भागवत साध्यफलरूपी है तदन्तर्गत स्वयं श्रीभगवतमुख कथित परधर्म (भगवतधर्म्म) रूप "चतुःश्लोकी भागवत" तो वेदों का सारांश ही है । और वे १८ पुराण कैसे हैं कि कोई कोई अतिविस्तार हैं, और सब उदार, परम पवित्र, और श्रवण करने से धर्मरुचिउत्पादक विचित्र हैं ॥ "श्रीभागवत" सबका सागर, फल, रस और प्राण है जैसा कि श्रीनारदजी ने व्यासजी से कहा ॥

(सात्त्विक)			(राजस)		
१ विष्णुपुराण	श्लोक	२३०००	७ ब्रह्माण्डपुराण	श्लोक	१२०००
२ नारदपुराण	,,	२५०००	८ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण	,,	१८०००
३ श्रीमद्भागवत	,,	१८०००	९ मार्कण्डेयपुराण	,,	९५००
४ गरुड़पुराण	,,	१९०००	१० भविष्यपुराण	,,	१४५००
५ पद्मपुराण	,,	५५०००	११ वामनपुराण	,,	१००००
६ वाराहपुराण	,,	२४०००	१२ ब्रह्मपुराण	,,	१००००
		१६४०००			७४०००

(तामस)	
१३ मत्स्यपुराण श्लोक	१४०००
१४ कूर्म्मपुराण ,,	१७०००
१५ लिङ्गपुराण ,,	११०००
१६ शिवपुराण❀ ,,	२४०००
१७ स्कन्दपुराण ,,	८१०००
१८ अग्निपुराण ,,	१५०००
	१६२०००

सात्त्विक	१६४०००	श्लोक
राजस	७४०००	श्लोक
तामस	१६२०००	श्लोक
जोड़ ४,००,०,०० श्लोक †		
चार लाख श्लोक		

❀ (श्लोक) "वैष्णवं नारदीयञ्च तथा भागवतं शुभम्। गारुडञ्च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने ॥ १ ॥ षडेतानि पुराणानि सात्त्विकानि मतानि मे। ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्त्तं मार्कण्डेयं तथैव च। भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे ॥ २ ॥ मात्स्यं कौर्म्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च। आग्नेयञ्च षडेतानि तामसानि निबोध मे ॥ ३ ॥"

(१५४) (अठारह स्मृतियाँ और उनके १८ कर्त्ता)

(१२०) छप्पय। (७२३)

दश आठ स्मृति जिन उच्चरी, तिन पदसरसिज भालमो ॥ मनुस्मृति[१], अत्रेय[२], वैष्णवी[३], हारितक[४], यामी[५]। याज्ञवल्क्य[६], अंगिरा[७], शनैश्चर[८], सामर्तक[९] नामी ॥ कात्यायनि[१०], सांखल्य[११], गौतमी[१२], वासिष्ठी[१३] दाखी[१४]। सुरगुरु[१५], आतातापि[१६] (शातातप), पराशर[१७], क्रतु[१८] मुनि भाखी ॥ आशा पास उदारधी, परलोकलोक साधनसो। दश आठ स्मृति जिन उच्चरी, तिन पदसरसिज भाल मो ॥ १८ ॥ (१९६)

वार्त्तिक तिलक।

अठारह स्मृतियाँ जिन महानुभावों ने कही हैं, उनके चरणकमल

❀ कोई कोई तो "माहेश्वर" नाम का एक उपपुराण कहते हैं, "शिवपुराण" नहीं बताते, वरंच २४००० श्लोक का "वायुपुराण" लिखते हैं॥

† अठारहों पुराणों के श्लोकों की गिन्ती चार लाख (४०००००) प्रसिद्ध ही है॥

मेरे भाल (ललाट) के भूषण हैं; सो वे स्मृतियाँ कैसी हैं कि आशा-रूपी कठिन पाश (फाँस) के छुड़ाने के लिये उदार बुद्धि देनेवाली और लोक परलोक की साधनरूपा हैं--

१ मनुस्मृति,	१० कात्यायनस्मृति,
२ आत्रेयस्मृति,	११ सांखल्यस्मृति,
३ वैष्णवस्मृति,	१२ गौतमस्मृति,
४ हारीतस्मृति,	१३ वाशिष्ठस्मृति,
५ याम्यस्मृति,	१४ दाक्ष्यस्मृति,
६ याज्ञवल्क्यस्मृति,	१५ बार्हस्पत्यस्मृति,
७ आङ्गिरसस्मृति,	१६ आतातपस्मृति,
८ शनैश्चरस्मृति,	१७ पाराशरस्मृति,
९ सांवर्तकस्मृति,	१८ क्रतुस्मृति* ॥

वशिष्ठ, हारीत, पाराशर, भारद्वाज, और काश्यप इत्यादिक कई एक स्मृतियाँ "सात्त्विकी" कही जाती हैं; आत्रेय, याज्ञवल्क्य, दाक्ष्य, कात्यायनि इत्यादिक "राजस"; एवं गौतम, बार्हस्पत्य, सांवर्त, याम्य इत्यादिक "तामस" कहलाती हैं ॥

"दस आठ स्मृति जिन उच्चरी" तिनके नाम--

१ श्रीमनुजी	१० श्रीकात्यायनजी
२ श्रीअत्रिजी	११ श्रीशंखजी
३ श्रीविष्णुजी	१२ श्रीगौतमजी
४ श्रीहारीतजी	१३ श्रीवशिष्ठजी
५ श्रीयमराजजी	१४ श्रीदक्षजी
६ श्रीयाज्ञवल्क्यजी	१५ श्रीबृहस्पतिजी
७ श्रीअङ्गिराजी	१६ श्रीशतातपजी
८ श्रीशनैश्चरजी	१७ श्रीपराशरजी
९ श्रीसंवर्तजी	१८ श्रीक्रतुमुनिजी

* इन अठारह के अतिरिक्त और कई प्रसिद्ध स्मृतियों (धर्मशास्त्रों) के नाम--व्यास, आपस्तम्ब, औशनस वा उशना (शुक्र), सांडिल्य, भारद्वाज, काश्यप, शंख लिखित इत्यादि ॥

(१५५) श्रीरामसचिव (मन्त्रिवर्ग)।

(१२१) छप्पय। (७२२)

पावैं भक्ति अनपायिनी, जे रामसचिव सुमिरन करैं॥ धृष्टी[1], विजय[2], जयंत[3], नीतिपर शुचिर विनीता। राष्टरवर्धन[4] निपुण, सुराष्टर[5] परम पुनीता॥ अशोक[6] सदा आनन्द धर्मपालक[7], तत्त्ववेत्ता। मंत्रीबर्जसुमंत्र चतुर्जुग मंत्री जेता *॥ अनायासरघुपति प्रसन्न, भवसागर दुस्तर तरैं। पावैं भक्ति अनपायिनी, जे रामसचिव सुमिरन करैं॥ १६॥ (१६५)

वार्त्तिक तिलक।

अनन्त श्रीमहाराजाधिराज श्रीरामचन्द्रजी के मन्त्रिवर्गों को, जो भक्तजन प्रभातादि कालों में नित्य स्मरण करते हैं, सो अचल श्रीरामभक्ति पाते हैं; और अपने परमभक्त सचिवों के स्मरण करने से श्रीरघुपति अनायास (बिन परिश्रम) ही प्रसन्न होते हैं; अतः श्रीप्रभु की प्रसन्नता से दुस्तर संसारसमुद्र को भी तर जाते हैं—श्रीधृष्टि[1]जी, श्रीजयन्त[2]जी, श्रीविजय[3]जी, ये तीनों अतिशय नीतियुक्त परम पवित्र, तथा शिक्षित और नम्र; श्रीराष्ट्रवर्द्धन[4]जी उभय लोक कृत्यों में परम प्रवीण; श्रीसुराष्ट्र[5]जी अतिशय पुनीत; श्रीअशोक[6]जी सदा प्रेमानन्दयुक्त; श्रीधर्मपालक[7]जी भगवत् तत्त्वज्ञानी; इन सचिवों में वर्य्य (परमश्रेष्ठ), अपनी बुद्धि विज्ञता सुनीतियुक्तता से चारों युगों के मन्त्रियों को जीतनेवाले श्रीसुमन्त्र[8]जी॥

१ श्रीधृष्टिजी	५ श्रीसुराष्ट्रजी
२ श्रीजयन्तजी	६ श्रीअशोकजी
३ श्रीविजयजी	७ श्रीधर्मपालकजी
४ श्रीराष्ट्रवर्द्धनजी	८ श्रीसुमन्त्रजी

* "चतुर्जुगमन्त्री जेता" चारों युगों के भूत वर्तमान भविष्य मंत्रियों को जीतनेवाले॥

श्लोक—धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्द्धनः।
* अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमो महान्॥ १॥ (बा० रा०)

(१५६) श्रीसुमन्त्रजी†।

श्री ६ सुमन्त्रजी के विवेक, महाविरह, प्रेम, धैर्य्य आदिक गुण श्रीमानसरामचरित से सबको विदित ही हैं।

चौपाई

"तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी।"
मन्त्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। "तात! धरममत सब तुम्ह सोधा॥" इत्यादि।

(१५७) श्रीरामसहचरवर्ग।

(१२२) छप्पय। (७२१)

शुभदृष्टि वृष्टि मोपर करौ, जे सहचर रघुबीर के॥
दिनकरसुत[1], हरिराज[2], बालिबच्छ[3] केशरिऔरस[4]।
दधिमुख[5], द्विबिद[6], मयंद[7], ऋच्छपति[8] सम, को पौरस॥
उल्का सुभट, सुषेन[9], दरीमुख[10], कुमुद[11], नील[12], नल[13]।
सरभरु[14], गवै[15], गवाच्छ[16], पनस[17], गँधमादन[18], अतिबल॥
पद्मअठारहयूथपाल, रामकाजभट भीर के*। शुभदृष्टि वृष्टि मोपर करौ, जे सहचर रघुबीर के॥ २०॥ (१६४)

वार्त्तिक तिलक।

जगद्विजयी श्रीरघुवीर के संग चलनेवाले जो जो सखावर्ग हो सो आप सब मुझ पर कृपा प्रसन्नतायुक्त शुभदृष्टि की वर्षा कीजिये। श्रीदिनेशपुत्र कपिराज श्रीसुग्रीवजी, बालिपुत्र श्रीअंगदजी, श्रीकेशरीनन्दन हनुमान्जी, श्रीदधिमुखजी, श्रीद्विविदजी, श्रीमयन्दजी और जिनके समान दूसरे का पुरुषार्थ नहीं ऐसे ऋक्षराज श्रीजाम्बवान्जी, परम सुभट श्रीउल्कामुखजी, श्रीसुषेणजी, श्रीदरीमुखजी, श्रीकुमुदजी, श्रीनीलजी, श्रीनलजी, श्रीशरभजी, श्रीगवयजी, श्रीगवाक्षजी,

* पाठभेद—"अशोको"। † कहा जाता है कि मन्त्रिवर श्रीसुमन्त्रजी श्रीचित्रगुप्तवंशी थे॥ * "भीर"=भीड़, समूह; समीप।

श्रीपनसजी, अतिशय बली श्रीगन्धमादनजी, इत्यादिक अठारह पद्म यूथपति; और भी सेनासमूह के सम्पूर्ण भट श्रीरामकार्य्य करनेवाले भी मुझ पर कृपादृष्टि की वर्षा कीजिये॥

१ श्रीसुग्रीवजी	१० श्रीदरीमुखजी
२ श्रीहनुमान्‌जी	११ श्रीमुकुदजी
३ श्रीअङ्गदजी	१२ श्रीनीलजी
४ श्रीजाम्बवान्‌जी	१३ श्रीनलजी
५ श्रीदधिमुखजी	१४ श्रीशरभजी
६ श्रीद्विविदजी	१५ श्रीगवयजी
७ श्रीमयन्दजी	१६ श्रीगवाक्षजी
८ श्रीउल्कासुभटजी	१७ श्रीपनसजी
९ श्रीसुषेणजी	१८ श्रीगन्धमादनजी

(१५८) महावीर श्रीहनुमान्‌जी।

जब श्रीसीतारामजी राजसिंहासन पर विराजे, और चारों दिशाओं से सब मुनि लोग दर्शन के लिये श्रीअयोध्याजी में इकट्ठे हुए, तब प्रभु ने श्रीअगस्त्यजी महाराज से पूछा कि--

चौपाई।

"सौरज, बीरज, धीरज, नीती। बरबिक्रम, दक्षता, प्रतीती॥
तिमि प्रभाव, प्रज्ञता, प्रमाना। हनुमतहियकियअयन निदाना॥
हनुमत चारु चरित बिस्तारा। सुखद सुनाइय मोहिं उदारा॥"

तथा नैमिष क्षेत्र में ऋषियों ने श्रीसूतजी से पूछा कि--

दो० "एकादश रुद्रहि कहत, महाशंभु अवतार।
ताकी जग जीवन कथा, कहौ सूत विस्तार॥"

इसके उत्तर में--

सो० "कह अगस्त्य भगवान, सत्य कहहु रघुबीर तुम।
नहिं हनुमान समान, गति मति बलहू में कोऊ" ॥ १ ॥
कहेउ सूत "सुख मूल, कहौं चरित्र पवित्र अब।
हरण सकल अघशूल, चितलगाय ऋषिगण सुनौ" ॥ २ ॥

श्रीकेशरीप्रिया शुभव्रतरता परमविनीता श्रीअञ्जनाजी एक समय धीरे धीरे विचरती हुई वन और पर्वत की शोभा देख रही थीं, उसी समय श्रीपवनदेव के उद्वेग से आपका वस्त्र उड़ने लगा था; इससे आपने वायुदेव पर क्रोध करना चाहा। परन्तु श्रीमरुतदेवजी ने कोमल वाणी से आपको श्रीरामकथा से श्रीब्रह्माजी का विचार सुनाकर बहुत कुछ समझाया—

चौपाई।

"तूं भय मानहि मति मन माहीं। हम तव तन व्रत हिंसब नाहीं॥"

और—छन्द।

"होइहिं महाबलवान बुद्धि-निधान सुत मेरे दिये।
अति तेजमान महान सत्त्व पराक्रमी ममसम तिये॥"
"बीरज विलंघन बेगवान सु मोहुतें अधिकाइकै।
अस तनय लहि तिहुँलोक तेरो सुयश रहिहै छाइकै॥"

पुनि और देवता भी आके उसी देशकाल में आपसे बोले—

छन्द।

"भय छाँड़ि संशय तजौ, चिन्ता त्याग मन धीरज धरौ।
पिय-त्रास, लोक-बिबाद कौ सन्देह चित से परिहरौ॥"
"आए महाशिव गर्भ तव ये देव मुनि चिन्ता हरै।
करिबेगि निशिचर कुल निधन, बिधि, धेनु की रक्षा करै॥ १॥
मन पवन खग से गति अधिक, पदकंज जे चितलावहीं।
धरि चरण निज सुर सीस पै. साकेत पद नर पावहीं॥
सियनाह सेवा करन हित जग माँहिं यह अवतार है।
सेवै सिया रघुनाथ के पदकंज गुण से पार है॥ २॥"

दो० "धर्मशील विद्या निपुण, सकल कला परबीन।
आचारज ये होयँगे, रहे विश्व आधीन॥"

सो० "सुर सब भेव जनाय, गए सकल निज निज भवन।
सुनो सजन चितलाय, अग्र कथा भवभयहरन॥"
"महामरुत की मूल, तेज गर्भ उर धारिकै।
सुख संपति अनुकूल, अंजनि निबसीं गिरिगुहा॥"

निदान शरद्ऋतु, कार्त्तिक मास, कृष्णपक्ष चतुर्दशी, भौमवार,

स्वाति नक्षत्र, मेष लग्न, उच्च उच्च स्थानों में सब ग्रह, एवं सर्व योगों तथा समय के सब विधि अनुकूल होने पर—

दो० "निशा दिवस के सन्धि में, मुद मंगल दातार।
महाशम्भु परगट भए, हरन हेत भवभार ॥ १ ॥"
"खल अरबिन्द बिनाशकर, सुजन कुमुद आनन्द।
अंजनि उर अंभोधि ते, उदित भए कपिचन्द ॥ २ ॥"
धन्य धाम अरु धन्य थल, धन्य तात अरु मात।
धन्य बंश जेहि बंश में, जन्मे तिहुँपुर त्रात ॥ ३ ॥
"करहिं वेदधुनि विप्रगण, जै जै शब्द विशेष।
सुख समाज तेहिकाल कौ, कहि न सकै शत शेष ॥ ४ ॥"

कवित्त।

"मङ्गल सु मास, कल कातिक सरद बास, मंगल प्रथम पक्ष, चौदसि सोहाई है। मंगल सुबार, महामंगल नखत स्वाती, संध्या समय, मंगल लगन मेष आई है। मंगल सुथल, जल, अनल, सुमंगल मे अनिल, अकास झरी फूल की लगाई है। मंगल स्वरूप हनुमन्त जन्म मंगल की, बाजैरस राम जग मंगल बधाई है ॥ १ ॥

भोरे, सूर्य्य को देख, श्रीअंजनीनन्दन, बालभाव से लाल फल अनुमान करके उछले कि रवि को मुख में रख लें। यह प्रभाव देख, देव दानव सब विस्मयवन्त हुए। रवि के तेज को विचारके श्रीपवनदेव भी पुत्र के पीछे पीछे शीतलता करते हुए जा रहे थे। एवं, श्रीदिवाकर भगवान् ने भी इन्हें श्रीरामकृपापात्र जानकर अपने ताप का लेश भी इनको नहीं लगने दिया ॥

उसी दिन सूर्य्यग्रहण का योग था, इसलिये राहु श्रीभानु भगवान् के समीप गया। वहाँ श्रीपवनसुत को देख, भयमान राहु वहाँ से लौट सुरेश से जा कहने लगा कि आप ही ने सूर्य्य तथा चन्द्र को मेरा ग्राह्य निर्मित किया। फिर आज आपने मेरा भाग दूसरे को क्यों दे दिया है? यह सुन सुरपति अपने ऐरावत नाम (श्वेत) हस्ती पर चढ़के शीघ्र ही वहाँ पहुँचे कि जहाँ सूर्य्यदेव और मारुती थे ॥

श्रीअंजनिनन्दनजी राहु को नील फल मान सूर्य्य को छोड़ पहिले

तो उसी की ओर लपके, परन्तु ऐरावत को देख श्वेत फल अनुमान करके, राहु को भी छोड़ ऐरावत ही की ओर लपके। यह देख इन्द्र ने विना विचारे ही वज्र चला ही तो दिया। राहु के कुसंग का यह फल देखिये। निदान वह वज्र श्रीप्रभंजनसुत के अंग में आ लगा। उस पवि-प्रहार से व्यथित हो श्रीपवनजजी पर्वत पर आ गिरे, जिससे आपके बाएँ हनु में कुछ चोट पहुँची। श्रीमरुतदेव ने पुत्र को गोद में उठा लिया। कोप करके सारे जगत् से प्रभंजनदेव ने अपनी गति खींच ली॥

तब तो प्राण के राजा श्रीपवनजी के रुकने से समस्त जीवों को अत्यन्त क्लेश हुआ। सुर मुनि नर नाग गन्धर्व असुर सबके सब, श्वास प्रश्वास प्राण अपान के निरोध से विकल हो गए; शरीर की सन्धियाँ अति पीड़ित हो गईं। कोई कुछ कर्म धर्म करने योग्य न रहा। देखिये! एक इन्द्र के अपराध से त्रिलोक दुःखी हो गया। कुमन्त्र तथा कुसंग से कहाँ कष्ट नहीं पहुँचता है?

सब प्रजाओं ने इन्द्र के साथ २ श्रीब्रह्माजी के पास जा पुकारा। श्रीविधाताजी सबको साथ लिये वहाँ आए जहाँ श्रीपवन देव श्रीमहाबीरजी को गोद में लिये आपका मुख अवलोकन कर रहे थे। जगत्पिता श्रीविधिजी को अपने निकट देखते ही, श्रीमरुतदेव ने उठके अपने शीश और प्रिय पुत्र दोनों को श्रीविरंचिजी के चरणारविन्द पर रक्खा। प्रभु ने कृपा करके बालक के शीश पर ज्योंही निज हस्तकमल फेरा, त्योंही आप सुखी हो गए; तथा आपकी प्रसन्नता के साथ साथ ही त्रैलोक्य के प्राणी भी सब सुखी हुए।

श्रीइन्द्रजी ने एक अपूर्व माला श्रीमारुतीजी के गले में पहिराके, और "हनुमान्" आपका नाम रखके, आशीष दिया कि अब से मेरे वज्र से इनको कभी कुछ भय नहीं। श्रीगिरिजापतिजी ने भक्ति वर दे अपने शूल से आपको निर्भय किया; तथा श्रीविधिजी ने निज ब्रह्मास्त्र से, श्रीकुबेरजी ने अपनी गदा से, श्रीयमजी ने यमदण्ड से, एवं श्रीदुर्गाजी ने अपने खड्ग से, वरुणजी ने निज पाश से, और विश्वकर्मा-जी ने अपने सर्व आयुधों से अभयत्व दिया। श्रीसूर्य्य भगवान् ने अपने

तेज का १/१०० (शतांश) अनुग्रह किया; और कहा कि "मैं इन्हें शास्त्र पढ़ा दूँगा।" पुनः सबने अनेक विचित्र अद्भुत वरदान आपको दिये, जिनका विस्तृत वर्णन कहाँ तक किया जावे॥

दो० "देखि सुरन के बरन ते, भूषित हनुमत काहिं।
पुनि बोले बिधि पवन प्रति, अति प्रसन्न मन माहिं॥"

चौपाई।

"यहिके सेवा बस रघुनाथा। यहिके बेगि बिकैहैं हाथा॥
मारुत! तव, यहि सुत को पाई। रहिहै सुयश तिहूँ पुर छाई॥"

दो० अस कहि बिधि अमरन सहित, दै दै बर बरदान।
गवने पवनहि पूछि सब, अपने अपने थान॥ १॥
कारण रुद्र अनेक के, "महाशंभु" परधाम।
समय समान स्वरूप करि, सेवहिं सीताराम॥ २॥
तेऊ प्रभु रुचि पाइकै, प्रबिसे पवन स्वरूप।
"अंजनिमारुत-सुत" भए, कपि बपु बिरचि अनूप॥ ३॥
गिरि सुमेर के मुनि सकल, सादर सदन बुलाय।
पूजि पगन मेले ललन, भोजन बिबिध कराय॥ ४॥
तब आनन्दित अंजना, केसरि बसि निज गेह।
दम्पतिसुतहिं दुलारहीं, दिनप्रति सहित सनेह॥ ५॥

आपके जन्म के चरित्र को प्रसिद्ध महानुभाव सन्तमण्डल भूषण श्री ६ "श्रीमतीशरण गोमतीदास" महाराजजी ने छपवाकर अपने श्रीहनुमत् निवास से प्रकाशित किया है, उसकी तथा श्रीरामनामानुरागी मुन्शी श्रीरामअम्बेसहायजी कृत श्रीकाशीजी की छपी "श्रीहनुमत् जन्म-विलास" को देखिये॥

श्रीमारुतिजी के सुयश श्रीवाल्मीकीय में एवं श्रीगोस्वामी तुलसी-दासजी कृत जगत्विख्यात ग्रन्थों में प्रेमीजन पढ़ते सुनते हैं ही॥

और एक चुटकुला यहाँ भी देख ही आए हैं॥

(वि०) "जयति अंजनीगर्भ अम्भोधिसम्भूत"

दो० "नमो नमो श्रीमारुती, जाके बस श्रीराम।
करहु कृपा निशिदिन जपौं, श्रीसिय सिय-पिय-नाम॥"

(१५९) श्रीअङ्गदजी ।

श्रीसीतारामपदकंज में प्रेम करने ही से लोक परलोक की कोई वार्ता ऐसी नहीं रह जाती जिसमें मतिमान् प्रेमी कुशल न हो। श्रीअङ्गद-जी, किष्किन्धाधिप बालि के योग्य पुत्र, अपने पितासम बली ने, लंका की रणभूमि में किस कुशलता से प्रशंसित पराक्रम किये कि जिसकी सराहना स्वयं प्रभु ही श्रीमुख से करते हैं ॥

चौपाई ।

"कह रघुवीर देखु रण सीता। लछिमन यहाँ हतेउ इन्द्रजीता ॥
हनूमान अंगद के मारे। रन महिं परे निसाचर भारे ॥"

त्रैलोक्यविजयी रावण की सभा में कि जहाँ भयवश इन्द्रादिक देवताओं की बुद्धि क्षोभित हो जाया करती थी, किस उत्साह, दृढ़ता, पराक्रम तथा प्रतीति के साथ अपनी बुद्धि को दरशाया कि लङ्का-निवासियों ने आपको श्रीहनुमान्जी ही अनुमान किया ॥

सवैया ।

"अति कोप से रोप्यो है पाँव सभा, सबलंकसशोकित शोर मचा।
तमके घननाद से बीर प्रचारिकै, हारि निशाचर सैन पचा ॥
न टरै पग मेरु हु ते गरु भो, सो मनो महि संग विरंचि रचा।
तुलसी सब शूर सराहत हैं, "जग में बलशालि है बालि-बचा ॥"

दो० "रिपु बल धरषि हरषि कपि, बालितनय बलपुंज।
पुलक शरीर नयन जल, गहे रामपद कंज ॥"

श्रीअवध में आने पर जब सब विदा होने लगे और आपका अवसर आया, तो यहाँ रहने के निमित्त आपका हठ आग्रह एवं विनय करना ही आपके गूढ़ सच्चे प्रेम का यथार्थ चित्र नेत्रों के सामने खींचे देता है ॥

दो० "अङ्गद बचन बिनीत सुनि, रघुपति करुणासीव।
प्रभु उठाय उरलायऊ, सजल नयन राजीव ॥ १ ॥

सवैया ।

आनन ओप मयंक लुभायत भावत भाव भरी निपुनाई।
है जलजात लजात बिलोकन कोमल पायन की अरुनाई ॥
मोहति है मन त्यों ब्रजबल्लभ अंगन की छबि केरि निकाई।
को न बिकी बिनमोल सखी लखि जानकिनाथ की सुन्दरताई ॥

निज उरमाला बसन मणि, बालि तनय पहिराइ।
बिदा कीन्ह भगवान तब, बहु प्रकार समुझाइ॥ २॥"

श्रीअङ्गदजी की माता, श्रीताराजी, जो "पंच कन्या" में से हैं, अतिशय सुन्दरी, बुद्धिमती, पतिव्रता, गुणमयी तथा श्रीसीतारामभक्ता हैं। इनकी प्रशंसनीय वार्ता श्रीवाल्मीकीय में देखने योग्य ही है॥

(१६०) श्रीजाम्बवन्तजी।

श्रीजाम्बवान्‌जी श्रीब्रह्माजी के अवतार हैं।

दो० "जानि समय सेवा सरस, समुझ करब अनुमान।
पुरुखा ते सेवक भए, चतुरानन जँबवान॥"

चौपाई।

"जाम्बवन्त मन्त्री मतिमाना। अति विजयी बल बुद्धि निधाना॥
नामनिष्ठ अति दृढ़ विश्वासी। सेतु समय अस बचन प्रकासी॥"

सो० "सुनहु भानुकुलकेतु, जाम्बवन्त करजोरि कह।
नाथ! नाम तव सेतु, नर चढ़ि भवसागर तरहिं॥"

(१६१। १६२) श्रीनलजी और श्रीनीलजी।

चौपाई।

"नाथ! "नील-नल" कपि दोउ भाई। लरिकाईं ऋषि आसिष पाई॥
तिन्हके परस किये गिरि भारे। तरिहहिं जलधि प्रताप तुम्हारे॥"

सो० "सिन्धु बचन सुनि राम, सचिव बोलि प्रभु अस कहेउ।
अब बिलम्ब केहि काम, करहु सेतु, उतरै कटक॥"

चौपाई।

"शैल बिशाल आनि कपि देहीं। कन्दुक इव नल नील ते लेहीं॥
देखि सेतु अति सुन्दर रचना। बिहँसि कृपानिधि बोले बचना॥
जे "रामेश्वर" दरशन करिहहिं। ते तनु तजि मम लोक सिधरिहहिं॥
होय अकाम जो छलतजि सेइहि। भक्ति मोरि तेहि शंकर देइहि॥

दो० "श्रीरघुबीर प्रताप ते, सिन्धु तरे पाषान।
ते मति मन्द जे राम तजि, भजहिं जाइ प्रभु, आन॥"

यूथेश्वर दोनों भ्राता नलजी और श्रीनीलजी का भी, लङ्का की

लड़ाई में श्रीकृपा से जो पराक्रम देखने में आया; सो श्रीवाल्मीकीय में वर्णित और प्रशंसनीय है॥

और, श्रीअवधपति रामजी महाराज के सिंहासनस्थ होने पर, "चीन" देशीय राजा, "वीरसिंह" ने अपनी वीरता प्रकट करने के लिये, श्रीराघव से युद्ध (दूत द्वारा) माँगा; तब श्रीरामजी युद्धोन्मुख हुये। उसी समय खड़े हो प्रणाम करके, आज्ञा लेके, निज शत्रुभंजनी सेना सहित श्रीनल-नीलजी ने चीन पर चढ़ाई की॥

वहाँ जाय, रात्रिदिवस पचीस दिन संग्राम करके वीरसिंह का वध किया; और श्रीरामजी की दोहाई फिराई। पुनः शरणागत आने पर, श्रीरामाज्ञा पाके, "वीरसिंह" के पुत्र "इन्द्रमणि" को चीनी राज-सिंहासनासीन करके तब श्रीनल-नीलजी श्रीरामपार्श्व में प्राप्त हुए।

श्रीराघव दयासागरजी उक्त वीरों से अंक भरि भेंटे; और अन्त में निज पद का लाभ दे, कृतार्थ किया॥

(१६३) नवों नन्दजी।

(१२३) छप्पय। (७२०)

ब्रज बड़े गोप "पर्जन्य" के सुत नीके नव नन्द॥ धरानन्द[1], ध्रुवनन्द[2], तृतिय उपनन्द[3], सु नागर। चतुर्थ तहाँ अभिनन्द[4]; नन्द[5] सुखासिन्धु उजागर॥ सुठि सुनन्द[6] पशुपाल, निर्मल निश्चय अभिनन्दन। कर्मा धर्मानन्द; अनुज बल्लभ[8] जगबन्दन॥ आसपास वा बगर * के, जहँ बिहरत पशुप सुछन्द। ब्रज बड़े गोप "पर्जन्य" के, सुत नीके नव नन्द॥ २१॥ (१६३)

"जसुमति नन्द जगत में जिनकी कीरति सरद जुन्हाई। तिनके आनि परम पुन्यनते प्रगटे कुँवर कन्हाई॥"

---

* "बगर" = टोला, पुरवा; फैलाव॥

भिन्न भिन्न ग्रन्थों में, कई नाम भिन्न पाये जाते हैं "बल्लभनन्दन" के स्थान में "नन्दन" वा "अभिनन्दन" एवमादि॥

बहुत सी हाथ की लिखी पुरानी प्रतियों को मिलाके जो पाठ अधिक पोथियों में मिला सोई लिखा है॥

वार्त्तिक तिलक।

गोकुल (ब्रज) में (१) सुजन्यजी (२) श्रीपर्जन्यजी (३) अर्जन्य और (४) राजन्य, ये चारों गोप सहोदर भ्राता थे; तिनमें तीन भाइयों के वंश का तो वर्णन नहीं; श्री "पर्जन्य" जी नवों नन्दों के बड़े (नामवृद्ध पिता) थे इन्हीं के सुन्दर सुत नवों नन्दजी थे; अर्थात् श्रीधरानन्दजी, श्रीध्रुवानन्दजी, तीसरे परम प्रवीण (सुनागर) श्रीउपनन्दजी; तिनमें चौथे श्रीअभिनन्दजी; और सुख के समुद्र परम प्रसिद्ध महर श्रीनन्दजी। गौवों के विशेष पालक, निर्मल, निश्चय करके प्रभु को आनन्द देनेहारे श्रीसुनन्दजी; श्रीकर्मानन्दजी; तथा श्रीधर्मानन्दजी; और इन आठों के छोटे भाई जगत् में वन्दनीय श्रीवल्लभजी। जहाँ गोपाल लोग स्वच्छन्दता से विहरते थे, तिस नगर के आसपास में नवों नन्द विराजते थे॥

मैं उनके चरण की धूरि चाहता हूँ॥

१ श्रीधरानन्दजी,	६ श्रीसुनन्दजी,
२ श्रीध्रुवनन्दजी,	७ श्रीकर्मानन्दजी,
३ श्रीउपनन्दजी,	८ श्रीधर्मानन्दजी,
४ श्रीअभिनन्दजी,	९ श्रीवल्लभनन्दजी,
५ श्रीनन्दजी, सुखसिंधु	पाठभेद कई हैं॥

जो श्रीकृष्ण भगवान् के ही पिता वा चचा हैं, भला उनकी बड़ाई कहाँ तक की जा सकती है॥

---

(१२४) छप्पय। (७१९॥)

बाल वृद्ध नर नारि गोप, हौं अर्थी उन पादरज॥ नन्द गोप, उपनंद, ध्रुव धरानँद, महरि[1] जसोदा। कीरतिदा "वृषभानु"[2] कुँअरि सहचरि (विहरति) मन मोदा॥ मधु, मंगल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन,

---

१ "महरि"=बड़ी, महर की स्त्री। २ प्रेम की मुख्य आदर्श श्रीकीर्ति-सुता वृषभानु-कुँवरि श्रीराधिकाजी की जय, प्रेम जितना ही ऊँचा पवित्र और निःस्वार्थ होता है, उसका चिन्ह उतना ही टिकाऊ, चमकीला और मनोहर होगा।

श्रीदामा। मंडल ग्वाल अनेक श्याम संगी बहुनामा॥
घोष[1] निवासिनि की कृपा, सुर नर बांछत आदि अज[2]।
बाल वृद्ध नर नारि गोप, हौं अर्थी उन पाद रज॥
२२॥ (१६२)

---

(१६४) गोपवृन्द

"वृद्ध तरुन बालक अति सुन्दर गोप अथाइन बैठे।
कोई पाग लटपटी बाँधे कोऊ फेंटा ऐंठे॥
कोई बाँधे मोर पखौवा कोऊ बाँधे जंगै।
लटपट आवत गैयन पाछे गावत तान तरंगै॥"

वार्त्तिक तिलक।

जिन घोषनिवासियों (गोप, गोपियों) की कृपा को ब्रह्मादिक सुर नर लोग चाहते हैं, तिन बालक वृद्ध और स्त्री पुरुष गोपों के पाद-रज का मैं अर्थी हूँ, अर्थात् जाँचता हूँ। उनमें मुख्यों के नाम—(१) महर श्रीनन्दगोपजी, (२) श्रीउपनन्दजी, (३) श्रीध्रुवनन्दजी, (४) श्रीधरानन्दजी, (५) महरि श्रीयशोदाजी, (६) स्मरणमात्र से कीर्ति देनेवाली श्रीवृषभानुजी की स्त्री श्री "कीर्ति" जी, (७) श्री-वृषभानुजी, (८) सदा प्रसन्न आनन्दयुक्त मनवाली सखियों के सहित श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजी, (९) श्रीमधुजी, (१०) श्रीमं-गलजी, (११) श्रीसुबलजी, (१२) श्रीसुबाहुजी, (१३) श्री-भोजजी, (१४) श्रीअर्जुनगोपजी, (१५) श्री "श्रीदामा" जी, तथा (१६) श्रीश्यामसुन्दरजी के साथी, अनेक नामवाले, अनेक ग्वाल मण्डलों के पद-रज को मैं चाहता हूँ॥

धन्य गोकुल व्रज; धन्य धन्य वहाँ के वासी; और धन्य धन्य उन सबकी चरणरज॥

---

१ "घोष"=अहिरों का टोला, घोसियों का पुरवा, अहीर, घोसी, ग्वाल, गोप। २ "आदि अज"=अजादि, विरंचिप्रमुख, विधि प्रभृति, ब्रह्मा आदि॥

(१६५) श्रीयशोदाजी ।

महरि श्रीयशोदाजी की कथा श्रीमद्भागवत, सुखसागर, व्रजविलास तथा प्रेमसागर प्रभृति ग्रन्थों में अति प्रसिद्ध है। विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता क्या है। हरि-माता की स्तुति क्या कोई साधारण वार्त्ता है ॥

(१६६ । १६७) रानी श्रीकीर्त्तिजी; श्रीवृषभानुजी ।

"श्री 'बृषभानुपुरा' के ठाकुर 'कीरति' अरु बृषभानू ।
कैधौं आनि बिसद भुवमण्डल उदित भये बृषभानू ॥"
"तिनके आनि अवतरी 'राधा' अमित रूप की ढेरी।
कीजे काहि बराबर दूजो तीन लोक छबिहेरी॥"

श्रीकृष्णप्रिया जगज्जननि सुरमुनिवन्दिता भक्तजन इष्टदेवता "श्रीराधाजी" के ही माता पिता, यही तो सब स्तुतियों की अवधि है; वात्सल्य रस के सुखों की खानि के भाग्य की प्रशंसा और बड़ाई कौन कर सकता है और क्योंकर सम्भव है ॥

(१६८ । १६९) श्रीसहचरियाँ; ग्वालमंडल।

"जकत चकित चितवति तुम इत उत केहि ठग ठीक ठगी हो।
डगति डगनि डगमग गति पगनि तुम काके रंग रँगी हो ॥
कै काहू तोको भरमायो कै चेटक कछु कीन्हो।
कै काहू तेरो चित चोरो कै लै फेरि न दीन्हो॥"
(प्रेमभरी गोपियों की दशा)

प्रियाजी (श्रीराधाजी) की सहचरियोंकी स्तुति प्रार्थना किये बिन, जो कोई श्रीप्रिया प्रियतम के चरणोंकी भक्ति चाहे, उसकी बुद्धि अल्प है ॥

जिन ग्वालिन तथा ग्वाल मण्डल को भगवान् ने अपना करके जाना माना, और श्रीब्रह्मा ऐसे बड़ों के बड़े ने जिनकी कृपा चाही, उनके चरणसरोज की रज अपने मस्तक पर धरने की बांछा करनी अतिशय बड़भागी का चिह्न है ॥

"दमकत दिपति देह दामिनसी चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उड़ि उड़ि दीठि लगैना॥
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच २ सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैरु सो आवत मनहु भुजंगिनि कारी॥
कहौं कहा तोसों हो राधा दिल की नाहिं दुराऊँ।
चलि बैठो एकंत कहूँ तौ श्रवनन सुधा पियाऊँ॥"

(१७०) श्रीब्रजचन्द्रजी के (१६) षोडश सखा।

(१२५) छप्पय। (७१८)

ब्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं॥ रक्तक[1], पत्रक[2], और पत्रि[3], सबही मन भावैं। मधुकण्ठौ[4], मधुवर्त्त[5], रसाल[6], बिशाल[7], सुहावैं॥ प्रेमकन्द[8], मकरन्द[9], सदा आनन्द[10], चन्द्रहासा[11]। पयद[12], बकुल[13], रसदान[14], सारद[15] बुद्धिप्रकासा[16]॥ सेवासमय बिचारिकै, चारु चतुर चितकी*लहैं। ब्रजराज सुवन सँग सदन बन, अनुग सदा तत्पर रहैं॥ २३॥ (१६१)

वार्तिक तिलक।

ब्रजराज श्रीनन्दजी के पुत्र श्रीकृष्णचन्द्रजी के साथ साथ घर में और सब वन में ये सब षोडश सेवक सदा सेवा में तत्पर रहते हैं। (१) रक्तकजी (२) पत्रकजी, तथा (३) पत्रीजी, ये तीनों प्रभु के मन में भाते हैं; (४) मधुकण्ठजी (५) मधुवर्त्तजी (६) रसालजी (७) बिशालजी, प्रभु को बहुत सुहाते हैं; (८) प्रेमकन्दजी (९) मकरन्द-जी (१०) सदा आनन्दजी (११) चन्द्रहासजी (१२) पयदजी (१३) बकुलजी (१४) रसदानजी (१५) शारदजी और (१६) बुद्धिप्रकाशजी। ये सोलहो चारु चतुर अनुग अपनी अपनी सेवा का समय विचारके श्रीनन्दनन्दनजी के चित्त की रुचि को जान लेते हैं, सोई सोई सेवा किया करते हैं॥

इनके भाग्य की बड़ाई किससे हो सकती है? ॥

*"चित की लहैं"=मन की रुचि को समझ जाते हैं।

(१७१) सप्तद्वीप के भक्त

(१२६) छप्पय। (७१७)

सप्तदीप में दास जे, ते मेरे सिरताज॥ जम्बू, और पलपच्छ, सालमलि, बहुत राजऋषि। कुश, पवित्र, पुनि क्रौंच, कौन महिमा जानै लिषि॥ साक बिपुल विस्तार, प्रसिधनामी अति पुहकर। "पर्वत लोकालोक" ओक* "टापू कंचनधर"॥ हरिभृत बसत जे जे जहाँ, तिन सों नित प्रति काज। "सप्तदीप" में दास जे ते मेरे सिरताज†॥ २४॥ (१६०)

वार्त्तिक तिलक।

सातो द्वीपों में जितने श्रीभगवद्दास जहाँ २ हैं सो सब, मेरे मस्तक के मुकुट हैं (१) जम्बूद्वीप (२) प्लक्षद्वीप (३) शाल्मलि द्वीप इनमें बहुत से राजर्षि भगवद्भक्त हैं; (४) परमपवित्र कुशद्वीप तथा (५) क्रौंचद्वीप में जो भक्तसमूह हैं तिनकी महिमा जो अनेक पुराणों में लिखी हुई है सो कौन जान सकता है (६) बहुत विस्तारवाला शाकद्वीप और (७) उससे भी अतिप्रसिद्ध नामी बड़ा पुष्करद्वीप; तथा लोकालोक पर्वत एवं कांचनधर टापू ‡ के स्थानों और आश्रमों में जहाँ-जहाँ जो-जो, श्रीभगवत् के सेवक बसते हैं उन्हीं से नित्य ही मेरा प्रयोजन है; वे ही मेरे शीश के मुकुटमणि हैं॥

चौपाई।

"मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम के दासा॥"

१ जम्बूद्वीप+	५ क्रौंचद्वीप
२ प्लक्षद्वीप	६ शाकद्वीप
३ शाल्मलिद्वीप	७ पुष्करद्वीप
४ कुशद्वीप	(इति "सप्तद्वीप"

* "ओक"=स्थान, आश्रम॥ † "ताज"=टोपी, मुकुट। ‡ "कांचनधर"=टापू तथा "लोकालोक पर्वत," इन सातों द्वीपों से बाहर हैं॥ + अपना यह "भारतवर्ष" देश, (भरतखंड) जम्बूद्वीप ही में है।

प्रथम (जम्बू) द्वीप से दूसरा दूना है, उससे उत्तर उत्तर दूना। अर्थात् द्वितीय से

(१७२) जम्बूद्वीप के भक्त।

(१२७) छप्पय। (७१६)

मध्यदीप नवखंड में, भक्त जिते, मम भूप॥
इलावर्त्त, अधीस संकर्षन, अनुगसदाशिव। रमनक, मछ,*मनु दास; हिरन्य, कूरम, अर्जम इव॥ कुरु, बराह भूमृत्य; बर्ष हरि, सिंह, प्रह्लादा। किंपुरुष, राम, कपि; भरत, नरायन, बीना नादा†॥ भद्रासु ग्रीवहय, भद्रस्रव; केतु, काम, कमला अनूप।‡ मध्यदीप नवखंड में, भक्तजिते, मम भूप॥ २५॥ (१८९)

वार्तिक तिलक।

मध्यद्वीप अर्थात् "जम्बूद्वीप" के नवो खण्डों में जितने श्रीभगवत् के भक्त हैं, वे सब मेरे राजा हैं, (मैं उन सबका सुयश कहनेवाला बन्दी हूँ)॥

नवोखण्डों के अधीश्वर भगवद्रूपों के, तथा उनके मुख्य भक्त सेवकों के नाम कहते हैं। (१) इलावर्तखण्ड के अधिपति भगवान् श्रीसंकर्षणजी हैं, और उनके सेवक श्रीसदाशिवजी हैं; (२) रमणकखण्ड के स्वामी श्रीमत्स्य भगवान् और उनके भृत्य श्रीमनुजी (सत्यव्रत); एवं (३) हिरण्यखण्ड के अधीश्वर श्रीकूर्म भगवान्, और उनके दास श्रीअर्यमाजी (४) कुरुखण्ड के पति श्रीवाराह भगवान् और उनकी सेवा करनेवाली श्रीभूमिदेवीजी; (५) हरिवर्षखण्ड के स्वामी, भगवान् श्रीनृसिंहजी, और उनके भृत्य भक्तराज श्रीप्रह्लादजी; (६) किम्पुरुषखण्ड के महाराज, स्वयं श्रीसीतापति रामचन्द्रजी; और आपके प्रियदास, कपिनायक-श्रीहनुमान्जी हैं; (७) भरतखण्ड के पालक बदरिकाश्रमवासी श्रीनारायणजी और उनके पुजारी वीणा-नाद-कारी श्रीनारदजी; (८) भद्राश्वखण्ड के ईश्वर श्रीहयग्रीव भगवान्, और

तृतीय दूना; नाम प्रथम से चौगुना है; एवं चौथा प्रथम से आठगुना बड़ा है; पाँचवाँ सोलहगुना, छठा बत्तिसगुना और सातवाँ (पुष्कर) द्वीप प्रथम (जम्बू) द्वीप से चौंसठ-गुना बड़ा है॥

प्रत्येक द्वीप में शतावधि योजन का एक एक वृक्ष है, सो उसी के नाम से वह द्वीप भी पुकारा जाना है जैसे (१) जामुन, (२) पाकड़ि, (३) सेमर, कुश, इत्यादि का।

*"मछ" मत्स्य, मच्छ, मीन। † "बीनानाद" श्रीनारदजी। ‡ "मध्यदीप" जम्बूद्वीप।

उनके सेवक श्रीभद्रश्रवाजी; (६) केतुमालखण्ड के स्वामी श्रीकामदेव भगवान् और उनकी पूजा करनेवाली उपमारहित श्रीकमलाजी हैं ॥

संख्या	जम्बूद्वीप के नवो खण्ड	अधीश भगवान्	पुजारी
१	इलावर्त्तखंड	संकर्षण भगवान्	सदाशिव
२	रमणकखंड	मत्स्य भगवान्	श्रीमनुजी
३	हिरण्यखंड	कूर्म भगवान्	श्रीअर्यमाजी
४	(उत्तर) कुरुखंड	वाराह भगवान्	श्रीभूदेवीजी
५	हरिवर्षखंड	नृसिंह भगवान्	श्रीप्रह्लादजी
६	किम्पुरुषखंड	श्रीसीतारामी	श्रीहनुमान्जी
७	भरतखंड❋	श्रीलक्ष्मीनारायणजी	श्रीनारदजी
८	भद्राश्वखंड	हयग्रीव भगवान्	श्रीभद्रश्रवाजी
६	केतुमालखंड	कामदेव भगवान्	श्रीलक्ष्मीजी

इसी (किम्पुरुष) खण्ड ही में महारानी श्रीमिथिलेशललीजी की, तथा श्रीजानकी-जीवन की सेवा, श्रीसीताअंजनीदुलारेजी कई ("कपिमहावीर," "श्रीरामदूत," "श्रीमारुतिवीर कला," "श्रीचारुशीला," इत्यादिक,) रूप से सदैव करते हैं। एवं, वहीं मुमुक्षु जनों को श्रीकेशरीनन्दन कपीशजी, श्रीरामायणीय कथा और श्रीसीतारामाराधन सिखला के मुक्त कराते हैं ॥

❋ (अथ देशकाल) यह तो विदित है ही कि हम सब इसी खण्ड (जम्बूद्वीप भरतखण्ड) के आर्य्यावर्त्त देश में हैं। भरतखण्ड को "भारतवर्ष" भी पुकारते हैं; तथा इसी को विदेशी "हिन्दोस्तान" هندوستان एवं "इण्डिया" India भी कहते हैं। और यह मन्वन्तर जिसमें हम सब वर्त्तमान हैं "वैवस्वत मन्वन्तर" है।

इस मन्वन्तर के अट्ठाईसवें चतुर्युग का यह "कलियुग" है; जिसके ४३२००० वर्षों में से केवल प्रथम ही चरण का ५००५ [पाँच सहस्र पाँचवाँ] संवत्सर, अर्थात् विक्रमी संवत् १६६१ यह है, अस्तु ॥ (जिस समय यह लिखा जाता है) ।

इन्हीं श्रीवैवस्वत मनुजी के वंश में "श्रीदशरथ चक्रवर्तीजी" हुए, जिनके पुत्र हो स्वयं साकेतविहारी शार्ङ्गधर श्रीसीतापति रामचन्द्र महाराजजी प्रगट हुए हैं ॥

४७वें पृष्ठ प्रथम छप्पय (पाँचवें मूल) में ग्रन्थकर्त्ता स्वामी मन्वन्तरों की वन्दना कर आए हैं, जिनमें से श्रीवैवस्वत मनुजी [वर्त्तमान] की वन्दना, आप आठवी षट्पदी नाम बारहवें मूल [पृष्ठ १७६] में करते हैं।

(१२८) छप्पय। (७१५)

स्वेत दीप में दास जे, श्रवण सुनो तिनकी कथा॥ श्रीनारायण (को)* बदन निरन्तर ताही देखैं। पलक परै जो बीच कोटि जमजातन लेखैं॥ तिनके दरशन काज गए तहँ बीणाधारी। श्याम दई कर सैन उलटि अब नहिं अधिकारी॥ नारायण आख्यान दृढ़, तहँ प्रसंग नाहिन तथा। स्वेत दीप में दास जे, श्रवण सुनो तिनकी कथा॥२६॥ (१८८)

वार्त्तिक तिलक।

"श्वेतद्वीप" में जो श्रीभगवान् के दास बसते हैं, तिनकी कथा कान लगाके सुनिये। वे दास, श्वेतद्वीपवासी श्रीमन्नारायण के मुखचन्द्र को सदा देखा ही करते हैं, और नेत्रों में जो पलक पड़ते हैं उस अन्तर को कोटिन यमयातना के सरीखा दुःख मानते हैं।

उन भगवत् दर्शनानन्द-निष्ठों के दर्शन तथा ज्ञानोपदेश करने के हेतु वीणाधारी श्रीनारदजी गए, तब श्रीमन्नारायणजी ने श्रीनारदजी के मन की रुचि जानके, हाथ के सैन से निवारण किया कि "आप उलटे पाँव फिर जाइये, ये हमारी रूप-माधुरी के निष्ठ लोग आपके ज्ञानोपदेश के अधिकारी नहीं हैं॥

नारायण की रूपासक्ति प्रेमाभक्ति का आख्यान जैसा वर्णित है सोही वहाँ के भक्तों को भली भाँति दृढ़ है। जैसी अन्यत्र के भागवतों की ज्ञान-मिश्रा भक्ति में प्रवृत्ति है, वैसा प्रसंग श्वेतद्वीप में नहीं है, वहाँवाले तो केवल शुद्ध माधुर्य्य रूप के ही प्रेमा उपासक हैं॥

(१७३) श्वेतद्वीप के भक्त।

(१२९) टीका। कवित्त।

श्वेतदीपबासी, सदा रूप के उपासी; गए नारद बिलासी, उपदेश आसा लागी है। दई प्रभु सैन जिनि आवो इहि ऐन, दृग देखैं सदा चैन, मति गति अनुरागी है॥ फिरे दुखपाइ, जाइ कही श्रीबैकुण्ठनाथ,

* 'को' किसी ने बढ़ाया मूल में नहीं॥

साथ लिए चले लखोभक्ति अंग पागी है। देख्यो एक सर, खग रह्यो ध्यान धरि, ऋषि पूछैं कहो हरि, कह्यो "बड़ो बड़ भागी है"॥ १०३ ॥ (५२६)

वार्त्तिक तिलक।

श्वेतद्वीप के वासी भक्तजन सदा श्रीभगवत्रूप ही के उपासक हैं; वहाँ एक समय ज्ञानोपदेश करने की आशा करके सत्संगविलासी श्रीनारदजी गए; उनके मन की गति जानके प्रभु ने सैन से आज्ञा की कि "इस स्थान में मत आओ, क्योंकि ये भक्त हमारे रूप अनूप ही को देखकर परम आनन्द मानते हैं, और रूप ही के अत्यन्त अनुरागी हैं, इनको अब ज्ञान उपदेश का प्रयोजन नहीं है॥"

यह सुन, उदास होके, श्रीनारदजी फिरे, और श्रीवैकुण्ठनाथ भगवान् के यहाँ जाके सब वार्त्ता निवेदन की। भगवान् बोले कि "ठीक तो है;" और उनको अपने साथ ले चलके कहा कि "चलो, हम दिखा दें कि यथार्थ में उन भक्तों के अंग अंग रोम रोम सब प्रेमभक्ति से पगे हैं॥"

दोनों श्वेतद्वीप में पहुँचे। वहाँ एक सरोवर में एक भक्त पक्षी प्रभु का ध्यान धरे हुए बैठा था; देखके श्रीनारदजी ने श्रीवैकुण्ठनाथजी से प्रश्न किया कि "प्रभो! यह खग ऐसा शान्त क्यों बैठा है?" श्रीहरि ने उत्तर दिया कि "यह भक्त खग अति बड़भागी है॥"

(१३०) टीका। कवित्त।

बरष हजार बीते, भए नहीं चिनचीते[1], प्यासोई रहत, ऐपै पानी नहीं पीजिये। पावै जो प्रसाद जब जीभसो सवाद लेत, लेतनहीं और, याकी मति रस भीजिये॥ लीजै बात मानि, जल पान करि डारिदियो, लियो चोंच भरि, दृग भरि बुधि धीजिये। अचरज देखि, चष लगै न निमेष[2] किहूँ चहूँ दिशि फिर्‍यो[3]; अब सेवा याकी कीजिये॥ १०४ ॥ (५२५)

वार्त्तिक तिलक।

"नारद! देखो, इसको एक सहस्र (१०००) वर्ष बीत गए, इसके

१ "नहीं चिनचीते"=चित चिन्ता नहीं, ध्यान न दिया। २ "लगै न निमेष"=एकटक। ३ "चहूँ दिशि फिर्‍यो"=परिक्रमा करके, प्रदक्षिणा की।

चित्त में चिन्ता नहीं, यह इतने दिनों से प्यासा ही रहता है परन्तु जल नहीं पीता, केवल मेरे ध्यानामृत ही से जीता है; क्योंकि जब यह मेरा प्रसाद पाता है तबही जीभ से खानपान का स्वाद लेता है; इसकी मति भक्तिरस में ऐसी भीग गई है कि प्रसाद विना और वस्तु का ग्रहण ही नहीं करता। मेरी इस बात को सत्य मानो; देखो मैं प्रसाद करके जल इसको देता हूँ, उसको पियेगा।" प्रभु ने आप जल पीके प्रसाद उसके आगे रख दिया, तब तुरन्त ही उसने भर चोंच पान कर लिया; प्रेमानन्द का जल भी उसकी आँखों में भर आया तथा अधरामृत के स्वाद से मति प्रसन्नता से पूर्ण हो गई॥

श्लोक "यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
ते त्वघं भुञ्जते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥"

(गी० ३। १३)

"वैष्णवे भगवद्भक्तौ प्रसादे हरिनाम्नि च।
अल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥"

इस आश्चर्य्य भक्ति को देखके श्रीनारदजी के नेत्रों में किसी प्रकार से निमेष नहीं पड़े उसकी ओर देखते ही गए; फिर चारो ओर फिर करके उसकी प्रदक्षिणा की। और प्रभु से बोले कि "मेरा तो जी चाहता है कि मैं इसकी सेवा किया करूँ॥"

(१३१) टीका। कवित्त। (७१२)

चलो आगे देखौ, कोऊ रहै न परेखौ[1]; भाव भक्ति करि लेखौ[2], गए द्वीप; हरि गाइये। आयो एक जन धाई, आरती समय बिहाई, खैंचि लिये प्राण, फिरि बधू याकी आइये॥ वही इन कही, पति देख्यो नहीं मही पर्‍यो; हर्‍यो याको जीव, तन गिर्‍यो; मन भाइये। ऐसे, पुत्र आदि आए, साँचे हित में दिखाए, फेरिके जिवाए, ऋषि गाए चित लाइये॥ १०५॥ (५२४)

वार्त्तिक तिलक।

यह सुन श्रीभगवान् बोले कि "चलो, अभी, आगे और देखौ; कोई परीक्षा रह न जाय, जिसमें उन भक्तों की सब दशा देखके

१ "परेखौ"=जाँच, परचो, परीक्षा। २ "लेखौ"=लेखा करो, मानो, गिन्ती में लाओ॥

तुम भावपूर्वक उनकी भक्ति को लेखा में लाओ" यों बातें करते हुए उस (श्वेत) द्वीप के मध्य मन्दिर में दोनों गए कि जहाँ सब भक्त लोग हरि के गुण और नाम ही प्रेम से गा रहे हैं॥

देखते क्या हैं कि एक आर्ती दर्शन का नेमी दौड़ता हुआ आया, परन्तु आर्ती का समय बीत गया था। आर्ती का दर्शन न पाने के विरह से उसने प्राण को खींचके छोड़ ही दिया॥

उसके पीछे ही उसकी धर्मपत्नी भी आई और पूछने लगी कि "क्या आर्ती हो गई?" आपने कहा कि "हाँ, हो गई बरन् तेरे पति को भी दर्शन नहीं हुआ! देख, प्राणत्याग के धरती पर गिरा पड़ा है। आर्तीविरह ने इसके भी प्राण हर लिये, उसका भी मृतक शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा॥"

इन दोनों का नेम प्रेम देख प्रभु के और नारदजी के मन में यह अत्यन्त भाया॥

इसी प्रकार से उनके पुत्रादि सब आए और आर्ती के दर्शन विना प्राण त्याग त्याग गिर गिर पड़े॥

इस भाँति प्रभु ने इन सच्चे भक्तों का प्रेम नेम नारदजी को दिखाया; जिससे श्रीनारदजी को प्रबोध हुआ॥

पुनः जब आर्ती होने लगी तो उस समय प्रभु ने उन सबको सजीव कर आर्तीदर्शन का आनन्द दिया॥

यह आख्यान "श्वेतद्वीप-माहात्म्य" में ऋषियों ने गाया है। इनके प्रेम भक्ति में सबको चित्त लगाना चाहिये॥

---

(१७४) ? अष्टकुल नाग।

(१३२) छप्पय। (७११)

उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति॥ इलापत्र[१] मुख अनन्त[२] अनन्तकीरति बिसतारत। पद्म[३], संकु[४], पनप्रगट ध्यान उरते नहिं टारत॥ अंशुकम्बल[५], बासुकी[६]

---

१ "श्वेतद्वीप" को भूमंडल पर एक वैकुण्ठ ही जानिये॥

अजितआज्ञा अनुवरती। करकोटक तक्षक सुभट सेवा सिर धरती॥ आगमोक्त शिवसंहिता "अगर" * एकरस भजन रति। उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति॥ २७॥ (१७७)

वार्त्तिक तिलक।

इन अष्टकुली महासर्पों की श्रीभगवत् के धाम में स्थिति है, श्रीहरिमन्दिर के द्वारपालक हैं, और निज निज सेवा में सदा सावधान रहते हैं--

(१) एलापत्रजी, और (२) अनन्त (शेष) जी, अपने मुखों से श्रीअनन्त (श्रीभगवान्) की कमनीय कीर्ति विस्तारपूर्वक सदा वर्णन करते हैं। (३) पद्मजी तथा (४) शंकुजी की प्रतिज्ञा (पन) प्रगट है कि श्रीप्रभु के स्वरूप का ध्यान निज हृदय से क्षणमात्र नहीं टारते हैं (५) अशुकम्बलजी और (६) वासुकीजी श्रीअजित् महाराज की आज्ञा के सर्वदा अनुवर्त्ती रहते हैं। (७) कर्कोटकजी तथा (८) तक्षकजी ये दोनों सुभट श्रीप्रभु की सेवारूपी भूमि अपने शीश पर निरन्तर धारण किये रहते हैं॥

स्वामी श्रीअग्रदेवजी कहते हैं कि यह "शिवसंहितातंत्र (आगम)" में कहा गया है, ये अष्टकुली महानागों की श्रीभगवत् के भजन में सदा एकरस प्रीति (रति) रहती है॥

श्लो॰ " * * * *

"तेषां, प्रधानभूतास्ते, शेषं, वासुकि, तक्षकाः
शंखः, श्वेतो, महापद्मः कम्बलाश्वतरौ तथा। } ॥ १॥

* श्रीअग्रस्वामी का यह छप्पय मंगल जान श्रीनाभाजी ने यहाँ रक्खा है अथवा भक्तमाल के सतयुग त्रेता द्वापर नाम पूर्वार्द्ध के अन्त में स्वयं श्रीनाभाजी ने ही अपने गुरु श्रीअग्रस्वामी का छाप रक्खा है, अस्तु।

एलापत्र[9]स्तथा नागः[10], कर्कोटक[11]धनंजयौ[12] ॥ २ ॥"

[विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय २१]

इनकी चर्चा "श्रीरामतापिनीयोपनिषद्" में भी है ॥

१. एलापत्र	७. कर्कोटक
२. अनन्त [शेष]	८. तक्षक
३. महापद्म	९. धनंजय
४. अश्वतर	१०. नाग
५. कंबल	११. श्वेत
६. वासुकि	१२. शंख

प्रिय पाठक! आप सब धर्मशीलों के गृह गृह सब यज्ञादिकों में पुरोहित लोग अवश्य ही "अष्टकुली नाग" की (और और देवतों के समूह में) पूजा करते कराते हैं; वे नाग ये ही हैं जिनकी वन्दना प्रार्थना श्रीग्रन्थकार स्वामी श्रीभक्तमाल के इस पूर्वखण्ड के अंत में कर रहे हैं ॥

अंत में इसलिये कि ये "द्वारपाल" हैं; इनकी कृपा बिना भीतर प्रवेश नहीं हो सकता; भीतर जानेवाले को प्रथम आपही की कृपा की आवश्यकता होती है ॥

चित्रमय तथा मन्त्रमय "श्रीयन्त्रराज" का दर्शन अवश्य कीजिये; देखिये कि यन्त्र कोट के बाहर ये द्वादश उरग कैसे शोभते विराजते हैं ॥

श्रीअयोध्याजी में "यन्त्रराजजी" कई ठिकाने नित्य पूजे जाते हैं श्रीजानकीघाट के स्वामी श्री १०८ पंडित रामवल्लभाशरण महाराजजी, श्रीहनुमन्निवास के महात्मा श्रीगोमतीदासजी महाराज, श्रीकनक-

---

अनुमान से ऐसा निश्चय होता है कि इस षट्पदी (छप्पय १८७) "अगर एकरस भजन रति। उरग अष्ट" अपने गुरु स्वामी श्री १०८ अग्रदेव कृत को, श्रीनाभास्वामीजी ने अति मंगल जानकर अंत में यहाँ स्थापन किया है जैसे आदि में प्रथम षट्पदी पाँचवें मूल छप्पय की भी है ॥

"पायो जिन राम तिन प्रेमही ते पायो है" ॥

भवन के श्रीसीताशरणजी महाराज तथा छपरे जानकीनगर के वकील अयोध्यावासी श्रीदुर्गाप्रसादजी (जिनके पुत्र बाबू हरनारायणप्रसाद वकील हाई कोर्ट), और अपहर ग्राम के वकील बाबू श्रीसूर्य्यप्रसादजी वकील (जिनके आत्मज बाबू मदनमोहनसिंह मोदमणि कवि), गोदना श्रीअहल्यास्थान, इन सब जगहों में दर्शनी "श्रीयन्त्रराजजी" विराजते हैं॥

"धन्य ते नर यहि ध्यान जे रहत सदा लवलीन ॥"

प्रार्थना—पाठक महोदय ! "श्रीभक्तिरसबोधिनी" टीका कवित्तों की भाषा समझना इस दीन को अति कठिन है तिस पर तिलक लिखना तो और भी कठिनतर है—

"बाल मराल कि मन्दर लेहीं"

श्रीगुरुदेवों की ही कृपा से जैसा तैसा लिखा है, भूल चूक सज्जन सुधार लेंगे ॥

इति पूर्वार्द्ध सतयुग, त्रेता, द्वापर पर्यन्त.
(दोहे ४, छप्पय २३, मूल २७, टीका कवित्त १०५, जोड़ १३२) ॥

S. R. S. B. P. R. K.

* श्रीः *

श्रीसीताराम
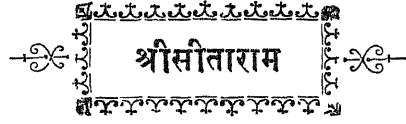
श्रीहनुमते नमः । श्रीमते रामानन्दाय नमः । श्रीप्रेमनिधये नमः । श्रीचन्द्रकलायै नमः । श्रीश्यामनायिकायै नमः । श्रीहंसकलायै नमः ॥

अथ श्रीभक्तमाल सटीक

(तथा सतिलक)
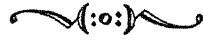
अथ उत्तरार्द्ध

(कलियुग भक्तावली, विक्रमीय सत्रहवीं शताब्दी तक)

(१३३) छप्पय । (७१०)

चौबीस प्रथम हरि बपु धरे*, त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट ॥ "श्रीरामानुज"[1] उदार, सुधानिधि, अवनि कल्पतरु। "विष्णु स्वामि"[2] बोहित्थ सिन्धुसंसार पार करु॥ "मध्वाचारज"[3] मेघ भक्ति सर ऊसर भरिया। "निम्बादित्य"[4] आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया॥ जनम करम भागवत धरम सम्प्रदाय † थापी अघट । चौबीस

* "बपुधरे"=अवतार लिये, अवतीर्ण हुए, प्रगटे । † "थापी" = स्थापित किया ॥

प्रथम हरि वपु धरे, त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट ॥२८॥(१८६)

वैष्णव चारो सम्प्रदाय।

(१३४) दोहा। (७०६)

"रमा" पद्धति रामानुज; विष्णु स्वामि "त्रिपुरारि"। निम्बादित्य, "सनकादिका;" मधुकर, गुरु "मुख चारि" ॥ २९ ॥ * (१८५)

१ श्री "श्री" सम्प्रदाय=श्रीरामानुज रामानन्द स्वामी सम्प्रदाय
२ श्रीशिव सम्प्रदाय=श्रीविष्णुस्वामी सम्प्रदाय
३ श्रीसनकादिकसम्प्रदाय=श्रीनिम्बार्कस्वामी सम्प्रदाय
४ श्रीब्रह्म सम्प्रदाय=श्रीमध्वाचार्य्य सम्प्रदाय

वार्त्तिक तिलक।

(१) यतीन्द्र स्वामी श्री ६ रामानुज महाराजजी भाष्यकार, बड़े ही उदार, श्रीसीतारामभक्तिरूपी अमृत के सागर, कल्पवृक्ष के समान जगत् में सर्वकामप्रद।

(२) श्रीविष्णु स्वामीजी महाराज, संसारसमुद्र से पार करनेवाले दीर्घ नाव (जहाज़)।

(३) श्रीमध्वाचार्य्यजी महाराज, ऊसर के सूखे सर समान जीवों के हृदय में श्रीभक्तिरूपी जल वर्षा करके भरनेवाले घन; और—

* पाँचवाँ दोहा (वा उन्तीसवाँ मूल) यही दोहा है ॥

नोट—नास्तिक संसार को श्रीभगवत् ने शंकराचार्यजी के द्वारा आस्तिक और सनातन धर्मनिष्ठ स्मार्त बनाया और फिर कृपा करके श्रीविष्णुस्वामी, श्रीनिम्बार्कस्वामी, श्रीमध्वस्वामी, श्रीरामानुजस्वामी और श्रीरामानन्दस्वामी इन पाँचों आचार्यों के द्वारा स्मार्तों और अद्वैतवादियों में से भी बहुतों को भागवत बनाने की कृपा की, जिनकी कथायें सत्रहवीं शताब्दी तक की इस भक्तमाल में हैं ॥

टिप्पणी—कलियुग में अनेक सम्प्रदाय और पंथ होते जानकर, गोस्वामी श्रीनाभाजी ने केवल वैष्णव भक्तों की ही "नाममाला" लिखी, इसलिये नानकपंथी, उदासी, इत्यादिक महात्मा अपने मन में कुछ और न समझें ॥

(४) श्रीनिम्बार्कजी महाराज, जनों के अज्ञानरूपी कुहेसे को नाश करके उनके हृदय में ज्ञान तथा भक्ति प्रकाश करनेवाले सूर्य्य; भागवत जन्म, भागवत कर्म, भागवतधर्म, तथा भगवत् धर्म्मों के चारों सम्प्रदाय, आप ही चारों के स्थापित किये हुए अचल हैं ॥

जैसे भगवान् पहिले चौबीस रूप से अवतरे, वैसे ही भगवत् ही कलियुग में इन चारों आचार्य्यरूप प्रगट हो चारों भागवत सम्प्रदाय स्थापन किये हैं ॥

स्वामी श्रीरामानुज की पद्धति, श्रीलक्ष्मीजी की और श्रीविष्णुस्वामी जी की पद्धति श्रीशिवजी की है। श्रीनिम्बार्क पद्धति के आचार्य्य श्रीसनकादिक हैं; और श्रीमध्वाचार्य्यजी का मार्ग श्रीगुरु ब्रह्माजी की पद्धति है ॥

---

(१) श्रीनिम्बादित्यजी।

(१३५) टीका। कवित्त। (७०८)

निम्बादित्य नाम जाते भयो अभिराम कथा, आयो एक दंडी ग्राम, न्योतो करी, आए हैं। पाक को अबार भई, संध्या मानिलई जती, "रतीहूँ[1] न पाऊँ" वेद वचन सुनाए हैं॥ आँगन में नींब, तापै आदित दिखायो वाहि, भोजन करायो, पाछे निशि चिह्न पाए हैं। प्रगट प्रभाव देखि, जान्यो भक्ति भाव जग, दाँव[2] पाइ, नाँव पस्यो, हस्यो मन, गाए हैं॥ १०६ ॥ (५२३)

वार्त्तिक तिलक।

भागवतधर्मप्रचारक स्वामी श्रीनिम्बादित्य (निम्बार्क) जी के ग्राम में एक समय एक दंडी स्वामी आए; आपने उनका न्योता किया, संन्यासीजी इनके स्थान में आए। शिष्टाचार तथा रसोई में संध्या (वरंच अधिक विलम्ब) हो गई; यतीजी ने वेद वचन का प्रमाण देकर कहा कि "रात्रि में रतीमात्र भी मैं पाता नहीं हूँ॥"

यह सुन, आपको दया आई कि 'मेरे रामजी के यहाँ अतिथि उपवास करे (और मेरी ही असावधानता से!)' यह विचारकर आपने

---

१ "रत्ती"=$\frac{1}{8}$ माशा॥ २ "दाँव"=पेच, अवसर, अवकाश, सन्धि, सुगमता

कहा कि इस आँगन में जो "निम्ब" का वृक्ष है, उस पर देखिये कि अभी ("अर्क" वा "आदित्य") अर्थात् सूर्य्य देव विराजते हैं, और ऐसा ही देखाके दंडीजी को सन्तुष्टतापूर्वक प्रसाद पवा दिया। पीछे, (दो तीन घड़ी) रात्रि के चिह्न पाकर, दंडीजी ने आपका प्रभाव प्रकट देखा; तथा जगत् में सर्वत्र इनकी भक्तिभाव की दाव एवं महिमा प्रख्यात हो गई, और इसीसे आपका यह नाम (निम्बार्क) विख्यात हुआ॥

इसी से मेरा मन हर गया, और मैंने श्रद्धापूर्वक आपका यश गान किया॥

आप दक्षिण में "श्रीगोदावरी गंगा" के तट "मुँगेर" नाम के ग्राम के वासी महाराष्ट्र ब्राह्मण "अरुणजी" और माता "जयन्तीजी" के पुत्र हैं॥

भगवान् ने "श्रीहंस" अवतार लेके श्रीसनकादिक को उपदेश किया और श्रीसनकादिक से श्रीनारदजी ने पाया, जिससे यह सम्प्रदाय "सनकादिक सम्प्रदाय" कहलाता है; उसी को स्वामीजी ने श्रीनारदजी से पाके प्रचलित किया; जिससे वही श्रीनिम्बार्क (निम्बादित्य) सम्प्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। गोलोकवासी श्रीकृष्ण भगवान् की माधुर्य्य उपासना इस संप्रदाय की मुख्य बात है। आपकी गादी (१) अरुण और (२) सलेमाबाद इत्यादि नगरों में हैं॥

निम्बाक सम्प्रदाय तथा श्री श्रीसम्प्रदाय की "श्रीगुरुपरम्परा" आगे देखिये—

१ श्रीनारायणजी
२ श्रीलक्ष्मीजी
३ श्रीविष्वक्सेनजी
४ श्रीशठकोपजी
५ श्रीवोपदेवजी
६ श्रीनाथमुनिजी
७ श्रीपुण्डरीकाक्षजी
८ श्रीराममिश्रपरांकुशजी
९ श्रीयामुनाचार्यजी
१० श्रीपूर्णाचार्यजी
११ श्रीभाष्यकार स्वामी रामानुजजी

१ श्रीहंसभगवान्जी
२ श्रीसनकादिकजी
३ श्रीनारदजी
४ श्रीनिम्बादित्यजी

(२) स्वामी अनन्त श्रीरामानुजजी।

(१३६) छप्पय। (७०७)

सम्प्रदायशिरोमणि "सिन्धुजा"[१] रच्योभक्तिवित्तान॥ "विस्वकसेन"[२] मुनिवर्य्य, सुपुनि "सठकोप"[३] प्रनीता। "वोपदेव"[४] भागवत लुप्त उधर्यो नवनीता॥ मङ्गल मुनि "श्रीनाथ"[५] "पुण्डरीकाच्छ"[६] परमजस। "राममिश्र"[७] रस रासि; प्रगट परताप "परांकुस"[८]॥ "यामुन मुनि"[९] "रामानुज"[१०] तिमिर हरन उदय भान। सम्प्रदायशिरोमणि सिन्धुजा रच्यो भक्तिवित्तान॥ ३०॥ (१८४)

(१३७) छप्पय। (७०६)

सहस्र आस्य उपदेश करि, जगत*उधारन जतन कियो॥ गोपुर ह्वै आरूढ़, ऊँच स्वर, मन्त्र उचार्यो। सूते नर परे जागि, बहत्तरि श्रवणनि धार्यो॥ तितनेई गुरुदेव पधति भई न्यारी न्यारी। कुरुतारक शिष्य प्रथम भक्ति वपु मंगलकारी॥ कृपणपाल करुणा समुद्र, "रामानुज" सम नहिं बियो। सहस्र आस्य उपदेश करि, जगत उधारन जतन कियो॥ ३१॥ (१८३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीसिन्धुजा नाम (श्रीलक्ष्मी) महारानीजी का सम्प्रदाय सब सम्प्रदायों का शिरोमणि, और संसारताप से बचाने के निमित्त भक्ति के मण्डप का चँदोत्रा रचा हुआ है। श्रीश्रीजी महारानी से श्रीविष्वक्सेनजी भगवत्पार्षद फिर उनसे पुण्यपुंज मनिवर्य्य नम्रता-नीति-शील "श्रीशठकोप" जी; श्री "वोपदेव" जी कि जिनने श्रीमद्भागवत-

* पाठान्तर=उद्धरन।

रूपी लुप्त मक्खन का उद्धार किया; मंगलस्वरूप "श्रीनाथमुनि" जी; तथा परम यशस्वी श्री "पुण्डरीकाक्ष" जी; भक्तिरस के राशि श्री "राममिश्र" जी; श्रीपरांकुशजी कि जिनका प्रताप प्रगट है; स्वामी श्री ६ "यामुनाचार्य्य" जी; तथा भाष्यकार स्वामी अनन्तश्री रामानुजजी कि जो ससार के मोहान्धकार हरनेवाले सूर्य्य उदय हुए ॥

ऊँचे गोपुर (बृहद्द्वारकोइल) पर चढ़के, अति उच्चस्वरसे, श्रीमन्त्रजी का उच्चारण किया, सोये हुए लोग जाग पड़े; बहत्तर ने अपने अपने श्रवण में रामकृपा से धारण किया; इसीसे उतनी ही अर्थात् बहत्तर न्यारी न्यारी पद्धतियाँ गुरुदेव की हुईं; जिनमें प्रथम शिष्य श्रीकुरुतारक (श्रीकुरेशजी) को मंगलकारी श्रीभक्तिप्रेमरूप ही जानिये। दीनपालक और करुणा के सागर स्वामी श्री १०८ "रामानुज" जी के सरिस दूसरा कोई नहीं। आपने सहस्र मुख से उपदेश करके जगत् के उद्धारार्थ उपाय (प्रयत्न) किया ॥

(१३८) टीका। कवित्त। (७०५)

आस्य[1] सो बदन नाम, सहस[2] हजार मुख, शेष अवतार जानो वही, सुधि आई है। गुरु उपदेशि मन्त्र, कह्यो "नीके राख्यौ" अन्त्र, जपतहि श्यामजू ने मूरति दिखाई है ॥ करुणानिधान कही "सब भगवत पावैं" चढ़ि दरवाजे सो पुकारयो धुनि छाई है। सुनि शिष्य लियो यों बहत्तर हि सिद्ध भए नए भक्ति चोज, यह रीति लैके गाई है ॥ १०७ ॥ (५२२)

वार्त्तिक तिलक।

आस्य नाम वदन (मुँह), सहस नाम सहस्र (१०००) यह जान लेना चाहिये कि आप सहस्र मुख श्रीशेष के अवतार हैं। श्रीगुरु "गोष्ठी पूर्णाचार्य्य" जी ने आपको मन्त्र देकर आज्ञा की कि "बड़े यत्न से अन्तःकरण में गुप्त तथा नीके रक्खो ॥"

जपते ही श्रीभगवान् श्यामसुन्दर श्रीरामचन्द्र ने दर्शन दिये। मन्त्र का यह प्रभाव देख, आपकी करुणा की लहर उठी, जीवों पर दया आई, जी में कहा कि सब लोग प्रभु को जिससे पावें सो मन्त्र सबको

१ "आस्य"=मुँह, बदन। २ "सहस"=१००० ॥

सुना देना चाहिये। यों विचारकर, रात के समय गोपुर (फाटक) पर चढ़ गए और वहाँ ही से चिल्लाके मन्त्रोच्चारण किया; अपूर्व ध्वनि छा गई ॥

यह शिक्षा पा, ७२ बहत्तर सिद्ध हो गए। "जिसे चाहे पिया सोती जगावे" ॥ प्रत्येक की पद्धति न्यारी न्यारी हुई। यह चोज, यह नई रीति गाने योग्य है कि उधर परहित के लिये आपने श्रीगुरु-आज्ञा-उल्लंघन पापभार अपने शीश पर धर लिया, और इधर भाव-ग्राही गुरु तथा भगवान् ने इससे अपनी अतिशय प्रसन्नता प्रगट की ॥

चौपाई ।

"रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की ॥"

(१३९) टीका। कवित्त। (७०४)

गए "नीलाचल"[1] जगन्नाथजू के देखिबे कों, देख्यो अनाचार, सब पंडा दूरि किये हैं। संग लै हजार शिष्य रंग[2] भरि सेवा करैं, धरैं हिये भाव गूढ़ दरसाई दिये हैं ॥ बोले प्रभु "वेई आवैं, करे[3] अंगीकार मैं तो; प्यार ही को लेत, कभूँ औगुन न लिये हैं"। तऊ दृढ़ कीनी; फिरि कही, नहीं कान[4] दीनी; लीनी बेद बाणी बिधि कैसे जात छिये[5] हैं ॥ १०८ ॥ (५२१)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीजगन्नाथजी के दर्शन के लिये (उड़ीसा, पुरुषोत्तमपुरी में) एक बेर आप सहस्र शिष्यों सहित गए वहाँ धोनेमाँजने तथा बरतन चौका आदिक विचार आचार का बड़ा अभाव पण्डों में देखकर, अनाचार को छुड़ाना चाहा; पण्डों को सेवा से अलग करके बड़े प्रेम से पूजा सेवा करने लगे; महानुभावों के भाव बड़े गूढ़ होते हैं, उनका कहना ही क्या है ॥

परन्तु सीधे पंडे दुखी हुए।

---

१ "नीलाचल"=नीलगिरि, उड़ीसा प्रदेश में, जिस पर श्रीजगन्नाथजी का मन्दिर है
२ "रंगभरि"=प्रेम में पूर्ण होके, पूरी प्रीति से, स्नेह में भरके। ३ "करे"=किये, कर चुके।
४ "नहीं कान दीनी,"=ध्यान नहीं दिया, उसके अनुसार चले नहीं। ५ "जात छिये हैं"=क्षय वा नष्ट किये जाते हैं ॥

नेम से अधिक प्रेम के चाहनेवाले प्रभु ने स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि "मैं पंडों को अंगीकार कर चुका हूँ मैं कदापि दोषों पर दृष्टि नहीं देता, प्रेम ही को ग्रहण किया करता हूँ; वे ही लोग आकर सेवा करें"॥

तब भी, आप अपने आचार की रीति में दृढ़ ही रहे। श्रीजगन्नाथजी ने पुनः पुनः आज्ञा की, पर आपने एक न सुनी; वरन प्रार्थना की कि प्रभो! देखिये आपकी सेवा-विधि वेद में कैसी वर्णित है, भला मैं उन्हें क्योंकर छोड़ सकता हूँ॥

(१४०) टीका। कवित्त। (७०३)

जोरावर[1] भक्त सों बसाइ नहीं, कही किती[2], रती[3] हूँ न लावैं मन चोज दरसायो है। गरुड़ को आज्ञा दई, सोई मानि लई उन, शिष्यनि समेत निज देश छोड़ि आयो है॥ जागि कै निहारे, ठौर और ही, मगन भए, दए यों प्रगट करि गूढ़ भाव पायो है। वेई सब सेवा करैं, श्याम मन सदा हरैं, धरैं साँचो प्रेम, हिय प्रभु जू दिखायो है॥ १०६॥ (५२०)

वार्त्तिक तिलक।

प्रेमयुक्तनेम का बल भी कैसा भारी है कि जिससे स्वयं प्रभु भी हार मान जाते हैं। प्रभु ने कितनी ही कही, परन्तु आपके प्रेमभरे हृदय में एक भी न लगी॥

अन्ततः श्रीजगन्नाथजी ने श्रीगरुड़जी को आज्ञा दी कि "इनको सब सेवकों सहित रात्रि ही में श्रीरंगपुरी पहुँचा आओ।" श्रीखगेशजी ने वैसा ही किया। नींद टूटी तो आपने सबको श्रीजगन्नाथपुरी में न पाकर श्रीरङ्गधाम में देखके, शीलसंकोचसिन्धु प्रभु के स्वभाव तथा गूढ़ भाव को देखकर, आप प्रेम में डूब गए॥

वहाँ, वे ही पंडा लोग फिर सेवापूजा करने लगे। सेवा के विरह-वियोग के अनन्तर जो पुनः सेवा की प्राप्ति हुई, इससे उनकी प्रीति दूनी हो गई। प्रभु को सदैव अपनी पूजा से अति ही प्रसन्न रखने लगे॥

---

१ "जोरावर"=बलवन्त, बली, प्रबल। २ "किती"=कितनी ही। ३ "रती"=रत्ती एक माशे का $\frac{1}{8}$ (आठवाँ) भाग, अति अल्प, कुछ भी नहीं।

स्वामी अनन्तश्रीरामानुजजी का समय—

	कलि	विक्रमी	ईसवी	शक	गत वर्ष
जन्म	४११८	१०७४	१०१७	९३९	७९७
परधाम	४२३८	११९४	११३७❀	१०५९	८८७ ‡
वर्त्तमान	५००५	१९६१	१९०४	१८२६	वय १२० वर्ष

"कल्यऽब्देषु प्रयातेष्वहहर्वमुनिशानाथंचंन्द्राब्धिसङ्ख्ये ष्वायाते पिंगलाब्दे सवितरि च गते मेषराशिं मृगांके ॥ आर्द्रास्थे कान्तिमत्यां हरितकुलमणेः केशवाख्यद्विजाग्र्याच्छ्रीमत्यां भूतपुर्यामथ, धरणितलेऽभूत्स रामानुजार्य्यः ❀ ॥ १ ॥"

("विष्णुचिह्न")

पिंगल नाम संवत्सर में मेष संक्रान्ति के पीछे आर्द्रा नक्षत्र में कान्तिमती माता के गर्भ से हारितगोत्री केशव नाम याज्ञिक ब्राह्मण से श्रीभूतपुरी में श्रीरामानुजजी प्रगट हुये ॥

भाष्यकार सम्प्रदाय शिरोमणि (श्रीलक्ष्मीपद्धति) के प्रसिद्धकर्त्ता संसारसागर के लिये दीर्घनाव, भक्तजनों के कल्पतरु, श्रीभक्तिरूपी भूमि को स्थिर रखने के लिये दिग्गज, भागवतधर्म के प्रचार तथा प्रकाश के हेतु सूर्य के समान, स्वामी अनंतश्रीयतीन्द्र रामानुज महाराजजी के रूप से श्रीशेषजी, भगवान् की आज्ञा से, पृथ्वी पर द्राविड़ देश में कांचीपुरी के पास श्रीकावेरीगंगा के तट "भूतनगरी" ग्राम

❀ आपके जन्म को "आठसौ वर्ष से अधिक (८८७) हुए"। ‡ ऐतिहासिक तत्ववेत्ता "हरप्रसाद शास्त्री एम्० ए०" ने भी ११३७ ही (ईसवी) आपके परधाम का समय लिखा है; "Dr.W.W.Hunter M.A." तथा "A.C Mukerji, M.A.;" मुन्शी श्रीतपस्वी रामजी, और "R.C.Datta;" इन सब ही ने "12th. century (ईसवी बारहवीं शताब्दी)" लिखी है ॥ Dr. W. W. Hunter; ने ११३७ की जगह सीधे-सीधे ११५० लिख दिया है; केवल १३ वर्ष मात्र का भेद (इतने में) भेद है क्या ? अपने ग्रन्थों से ११३७ ही ठीक है ॥

श्रीयतीन्द्रजी के यश श्री "प्रपन्नामृत" में देखिये ॥

श्रीहारीत ऋषीश्वर के वंश (गोत्र में,) "श्रीकेशवजज्वा" नामक याज्ञिक ब्राह्मण की धर्मपत्नी "श्रीकांतिमती" जी के गर्भ से पिंगल नाम संवत्सर में मेष संक्रान्ति के पीछे आर्द्रा नक्षत्र में चैत शुक्ल पंचमी गुरुवार को, अवतीर्ण हुए। श्रीकेशवजज्वाजी के गुरु श्री "शैलपूरण" जी ने आपके संस्कार किये कांचीपुरी में पंडित यादव गिरि से १६ सोलह वर्ष की अवस्था में वेदांत पढ़ते थे। उसी अवस्था में उनके पिता का वैकुण्ठ वास हुआ ॥

वहाँ के राजा की सुता एक ब्रह्मराक्षस से पीड़ित थी; राजा के बुलाने से यादव पंडित, अपने शिष्य श्री १०८ रामानुजजी समेत वहाँ गया। ब्रह्मराक्षस ने कहा "तुझसे मैं नही जाने का, पर यदि तेरे यह शिष्य श्रीरामानुजजी अपना चरणामृत मुझे दें तो मैं अभी इसको छोड़ दूँ"। राजा के विनय से श्रीस्वामीजी ने अपना चरणतीर्थ ब्रह्मराक्षस को दिया वह कृतकृत्य हो गया। लड़की सुखी हो गई।

इस बात में, और "कप्यास" शब्द के अर्थ निरूपण में, तथा अद्वैतमत के खंडन में आपका महा प्रभाव देख, मत्सर से भर, उक्त पण्डित यादव आपका शत्रु बरन आपके प्राण का गाहक हो गया। वह अपने एक निज शिष्य से सम्मति करके, चुपचाप त्रिवेणी में डुबा देने के निमित्त, आपको तीर्थ यात्रामिसु श्रीप्रयाग-जी ले चला।

आपके मौसेरे भाई "गोविन्दजी" भी उसी पण्डित से पढ़ते थे; श्रीरामकृपा से इनको उस दुष्ट पण्डित की गुप्त इच्छा जानने में आ गई; इनने आपको सावधान कर दिया। आप मार्ग के एक वन में छुप रहे और श्री "असहायों-के-परम-रक्षक" जी का स्मरण करने लगे।

करुणासिन्धु भक्तवत्सल श्रीलक्ष्मीनारायणजी ने, व्याधा भिल्ल और भिल्लिनी के वेश से आपके पास उस वन में रातभर रह के आपकी रक्षा की और प्रातःकाल आपके हाथों से एक कूप का जल

पीके वे दोनों अन्तर्धान हो गए; और आपने अपने को काञ्चीपुरी में पाया; श्रीजनरक्षक भगवान् का धन्यवाद कर घर जा, माता के चरणों के दर्शन कर इनसे सारा वृत्तान्त सुनाया।

श्रीमातु कान्तिमतीजी ने उपदेश दिया कि "वत्स! काञ्चीपुरी सत्यव्रत क्षेत्र" में श्री "काञ्चीपूरण" नाम वैष्णव महात्मा (श्री-यामुनाचार्य्यजी के शिष्य) श्रीलक्ष्मीनारायणजी के अनन्योपासक हैं। बेटा! तू जाके उनसे मिल सब प्रसंग सुना और महात्माजी जो आज्ञा दें सो करना॥"

आपने वैसा ही किया। श्रीकाञ्चीपूरणजी ने बताया कि "वत्स! वे भिल्लिनी तथा व्याध के वेष में स्वयं श्रीलक्ष्मीनारायणजी थे, जिन्होंने कृपा करके तुझे उस कूप के जल का माहात्म्य लखाया है। इसका आशय यह है कि उस कूप के जल से तू प्रभु की (श्रीवरदराजभगवान् की) सेवा कर, तेरे सकल मनोरथ पूरे होंगे, प्रभु तुझपर विशेष कृपा करेंगे।" यह सुन, आनन्द मग्न हो, धन्यवाद दे, आपने ऐसा ही किया॥

श्रीआलबन्दारस्तोत्र के कर्त्ता, श्रीयामुनाचार्य्य महाराजजी जो श्रीरङ्ग भगवान् की सेवा में उस समय थे, आपको (श्रीरामानुजस्वामी को) बड़े योग्य बालक समझकर अपने एक शिष्य को आपके आने के लिये भेजा। आज्ञानुसार आप श्रीरङ्ग नगर को चले॥

परन्तु आठ दिन के भीतर ही श्रीरंग भगवान् की आज्ञा पा श्री ६ यामुनाचार्य्य स्वामी शरीर त्याग कर परमधाम को चले गए। इस कारण यहाँ आने पर आपने श्रीस्वामीजी महाराज का दर्शन न पाया; केवल शरीरमात्र को श्रीकावेरी तट पर बड़ी भीड़ भाड़ के मध्य देखकर प्रणाम किया। बड़े शोक मग्न हुए॥

श्रीस्वामीजी की तीन उङ्गलियाँ मुड़ी देखकर आपने कहा कि "इसका तात्पर्य्य यदि अमुक तीन बातें हैं, तो अंगुलियाँ खुल जावें।" इस वचन के उच्चारण के साथ ही तीनों अंगुलियाँ एक एक करके खुल ही तो गईं; और इसी आश्चर्य संघट के समय से सब लोग आपका अधिकतर आदर करने लगे॥ वे तीनों बातें ये थीं—

(१) श्रीसंप्रदाय प्रचार ।
(२) ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करना ।
(३) ईश्वर जीव माया की व्याख्या करनी ।

आपने श्री ६ यामुनाचार्य्यजी के पाँच शिष्यों से उपदेश लिये, अर्थात्--

(१) श्रीमहापूर्णजी से, पंच संस्कारयुत श्रीनारायण मन्त्र;
(२) श्रीकाञ्चीपूर्णजी से, श्रीवरदराज की सेवा विधि ;
(३) श्रीगोष्ठीपूर्णजी से, श्रीराम षडक्षर मन्त्रराज ;
(४) श्रीशैलपूर्णजी से, श्रीरामायणजी के अर्थ ;
(५) श्रीमालाधरजी से, सहस्रगीति के अर्थ ॥

इसके पश्चात् विरक्त हो आपने त्रिदंड धारण किया ॥

चौपाई ।

"धरे त्रिदण्ड उदण्ड पानि में । रति अछिन्नजानकीजानि में" ॥

आप श्रीरंगनगर में पहुँच, श्रीरंगभगवान् की सेवा में रहने लगे।

यह वार्त्ता तो पूर्व ही लिखी जा चुकी है कि रात को गोपुर पर चढ़ के मन्त्र उच्चस्वर से उच्चारण करके आपने जीवों को कृतार्थ कर दिया।

श्रीजगन्नाथपुरी का चरित्र भी ऊपर ही कहा गया है ॥

ऊपर के लिखे तीनों कार्यों में लगे और पूरा किया ॥

दिग्विजय में अनेक प्रदेशों को कृतार्थ और लाखों मनुष्यों को श्रीभगवान् के शरणागत कर दिया। आपके अतिप्रिय शिष्य "श्रीकूरेश-जी" ने तथा "पण्डित यादव" की माताजी ने भी अपने पुत्र को (उक्त पण्डित को) बहुत कुछ उपदेश किया कि "यतीन्द्र महाराज का शिष्य हो जा, नहीं तो तेरा कल्याण नहीं ।" तब वह आपका शरणागत हुआ, आपने उसके पंचसंस्कार कर गोविन्द प्रपन्न उनका नाम रक्खा ॥

बारहसहस्र सेवक साथ रहा करते थे; चौहत्तर वा पचहत्तर तो मुख्य शिष्य थे, जिनसे जगत् में शरणागति उपदेश का प्रचार हुआ।

दिल्लीपति यवन के यहाँ से एक भगवन्मूर्त्ति लाकर आपने

विराजमान किया। उस बादशाह की लड़की भी भगवत् प्रेमिनी होकर परम पद को गई॥

एक स्त्रीभक्त विषयी को जिस प्रकार से आपने हरि सम्मुख करके "धनुर्दास" नाम रक्खा, वह चरित्र; तथा विषयी बनिये को सुमति प्राप्त होने के वृत्तान्त भी, सुनने ही योग्य हैं॥

आपके सुयश अपार हैं। "प्रपन्नामृत" नामक ग्रंथ में, आपके जन्म से भगवद्धाम यात्रा पर्यंत के मुख्य मुख्य चरित्र सब, संक्षेप से, वर्णित हैं। अपने सम्प्रदाय के प्रत्येक मूर्ति को अवश्य देखना सुनना चाहिये। कहते हैं कि आप १२० (एक सौ बीस) वर्ष पृथ्वी पर विराजते रहे॥

☞आप कलि संवत्सर ४२३८, विक्रमी संवत् ११६४ (कलियुग की पाँचवीं सहस्राब्दी में) अर्थात् विक्रमी ११६४ तक इस भूमि पर वर्त्तमान थे ऐसा महानुभावों ने तथा ऐतिहासिक विज्ञों ने लिखा है॥

---

(३) श्रीविष्णुस्वामीजी।

श्रीशिवजी ने यह सम्प्रदाय पहिले श्रीप्रेमानन्द (परमानन्द) मुनिजी को उपदेश किया; इसी से यह "शिव (रुद्र) सम्प्रदाय" कहा जाता है। "श्रीपरमानन्द मुनिजी" "श्रीविष्णुकांची" पुरी में हुए। आप श्री वरदराज महाराज के मन्दिर में पूजा सेवा किया करते थे। भगवान् श्री वरदराज प्रसन्न होके श्रीशिवजी को आज्ञा दी, जिन्होंने मन्त्र उपदेश करके (सात वर्ष के) बालकरूप का ध्यान बताया। इस सम्प्रदाय का श्रीविष्णुस्वामीजी ने प्रचार किया, कि जो दक्षिण देश में ब्राह्मणवंश में हुए। इसलिये "विष्णुस्वामी सम्प्रदाय" प्रसिद्ध हुआ॥

परम्परा में आप श्रीवरदराज भगवान् से पचासवें, श्रीप्रेमानन्द मुनि से ४८ वें हैं॥

आपके परहित तथा उदार चित्त को समझ श्रीजगन्नाथजी ने अपने मन्दिर में चार द्वार कर दिये॥

---

(४) श्रीमध्वाचार्य्यजी।

पहिले भगवत् ने यह (माध्व) सम्प्रदाय श्रीब्रह्माजी को उपदेश किया।

फिर इसका प्रचार श्रीमध्वाचार्य्य स्वामीजी से हुआ। श्रीमध्वाचार्य्यजी द्राविड़ देशमें कांचीपुरी से पश्चिम दक्षिण (नैऋत्य) कोने पर "उरपी कृष्णा" ग्राम में ब्राह्मण हुए। आपने पंजाब देश में राजा को परिचय दे, उसका अभिमान नष्ट कर, उसको उसके दल समेत हरि सम्मुख कर दिया॥

श्रीमध्वाचार्य्य
|
श्रीनरहर्य्याचार्य्य
|
सुबुद्धाचार्य्य
|
श्रीवेदव्यास
|
श्रीनारदजी
|
श्रीब्रह्माजी
|
श्रीहंसभगवान्।

(१४१) छप्पय। (७०२)

चतुर महन्त।

चतुर महंत दिग्गज चतुर, भक्ति भूमि दावे रहैं॥
"श्रुतिप्रज्ञा" "श्रुतिदेव" "ऋषभ"[1] "पुहकर"[2] इभ*ऐसे।
"श्रुतिधामा" "श्रुतिउदधि" "पराजित"[3] "वामन"[4] जैसे॥
श्रीरामानुज गुरुबंधु बिदित जग मङ्गलकारी। "शिवसंहिता"-प्रणीत ज्ञान सनकादिक सारी †॥ इन्दिरा‡ पद्धति उदारधी, सभा साखि सारँग + कहैं।
चतुर महंत दिग्गज × चतुर, भक्ति भूमि दावे रहैं॥

(१) ऋषभ (२) पुहकर (३) पराजित (४) वामन।

* "इभ"=वारण, करि, सिन्धुर, गयन्द, गज, हस्ती, हाथी। † "सारी"=इव, सरिस, नाईं, सरीखा, समान। ‡ "इन्दिरा पद्धति"=श्री श्रीसम्प्रदाय, श्रीलक्ष्मीजी का मार्ग। + "सारँग"=मत्त गजेन्द्र, पपीहा, भ्रमर, रामगुणगायक, भक्त। × "दिग्गज चतुर"४चारों दिशाओं के हाथी, नाम॥

१.श्रुतिप्रज्ञा	ऋषभ
२.श्रुतिदेव	पुष्कर
३.श्रुतिधामा	पराजित
४.श्रुतिउदधि	वामन

वार्तिक तिलक।

चारों महन्त, चारों दिग्गजों की भाँति, भक्तिरूपी धरती को दबाए रहते हैं। श्रीश्रुतिप्रज्ञाजी तथा श्रीश्रुतिदेवजी, "ऋषभ" और "पुष्कर" नाम के दिशागजों के सरिस हैं; एवं श्रीश्रुतिधामाजी तथा श्रीश्रुतिउदधिजी, "पराजित" और "वामन" सरीखे हैं। ये चारों महानुभाव, स्वामी अनन्त श्रीरामानुज महाराजजी के गुरुभाई जगत् के बड़े मंगलकारी और जगत् में प्रसिद्ध हैं। शिवसंहिता में जैसा वर्णन है, उसी रीति से सनकादिक चारों भाइयों के समान एकतुल्य ज्ञानी हैं। श्रीलक्ष्मीजी के सम्प्रदाय में अति उदार बुद्धिवाले हैं। सन्त सभा के (पक्षपातरहित) साक्षी सज्जन, इन चारों भक्तिरक्षकों को श्रीरामानुराग में मत्त गजराज ही कहा करते थे; अतएव अपने भजन सदाचारों से भक्तिरूपी भूमि को ऐसा दबाए रखते हैं कि किंचित् डगने डोलने नहीं पाती॥

(१४२) छप्पय। (७०१)

(श्री) आचारजजामात[1] की कथा सुनतहरि होइ रति॥ कोउमालाधारी मृतकबह्यो सरिता में आयो। दाह कृत्य ज्यों बन्धु न्योति सब कुटुँब बुलायो॥ नाकमकोचहिं विप्र तबहिं हरिपुर[2] जन आए। जेंवत देखे सबनि, जात काहू नहिं पाए॥ "लालाचारज" लक्षधा[3] प्रचुर भई

१ "जामात"=सुता का पति, दामाद, जमाई। २ "हरिपुर"=वैकुण्ठ। ३ "लक्षधा"=लक्षगुण लाख गुना।

महिमा जगति[1]। (श्री) आचारजजामात की कथा सुनत हरि होइ रति॥ ३३॥ (१८१)

(५) श्रीलालाचार्य्यजी।

वार्त्तिक तिलक।

कोई मालाधारी मृतकशरीर नदी में बहता हुआ जा रहा था; श्रीलालाचार्य्यजीने गुरुभाई सरीखा उसकी दाहक्रिया इत्यादि करके, ब्राह्मणों तथा सब कुटुम्बों को न्योता देके बुलाया। भूसुर लोगों ने अनजाने मृतक के भण्डारे को जानकर नाकसिकोड़ भोजन नहीं स्वीकार किया; तब वैकुण्ठ से हरिजन लोग हरिकृपा से आके प्रसाद पाने लगे। उनको जेंवते तो सबों ने देखा परन्तु जाते हुए उनको किसी ने नहीं देखा। इससे श्रीलालाचार्य्यजी का माहात्म्य जगत् में लाखों गुना अधिक प्रसिद्ध हो गया। आचार्य्य स्वामी श्रीरामानुजजी महाराज के जामाता की यह कथा जो सुनेगा तिसकी श्रीभगवत् तथा वेषधारी भागवतों में अवश्य प्रीति होगी॥

(१४३) टीका। कवित्त। (७००)

आचारज को जामात, बात ताकी सुनो नीके, पायो उपदेश "सन्त बन्धु करि मानिये। कीजै कोटि गुनी प्रीति" ऐपै न बनति रीति तातें इति[2] करौ याते घटती न आनिये॥ मालाधारी साधु तनु सरिता में बह्यो आयो, ल्यायो घर फेरिकै विमान सब जानिये। गावत बजावत लै नीर तीर दाह कियो, हियो दुख पायो सुख पायो समाधानिये॥ ११०॥ (५१६)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी श्री १०८ रामानुजजी के जामाता श्रीलालाचार्य्य की कथा भली भाँति सुनिये। श्रीगुरुमहाराज ने उपदेश किया कि "सन्तों को अपने भाई मानना और भाई से कोटि गुनी प्रीति

१ "जगति"=लोक में। २ "इति"= मर्यादा, सीमा।

उनसे करनी" तब श्रीलालाचार्य्यजी ने कहा कि "स्वामिन् आज्ञा तो हुई परन्तु कोटि गुनी प्रीति रीति बनती तो नहीं" सब श्रीगुरुस्वामी ने कहा कि "(ताते) भाई की प्रीति से, सन्तों में न्यून न होने पावै इति" ॥

एक बेर आपने एक मालाधारी मृतक शरीर नदी में बहते हुए पाया। वेष से सन्त जान के उसमें भ्राता तनु का भाव मानके उसे घर ला, विमान पर बिठा गाते बजाते फिर उस नदी के तीर ले जाके उसकी दाहक्रिया की।

(१४४) टीका। कवित्त। (६६९)

कियो सो महोच्छो, ज्ञाति विप्रन को न्योतो दियो, लियो[1] आए नाहिं कियो शंका दुःखदाइयें। भए एकठौरे, माया[2] कीनी सब बौरे, कछु कहैं बात औरे[3] मरी देह बही आइयें॥ याते नहीं खात, वाकी जानत न जाति पाँति, बड़ो उतपात घर ल्याइ जाइ दाहियें। मग[4] अवलोकि उत पर्यो सुनि शोक हिये, जिये आइ पूछैं[5] गुरु कैसेंकै[6] निबाहियें॥ १११॥ (५१८)

वार्त्तिक तिलक।

इनने अपने भाई सरीखा उसकी तेरहीं का महोत्सव किया; ब्राह्मणों और अपने जातिवर्ग को नेवता दिया; उन्होंने नेवता तो ले लिया, परन्तु आए नहीं; क्योंकि इन महात्माजी की दुख देनेवाली शंका उन्होंने की; और जात्यभिमानरूपी मद से बावरे वे सब इकट्ठे होके और की और ही कहने लगे कि "देखो, उस मृतक का शरीर नदी में बहके आया था, उसको घर लाके, घाट पर ले जाके, उसको जलाया, कर्म किया; उसकी जाति पाँति कुछ भी जानते नहीं सो यह बात तो बड़े ही उत्पात की है।" ऐसा गठ के कहा कि "हम सब भोजन नहीं करेंगे॥"

---

१ "लियो"=न्योतो लियो। २ "माया कीनी"=बखेड़ा गठा, झंझट खड़ा किया, जाल फैलाया। ३ "कहैं बात औरे"=दूसरी ही वार्त्ता कहने लगे। ४ "मगअवलोकि" = बाट हेरके, मार्ग देखके, प्रतीक्षा करके। ५ "पूछें गुरु" = श्रीगुरुजी से पूछूँ। ६ "कैसे कै ?"=किस प्रकार से ? ॥

श्रीलालाचार्य्यजी ने उनकी प्रतीक्षा की; पर जब वे न आए और उनकी दुष्ट सम्मति सुनने में आई, तब आपका हृदय शोकाकुल हुआ। जी में यह बात आई कि चलूँ, श्री १०८ गुरुदेव स्वामी से पूछूँ कि अब कस भाँति मेरा निर्वाह होवे ? ॥

(१४५) टीका । कवित्त । (६६८)

चले श्रीआचारज पै बारिजबदन देखि, करि साष्टाङ्ग, बात कहि सो जनाइयै । "जावो निहशंक, वे प्रसाद को न जानैं रंक[1]; जानैं जे प्रभाव, आवैं बेगि सुखदाइयै ॥" देखे नभ भूमि द्वार ऐहैं निरधार जन वैकुंठ-निवासी पाँति ढिग ह्वै कै आइयै । इन्हैं अब जान देवो जनि कछू कहो अहो[2] गहो करौ हाँसी जब घर जाँइ खाइयै ॥ ११२ ॥ (५१७)

वार्त्तिक तिलक ।

ये श्रीआचार्य्यजी महाराज (भाष्यकारस्वामी) से प्रार्थना करने को चले; जाके मुखकमल का दर्शन कर सप्रेम, सादर साष्टाङ्ग दण्डवत् किये; और वे सब बातें निवेदन की । आपने आज्ञा की कि "उन अभागे कँगलों को श्रीभगवत्प्रसाद का माहात्म्य विदित नहीं ॥

श्लोक "प्रतिमामन्त्रतीर्थेषु भेषजे वैष्णवे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥"

तुम निःशंक जाओ निश्चिन्त रहो; क्योंकि "जो दिव्य महानुभाव श्रीप्रसाद का अनुपम प्रभाव जानते हैं, वे ही सुखदाई शीघ्र कृपा करके आवेंगे ।" श्रीआचार्य्य स्वामी ने इतना कहके आकाश की ओर देखके फिर भूमि को देखा । तात्पर्य्य यह कि वैकुण्ठवासी पार्षदों का ध्यान स्मरण करके आकाश की ओर देखके मही में आवाहन किया । फिर कहा कि "जावो, श्रीवैकुण्ठनिवासी भगवज्जन नभमार्ग से निराधार उतरके तुम्हारे द्वार होके गृह में आवेंगे ॥"

ऐसी आज्ञा सुन शिर पर धारण कर साष्टाङ्ग करके अपने गृह में आए । उसी समय श्रीवैकुण्ठनिवासी जनों की पंक्ति उन विमुखों के निकट होके श्रीलालाचार्य्यजी के गृह में आई । वे अभक्त लोग देखके

१ "रङ्क" =श्रीभगवद्भक्तिसंपत्ति से हीन, दरिद्री । २ "अहो"=हे भाइयो ! ॥

परस्पर कहने लगे कि "हे भाइयो ! अभी इन सबों को जाने दो, कुछ कहो मत, फिर जब भोजन करके अपने घर जाने लगें तब पकड़के अपने समीप बिठाके अच्छे प्रकार हाँसी निन्दा करो ॥"

(१४६) टीका । कवित्त । (६६७)

आए देखि पारषद, गयो गिरि भूमि सद[1] हद[2] करी कृपा यह, जानि निज जन को। पायो लै प्रसाद स्वाद कहि अहलाद भयो, नयो लयो मोद जान्यो साँचो सन्त पन को॥ बिदा ह्वै पधारे नभ, मग में सिधारे; विप्र देखत विचारे द्वार, व्यथा भई मन को। गयो अभिमान आनि मन्दिर मगन भए नए दृग लाज; बीनि बीनि लेत कन को॥ ११३ ॥ (५१६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीलालाचार्य्यजी ने अपने गृह में श्रीभगवत्पार्षदों को आए देख भूमि में गिरके साष्टाङ्ग दण्डवत् किये, और हाथ जोड़ आप कहने लगे कि "आप सबोंने इस दीन को अपना जन जान के इसके ऊपर निःसीम कृपा की।"

पार्षदों ने प्रसाद लेके पाया (भोजन किया) और उसके स्वाद का बखान कर कर श्रीलालाचार्य्यजी को बड़ा ही आनन्द दिया; इनने ऐसा यह मोद प्रमोद पाया कि जो अपूर्व था और पहिले कभी भी प्राप्त न हुआ था। तब भली भाँति जाना कि सन्तों का प्रण कैसा सच्चा होता है।

सर्वज्ञ श्रीपार्षदवृन्द बिदा होके आकाशमार्ग से चले, ब्राह्मण लोग मग में द्वार पर खड़े खड़े देखते ही रहे। जब जाना कि वे तो आकाशमार्ग से लौटे चले जा रहे हैं वैकुण्ठ से आए थे, तब उन सबोंके मन में बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ; अब उनका जात्यभिमान गया और आँखें नीची हुईं, नम्र तथा लज्जित हुए, और श्रीलालाचार्य्यजी के गृह में आके प्रेमानन्द में मग्न भी हुए।

अवशिष्ट प्रसाद के कण, जो भूमि में गिरे पड़े थे, उनको चुन चुन के पाने लगे॥

१ "सद्"=सज्जन (श्रीलालाचार्य्यजी)। २ "हद"=इति॥

(१४७) टीका। कवित्त। (६६६)

पाइ लपटाइ अंग धूरि में लुटाए कहैं "करौ मनभायो," और दीन बहु भाष्यो है। कही भक्तराज "तुम कृपा मैं समाज पायो, गायो जो पुराणन में रूप नैन चाष्यो है"॥ छाँड़ो उपहास अब करो निज दास हमैं, पूजै हिए आस मन अति अभिलाष्यो है। किये परशंस मानो हंस ये परम कोऊ ऐसे जस लाख भाँति घर घर राख्यो है॥ ११४॥ (५१५)

वार्त्तिक तिलक।

वे ब्राह्मण श्रीलालाचार्य्यजी के चरणकमलों में लपट गए, वहाँ की धूरि में लोटने लगे, और यों बोले कि "आप महात्मा हैं जिस प्रकार से हम आपको प्रिय लगें सो वैसा कीजिये, अर्थात् शिष्य करके भगवद्भक्त कीजिये।" इसी प्रकार से बहुत सी दीनतापूर्वक बातें कहीं। श्रीभक्तराज (लालाचार्य्य) जी ने कहा कि "आपही के न आने से तो इस दिव्य समाज की सेवा का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ; अतः आपकी कृपा का मैं धन्यवाद करता हूँ कि जिससे मैंने उन भगवत्पार्षदों के रूप के दर्शन पाए कि जिनका पुराणों में बखान सुना था।"

तब उन विप्रों ने पुनः प्रार्थना की कि "अब आप हमारी हँसी तो कीजिये नहीं बरन् दया करके हमको अपना दास बना लीजिये। हम सबों के मन की यह अति अभिलाषा पूर्ण कीजिए।" तब श्रीलालाचार्य्यजी ने सबों को श्रीमंत्र तिलक आदिक पंचसंस्कार करके लोक वेद में परमप्रशंसनीय हंसों के समान वेष तथा विवेकयुक्त कर दिया। इत्यादि। इसी प्रकार श्रीलालाचार्य्यजी के यश, लक्षविधि के, देश में घर घर सब कोई मन में तथा मुख में भी रक्खे अर्थात् गान किए॥

---

(६) श्रीश्रुतिप्रज्ञजी।

आप ब्राह्मण थे; लड़कपन से ही बड़े वैरागी तथा नामानुरागी

रहे, और अपने मन में वैष्णवों में जातिभेद नहीं रखते थे। आप देशों में विचरके भगवन्नाम का उपदेश किया करते तथा भक्ति ही का भारी आचार समझते थे। नीलाचल के मार्ग में एक अति प्रेमी श्वपच को साष्टाङ्ग करते पाके उठाकर उसको अपने हृदय में लगा लिया और अपने पट से उसके अंग की धूरि झाड़ डाली। उसके हाथों में महाप्रसाद था सो लेके सादर पा गए। रात भर उस प्रेमी श्वपच को अपने साथ रखके सबेरे अतिशय आदरपूर्वक बिदा किया। श्रीजगदीश दर्शन कर, सुयशभाजन रहे और परधाम को गए॥

---

(७) श्रीश्रुतिदेवजी।

आप बहुत से सन्तों का समाज साथ में लिये, श्रीरामनाम कीर्त्तन-पूर्वक विचरते, और सब लोगों को कृतार्थ किया करते थे। एक समय एक अभक्त राजा के नगर में पहुँचे जहाँ कोई नदी तालाब नहीं, केवल वापी तथा कूएँ ही राजवाटिकाओं में थे।

जब साधु लोग उपवन के कूपों में स्नान करने गए, मालियों ने उनको रोक दिया। सन्त दुःखी हो स्वामीजी से कष्टनिवेदन करने लगे। आपने कहा कि विना स्नान ही नामकीर्त्तन कर लो और तब इस नगर को छोड़ चलो। यह आज्ञा सुन इधर सन्त हरिभजन में लगे, उधर कूपों तथा वापियों में जल ही नहीं। मालियों ने जाके राजा से सब वार्त्ता सुनाई; नरेश ने मन्त्रियों से पूछा; सचिव लोगों ने पूछपाछ बूझ विचारकर निवेदन किया कि "महाराज! यहाँ साधुसमाज आया है, सन्तों की ही कृपा से यह जलभाव का कष्ट जा सकेगा, इस समाज के मुखिया श्री-श्रुतिदेव नाम महात्मा हैं, उन्हीं से प्रार्थना करनी चाहिये।" ऐसा ही किया गया।

सब प्रजाओं सहित राजा श्रीस्वामीजी के शरणागत हो कृतार्थ हुए। स्वामीजी महाराज उस देश को हरिभक्त बनाकर दूसरी ओर चले। ऐसे ऐसे चरित्र आपके अनेक हैं॥

---

(८) श्रीश्रुतिधामजी।

आप परमोदार थे और भगवत् तथा भगवद्भक्तों में अभेद बुद्धि रखते थे; भेष (ऊर्द्ध्वपुण्ड्र, कंठी, माला, छाप) की महिमा भली भाँति जानते मानते थे। आपके गुणों की गिन्ती कौन कर सके? एक समय साधु-समाज सहित श्रीप्रयागजी जा स्नान कर त्रिवेणी पर हरिकथा कह रहे थे; एक सन्त ने पूछा कि "महाराज, इस संगम पर श्रीसरस्वतीजी का नामही मात्र तो सुना जाता है देखने में तो आती ही नहीं।" आप यह सुन ध्यान में मग्न हो गए; शीघ्र ही सबों ने देखा कि श्रीश्वेत गंगाधार, श्रीश्याम यमुनाधार के बीच तेजमय अरुणधार श्रीसरस्वतीजी की भी वहीं दर्शनीय है। मकर के वासी दौड़के स्नान करने लगे। सन्तों ने स्वामीजी से निवेदन किया; आप भी उठ प्रणाम कर साधुओं सहित स्नान करने लगे। ऐसे अनेक सुयशों के साथ आप जगत् में प्रसिद्ध रहे॥

---

(९) श्रीश्रुतिउदधिजी।*

सब सद्गुणों के समुद्र एक दिन श्रीगंगाजी की ओर जाते थे मार्ग में एक राजा की वाटिका में रात्रि निवास किया। उस रात को राजा के भवन में चोरी हुई; चोरों ने भागके उसी उपवन में आपको ध्यान में पा, एक माला पहिरा दी। कोतवाल के भटों ने उन्हें देखा; वे आपको पकड़ ले गए; राजा ने बन्दीघर में भेज दिया, तब शीघ्र ही नरेश सीसकी पीड़ा से व्याकुल हुआ, किसी प्रकार न छूटी, तब सचिव के कहने से राजा त्राहि त्राहि कर आपके चरणों पर गिरा। आपने तब आँखें खोलीं और सारा समाचार सुना। राजा को पीड़ा रहित कर श्रीराममन्त्र दे कृतार्थ किया।

कहाँ तक आपके यश गाए जा सकेंगे॥

---

* श्रीश्रुतिप्रज्ञ, श्रीश्रुतिदेव, श्रीश्रुतिधाम और श्रीश्रुतिउदधिजी ये चारों महात्मा गुरुभाई हैं।

(१०-११) गुरु और शिष्य (पादपद्मजी)।

(१४८) छप्पय। (६६५)

श्रीमारग उपदेश कृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि॥ गुरु गमन कियो परदेश, शिष्य सुरधुनि दृढ़ाई। इक मंजन इक पान एक हृदय बन्दना कराई॥ गुरु गंगा में प्रविशि शिष्य को बेगि बुलायो। विष्णुपदी भय जान कमल पत्रन पर धायो॥ "पादपद्म" ता दिन प्रगट, सब प्रसन्न मन परम रुचि। श्रीमारग उपदेश कृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि॥ ३४॥ (१८०)

वार्तिक तिलक।

एक और श्रीसम्प्रदायवाले भागवत का पवित्र वृत्तान्त सुनिये। इनके गुरु परदेश चले; इनको श्रीगंगाजी में गुरु का भाव दृढ़ रखने के लिये उपदेश दिया, इन्होंने श्रीगुरुआज्ञा को हृदय में दृढ़ धारण कर लिया। तब कोई शिष्य स्नान किया करें, कोई पान किया करें; परन्तु ये गुरुभक्तजी तो केवल हृदय से ही बन्दन प्रणाम मात्र करते थे। जब श्रीगुरुजी आए, शिष्यों से सब बातें सुनी, तब इनकी भक्तिमहिमा प्रगट करने के हेतु श्रीगंगाजी में जल के भीतर जाके वहीं शिष्य को (इनको) शीघ्र बुलाया; इन्होंने श्रीविष्णुपदी (गंगा) जी के जल पर अपना चरण रखने में संकोच किया; श्रीराम-कृपा से जल में कमल के पत्तों पर पाँव धरते दौड़ते हुए जा पहुँचे। उसी दिन से आपका नाम "पादपद्म" जी हुआ; सब बड़े प्रसन्न हुए और श्रीगंगाजी में तथा इन महात्मा में सबकी भारी श्रद्धा हुई॥

(१४९) टीका। कवित्त। (६६४)

देवधुनीतीर सो कुटीर, बहु साधु रहैं, रहै गुरुभक्त एक, न्यारो-नहिं ह्वै सकै। चले प्रभु गाँव "जिनि तजो बलि जाँव" करौ कही

(८) श्रीश्रुतिधामजी।

आप परमोदार थे और भगवत् तथा भगवद्भक्तों में अभेद बुद्धि रखते थे; भेष (ऊर्ध्वपुण्ड्र, कंठी, माला, छाप) की महिमा भली भाँति जानते मानते थे। आपके गुणों की गिन्ती कौन कर सके? एक समय साधु-समाज सहित श्रीप्रयागजी जा स्नान कर त्रिवेणी पर हरिकथा कह रहे थे; एक सन्त ने पूछा कि "महाराज, इस संगम पर श्रीसरस्वतीजी का नामही मात्र तो सुना जाता है देखने में तो आती ही नहीं।" आप यह सुन ध्यान में मग्न हो गए; शीघ्र ही सबों ने देखा कि श्रीश्वेत गंगाधार, श्रीश्याम यमुनाधार के बीच तेजमय अरुणधार श्रीसरस्वतीजी की भी वहीं दर्शनीय है। मकर के वासी दौड़के स्नान करने लगे। सन्तों ने स्वामीजी से निवेदन किया; आप भी उठ प्रणाम कर साधुओं सहित स्नान करने लगे। ऐसे अनेक सुयशों के साथ आप जगत् में प्रसिद्ध रहे॥

---

(९) श्रीश्रुतिउदधिजी।*

सब सद्गुणों के समुद्र एक दिन श्रीगंगाजी की ओर जाते थे मार्ग में एक राजा की वाटिका में रात्रि निवास किया। उस रात को राजा के भवन में चोरी हुई; चोरों ने भागके उसी उपवन में आपको ध्यान में पा, एक माला पहिरा दी। कोतवाल के भटों ने उन्हें देखा; वे आपको पकड़ ले गए; राजा ने बन्दीघर में भेज दिया, तब शीघ्र ही नरेश सीसकी पीड़ा से व्याकुल हुआ, किसी प्रकार न छूटी, तब सचिव के कहने से राजा त्राहि त्राहि कर आपके चरणों पर गिरा। आपने तब आँखें खोलीं और सारा समाचार सुना। राजा को पीड़ा रहित कर श्रीराममन्त्र दे कृतार्थ किया। कहाँ तक आपके यश गाए जा सकेंगे॥

---

* श्रीश्रुतिप्रज्ञ, श्रीश्रुतिदेव, श्रीश्रुतिधाम और श्रीश्रुतिउदधिजी ये चारों महात्मा गुरुभाई हैं।

(१०-११) गुरु और शिष्य (पादपद्मजी)।

(१४८) छप्पय। (६६५)

श्रीमारग उपदेश कृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि॥ गुरु गमन कियो परदेश, शिष्य सुरधुनि दृढ़ाई। इक मंजन इक पान एक हृदय बन्दना कराई॥ गुरु गंगा में प्रविशि शिष्य को बेगि बुलायो। विष्णुपदी भय जान कमल पत्रन पर धायो॥ "पादपद्म" ता दिन प्रगट, सब प्रसन्न मन परम रुचि। श्रीमारग उपदेश कृत श्रवण सुनौ आख्यान शुचि॥ ३४॥ (१८०)

वार्तिक तिलक।

एक और श्रीसम्प्रदायवाले भागवत का पवित्र वृत्तान्त सुनिये। इनके गुरु परदेश चले; इनको श्रीगंगाजी में गुरु का भाव दृढ़ रखने के लिये उपदेश दिया, इन्होंने श्रीगुरुआज्ञा को हृदय में दृढ़ धारण कर लिया। तब कोई शिष्य स्नान किया करें, कोई पान किया करें; परन्तु ये गुरुभक्तजी तो केवल हृदय से ही बन्दन प्रणाम मात्र करते थे। जब श्रीगुरुजी आए, शिष्यों से सब बातें सुनी, तब इनकी भक्तिमहिमा प्रगट करने के हेतु श्रीगंगाजी में जल के भीतर जाके वहीं शिष्य को (इनको) शीघ्र बुलाया; इन्होंने श्रीविष्णुपदी (गंगा) जी के जल पर अपना चरण रखने में संकोच किया; श्रीराम-कृपा से जल में कमल के पत्तों पर पाँव धरते दौड़ते हुए जा पहुँचे। उसी दिन से आपका नाम "पादपद्म" जी हुआ; सब बड़े प्रसन्न हुए और श्रीगंगाजी में तथा इन महात्मा में सबकी भारी श्रद्धा हुई॥

(१४९) टीका। कवित्त। (६६४)

देवधुनीतीर सो कुटीर, बहु साधु रहैं, रहै गुरुभक्त एक, न्यारो-नहिं ह्वै सकै। चले प्रभु गाँव "जिनि तजो बलि जाँव" करौ कही

दास सेवा गंगा में ही कैसे छ्वै सकै॥ क्रिया सब कूप करै, विष्णुपदी ध्यान धरै; रोष भरे सन्त श्रेणी भाव नहीं भ्वै सकै। आए ईश जानि दुखमानि सो बखान कियो आनि मन जानि बात अंग कैसे ध्वै सकै॥ ११५॥ (५१४)

वार्त्तिक तिलक।

इनके गुरु की कुटी श्रीगंगाजी के तट पर थी; उसमें बहुत सन्त रहा करते थे, साधुसेवा हुआ करती थी। ये बड़े गुरुभक्त थे। और श्रीगुरुचरणकमल से कभी अलग नहीं रह सकते थे। एक समय गुरु महाराज किसी ग्राम को चले; इन्होंने प्रार्थना की कि "कृपानिधे! इस दास को मत छोड़िये मैं आपकी बलिहारी जाऊँ।" श्रीगुरुमहाराज ने बड़ाई की और आज्ञा दी कि "तुम यहाँ ही रहो, भगवद्दासों की सेवा करो, तथा श्रीगंगाजी को मेरा स्वरूप ही मानो, उनमें गुरुभाव रक्खो।" आप यह आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सके; और मन में विचार किया कि "श्रीसुरसरिजी में अपने चरणों का स्पर्श क्योंकर होने दूँ" इसी से श्रीगंगाजी में स्नान तक भी नहीं करते थे, शरीर की सब क्रिया स्नानादिक कूपजल से ही किया करते थे, और श्रीसुरसरिजी को श्रीगुरुरूप मानके प्रणाम और हृदय में ही ध्यान धरते थे। प्रायः सन्त इन पर रोष रखते क्योंकि इनके हृदय के भाव को वे लोग पहुँच (जान) नहीं सकते थे। जब श्रीगुरुजी आए, तब सब दुःखित हो उन सबने इनके गंगास्नान न करने की वार्त्ता कही। स्वामीजी बात के मर्म को समझ गए कि इसने सच्चा गुरुभाव रखकर यह संकोच किया होगा कि श्रीगंगाजी में अपना अपावन शरीर कैसे धोऊँ पद स्पर्श कैसे करूँ॥

(१५०) टीका। कवित्त। (६६३)

चले लैके न्हान संग, गंग में प्रवेश कियो, रंग भरि बोले सो "अँगोछा बेगि ल्याइये"। करत बिचार शोच सागर न वारापार, गंगा जू प्रगट कह्यो "कंजन पर आइये"॥ चले ई अधर पग धरै सो मधुर जाइ प्रभु हाथ दियो, लियो, तीर भीर छाइये। निकसत

धाइ चाइ पाइ लपटाइ गए, बड़ो परताप यह निशि दिन गाइये ॥ ११६ ॥ (५१३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगुरुजी इनको साथ लेके, (इनकी भक्तिमहिमा को प्रगट करने के निमित्त,) श्रीगंगास्नान को चले; श्रीगंगाजल के भीतर गए और अत्यन्त प्रेम में पगके शिष्य को (इनको) आज्ञा की कि "मेरा अँगोछा शीघ्र लाके दो।" ये बड़ेही अपार शोच विचार में पड़े कि इत तो श्रीगंगाजी उत श्रीगुरुजी और दोनों ही में इनकी भावभक्ति अपूर्व ठहरी; अपार असमंजस में पड़े। इतने में तुरन्त ही श्रीगंगाजी इनको प्रगट देख पड़ीं और कृपा करके बोलीं कि "यह देखो तुम्हारे पास से गुरुजी के समीप तक कमल के पत्ते प्रगट हो गए, तुम निस्सन्देह इन्हीं पत्तों ही पर पाँव रखते हुए बेखटके चले आओ॥"

आज्ञानुसार ये अधर पर अर्थात् उन्हीं कमलपत्रों पर पाँव रखते हुए दौड़े और वहाँ पहुँचके श्रीगुरुकरकंज में अँगोछा दिया, और आपने आनन्दपूर्वक उसको लिया यह परिचय, यह आश्चर्य, यह गुरुभक्ति-माहात्म्य, यह श्रीगंगाजी की कृपा! देखने के लिये तट पर भारी भीड़ एकट्ठी हो गई। ज्यों ही ये तीर पर लौटे, लोग दौड़ दौड़ के इनके चरणों में लपट-लपट गए; और इस महत् प्रताप को उस दिन से सब लोग दिन रात गान करते रहे॥

---

(१२) श्री १०८ रामानन्दस्वामी।

श्रीसम्प्रदाय

(१५१) छप्पय। (६६२)

श्रीरामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्यो॥ "देवाचारज" द्वितीय* महामहिमा "हरियानँद"।

---

* "द्वितीय"=अर्थात्, प्रथम महामहिमायुक्त श्री ६ देवाचार्य्य (देवाधिपाचार्य्य), और द्वितीय महामहिमा से युक्त श्री १०८ हरियानन्द स्वामी।

तस्य "राघवानन्द" भए भक्तन को मानँद ॥ पत्रावलम्ब पृथिवी करी* व काशी स्थाई । चारि बरन आश्रम सबही को भक्ति दृढ़ाई ॥ तिनके "रामानँद" प्रगट, विश्व मंगल जिन्ह वपु† धस्यो । श्रीरामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसस्यो (३५) (१७९)

(१५०) छप्पय। (६६१)

श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वुतिय सेतु जग तरन कियो ॥ अनन्तानन्द[1], कबीर[2], सुखा[3], सुरसुरा[4], पद्मावति[5], नरहरि । पीपा[7], भावानन्द[8], रैदास[9], धना[10], सेन[11], सुरसुर की[12] घरहरि ॥ औरौ शिष्य प्रशिष्य एकते एक उजागर । विश्वमंगल आधार सर्वानँद दशधा के आगर ॥ बहुत काल बपुधारि कै, प्रणत जनन कौं पार दियो । श्रीरामानन्द रघुनाथ ज्यों द्वुतिय सेतु जग तरन कियो(३६)(१७८)

वार्त्तिक तिलक ।

अनन्त श्रीरामानुज स्वामी के संप्रदाय का अमृतरूपी प्रताप भूमंडल में शिष्य प्रशिष्यादि द्वारा, जीवों के मरणादि दुःखों को नाश करता हुआ अतिशय फैल गया और फैलता ही जाता है। कोई कोई लिखते हैं कि स्वामी श्रीरामानन्दजी महाराज इस संसार को त्याग संवत् १५०५ में श्रीसाकेत परधाम गये १४८ (148) वर्ष यहाँ विराजे थे ॥

---

* "करीव"=करीब, समीप करके । "करी"=किया; "व"=और । † "वपुधस्यो"=देह धरी, अवतीर्ण हुए, प्रगटे, अवतार लिया ।

"अथ श्रीराममन्त्रराज परम्परा"

१. सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी
२. श्रीजगज्जननी जानकीजी
३. श्रीहनुमानजी
४. श्रीब्रह्माजी
५. श्रीवशिष्ठजी
६. श्रीपराशरजी
७. श्रीव्यासजी
८. श्रीशुकदेवजी
९. श्रीपुरुषोत्तमाचार्य्यजी
१०. श्रीगंगाधराचार्य्यजी
११. श्रीसदाचार्य्यजी
१२. श्रीरामेश्वराचार्य्यजी
१३. श्रीद्वारानन्दजी
१४. श्रीदेवानन्दजी
१५. श्रीश्यामानन्दजी
१६. श्रीश्रुतानन्दजी
१७. श्रीचिदानन्दजी
१८. श्रीपूर्णानन्दजी
१९. श्रीश्रियानन्दजी
२०. श्रीहर्य्यानन्दजी
२१. श्रीराघवानन्दजी
२२. स्वामी श्रीरामानन्दजी

(श्लोक) नम आचार्य्यवर्य्याय रामानन्दाय धीमते।
मोक्षमार्गप्रकाशाय चतुर्वर्गप्रदाय च ॥ १ ॥

महामहिमा से युक्त श्रीहर्य्यानन्दाचार्य्य स्वामी[२०] उनके शिष्य समस्त भगवद्भक्तों के मान देनेवाले श्री १०८ राघवानन्दाचार्य्यजी[२१]; जो, पहिले, वैष्णवों के वृन्द साथ लेके, भरतखण्ड की संपूर्ण पृथ्वी में विचर के, भगवत् विमुखों को जीत, अपने विजयपत्र के अवलम्ब में भूमि को करके, काशीजी में स्थिर विराजमान हुए; और चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तथा चारों आश्रमी (ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ-तपस्वी, संन्यासी) इन सबों को उत्तम उपदेश देकर श्रीरामभक्ति में दृढ़ स्थित कर दिया।

इन्हीं श्रीराघवानन्द[२१] स्वामीजी के शिष्य, साक्षात् श्रीरामराघव जी आपही, श्रीरामानन्द[२२]रूप से प्रगट हुए, कि जो विश्व (संसार) भर के मङ्गल की मूर्ति ही हैं, अर्थात् सब संसार के जीवों का जिनने मङ्गल किया ॥

इस प्रकार श्री १०८ रामानुज की "पद्धति" (शुभमार्ग) का प्रताप, भूमिमण्डल में अमृतरूप होके फैल रहा और फैलता जाता है॥

श्रीरामानन्द स्वामीजी ने श्रीरघुनाथजी की नाईं, संसाररूपी समुद्र में, जगत् के जीवों को उतर जाने के हेतु, दूसरा सेतु (पुल) बाँध दिया। तात्पर्य यह है कि जैसा अद्भुत जगत् समुद्र था उसी प्रकार का अद्भुत सेतु भी बनाया। आपके मुख्य शिष्य सोई दृढ़ खंभे हुए और पौत्र शिष्य, ("प्रशिष्य") प्रपौत्रादि शिष्यगण, सोई इस सेतु के सर्वाङ्ग हुए॥

"बहुतकाल" पर्य्यन्त शरीर को धारण करके, आपने "प्रणत" (शरणागत) जनसमूहों को मंत्रराज श्रीरामतारकरूपी सेतु पर चढ़ा के, संसारसागर के पार उतार, श्रीरामधाम में निवास दिया॥

भवसिन्धुसेतु के खंभेरूपी उन मुख्य शिष्यों के नाम—

(ज्येष्ठ) श्रीअनन्तानन्द[१]जी; श्रीकबीर[२]जी, श्रीसुखानन्द[३]जी, श्रीसुरसुरानन्द[४]जी, श्रीपद्मावती[५]जी, श्रीनरहरियानन्द[६]जी, श्रीपीपा[७]जी, श्रीभावानन्द[८]जी, श्रीरमादास (श्रीरैदास[९]जी), श्रीधना[१०]जी, श्रीसेना[११]जी, श्रीसुरसुरानन्दजी की स्त्री "सुरसरी[१२]"जी॥

और भी शिष्य अर्थात् श्रीगालवानन्द[१३]जी और प्रशिष्य श्रीयोगानन्द[१४]जी, जिन सबोंके नाम भी श्रीनाभास्वामीजी आपही आगे कहेंगे; जो श्रीरामप्रेम प्रकाशयुक्त एक से एक अधिक चढ़ बढ़ के हुए। विश्व के मङ्गल करनेवाले जो श्रीरामानन्दस्वामी तिनकी कृपा को आधार पाके सब "आनन्द" युक्त नामवाले श्रीअनन्तानन्द, सुरसुरानन्दादि शिष्य, परमानन्दरूपा (दशधा) प्रेमापराभक्ति के स्थान, श्रीरामभक्ताग्रगण्य परमप्रवीण हुए॥

(श्लो०) "राघवानन्द एतस्य रामानन्दस्ततोऽभवत्।
सार्द्धद्वादशशिष्याः स्युः श्रीरामानन्दसद्गुरोः॥१५॥
द्वादशादित्यसंकाशास्संसारतिमिरापहाः।
श्रीमदनन्तानन्द[१]स्तु सुरसुरानन्द[२]स्तथा॥ १६॥
नरहरियानन्द[३]स्तु योगानन्द[४]स्तथैव च।

सुखा भावा गालवं च सप्तैते नाम नन्दनाः ॥ १७ ॥
कबीरश्च रमादासः सेना पीपा धनास्तथा ।
पद्मावती १२½ तदर्द्धं च षडेते च जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥
येषां शिष्यप्रशिष्यैश्च व्याप्ता भारतभारती ॥"

श्री १०८ अग्रस्वामीकृत "रहस्य त्रय" की संस्कृत टीका, (श्रीकाशी १९३५ की छपी), के ये साढ़े चार श्लोक हैं ॥

[१] श्रीअनन्तानन्दजी । ["सिद्ध परमप्रेमी रघुनाथा ।
सियजू हाथ धरे जिन्ह माथा ॥"]

[२] श्री १०८ सुरसुरानन्दजी । ["सन्तप्रसाद प्रभाव विद, प्रथमहि पाए स्वाद ।
सोइ याहू तन सत करी, महिमा महाप्रसाद ॥"]

[३] श्रीसुखानन्दजी । ["आचारज गुरु भक्ति निधाना ।
निरत मन्त्र मन्त्रार्थ विधाना ॥"]

[४] श्रीनरहरियानन्दजी । ["रामभक्त कुल कैरव चन्दा ॥"]

[५] श्री ६ पीपाजी । ["जगत विदित सियरामपद, पीपा प्रेम प्रताप ।
लगी भागवत भुज़न महँ, जिन्ह की लाई छाप ॥"]

[६] श्रीकबीरजी । ["छाके राम नाम रस स्वादा ॥"]

[७] श्रीपद्मावतिजी ।

[८] श्रीभावानन्दजी । ["निरत रामसेवा मतिमाना ।
गूढ़ प्रेम विज्ञान निधाना ॥"]

[९] श्रीसेनाजी । ["सदा सन्तसेवा मति पागी ।
भक्तियोग युत अति बड़भागी ॥"]

[१०] श्रीधनाजी । ["सुमति सन्तसेवा लयलीना ।
सदाचार गुरु-भक्त प्रवीना ॥"]

[११] श्रीरैदासजी ।
["रमादास शासन मति दासी । सदा भागवत धर्म प्रकासी ॥
निःकिंचन उदार गुरुसेवी । भाविक रामतत्व को भेवी ॥"]

[१२] देवी श्रीसुरसरीजी श्रीसुरसुरानन्दजी की स्त्री ।
["विषय विगत रघुबर रति सानी । गुरुपद भक्ता तन मन बानी ॥
परम पुरुष गुनिराम बिहारी । और सबै जग जान्यो नारी ॥"]

[१३] श्रीगालवानन्दजी । ["उपदेशक वेदान्त वित, योगी रतरघुनन्द ॥"]
यह नाम इस छप्पै में नहीं है ॥

[१४] श्रीयोगानन्दजी । ["योग निधान निरत रघुराई ॥"]

☞ श्रीयोगानन्दजी श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य हैं ॥

गिनती	जिसने अवतार लिया	जिस नाम से मृत्युलोक में ख्यात हैं	जन्म समय						
			महीना	पक्ष	तिथि	दिन	लग्न	नक्षत्र	योग
१	विधाता	श्रीअनन्तानन्द	कार्त्तिक	शुक्ल	१५	शनि	धन	कृत्तिका	
२	शिवशंभु	सुखानन्द	वैशाख	शुक्ल	६	शुक्र	तुला	शतभिषा	
३	श्रीनारद	श्रीसुरसुरानन्द	वैशाख	कृष्ण	६	गुरु	वृष		
४	सनत्कुमार	नरहरियानन्द	वैशाख	कृष्ण	३	शुक्र	मेष	अनुराधा	व्यतीपात
५	मनु	पीपा	चैत्र	शुक्ल	१५	बुध	धन	उत्तरा-फाल्गुनी	
६	प्रह्लाद	कबीर	चैत्र	कृष्ण	८	मंगल	सिंह	मृगशिरा	शोभन
(S. S. R. S. B. P. P. R. K.)									

७	श्रीजनक	भावानन्द	वैशाख	कृष्ण	६	चन्द्र	कर्क	मूल
८	भीष्म	सेन	माधव	कृष्ण	१२	रवि	तुला	पूर्वा
९	बलि	धना	माधव	कृष्ण	८	शनि	वृश्चिक	पूर्वाषाढ़
१०	यमराज	{रमादास (रैदास)}	चैत्र	शुक्ल	२	शुक्र	मेष	चित्रा
११	श्रीपद्मा	पद्मावती	चैत्र	शुक्ल	१३	गुरु	कर्क	उत्तराफा०
१२	.....	सुरसरी	....	....	....	....	....	....
(१३)	शुकदेव	गालवानन्द	चैत्र	कृष्ण	११	सोम	धन	धनिष्ठा
(१४)	कपिल	योगानन्द❀	वैशाख	कृष्ण	७	बुध	कर्क	मूल

❀ श्रीयोगानन्दजी श्री पौत्र शिष्य हैं अर्थात् श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य हैं ॥

कवित्त।

"प्रगट प्रयाग भाग कश्यप ज्यों भूसुर के सातैं माघकृष्ण मारतण्ड से अरामी हैं। काशी-से अकाश में प्रकाश सुखरास किए, बारहौ सु शिष्य मानों कला[१२] तेजधामी हैं। कलि-की कुचालनिशा खण्डे हैं पखंडतम, दुरिगे अभक्त चोर पंथ-घोर बामी हैं। फैल्यो बेष धाम, धाम धाम सन्त कंज खिले बदै "रसराम" रवि रामानन्द स्वामी हैं" ॥ १ ॥

स्वामी श्री १०८ रामानन्दजी दयालु श्रीप्रयागराज में कश्यपजी के समान भगवद्धर्मयुक्त बड़भागी कान्यकुब्ज ब्राह्मण "पुण्यसदन" के गृह में, विक्रमीय संवत् १३५६ के माघ कृष्ण सप्तमी तिथि में, सूर्य्य के समान सबों के सुखदाता, सात दण्ड दिन चढ़े चित्रा नक्षत्र सिद्ध योग कुम्भ लग्न में गुरुवार को, "श्रीसुशीला देवी" जी से प्रगट हुए।

दो० चारि सहस शतचारि भी, गत कलिकाल मलीन।
तेहि अवसर नरलोक हरि, निवसन हित चित दीन ॥

कलियुग के ४४०० वर्ष गत हो चुकने के अनन्तर--

विक्रमी	शाके	ईस्वी	कलि
+ १३५६	१२२२	१३००†	४४००

(श्लोक)-"रामानन्दमहामुनिस्समभवद्रागेषुरामावनी-(१३५६)
शुक्रे विक्रमवत्सरे घटतनौ माघासिते त्वाष्ट्रभे ॥
सप्तम्यां गुरुवासरे युजि तथा सिद्धौ प्रयागाश्रमा-
च्छ्रीमद्भूसुरराजपुण्यसदनाद्रामावतारः कृती" ॥

चौपाई।

"विमलसलिल, निर्मलनभ आसा। शुचि सन्तन मन मोद हुलासा ॥
प्रगटे रवि इव करुणाकन्दा। सन्तसरोजन पद-आनन्दा ॥"

+ और श्रीतपस्वीरामजी सीतारामीय ने भी संवत् १३५६ ही लिखे हैं।
† Dr. W. W. Hunter, M.A. और A. C. Mukerji M. A. B. L. ने भी यही लिखा है।

छन्द।

"अवतरे परेशा मनहुँ दिनेशा सुत द्विजेश तनुधारी।
पूजित शिवशेषा शुभ उपदेशा तारकमन्त्र प्रचारी॥
कलिकलुष विनाशी प्रेमप्रकाशी सुखराशी दुखहारी।
प्रभुइच्छाचारी स्ववशविहारी जगजीवन उपकारी॥
रक्षक श्रुतिसेतू सतकुलकेतू वन्दित सदा अमानं।
निगमादिसुगीतं चरित पुनीतं भवभयशमन निदानं॥
सेवितवरचरणं चातुरवरणं शरणदकृपानिधानं।
प्रदरसरामहिं सियवर संगहिं प्रेमभक्ति वरदानं॥"

चौपाई।

वपु बुधि विमल बढ़ैं केहि भाँती। जस शशि पाइ पक्षसित-राती॥
आठ वर्ष के भे मतिवाना। भयो यज्ञ उपवीत विधाना॥

आठ वर्ष की अवस्था में विद्या आरंभकर चार वर्ष में ही ऐसे पण्डित होगए कि प्रयागनिवासी पण्डित लोग अब आपको अधिक नहीं पढ़ा सकते थे। तब बारह वर्ष की अवस्था में प्रभु श्रीकाशीजी आए।

चौपाई।

तहाँ वेद वेदान्त विशेषा। सकल किये करतल अवशेषा॥

आप संन्यासी के शिष्य होके "स्मार्त" रीति से अपने धर्म कर्म में प्रवृत्त हुए। प्रथम आपका नाम श्रीरामदत्त ऐसा था; किसी दण्डी विद्वान् के समीप रहके ब्रह्मचर्य्ययुक्त विद्या पढ़ते थे। एक दिवस स्वामी श्रीराघवानन्दजी के पास प्राप्त होके प्रणाम किया; आप कृपादृष्टि से देख भावी वार्ता को जान के कहने लगे कि "तुम्हारे शरीर का तो आयुष भी पूर्ण हो चुका पर अभी लों तुम हरि शरणागत न हुए!"। यह सुन, आके, उन दण्डीजी से सब बात आपने कही। दण्डी विज्ञ तो थे ही उस बात को सत्य विचार के बोले कि "बात तो सत्य है परन्तु उपाय मेरे किये न हो सकेगा तुम उन्हीं महानुभावजी के शरणागत होके शरीर की रक्षा करो"।

ऐसा हितोपदेश पाके, आपने श्रीस्वामी राघवानन्दजी को साष्टाङ्ग प्रणामकर विनय किया कि "हे प्रभो! यह शरीर और आत्मा आपको अर्पण है इसकी दोनों लोक में रक्षा कीजिये" तब श्रीस्वामीजी ने श्रीरामषडक्षर मंत्र आदि पंचसंस्कार कर रामानन्द नाम दिया और प्राणायाम आदिक रीति बता, उतारने की युक्ति भी सिखाके समाधि में स्थित कर दिया; काल आया देखके चला गया। थोड़े ही काल में आप समाधिस्थ हो गए यह कुछ बड़ी बड़ाई नहीं है आप तो स्वयं प्रभु के अवतार ही हैं; परन्तु यह सब लीला है, सो भी उचित ही है॥

कुछ काल में आप समाधि से उतरके श्रीमंत्र जाप और गुरुसेवा में तत्पर हुए। श्रीराघवानन्द स्वामीजी महाराज तथा भगवान् रामानन्दजी के परस्पर सत्सङ्ग की शोभा क्या कही जावे।

दो० "दोउ महान मिलि सोहहीं, सम वसिष्ठ रघुनाथ।
उपमा अपर समुद्र जस, सहित ब्रह्मद्रव पाथ॥"

स्वामी श्री १०८ रामानन्दजी ने बहुत तीर्थाटन किया।

"श्रीकृष्ण-चैतन्य-चिरंजीवी" ("श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु" नहीं) की दया से अष्ट सिद्धि को प्राप्त हुए।

चौपाई।

जगत गुरू, आचारज भूपा। रामानन्द राम के रूपा॥

"श्रीरामानन्दीयसम्प्रदाय"।

आप जब पुनः श्रीगुरु दर्शन को गए तो आचारी गुरुभाइयों ने आचार विचार का आग्रह न देख इनको दंड करने के लिये गुरु महाराज से कहा। परन्तु श्रीगुरुजी ने तो आपको यह आज्ञा दी कि "तुम अपना सम्प्रदाय ही अलग प्रचलित करो।"

ऐसा ही किया; सो "श्रीरामावत" वा "श्रीरामानन्दीय" सम्प्रदाय आपका प्रसिद्ध ही है॥

दो० "स्वामिही सेवा वश किये, रामानन्द उदार।
दै सरवस गुरु रामपुर, गवने दशएँ द्वार॥"

आपकी गुरुसेवा, भजन, साधुगुण, तेज, प्रताप, देख और श्रीप्रभु के अवतार जान, अपनी सब भजन-संपत्ति सौंपके, अपनी इच्छा ही से दशम द्वार से गमन करके कृपालु श्रीराघवानन्दजी श्रीरामधाम में प्राप्त हुए॥

तब सूर्य्यरूपी श्रीरामानन्दजी काशीरूप आकाश में प्रकाशमान, और पूर्व छप्पय बिषे कथित श्रीअनन्तानन्दादि आपके शिष्य हुए। वेई तेज के स्थान कला शोभित हुई। इस प्रकार श्रीरामानन्द सूर्य्य ने प्रकट होके कलियुग की कुचालरात्रि को नाश किया तथा प्रबल पाखण्डरूपी उस रात्रि के अन्धकार को भी नाश किया; तब अभक्त भगवत्-विमुख छुप रहे॥

और आपके शिष्य प्रशिष्य भागवत वेषधारी वैष्णव धूप (घाम) प्रकाश के सरीखा चारों धामों में स्थान स्थान में भर गए। एवं महात्मा सन्तसमूह कमलों के सम विकाशमान हुए। ऐसे सूर्य्यरूपी श्रीरामानन्दस्वामी उदित हुए॥

कवित्त।

"मन्द कलिकाल के कुचाल-ते अमन्दपाप फैले पंथ निन्द वेद भक्तिहू निकन्द के।
देखे रघुनन्द जब सबै जन्तु द्वन्द दले लीन्हें अवतार तब दायक अनन्द के॥
सेतु विसतारे मंत्र तारकप्रचारे किए जीव भवपारे देहधारक स्वच्छन्द के। सन्तसिन्धु-
चन्द ऐसे करुणा के कंद "रसरङ्गमणि" बंद पद स्वामी रामानन्द के॥१॥
रामानन्द स्वामी से भए न कोई और होने जिनको विदित तीनों लोक में प्रताप हैं।
काम क्रोध लोभ मोह मत्सरादि सुण्डादण्ड मर्दन को केशरी ज्यौं राजैं करिदाप हैं॥
विमुख पाखंडी आन धर्मी तमतोम रवि, अभिमान सागर को कुंभज से आप हैं।
रामभक्ति शालिक्षेत्र पोषिबे को वारिद से आश्रित प्रपन्नन के एक माई बाप हैं॥२॥"

चौपाई।

"छायो लोक प्रताप प्रकाशा। कलिकरतब पातक तम नाशा॥
घोर कुपंथ चोर बिलखाने। कुमुद कर्मकांडी सकुचाने॥
रामभक्ति सरसीरुह वृन्दा। रवि लखि भे विकसितसानन्दा॥"

चौपाई।

"सहित तेरहो शिष्य अरामी। राजत श्रीरामानँद स्वामी॥
शिष्य शिष्य उपशिष्य समेता। शोभित पूजित कृपानिकेता॥
नित प्रति रामकथा सतसंगा। कहत बहत जनु दूसरि गंगा॥
तारत जीवन मरत महेशू। सतनु तरत स्वामी उपदेशू॥"
"अस प्रभु भगवत रामानन्दा। परम धरम तनु जनु सुखकन्दा॥
हिय विचार किय कृपानिकेतू। महि दिगविजय करन के हेतू॥
संग शिष्य परशिष्य अनन्ता। तिमि तिहुँ सम्प्रदाइ बहु संता॥
आगे फहरत ध्वजा निशाना। तेहि पर बैठ बीर हनुमाना॥
'जै जै सियाराम' धुनि छाई। चले विजय कर शंख बजाई॥"
दो० खंडन किये कुपन्थ ये, यथा योग दै दंड॥
सतमारग आने तिनहिं, करि उपदेश अखंड॥

चौपाई।

"चारिव वरण आश्रम माहीं। कीन्हें "रामभक्त" सबकाहीं॥
राममन्त्र मन्त्रार्थ विधाना। यथायोग दीन्हें मतिवाना॥
यहि विधि करि दिगविजयउदंडा। थापे 'रघुपति भक्ति अखंडा'॥
प्रभु जेहि हेतु लिये अवतारा। सत्यसन्ध सोइ किये प्रचारा॥
रामानन्द प्रताप अपारा। को कवि लहै कथन करि पारा॥
छं० "भारी प्रभाव प्रताप रामानन्द को, को कहि सकै?
जो परम प्रभु अवतार शारद वदत जस जाको जकै॥"
"श्रीरामरूप अनूप रामानन्द स्वामी हैं सदा।
शुचि ज्ञानदायक ध्यान लायक हरन मल मायामदा॥"

सोरठा।

"शारदशशी समान, कीरति रामानन्द की।
पावन पुण्य महान, नाशनि पातक वृन्द की॥"

परमाचार्य स्वामी श्रीरामानन्दजी का यह चरित "श्रीअगस्त्यसंहिता भविष्योत्तर-खण्ड" में पाँच अध्याय से वर्णित है सो श्रीकाशी कुञ्जगली के पास "हजारीलाल गणेशप्रसाद" के यहाँ मिलता है, सूर्यप्रभाकरशिलायंत्र सं० १९३५ में छपा। उसी से भाषा में "श्रीरामानन्दयशावली" नामक ग्रन्थ बना है। श्रीरामअनन्यसखा, परमहंस श्री ६ सीताशरणजी महाराज ने, श्रीपाँच रामरसरङ्गमणिजी महाराज से "श्रीरामानन्द-यशावली" के नाम से भाषा प्रबन्ध कराके छपवाया है, उससे, तथा मुंशी श्री ६

तपस्वीरामजी कृत "रमूजे मिहोवफा" से लेके संक्षेपता से यह कथा लिखी गई है।

श्लोक—नम आचार्य्यवर्य्याय रामानन्दाय धीमते ॥
मोक्षमार्गप्रकाशाय चतुर्वर्गप्रदाय च ॥ १ ॥
पाखण्डेन विदूषितान्स्वविमुखाञ्ज्ञात्वाकलौ वै जनान्
तत्कल्याणपरः कृपापरवशः साकेतवासी स्वयम् ॥
रामानन्दसुसंज्ञया प्रयजने श्रीपुण्यसद्मद्विजा-
ज्जातस्तं विनमामि नारदयुतं श्रीरामचन्द्रं हरिम् ॥ २ ॥
श्रीपुण्यसदनस्तातः सुशीला जननी तथा ॥
यस्यासीद्रामानन्दं तं जगद्गुरुं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

सो० रामभक्ति दातार, ज्ञान विराग विधायनी।
सुनतहि भली प्रकार, सुखद मोह तमहारिनी ॥ (कथा)

चौपाई।

बहुत काल वपु धारण कीन्हे। भू महँ भक्ति भाव भर दीन्हे ॥

	संवत् विक्रमी	गतकलि	ईसवी सन्
आपका परधाम गमन	१४६७	४५११	१४११
	वैशाख शुक्ल तृतीया		

पृथ्वी पर आप १११ ❀ वर्ष पर्य्यन्त विराजमान रहे।

श्लोक—वेदाङ्केन्दुधरासंख्ये (११६४) वर्षे वैक्रमराजके ॥
श्रीमद्रामानुजाचार्यो ह्यन्तर्धानमगात्स्वयम् ॥ १ ॥
श्रीमद्विक्रमवत्सरेऽश्वरसवारीशेन्दुसंख्ये (१४६७) धरां
त्यक्त्वा माधवमासके सुदि तृतीयायां तिथावुज्ज्वलम् ॥
धर्मं भागवतं विमुक्तिफलकं विन्यस्य जीवेषु वै
रामानन्दसुदेशिकस्समगमत्साकेतलोकं परम् ॥ २ ॥

"बहुत काल"। जिनकी आयु १६ ही वर्ष की अवस्था में पूर्ण हो चुकी थी सो महामुनि यदि १११ वर्ष विराजमान रहे तो "बहुत काल" इसको कहने में शंका ही क्या?

❀ "प्रसिद्ध ही है कि आपका समय सिकन्दर लोदी (१४१८ ईसवी) से पूर्व था ॥

"वर्ष सप्तशत" जो लिखा है (श्रीरघुराजसिंहजी ने,) सो न जानूँ कैसे ? १३५६ से ७०० तो २०५६ में होंगे; यह अभी भी संवत् १९६२ ही है। स्वामीजी को अन्तर्धान हुए सैकड़ों वर्ष बीत चुके। न जानूँ उनने ७०० किस अभिप्राय से लिखा ? इस श्लोक से तो १११ ही (१४६७−१३५६=१११) वर्ष स्पष्ट हैं॥ इसके अतिरिक्त दो और ने भी "१०० वर्ष से ऊपर" लिखा है॥ इतिहासों से ("१४०० ईसवी") संवत् १४५७ प्रगट है। वह भी इसके समीप मिलता है॥

(१) श्रीअगस्त्यसंहिता भविष्योत्तरखण्ड की कथा तो प्रसिद्ध है ही॥

(२) ऐसा भी लिखा है कि "एक कल्प में कलि ४४४७ की भाद्रकृष्णाष्टमी को, श्री १०८ रामानन्द स्वामी श्रीकपिलदेव भगवान् के अवतार, गालवाश्रम के समीप गौड़ ब्राह्मण के पुत्र हो प्रगट हुए; १०८ वर्ष की अवस्था में कलि के ४५५५ वर्ष गत होने पर परधाम को सिधारे॥"

(३) और भविष्यपुराण के "तृतीय प्रतिसर्ग पर्व" के चतुर्थखण्ड में लिखा है कि आप श्रीसूर्य भगवान् के अवतार, 'देवल' मुनि के पुत्र होंगे—

भविष्यपुराण में ये (छः) श्लोक आपके यश में हैं—
"इति श्रुत्वा स्वर्गगाथां वैशाख्यां देवराट् स्वयम्।
प्रत्यक्षं भास्करं देवं ददर्श सहितं सुरैः॥ १॥
भक्तिनम्रान्सुरान्दृष्ट्वा भगवांस्तिमिरापहः।
उवाच वचनं रम्यं देवकार्य्यपरं शुभम्॥ २॥
ममांशात्तनयो भूमौ भविष्यति सुरोत्तम।
सूत उवाच—इत्युक्त्वास्वस्य बिम्बस्य तेजोराशिं समन्ततः॥ ३॥
समुत्पाद्य कृतं काश्यां रामानन्दस्ततोऽभवत्।
देवलस्य च विप्रस्य कान्यकुब्जस्य वै सुतः॥ ४॥
बाल्यात्प्रभृतिसज्ज्ञानी रामनामपरायणः।
पित्रा मात्रा यदा त्यक्तो राघवं शरणं गतः॥ ५॥
तदा तु भगवान्साक्षाच्चतुर्दशकलो हरिः।
सीतापतिस्तद्धृदये निवासं कृतवान्मुदा॥ ६॥
इति ते कथितं विप्र मित्रदेवांशतो यथा।
रामानन्दस्तु बलवान् हरिभक्तेश्च संभवः॥ ७॥
इति भविष्यपुराणे तृतीये प्रतिसर्गपर्वणि सप्तमाध्याये श्लोकाः॥

आप अभक्तों से कभी वार्तालाप (बरन् चार आँखें भी) नहीं करते थे, परन्तु इतने पर भी, यदि भक्ति भाव देखते बूझते थे चाहे किसी जाति में क्यों न हो तो उसका बड़ा ही आदर करते थे ॥

श्रीकाशीजी में आपकी खड़ाऊ श्रीपंचगंगाघाट पर अभी तक विराजमान हैं ॥

आपने श्रीगंगासागरसंगम कपिलदेवस्थान को प्रगट किया जो लुप्त हो गया था।

दो० रामानन्द उदारअति, कलिमलनाशनहार। सेवत भक्तिसमेतशुभ, भुक्ति मुक्तिदातार ॥
आचारजवरदिगविजय, जेजनसुनहिंसप्रेम। विजय विभूति विवेकते, लहहि भक्तियुतक्षेम ॥
चौपाई। अस प्रभु जगपावन वपुधारी। कृपासिन्धु दासन हितकारी ॥
तातें तासु जन्म दिन माहीं। जन्म महोत्सव रचैं उछाहीं ॥

श्रीअयोध्यावासी प्रायः श्रीरामानन्दीय हैं ही, और अनेक जगहों में आपका व्रत तथा उत्सव होता ही है, तथापि श्रीसीतारामकृपा से (१) श्रीकनकभवन के परमहंस श्री ६ सीताशरणजी महाराज, (२) श्री-अवधभूषण पण्डित श्री ६ रामवल्लभाशरण महाराजजी, जानकीघाट (३) और श्रीरामकोट जन्मस्थान में, इन तीनों स्थानों में श्रीरामानन्द-जन्मोत्सव विशेष करके होता है ॥

	श्रीरामानुजजी		श्रीरामानन्दजी	
	जन्म	परधाम	जन्म	परधाम
कलि (गत)	४११८	४२३८	४४००	४५११
विक्रमीय संवत्	१०७४	११९४	१३५६	१४६७
ईसवी सन्	१०१७	११३७	१३००	१४११
कितने वर्ष विराजे	१२०		१११	
१९६२ पर्य्यन्त कितने वर्ष	८८८	७६८	६०६	४९५

दोनों आचार्य्यों के बीच अन्तर १६२ वर्ष।

१. श्रीसीतारामजी	११. श्रीबिनोदानन्दजी
२. श्रीहनुमंतजी	१२. श्रीधरनीदासजी
३. श्रीराघवानन्दाचार्य्य स्वामीजी	१३. श्रीकरुणानिधानजी
४. भगवान् रामानन्दजी	१४. श्रीकेवलरामजी
५. भगवान् रामानन्दजी	१५. श्रीरामप्रसादीदासजी
६. श्रीसुरसुरानन्दजी	१६. श्रीरामसेवकदासजीपरसा
७. श्रीबलियानन्दजी	१७. स्वामी श्री १०८ रामचरण-दासजी महाराज
८. श्रीसेउरियास्वामीजी	१८. सीतारामशरण भगवान्-प्रसादजी
९. श्रीबिहारीदासजी	
१०. श्रीरामदासजी	

(ब० ना० सिं०)।

(२) मुन्शी श्रीतुलसीरामजी तथा श्रीप्रतापसिंहजी (और H. H. Wilson आदिक अंग्रेज़ों) ने श्री १०८ रामानन्द स्वामीजी को श्रीरामानुज स्वामीजी से "पाँचवाँ" ही लिखा है; अर्थात् "(१) श्रीरामानुज स्वामी (२) श्रीदेवाचार्य्यजी (३) श्रीहरियानन्द (प्रधानानन्द) जी (४) श्रीराघवानन्दजी, और (५) अनन्त श्रीरामानन्द स्वामीजी" और बीच के महानुभावों के नामों को उन्होंने छोड़ दिया है ॥

(३) अनन्त श्रीरामानन्द भगवान् के जन्म का समय तो अनेक (आठ, नव) ग्रन्थों में पाया जाता है; परन्तु आप कितने दिन संसार में बिराजे ? कब परमधाम को गए ? कठिनता यदि है तो इसी के ठहराने में ॥

(४) ☞ आपके पिता का नाम श्रीरामानन्द यशावली में "श्रीभूरिकर्माजी" लिखा है ॥ भूरिकर्मा, तथा "पुण्यसदन" (श्रीअगस्त्य संहिता) एक ही बात है ॥

(५) श्रीअगस्त्यसंहिता और भविष्यपुराण की कथा की तो इस प्रकार से एकता हो जाती है कि सूर्य्यमण्डल के अन्तर श्रीरामजी विराजे हैं ही ।

श्लोक—"सूर्य्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ।
नमामि पुण्डरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम् ॥ १ ॥"

इससे, सूर्य्यमंडल ही से जन-हृदय-तिमिर-नाशक श्रीरामांश अवतार हुआ ॥ और काशी से जन्मस्थान की भिन्नता यों नहीं कि श्रीकाशीजी में श्रीगुरुशरणागत होने से अपर जन्म ही जानिये क्योंकि ऐसा कहा ही जाता है । अर्थ विचार से "देवल" तथा पुण्यसदन (भूरिकर्मा) की एकता भी मानिये । शंका न कीजिये । दोनों ग्रन्थों (श्रीअगस्त्यसंहिता तथा भविष्यपुराण) की कथा एक ही समझिये ॥

---

(१३) महामुनि श्रीदेवाधिपाचार्य्य स्वामी ।

महामहिमायुक्त श्रीदेवाचार्य्य महाराजजी एक समय श्रीकाशी यात्रा के मार्ग में किसी ग्राम में एक वृक्ष के समीप दशमस्कन्ध

(श्रीभागवत) कह रहे थे; कथा में "यमलार्जुन" का प्रसंग था; ज्योंही अध्याय पूरा हुआ कि उसी क्षण पास का वृक्ष, किसी प्रत्यक्ष-कारण के विनाही, अकस्मात् गिर पड़ा अड़ररधाम ! और साथ ही आश्चर्य्यमय यह घटना भी हुई कि एक विमान और एक पुरुष सब सन्तों ने देखा; उस मनुष्य ने आपके चरणसरोज की वन्दना करके कहा कि मैं बड़ा ही पापी, नरक से हो आके, यही वृक्ष होके यहाँ था; इस समय श्रीहरिकथा के श्रवण से मैं निष्पाप हो, श्रीभगवत्कृपा से इस विमान पर चढ़ परधाम को जाता हूँ, यह आप के ही दर्शनों का प्रभाव है ॥

---

(१४) श्रीहरियानन्द आचार्य स्वामी ।

हरिआनन्द में सदा छके हुए श्री ६ हरियानन्दजी ने एक समय पुरुषोत्तमपुरी में जा आषाढ शुक्ल द्वितीया को रथारूढ़ श्रीजगन्नाथजी के दर्शन किये; चलते चलते रथ रुक गया था; खींचे ठेले से हिलता बढ़ता न था। आपने पुकार के कहा कि "सब कोई रथ को छोड़ दो, श्रीजगदीश कृपा से रथ आपही चलेगा" ऐसा ही हुआ, सौ पगतक रथ आपही दौड़ा गया। जयजयकार ध्वनि छा गई। ऐसे ऐसे इतिहास आप के यश के अनेक हैं ॥

छप्पय ।

"चरणकमल बन्दौं कृपालु हरियानँद स्वामी ।
सर्वसु सीताराम रहसि दशधा अनुगामी ॥
बालमीक वर शुद्ध सत्त्व माधुर्य रसालय ।
दरसीरहसि अनादिपूर्व रसिकन की चालय ॥
नित सदाचार मैं रसिकता अति अद्भुतगति जानिये ।
जानकिवल्लभकृपा लहि शिषप्रति शिष्य बखानिये ॥"
(श्रीयुगलप्रिया, रसिकभक्तमाल)

---

(१५) आचार्य स्वामी श्री १०८ राघवानन्दजी ।

कुछ तो आप का प्रताप, स्वामी अनन्त श्रीरामानन्दजी के चरित

में लिखा हो जा चुका है एक समय एक राजा ने अपने लड़के को शिष्य करने के लिये बहुत प्रार्थना कहला भेजी; उसी क्षण और दो जनों की भी प्रार्थना विनय सुनके, कृपासिन्धुजी एकही समय तीनों ठाम तीन रूप से गए। उस दिन तो किसी ने यह भेद न पाया, पर दूसरे दिन सब वार्ता प्रसिद्ध हो ही तो गई॥

आपके चरित का पार भला कौन पासकता है, कि जिनके शिष्य स्वयं प्रभु (भगवान् रामानन्द) ही हुए॥

छप्पय।

"रसिक राघवानन्द बसैं काशी प्रस्थाना।
गुरुरूप शिव लये दये रसिकाई ध्याना॥
काल करालहि हटकि शिष्य किय रामानन्दा।
प्रगटी भक्ति अनादि अवध गोपुर स्वच्छन्दा॥
आचारज को रूप धरि जगत उधारन जतन किय।
महिमा महाप्रसाद की प्रगटि रसिक जन सुक्ख दिय॥"
(श्रीयुगलप्रिया, रसिक भक्तमाल)

---

(१६) श्रीअनन्तानन्दजी।

(२५३) छप्पय। (६९०)

अनन्तानन्दपद परसिकै लोकपाल से ते भए॥ योगानन्द[१] गयेश[२] करमचन्द[३] अल्ह[४] पैहारी[५]। सारी रामदास श्रीरंग[६] अवधि गुण महिमाभारी॥ तिनके नरहरि उदित मुदित मेहा* मंगलतन। रघुबर यदुबर गाइ बिमल कीरति संच्यो धन॥ हरिभक्ति सिन्धु बेला † रचे पानि पद्मजा ‡ सिर दए। अनन्तानन्द पद परसिकै लोकपाल से ते भए॥ ३७॥ (१७७)

---

* "मेहा"=पाठान्तर 'महा' भी है; "मेह"=मेघ। † "बेला"=मर्य्यादा, बेरा, नावबेरा; इति। ‡ "पद्मजा"=श्रीलक्ष्मीजी।

वार्त्तिक तिलक।

श्रीअनन्तानन्दजी महाराज के चरणसरोज के विमल रज को स्पर्श करके अर्थात् चरणशरण होके, लोकपालों के सदृश जीवों के लोक परलोक में रक्षक श्रीभक्त ये सब हुए—श्रीयोगानन्दजी; श्रीगयेशजी; श्रीकर्मचन्दजी; श्रीअल्हजी; श्रीपयहारी कृष्णदासजी; श्रीसारीरामदासजी; श्री श्रीरंगजी; ये सब सद्गुणों के तथा भारी महिमा के सीमा हुए। तिन्ह के ❀ शिष्य मङ्गलस्वरूप आनन्द के मेघ श्रीनरहरिदासजी प्रकट हुए, जिन्होंने, श्रीरघुबर कृपालजी तथा श्रीयदुबरजी, (दोनों) के सुयश गान करके, निर्मल कीर्त्तिरूपी धन का संचय किया। श्रीअनन्तानन्दजी ने ये शिष्य † ऐसे किये कि जो हरिभक्तिरूपी समुद्र के बेला (मर्य्यादा) ही हुए; और पद्मजा अर्थात् श्रीजानकीजी महारानी ने, आपके भजन से प्रसन्नतापूर्वक प्रकट होके श्रीअभय करकमल आपके मस्तक पर रक्खा॥

कहते हैं कि आप एक बेर संभर प्रदेश में पहुँचे वहाँ के राजमाली ने आपके साथ के सन्तों को बिही के फल लेने से रोक दिया। दुःखित हो सन्तों ने आपसे कहा; दूसरे दिन बिही एक भी न पाया गया। राजा ने सब वृत्तान्त सुन के कारण जाना।

श्रीस्वामीजी के शरणागत हुआ। इस प्रकार से वह सारा देश भगवद्भक्त हो गया॥

❀ तिन्ह के अर्थात् श्रीअनन्तानन्दजी महाराज के शिष्य; और कोई २ महात्मा ऐसा भी लिखते हैं कि श्री श्रीरंगजी के शिष्य।

(कवित्त) "रामानन्द स्वामी जू के शिष्य श्रीअनन्तानन्द, शीतल सुचन्दन से, भक्तन अनन्दकर। सन्तन के मानद, परानँद मगन मनमानसी स्वरूप छवि सरसिमराल वर॥ जनकलली की कृपापात्र चारुशीला अली, रूप में अभिन्न भुंजै रंगभूमि लीला पर। ऊपर समाधि; उर अमित अगाध नैन अँसुवा स्रवत, उमगत मानो सुधासर॥" (रसिक भक्तमाल)

† अथवा, यह भी संभव है क श्रीअनन्तानन्दजी ने "भक्तिसिन्धुबेला" नामक कोई ग्रन्थ ही रचा हो। अथवा, श्रीसीतारामजी का भक्तिरूपी अगाधसिन्धु में विहार करानेवाले बेला अर्थात् बेरा (नावबेरा) रूपी ये शिष्य सब हुए। इन महात्माओं से भक्ति की हति है॥

(१७) श्री श्रीरंगजी।

(१५४) टीका। कवित्त। (६८९)

घोसा एक गाँव तहाँ श्रीरंग सुनावँ हुतो, बनिक सरावगी की कथा लै बखानिये। रहतो गुलाम गयो धर्मराज धाम, उहाँ भयो बड़ो दूत कही "सुनु अरे बानिये॥ आए बनिजारे लैन देख तूं दिखावैं चैन, बैल शृङ्ग मध्य पैठि मारे पहिचानिये। बिनु हरिभक्ति सब जगत की यही गति, भयो हरिभक्त श्रीअनन्त पद ध्यानिये"॥ ११७॥ (५१२)

वार्त्तिक तिलक।

जयपुर में 'देवसा' नामक एक ग्राम है, वहाँ प्रथम सरावगी मत के बनिये के घर में जन्म श्रीरंगजी का था, इनके श्रीरामभक्त होने की कथा यों है, कि इनके गृह में एक टहलुआ था, वह मर के श्रीधर्मराजजी के लोक में एक बड़ा यमदूत हुआ।

वह एक दिन इसी देवसा गाँव में, यमराज का भेजा आया; और पूर्व परिचय से श्रीरङ्ग के सामने प्रत्यक्ष होके बोला कि "रे बनिया! सुन, तुझे एक कौतुक दिखाता हूँ; देख ये जो बनजारे यहाँ अन्नादिक लेने आए हैं, उनमें से एक का प्राण लेने मैं आया हूँ; सो उसी के बैल की सींग पर बैठ के अभी अभी उसको मारे डालता हूँ, तू देख के समझ लेना और जानना कि श्रीसीतारामजी की भक्ति विना सब जगत् के लोगों की इसी प्रकार की नीच मृत्यु होती है। इस घटना को प्रत्यक्ष देख चुकने पर यदि तुझे हरिकृपा से चेत हो आवे तो श्रीअनन्तानन्दस्वामी की शरण लेना॥"

श्रीरङ्गजी उस ठिकाने उस समय गये और देखा कि बनजारे को उसी के बैल ने अपनी सींगों से, इनके देखते ही देखते, पेट चीर के मार डाला।

यह घटना देख, इन को वस्तुतः भय तथा ज्ञान वैराग्य हुआ; और अपने कुल के सब अनाचारों को त्याग के श्रीअनन्तानन्द स्वामी के चरण शरण में आ, श्रीराममन्त्रादिक पंच संस्कार ग्रहण

कर, गृहस्थाश्रम ही में रहके, आप बड़े महात्मा और परम भक्त हो गए॥

(१५५) टीका। कवित्त। (६८८)

सुत को दिखाई देत भूत, नित सूख्यो जात, पूछें, कही बात, जाइ वाके ठौर सोयो है। आयो निशि मारिबे को धायो यह रोष भयो, "देवो गति मोकों" उनि बोलिकै सुनायो है॥ "जाति को सोनार पर नारि लगि प्रेत भयों, लयों तेरी शरण मैं ढूंढ़ि जग पायो है"। दियो चरणामृत लै, कियो दिव्य रूप वाको अति हीं अनूप, सुनो भक्ति भाव गायो है॥ ११८॥ (५११)

वार्त्तिक तिलक।

कुछ कालान्तर की बात है कि श्रीरंगजी के पुत्र को एक प्रेत रात में दिखाई देता था; जिसके भय से वह लड़का सूखा जाता था; आपने उससे दुर्बलता का कारण पूछा। लड़के ने बात सब कही।

जहाँ वह पुत्र सोता था वहीं स्वयं आप भी जा सोए; प्रेत जिस समय आया करता था अपने उसी समय पर आही तो पहुँचा। आप क्रोधयुक्त हो, कोई आयुध लेके, उसे मारने दौड़े।

उस प्रेत ने कहा कि "मुझे आप इस दुष्ट योनि से छुड़ा के शुभ गति दीजिये; मैं इसी ग्राम का अमुक सोनार था, परस्त्री में प्रीति करने से प्रेत हुआ हूँ। मैं अपनी गति के लिये संसार में ढूँढ़ता ढूँढ़ता आपही को समर्थ जान के शरणागत हुआ हूँ।"

यह सुनते ही, आपने दया करके श्रीचरणामृत देके, उसको उस अधम योनि से छुड़ाके दिव्य रूप कर दिया।

आपके पास श्रीपीपाजी भी कृपा करके आए थे सो कथा श्रीपीपा-चरित में आवेगी॥

सुनिये, श्री श्रीरङ्गजी की भक्तिभाव का अत्यन्त अनूप प्रभाव इस प्रकार से गान किया गया है। और आपके चरित्र बहुत हैं पर यहाँ इतने ही कहे गए॥

---

(१८) पयहारी श्रीकृष्णदासजी ।

(१५६) छप्पय । (६८७)

निर्वेद[1] अवधि कलि कृष्णदास, अन परिहरि पय पान किया ॥ जाके सिर कर धस्यो, तासु कर तर नहिं अड्ड्यो । अप्यों पद निर्वान[2] सोक निर्भय करि छ-ड्ड्यो ॥ तेज पुंज बल भजन महामुनि ऊरधरेता[3] । सेवत चरण सरोज राय राना भुविजेता[4] ॥ दाहिमा वंश दिनकर उदय, सन्त कमल हिय सुख दियो । निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास, अन परिहरि पय पान कियो ॥ ३८ ॥ (१७६)

वार्त्तिक तिलक ।

कलियुग में तीव्र वैराग्य की सीमा श्रीकृष्णदासजी महाराज अन्न को त्याग के केवल दूध ही पिया करते थे। और योग ज्ञान भक्ति निधान सिद्ध कैसे हुए कि जिस जनके सीस पर करकमल रक्खा, उसके हाथों के नीचे आपने अपना हाथ नहीं ओड़ा (पसारा) अर्थात् उससे कभी कुछ न लिया ।

और उस जनको संसार के सब शोकों से निर्भय ही कर छोड़ा, तथा अन्त में मोक्षपद दिया ।

तेज के पुंज, श्रीरामभजन के महाबल से युक्त, महामुनि और उर्द्ध्वरेता थे । जिनके चरणसरोज की सेवा पृथ्वी के जीतनेवाले अनेक राजा राना किया करते थे। "दाहिवां ब्राह्मणों" के वंश में सूर्य्य सम उदित होकर कमलरूपी समस्त सन्तों के हृदय को आपने आनन्द दिया प्रफुल्लित किया ।

---

१ "निर्वेद"=वैराग्य, विराग । २ "निर्वान"=मोक्ष, मुक्ति । ३ "ऊरधरेता"=जिसका वीर्य्य कभी न गिरे, ब्रह्माण्ड पर चला जावे । पाठान्तर "सोव" (उसको) । ४ "भुविजेता"=पृथ्वी को जीतनेवाले ।

जो कि आपने सर्वदा अन्न को त्यागके दुग्ध ही पान किया, अतएव आपकी पयहारी (पयोहारी) संज्ञा प्रसिद्ध हुई है।

जो कि आपने किसी शिष्य से कदापि कुछ न लिया; और अपने शिष्यों को जीवन्मुक्त ही कर दिया, इसी से टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने आदि ही में यह पद लिखा है कि—

"गुरू गुरताई की सचाई लै दिखाई जहाँ, गाई श्रीपैहारीजी की रीति रंग भरी है।"

दो० गुरू तो ऐसा चाहिये, शिख सों कछू न लेय।
शिष्यहुँ ऐसा चाहिये, तन मन धन सब देय ॥ १ ॥

(१५७) टीका । कवित्त । (६८६)

जाके शिर कर धस्यो, तातर न ओड़यो हाथ दीनो बड़ो बर, राजा कुल्हू को जु साखिये । परबत कंदरा में दरशन दायो आनि दियो भाव साधु हरिसेवा अभिलाखिये ॥ गिरी जो जलेबी थार माँझ ते उठाई बाल, भयो हिये शाल बिन अरपित चाखिये। लै करि खड़ग ताहि मारन उपाइ कियो, जियो संत ओट, फिरि मोल करि राखिये ॥ ११६ ॥ (५१०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपयहारीजी ने जिस शिष्य के माथे पर हाथ रक्खा उसके हाथों के नीचे अपना हाथ कभी न पसारा (न ओड़ा); और बड़ा भारी वर भक्ति-मुक्ति सो दिया; उसमें कुल्हू देश का राजा साक्षी है, कि जिसको आपने आके परबत के कन्दरे में दर्शन और राज्य दे, शिष्य कर, भाव भक्ति से उसको पूर्ण कर दिया, कि जिससे श्रीसीतारामजी तथा भक्त-सन्तों की सेवा सदा किया करता था; उससे तृप्त नहीं होता था। वरञ्च सेवाभिलाष ही से भरा रहता था॥

एक समय सन्तों का भण्डारा था; उसी में जलेबियों का थार श्रीसीतारामजी के मन्दिर में जा रहा था, उसी थार में से दो एक जलेबी गिर पड़ीं; सो भक्त राजा के छोटे से बालक ने उठाके मुख में डाल लीं। राजा को देखते ही हृदय में अति सन्ताप हुआ कि यह हमारा सुत

होके, बिना भगवदर्पण की हुई जलेबियाँ इसने खा लीं। इससे खड्ग लेके उसको मार डालना चाहा; तब सन्तों ने जाके उसको माँगके अपना करके, उसकी रक्षा की। फिर सन्तों ने कहा कि यह बालक अब हमारा हो गया; इसका मूल्य हमको देके इसको तुम अपने ही पास रक्खो॥

(१५८) टीका। कवित्त। (६८५)

नृपसुत भक्त बड़ो अबलौं[1] बिराजमान साधु सनमान में न दूसरो बखानिये। संत बधू गर्भ देखि उभै पनवारे[2] दिये, कही अर्भ[3] इष्ट मेरो ऐसी उर आनिये॥ कोऊ भेषधारी सो ब्योहारी पगदासिन[4] को कही कृपा करो कहा जानैं और प्रानिये। ऐपै तजिदेबो क्रिया देखि जग बुरो होत जोतिबहुदई[5] दाम राम मति सानिये॥ १२०॥ (५०६)

वार्तिक तिलक।

कुल्लू के राजा का पुत्र बड़ा भक्त, साधुओं की सेवा सम्मान करने में अद्वितीय है।

भंडारे में एक गृहस्थाश्रमी सन्त की बधू को गर्भवती देख, उसको दोहरा पारस (दो पनवारे) देकर, आपने यह कहा कि इस गर्भ में जो बालक है, वह मेरा इष्ट अर्थात् भगवद्भक्त है, उसके लिये मैं इस दूसरे पत्र के पदार्थ अर्पण करता हूँ।

कालान्तर में वस्तुतः उस गर्भ से हरिभक्त पुत्र ही हुआ।

एक मनुष्य सन्तों का वेष बनाए पगरखियाँ (पनहियाँ) बेचा करता और अति दरिद्र ही बना रहता था। भक्त राजा को उस पर दया आ गई। उससे बोले कि "आप तो कृपा करके कंटकादि से रक्षा करने के हेतु यह व्यापार करते हैं, परन्तु और जीव इस बात को कैसे जान सकें? सब जगत् के लोगों को यह व्यवहार देख के

---

१ "अबलौं"=अब तक अर्थात् श्रीप्रियादासजी के समय तक। २ "पनवारे"=पत्र पत्तल। ३ "अर्भ"=अर्भक, बालक। ४ "पगदासिन"=पनही, पगरखी, जूतियाँ। ५ "जोतिबहुदई"= हृदय में बहुत प्रकाश दिया, बहुत ज्योति दी; बहुत ज्योतियुक्त दान सुवर्ण दिया; जोतने-बोने को भूमि तथा खेत की सामग्रियाँ दीं।

अति अनुचित लगता है, अतः इस कर्म को त्याग दीजिए।" ऐसा कहकर बहुत जोति, भूमि जोतने बोने खेती करने को, (अथवा) बहुत जोतियुक्त दाम सुवर्ण तथा और द्रव्य देकर फिर कहा कि "श्रीसीताराम जी के चरणों में मन लगाके भजन कीजिये"।

वह वैष्णव-वेष-धारी उस कर्म को तजकर श्रीरामजी में लग गया और सन्तों की सेवा सम्मान करने लगा। भक्तराज की दया की जय, श्रीपयहारीजी महाराज के प्रभाव की जय॥

उस राजा के वंश का राजकुमार ("नृपसुत") श्रीभियादासजी महाराज के समय (संवत् १७६९) पर्यन्त विराजमान था।

पुनः श्रीपयहारीजी ने गलता तथा आमेर के कनफटे वैष्णवद्रोही योगियों को अपनी सिद्धता से उस मठ से निकाला—

रात भर रहने के लिये उस जगह आप गये थे, परन्तु उन विमुख योगियों ने कहा "यहाँ से उठ जाव" तब आपने अपनी धूनी की आग कपड़े में बाँध ली और दूसरी ठौर जा बैठे, वहीं आग कपड़े में से रख दी। कपड़े का न जलना देखके योगियों का महंत बाघ बनकर आप पर डपटा। आपने कहा, "तू कैसा गधा है" तुरन्त वह गधा हो गया और अपने बल से मनुष्य न बन सका। और सब योगियों के कान के मुद्रे कानों से निकल २ आपके पास पहुँचके ढेर लग गये। आमेर का राजा पृथ्वीराज आपकी सेवा में जाकर बड़ी प्रार्थना करने लगा, तब आपने गधे को फिर आदमी बनाके आज्ञा दी कि इस जगह को तुम सब छोड़के अलग रहो और लकड़ियाँ इस धूनी में पहुँचाया करो। उन सबों ने स्वीकार किया और राजा पृथ्वीराज भी श्रीपयहारीजी का चेला हो गया; और तभी से गलता आपकी प्रसिद्ध गादी हुई।

वन में गऊ आप से आप दूध श्रीपयहारीजी को देती थीं। आपने आमेर की एक गणिका को भी चेताया था जिसने परमगति पाई॥

(१६) श्रीयोगानन्दजी।

आप श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य थे। और महात्माओं ने आपको सांख्यशास्त्र के कर्त्ता श्रीकपिल भगवान् का अवतार भी लिखा है, इसी से आप योगानन्द नाम से प्रख्यात हुए॥

---

(२०) श्रीगयेशजी।

श्रीगयेशजी श्रीअनन्तानन्दजी के कृपापात्र अर्थात् श्रीरामानन्द स्वामीजी के पौत्र शिष्य थे। आपकी भक्ति की प्रशंसा किससे हो सकती है॥

---

(२१) श्रीकर्मचन्दजी।

श्रीअनन्तानन्दजी महाराज के शिष्य श्रीकर्मचंदजी बड़े नामानुरागी साधुसेवी तथा गुरुनिष्ठ थे॥

---

(२२) श्रीअल्हजी।

श्रीअल्हजी[१] श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्य थे। आपकी कथा आँब की डाल झुक आने की, ५४ वें मूल, २४६वें कवित्त, में आगे आवेगी।

(२३) श्रीसारीरामदासजी

कोई "सारीरामदासजी" एक ही नाम लिखते हैं,

और किसी ने "सारीदास" और "रामदास" दो व्यक्ति कहे हैं, अस्तु, आप श्रीअनन्तानन्दजी महाराज के शिष्य थे। एक समय आप कृपा करके श्रीचित्रकूटजी के पास "त्वरी" नाम के ग्राम में, वहाँ के लोगों को विशेष करके चेताने गए, क्योंकि उस गाँववाले वैष्णवों के द्रोही थे।

एक के द्वार पर आप पहुँचे, उस अभागे ने खड़े भी न रहने दिया; आप नदीतट पर जा ठहरे। उसी दिन वहाँ के राजा का पुत्र

---

१ दूसरे श्रीअल्हजी, श्रीकील्हजी के भाई का वर्णन, १३६वें मूल में होगा। तथा श्रीकर्मचन्दजी के पुत्र श्रीदिवाकरजी का॥

मर गया। जब उसको लोग नदीतट पर ले गये तो आपने उन लोगों से कहा कि "यदि तुम्हारा राजा और ग्रामवासी लोग आज से वैष्णवसेवा की प्रतिज्ञा करें तो अनन्त शक्तिवाले करुणाकर श्रीसीतारामजी से हम इस लड़के को पुनर्जीवित होने की प्रार्थना करें॥"

ग्रामवासियों सहित राजा ने सुबुद्धि मन्त्रियों के कहने से वही दृढ़ प्रतिज्ञा की; तब साधुचरणामृत (अपना पदतीर्थ) देकर आपने उस लड़के को जिला दिया॥

इस प्रकार से उस प्रदेश को आपने चेताकर हरिभक्त कर दिया॥

चौपाई।

"सन्तविटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह की करनी॥
हेतु रहित जुग जुग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी।"

सन्तकृपा की जय॥

३७वें मूल मे श्रीअनन्तानन्दजी के शिष्यों के नाम कह आए हैं।

१. श्रीयोगानन्दजी
२. श्रीगणेशजी
३. श्रीकर्मचन्दजी
४. श्रीअल्हजी
५. श्रीपयहारी कृष्णदासजी
६. श्रीसारीरामदासजी
७. श्री श्रीरंगजी

सो, इनकी चर्चा ऊपर हो चुकी अब श्रीनरहरिदासजी की वार्ता सुनिये, और तब, श्रीपयहारीजी के शिष्यों के नाम ३९वें मूलमें।

(२४) श्रीनरहरिदासजी।

किसी किसी ने श्रीनरहरिदासजी को श्री श्रीरंगजी का शिष्य लिखा है; और कोई कोई आपको श्रीअनन्तानन्दजी का पौत्र शिष्य नहीं, वरंच स्वयं श्रीअनन्तानन्दजी ही का शिष्य लिखते हैं॥

किसी का लेख है कि यही महाराज श्रीनरहरिदासजी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के गुरु थे; और किसी का मत है कि नहीं, श्रीगोस्वामीजी के गुरु श्रीनरहरिदासजी तो और ही थे, वे श्रीगोपालदासजी वाराहक्षेत्रवासी के शिष्य थे॥

अस्तु, श्रीनरहरिदासजी एक समय श्रीजगन्नाथजी के दर्शन को गए, वहाँ आपने सोचा कि "श्रीठाकुरजी को यदि साष्टाङ्ग दण्डवत् करूँ तो दर्शन से उतने समय तक असह्य विक्षेप होगा," इससे आप

उलटे हो पड़ रहे; पण्डों ने यह अनाचार देख उनके पाँव पकड़ घसीट के मन्दिर के बाहर कर दिया। पर, श्रीजगन्नाथजी की कृपायुक्त आज्ञा से सबों ने आपका बड़ा आदर सम्मान किया॥

(१५९) छप्पय। (६८४)

पैहारी परसाद तें, शिष्य सबै भये पारकर ॥ कील्ह[1], अगर[2], केवल[3], चरण[4], व्रतहठी नारायन[5]। सूरज[6], पुरुषा[7], पृथू[8] तिपुर[9] हरि भक्ति परायन ॥ पद्मनाभ[10], गोपाल[11], टेक[12], टीला[13], गदाधारी[14]। देवा[15], हेम[16], कल्यान[17], गंगा[18] गंगासम नारी ॥ विष्णु दास[19], कन्हर[20], रंगा[21], चांदन[22], सबीरी[23] गोबिंदपर[24]*। पैहारी परसाद तें, शिष्य सबै भये पारकर ॥ ३९ ॥ (१७५)

वार्त्तिक तिलक।

पयहारी श्रीकृष्णदासजी के ये सब शिष्य, श्रीगुरुप्रसाद से, जीवों को संसारसागर से पार उतारनेवाले और श्रीसीतारामभक्ति में परम परायण हुए—

१ स्वामी श्रीकील्हदेवजी
२ स्वामी श्री ६ अग्रदेवजी
३ श्रीकेवलदासजी
४ श्रीचरणदासजी
५ श्रीव्रतहठीनारायणजी
६ श्रीसूर्य्यदासजी
७ श्रीपुरुषाजी (पुरुषोत्तमदास)
८ श्रीपृथुदासजी
९ श्रीत्रिपुरदासजी (त्रिपुरहरि)
१० श्री पद्मनाभजी
११ श्रीगोपालदासजी
१२ श्रीटेकरामजी
१३ श्रीटीलाजी
१४ श्रीगदाधारी (गदाधरदास) जी
१५ श्रीदेवापण्डाजी
१६ श्रीहेमदासजी
१७ श्रीकल्याणदासजी
१८ श्रीशरीर श्रीगंगाबाईजी, श्रीगङ्गाजी के समान, अथवा गङ्गादासजी तथा श्रीगंगादास की स्त्री गंगाजी के सदृश
१९ श्रीविष्णुदासजी
२० श्रीकान्हरदासजी
२१ श्रीरंगारामजी
२२ श्रीचाँदनजी
२३ श्रीसबीरीजी
२४ एक महात्मा ने लिखा है कि २४ वें श्रीगोविन्ददास नाम के भी एक शिष्य श्रीपयहारीजी के थे॥

* "गोबिंदपर"=श्रीगोविंदपरायण, हरिभक्त।

(२५) श्रीकील्हदेवजी।

(१६०) छप्पय। (६८३)

गांगेय[1] मृत्यु गंज्यो[2] नहीं, त्यों कील्ह करन नहिं कालबश ॥ रामचरणचिंतवनि, रहति निशिदिन लौ लागी। सर्व भूत शिर निमित, सूर, भजनानँद भागी ॥ सांख्य[3] योग[4] मत सुदृढ़ कियो अनुभव हस्तामल। ब्रह्म रंध्रकरि गौन भये हरि तन करनी बल ॥ सुमेर-देव-सुत जग बिदित, भू बिस्तार्यो बिमल यश। गांगेय मृत्यु गंज्यो नहीं, त्यों कील्ह करन नहिं कालबश ॥४०॥ (१७४)

वार्त्तिक तिलक।

जैसे श्रीगंगाजी के पुत्र श्रीभीष्मजी को मृत्यु ने अपनी इच्छा से विनाश नहीं किया, तैसे ही स्वामी श्रीकील्हदेवजी को काल अपने वश नहीं कर सका; क्योंकि आपकी यह दशा थी कि श्रीराम सच्चिदानन्दजी के चरणकमल के स्मरण चिन्तवन में रात्रि दिन तैल-धारावत् एक रस लय लगी रहा करती थी। सम्पूर्ण प्राणीमात्र का सीस आपको देखके नमित हो जाता था; आप भी सर्व प्राणियों में श्रीसीतारामजी को अन्तर्यामी जानके सबको सीस नवाते थे; और आप माया मोह के दल को नाश करने में सूरवीर सन्त, भजनानन्द के भोक्ता, भाग्यशाली थे। सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र इन दोनों मतों के सिद्धान्तों का सुदृढ़ अनुभव आपको ऐसा था कि जैसे अपने हाथ में वर्तमान आँवले के फल का यथार्थ ज्ञान होता है॥

---

१ "गांगेय"=श्रीभीष्मजी। २ "गंज्यो नहीं"=नहीं नाश किया। ३ "सांख्य"=शास्त्र चौबीस तत्त्वमय प्रकृति को जानके उससे पृथक् पुरुष को जानना। ४ "योग"=अष्टांग साधन करके मूढ़, विक्षिप्त, घोर, शान्त और अनुरोध इन पाँचों चित्त की वृत्तियों को समेटके केवल प्रज्ञातयोग में जाके परमात्मा में प्राप्त होके असंप्रज्ञात समाधि में स्थित हो जाना॥

अन्त में अपनी इच्छा ही से सुषुम्ना मार्ग होकर, ब्रह्मरंध्र बेधके, हरिकृपा से अपनी करनी के बल से श्रीरामरूप हो गए; अर्थात् सारूप्यमुक्ति को प्राप्त हुए॥

श्रीसुमेरदेवजी के पुत्र (श्रीकील्हदेवजी) ने सर्व जगत् में विख्यात, इस प्रकार का विमल यश भूमण्डल में फैलाया कि जैसे श्रीभीष्मदेवजी ने दक्षिणायन में शरीर नहीं त्यागा बरंच हरिकृपाश्रिता अपनी इच्छा ही से श्रीभगवद्धाम को गए; तैसे ही, यद्यपि कालसर्प ने आपको तीन बेर काटा, तथापि मृत्यु की तो बात ही क्या है, किंचित् विषमात्र तक न चढ़ा॥

यद्यपि श्रीकील्हदेव स्वामीजी विरक्त थे तथापि आपको "सुमेरदेव-सुत" कहने का तात्पर्य यह है कि इनके सम्बन्ध से उनका नाम कहके, श्री १०८ नाभास्वामीजी ने श्रीसुमेरदेवजी को भी भक्तमाल के भक्तों में गिनती किया, सो आगे टीकाकार भगवद्धाम जाना श्रीसुमेरदेवजी का वर्णन करेंगे ही॥

(१६१) टीका। कवित्त। (६८२)

श्रीसुमेरदेव पिता सूबे गुजरात हुतें भयो तनु पात सो बिमान चढ़ि चले हैं। बैठे मधुपुरी कील्ह मानसिंह राजा ढिग देखें नभ तात, उठि कही "भले, भले, हैं"॥ पूछे नृप "बोले कासों?" "कैसे कै प्रकासों;" "कहौ;" कह्यो हठ परे, सुनि अचरज[1] रले हैं। मानुस पठाये, सुधि ल्याए साँच, आँच[2] लागी, करी साष्टाङ्ग बात मानी भाग फले हैं॥ १२१॥ (५०८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकील्हदेवजी के पिता श्रीसुमेरदेवजी, सूबे गुजरात के "सूबा" (सूबादार) थे; यद्यपि गृहस्थाश्रम ही में रहे, तथापि परम भगवद्भक्त थे; सो आप वहाँ ही (गुजरात में ही) शरीर त्यागकर विमान पर चढ़के श्री रामधाम को पधारे; उस समय श्रीकील्हदेवजी मथुराजी में राजा मानसिंह के पास बैठे थे। अपने पिताजी को विमान पर आकाश में जाते देख, उठके, प्रणाम कर बोले कि "बहुत अच्छा, भले, पधारिये"॥

१ "अचरज रले हैं"=आश्चर्य्य में मिले, आश्चर्य्ययुक्त हुए, आश्चर्य्य को प्राप्त हुए।
२ "आँच" = ताप।

यह सुन मानसिंह ने पूछा कि "आप किससे बोले ?" आपने उत्तर दिया कि "प्रगट कहने की बात नहीं है" परन्तु राजा ने बड़ी नम्रतापूर्वक बड़ा हठ किया कि "कृपा करके अवश्य सुनाइये।" तब आपने पिताजी के श्रीरामधाम पधारने की सब वार्त्ता कह सुनाई ॥

बड़ा आश्चर्य्य मान, साँड़िनी पर मनुष्यों को भेज के राजा ने सुधि मँगवाई ॥

गुजरात से लौटके उन लोगों ने कहा कि "हाँ, सत्य है, उसी दिन उसी क्षण आपका तन छूटा है ॥"

यह सुन मानसिंह अपनी अप्रतीति का पश्चात्ताप कर, श्रीकील्ह-देवजी के समीप गया और उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् करके यह विचारा कि ऐसे त्रिकालज्ञ महानुभाव का संग तथा सेवा मुझे प्राप्त है; सो मेरा अहोभाग्य और पूर्व सुकृतों का फल, तथा श्रीकरुणाकर प्रभु की विशेष कृपा है ॥

(१६२) टीका। कवित्त। (६८१)

ऐसे प्रभु लीन, नहीं काल के अधीन, बात सुनिये नवीन, चाहैं रामसेवा कीजिये। धरी ही पिटारी फूल माला, हाथ डार्यो तहाँ ब्याल कर काट्यो, कह्यो "फेरि काटि लीजिये" ॥ ऐसे ही कटायो बार तीनि, हुलसायो हियो, कियो न प्रभाव नेकु सदा रस पीजिये। करिकैं समाज साधु मध्य यों बिराज, प्रान तजे दशैं द्वार *; योगी थके; सुनि कीजिये ॥ १२२ ॥ (५०७)

वार्तिक तिलक।

श्रीकील्हदेवजी इस प्रकार परब्रह्म श्रीसीतापति प्रभु में लीन रहते थे कि काल आपको अपने अधीन कर ही नहीं सकता था। एक समय की यह लोकोत्तर नवीन वार्त्ता सुनिये कि प्रभात में आप श्रीसीतारामजी की पूजा सेवा करने लगे; सो, सुगन्धित पुष्प-मालाओं की पिटारी जो पहिले से वहाँ रक्खी थी, उसमें

* नवद्वार=१।२ नेत्र, ३।४ कर्ण, ५।६ नासिका, ७ मुख, ८ मलद्वार, ९ मूत्रद्वार, १० वाँ "दशैं द्वार" =ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरंध्र मस्तक ॥

एक काला सर्प शीतलता तथा सुगन्धि के लिये आ बैठा था। आपने जब, श्रीप्रभु को स्नान चन्दनादिक अर्पण करके फूल लेने के अर्थ, उस पिटारी में हाथ डाला, तब उस साँप ने हाथ में काट लिया; फिर हाथ उसके मुँह के समीप ले जाके आप बोले कि "फिर काट ले, तेरा विष क्या मुझे चढ़ थोड़े ही सकता है; क्योंकि मेरे तन मन में श्रीसीताराम ध्यानामृत व्याप्त है।" इस प्रकार केवल एक क्या वरन् आनन्दपूर्वक तीन बेर कटवाया, परन्तु किंचिन्मात्र भी उस काले सर्प के विष का प्रभाव आपको व्याप्त न हुआ, काहे कि आप तो सदा श्रीरामरूपामृतरस को पान कर मग्न रहते थे॥

पुनः कालान्तर में जब आपने अपनी इच्छा ही से श्रीरामधाम को गमन करना चाहा, तब समस्त सन्तमण्डली को बुला, श्रीसीताराम-मन्दिर में समाज बैठा, सत्कार पूजन कर, मध्य में विराजमान हो, दशमद्वार से (ब्रह्माण्ड फोर के) प्राण को त्याग, श्रीरामधाम को प्राप्त हुए॥ इस बात को देख सुनके योगी लोग आश्चर्य्यमान (इस गति से) थक के रह गए॥

ऐसे श्रीरामोपासक की कथा सुन सुनके जगत् में जीना योग्य है॥

(२६) श्रीसुमेरदेवजी ।

श्रीसुमेरदेवजी, श्रीकील्हदेवजी स्वामी के पिता, बड़े भक्त थे। आपकी कथा १२१ वें कवित्त में लिखी है॥

कुल्लू राजा की कथा श्रीपयहारीजी की कथा के अन्तर्गत है॥

(२७) स्वामी श्री अग्रदेवजी ।

(१६३) छप्पय । (६८०)

(श्री) अग्रदास हरिभजन बिन, काल वृथा नहिं बित्तयो॥ सदाचार ज्यों सन्त प्राप्त जैसे करि आये। सेवा सुमिरण सावधान, चरण राघव चित लाये॥ प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ[1] कृत करत निरंतर। रसना

१ "सुहथ"=स्वहस्त, अपने हाथों से।

निर्मल नाम मनहुँ बर्षत धाराधर[1]॥ (श्री) कृष्णदास कृपाकरि भक्ति दत्त, मन बच क्रम करि अटल दयो[2]। (श्री) अग्रदास हरिभजन बिन, काल वृथा नहिं बित्तयो[3]॥ ४१॥ (१७३)

श्री १०८ अग्रदास स्वामीजी ने श्रीसीतारामजी के भजन विना किंचित् मात्र भी काल व्यर्थ नहीं बिताया। आपका सदाचार किस प्रकार का था कि जैसा पूर्वाचार्य्य सन्तों का हुआ करता; और प्रातःकाल से वे पूर्व के महात्मा लोग जैसे सम्पूर्ण भगवत् कर्म कर आए हैं, वैसे ही आप भी मानसी तथा प्रत्यक्ष सेवा पूजा और नाम रूप गुण स्मरण करते हुए अपने चित्त की वृत्ति सावधानतापूर्वक श्रीयुगलसर्कार कि चरणकमलों में एकरस लगाए रहा करते थे॥

और जो आपके स्थान के समीप पुष्प फलादि युक्त वाटिका थी उस को "श्रीसीताराम विहारस्थल अशोकवन और प्रमोदवन" ही भावना से मानकर उसमें प्रीति करते थे; सो प्रीति आपकी लोकप्रसिद्ध हो गई, क्योंकि आप निज करकमलों से ही उसकी सब कृत्य, अर्थात् श्रीतुलसी आदि वृक्षों का कोड़ना सींचना सूखे पत्रादिकों का बहारना इत्यादि, निरन्तर किया करते थे; और रसना (जिह्वा) से "श्रीसीताराम" निर्मल नाम इस प्रकार से सप्रेम उच्चारण किया करते थे, कि जैसे कोई अलौकिक आनन्द का मेघ मधुर २ शब्द करके बरसता है॥

स्वामी श्री १०८ अग्रदेवजी की इस प्रकार की बाह्यान्तर प्रेमा परा दशा कैसे न हो? क्योंकि आपके श्रीगुरुदेव पयोहारी श्रीकृष्णदासजी ने कृपा करके, मन वचन कर्म तीनों प्रकार की भक्तिभाव, अपना सर्वस्व, देके अटल (अचल) कर दिया था। श्रीअग्रदेव स्वामीजी की अष्टयामीय भावना-रीति-भक्ति की जय॥

---

१ "धाराधर"=मेघ, जलद। २ "दयो"=दिया। ३ "बित्तयो"=बिताया, व्यतीत किया।

(१६४) टीका। कवित्त। (६७६)

दरशन काज महाराज मानसिंह आयो, छायो बाग माझ, बठे द्वार द्वारपाल हैं। झारिकै पतौवा गये बाहिर लै डारिबे को, देखी भीरभार, रहे बैठि ये रसाल हैं॥ आये देखि नाभाजू ने साष्टाङ्ग करी, ठाढ़े, भरी जल आँखैं, चले अँशुवनि जाल हैं। राजा मग चाहि, हारि, आनिकै निहारि नैन, जानी आप, 'ज्ञानी[1] भए दासनि दयाल हैं' ॥ १३२ ॥ (५०६)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय श्रीअग्रदेव स्वामी के दर्शन करने के लिये (आमेर जयपुर के) महाराज मानसिंह आए; उस समय आप बाटिका ही की सेवा में थे; इससे राजा अपने समाज सहित (बाटिका ही में) गया। अतः द्वारपाल लोग बाटिका के द्वार पर बैठा दिये गए, जिसमें इतर मनुष्यों की भीड़ भीतर न आने पावे। श्रीअग्रदेव स्वामीजी उस क्षण बाटिका के सूखे पत्ते आदि बहार के फेंकने के निमित्त बाहर निकल चुके थे; कूड़े को फेंक के जो देखा तो राजसेवकों की भीड़ भाड़ हो रही है और द्वार रक्षक भी द्वार पर बैठे हैं॥

अतएव श्रीरामरसिक शिरोमणि स्वामीजी बाहर ही एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठके श्रीप्रभु की मानसी सेवा ध्यान में मग्न हो गये। विलम्ब देख श्री ६ नाभाजी आके साष्टांग दण्डवत् कर सन्मुख खड़े हो, आप की निस्सीम निरभिमानता सरलता तथा प्रेम-मग्नता देख प्रेम से विह्वल हो गए, नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा चलने लगी। उधर राजा आपके आने का मार्ग देख देख हारके, आप ही आके दोनों महानुभावों की प्रीति की यह विलक्षण दशा अपने नेत्रों से देख, कृतकृत्य हो, उसने यह जाना कि साक्षात् ज्ञानशिरोमणि श्रीरामजी ही अस्मदादिक दासों पर दयालु होके "श्रीअग्रदेव" रूप ले प्रगट हुए हैं॥

आप "शृङ्गाररस के आचार्य "श्रीअग्रअली" के नाम से प्रसिद्ध हैं।

१ "ज्ञानी"=जगत् के प्राण श्रीज्ञानशिरोमणि प्रभु।

आपका अष्टयाम, आपकी "ध्यानमंजरी" आपके कुण्डलिया, पदावली इत्यादि प्रख्यात ही हैं। आपके विशेष प्रभाव आदि में मानसी का वर्णन हो चुका है; और यहाँ बाटिकाप्रीति प्रसंग कुछ लिखा गया॥

श्रीअग्रस्वामीजी के प्रेम की प्रशंसा कहाँ तक हो सकती है जिनके कृपापात्र, श्रीभक्तमालजी के कर्त्ता श्री १०८ नाभास्वामीजी हुए॥

आपको श्रीजानकीजी महारानी ने कृपा करके दर्शन दिया। आप अपनी इच्छा से तन तजके श्रीसाकेत को पधारे॥

. श्रीगोस्वामी श्री १०८ नाभाजी महाराज का नाम श्रीनारायणदासजी भी (पृष्ठ ४६ में) लिखा जा चुका है। आपकी चरचा पूर्व हो चुकी है और यह भी कि भक्तमाल विक्रमीय संवत् की १७ वीं शताब्दी में, अर्थात् १६४० और १६८० के बीच में लिखी गई है॥

भगवान् श्रीरामानन्द का समय, 'पन्द्रहवीं शताब्दी' लिख चुके हैं। "श्रीराधाकृष्णदास सम्पादित भक्तनामावली" में भी यही वर्णित है॥

☞ स्पष्ट है कि स्वामी श्री १०८ अग्रदेवजी, विक्रमीय संवत् की सत्रहवीं शताब्दी में विराजते थे॥

श्री १०८ नाभास्वामीजी ने, पहिले चारों भागवत सम्प्रदायों के चारों आचार्यों का वर्णन किया; फिर अपने निज सम्प्रदाय (श्री "श्रीसम्प्रदाय") की वार्त्ता उठाई; पुनः श्रीगुरुपरम्परा का वर्णन, स्वामी अनन्त श्रीरामानुजजी से लेके, श्रीअनन्तानन्द द्वारा, अपने गुरु भगवान् तक, अर्थात् श्री १०८ अग्रस्वामीजीपर्यन्त गान किया; जय जय जय। जब श्रीगुरुयश गा चुके, तब पुनः पीछे लौटकर, अब सबसे पुराने (कलियुग ३८८९) आचार्य, श्रीशङ्कर स्वामीजी का वर्णन करते हैं—

---

(२८) श्रीस्मार्त आचार्य श्रीशङ्कर स्वामी।

(१६५) छप्पय। (६७८)

कलियुग धर्मपालक प्रगट, आचारज शङ्कर सुभट॥ उतश्रृङ्खल[1] अज्ञान जिते अ ईश्वरवादी[2]। बुद्ध[3] कुतर्की जैन और पाखण्डहि आदी॥ विमुखनि को दियो दण्ड, ऐंचि[4] सन्मारग आने। सदाचार की मींव विश्व कीरतिहि बखाने॥ ईश्वरांश अवतार महि, मरजादा माँडी[5] अघट। कलियुग धर्मपालक प्रगट, आचारज शङ्कर सुभट॥ ४२॥ (१७२)

वार्त्तिक तिलक।

कराल कलियुग में अधर्म और अधर्मियों से धर्म को अर्थात् वर्ण-

---

१ "उतश्रृंखल"=श्रृंखला को उत्सादन करनेवाले। २ "अनईश्वरवादी"=वे नास्तिक लोग, कि जो संसार का कर्त्ता किसी को, ईश्वर नहीं मानते वरन् कहते हैं कि स्वयं स्वभावतः सब होता रहता है और विनशता है। ३ "बुद्ध"=बौद्ध। ४ "ऐंचि" = खींचकर। ५ "माँड़ी" = मण्डन किया॥

धर्म, आश्रमधर्म, तथा भागवतधर्मको पालन रक्षण करनेवाले परम सुभट श्रीशङ्कराचार्यजी प्रगट हुए। किस प्रकार से आपने धर्म पालन किया सो सुभटता वर्णन करते हैं कि जितने उत्शृंखल अर्थात् वेदविदित सनातन-धर्म-परम्परा के उठा देनेवाले अज्ञानी अनीश्वरवादी थे, और बुद्धमतावलम्बी तथा कुतर्की जैनमतवादी एवं पाखण्डपरायण आदिक जितने विमुख थे, तिन सबको यथायोग्य दण्ड देके उन कुमार्गों से खींच सनातन सत्मार्ग में लाके, (स्थापित करके) चलाया; इस प्रकार की धर्म सुभटता की ॥

श्रुतिस्मृति-विहित सज्जन-परिगृहीत समीचीन आचरण की सीमा (मर्य्यादा) ही हुए ॥

"ईश्वर" के (शङ्करजीके) अंशावतार प्रगट होके, वेदधर्म मर्य्यादा को आपने मंडन किया कि जो फिर घटे नहीं एक रस बनी रहे। आपकी ऐसी सत्कीर्ति सम्पूर्ण विश्व बखान करता है ॥

श्रीशंकराचार्यजी (श्रीशङ्करांशावतार) दक्षिण देश में प्रगट हुए। स्मार्तमत रक्षक दण्डी संन्यासी थे। मण्डनमिश्र नामक एक ब्राह्मण जिनको किसी ने श्रीब्रह्माजी का अंशावतार भी लिखा है, बड़े कर्म-काण्डी मीमांसामतवादी थे मानो कर्म ही को वह ईश्वर मानते थे; उनको आपने (श्रीशंकरस्वामी ने) शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर शिष्य (भगवत्शरणागत) किया ॥

दो० "बिनु सतसंग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद, होय न दृढ़ अनुराग ॥"

शिवजी की आप पर बड़ी कृपा थी। आपने प्रायः सब बड़े बड़े देवतों की स्तुतियाँ लिखीं और बहुत देवतों के मन्दिर भी बनवाए। स्मार्त आपको अपना आचार्य्य, और अद्वैतवादी अपना मानते हैं; निर्गुण-मतावलम्बी अपना तथा शैव और शाक्त भी अपना अपना आचार्य्य आपको पुकारते हैं। "शिव विष्णुभक्ति"; "भज गोविन्दं"; "विश्वे-शपादाम्बुजदीर्घनौका" इत्यादि उपदेश आपही के हैं; "ब्रह्मसूत्रभाष्य," तथा "नृसिंहतापनी भाष्य," आदि आपके प्रख्यात ही हैं। आपके मुख्य शिष्य चार प्रसिद्ध हैं—

१. पद्माचार्य्यजी	३. स्वरूपाचार्य्यजी
२. पृथ्वीधराचार्य्यजी	४. तोटकाचार्य्यजी

ऐसा कहते हैं कि आप इस मर्त्यलोक में केवल ३२ ही वर्ष रहे।

कलि संवत्सर	विक्रमीय संवत्	ईसवी सन्
३८८९	८४५	७८८

M.R.C.Datt.(आर० सी० दत्त); A.C.Mukerji. (ए० सी० मुकर्जी); M A.B.L Dr. W. Hunter (डाक्टर हन्टर); तथा श्रीतपस्वी रामजी सीतारामीय ने भी ऐसा ही लिखा है। किसी ने कलि संवत् २५०० ही लिखा है॥

"श्रीशङ्करदिग्विजय" नामक ग्रन्थ में आपका समस्त जीवनचरित्र है। यह भी कथा उसी की है॥

उन्होंने चार धाम भी निश्चित किये--

अब श्रीप्रियादासजी महाराज की टीका (कवित्तों) पर ध्यान दीजिये—

(१६६) टीका। कवित्त। (६७७)

विमुख समूह लैकें किये सनमुख श्याम, अति अभिराम लीला जग बिसतारी है। सेवरा प्रबल बास केवरा ज्यों फैलि रहे, गहे नहीं जाहिं, बादी शुचि[1] बात धारी है॥ तजिकै शरीर काहू नृप में प्रवेश कियो, दियो करि ग्रन्थ, "मोहमुद्गर" सुभारो है। शिष्यनि सों कह्यो "कभू देह में आवेश जानो तब ही बखानो आय मुनि कीजै न्यारी है"॥ १२४॥ (५०५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीशङ्कराचार्य्यजी ने भगवत्विमुख (सेवड़ा, अबुध, अज्ञानी, बौद्ध, नास्तिक, अनीश्वरवादी, चार्वाक, जैन, इत्यादि) समूहों को बाद में परास्त करके दंड देके, श्रीमन्नारायण श्यामसुन्दरजी के सन्मुख कर दिया, और श्रीबदरिकाश्रमादिक भगवद्धामों के माहात्म्य को प्रसिद्ध कर भगवत्स्तोत्रादि "श्रीविष्णुसहस्रनाम भाष्य" गीताभाष्यादि अति सुन्दर भगवत्यश लीला को जग में विस्तार किया। उस काल में सेवरा आदिक प्रबल नास्तिक समूह इस प्रकार से लोक में फैले थे कि जैसे बाटिका में फूले केवड़े की बास

१ "शुचि"=श्रृङ्गाररस। (अमरकोश "श्रृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः")॥

फैल जाती है; और बड़े ही विवादी थे, कि वेदवाक्य के ग्रहण में किसी प्रकार से आ नहीं सकते थे ॥

एक समय श्री शङ्कराचार्य्यजी से शास्त्रार्थ में और २ विवादों से पराजय होके, आप को बालब्रह्मचारी जानके "शुचि" अर्थात् शृङ्गाररस (स्त्रीपुरुषप्रसङ्ग) की वार्त्ता का बाद करने लगे। तब आप उस बात के जानने के अर्थ कुछ अवकास लेके किसी राजा ("अमरुक") के मृतकशरीर में, परकायप्रवेश सिद्धि के बल से, घुस गए; और अपने शरीर की रक्षा करने को शिष्यों से कह गए। तथा, प्रवेश करने के पूर्व ही एक "मोहमुद्गर" नामक ग्रन्थ बनाके शिष्यों को पढ़ाके कह गए कि "कदाचित् विषयासक्त होके नृपदेह बिषे मेरा ममत्व आवेश देखो तो आके यही ग्रंथ मुझे सुनाना, सुनते ही मैं नृपशरीर से न्यारा होके (तज के) निज देह में चला आऊँगा" ॥

(१६७) टीका । कवित्त । (६७६)

जानिकै आवेश तन शिष्यनैं, प्रवेश कियो राबले[1] में देखि सो श्लोक लै उचार्‌यो है। सुनत हि तजो तन, निज तन आय लियो, कियो यो प्रनाम दास, पन पूरो पार्‌यो है ॥ सेवरा हराए बादी; आए नृप पास, ऊँचे छति पर बैठि एक माया फन्द डार्‌यो है ॥ जल चढ़ि आयो, नाव भाव लै दिखायो, कहे "चढ़ौ, नहीं बूड़ो;" आप कौतुक सों धार्‌यो है ॥ १२५ ॥ (५०४)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीशङ्कराचार्य्यजी जितने काल की अवधि शिष्यों से कह गए थे सो काल व्यतीत हो गया; तब शिष्यों ने जाना कि "जो स्वामीजी ने आज्ञा की थी सो काल तो बीत गया, अतएव अब जाना जाता है कि राजा के तन में ममत्व का आवेश आपको कुछ हो गया है;" तब राजा के गृह में जाके शिष्यों ने "मोहमुद्गर" के श्लोक उच्चारण करके नृपशरीरस्थ स्वामीजी को सुनाया। सुनते ही आपने नृपतन

१ "राबले" =राजा का गृह ॥

त्याग के अपने शरीर को ग्रहण कर लिया। शिष्य साष्टांग प्रणाम कर कहने लगे कि "हे स्वामी! जो पन किया था सो आपने पूरा किया;" आप बोले "तुमने भी मेरी आज्ञा भले पाली॥"

श्रीशङ्कराचार्य्यजी ने उस कामकौतुक बाद को, इस ढंग से ममझ के, कुबादी सेवड़ों को बाद में परास्त किया॥

जब सेवरों ने जाना कि "अब तो हम सब हार गए, राजा शङ्करा-चार्य्यजी ही का मत ग्रहण करेगा, अतः राजा को शङ्कराचार्य्य सहित माया से मारडालें" तब, कुमत करके, निज शिष्यों सहित मायावी सेवड़ों का गुरु राजा तथा श्रीशङ्कराचार्य्यजी को लेके ऊँचे छत पर जा बैठा और अपने मायाफन्द का प्रयोग किया कि जिससे चारों ओर से प्रलयकालीन समुद्रसरीखा जल छत के समीप तक चढ़ आया और उसी जल में छत के समीप ही मायाकी एक बहुत बड़ी नौका भी आ पहुँची; तब सेवड़ों के उस गुरु ने राजा से कहा कि "शीघ्र इस नाव पर चढ़ो, नहीं तो डूब जाओगे।" राजा ने भय से चढ़ना चाहा; परन्तु श्रीशङ्करा-चार्य्यजी ने इस मायाकौतुक को अपने मन में मिथ्या ही धारण किया (झूठ समझा॥)

(१६८) टीका। कवित्त। (६७५)

अचारज कही यो चढ़ाओ ईनि सेवरानि; राजा ने चढ़ाए; गिरे टूक उड़ि गए हैं। तब तो प्रसन्न नृप, पाँव पस्यो, भाव भस्यो, कह्यो जोई कस्यो धर्म भागवत लए हैं॥ भक्ति ही प्रचार; पाछे मायावाद डारि दीनों, कीनों प्रभु कह्यो, किते विमुख हु भए हैं। ऐसे सो गँभीर सन्त धीर वह रीति जाने, प्रीति ही में साने हरिरूप गुन नए हैं॥ १२६॥ (५०३)

वार्त्तिक तिलक।

उस मायाजाल के जल में वह मायारूपी मिथ्या नौका देखके राजा चढ़ा चाहता ही था तभी श्रीशङ्कराचार्य्यजी ने राजा को चढ़ने से रोक के कहा कि "पहिले इन सब सेवड़ों को चढ़ाओ"। राजा ने सेवड़ाओं से कहा कि "हाँ आगे आप सब ही चढ़िये" यह सुन

सेवड़ों ने विचारा कि "जो अब हम इस नौका में नहीं चढ़ते तो भी तो राजा हम सबको मार ही डालेगा;" इससे वे सब सेवड़े राजा के भय से चढ़े। वह नाव तो देखनेमात्र की थी ही, भूमि में गिरके सब सेवड़े टुकड़े टुकड़े होके मर गए। फिर तो न वह नाव ही रही, न वह जल ही रह गया।

तब तो यह सब कौतुक देख राजा अत्यन्त प्रसन्न हो, धन्यवाद-पूर्वक श्रीशंकरस्वामी के चरणों पर गिरा; तथा भक्तिभाव में भर गया। और आपने जो उपदेश दिया राजा ने सो ही किया, अर्थात् उसने वेदविहित भागवतधर्म को अपनी प्रजासमेत ग्रहण किया॥

इस प्रकार से श्रीशंकराचार्य्यजी ने प्रथम तो श्रीभगवद्भक्ति तथा भागवतधर्म ही का भली भाँति प्रचार किया था; परन्तु पीछे कालानुवर्ती कौतुकी प्रभु की प्रेरणा से, अपने मत में स्वयं उन्होंने कुछ मायावाद डाल दिया कि केवल निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है और सब माया है, अर्थात् ईश्वर को भी विद्यामायायुक्त कहा और ज्ञान, भक्ति, वेद, मन्त्र इत्यादिक मोक्षसाधनों को भी केवल विद्यामायामय बताया, तथा जीव और संसार को अविद्यामायामय, और दोनों मायाओं को तीनों कालों में मिथ्या कहा। अतः कितने जीव भगवत् से और भागवतधर्म से विमुख हो गए और होते जाते भी हैं। यथा—

दोहा—"ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहैं न दूसरि बात।
कौड़ी लागी लोभवश, करहिं विप्र गुरु घात॥"

और जो धीर गम्भीर (श्री श्रीधर स्वामी आदि सरीखे) सन्त हैं सो तो श्रीशंकराचार्य्यजी की प्रथम भक्ति मति रीति को यथार्थ जानके अपने मन को प्रीति ही में सानके नित्य नवीन भगवत्रूप गुण लीला में लौलीन हुए हैं तथा होते हैं॥

इन कथाओं को किसी किसी ने प्रकारान्तर से भी लिखा है, परन्तु यहाँ तो श्रीप्रियादासजी के अक्षरों के अनुसार ही लिखा गया॥

श्रीशंकराचार्य्यजीकृत "मोहमुद्गर" के १६ (सोलह) श्लोकों में से, ये पाँच श्लोक—

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥
"का तव कान्ता कस्त पुत्रः, संसारोयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातः, तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः ॥ ३ ॥
तत्त्वं चिन्तय सततं चित्ते, परिहर चित्तं नश्वरवित्ते।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका ॥ ६ ॥
सुरमन्दिरतरुमूलनिवासः, शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः, कस्य सुखं न करोति विरागः ॥ १० ॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः, परमे ब्रह्मणि कोपि न लग्नः ॥ ११ ॥
यावज्जननं तावन्मरणं, तावज्जननी जठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः, कथमिह मानव तव सन्तोषः ?" ॥ १३ ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ॥

(२९-३०) श्रीनामदेवजी; उनकी माता।

(१६६) छप्पय। (६७४)

"नामदेव" प्रतिज्ञा निर्बही, ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥ बालदसा "बीठल" पानि[1] जाके, पै पीयौ ॥ मृतक गऊ जिवाय परचौ असुरन कों दीयौ ॥ सेजसलिल तें काढ़ि पहिल जैसी ही होती[2]। देवल उलट्यो देखि सकुचि रहे सबही सोती[3] ॥ "पंडुरनाथ" कृत अनुग ज्यों छानि सुकर छाई घास की। नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही, ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥ ४३ ॥ (१७१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवद्भक्त नामदेवजी की प्रतिज्ञा श्रीहरिकृपा से इस प्रकार से

---

१ "पानि"=पाणि, कर, हाथ। २ "होती"=थी। ३ "सोती"=श्रोत्री, वेदपाठी ब्राह्मण।

निबही कि जैसे त्रेता * में श्रीनृसिंहजी के दास श्रीप्रह्लादजी की (प्रतिज्ञा निबही थी)।

देखिये, बालअवस्था ही की प्रीतिदशा में जिनके हाथों से श्रीबिट्ठल भगवान् ने दूध पिया। और मरी हुई गाय को जिलाके असुरों (यमन म्लेच्छों) को परीक्षा परचौ दिया। तथा उस यमनराज की दी हुई सेज (पलंग) को जो आपने नदी के जल में डाल दिया था, सो उस जल में से वैसे ही अनेक पलंग निकालके दिखा दिये।

और जब आपने मन की दुचिताई के भय से पनही कमर में बाँध ली थी, उसको देखके पुजारी पंडों ने आपका तिरस्कार किया, इससे आप मन्दिर के पीछे जाके भजन गान करने लगे; तब "श्रीपण्डरीनाथ" जी के देवालय का द्वार उलटके आप ही की ओर हो गया जिसको देखके अत्यन्त सकुचाके सब पूजक श्रोती लोगों ने श्रीनामदेवजी से विनय कर अपना अपराध क्षमा कराया।

पुनः भक्तवत्सल श्रीपंडुरनाथजी को आपने अपनी प्रेमपुंजभक्ति के बल से, अनुग (सेवक) सरीखा कर लिया, यहाँ तक कि प्रभु ने स्वयं अपने करकमलों से आपका छप्पर छाया॥

दो० "जिन जिन भक्तन प्रीति की, ताके बस भए आनि।
सेन होय नृप टहल किय, नामा छाई छानि॥"

(श्रीध्रुवदासजी)

श्रीशिवसम्प्रदाय (विष्णुस्वामीसंप्रदाय) में श्रीलक्ष्मणभट्टजी से और श्रीवल्लभाचार्य्यजी से आप पहिले हुए; आपके गुरु श्रीज्ञानदेवजी; शिष्य त्रिलोचनदेव, और आपके नाना श्रीवामदेवजी थे। आप सुकवि थे, आपकी कविता उदासियों के "ग्रन्थसाहिब" में भी संगृहीत है। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि आप श्रीकबीरजी के समकालीन थे।

* श्रीनृसिंहावतार सत्ययुग का कहा जाता है, और श्रीनाभास्वामीजी ने त्रेता लिखा, इसका तात्पर्य्य यह है कि उक्त अवतार कृतयुग त्रेता के संध्या में हुआ, अतएव त्रेता ही कहा; हिरण्यकशिपु ने वर ही तो माँग लिया था कि 'न सत्ययुग में मरें न त्रेता में'॥

कलिसंवत्सर	विक्रमीय संवत्	ईसवी सन्
४५८६	१५४५*	१४४८

श्रीराधाकृष्णजी (काशीनागरीप्रचारिणी सभा) तथा श्रीतपस्वीराम सीतारामीयजी ने भी ऐसा ही लिखा है; और उस समय भारतवर्ष में "बादशाह सिकन्दर लोदी" था॥

(१७०) टीका। कवित्त। (६७३)

छीपा † वामदेव हरिदेवजू को भक्त बड़ो, ताकी एक बेटी पतिहीन भई जानिये। द्वादश बरष माँझ भयो तन, कही पिता सेवा सावधान मन नीके करि आनिये॥ तेरे जे मनोरथ हैं पूरन करन एई जो पै दत्त-चित्त ह्वै कै मेरी बात मानिये। करत टहल प्रभु बेगि ही प्रसन्न भए, कीनी काम बासना सु पेखि जन मानिये॥ १२७॥ (५०२)

वार्त्तिक तिलक।

पण्डरपुर (दक्षिण) में, जाति के छीपा, श्रीवामदेवजी श्रीहरिजी के परम भक्त हुए; तिनकी एक कन्या थोड़ी ही अवस्था में विधवा हो गई। जब उसकी अवस्था बारह वर्ष की हुई, तब उसके पिता श्रीवामदेवजी (श्रीनामदेवजी के नाना) ने कहा कि "श्रीपण्डुरनाथ (श्रीबिट्ठलदेवजी) की जो मेरे गृह में विराजमान हैं, इनकी सेवा पूजा सावधान मन लगाके भली भाँति से किया कर; तेरे जितने मनोरथ हैं उन सबके पूरे करनेहारे ये ही प्रभु हैं; परन्तु जो मेरी बात में विश्वास करके चित्त लगाके प्रेम सहित सेवा करेगी तो।"

इस प्रकार पिता का उपदेश सुन, वह बड़भागिन सप्रेम सेवा-टहल दिन रात करने लगी। उस पर शीघ्र ही प्रसन्न हो प्रियतम प्रभु ने अति अनूप किशोररूप से साक्षात् दर्शन दिया, जिन्हें देख उसको कामवासना हुई। सर्वकामपूरक प्रभु ने उसकी कामना पूर्ण की, यहाँ तक कि वह गर्भवती हो गई। इस कलिकाल में भी ऐसी अनोखी प्रकट कृपा प्रभु की हुई, इसको विश्वासपूर्वक मानिये॥

* किसी ने संवत् १५०० ही लिखा है।

† "छीपा"= छींट वस्त्र छापनेवाले (छीपा दरजी नहीं)।

दो० "कलियुग सम नहिं आन युग, जो नर करि विश्वास।
गाइ गाइ हरि भक्ति यश, भवतरु बिनहि प्रयास॥"

(१७१) टीका। कवित्त। (६७२)

बिधवा कौ गर्भ; ताकी बात चली ठौर ठौर, दुष्ट शिरमौरनि की भई मन भाइयै। चलत चलत वामदेवजू के कान परी, करी[1] निरधार प्रभु आप अपनाइयै॥ भए जू प्रगट बाल, नाम "नामदेव" धर्‍यो, कर्‍यो मन भायो सब सम्पत्ति लुटाइयै। दिन दिन बढ़्यो, कछु और रंग चढ़्यो; भक्तिभाव अंग मढ़्यो[2], कढ़्यो[3], रूप सुखदाइयै॥ १२८॥ (५०१)

वार्तिक तिलक

कुछ कालान्तर में जब लक्षणों से उनका गर्भ प्रत्यक्ष जान पड़ने लगा, तब विधवा के गर्भ की वार्ता जहाँ तहाँ लोग मुहाँमुहीं करने लगे, और दुष्टशिरोमणि निन्दकों की मनभाई बात हुई; क्योंकि वे निन्दा करने के लिये छिद्र ढूँढ़ते ही रहते हैं सो मिल गया। वार्ता चलते चलते श्रीभक्तवर वामदेवजी के कानों तक पहुँची; तब आपने एकान्त में पुत्री से पूछा कि "यह क्या बात है?" इनने, वाञ्छा-परक, कृपा-युक्त प्रभु के दर्शन देने का तथा अपने को अपना लेने की सत्य सत्य बात, पूरी पूरी कह सुनाई, आप (श्रीवामदेवजी) सुनके अति हर्षित हुए। धन्य आपके भाग्य॥

प्रसवकाल की पूर्णता पर अनुपम बालक प्रगट हुए; श्रीवामदेवजी ने बालक का नाम "नामदेव" रक्खा और मनमाना जन्मोत्सव कर, घर की सम्पत्ति को लुटाया; जय जय।

बालक दिन दिनप्रति बढ़ने लगा; इनमें लोक के रंगों से कुछ और ही रंग (श्रीरामानुरागरंग) चढ़ा; और प्रेम भक्तिभाव से लपेटा हुआ अति सुखदाई सुन्दर रूप का प्रकाश निकलने लगा, क्या कहना॥

---

१ "करी निरधार"=निश्चय निर्णय किया, पूछा। २ "मढ़्यो"= मढ़ा, छाया, लपेटा। ३ "कढ़्यो" =निकला।

(१७२) टीका। कवित्त। (६७१)

खेलत खेलौना प्रीति रीति सब सेवा ही की, पटपहिरावैं, पुनि भोग की लगावहीं। घंटा लै बजावैं, नीके ध्यान मन लावैं, त्यों त्यों अति सुख पावैं, नैन नीर भरि आवहीं॥ बार बार कहैं नामदेव वामदेव जू सों "देवो मोहि सेवा[१]माँझ, अतिही सुहावहीं"। "जाऊँ एक गाउँ, फिर आऊँ दिन तीनि मध्य, दूध को पिवावो, मत पीवो, मोहिं भावहीं॥ १२६॥ (५००)

जब श्रीनामदेवजी की पाँच वर्ष के निकट बाल्यावस्था हुई; तब आप खेल खेलने लगे; सो और संसारी खेल नहीं; किन्तु जैसे अपने नानाजी को पूजा करते देखते थे, वैसे ही, प्रीति रीति से सब सेवा पूजा ही का खेल खेलते थे। कोई पाषाणादिक की मूर्ति कल्पित करके उनको स्नान कराके वस्त्र पहिराते, पुष्प चढ़ाते, भोग लगाते, घंटा बजाके धूप आरती करते और भली भाँति आँखें मूँदके ध्यान लगाते थे; बरंच ध्यान करते समय आपको श्रीप्रभुकृपा संस्कारवश अपूर्व सुख उत्पन्न होता और नेत्रों में प्रेमानन्द का जल भर आता था। यथा--

चौपाई।

"खेलौं तहाँ बालकन मीला। करौं सकल रघुनायक लीला॥"

कुछ कालान्तर में श्रीनामदेवजी श्रीवामदेवजी से बारम्बार कहने लगे कि "नानाजी! मुझे अपनी सेवा अर्थात् अपने ठाकुरजी, पूजा करने के लिये, दीजिये; मुझको उसमें बड़ा ही सुख प्राप्त होगा, क्योंकि मुझको सेवा अत्यन्त प्रिय लगती है"॥

इस प्रकार सचाई सहित अति अभिलाषा देख, श्रीवामदेवजी एक दिन बोले कि "मुझे तीन दिनों के लिये एक ग्राम को जाना है; सो जब जाऊँगा तब तुम पूजा करना, और दूध ठाकुरजी को पिलाना, परन्तु प्रभु को भोग लगाए विना तुम आप न पीना"। श्रीनामदेवजी ने सुनके कहा कि "हाँ, बहुत अच्छा, यह तो मुझे बहुत ही भला लगता है"॥

१ "सेवा"=अर्चावतार भगवत् की परिचर्य्या; ठाकुरजी।

(१७३) टीका। कवित्त। (६७०)

कौन वह बेर[1] ? जेहिं बेर दिन फेर होय, फेर फेर कहैं "वह बेर नहीं आइयें ?"। आई वह बेर, लै कराही माँझ हेरि[2] दूध डास्यो युग सेर मन नीके कै बनाइयें॥ चौपनि[3] के ढेर[4], लागि निपट[5] औसेर[6], दृग आयो नीर घेरि, जिनि गिरै घूँटिजाँइयें[7]। माता कहै टेरि, "करी बड़ी तैं अबेर[8], अब करो मति झेर[9]" "अजू चित दै औंटाइयें"॥ १३०॥ (४६६)

वार्त्तिक तिलक।

जब श्रीवामदेवजी आपको सेवा देके उस ग्राम को चले गए, तब श्रीनामदेवजी को रात्रि ही से छटपटी लगी और आप मन में यह विचारने लगे कि "वह बेला कौन है ? कि जिस बेला में फिर दिन आवे; और बारम्बार माता से पूछने लगे कि "माँ! अभी सेवा का समय नहीं आया ?"

होते होते वह प्रभात बेला आ गई; आप उठके स्नानादिक और पूजा करके, दो सेर दूध देखभाल छानके कड़ाही में छोड़ औंटने लगे। मन में ऐसी अभिलाषा कर रहे हैं कि "भले प्रकार से दूध को बनाऊँ।" चित्त में प्रभु प्रेम चाहचौप की अति अधिकता है, और अत्यन्त औसेर अर्थात् चिन्ता भी है कि "मुझसे दूध कैसे उत्तम बने जिसमें प्रभु पी लेवें"। ऐसी चिन्ता करते में नेत्रों में प्रेमजल भर आया; तब आपने उसको रोका कि कहीं कोई बूँद दूध में न टपक पड़े।

माता पुकारके कहने लगीं कि "बेटा! तूने बड़ा विलम्ब लगाया, अब अधिक झेल न कर, शीघ्र भोग लगा"। सुनके आप बोले कि "माता! मैंने चित्त लगाके दूध औंटा है इससे कुछ विलम्ब हो गया॥"

---

१ "बेर"=वेला, समय। २ "हेरि"=देखभाल के। ३ "चौपनि"=प्रेम का चाव। ४ "ढेर"=राशि, समूह। ५ "निपट"=अत्यन्त। ६ "औसेर"=चिन्ता। ७ "घूँटिजाइयें"=रोक लूँ, रोक लेना चाहिये। ८ "अबेर"=विलम्ब। ९ "झेर"=झेल, विलम्ब।

(१७४) टीका । कवित्त । (६६६)

चल्यो प्रभु पास, लै कटोरा छविरास, तामें दूध सो सुबास-मध्य, मिसिरी मिलाइयै । हिये मैं हुलास, निज अज्ञता को त्रास, ऐपैं करैं जौ पै दास मोहि, महासुख दाइयै ॥ देख्यौ मृदु हाँस, कोटि चाँदनी की भास, कियौ भाव को प्रकास, मति अति सरसाइयै । प्याइबे की आस, करि ओट कछु, भर्स्योस्वास; देखिकै निरास, कह्यो "पावौ जू अघाइयै" ॥ १३१ ॥ (४६८)

वार्त्तिक तिलक ।

जब दूध सिद्ध हो गया, तब एक बड़े सुन्दर कटोरे में सुगन्ध द्रव्य तथा मिश्री मिलाया हुआ वह दूध लेके श्रीनामदेवजी भगवान् श्रीबिट्ठलदेवजी के पास चले। हृदय में अतीव प्रेमानन्द का हुलास और साथ ही साथ अपनी अज्ञता का त्रास भी, अर्थात् यह कि "मुझसे दूध बनाते बना कि नहीं ? प्रभु के योग्य हुआ पियेंगे ? कि नहीं ? अहा ! यदि मुझे अपना दास बना लें और कृपा करके दूध पी लें, तो मैं सदा सेवा करके सुख पाऊँ ॥"

योंही विचार करते, समीप जाके आपने श्रीप्रभु का श्रीमुख अवलोकन किया तो देखा कि श्रीविग्रहजी में कोटिन चाँदनी के भास के समान मृदु मुसक्यान प्रगट हो रही है; क्योंकि श्रीनामदेवजी के प्रेमभाव का प्रकाश प्रभु ने अपने विग्रह में प्रगट दिखाया; तब तो नव अनुरागी श्रीनामदेवजी की मति अति ही सरस हो आई। और दूध पान कराने की आशा से कटोरा आगे रख, किसी वस्त्र का ओट कर, प्रेमसहित स्वासभर, चित्त एकाग्र कर, अर्पण किया; दूध पीने की प्रार्थना की ॥

पुनः आवर्ण वस्त्र को कुछ अलग करके देखा कि सब दूध अभीतक ज्यों का त्यों ही रक्खा है; तब कुछ निराश से होके प्रार्थना करने लगे कि "प्रभो ! आप अति अघाके दूध पीजिये जिसमें मैं भी प्रेमानन्द से अघा जाऊँ ॥"

१ "भर्स्योस्वास"=सप्रेम चित्त एकाग्र किया ।

(१७५) टीका। कवित्त। (६६८)

ऐसैं दिन बीते दोय, राखी हिये बात गोय, रह्यो निशि सोय, पै नींद नहीं आवहीं। भयो जू सबार[1], फिरि वैसैंही सुधार लियौ हियौ[2] कियौ गाढ़ौ[3], जाय धर्‌यो पियो भावहीं॥ बार बार "पीवो" कहूँ; अब तुम पीवो नाहिं, आवैं भोर नाना; गरे छूरी दै दिखावहीं। गहि लीयो कर, "जिनिकर ऐसी पीवौं मैं" तो पीबेकौं लगेई, "नेकु राखौ, सदा पावहीं"॥ १३२॥ (४६७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनामदेवजी ने बहुत प्रार्थना की, परन्तु प्रभु ने दूध नहीं पिया; तब आप भी उपवास ही करके रह गए; दूसरे दिन फिर वैसे ही दूध औंट, आगे रख विनय किया। तब भी प्रभु ने नहीं ही पिया। दोनों दिन दूध न पीने की बात माता से न कही; भूखे ही चुपचाप रात्रि में पड़ रहे; परन्तु नींद किंचित् भी नहीं आई; केवल प्रभु के दूध न पीने की चिन्ता ही में सारी रात व्यतीत हुई॥

तीसरे दिन का प्रातःकाल हुआ; फिर उसी प्रकार से पूजा आदि करके दूध को औंट, सुधार, प्रभु के आगे ला रक्खा; और जो, प्रभु के दूध न पीने के सोच से मन सिथिल हो रहा था, सो दृढ़ करके दीनतायुक्त कहने लगे कि "हे प्रभो! दूध पी लीजिये; जिसमें मैं शोक से मुक्त हो आनन्द पाऊँ"। इतने पर भी सर्कार ने जब दूध नहीं ही पिया, तब तो श्रीनामदेवजी अति अधीर हो गए, क्योंकि बाल्यावस्था के मुग्ध मधुर प्रेम विश्वास बस आप ऐसा ही समझते थे कि "प्रभु नाना के हाथों से नित्य ही दूध पिया करते हैं"॥

अतः परम प्रेम की विलक्षण विह्वलता से, आप कहने लगे कि "मैं बारम्बार सविनय कहता हूँ कि दूध पीजिये पीजिये, पर आप अब नहीं ही पीते; और कल्ह सबेरे नाना आवेंगे मुझसे आपके दूध न

१ "सबार"=सबेरा, प्रभात, भोर। २ "हियौ"=मन। ३ "गाढ़ौ"=दृढ़॥

पीने का समाचार सुन, मुझे आपकी सेवा पूजा से अलग कर ही देंगे; इससे भला है कि मैं मर ही जाऊँ" इतना कह तीक्ष्ण छूरी ले, प्रभु को दिखाके, अपने गले पर लगा ही तो दी।

तब तो, वहीं, भक्तवत्सल कृपासिन्धु विश्वासवर्द्धक प्रभु ने अतीव आतुरता से नामदेवजी का छूरी-युक्त-हाथ पकड़ लिया और कहा कि "अरे प्रिय बालक ! ऐसा मत कर; देख, मैं दूध पिये लेता हूँ"। ऐसा समझाके प्रभु कटोरा हाथ में ले, दूध पीने लगे। जब थोड़ा सा दूध रह गया, तब श्रीनामदेवजी बोले कि "महाराज ! मेरे लिये भी तो कुछ रहने दीजिये; क्योंकि आपका प्रसाद नाना का दिया मैं सदा ही पाता था" ॥

तब कृपा से बिहँस के अपने अधरामृत का अवशेष प्रभु ने अपने हाथों से ही नामदेवजी को पिलाके भक्ति प्रेमानन्द से तृप्त कर दिया ॥

श्लोक "ध्याने पाठे जपे होमे, ज्ञाने योगे समाधिभिः ।
विनोपासनया मुक्तिर्नास्ति सत्यं ब्रवीमि ते" ॥ १ ॥

(१७६) टीका । कवित्त । (६६७)

आये वामदेव, पाछें पूछैं नामदेवजू सों, दूध को प्रसंग, अति रङ्ग भरि भाखियें। "मोसों न पिछानि[1], दिन दोय हानि भई; तब मानि डर, प्रान तज्यो चाहों, अभिलाषियें ॥ पीयो, सुख दीयो जब नेकु, राखि लीयो, मैं तो जीयो," सुनि बातें, कही "प्यायो कौन साखियें ?"। धर्यो, पै न पीयें अर्यो[2], प्यायौ, सुख पायौ नाना, या मैं लै दिखायौ भक्त-बस-रस चाखियें ॥ १३३ ॥ (४६६)

वार्त्तिक तिलक ।

जब श्रीवामदेवजी घर आए। और श्रीनामदेवजी से पूछने लगे कि "पूजा सेवा नीके करके दूध भोग लगाया करते थे ?"। तब श्रीनामदेवजी अति प्रेमानन्द रङ्ग में रँगे हुए दूध पिलाने का सारा प्रसंग कहने लगे, कि "नाना ! मुझसे ठाकुरजी से जान-

१ "पिछानि"=पहिचान। २ "अर्यो"=अड़े, हठ किया ॥

पहिचान तो थी ही नहीं, इससे दो दिन तो बड़ी हानि हुई कि प्रभु ने दूध नहीं ही पिया; तब आपके भय से मैंने छूरी लेके अपना गला काटना चाहा; सो देखते ही प्रभु ने अति अभिलाष से दूध पान कर मुझे बड़ा सुख दिया; थोड़ा सा मैंने प्रसाद भी माँग लिया; इस भाँति प्रभु ने दूध पी पिला के मुझे जिलाया॥"

यह वार्त्ता सुनके श्रीवामदेवजी बोले कि "दूध पिलाने का साखी कौन है॥"

श्रीनामदेवजी ने कहा कि "स्वयं ठाकुरजी ही साक्षी हैं कि जिन्होंने पिया है।" नाना ने कहा कि "भला पिलाके मुझे भी तो दिखा दे।" तब श्रीनामदेवजी ने उसी प्रकार से दूध बनाके सामने रख पीने की प्रार्थना की, परन्तु प्रभु ने न पिया। तब आपने अत्यन्त हठपूर्वक कहा कि "कल्ह तो तुमने पिया और आज न पीके मुझे झूठा बनाते हो ? वह छूरी अभी मेरे पास रक्खी ही है" यह सुन मन्द मुसक्यान सहित प्रभु ने फिर दूध पी लिया॥

यह देख श्रीवामदेवजी ने अत्यन्त सुख पाया। और प्रभु से कहा कि "नाथ! इसको अपनी सेवा ही के लिये आपने प्रगट किया है; सो अब इसी से सेवा लिया कीजिये।" उसी क्षण से श्रीनामदेवजी को सब सेवा पूजा सौंप दी॥

देखिये! इस चरित्र में प्रभुने यह दिखाया कि हम भक्तोंके प्रेमवस ही होके भोजनादिक रसों को चखते हैं, तात्पर्य प्रेमही को चखते हैं॥

(१७७) टीका। कवित्त। (६६६)

नृप सो मलेछ, बोलि, कही "मिले साहिब[1] को, दीजिये मिलाय करामात[2] दिखराइयै।" "होय करामात तो पै काहे को कसब[3] करैं? भरैं दिन ऐपै बाँटि सन्तन सों खाइयै॥ ताही के प्रताप आप इहाँलौं बुलायो हमैं;" "दीजिये जिवाय गाय घर चलि जाइयै।" दई लै जिवाय गाय सहज सुभाय ही मैं, अति सुख पाय, पाँय पर्‌यो, मन भाइयै॥ १३४॥ (४६५)

---

१ "साहिब صاحب"=स्वामी, प्रभु। २ "करामात كرامات"=प्रभुता, सिद्धाई, परचौ, प्रभाव, रीझा। ३ "कसब كسب"=प्राप्त करना, कमाना॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवत्कृपा से जब श्रीनामदेवजी की प्रीति-प्रतीति-भक्ति-महिमा अति फैली, और सब राजाओं का राजा-म्लेच्छ (सिकन्दर लोदी बादशाह) के यहाँ तक भी आपकी सिद्धाई की वार्ता जा पहुँची; तब उसने आपको बुलाके कहा कि "हम सुनते हैं कि आप साहिब को मिले (पहुँचे) हैं; सो हमको भी मिला दीजिये अथवा अपनी कुछ करामात दिखाइये।" आपने उत्तर दिया कि "यदि मुझ में कोई करामात ही होती तो मैं अपनी जीविका के हेतु छीपा का काम क्यों करता? दिन भरके परिश्रम से जो कुछ मिलता है सो, सन्तों के साथ बाँट खाता हूँ; इसी के प्रताप से अर्थात् जो साधु लोग मुझ पर कृपा करके मुझे दरशन देते हैं, इसी से लोगों में मेरी बड़ाई हो रही है, यहाँ तक कि आपने भी अपने यहाँ मुझे बुला भेजा है॥"

यह सुन भूप (बादशाह) ने कहा कि "इस मरी हुई गऊ को जिला दीजिये; बस अपने घर चले जाइये॥"

नृप का हठ देखके, आपने सहज स्वभाव ही से, अर्थात् एक* विष्णुपद सप्रेम गान करके, गऊ को जिला दिया॥

श्लो॰ "हरिस्मृतिप्रमोदेन रोमाञ्चित तनुर्यदा।
नयनानन्दसलिलं मुक्तिदासी भवेत्तदा॥ १॥"

यह प्रभाव (करामात) देख, भूपति (बादशाह) बड़ा ही प्रसन्न हुआ और सुखपूर्वक सादर आपके चरणों पर गिरा॥

(१७८) टीका। कवित्त। (६६५)

"लेवो देश गाँव, जाते मेरो कछु नाँव होय," "चाहियै न कछु" दई सेज मनिमई है। धरि लई सीस, "देउँ संग दसबीस नर,"

* बिनती सुनु जगदीश हमारी। तेरो दास, आस मोहिं तेरी इत करु कान मुरारी॥ दीनानाथ दीन ह्वै टेरत गायहिं क्यों न जियाओ? आछे सबै अंग हैं याके मेरे यशहिं बढ़ाओ॥ जो कहौ याके करमहिं में नहिं जीवन लिख्यो बिधाता। तौ अब नामदेव आयुष तें होहु तुमहिं प्रभु! दाता॥ १॥—"जाते"=जिससे॥

नाहीं करि आये, जल माँझ डारि दई है॥ भूप सुनि चौंकि पर्यो "ल्यावो फेरि;" आये "कहौ;" कही "नेकु आनिकै दिखावो कीजै नई है।" जल तें निकासि बहु भाँति गहि डारा तट "लीजिये पिछानि" देखि सुधि बुधि गई है॥ १३५॥ (४६४)

वार्तिक तिलक।

और कर जोड़ के कहा कि "आप मुझपर कृपा करके कोई गाँव वा देशराज्य लीजिये जिससे आप सरीखे सन्तों की सेवा से मेरा नाम सुयश हो" आपने उत्तर दिया कि "मुझको कुछ नहीं चाहिये॥"

श्लो० "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ १॥"

दिल्लीपति ने बड़ी प्रार्थना करके एक सुवर्णरचित मणिजटित सेज (पलंग) दिया कि "इस पर अपने साहिब को शयन कराइयेगा।" तब श्रीनामदेवजी ने अपनी साधुता सरलता से उसको अपने ही माथे पर रख लिया॥

सीस पर रखते देख, यवनाधिप ने प्रार्थना की कि "मैं दस बीस मनुष्य साथ दिये देता हूँ पहुँचा देंगे, आप पर्यंक को अपने मस्तक पर न रखिये" आपने इनकार कर दिया कि "मुझे मनुष्यों की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।" और आप अपने स्थान को चल दिये। नृप ने पीछे से कुछ लोग रक्षा के निमित्त भेज ही तो दिये। आप नदी (यमुना) तट आए जहाँ अति अगाध जल था; वहाँ उस सेज को श्रीप्रभु को अर्पण करके जल में डाल दिया॥

चौपाई।

"सबसे सो दुर्लभ मुनि राया। रामभक्ति रत गत मद माया॥"
इस कौतुक को देख के उन राजभृत्यों ने (जो पीछे २ आ रहे थे)

शीघ्र लौट के म्लेच्छराज से समाचार कहा; जिसे सुनते ही भूप चौंक पड़ा; और आज्ञा दी कि "नामदेवजी को फिरा लाओ॥"

[श्रीनामदेवजी के 'गुरुभाई' श्रीत्रिलोचनदेवजी थे॥

ऐसा लिखा है कि जब श्रीनामदेवजी की माता ने अपने पिता श्रीवामदेवजी से अपने गर्भ की वार्त्ता पूरी पूरी कह सुनाई, तब उसी दिन स्वप्न में श्रीप्रभु ने भी वामदेवजी से आज्ञा की कि "हाँ, इस निष्कलङ्क की सब बातें ठीक हैं, सत्य हैं, तुम कुछ शंका संशय मत करो, सुता तुम्हारि सकल गुन खानी॥"]

सो सुन, आप लौट आए और पूछा कि "किसलिए फिर बुलाया? सो कहो" उसने कहा कि "उस सेज को तनक लाके (सुनारों को) दिखा दीजिये, क्योंकि वैसा ही नया पर्यंक बनवाना है॥"

आपने आके उस जल से वैसे और उससे भी चढ़ बढ़ के अनेक सेज निकाल निकाल तट पर डाल दिये और कहा "लो पहिचान के अपना ले लो ❀" यह प्रभाव देख नरेश की सुध बुध जाती रही चकित हो गया॥

(१७९) टीका। कवित्त। (६६४)

आनि पर्‌यो पाँय, "प्रभु पास तें बचाय लीजै;" "कीजै एक बात कभूं साधु न दुखाइयै।" लई यही मानि, "फेरि कीजियै न सुधि मेरी;" "लीजियै गुननि गाय मन्दिर लौं जाइयै"॥ देखि द्वार भीर, पगदासी कटि बाँधी धीर; कर सों उछीर करि, चाहैं पद गाइयै। देखि लीनी वेई, काहू दीनी पाँच सात चोट! कीनी धकाधकी! रिसँ मन मैं न आइयै॥ १३६॥ (४६३)

वार्त्तिक तिलक।

यह दूसरा बड़ाभारी चमत्कार देखके, भूप फिर चरणों पर पड़, हाथ जोड़, प्रार्थना करने लगा कि "आपने गऊ भी जिला ▮दी तब

❀ एक पर्य्यंक यवनाधिपको लौटा देकर; शेष पलंगों को श्रीयमुनाजी में आपने छोड़ दिया।

१ पाठान्तर "लीजै"। २ "उछीर"=भीड़ नहीं, घना नहीं, अलग अलग। "कर सों उछीर करि"=हाथों से लोगों को कुछ इधर उधर सरका थोड़ा अवकाश करके।

३ "रिस"=रोष, क्रोध॥

भी आपका प्रभाव न जानके मैंने पलंग को देखना चाहा, सो यह मेरा अपराध आप क्षमा करके अपने प्रभु से मुझे बचा लीजिये जिसमें वे भी मेरा अपराध क्षमा कर दें" श्रीनामदेवजी ने आज्ञा की कि "जो मेरे प्रभु की क्षमा चाहो तो एक बात करना कि कदापि साधुमात्र को दुख मत देना॥"

दो० "साधु सताए तीन हानि अर्थ धर्म अरु बंस।
टीला" नीके देखिये कौरव, रावण, कंस॥१॥"

यह बात उसने मान ली। पुनः चलते समय आपने यह भी कहा कि "अब फिर मुझको अपने यहाँ न बुलाना;" और वहाँ से अपने स्थान (पण्डरपुर) को चले आए॥

आपने विचारा कि "प्रथम श्रीपण्डरीनाथजी के मन्दिर में जा, आपके गुन गा, तब गृह को चलूं॥"

आके देखा तो बिट्ठलदेवजी के द्वारपर लोगों की बड़ी भीड़ है; "यदि पगदासी (पनही) बाहर छोड़ जाऊंगा तो मन में उसका खटका, दर्शन तथा पदगाने में विक्षेप करेगा;" इससे धीरे से कपड़े में कर, कटि में बांध, भीतर जा, झांझ हाथों में ले, तब आपने पद गाना चाहा॥

इतने ही में किसी ने जूती का कोर देख लिया, सो उसने आप को पांच सात चोट लगा, धक्के दे, बाहर निकाल दिया। परन्तु, आपके क्षमा-साधुता युक्त मन में किंचित् भी क्रोध न आया॥

दो० "उमा जे रघुपति चरण रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करहिं विरोध॥"

(१८०) टीका। कवित्त। (६६३)

बैठे पिछवारे जाइ "कीनी जू उचित यह, लीनी जो लगाइ चोट, मेरे मन भाइयैं। कान दैकैं सुनो अब चाहत न और कछु; ठौर[1] मोकों यही; नित नेम पद गाइयैं॥" सुनत हीं आनिकरि करुना विकल भए फेर्यो द्वार इतै गहि मन्दिर फिराइयैं। जेतिक वे सोती

१ "ठौर"=ठांव, ठिकाना, स्थान॥

मोती आंब सी उतरि गई, भई हिये प्रीति, गहे पांव सुखदा इयैं ॥ १३७ ॥ (४६२)

वार्त्तिक तिलक।

और जाके, मन्दिर के पीछे बैठ, प्रभु से विनय करने लगे "हे प्रभो! यह आपने बहुत ही उचित बात की कि जो मेरे दो चार धौलधक्के लगवा दिये, क्योंकि मैंने अपराध किया ही था; सो दण्ड देके आपने शुद्ध कर लिया; मुझे यह बहुत ही अच्छा लगा। परन्तु अब मेरी प्रार्थना कान लगाके सुनिये; मैं और कुछ नहीं चाहता; केवल यही चाह मुझे है कि नित्य नेम से जो पद गाया करता हूँ सो गाके सुनाया करूँ; क्योंकि आपकी शरण छोड़ मुझको दूसरा ठौरठिकाना हीनहीं।" यही प्रार्थना इस पद में भी है—

'हीन है जाति मेरी, यादवराय! कलिमें "नामा" यहाँ काहे को पठाय॥ पातुरि नाचैं, तालपखावज बाजैं, हमारी भक्ति बीठल काहे को राजैं॥ पांडवप्रभु जू बचन सुनी जै॥ "नामदेव स्वामी" दरशन दीजै'॥

इस पद के सुनतेही भक्तवत्सल श्रीकरुणासिंधु प्रभु ने, कृपा से विकल हो सम्पूर्ण मन्दिर को नीचे से (जड़ से) फेर के उसका द्वार फिरा के, श्रीनामदेवजी के सन्मुख हो, दर्शन दिये। (उस मन्दिर का द्वार अब तक दक्षिण मुख है॥)

इस प्रसंग से यह निश्चय होता है कि जो मूर्ति श्री बीठलदेव की, श्रीवामदेवजी ने सेवा के निमित्त अपनी पुत्री (श्रीनामदेवजी की माता) को तथा श्रीनामदेवजी को दी थी, सो इन्हीं प्रधान मूर्ति का द्वितीय विग्रह, उनके गृह के आवान्तर में था॥

यह अतिविचित्र चरित्र देख, जितने श्रोत्रिय वेदपाठी पंडा पुजारियों ने धौल धक्के दिये दिलाए थे, तिन सब के मुख ऐसे सूख गये कि जैसे मोती का पानी उतर जाय। और सुखदाई श्रीनामदेवजी के विषे अति प्रीति भाव कर, चरणों में पड़, अपराध की क्षमा कराई। श्रीनामदेवजी की जय॥

(१८१) टीका। कवित्त। (६६२)

औचकहीं घरमांझ साँझही अगिनि लागी, बड़ो अनुरागी,

१ "आब"=पानी, द्युति, कान्ति, चमक॥

रहिगई सोऊ डारियै। कहै "अहो नाथ! सब कीजिये जु अंगीकार," हँसे सुकुमार हरि मोही[2] कौं निहारियै?" "तुम्हरो भवन और सकै कौन आइ इहाँ?" भए यों प्रसन्न छानि छाई आप सारियै। पूछैं आनि लोग "कौने छाई हो? छवाइ लीजै, दीजै जोई भावै;" "तन मन प्राण वारियै" ॥ १३८ ॥ (४६१)

वार्तिक तिलक।

एक दिन साँझ के समय अचानक ही आपके घर में आग लग गई, आप तो बड़े ही अनुरागी थे। पंचतत्त्वादि सबको सानुराग भगवत्‌रूप ही देखा करते थे, अतः जो २ वस्तु उस आग से पृथक् भी रह गई थ , सो भी सब उठा २ के आप अग्नि में डालके प्रार्थना करने लगे कि "हे नाथ! ये पदार्थ भी अंगीकार कीजिये॥"

श्रीनामदेवजी का ऐसा सर्वात्मकभाव देख, तथा सप्रेम वचन सुन, सुकुमार-शिरोमणि श्रीहरि प्रगट हो, बिहँसके पूछने लगे कि "हे नामदेव! क्या अग्नि में भी मुझको ही देखते हो? अर्थात् तुम अग्नि को भी मेरा ही रूप जानते हो?" आपने हाथजोड़ निवेदन किया कि "प्रभो! यह गृह आपका है इसमें आपको छोड़ दूसरा कौन आ सकता है?॥" इस पर अत्यन्त प्रसन्न होकर रात्रिही भर में सम्पूर्ण गृह का छप्पर आपने अपने ही हाथों से सुन्दर अति विचित्र छा दिया॥

सबेरे, लोग छप्पर की सुन्दरता देख २, चकित हो हो, आपसे पूछने लगे कि "यह छप्पर अति सुन्दर किसने छाया है? जिसने छाया हो उसको बताओ तो हम भी छवा लें, जो माँगे सोई छवाई दें॥"

आपने उत्तर दिया कि "भाइयो! वह छान छानेवाला तो रुपए पैसे लेनेवाला नहीं है, किन्तु उसपर जब पहिले ही तन मन प्राण सर्वस्व न्योछावर कर दीजिये तब वह ऐसी छावनी छा देता है॥

---

१ "रहि गई"=बच रही। २ "मोही कौं" "निहारियै?"=क्या तू सबमें मुझे ही देखता है? सबको मुझमय ही समझता है? सबको मेरा ही रूप जानता है?॥

दोहा—"प्रभुता को सब कोउ चहै, प्रभु को चहै न कोय ।
तुलसी जो प्रभु को चहै, आपहि प्रभुता होय ॥"

(१८२) टीका । कवित्त । (६६१)

सुनौ और परचै जो आए न कवित्त माँझ, बाँझ, भई माता क्यों न? जौं न मति पागी है । हुतो एक साहु, तुलादान को उछाह भयो, दयो पुर सब. रह्यो[1] नामदेव रागी है ॥ "ल्यावौ जू बुलाइ" एक दोई तो फिराइ[2] दिये, तीसरे सों आए "कहा कहो ? बड़ भागी है" । "कीजिये जु कछु अंगीकार मेरो भलो होय," "भयो भलो तेरो, दीजै जौ पै आसा लागी है" ॥ १३६ ॥ (४६०)

वार्त्तिक तिलक ।

अब श्रीनामदेवजी के परचै प्रभाव, जो श्रीनाभास्वामीजी के छप्पय में नहीं कहे गए हैं, सो सुनिये; देखिये ऐसे भक्तिभरे श्रीनामदेवचरित्र सुनके श्रीसीतारामजी में तथा श्रीसीतारामनाम में जिसकी मति प्रेम से न पगी, उसकी माता बाँझ क्यों न हुई ? इस निज यौवनविटप-कुठार पुत्र को व्यर्थ ही क्यों उत्पन्न किया ? ॥

पण्डरपुर में एक बड़ा साहु (सेठ) था, उत्साहपूर्वक सोने का तुलादान करके उसने सबको सुवर्ण दिया । परमानुरागी श्रीनामदेवजी ही एक रह गए ॥

आपके पास भी सादर बुलाने को मनुष्य भेजे; परन्तु आपने एक दो बेर तो उनको कोरे ही लौटा दिया कि "मुझे नहीं चाहिये ।" तीसरी बार बड़ी प्रार्थनापूर्वक उसने बुलाया तो आप जाके बोले कि "हे बड़-भागी सेठ ! कहो क्या कहते हो ?" उसने विनय किया कि "आप कृपाकरके इसमें से कुछ सुवर्ण अंगीकार कीजिये कि जिसमें मेरा भला हो ॥"

आपने उत्तर दिया कि "तेरा भला हुआ ही है, क्योंकि तूने सबको दिया । जिसकी आशा लगी हो उसको दे; और यदि मुझको भी देने के हेतु तेरी आशा लगी ही है तो दे ॥"

१ "रह्यो"=शेष रहे । २ "फिराइ दिये"=कोरे ही लौटा दिये ॥

(१८३) टीका। कवित्त। (६६०)

जाके तुलसी[1] हैं ऐसे तुलसी के पत्र माँझ, लिख्यो आधो राम नाम; "यासों तोल दीजियै"। "कहा परिहास करो? ढरो, ह्वै दयाल;" "देखि, होत कैसो ख्याल[2] याकों, पूरो करो, रीझियै"॥ ल्यायो एक काँटो, लै चढ़ायो पात सोना संग; भयो बड़ो रंग[3], समहोत नाहिं छीजियै। लई सो तराजू[4] जासों तुलै मन पाँच सात; जातिपाँति हू को धन धस्यो, पै न धीजियै[5]॥ १४०॥ (४८६)

वार्त्तिक तिलक।

इतना कहके, श्रीतुलसीजी के पत्र में आधा श्रीराम नाम अर्थात् "रा" मात्र लिखके, आप बोले कि "यदि दिया ही चाहता है तो इसी भर तौल के दे।" सुन के सेठ ने कहा कि "आप हँसी क्या करते हैं, इस पत्रहीभर मैं क्या दूँ? मुझपर दयालु होके कुछ अधिक अङ्गीकार कीजिये।" श्रीनामदेवजी ने उत्तर दिया कि "मैं हँसी नहीं करता, देख तो इसका कैसा कौतुक होता है; इस भर तौल के पूरा तो कर, तब मैं तुझ पर अतिशय प्रसन्न हूँगा॥"

एक तोलने का काँटा ला के उसके एक ओर वह तुलसीदल और दूसरी ओर सोना साह ने चढ़ाया; परन्तु बड़ा ही रंग मचा कि वह सोना श्रीपत्र के तुल्य न हुआ, बरन घट गया। तदनन्तर, साहु ने एक ऐसी तुला (तराजू) मँगवाई जिसमें पाँचसात मन वस्तु तुल सके; और उसपर वह श्रीनामपत्र रखके अपने घर भर का स्वर्णादिक सब धन चढ़ाया तब भी श्रीपत्रवाले पल्लेने भूमि न छोड़ी॥

फिर अपने जातिभाइयों का धन भी माँग माँग के पल्लेपर चढ़ाता गया, तथापि पूरा न पड़ा, धन का पल्ला अतीव हलका ही रहा। उन सब का प्रिय न हुआ॥

---

१ "जाके तुलसी हैं ऐसे"=इसका अर्थ को॰ २ महात्मा यों करते हैं—जिस श्रीनामदेवजी के, श्रीतुलसीजी ऐसे इस प्रकार से हैं, सर्वस्व हैं, (जैसा आगे के संघट से प्रत्यक्ष है,) सो श्रीनामदेवजी ने श्रीतुलसीपत्र पर "रा" लिखा। (श्रीतुलसीजी वैष्णवमात्र के सर्वस्व हैं विशेषतः श्रीनामदेवजी के। २ "ख्याल"=रंग, खेल, कौतुक। ३ "रंग"=ख्याल, खेल, कौतुक, तमाशा। ४ "तराजू ترازو"=तुला। ५ "न धीजियै"=प्रिय न हुआ, पूर्ण न हुआ, पूरा न पड़ा॥

(१८४) टीका। कवित्त। (६७६)

पस्यो सोच भारी, दुःख पावैं नर नारी, नामदेव जू बिचारी "एक और काम कीजिय। जिते ब्रत दान और स्नान किये तीरथ मैं करियै संकल्प या प जल डारि दीजियै"॥ करेऊ उपाय, पातपला भूमि गाड़े पाँय, रहे वे खिसाय[1], कह्यो "इतनोई लीजियै"। "लैकैं कहा※करैं ? सरबर[2]हू न करैं, भक्ति भाव सों लै भरैं हिये, मति अति भीजियै"॥ १४१॥ (४८८)

वार्त्तिक तिलक।

यह अर्द्ध रामनाम युक्त तुलसीपत्र के गौरव महत्त्व का कौतुक देखके, सेठ घर के सब स्त्री-पुरुष-वर्गों को बड़ाही सोच और दुख हुआ कि कैसे पूरा हो॥

श्रीनामदेवजी ने विचार किया कि "श्रीरामनाम के सामने धनादिकों की तुच्छता तो दिखा ही दी, परन्तु अब यह भी दिखा दूँ कि श्रीनाम के आगे सब धर्म कर्म भी हलके (न्यून) ही हैं;" अतः आपने कहा कि "सुनो एक काम और करो कि तुम लोगों ने जितने व्रत, उपवास, तीर्थस्नान, दान इत्यादि सुकर्म धर्म किये हों, उन सबको भी संकल्प करके वह जल इसपर छोड़ दो अर्थात् सब पुण्य भी चढ़ादो॥"

यह उपाय भी किया गया; तथापि श्रीनामपत्र वाला पल्ला भूमि में पाँव जमाए ही रहा; यथा—

दो० "भूमि न छाँड़त कपि चरण, देखत रिपुमद भाग।
कोटि बिघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग"॥ १॥

तब तो वे सब अति लज्जित, संकुचित होके कहने लगे कि "महाराज! आप इतनाही ले लीजिये।" श्रीनामदेवजी ने उत्तर दिया कि "यह सब धन और पुण्य लेके मैं क्या करूँगा ? क्योंकि तुम सबने स्पष्ट देखा ही कि मेरा धन जो श्रीरामनाम है, उसके आधे के भी तुल्य ये सब नहीं ठहरे; इससे श्रीरामनाम और श्रीभक्ति ही से मैं अपने हृदय

१ "खिसाय"=लजाय। २ "सरबर"=समता। ※ पाठान्तर "कहा धरैं ?"॥

को संतुष्ट रखता हूँ और रक्खूँगा; किसलिये कि मेरी मति प्रेम भक्ति रस ही से भीगी है। इससे तुम लोग भी धन धर्म्माभिमान छोड़ श्रीराम-नाम की भक्तिरस में अपनी बुद्धि को भिगोके भव-पार हो॥"—

दोहा "राका रजनी हरि भगति, राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडुगण बिमल, बसैं भक्त उर व्योम॥"

(१८५) टीका। कवित्त। (६५८)

कियो रूप ब्राह्मन कों दूबरो निपट अंग, भयो हिये रंग, ब्रत परिचै[1] को लीजियें। भई एकादशी, अन्न माँगत "बहुत भूखो," "आजु तो न देहौं भोर चाहौ जितौ दीजियें"॥ कस्यो हठ भारी मिलि दोऊ, ताको शोर[2] पस्यो; समभावै नामदेव याको कहा खीजियें। बीते जाम चारि मरि रहे यों पसारि पाँव, भाव पै न जान दई हत्या नहीं छीजियें॥ १४२॥ (४८७)

वार्त्तिक तिलक।

अब जिस प्रकार स्वयं प्रभु ने एकादशीव्रत का पन श्रीनामदेव द्वारा दृढ़ाया, सो आख्यायिका कहते हैं—

प्रभु के हृदय में यह रंग (कौतुक) आया कि "एकादशी निष्ठा की परीक्षा लूँ;" इस हेतु अत्यन्त दुर्बल ब्राह्मण का रूप बना, एकादशी को सबेरे ही आ, श्रीनामदेवजी से बोले कि "मैं कई दिनों का बहुत ही भूखा हूँ, मुझको अन्न दो।" आपने उत्तर दिया कि "आज एकादशीव्रत है, इससे अन्न भोजन न दूँगा; कल सबेरे जितना माँगोगे उतना दूँगा॥"

ब्राह्मणजी ने बड़ा भारी हठ किया कि "मैं अन्न अभी अभी लूँगा; आपने भी हठ किया कि "आज तो मैं अन्न नहीं ही दूँगा।" दोनों के हठयुक्त उत्तर प्रत्युत्तर का बड़ा हल्ला मचा, सुनके बहुत लोग इकट्ठे हो गए; और श्रीनामदेवजी से कहने लगे कि "हम इस मरणप्राय

१ "परिचै"=परीक्षा, जाँच, परचै, प्रभाव, प्रभुता। २ "शोर شور"=हल्ला, कोलाहल, घने शब्द॥

ब्राह्मण पर क्रोध करके क्या कहें? पर तुम्हें समझाते हैं कि दे दो।" तथापि, एकादशी को अन्न देना निषेध जानके, आपने नहीं ही दिया॥

जब चार पहर बीत गए, तब अन्नाभिलाषी भूखे ब्राह्मणदेव, पाँव फैलाके मर गए॥

लोग आपके भाव निष्ठा को न जानके, कहने लगे कि "नामदेव को ब्राह्मण ने ब्रह्महत्या दी, इनको छूना न चाहिए, अब यह हत्या छूटनेवाली नहीं है॥"

(१८६) टीका। कवित्त। (६५७)

रचिकै चिता कों, बिप्र गोद लैकै, बैठे जाइ, दियो मुसुकाइ "मैं परीक्षा लीनी तेरी है। देखि तो सचाई, सुखदाई, मनभाई मेरे;" भए अन्तर्धान, परे पाय प्रीति हेरी है॥ जागरन माँझ, हरिभक्तन को प्यास लगी, गए लैन जल; प्रेत आनि कीनी फेरी है। फेंटे[1] तें निकासि ताल, गायो पद ततकाल; बड़ेई कृपाल रूप धस्यो छबि ढेरी है॥१४३॥ (४८६)

वार्त्तिक तिलक।

तदनन्तर, श्रीनामदेवजी चिता रच, मृतक विप्र के शरीर को गोद में लेकर चिता पर जा बैठे, और किसी आज्ञाकारी जन से कहा कि "अग्नि लगा दो॥"

तब तो श्रीएकादशीपति प्रभु ने मुसुकाके कहा कि "प्रिय भक्त! जलो मत, तुम्हारे हृदय के शीतल करनेवाले मैंने ही तुम्हारी परीक्षा ली है, तुम्हारे व्रत की तथा ब्रह्मण्यता की सचाई देखी, सो मुझको बड़ी ही प्यारी सुखदाई लगी।" यह कहके श्रीप्रभु उस चिता ही पर से अन्तर्धान हो गए।

इस प्रकार, वैष्णवधर्म तथा ब्राह्मण, श्रीतुलसी, श्रीरामनाम, और श्रीप्रभु में नामदेवजी की परमप्रीति देख, एवं प्रभु के चरित्रों

---

१ "फेंट"=कटिबन्धनवस्त्र॥

की विचित्रता विचार, सब लोग जय जयकार कथनपूर्वक श्रीनामदेव-जी के चरणों में पड़के प्रशंसा करने लगे ॥

अन्य एकादशी की रात्रि में आपके गृह विषे जागरन उत्सव हो रहा था ; उसमें हरिभक्तों को प्यास लगी, आप स्वयं जलाशय में जल लेने गए; क्योंकि वहाँ एक बड़ा प्रेत रहता था इससे और किसी को न भेजा। सो जब आप वहाँ पहुँचे तो कई प्रेतों को साथ लिये वह प्रेत बड़ा भारी विकराल भयंकर रूप धारण कर आप के सन्मुख आ खड़ा हुआ। उसको देख, आपने उसमें भगवद्भाव ही आरोपण किया, क्योंकि आपकी दृष्टि में तो और भाव रहही नहीं गया; इससे अपने फेंट से ताल अर्थात् कांश्यताल (झाँझ) वा करताल निकाल के तत्काल ही यह पद बनाके सप्रेम गाने लगे ॥

"ये आए मेरे लम्बकनाथ। धरती पाँव स्वर्ग लों माथो जोजन भरि भरि हाथ॥ शिव सनकादिक पार न पावें, तैसेइ सखा विराजत साथ। नामदेव के स्वामी अन्तर्यामी कीन्ह्यो मोहिं सनाथ ॥ १ ॥"

सुनतेही सर्वान्तर्यामी परम कृपालु ने प्रेतरूपों को विनाश करके, परम छविराशि रूप धारण कर दर्शन दिया। निज रूपामृत पिलाके कहा कि "जल लेजाव।" जल लाके आपने भगवद्भक्तों को पिलाया श्रीनामदेवजी की जय ॥

---

(३१) श्रीजयदेवजी।

(१८७) छप्पय। (६५६)

जयदेव कविनृप चक्कवै[1]; खँड[2]मंडलेश्वर[3] आन कवि॥ प्रचुर भयो तिहुँलोक "गीतगोविन्द" उजागर। कोक काव्यनवरससरससिंगारकोसागर॥ अष्टपदी अभ्यास करै तेहिं बुद्धि बढ़ावैं। (श्री) राधारमन प्रसन्न सुनन

---

१ "चक्कवै"=चक्रवर्ती, सातोद्वीप का राजराजेश्वर। २ "खण्डेश्वर"=नव खण्डों में से एक खण्ड का महाराज। ३ "मण्डलेश्वर"=सौ दो-सौ कोस के मण्डल का राजा॥

निश्चय तहँ आवैं। संत सरोरुहखंड कों "पद्मा" पति सुखजनक रवि। जयदेव कवि नृप चक्कवै खँडमंडले-श्वर आन कवि ॥ ४४ ॥ (१७०)

वार्त्तिक तिलक ।

कलियुग में संस्कृत के कवियों में, श्रीजयदेवकविराज, चक्रवर्ती महाराज सरीखे हुए; और, और सब कवि खण्डेश्वर वा मण्डलेश्वर राजाओं के सरिस हैं। उक्त महा-कवि-कृत अति उजागर "श्री-गीतगोविंद" काव्य, देव मनुष्य नाग इन तीनों लोकों में प्रचुर विख्यात हुआ; कैसा "गीतगोविंद" है कि, कोकशास्त्र का, काव्य के सम्पूर्ण अंगों का, नवो रसों का, तथा सरसशृंगार का रत्नाकर समुद्र ही है ॥

और, श्रीगीतगोविंद की अष्टपदियाँ जो कोई अभ्यास करे (पढ़े), उसकी बुद्धि को बढ़ाती हैं। तथा जो सप्रेम गान करता है तो श्रीराधावल्लभजी वहाँ उसके सुनने के लिये प्रसन्न होके प्रगट वा गुप्तरूप से अवश्य ही आते हैं ॥

सन्तरूपी कमल समूहों को सुख उत्पन्न करनेवाले, श्रीपद्मावतीजी के पति (श्रीजयदेवजी) सूर्य समान हुए ॥

(१८८) टीका । कवित्त । (६५५)

किन्दुबिल्लु ग्राम, तामैं भए कविराज राज, भरयो रसराज[2] हिये मन मन चाखियैं। दिन दिन प्रति रूख रूख तर जाइ रहैं, गहैं एक गूदरी, कमंडल कों, राखियैं॥ कही देवै विप्र सुता जगन्नाथदेवजू कों, भयो जब समै, चल्यो दैन प्रभु भाखियैं। "रसिक जैदेव नाम मेरोई सरूप, ताहि देवौ ततकाल अहो, मेरी कहि साखियैं" ॥ १४४ ॥ (४८५)

वार्त्तिक तिलक ।

सब कविराजों के राजा श्रीजयदेवजी पूर्वदेश में "किन्दुबिल्व"

---

१ "खण्ड"=कदम्ब अर्थात् समूह । "सरोरुह-खण्ड"=कमल के समूह ।
२ "रसराज"=रसों का राजा, शृङ्गार रस ॥

नामक ग्राम में "भोजदेव" पिता और "राधादेवी" माता से ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए; सो आपके हृदय में प्रभु सम्बन्धी रसराज (शृङ्गाररस) भरा था, परन्तु उसका स्वाद मन ही मन में लिया करते थे। और विरक्त (वैराग्यवान्) कैसे थे कि गृह को त्यागके वन में भी एक वृक्षतले एक ही दिवस रहते थे दो दिन भी एक के नीचे नहीं; और तनुक्रिया निर्वाह के हेतु केवल एक गुदड़ी (कन्था) और एक कमण्डलुमात्र रखते थे॥

उसी काल की वार्ता है कि एक ब्राह्मण श्रीजगन्नाथजी को अपनी कन्या प्रतिज्ञापूर्वक देने को कह गया; जब वह लड़की अवस्था में उस योग्य हुई, तो उसको देने के लिये वह विप्र श्रीजगन्नाथजी के पास लाया; प्रभु की आज्ञा हुई कि "जयदेवजी नामक आश्चर्यरसिक भक्त मेरे ही स्वरूप हैं, सो इसी क्षण ले जाके और मेरी आज्ञा उनसे सुनाके, यह अपनी सुता उन्हीं को दे दो॥"

(१८९) टीका। कवित्त। (६५४)

चल्यो द्विज तहाँ, जहाँ बैठे कविराजराज, "अहो महाराज ! मेरी सुता यह लीजियै"। "कीजियै विचार, अधिकार, विस्तार जाके, ताहि को निहारि, सुकुमारि यह दीजियै"॥ जगन्नाथदेवजू की आज्ञा प्रतिपाल करो, ढरो मति धरो हिये; ना तो दोष भीजियै"। "उनको हजार सोहैं, हमको पहार एक; ताते फिरि जावो, तुम्हैं कहा कहि खीजियै"॥ १४५॥ (४८४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजगन्नाथजी की आज्ञा सुन कन्या लिये हुए ब्राह्मण जहाँ कविराजराज श्रीजयदेवजी श्रीप्रभु का स्मरण करते हुए बैठे थे, वहाँ जाके आपसे प्रार्थना की कि "हे महाराज ! यह अपनी कन्या मैं आपको अर्पण करता हूँ, इसका कर ग्रहण कीजिये।" आपने उत्तर दिया कि "आप विचार कीजिये, जिसको कन्या लेने का अधिकार और गृहस्थाश्रम का विस्तार हो, उसी को यह सुन्दरि कुमारी दीजिये॥"

ब्राह्मण बोले कि "महाराज! मैं जो अपनी इच्छा से कन्यादान करता तो विभव विचार अवश्य करता; परन्तु मैं तो श्रीजगन्नाथदेवजी की आज्ञा से आपको कन्या दे रहा हूँ, इससे उनकी आज्ञा को आप भी प्रतिपाल कीजिये; और कन्या को ग्रहण करना हित मान, अपनी मति में धारण कर, प्रभु की आज्ञा अनुवर्तन कीजिये; नहीं तो "प्रभुआज्ञा-भंग का बड़ा भारी दोष आपको लगेगा॥"

इस पर श्रीजयदेवजी बोले कि "मैं श्रीजगन्नाथजी की ऐसी आज्ञा पालन करने में समर्थ नहीं हूँ। वे प्रभु समर्थ हैं उनको सहस्रों (हज़ारों) सुन्दर स्त्रियाँ शोभा देती हैं, पर मुझे तो एक ही स्त्री पहाड़ है, अर्थात् जैसे दुर्बल निर्बल मनुष्य को पहाड़ का चढ़ना उतरना लाँघना अगम होता है, अथवा पहाड़ का उठाना असक्य है, वैसे ही मुझको एक ही स्त्री का सँभाल अतिशय अगम असह्य है, इससे आप यहाँ से चले ही जाइये; हम आपको और क्या बात कहके रिसायँ॥"

(१६०) टीका। कवित्त। (६५३)

सुतासों कहत "तुम बैठि रहौ याही ठौर, आज्ञा सिरमौर[1] मोपैं* नाहीं जाति टारी है"। चल्यौ अनखाइ[2] समझाइ हारे बातनि सों; "मन! तू समझ, कहा कीजै? सोच भारी है"॥ बोले द्विज-बालकी[3] सों "आप ही विचार करो, धरो हिये ज्ञान, मो पैं जाति न सँभारी है"। बोली कर जोरि "मेरो जोर[4] न चलत कछू, चाहौ सोई होहु, यह वाँरिफेरि[5] डारी है"॥ १४६॥ (४८३)

वार्त्तिक तिलक।

तब भक्त ब्राह्मण ने अपनी कन्या से कहा कि "तू इसी ठौर इन्हीं के पास बैठ रह, क्योंकि त्रयलोक्य-शिरोमणि श्रीजगन्नाथजी की आज्ञा मुझसे टारी नहीं जाती;" ऐसा कह, कन्या को बिठला (बैठाय), ब्राह्मण कुछ अनखाके चल दिया। आप बहुत प्रकार

---

१ "सिरमौर"=शिरोमणि। २ "अनखाइ"=अमर्ष करके, सक्रोध। ३ "बालकी"=बालिका, कन्या, लड़की। ४ "जोर"=बल। ५ "वांरिफेरि डारी"=न्योछावर हुई॥

* पाठान्तर "मेरे"॥

की वार्ता से ब्राह्मण को समझाके हार गए, परन्तु ब्राह्मण ने नहीं ही माना, आपकी एक न सुनी ॥

आप अपने चित्त में कहने लगे कि "रे मन! तू समझ, विचार कर कि अब क्या करना योग्य है? यह बड़े भारी सोच की वार्ता आ पड़ी ॥"

और विप्रसुता से बोले कि "तुम अपने पति की योग्यता तथा योगक्षेम निर्वाह आदिक को विचार करो, जैसा करना उचित है वैसा ज्ञान हृदय में धारण करो; मेरे पास मत बैठी रहो; क्योंकि तुम्हारा सारसँभार मुझसे नहीं होने का ॥"

श्रीपद्मावतीजी आपकी पूर्वजन्म-सम्बन्ध-सौभाग्यवती तो थीं ही, यह सुन हाथ जोड़ बोलीं कि "नाथ! मेरा कुछ बल विचार नहीं चलता; अब जो चाहे सो हो, मैं तो पिता के देने से तथा प्रभु-आज्ञा से, आपको श्रीजगन्नाथ ही जान, अपना नाथ मान, आपके ऊपर तन मन से न्योछावर हो आपकी हो चुकी ॥"

(१६१) टीका। कवित्त। (६५२)

जानी जब "भई तिया किया, प्रभु जोर मो पैं, तो पै एक झोपड़ी की छाया[१] करि लीजियै"। भई तब छाया, श्याम सेवा पधराइ लई, "नई एक पोथी मैं बनाऊँ," मन कीजियै ॥ भयो जू प्रगट "गीत" सरस "गोविन्द" जू को, मान में प्रसंग "सीस मंडन सो (को) दीजियै"। यही एक पद मुख निकसत सोच पर्‌यो, धर्‌यो[२] कैसे जात? लाल लिख्यो, मति रीझियै ॥ १४७ ॥ (४८२)

वार्त्तिक तिलक।

इस प्रकार जब श्रीपद्मावतीजी से सुबुद्धि-विनय प्रीति-पतिव्रत-भरा हुआ उत्तर श्रीजयदेवजी ने सुना, तब जाना कि "यह मेरी पत्नी हुई, क्योंकि श्रीजगन्नाथजी ने मुझ पर अपनी प्रभुता का बल किया, अब मेरी कुछ नहीं चलने की। इससे उचित है कि

१ "छाया"=छाँह, कुटीर, झोपड़ी; गृह। २ "धर्‌यो कैसे जात?" =किस प्रकार से लिखा जा सके?

झोपड़ी की छाया कर लूँ" ऐसा विचार सज्जनों से कहकर एक कुटी बनवा ली॥

जब छाया हो गई, तब श्रीश्यामसुन्दरजी की मूर्ति सेवा के हेतु पधरा ली; क्योंकि गृह कुटी में रहके, जो भगवत्मूर्ति की पूजा कर अन्न को भोग लगाके प्रसाद नहीं पाते, अपने ही लिये बनाके खा लेते हैं, वे पाप ही भोजन करते हैं (ऐसा श्रीगीताजी में लिखा है)॥

श्लोक—"यज्ञशिष्टाशिनः संतो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जन्ते तेत्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥" (३।१३)

कुछ काल में श्रीप्रभुप्रेरणा से आपके हृदय में इच्छा हुई कि "मैं श्रीप्रभुचरित्रमय एक नवीन पुस्तक बनाऊ" तब "श्रीगोविन्द" जी का अतिसरस "गीत" अर्थात् "श्रीगीतगोविन्द" प्रगट हुआ॥

उसमें जब श्रीराधिकाजी के महामान का प्रसङ्ग आया, तो उस स्थान पर ध्यानभावना में आपको श्यामसुन्दरजी की विनय श्रीप्रियाजी प्रति यह पद स्फुरित हुआ कि "स्मर-गरल-खण्डनं ममशिरसि मण्डनं देहि पदपल्लवमुदारम्" (हे प्रिये! कन्दर्प का विष खंडन करनेवाला और मेरे मस्तक का मण्डन भूषण, अपना उदार पदपल्लव मेरे शीश पर रख दीजिये); इसी एक पद के मुख से निकलते ही, श्रीजयदेवजी को सोच संकोच हुआ कि "इस प्रकार का पद पोथी में कैसे लिखूँ?"

तब सोच विचार करते स्नान को चले गए। इतने में श्रीराधारमणजी ने, जयदेवजी के स्वरूप से आके जयदेवजी की मति में रीझ के, जो पद स्फुरित हुआ था वही पद पुस्तक में आप ही लिख दिया॥

पुनः जब जयदेवजी स्नान करके आए और पुस्तक में वह पद लिखा देखा, तब पद्मावतीजी से पूछा कि "यह पद किसने लिख दिया?" उसने कहा "अभी अभी आपही तो आके लिख गये हैं" जयदेवजी ने कहा कि "मैंने तो नहीं लिखा" तब यह निश्चय हुआ कि प्रभु आपही लिख गए हैं॥

(१९२) टीका । कवित्त । (६५१)

नीलाचल धाम तामैं पंडित-नृपति एक, करी यही नाम धरि पोथी सुखदाइयै । द्विजन बुलाइ कही "वही है, प्रसिद्ध करो, लिखि लिखि पढ़ौ देश देशनि चलाइयै" ॥ बोले मुसुकाइ विप्र चिप्र सो दिखाइ दई "नई यह कोऊ मति अति भरमाइयै" । धरी दोऊ मंदिर मैं जगन्नाथदेवजू के; दीनी यह डारि, वह हार लपटाइयै ॥ १४८ ॥ (४८१)

वार्तिक तिलक ।

जब श्री "गीतगोविन्द" जी बनके पूर्ण हो गए और प्रभु अनुगृहीत जान सब कोई पढ़ने गाने लगे, तब इसको देखके श्रीजगन्नाथधाम का राजा जो पण्डित था, सो उसने भी यही (गीतगोविन्द) नाम रखके दूसरी एक सुखदाई पुस्तक बना ब्राह्मण पण्डितों को बुला, पुस्तक देकर कहा कि "यह वही गीतगोविन्द है इसको लिख २ के पढ़ो, और देश देश में प्रसिद्ध करो चलाओ ॥"

यह सुन पण्डितों ने श्रीजयदेवजीकृत गीतगोविन्द राजा को दिखाके मुसक्याके उत्तर दिया कि "राजन् ! वह गीतगोविन्द तो देखिये यह है, और यह दूसरी किसी ने नई बनाई है, हमारी मति में अत्यन्त भ्रम होता है ॥"

इस पर, दोनों पुस्तकें श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर में रख दी गईं ॥ तब प्रभु ने इस राजावाली पुस्तक को अलग फेंक के, 'श्रीजयदेवकृत गीतगोविन्द' को पदिक हार की नाईं अपने हृदय में लपटा लिया और कोई कहते हैं कि जयदेवजी के गीतगोविन्द में हार लपेट दिया ॥

(१९३) टीका । कवित्त । (६५०)

पर्यो सोच भारी, नृप निपट खिसानो भयो, गयो उठि सागर मैं, "बूड़ों वही बात है । अति अपमान कियो; कियो मैं बखान सोई, गोई जात कैसें ?" आँच लागी गात गात है ॥ आज्ञा प्रभु दई "मत बूड़े तू समुद्र माँझ, दूसरो न ग्रन्थ ऐसो, वृथा तनुपात

है। द्वादश सुश्लोक लिखि दीजे सर्ग द्वादश मैं, ताहि संग चलै जाकी ख्याति पात पात[1] है" ॥ १४६ ॥ (४८०)

वार्त्तिक तिलक।

जब श्रीजगदीशजी ने उस पुस्तक का आदर करके राजा की पोथी का निरादर कर दिया तब राजा को बड़ा ही शोक हुआ, तथा अति संकुचित गलित मान होकर, उठके समुद्र की दिशि चल दिया; और मन में यह निश्चय किया कि "अब मैं समुद्र में डूब के मर जाऊँ, सो भला है; क्योंकि जो जयदेवजी ने कहा सोई मैंने बखान किया और प्रभु ने मेरा इस प्रकार का अतिशय अपमान किया; तिसको मैं कैसे छिपाऊँ।" इस प्रकार राजा सर्वाङ्ग संतप्त होकर डूबने ही तो लगा ॥

सो देख, भक्तवत्सल करुणाकर श्रीजगन्नाथजी ने प्रगट होकर आज्ञा दी कि "तुम समुद्र में मत डूबो, मैं सत्य सत्य कहता हूँ जयदेवजी के ग्रन्थ सरीखा तुम्हारा तथा और कोई ग्रन्थ है ही नहीं; तुम वृथा ही शरीर त्याग करते हो। एक बात करो कि अपने ग्रन्थ के बारह श्लोक, जिस गीतगोविन्द की प्रसिद्धता विराटरूपी वृक्ष के पत्रों पत्रों में है अर्थात् मनुष्यों मनुष्यों में है उसी में लिख दो; उसी के साथ साथ तुम्हारे भी द्वादश श्लोक चलैंगे (प्रसिद्ध होंगे) ॥"

राजा ने हर्षपूर्वक प्रभु की आज्ञा मानकर ऐसा ही किया ॥

(१६४) टीका । कवित्त । (६४६)

सुता एक माली की जु बैंगन की बारी माँझ तोरै, "बनमाला" गावै कथा सर्गपाँच की। डोलैं जगन्नाथ पाछैं, काछैं अङ्ग मिहीं झँगा, "आछै" कहि घूमैं सुधि आवै बिरहाँच[2] की ॥ फट्यौ पट देखि नृप पूछी "अहो भयो कहा?" "जानत न हम"; "अब कहो बात साँच की"। प्रभु ही जनाई "मन भाई मेरे वही गाथा" ल्याए वही बालकी कौं पालकी मैं नाँच[3] की ॥ १५० ॥ (४७६)

---

१ "पात पात"=सर्वमाहिं, सबमें। "बिरहाँच"=बिरह की आँच, बिरहाग्नि, ताप। ३ "नाँच की"=नृत्य किया ॥

वार्त्तिक तिलक।

एक दिन माली की कन्या बैंगन (भाँटा) की बारी में बैंगन तोड़ती हुई श्रीगीतगोविन्द के पंचम सर्ग की कथा का यह पद गाती थी "न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम्॥ धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली" (अर्थ—दूती श्रीराधिकाजी से कहती है कि हे नितम्बिनि! अब गमन में विलम्ब मत करो; उन प्राणप्रिय के समीप चलो। वे वनमाली वनबिषे यमुना के कूल में धीर समीर कुंज में बसते हैं।) इसी पद को सुनते हुए उस माली की सुता के पीछे पीछे श्रीजगन्नाथजी निज अंग में झीना झँगा (जामा) पहिने फिरते डालते थे; और जब वह तान तोड़ती थी तब प्रेममादकता से झूम के "बहुत अच्छा" कहते थे, क्योंकि पद सुनते ही उस समय के विरहाग्नि की सुधि आ जाती थी, अर्थात् विरहाग्नि से संतप्त होके उस दूती को प्रियाजी के पास आपही ने भेजा था॥

जब वह कन्या अपने घर को चली गई तब बैंगन के कंटकों से झँगा फाड़के आप मन्दिर में आए और उसी समय पुरुषोत्तमपुरी का राजा दर्शन करने आया; सो फटे हुए वस्त्रों को देखके पंडा से पूछा "क्योंजी! श्रीजगन्नाथजी के ये वस्त्र कैसे फटे हैं? सत्य २ कहो, क्या हुआ है?" पंडा ने कहा—"हम नहीं जानते कि क्या हुआ है॥"

तब प्रभु ही ने जनाया कि "वह माली की कन्या बैंगन की बारी में गाती थी, सो हम सुनते थे; इससे वस्त्र फट गए। हमको वह कथा अति ही प्रिय लगी है" तात्पर्य "उसको बुलाके गवाओ॥"

ऐसी आज्ञा सुनके उसी क्षण पालकी पर चढ़ाके उस कन्या को लाए। आके गान और नृत्य करके उसने प्रभु को प्रसन्न किया॥

(१९५) टीका। कवित्त। (६४८)

फेरी नृप डौंड़ी, यह औंड़ी[1] बात जानि महा; कही "राजा रंक पढ़ैं नीकी ठौर जानिकैं। अक्षर मधुर और मधुर स्वरनि हि सों गावैं

१ "औंड़ी"=गहरी, गंभीर॥

जब लाल प्यारी ढिग हिले मानिकैं" ॥ सुनि यह रीति एक मुग़ल[1] ने धारि लई, पढ़ै चढ़ै घोड़े आगे श्यामरूप ठानिकैं । पोथी को प्रताप स्वर्ग गावत हैं देवबधू आपही जु रीझि लिख्यो निज कर आनिकैं ॥ १५१ ॥ (४७८)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीगीतगोविन्द इस प्रकार प्रभु को प्रिय जानकर श्रीपुरुषोत्तमपुरी के राजा ने सर्वत्र डौंड़ी (ढँढोरा) फिरवा दिया, क्योंकि उक्त ग्रन्थ के गान की वार्ता बड़ी ही गहिरी जानी; और यह पुकार करा दिया कि "राजा हो अथवा रंक हो परन्तु श्रीगीतगोविन्द को अच्छे ठौर ठिकाने पर पढ़ै और मधुरता से अक्षरों को उच्चारण कर मधुर ही स्वर से गान करे तथा गाते समय अपने मन में ऐसा निश्चय मान ले कि श्रीराधिका-श्यामजी मेरे समीप ही में सुन रहे हैं ॥"

राजा की पुकार कराई हुई इस वार्ता को एक मुग़ल जाति के यवन ने सुनकर अपने मन में निश्चय कर धर लिया; और घोड़े पर चढ़ा चला जाता श्रीगीतगोविन्द का पद गान करता था । इसके विश्वास पर रीझके श्रीश्यामसुन्दरजी ने अनूप रूप धारण कर आगे आके दर्शन दिया; तथा संसारसागर से उसको मुक्त भी कर दिया ॥

श्रीगीतगोविन्द पुस्तक के प्रताप को स्वर्ग में देववधू गान करती हैं क्योंकि जिससे रीझके स्वयं प्रभु ने आके निज करकमल से पूर्वकथित ("स्मरगरलखण्डनं" इत्यादि) पद लिख दिया । इससे इसकी महिमा जहाँ तक कही जाय सो सब युक्त ही है ॥

(१९६) टीका । कवित्त । (६४७)

पोथी की तो बात सब कही मैं सुहात हिये; सुनो और बात जामें अति अधिकाइयें । गाँठि में मुहर मग चलतमैं ठग मिले, "कहो कहाँ जात ?" "जहाँ तुम चलि जाइयें ॥" जानि लई बात, खोलि द्रब्य पकड़ाइ दियो, लियो चाहो जोई जोई सोई मोकों ल्याइयें ।

१ "मुग़ल مغل"=यवन जातिविशेष ॥

दुष्टनि समुझि कही "कीनी ईनी विद्या अहो आवै जो नगर इन्हें बेगि पकराइयें" ॥ १५२ ॥ (४७७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगीतगोविन्द पुस्तक की रचना और प्रभु प्रिय होने की, अपने तथा सज्जनों के हृदय की, सुहाती वार्ता तो मैंने सब कह ही दी; परन्तु श्रीजयदेवजी के चरित्र की और वार्ता सुनिए कि जिसमें उनकी शान्ति, सहनशीलता, साधुता की अति अधिकाई है॥

एक समय आप सन्तसेवा भंडारा के वास्ते अन्न घृतादि सामग्री लेने को द्रव्य मोहर गाँठ में बाँधे हुए ग्रामान्तर को चले जाते थे, दैवयोग मार्ग में कई ठग (चोर) मिल गए; तब आपने पूछा कि कहाँ जाते हो? चोरों ने कहा "जहाँ तुम जाते हो।" तब श्री-जयदेवजी ने जान लिया कि "ठग हैं ऐसा न हो कि द्रव्य के हेतु मेरे भजन-सहायक शरीर का घात करें;" इससे गाँठ से छोर (खोल) के सब द्रव्य चोरों को दे दिया। परन्तु दुष्ट इस साधुता को उलटा ही समझ आपस में कहने लगे कि देखो इसने यह अपनी बुद्धिमानी की है कि अभी द्रव्य दे दूँ; जब नगर ग्राम आवे तब इन सबों को शीघ्र पकड़ा दूँ॥

(१९७) टीका। कवित्त। (६४६)

एक कहै "डारौ मार, भलो है विचार यही," एक कहै "मारौ मत, धन हाथ आयो है।" "जो पै ले पिछान कहूँ कीजियै निदान कहा," हाथ पाँव काटि बड़ो गाड़ पधरायो है। आयो तहाँ राजा एक, देखि कै बिबेक भयो, छयो उजियारो, औ प्रसन्न दरसायो है। बाहिर निकासि मानो चन्द्रमा प्रकाश राशि; पूछ्यो इतिहास; कह्यो "ऐसो तनु पायो है" ॥ १५३ ॥ (४७८)

वार्त्तिक तिलक।

ऐसा सुन एक ठग बोला कि "जब इसने ऐसी चातुरी की है, तो इसको मार डालना ही अच्छा विचार है" यह सुन और ठग कहने लगे कि "मारो मत क्योंकि धन तो हमारे हाथ आ ही गया अब

मार डालने का क्या काम है" तब दूसरे दुष्ट बोले कि "भला जो कहीं पहिंचान के पकड़ा दे, तब क्या करोगे?" इत्यादि कुतर्क कुसंमत करके श्रीजयदेवजी के हाथों तथा पगों को काटकर बड़े भारी गड्ढे में डाल दिया और चले गए ॥

तदनन्तर उस वन में आके एक राजा ने श्रीजयदेवजी को देखा; उसी क्षण उसके हृदय में ज्ञान उदय हुआ और चमत्कार क्या देखता है कि हाथ पग तो कटे हैं, परन्तु आपके तेज की उजियाली हो रही है और मुखारविन्द प्रसन्न है। तब राजा ने आपको गड़हे से निकलवाकर बाहर बैठालके दर्शन किया मानो अनेक चन्द्रमाओं के राशि का प्रकाश हो रहा है। फिर आपसे हाथ पग कटने का वृत्तान्त पूछा। श्रीजयदेवजी ने कहा कि "मुझे इसी प्रकार का शरीर मिला है ॥"

इस प्रसंग में कोई महानुभाव इस प्रकार का भाव कहते हैं कि श्रीजगन्नाथजी ने जो कहा था कि "रसिक जयदेव मेरोई स्वरूप जानो" सो भी अपने वर्तमान विग्रह की सदृशता कराके लोक को दिखाके फिर अच्छा कर दिया ॥

(१९८) टीका । कवित्त । (६४५)

बड़ेई प्रभाववान, सकै को बखान? अहो मेरे कोऊ भूरि भाग, दरशन कीजियै। पालकी बिठाइलिये, किये सब ठूठ नीके, जीके भाए भए "कछु आज्ञा मोहिं दीजियै" ॥ "करौ हरि-साधु-सेवा, नाना पकवान मेवा; आवैं जोई सन्त तिन्हें देखि देखि भीजियै[1]" । आए वेई ठग, "माला तिलक चिलक किये[2]" किलकि कै कही "बड़े बन्धु लेखि लीजियै" ॥ १५४ ॥ (४७५)

श्रीजयदेवजी के इस प्रकार गंभीर वचन सुनके राजा अपने मन में विचारने लगा कि "ये तो कोई बड़े ही प्रभावयुक्त अकथनीय महानुभाव हैं; मेरे कोई बड़े भाग्य उदय हुए कि मैंने इनके दर्शन

१ "भीजियै"=प्रेमाश्रुयुक्त, प्रेमरस में भीगा। २ "माला तिलक चिलक किये"=कण्ठी माला तिलक आदि सन्त-भेष बनाए ॥

पाए।" ऐसा विचारकर आपको पालकी पर बिठाके अपने घर में लिवा लाया और कटे हुए हाथपगों के ठूठों को औषध से अच्छा कराया॥

फिर, आपके पास आ, प्रणाम कर, राजा बोला कि "हे स्वामीजी! यह आपका आगमन और हाथ पग का अच्छा हो जाना अति उत्तम हुआ परन्तु अब मुझको कुछ हितोपदेश तथा आज्ञा दीजिए।" राजा की विनय सुन श्रीजयदेवजी ने आज्ञा दी कि "दिव्य मन्दिर बनवाके श्रीभगवान् की मूर्ति पधराओ, और नित्य सेवा पूजा मेवा मिठाई भोग अर्पण करो, तथा प्रभु के आगे सन्तशाला बनवाके उसमें अति प्रेम से साधुसेवा करो। और, जो सन्त आवें तिनका दर्शन करके प्रेमरस में भींजि जाया करो॥"

आपकी आज्ञा मस्तक पर धारण कर राजा इसी प्रकार करने लगा॥

तन, मन, धन अर्पण पूर्वक राजा कृत सन्तसेवा सुनके वे सब ठग भी चमाचम-तिलक तथा माला धारण कर साधु वेष बनाके आए। श्रीजयदेवजी उन सबों को देखते ही अति प्रीतिहर्षाकुल होके बोले कि "आइये २" और समीप के लोगों से कहने लगे कि "ये सब मेरे बड़े गुरुभाई हैं। इनको दर्शन और प्रणाम करो॥"

(१६६) टीका। कवित्त। (६४४)

नृपति बुलाइ कही हिये हरि भाय भरे, "ढरे[1] तेरे भाग, अब सेवा फल लीजियै"। गयो लै महल माँझ टहल लगाए लोग, लागे होन भोग; जिय शंका तन छीजियै॥ माँगैं बार बार बिदा; राजा नहीं जान देत; अति अकुलाये[2], कही स्वामी "धन दीजियै"। दैकैं बहु भाँति सो, पठाए संग मानुसै[3] हूँ, "आवौ पहुँचाय तब तुम पर रीझियै"॥ १५५॥ (४७४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजयदेवजी ने राजा को बुलवाके कहा कि "हे राजा! श्री-

---

१ "ढरे"=आए हैं, पधारे हैं। २ पाठान्तर "अकुताए"। अतित्वरा को, अति शीघ्रता चाही। ३ "मानुस हूँ"=मनुज हूँ, मनुष्य भी॥

भगवत् के प्रेमभाव से भरे हुए हृदयवाले ये सन्त तुम्हारे भाग्यवश आज पधारे हैं, आज तक तुमने जितना सन्तसेवा की है तिसका फल अब इनकी सेवा करके लो ॥"

आपकी आज्ञा मान राजा ने अतिहर्ष से उनको ले जाकर अपने राजभवन में सबों का आसन निवास दिया; और बहुत मनुष्यों को सेवा टहल में लगा दिया। नित्य नवीन भोग पदार्थ अर्पण करने लगा। तथापि, व दुष्ट तो अति ही अपराधी थे; इससे जी में यह शंका हो रही थी कि "जयदेवजी हम सबों को मरवा ही डालेंगे।" अतएव सबों का शरीर सूखा जाता था। वे ठग बारम्बार बिदा माँगते परंतु भक्त राजा नहीं जाने देता; जब ठग लोग अतिही अकुला गये, बड़ी शीघ्रता मचाई, तब श्रीजयदेवजी ने उनकी शंका जानकर राजा को आज्ञा दी कि "ये सन्त हैं, रजोगुणी के यहाँ इतना ही बहुत रहे, अब धन वस्त्रादिक देके बिदा कर दो ॥"

आपकी आज्ञा सुन राजा ने रत्न सुवर्ण मुद्रादि बहुत प्रकार का धन देके बिदा किया, और वह धन ले जाने में रक्षा करने के लिये बहुत से मनुष्य साथ कर उनसे कहा कि "अच्छे प्रकार सन्तों को पहुँचाकर आवोगे तब तुम लोगों पर मैं अति ही प्रसन्न होकर बहुत द्रव्य दूँगा ॥"

(२००) टीका । कवित्त । (६४३)

पूछैं नृप-नर "कोऊ तुम्हरी न सरबर[1], जिते आए साधु ऐसी सेवा नहीं भई है। स्वामी जू सौं नातौ कहा ? कहौ हम खाँइ हहा;" "राखियो दुराइ, यह बात अति नई है ॥ हुते एक ठौर नृप चाकरी मैं, तहाँ इन कियो ई बिगार "मारिडारौ" आज्ञा दई है। राखे हम हितू जानि, लै निदान हाथपावँ, वाही के इसान[2] अब हम भरि लई है" ॥१५६॥(४७३)

वार्त्तिक तिलक ।

इस प्रकार जब चलके मार्ग में आए तब राजा के सेवक लोग

१ "सरबर"=तुल्यता । २ "इसान"=इहसान, उपकार, भलाई ॥

उनसे पूछने लगे कि "महाराज ! आप सबों के समान कोई महात्मा नहीं है; क्योंकि यहाँ जितने सन्त आए हैं उनमें किसी की भी ऐसी सेवा नहीं हुई; आप कृपा करके कहिए हम लोग अति विनय करके हाहा खाते हैं, स्वामीजी से आप सबों से क्या नाता सम्बन्ध है ?" यह सुन दुष्ट बोले कि "हम कहते तो हैं परन्तु यह बात बहुत नवीन (आश्चर्यमय) है, इससे छिपा रखना, कहीं कहना नहीं। प्रथम हम लोग और ये स्वामीजी एक ही राजा के चाकर थे; वहाँ इन्होंने बहुत ही बुरा काम किया था; राजा ने आज्ञा दी कि 'इसको मारडालो' तब हम लोगों ने अपना हितू जानके इनके प्राण की रक्षा की, केवल हाथ पग काटके राजा को दिखा दिये थे। उसी उपकार के पलटे में अब हमने यह सेवा सत्कार धन सब ले लिया है ॥"

(२०१) टीका। कवित्त। (६४२)

फाटि गई भूमि, सब ठग वै समाइ गए, भए ये चकित दौरि स्वामीजू पै आए हैं। कही जिती बात सुनि गात गात काँपि उठे, हाथ पाँव मीड़ँ भए ज्यों के त्यों सुहाए हैं॥ अचरज दोऊ नृप पास जा प्रकाश किये जिए एक सुनि आए वाही ठौर धाए हैं। पूछैं बारबार सीस पाँयनि पै धारि रहे कहिए उघारि[1] कैसे मेरे मन भाए हैं॥ १५० ॥ (४७२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजयदेवजी ने इस प्रकार की क्षमा साधुता की; परन्तु दुष्टों के चित्त में एक भी न चढ़ी, उलटे निन्दायुक्त ही वचन कहे; इससे यद्यपि श्रीभूमिजी का "सर्वंसहा" नाम है तथापि इन सन्तद्रोहियों की न सहि सकीं; जितने में ठग थे, उतनी भूमि फट गई! दुष्ट रसातल को चले गए !! ॥

राजा के मनुष्य देखके अतिचकित हुए और दौड़के स्वामीजी के समीप आ संपूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। सुनके श्रीजयदेवजी सर्वाङ्ग-

१ "उघारि"=प्रगट कर, खोलके ॥

कंपित होकर हाथ पग मींड़ने लगे। मींड़ते ही आपके कर तथा चरण सुन्दर ज्यों के त्यों निकल आए॥

दुष्टों का भूमि में समाजाना तथा आपके हस्त पद ज्यों के त्यों हो जाना, ये दोनों आश्चर्य्य देख राजा के सेवकजनों ने राजा को आ सुनाया; आपके हाथ पगों का यथार्थ हो जाना सुनकर नृप ऐसा प्रसन्न हुआ कि जैसा मरणप्राय पुरुष अमृत पीके जी उठे, और दौड़कर श्रीजयदेवजी के पास आके चरणों में सीस धर बारम्बार पूछने लगा कि "हे महाराज! मेरे मनभावते आपके ये हस्त पद कैसे अच्छे हो गए? और वे लोग भूमि में क्यों समा गए? कृपा करके इस आश्चर्य्यचरित्र का मर्म खोलके कहिए॥"

(२०२) टीका। कवित्त। (६४१)

राजा अति आँरि[1] गही, कही सब बात खोलि[2], निपट अमोल यह सन्तन को बेस है। कसौ अपकार करैं तऊ उपकार करैं ढरैं रीति आपनी ही सरस सुदेस है॥ साधुता न तजै कभूँ जैसे दुष्ट दुष्टतान, यही जानि लीजै मिलै रसिक नरेस है। जान्यो जब नाँव ठाँव "रहो इहाँ बलि-जाँव भयो मैं सनाथ, प्रेम भक्ति भई देस है" ॥ १५८ ॥ (४७१)

वार्तिक तिलक।

जब राजा ने, श्रीजयदेवजी के चरणों में सिर धर के, अति ही हठ ग्रहण करके पूछा तब आप अपना नाम ग्राम तथा ठगों की करनी सब वार्त्ता यथार्थ कहकर, हितोपदेश करने लगे कि "राजन्! वे ठग अत्यन्त अयोग्य सन्तों का वेष बनाके आए, इसी से मैंने उनका अतिशय सत्कार कराया; भगवद्भक्त को ऐसा ही उचित है कि कोई कैसे हूँ अपकार करे तब भी उसका उपकार ही करें, अपनी सरस सुदेश रीति ही से चलें, कभी साधुता को न त्याग करना चाहिए। जैसे दुष्ट अपनी दुष्टता कभी नहीं त्याग करता; यह निश्चय जान लो कि इसी प्रकार की साधुता से प्रभु-रसिक-नरेश मिलते हैं॥"

१ "आरि"=हठ। २ "खोलि"=स्पष्ट करके, गुप्त न रखके, प्रगट॥

जब श्रीजयदेवजी के कहने से राजा ने जाना कि किन्दुबिल्व-वासी श्रीगीतगोविन्द काव्य के कर्त्ता आप ही हैं, तब तो अति ही प्रेम भाव में भरके प्रार्थना करने लगा कि "हे प्रभो! मैं आप के ऊपर न्योछावर होता हूँ; अब आप श्रीपद्मावतीजी सहित यहाँ ही रहिए; मैं सनाथ होऊँ; जब से आप बिराजे तब से इस नगर तथा देश में भगवद्भक्ति उत्पन्न हुई; अब उसको बढ़ाइये, और मुझ पर कृपा कीजिये॥"

(२०३) टीका। कवित्त। (६४०)

गयो जा लिवाय ल्याय कबिराज-राज-तिया; किया लै मिलाप आप रानी ढिग आइ है। मर्यो एक भाई वाकौ, भई यों भौजाई सती, कोऊ अङ्ग काटि, कोऊ कूदि परी धाइ है॥ सुनत ही नृपबधू निपट अचंभौ भयो इनकैं न भयो फिरि कही समुझाइ है। "प्रीति की न रीति यह बड़ी विपरीति अहो छुटै तन जबै प्रिया प्रान छूटि जाइ है" ॥ १५९ ॥ (४७०)

वार्त्तिक तिलक।

राजा ने अपनी प्रार्थना श्रीजयदेवजी को अङ्गीकार कराकर किन्दुबिल्व से सादर श्रीपद्मावतीजी को लाके दोनों मूर्ति का मिलाप करा दिया; और भक्तराजा की रानी भी श्रीपद्मावतीजी के दर्शन सतसङ्ग को आया करती थी। एक दिवस कविराजकान्ताजी के पास रानी बैठी थी। उसी समय किसी किंकरी ने सुनाया कि "आपके भाई का शरीर छूट गया; सो आपकी भौजाइयाँ कोई सती हो गईं; कोई शस्त्र से अंग काटके मर गईं, कोई दौड़कर चिता में कूद पड़ीं।" रानी यह सुन, उन सबों के प्रीति पातिव्रत का परम आश्चर्य्य मान, विस्मित हुई; पर श्रीपद्मावतीजी ने इस बात का कुछ आश्चर्य्य न किया; किन्तु रानी को समझाकर कहने लगीं कि "यह प्रीति की रीति नहीं है, शस्त्र से मर जाना, जर जाना, बड़ी विपरीति गति है; प्रीति की रीति तो यह है कि प्रिय पति का शरीर छूटते ही प्रिया के प्राण छूट जायँ॥"

(२०४) टीका। कवित्त। (६३९)

"ऐसी एक आप" कहि, राजा सूँ[1] यूँ बात कही "लैकैं जाओ बाग स्वामी नेकु, देखौं प्रीति कों"। "निपट बिचारी बुरी, देत मरे गरे छुरी," तिया-हठ मानि करी वैसे ही प्रतीति कों॥ आनि कहे "आप पाय"[2] कही यही भाँति आय, बैठी ढिग तिया देखि लोटि गई रीति कों। बोली "भक्तबधू अजू! वे तो हैं बहुत नीके, तुम कहा औचक[3] हीं पावतिहौ भीति कों"॥ १६०॥ (४६६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपद्मावतीजी के वचन सुनके भक्तराजा की स्त्री बोल उठी कि "ऐसी प्रेममूर्त्ति तो जगत् में एक आपही हो" ऐसा कहके, फिर उसने राजा से जाके सब वार्ता कही; और साथही यह बात भी, आग्रह-पूर्वक कही कि "आप स्वामीजी को वाटिका में तनक लेके जाइये, तो मैं भला इनकी प्रीति देखूँ तो।" भक्त राजा ने उत्तर दिया कि "तूने ऐसा विचार बहुत ही बुरा किया है, तू मेरा गला ही काटा चाहती है।" कुसंग से कहाँ हानि नहीं हुई? दुष्टा रानी के हठ आग्रहवश उसके वचन में प्रतीति करके, राजा ने वैसा ही किया। उस त्रिया ने एक टहलनी को सिखा रक्खा था; जब वह श्रीपद्मावतीजी के पास बैठी हुई थी, उसी क्षण वह लौंड़ी आकर सिखाई बनाई दुख की रीति से बोली कि "स्वामीजी तो वैकुण्ठ-धाम पागए;" यह सुन राजा की स्त्री रो रो कर कुरीति से भूमि में लोट गई॥

पर, श्रीजयदेवप्रियाजी ने कहा कि "हे भक्तबधू! तुम व्यर्थ ही धोखे में पड़ती और भयभीत होती हो, श्रीस्वामीजू महाराज तो बहुत अच्छे विराज रहे हैं॥"

(२०५) टीका। कवित्त। (६३८)

भई लाज भारी, पुनि फेरिकै सँवारी दिन बीति गए कोऊ, जब

१ "सूँ"=से। "यूँ"=यों, इस भाँति। २ "आप पाय"=आपने श्रीहरिधाम पाया। ३ "औचक हीं"=अचानक, धोखे में॥

तब वही कीनी है। जानि गई 'भक्तबधू चाहति परीछा लियो,' कही "अजू पाए," सुनि तजी देह भीनो है ॥ भयौ मुख स्वेत रानी; राजा आए जानी यह रची चिता "जरौं, मति भई मेरी हीनी है"। भई सुधि आपकौं, सु आए बेगि दौरि इहाँ; देखि मृत्युप्राय नृप, कह्यो "मेरी दीनी है" ॥ १६१ ॥ (४६८)

वार्त्तिक तिलक ।

जब श्रीपद्मावतीजी इस झुठाई को जान गईं; तब तो रानी के मन में बड़ी भारी लज्जा हुई; परन्तु उस दुर्मति को छोड़ा नहीं, कुछ दिन बीते फिर पूर्ववत् कपट का ठाट रचकर वैसे ही किया । तब श्रीपद्मावतीजी जान गईं कि "यह मेरी परीक्षा लिया चाहती है।" इससे जब उसके मुख से सुना कि "स्वामीजी श्रीहरिधाम को प्राप्त हुए," उसी क्षण स्नेह से भीजी हुई निज देह त्याग दी। श्रीपद्मावतीजी की यह अलौकिक स्वच्छन्द मृत्यु देख, रानी का मुख श्वेत हो गया; और राजा आके यह चरित्र सुन देख बोले कि "मेरी मति नष्ट हो गई इस स्त्री के संग से, इससे मैं जल जाऊँगा," और चिता रचाकर जला ही चाहता था। यह वार्ता श्रीजयदेवजी सुनते ही दौड़े आए। राजा को देखा कि शोक से मृत्युप्राय हो रहा है। आपका दर्शन कर कहने लगा कि "स्वामीजी! मेरी ही दी हुई मृत्यु से माताजी मरी हैं !!!"

(२०६) टीका । कवित्त । (६३७)

बोल्यो नृप "अजू मोहि जरेई बनत अब, सब उपदेश लैके धूरि मैं मिलायो है"। कह्यो बहु भाँति ऐपै आवति न शान्ति किहूँ; गाई अष्टपदी, सुर दियो, तन ज्यायो है ॥ लाजनि को मार्‍यो राजा चाहे अपघात कियो, जियो नहीं जात, "भक्ति लेसहूँ न आयो है"। करि समाधान, निज ग्राम आए "किन्दुबिल्लु," जैसो कछु सुन्यो यह परचै लै गायो है ॥ १६२ ॥ (४६७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजयदेवजी ने राजा को निषेध किया कि "तुम जरो मरो मत;"

तब राजा बोला कि "अजी महाराज! मुझे अब जले विना नहीं बनता क्योंकि आपका समस्त उपदेश लेके मैंने धूल में मिला दिया।" यह सुन श्रीजयदेवजी ने बहुत प्रकार से समझाया तथापि राजा के हृदय में किसी प्रकार शान्ति नहीं ही आई; तब आपने जाना कि 'विना इनके जिवाए राजा नहीं जीवेगा;' इससे आपने संजीवन मंत्र सम गीतगोविंद की अष्टपदी गानकर, शरीर में स्वर भर दिया; सुनते ही श्रीपद्मावतीजी उठके साथ में आप भी गान करने लगीं। यह चरित्र देख के सब "जयजयकार" करने लगे॥

इस प्रकार आपने अपनी भक्ति भाग्यवती को जिला दिया; तथापि लज्जा के मारे राजा को अपना जीना भला न लगता था, ग्लानि से ऐसा विचारता कि "हाय; मेरे मन में भक्ति का लेश भी न आया;" इससे आत्मघात किया चाहता था, तब श्रीजयदेवजी ने बहुत प्रकार उपदेश देकर उसको सावधान किया; और आप अपने किन्दुबिल्व ग्राम को चले आए॥

श्रीनाभास्वामीजी के छप्पय से उपरान्त, श्रीजयदेवजी के ये परिचय चरित्र-चमत्कार जिस प्रकार वृद्ध लोगों से सुने थे, तिस भाँति गान किये॥

(२०७) टीका। कवित्त। (६३६)

देवधुंनी[1] सोत[2] हो[3] अठारे कोस आश्रम तें; सदाई अस्नान करैं, धरैं जोग्यताई कौं। भयो तन वृद्ध, तऊँ छोड़ैं नहीं नित्य नेम, प्रेम देखि भारी निशि कही सुखदाई कौं॥ "आवो जिनि ध्यान करौ, करौ मत हठ ऐसौ" मानी नहीं "आऊँ मैं हीं;" "जानौं कैसे आई कौं"?। "फूले देखौ कंज तब कीजियो प्रतीति मेरी;" भई वही भाँति, सेवैं अब लौं सुहाई कौं॥ १६३॥ (४६६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजयदेवजी राजा के यहाँ से आए। श्रीगंगाजी की धारा

१ "देवधुनी"=देवसरिता, श्रीगङ्गाजी। २ "सोत"=स्रोत, धारा। ३ "हो"=थी, रही॥

आपके आश्रम से अठारह कोस थी, परन्तु आप श्रीप्रभुकृपा से योग-सिद्धिवेग से गमन कर, नित्य ही गंगास्नान करते थे। जब आपका शरीर वृद्ध होगया तब भी नित्य स्नान का नेम नहीं छोड़ा। ऐसा भारी प्रेम नेम देख, श्रीगंगाजी को दया लगी; क्योंकि यद्यपि योगावेश से जाते आते थे तौ भी शरीर को परिश्रम होता ही था; इससे श्री-गंगाजी ने निज सुखदाता श्रीजयदेवजी को रात्रि में आज्ञा दी कि "अब वृद्ध शरीर से नित्य स्नान को मत आवो, इस हठ को छोड़कर ध्यान ही से मेरा स्नान कर लिया करो।" परंतु आपने बात मानी नहीं; आते ही थे; तब श्रीगंगाजी ने कृपाकर कहा कि "तुम्हारे आश्रम के निकट की नदी में ही मैं आऊंगी उसी में स्नान किया करो"। आपने पूछा कि "मैं कैसे जानूं कि आप आई हो?" श्रीगंगाजी ने कहा कि "देखो उसमें कमल नहीं हैं; अब जब सुन्दर कमल फूले देखना तब मेरे आ जाने की प्रतीति करना।" दूसरे दिवस देखैं तो दिव्य कमल फूले हैं, जल भी दिव्य गंगाजल के तुल्य अमल मिष्ट हो गया; तब श्रीजयदेवजी ने जीवनावधि उसी में स्नान और पान किया। अभी तक किन्दुबिल्व ग्राम में अति सुहाई "जयदेई-गंगा" नाम से प्रसिद्ध हैं। सज्जन लोग श्रीगंगा तुल्य मानकर सेवन स्नान पान करते हैं॥

मुंशी तपस्वीरामजी सीतारामीय ने श्रीजयदेवजी की माता का नाम "श्रीराधा देवी" जी लिखा है, और श्रीराधाकृष्णदासजी की 'भक्त-नामावली' (काशी नागरीप्रचारिणी सभा) में "रामादेवी" है। इनका समय "सन् १०२५ ईसवी से १०५० इसवी तक" निर्णय किया है, अर्थात् विक्रमी संवत् १०८२ तथा ११०७ के मध्य है। इनका ग्राम किन्दुबिल्व, बंगाल देश में वीर भूमि से प्रायः दस कोस दक्षिण की ओर अजयनद के उत्तर था॥

दो० प्रगट भयो जयदेव मुख, अद्भुत गीतगुविन्द।
कह्यो 'महाश्रृंगार रस,' सहित प्रेम मकरन्द॥

(श्रीध्रुवदासजी)

(३२) श्रीपद्मावतीजी।

श्रीआज्ञा से जब पिता ने आपको श्रीजयदेवजी के पास छोड़ दिया, तब श्रीपद्मावतीजी ने अपने को आपकी दासी जानकर पातिव्रत उसी समय से धारण किया, और श्रीजयदेवजी के और और प्रकार से समझाने पर भी आपकी ही सेवा में दृढ़ रहीं। जब श्रीकविराजराजेश्वरजी स्नान को गए प्रभु ने आप उनके रूप में आकर श्रीपद्मावतीजी को दर्शन दिये, तथा इनके हाथ का भोजन सराह सराह के पाया; और वह पद पोथी में लिखकर चल दिये; धन्य धन्य श्रीपद्मावतीजी। जब दुष्टा रानी (भक्तवधू) ने पुनः पुनः परीक्षा ली आपने शरीर छोड़ ही दिया था। आपकी प्रशंसा कहाँ तक की जा सके॥ "पद्मावति जयदेव प्रेम बस कीने मोहन"॥ (श्रीध्रुवदासजी)

---

(३३) श्री श्रीधरस्वामी।

(२०८) छप्पय। (६३५)

श्रीधर श्रीभागौत में, परम-धरम निरनै कियौ॥ तीन-कांड एकत्व सानि, कोउ अज्ञ बखानत। कर्मठ ज्ञानी ऐंचि अर्थकौ अनरथ * बानत॥ 'परमहंस संहिता' बिदित टीका बिसतार्‌यौ। षटशास्त्रनि अविरुद्ध बेद-संमतहिं बिचार्‌यौ॥ "परमानन्द" प्रसाद तें, माधौ सुकर सुधार-दियौ। श्रीधर श्रीभागौत में, परम-धरम निरनै कियौ॥ ४५॥ (१६९)

वार्त्तिक तिलक।

श्री श्रीधरजीने श्रीभागवत ग्रंथ बिषे परम-धर्म (श्रीभगवद्धर्म)

---

१ "बानत" =बर्णत। जैसे, कनकहि बान चढ़ै जिमि दाहे। अर्थात् जैसे दाहते कनक मे वर्ण चढ़ै। पुनः जैसे गाजत अर्थात् गर्जत। * "ठानत"=पाठ, नवीन कल्पित है॥

का यथार्थ निर्णय किया अर्थात् श्रीव्यासजी और श्रीशुकजी ने जिस ठिकाने जो भागवद्धर्म जिस महत्त्व तथा जिस आशय से कथन किया था वहाँ वैसा ही स्पष्ट अर्थ करके दिखा दिया। और अन्य टीका (अर्थ) करनेवालों ने यथार्थ नहीं कहा। कोई लोग कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, इन तीनों काण्डों को एक ही में सान (मिला) के अर्थ बखानते हैं, "क्योंकि वे अज्ञानी हैं," तीनों का स्वरूप ही नहीं जानते। और पूर्व-मीमांसासक्त कर्मठ अर्थात् कर्मकाण्डी यथा उत्तर-मीमांसासक्त वेदान्ती ज्ञानी जन इस भक्तिग्रंथ भागवत को, कर्मज्ञान की दिशि खींचके अर्थ को अनर्थ करके वर्णते हैं। और श्रीश्रीधरानन्दजी ने जैसा "परमहंस-संहिता" यह विख्यात ग्रन्थ है, वैसा ही परमहंसप्रीतिवर्द्धिनी टीका विस्तार कर वर्णन किया कि जिसमें मीमांसा, वेदान्त, योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, इन छहूँ शास्त्रों के अविरुद्ध वेद के सम्मत विचार-पूर्वक बखान किया। उस "श्रीमद्भागवत भावार्थदीपिका" नामक टीका के प्रारंभ का मङ्गलाचरण यह है "नमःपरमहंसास्वादितचरण-कमलचिन्मकरन्दाय भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय।" सो इस प्रकार की टीका रचना आपको योग्य ही है, क्योंकि आपके ऊपर गुरु स्वामी "श्रीपरमानन्दजी" ने अति प्रसन्न होकर कृपा की। इसी हेतु से उस टीका को श्रीबिन्दुमाधवजी ने स्वयं श्रीकरकमलों से सुधार दिया अर्थात् सर्वोपरि सर्व टीकाओं की शिरोमणि बनाकर स्वीकार किया॥

दो० "श्रीधरस्वामी तौ मनौ, श्रीधर प्रगटे आन।
तिलक भागवत को कियौ, सब तिलकन परमान॥ १॥"
(श्रीध्रुवदासजी)

(२०६) टीका। कवित्त। (६३४)

पंडित समाज बड़े बड़े भक्तराजजिते, भागवत टीका करि आपस मैं रीझियै। भयो जू बिचार कांशीपुरी अविनाशी माँझ, सभा

---

१ "मंगल की राशि परमारथ की खानि काशी बिरचि बनाई विधि केशव बसाई है॥" "प्रलयहू काल राखी शूलपाणि शूलपर"॥ (प्रमाण कवित्त श्रीगोस्वामीकृत)॥

अनुसार जोई सोई लिखि दीजियै॥ ताको तो प्रमान भगवान "बिन्दुमाधौजी" हैं, साधौ यही बात धरि मन्दिर मैं लीजियै। धरे सब जाय, प्रभु सुकर बनाय दियो, कियो सर्व-ऊपर लै, चल्यो मति धीजियै॥ १६४॥ (४६५)

वार्त्तिक तिलक।

जिस समय श्रीश्रीधरस्वामीजी ने "श्रीभागवत" पर टीका रचा, उस समय और बड़े बड़े पंडित भक्तों ने भी इस ग्रन्थ की टीकाएँ कीं; और सबके सब अपनी अपनी टीका अन्य टीकाओं से श्रेष्ठ कहकर निज निज मति पर रीझकर आपस में विवाद करते थे॥

फिर सबका सम्मत विचार होकर, प्रलयकाल में भी अविनाशिनी ऐसी श्रीकाशीपुरी के मध्य इकट्ठे होकर, सब टीकाओं के टीकाकारों ने सभा की कि 'इस सभा के मतानुसार जो टीका उत्तम मध्यम जैसी हो तैसी लिख दीजै।' निदान अन्तिम सिद्धान्त यह हुआ कि "इसमें महापंच-पंडित भगवान् श्रीबिन्दुमाधवजी हैं, जो टीका आप अङ्गीकार कर सर्वोपरि करें सोई प्रमाण है। अब टीका की श्रेष्ठता जानने के हेतु यही बात साधैं, प्रथम सब टीका मंदिर में रखकर फिर ले लेवैं।" ऐसा ही किया; मध्याह्न भोग के पश्चात् प्रभु के आगे सब टीकाएं धर मंदिर के किवाड़ दे, दो मुहूर्त में खोला; तो देखते क्या हैं कि--

"स्वामी श्रीधरजीकृत टीका" श्रीबिन्दुमाधवजी निज करकमलों से सब टीकाओं के ऊपर, धरकर, ब्रह्मा के भाल में भाग्य लिखनेवाले हस्तकंज से उस पर लिख दिया कि "श्रीभागवत पर श्रीधरी टीका सर्वोपरि है।" इस प्रकार आपने अङ्गीकार करके सुधार दिया। इसी से श्रीश्रीधरजी की टीका चली (फैली) और उस पर सब सज्जनों की मति प्रसन्न हुई॥

---

१ "मतिधीजियै"=मति प्रसन्न हुई॥

(३४) श्रीपरमानन्दजी।

स्वामी श्रीपरमानन्दजी श्रीश्रीधरस्वामी के गुरु संन्यासी हैं "परमानन्द प्रसाद तें॥"

"श्रीपरमानन्दजी*" सुकवि, भजनप्रवीन, शान्त, श्रीवृन्दावन के संन्यासी सर्वस्व त्यागी थे॥

---

(३५) श्रीबिल्वमङ्गलजी।

(२१०) छप्पय। (६३३)

कृष्णकृपा को पर प्रगट, "बिल्वमंगल" मङ्गलस्वरूप॥ "करुणामृत" सुकवित्त युक्ति अनुच्छिष्ट[1] उचारी। रसिकजनन जीवन जु हृदय हारावलि धारी॥ हरि पकरायो हाथ बहुरि तहँ लियो छुटाई। "कहा भयो कर छुटैं बदौं जो हिय तें जाई"॥ चिन्तामणि सँग पाय कै, ब्रजबधू केलि बरनी अनूप। कृष्णकृपा को[2] पर[3] प्रगट, "बिल्वमङ्गल" मङ्गलस्वरूप॥ ४६॥ (१६८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकृष्णजी के बड़े कृपापात्र तथा परम मङ्गल के स्वरूप श्री- "बिल्वमंगल" जी ने श्री "श्रीकृष्णकरुणामृत" नामक ग्रन्थ ऐसा विरचा है कि जो श्रीकृपा को परत्व मंगलस्वरूप है; जिसमें न किसी कवि की छाया ही है न किसी काव्य का अनुवाद है; वह रसिकजनों का जीवन है, कि जो उसको हारों की नाईं अन्तर

---

* और भी कई परमानन्दजी हुए हैं। जिनमें से, डाक्टर ग्रियर्सन् साहिब (Dr. G. A. Grierson) ने अष्टछापवाले की, और श्रीराधाकृष्णदासजी ने चार की चरचा की है॥

१ "अनुच्छिष्ट"=उच्छिष्ट नहीं; अमनिया, छाया किसी की नहीं, अनुवाद नहीं।

२ "कोपर"=पात्र विशेष, परात। ३ "पर"=परत्व, सर्वोपरि॥

हृदय में धारण किये रहते हैं। श्रीहरि ने अपना हाथ पकड़ाके और, फिर (उस देशकाल में) छुड़ा भी लिया; तब आपने कहा कि "मेरा कर तो छटकाए जाते हो, परन्तु बदौं तब कि जब मुझ दुर्बल के हृदय में से भी छटक जा सको"*। "चिन्तामणि" नाम प्रमदा (वेश्या) के संग से, विषय से विरक्त होकर आपने श्रीव्रजवधून की केलि का अनूप वर्णन किया है॥

(२११) टीका। कवित्त। (६३२)

"कृष्णबेना" तीर एक द्विज मतिधीर रहै ह्वै गयो अधीर संग "चिन्तामणि" पाइकैं। तजी लोकलाज, हिये वाही को जु राज, भयो निशि दिन काज, वहै रहै घर जाइकैं॥ पिता को सराध, नेकु रह्यो मन साधि, दिन शेष मैं आवेश चल्यो अति अकुलाइकैं। नदी चढ़ी रही भारी, पै ये न अवांरी[1] नाव, भाव भर्यो हियो जियो जात न धिजाइकैं[2]॥ १६५॥ (४६४)

वार्त्तिक तिलक।

दक्षिण में "कृष्णवेणा" नदी के तट पर ब्राह्मणकुल में श्री-बिल्वमंगलजी का जन्म था; प्रथम बड़े मतिधीर थे पर चिन्तामणि नाम की एक वेश्या नारी के प्रेम में वह अतिशय आसक्त थे, यहाँ तक कि लोक की लाज धैर्य्य इत्यादि खोके दिन रात उसीके घर, जो उस नदी के दूसरी ओर था, रहा करते; उनके हृदय में उसी का पूरा पूरा राज्य था। एक दिन पिता के श्राद्ध के कारण जैसे तैसे मन मार के दिन भर तो उसी कार्य्य में लगे रहे परन्तु दिन के अन्त में बड़े अधीर होके अकुलाके उसके घर की ओर चले॥

सरिता तीर पहुँचे तो देखा कि नदी तो बड़ी चढ़ी हुई है और उस प्रार जाने की कोई सामा, नाव बेड़ा कुछ नहीं है। अत्यन्त प्रेमभाव में इनका हृदय डूबने लगा॥

---

* "हस्तमुत्क्षिप्य निर्यासि बलात् कृष्ण! किमद्भुतम्।
हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"
दो० "बाँह छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहिं।
हिरदय ते जु छुड़ाइहौ, मर्द बदौं तब तोहिं॥"

१ "अवांरी"=अबेर। २ "धिजाइकैं"=प्रेम में भीग के॥

(२१२) टीका । कवित्त । (६३१)

करत बिचार बारि धार मैं न रहैं प्राण, तातें भली धारि मित्र सनमुख जाइयैं। परे कूदि नीर, कछु सुधि न शरीर की है, वही एक पीर कब दरसन पाइयैं ॥ पैयत न पार, तन हारि भयो बूड़िबे कों, मृतक निहारि, मानी नाव मनभाइयैं । लगेई किनारे जाय, चले पग धाय चाय, आए, पट लागे, निशि आधी सो बिहाइयैं ॥ १६६ ॥ (४६३)

वार्त्तिक तिलक ।

इन्होंने विचार किया कि न प्रियाविरह धार ही में प्राण बच सकते हैं और न जलधार ही में, इससे यही भला है कि प्रेमी के सम्मुख ही प्राण दे दूँ । इतना मन में लाके, नदी में कूद ही तो पड़े; शरीर की कुछ सुधि न रही, केवल प्रियावियोग का दुःख तथा यह उत्कण्ठा रह गई कि कब अपने प्रेमी का दर्शन पाऊँ । पैरते पैरते थकके ज्योंही तन जलमग्न होने पर हुआ, त्यों ही अकस्मात् एक मृतक (मुरदा) को देखके समझे कि प्रेमी ही ने मेरे अर्थ नाव भेज दी है । उस पर चढ़के दैवइच्छा से पार होके तीर लगे । उतरके प्रेमातुर होके दौड़े; जब चिन्तामणि के द्वार पर पहुँचे, रात आधी से कुछ अधिक बीती थी; अतः पट लगे थे ॥

(२१३) टीका । कवित्त । (६३०)

अजगर घूमि झूमि भूमि कों परस कियो, लियोई सहारौ, चढ़्यो छात पर जायकै । ऊपर किवार लगे, पर्यो कूदि आँगन मैं, गिर्यो, यों गरत राग जागी सोर पायकै ॥ दीपक बराइ, जो पै देखै, बिल्वमंगल है, "बड़ोई अमंगल, तूँ कियो कहा आयकै" । जल अन्हवाय, सूखे पट पहिराय, "हाय ! कैसें करि आयो जलपार द्वार धायकै ?" ॥ १६७ ॥ (४६२)

वार्तिक तिलक ।

चिन्ता में थे ही कि इतने में एक लटकी हुई वस्तु पर इनकी दृष्टि पड़ी; वह एक अजगर था जो पृथ्वी के पास तक पहुँचके झूल रहा था परन्तु ये अति प्रेमान्ध तो थे ही, यह समझे कि प्रेमिन ने मेरे ही लिये

रस्सा लटकाय रक्खा है, चटपट आप उसके सहारे से चढ़के छत पर पहुँच गए ॥

ऊपर किवाड़ लगे देखके ये आँगन में धम से कूद पड़े; धमाके का शब्द सुन इनकी प्रेमिनी जाग उठी; लोग दीप जलाके उसके प्रकाश में जो देखें तो आप हैं श्रीबिल्वमंगल महाशयजी ॥

चिन्तामणि झिझलाके बोली कि "हा! तुम बड़े ही अमंगल हो! तुमने आके क्या किया?" अस्तु, स्नान करा, सूखे वस्त्र पहिरा, उसने पूछा कि "बताइये तो आप नदी पार क्योंकर हुए और ऊपर चढ़े कैसे? ॥"

(२१४) टीका । कवित्त । (६२६)

"नौका पठाई, द्वार लाव लटकाई देखि मेरे मन भाई, मैं तो तबै लई जानिकै"। "चलो देखौं अहो यह कहा धौं प्रलाप करै" देख्यौ बिषधर महा, खीजी अपमानिकै ॥ "जैसो मन मेरे हाड़ चाम सौं लगायो, तसो स्याम सौं लगाव तोपै जानियें सयानिकै। मैं तो भये भोर भजौं युगलकिशोर अब, तेरी तुही जानै चाहौ करौ मन मानिकै" ॥ १६८ ॥ (४६१)

वार्त्तिक तिलक ।

इन्होंने उत्तर दिया कि "मैंने जभी देखा कि तुमने मेरे लिये नाव भेज दी है और छत से डोर लटका रक्खी है, तो मैंने तभी तुम्हारी प्रीति और कृपा की विलक्षणता जान ली।" वह बोली कि "ये क्या बड़बड़ाते हैं चलो लोग देखें तो कि डोर कहाँ और कैसी है?" जाके देखें कि वह बड़ा विषधर अजगर है ॥

यह देख चिन्तामणि झुँझला उठी और अपमान तथा क्रोधपूर्वक कहने लगी कि—"मेरे हाड़ चाम में जैसा अनोखा अनुराग किया, यदि वैसा श्यामसुन्दर मुरलीधर, शोभासिन्धु, करुणाकर में लगाते तो तुम्हारा सयानापन था। अब तो तेरी बात तूही जाने, जो चाहे सो कर, पर मैं तो भोर होते ही श्रीयुगल सर्कार के भजन में चित्त लगाऊँगी ॥"

(२१५) टीका । कवित्त । (६२८)

खुलि गईं आँखैं अभिलाखैं रूप माधुरी कौं चाखैं रसरंग औ उमंग अंग न्यारिये। बीन लै बजाई गाई बिपिन निकुंज क्रीड़ा भयो सुखपुंज जापै कोटि बिषै वारियै॥ बीति गई राति प्रात चले आप आप कों जू हिये वही जाप दृग नीर भरि डारियै। "सोमगिरि" नाम अभिराम गुरु कियो आनि सकै को बखानि लाल भुवन निहारियै॥ १६६॥ (४६०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवत्कृपा से चिन्तामणिजी के वचनों से श्रीबिल्वमंगलजी के हृदय की आँखें खुल गईं; श्रीयुगलसरकार के रूप के माधुर्य की अभिलाषा बहुत ही बढ़ी, प्रेमरंग में रँग गए; तन मन में अपूर्व विलक्षण उमंग छा गया; चिंतामणि वीणाबजाके श्रीविहारीजी की वृन्दावन कुंज की लीलारूप धाम नाम कीर्तन करने लगी। सुनकर, बिल्वमंगलजी ऐसे आनन्द में मग्न हुए कि जिसपर करोड़ों विषय के सुख न्यौछावर करना चाहिये। इसी प्रकार भगवत्कृपा के अनुभव में जब सारी रात्रि बीति गई, तो भोर दोनों ही ने अपना अपना रस्ता पकड़ा। श्रीरूप हृदय में धरे, और नाम रटते प्रेमाश्रु बहाते चले॥

आके, "सोमगिरि" जी को बिल्वमंगलजी ने गुरु किया और उनसे उपदेश लिया॥

इनके प्रेम का वर्णन किससे हो सके? आप सर्वत्र श्रीनन्दलालजी ही को देखते थे—

"जहँ तहँ देख लली अरु लालहिं॥"

(२१६) टीका । कवित्त । (६२७)

रहे सौ बरस, रससागर मगन भये, नये नये चोज[1] के श्लोक पढ़ि जीजियें। चले वृन्दावन, मन कहै कब देखौं जाइ, आइ मग माँझ एक

---

1 "चोज"=अनोखाभाव॥

ठौर मति भीजियें ॥ पस्यो बड़ो सोर दृग कोर कै न चाहै काहू, तहाँ सर तिया न्हाति, देखि आँखैं रीझियें। लगे वाके पाछे काँछे काँछे की न सुधि कछू, गई घर आछे, रहे द्वार तन छीजियें ॥ १७० ॥ (४५६)

वार्तिक तिलक ।

एक वर्ष श्रीगुरु की सेवा में रहके, प्रेमरससिन्धु में मग्न हुए कई रसीले रसीले काव्य पढ़े, तथा गुरुकृपा से आप भी अनेक भावभरे श्लोक रचना किये; और जीवन का सुख लिया। फिर श्रीवृन्दावन को चले; दर्शन की उत्कण्ठा मन को जैसी विलक्षण है, कही नहीं जा सकती। ऐसी चटपटी हो रही है कि कब देखूँ ॥

मार्ग में एक सरोवर पर आए। आपकी श्रीप्रभु-प्रेमोन्माद की दशा में मति मग्न हो गई; अश्रुपातादिक सात्त्विक प्रगट हुए। आपकी यह दशा देखके गाँव में बड़ी धूम मची; आप किसी की ओर दृष्टि भी नहीं करते थे; केवल प्रभु के रूप की माधुरी में छके थे। परन्तु माया के कौतुक से, उसी सर में एक अति रूपवती स्त्री को स्नान करते देख उस मृगलोचनी के नयनबाण इनकी आँखों में चुभ ही तो गये, और ऐसा खटकने लगे कि वेष की भी लज्जा जाती रही; तन मन की सुधि खो, उसके पीछे-पीछे लगे, और उसके द्वार पर जा जमे। "देखन को अति व्याकुल नयना ॥" विरह से तन क्षीण होने लगा। वह सुन्दरी अपने घर में चली गई ॥

(२१७) टीका । कवित्त । (६२६)

आयो वाको पति, द्वार देखै भागवत ठाढ़े, बड़ो भागवत; पूछी बधू सों, जनाइयें। कही जू "पधारो पाँव धारो गृह पावन कों; पावन पखारौं जल ढारौं सीस भाइयें" ॥ चले भौन माँझ, मन आरति मिटायबे कों, गायबे[2] कों जोई रीति सोई कै बताइयें। नारि सो कह्यो "हो तूँ सिंगार करि सेवा कीजै लीजै यों सुहाग जामैं बेगि प्रभु पाइयें" ॥ १७१ ॥ (४५८)

---

१ "काँछ काँछे की"=भागवत वेष धारण किये की। २ "गाइबे कौं"=कहने को ॥

वार्त्तिक तिलक।

उस स्त्री का पति कहीं बाहर गया रहा। वह बड़ा हरिभक्त था, घर आके सन्त को द्वार पर खड़े देख, अपने धन्य भाग समझ, दण्डवत कर, आसन दिया। स्त्री से पूछा तब उसने सारी वार्त्ता कह सुनाई॥

उस भक्त ने आपके पास आके कहा कि "आप भीतर पधारिये; मेरा गृह पवित्र होने के हेतु अपने चरण उसमें रखिये। मैं आपके चरण धोके जल सीस पर धारण करके कृतार्थ होऊँ।" यह सुन आप उसके साथ घर में जाके अपने मन की आरति मिटाने के लिये जो कहना था सब बात बता दी॥

उसने अपनी पतिव्रता स्त्री को आज्ञा दी कि "तुम शृङ्गार करके महात्माजी की सेवा करो, इसको परम सुहाग मानकर ऐसी प्रतीति रक्खो कि परम भागवत की निष्कपट सेवा करने से भगवत् शीघ्र रीझते मिलते हैं॥

(२१८) टीका। कवित्त। (६२५)

चली यै सिंगार करि, थार मैं प्रसाद लैकै, ऊँची चित्रसारी, जहाँ बैठे अनुरागी हैं। झनक मनक जाइ, जोरि कर ठाढ़ी रही, गही मति देखि देखि नून वृत्ति भागी है॥ कही युग सूई ल्यावो, ल्याई, दई, लई हाथ, फोरि डारी आँखैं, "अहो बड़ी ये अभागी हैं"। गई पतिपास स्वास भरत न बोलि आवै, बोली दुख पाय आय पाँय परे रागी हैं॥१७२॥(४५७)

वार्त्तिक तिलक।

पति की आज्ञा ही को परम धर्म मान, वह सौभाग्यवती सज धज, बन ठन, श्रीभगवत्प्रसाद का थार हाथ में ले, उस ठिकाने चली जहाँ चित्रसारी युक्त ऊँची अटारी पर बिल्वमंगलजी उसकी चाह में विराजते थे; गहना के शब्द तथा प्रमदाओं के स्वाभाविक हावभावयुक्त सुन्दरी आपके आगे पहुँचकर कर जोड़ के खड़ी हो गई अर्थात् बिल्वमंगलजी की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगी॥

बिल्वमंगलजी की मति जो कामवश बही जाती थी, उसको

विवेक से ये पकड़कर वारंवार उसका रूप देखने लगे, मुख्य प्रभुकृपा और निष्कपट भक्त तथा पतिव्रता स्त्री के दर्शन से, इनकी न्यून विषय-वृत्ति भागी, निर्मल मति प्राप्त हुई; विचार किया कि इन अनर्थों की जड़ यही निगोड़ी आँखें हैं। उस सुलोचना सुलक्षणा से कहा कि "दो सुई ला दो" वह ले आई; इन्होंने शीघ्र ही उन दोनों सुइयों से अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले। वह भक्तिवती शोक से श्वास लेती, काँपती डरती, अपने पति के पास गई; अतिशय दुःख के साथ टूटे फूटे स्वर से सब वृत्तान्त निवेदन किया; सुनते ही वह अनुरागी बड़भागी भी घबराया हुआ दौड़कर आपके चरणों पर आ गिरा॥

(२१६) टीका। कवित्त। (६२४)

"कियो अपराध हम, साधु कौं दुखायों," "अहो बड़े तुम साधु हम नाम साधु धस्यो है"। "रहौ अजू सेवा करौं" "करी तुम सेवा ऐसी जैसी नहीं काहू माँझ, मेरो मन भस्यो है"॥ चले सुख पाइ, दृग भूत से छुटाइ दिये, हिये ही की आँखिन सों अबै काम पस्यो है। बैठे बन मध्य जाइ, भूखे जानि आप आइ भोजन कराइ "चलौ छाया दिन ढस्यो है॥ १७३॥ (४५६)

वार्तिक तिलक।

व्याकुलता से बोला कि "हम दोनों से बड़ा अपराध हुआ; हमसे सन्त ने दुःख पाया; हम बड़े अभागी हैं!" आश्वासनपूर्वक आपने उत्तर दिया "अहो, तुम वस्तुतः बड़े साधु हो; मैं तो साधुवेष को महा-कलंक लगानेवाला वास्तव में बड़ा असाधु हूँ, साधु का तो केवल नाम-मात्र मुझे है वास्तव में साधु तो तुम हो।" तब भक्त ने विनय किया कि "महाराज! आप रहिये, मैं आपकी सेवा ओषधि करूँ।" आपने उत्तर दिया कि "तुमने तो ऐसी सेवा करके मेरा मन हर लिया कि किसी से ऐसी कहाँ हो सकेगी; तुम हरिकृपा से बने रहो, भगवद्भजन तथा सन्तसेवा किया करो।" श्रीबिल्वमंगलजी नेत्ररूपी भूतों को अपने शरीर से छुड़ाके, सुखपूर्वक श्रीवृन्दावन को चल खड़े हुए॥

अब बाहर की आँखों से तो स्थूल भौतिक वस्तुओं के देखने का काम रह गया ही नहीं, हृदय के नयन से सुखपूर्वक प्रयोजन साधते चलके एक वन के मध्य जा बैठे। श्रीबिल्वमंगलजी को भूखे देख, श्रीवृन्दावन-विहारीजी ने स्वयं आकर प्रसाद पवायके कहा कि "दिन ढर चला, संध्या समीप है, छाया में चलो ॥"

(२२०) टीका । कवित्त । (६२३)

चले लै गहाइकर, छाया घन तरु तर; चाहत छुटायो हाथ, छोड़ैं कैसे? नीको है । ज्यों ज्यों बल करैं त्यों त्यों तजत न एऊ अरैं, लियोई छुटाइ, गह्यो गाढ़ो, रूप ही को है ॥ ऐसे ही करत बृन्दाबन घनआइ लियो पियो चाहैं रस, सब जग लाग्यो फीको है । भई उतकंठा भारी, आये श्रीबिहारीलाल, मुरली बजाइकै सुकियो भयो जीको है ॥ १७४ ॥ (४५५)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीप्रभु करुणाकर भक्तवत्सलजी हाथ पकड़ाके आपको एक घने वृक्ष की सुखद छाया के तले बैठाके, अपना करसरोज आपके हाथ में से छुड़ाने लगे; आप भला कैसे छोड़ना चाहते; क्योंकि वह करकमल अति प्रिय अङ्गस्पर्श सुखद था, परन्तु बल करके छुड़ाके प्रभु अलग होगए। आप बोले "हाथों में से तो निकले जाते हो, पर यदि मन में से सरकोगे तो देखूँगा।" इसी प्रकार प्रभु के सहारे से वृन्दावन में आकर श्रीवृन्दा-वन के कुंज में जमके रहे; संसार फीका लगने लगा; सब ओर से चित्त की वृत्ति इकट्ठी करके श्रीकृपा से भगवत् का प्रेमरस पीना चाहा ॥

चौपाई ।

"सब के ममता ताग बटोरी । ममपद मनहिं बाँध बट डोरी ॥"
युगल सरकार के दर्शन की उत्कण्ठा प्रबल हुई ॥

चौपाई ।

"रामचरणपंकज जब देखौं । तब यह जन्म सफल करि लेखौं ॥"

श्रीविहारीजी कृपा करके आए। वंशी की मीठी तान सुनाई; इनके हृदय का भावता मनोरथ पूर्ण किया॥

(२२१) टीका। कवित्त। (६२२)

खुलि गए नैन ज्यौं कमल रवि उदै भए, देखि रूपरासि बाढ़ी कोटि-गुनी प्यास है। मुरली मधुर सुर राख्यो मद भरि मानो ढरि आयो कानन मैं, आनन मैं भास है॥ मानिकै प्रताप चिंतामनि मनमाँझ भई, "चिंतामनि जैति" आदि बोले रसरास है। "करुनामृत" ग्रंथ, हृदै ग्रंथि कौं बिदारि डारै, बाँधै रस ग्रंथ पन्थ युगल प्रकास है॥१७५॥ (४५४)

वार्तिक तिलक।

श्रीविहारीजी ने आके मुरली बजाई; उसकी तान सुन, आपने जाना कि यह तो विहारीलाल के मुख की ही वंशी है; इससे स्वरूपमाधुरी देखने की अभिलाषा हुई॥

तब जैसे सूर्य्योदय से कमल खिल जाते हैं, वैसे ही आपके नयन खुल गए। सामने करुणासागर शोभाराशि भगवान् के दर्शन प्राप्त हर्ष से फूले, आनन्द हृदय में अँटता नहीं था, दर्शन से भला कब तृप्ति होती है? छविसमुद्र का मुखचन्द्र देखते रहने की प्यास कोटिगुण अधिक बढ़ती चली॥

श्रीवंशी का वह मधुर स्वर सुनकर आनन्दमग्न हो गए, उस श्रवणामृत ने इनके कानों में पहुँचकर इनको मतवाला कर दिया; मुरली ध्वनि की गूँज सदा बनीही रही; और मुखारविन्द के प्रकाश का कहना ही क्या है॥

आपने चिन्तामणि के उपदेश का प्रताप जान, मनमें गुरुतुल्य मान, "जयतिचिन्तामणि" आदि शब्द, उच्चारण किये; रसराशि शृंगार ग्रन्थ में जिसका नाम "श्रीकृष्णकरुणामृत" है और जो जीवमात्र की हृदय-ग्रन्थि के खोलने के लिये अतिअपूर्व है; ऐसी चमत्कृति दिखाई है कि वह ग्रन्थ श्रीयुगलसरकार (प्रियाप्रियतम) के रूपमाधुरी प्रेमरस में गाँठ बाँध देता है; तथा प्रभु की प्राप्ति के सुन्दर मार्ग का प्रकाशक ही है॥

(२२२) टीका। कवित्त। (६२१)

चिन्तामनि सुनी "बन माँझ, रूप देख्यो लाल," ह्वै गई निहाल, आई नेह नातो जानिकैं। उठि बहु मान कियो, दियो दूध भात दोना, "दै पठावैं नित हरि हितू जन मानि कैं"॥ लियो कसैं जाइ, "तुम्हैं भाय सों दियो जो प्रभु, लैहौं नाथ हाथ सौं जो दैहैं सनमानिकैं"। बैठ दोऊ जन, कोऊ पावै नहीं एक कन, रीझे श्यामघन, दीनो दूसरो हूँ आनि कैं॥ १७६ ॥ (४५३)

वार्त्तिक तिलक।

चिन्तामणिजी को यह विदित हुआ कि "श्रीबिल्वमंगल पर विशेष कृपा श्रीयुगल सरकार की हुई; और श्रीब्रजचन्द्र महाराज के दर्शन पाए हैं।" वह अति हर्ष को प्राप्त हुई, निहाल हो गई, पिछला नेहनाता सुरति कर अनेक मनोरथ करती वह भी श्रीवृन्दावन में आपके पास बड़े भाव से आई। देखते ही आप उठ खड़े हुए, बड़े आदर भाव से सतकार किया; श्रीयुगल सरकार (ललीलाल) का प्रसाद दूधभात जो कि प्रभु नित्य ही अपना स्नेहीजन मान के भेज दिया करते थे, सो दिया॥

इन्होंने पूछा कि "यह प्रसाद का दोना कहां से कैसे आया किसने दिया ?" आपने उत्तर दिया कि "स्वयं भगवत् कृपाकरके अपने कर-कमलों से भेज दिया करते हैं।" यह सुनते ही बोल उठी कि "जब वे कृपा करके आप अपने हाथों से ही देंगे तो लूंगी।" अब न आप पावैं न चिन्तामणि पावैं, दोना रक्खा है और दोनों भजन कर रहे हैं॥

श्रीबिल्वमंगलजी की भक्तिभाव तथा श्रीचिन्तामणिजी का सच्चा पन जान के श्रीभाववश भगवान् ने दर्शन दे दूध भात का दूसरा दोना भी कृपा किया ही। कृतकृत्य हो दोनों ने धन्यवाद गुणानुवाद-पूर्वक मिलके प्रसाद पाया। आगे क्या कहूँ ? प्रेम की जय ! प्रेम प्रिय प्रभु की जय !! परम प्रेमियों की जय !!!

---

१ बहुत से लोग भूल से इन्हीं को सूरदासजी समझते हैं। यह अन्यथा है। सूरदासजी की कथा अन्यत्र है (छप्पय ७३ देखिये)॥

(३६) श्रीविष्णुपुरीजी।

(२२३) छप्पय। (६२०)

कलि जीव जँजाली कारनै, "विष्णुपुरी" बड़िनिधि सँची॥ भगवत धर्म उतंग आन[1] धर्म आनन न देखा। पीतर[3] पटतर[4] बिगत, निषक[5] ज्यौं कुंदन रेखा॥ कृष्णकृपा कहि बेलि फलित सतसंग दिखायो। कोटि ग्रंथ को अर्थ, तेरह बिरचन[6] में गायो॥ महा समुद्र भागौत तें "भक्ति-रतन-राजी[7]" रची। कलि जीव जँजाली कारनै, "विष्णुपुरी" बड़ि निधि सँची॥ ४७॥ (१६७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीविष्णुपुरीजी ने, कलियुग के जंजाल झंझट में उलझे हुए, भगवद्भक्ति सम्पत्तिहीन दरिद्री, जीवों के उपकारार्थ बहुत बड़ा धन (महानिधि) संचय किया॥

श्रीभगवद्धर्म (नवधा, प्रेमा, परा भक्तियों) को सब धर्मों से ऊंचा जानके वैसा ही वर्णन किया; और अन्य धर्मों (वर्ण तथा आश्रम के धर्मों) का मुख भी (आनन) शपथ करके नहीं देखा; किस प्रकार कि जैसे सोनार की कसौटी में पीतल घिसने से उसका रंग रेखा विगत हो जाता है अर्थात् कसौटी किंचित् भी ग्रहण नहीं करती, और कुन्दन सुवर्ण के रंगरेखा अतिचमकयुक्त उपट आते हैं; इसी प्रकार आपकी मति तथा भणित में भगवद्धर्म चमत्कारयुक्त चमकता है॥

---

१ "आन धर्म आनन न देखा"=अन्य धर्मों का मुँह भी नहीं देखा। "आन धर्म आनन देखा"=आन (शपथ) करके आन [अन्य] धर्मों को नहीं देखा। वा, अन्य धर्मों को अपनी मति में आन के [ला के] देखा भी नहीं। २ "आनन न देखा" मुँह न देखा। ३ "पीतर"=पीतल। ४ "पटतर"=सरिस, उपमा। ५ "निषक"=कसौटी (सुनार की)। ६ "बिरचन"=लर, माला की लड़ियाँ। ७ "राजी"=पंक्ति, माला॥

श्रीकृष्णचन्द्रजी की कृपारूपिणी बेलि (लता) का फल सत्संग को कह दिखाया॥

उक्त ग्रन्थ "श्रीभक्तिरत्नावली" के तेरह ही बिरंचन (माला की लड़ियों) में करोड़ों ग्रन्थों का तात्पर्य्य संग्रह किया गया है। श्रीमद्भागवतरूपी महासमुद्र में से निकालके "भक्तिरत्नावली" भक्ति की माला पाँचसौ रत्नों (श्लोकों) की अपूर्व रची है॥

(२२४) टीका। कवित्त। (६१९)

जगन्नाथ छेत्र माँझ बैठे महाप्रभुजू वे, चहुँ ओर भक्त भूप भीर अति छाई है। बोले "विष्णुपुरी, पुरी काशी मध्य रहै, जाते जानियत मोक्ष चाह नीकी मन आई है"॥ लिखी प्रभु चीठी "आपु मणिगण माला एक दीजिए पठाइ, मोहिं लागती सुहाई है"। जानि लई बात, निधि भागवत, रत्नदाम दई पठै आदि मुक्ति खोदिकै बहाई है॥ १७७॥(४५२)

वार्त्तिक तिलक।

एक दिन श्रीविष्णुपुरीजी के सतगुरु महाराज श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुजी श्रीजगन्नाथपुरी में भक्तराजों की भीड़ के मध्य सन्तसमाज में विराजमान थे, उन्हीं में से कोई कोई कहने लगे कि "विष्णुपुरीजी ने काशी में वास किया है इससे जान पड़ता है कि मुक्ति की इच्छा भले प्रकार मन में रखते हैं।" महाप्रभुजी ने सबको समझाया कि ऐसा नहीं है, वे उनमें से हैं कि जो, "मुक्ति निरादरि भक्ति लोभाने" इस प्रकार के अनुरागी हैं॥

और उन लोगों के समाधानार्थ यह काम किया कि इनको एक पत्र लिखा कि "रत्नों की एक माला भेज दो; मुझे प्रिय लगती है॥"

आपने श्रीमद्भागवत में से रत्नरूपी ५०० श्लोक चुन और संग्रह करके, अपूर्व मालारूपी एक पोथी "भक्तिरत्नावली" नाम रख भेज दी, कि जिसमें रूखी मुक्ति सूखे मोक्ष को तो जड़ से ही खोद के बहा दिया है और भागवद्धर्म हरिभक्ति भगवत्प्रेम की महिमा

तथा ऐसी विलक्षणता प्रकाशित की है कि जिसको पढ़ते ही सब "साधु साधु" कह उठे। उक्त ग्रन्थ भक्तों के देखने ही योग्य है॥

(२२५) छप्पय। (६१८)

"बिष्णुस्वामिसंप्रदाइ" दृढ़ "ज्ञानदेव[1]" गंभीरमति॥ "नाम[2]" "तिलोचन[3]" शिष्य, सूर शशि सदृश उजागर। गिरा गंग उनहारि काव्यरचना प्रेमाकर॥ आचारज, हरिदास, अतुल बल आनँददायन। तेहिं मारग "बल्लभ[4]" बिदित, पृथुपधति परायन॥ नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़, मन बच क्रम हरिचरनरति। "बिष्णुस्वामिसंप्रदाइ" दृढ़ "ज्ञानदेव" गंभीरमति॥ ४८॥ (१६६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबिष्णुस्वामीसम्प्रदाय में गम्भीरमति "श्रीज्ञानदेवजी" प्रसिद्ध हैं; जिनके शिष्य (१) श्रीनामदेवजी और (२) श्रीत्रिलोचनजी, सूर्य्य तथा चन्द्र के सरिस उजागर हुए और श्रीज्ञानदेवजी की गिरा (वाणी) श्रीगंगाजी की नाईं निर्मल और संसार को पवित्र करनेवाली हुई, जिस वाणी से प्रेम की खानि काव्य की रचना कर हरियश गाया। आचार्य्य (गुरुवर्ग), तथा हरिभक्तों का, अतुलित बल विश्वास आपके हृदय में था; जिन सबों को अति आनन्ददाता हुए॥

१. श्रीज्ञानदेवजी; ३. श्रीत्रिलोचनजी;
२. श्रीनामदेवजी; ४. श्रीवल्लभाचार्य्यजी।

इसी मार्ग (सम्प्रदाय) में जगविख्यात, पृथुपद्धति अर्थात् प्रभुपूजन अर्चन में परायण, "श्रीवल्लभाचार्य्यजी" हुए; कि जिन्होंने नवधा भक्ति ही को प्रधान मान, प्रभु की सेवा में अत्यन्त दृढ़ होकर मन वचन कर्म से श्रीहरिचरणों में प्रीति की॥

(२२६) टीका। कवित्त। (६१७)

बिष्णुस्वामि सम्प्रदाई बड़ोई गंभीर मति, "ज्ञानदेव" नाम, ताकी बात सुनि लीजियैं। पिता गृहत्यागि, आइ ग्रहण संन्यास कियो, दियो बोलि झूठ "तिया नहीं," गुरु कीजियैं॥ आई सुनि बधू पाछें, कह्यो जान्यो मिथ्याबाद, "भुजनि पकरि मेरे संग करि दीजियैं"। ल्याई सो लिवाइ, जाति अति ही रिसाइ, दियो पंक्ति मैंते डारि, रहैं दूरि, नहीं छीजियैं॥ १७८॥ (४५१)

(३७) श्रीज्ञानदेवजी।

वार्त्तिक तिलक।

विष्णुस्वामीसम्प्रदाय में बड़े गम्भीरमति श्रीज्ञानदेवजी, उनकी कथा सुनिये। आपके पिता ने अपना घरछोड़ आके संन्यास ले लिया। पूछने पर गुरुजी से झूठ कहा था कि "मेरे पत्नी नहीं है, मुझे शिष्य कर लीजिये" (क्योंकि स्त्री रहते संन्यासी वैरागी बनानेवाले को बड़ा दोष होता है)॥

परन्तु पीछे उनकी स्त्री पहुँची और बिगड़ के कहने लगी कि "हे महाराज! बल से हाथ पकड़ के इनको मेरे साथ कर ही दीजिये," और आपको अपने साथ घर ले ही आई। जाति के ब्राह्मणों ने अत्यन्त क्रोध करके इन दोनों को अपनी पंगति से निकाल दिया कि "अब मिलने योग्य नही हैं," इससे जाति पांति से पृथक् रहते थे॥

(२२७) टीका। कवित्त। (६१६)

भए पुत्र तीन, तामें मुख्य बड़ो ज्ञानदेव जाकी कृष्णदेवजू सों हिये की सचाई है। बेद न पढ़ावे कोऊ, कहैं सब "जाति गई," लई करि सभा अहो कहा मन आई है॥ "बिनस्यो ब्रह्मत्व" कही "श्रुति अधिकार नाहिं," बोल्यो यों निहारि "पढ़ै भैंसा" लै दिखाई है। देखि भक्तिभाव, चाव भयो, आनि गहैं पांव, कियोई सुभाव वही गही दीनताई है॥ १७९॥ (४५०)

वार्त्तिक तिलक।

उनके तीन पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़े "श्रीज्ञानदेवजी" हैं जिन-

को श्रीभगवत्चरण में सत्य प्रेम था दूसरे "महानदेव;" तीसरे "सोपानदेव ॥"

जब श्रीज्ञानदेवजी पढ़ने योग्य हुए, तब ब्राह्मणों के पास वेद पढ़ने गए; परन्तु किसीने पढ़ाया नहीं; कारण यह कहके कि "तुम्हारा ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया है।" श्रीज्ञानदेवजी भगवद्विभूति साधु अवतार तो थे ही, अतः सभा करके इन्होंने सब ब्राह्मणों से कहा कि "आप लोगों के मन में हमारी क्या न्यूनता आई है, क्यों वेद नहीं पढ़ाते?" ब्राह्मणों ने वही उत्तर दिया कि "तुम्हारे पिता संन्यास लेकर पुनः आय के गृहस्थ हुए इससे तुम्हारा ब्रह्मत्व नष्ट हो गया, वेद का अधिकार नहीं रहा ॥"

आपने कहा कि "पूर्णब्रह्म श्रीभगवान् को मन कर्म वचन से सप्रेम जाननेवाला वास्तविक ब्राह्मण है, न कि केवल वेदपाठी ही; वेद तो एक भैंसा भी पढ़ सकता है" इतना कहकर जिसके श्वास से वेद हुए हैं उन श्रीयुगलसर्कार (ललीलाल) का स्मरण कर, पास के एक भैंसे को कि जो संयोग से वहां ही आ गया था, आज्ञा की कि "वेद पढ़, सुना।" वह पशु, शिक्षित ब्राह्मण से भी भली रीति तथा उत्तम मधुर स्वर से स्पष्ट और शुद्ध वेद पढ़ चला। सुनके सबकी बुद्धि चक्कर में आ गई, लज्जित हुए, और भगवत् की भक्ति में प्रतीति की; श्रीभक्ति महारानी का प्रभाव और प्रताप जाना ॥

श्रीज्ञानदेवजी के चरणों में पड़कर अपने देह जात्यभिमान को त्याग, आपके शिष्य, तथा अनुमत में स्थित हो, दीनतापूर्वक भगवद्भक्ति ग्रहण की ॥

---

(३८) श्रीत्रिलोचनजी।

(२२८) टीका। कवित्त। (६१५)

भये उभै शिष्य नामदेव श्रीतिलोचनजू, सूर शशिनाईं किया जग में प्रकास है। "नाम"[1] की तो बात सुनि आए; सुनो दूसरे की सुनेई बनत भक्तकथा रस रास है ॥ उपजे बनिक कुल सेव

---

१ "नाम"=श्रीनामदेवजी ॥

"कुल अच्युत"[1] को ऐपै नहिं बने, एक तिया रहे पास है। टहलू न कोई "साधु मन ही की जानि लेत" येही अभिलाष सदा दासनि को दास है॥ १८०॥ (४४६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीज्ञानदेवजी के दो शिष्य हुए (१) श्रीनामदेवजी और (२) श्रीत्रिलोचनजी। सूर्य्य और चन्द्र के समान दोनों ने संसार में प्रकाश किया। जिनमें से "श्रीनामदेवजी" की वार्त्ता तो ऊपर कही ही जा चुकी है; दूसरे (श्रीत्रिलोचनजी) की भक्ति की कथा ऐसी अपूर्व रस की भरी है कि सुनते ही बनता है; सो सुनिये--

आप वैश्य वर्ण में उत्पन्न थे, और "अच्युतकुल" अर्थात् वैष्णवों की सेवा किया करते। दोही प्राणी थे, आप और इनकी धर्मपत्नी; घर में तीसरा कोई न था। आपको साधुसेवा में ऐसा प्रेम था कि सदा यही बड़ी लालसा रहती थी कि "हरिकृपा से कोई ऐसा नौकर हाथ लगता कि जो सन्तों के मन की बूझ बूझ उनकी रुचि के अनुसार टहल किया करता," ये हरिदासों के दास, इसी सोच विचार में रहा करते थे॥

(२२६) टीका। कवित्त। (६१४)

आए प्रभु, टहलुवा रूप धरि द्वार पर, फटी एक कामरी पन्हैयाँ टूटी पाँय हैं। निकसत पूछें "अहो कहाँ ते पधारे आप? बाप महतारी और देखिये न" गाय[2] हैं॥ "बाप महतारी मेरे कोऊ नाहिं साँची कहौं, गहौं मैं टहल जो पै मिलत सुभाय हैं"। "अनमिल बात कौन? दीजियै जनाय वहू," "पाऊँ पाँच सात सेर, उठत रिसाय हैं"॥ १८१॥ (४४८)

वार्त्तिक तिलक।

भक्त की अनोखी अभिलाषा जान, एक दिन स्वयं प्रभु ही एक टहलू के रूप से; कंधे पर फटी कमली धरे पाँवों में टूटी पनही पहिने, आप के द्वार पर आ ही तो पहुँचे॥

---

१ "कुल अच्युत"=वैष्णव॥ २ "गाय हैं"=कथन किया॥

श्रीत्रिलोचनजी ने घर से निकलते ही आप को देख माँ बाप घर आदि का प्रश्न किया। आपने उत्तर दिया कि "सच कहता हूँ मेरे बाप माँ कोई नहीं हैं। जो मुझे रक्खे, और मेरा उसका स्वभाव मिल जाय, तो मैं सेवा टहल भले प्रकार करता हूँ।" श्रीत्रिलोचनजी ने पूछा कि "आप के स्वभाव में अनमिल वार्त्ता कौन सी है? सो भी तो बता दीजिये।" टहलूजी ने उत्तर दिया कि "मैं पाँच सात सेर खाता हूं; इसीसे जिसके यहाँ रहता हूँ सो रिसाय उठता है, ग्लानि मानने लगता है; तब मैं चलही देता हूँ॥"

(२३०) टीका। कवित्त। (६१३)

"चारि हू बरन की जु रीति सब मेरे हाथ, साथ हू न चाहौं, करौं नीके मन लाइकै। भक्तन की सेवा सो तौ करत जनम गयो, नयो कछु नाहिं, डारे बरस बिताइकै॥ "अंत्रजामी" नाम मेरो, चेरो भयो तेरो हौं तो," बोल्यो भक्त "भाव, खावौनिशंक अघाइकै"। कामरी पन्हैयाँ सब नई करि दई, और मीड़ि कै न्हवायो, तन मैल कौं छुटाइकै॥ १८२॥ (४४७)

वार्तिक तिलक।

"चारों वर्णों की रीति मैं सब जानता हूँ, मेरे हाथों में है, और अकेला ही सब टहल कर लेता हूँ, मन लगाके भली भाँति सेवा किया करता हूँ; विशेष करके हरिभक्तों संतों की सेवा तो करते बरसों क्या बरन् सारा जन्म बीता, कुछ नई बात नहीं; मेरा नाम "अन्तर्यामी" है; मैं आपका चाकर हुआ॥"

दो० "चार बरन की चातुरी, सरै न मेरो काम॥
भक्त सेव जो जानई, तौ रहु मेरे धाम॥"

तब श्रीत्रिलोचनजी ने हर्षित होकर कहा कि "जितना चाहो उतना अघाके खाइयो, कुछ शंका मत करो॥"

इनको अच्छी प्रकार से अंग माँज माँज के स्नान कराकर, पगरखी (पनही) तथा कमली आदि नई मँगवा दी॥ तब सन्तों की टहल सौंपी॥

(२३१) टीका। कवित्त। (६१२)

बोल्यो घरदासी सों, "तू रहै याकी दासी होइ, देखियो उदासी देत ऐसो नहीं पावनौ। खाय सो खवावो, सुख पावो नित नित किय, जियैं जग माहिं जौलौं मिलि गुन गावनौ" ॥ आवत अनेक साधु, भावत टहल हिये, लिये चाव दाबै पाँव, सबनि लड़ावनौ। ऐसे ही करत, मास तेरह बितीत भए, गए उठि आपु, नेकु बात को चलावनौ ॥ १८३ ॥ (४४६)

वार्त्तिक तिलक।

स्त्री से कहा कि "तू इसकी दासी सी रहियो, देखना, उदास होके खाने को देने से यह चला जावेगा और फिर ऐसा सेवक मिलने का नहीं, जितना खाय सो खिलाना, सुखपूर्वक नित्यही इसके लिये रोटी करना। जब तक हम तुम जियैं, तब तक तीनों मिल जुलके साधुसेवा और भगवत् का भजन करैं" अस्तु। इस भाँति इनके भोजन के विषय में विशेष करके उसे समझा बुझा दिया ॥

अब अन्तर्यामी ने सन्तों की टहल आरम्भ की; साधु तो यहाँ पहिले ही से अनेक आया करते थे, पर अब और भी अधिक आने लगे; क्योंकि अन्तर्यामी उनकी बड़ी चाव भाव से टहल सेवा करते, चरण चापते; "अन्तर्यामी" अन्तर्यामी ही निकले; जिसकी जो रुचि होती वैसाही करते, जो जहाँ पुकारते उनके पास वहीं पहुँच जाते; इसी रीति से सब सन्तों को लाड़ लड़ाया करते थे। निदान चारों खूँट में श्रीत्रिलोचनजी की साधुसेवा की धूम मच गई ॥

इसी भाँति एक वर्ष से एक महीना अधिक बीतते ही, तनक सी बात चलाते ही उसी क्षण "अन्तर्यामी" अन्तर्धान ही हो गए ॥

(२३२) टीका। कवित्त। (६११)

एक दिन गई ही परोसिन कैं, भक्तबधू, पूछि लई बात "अहो! काहे कौं मलीन है?। बोली मुसुकाय, "वे[1] टहलुवा लिवाय ल्याये, क्योंहू न अघाय खोट, पीसि तन छीन है॥ काहू सौं न कहौं, यह गहौं मन माँझ एरी, तेरी सौं सुनैगो जौ पै जात रहै भीन[2] है"।

१ "वे"=मेरे पति। २ "भीन"=भिनसारे, प्रभात, सबेरे ॥

सुनि लई यही नेकु, गए उठि, हुती टेक, दुखहू अनेक जैसे जल बिन मीन है ॥ १८४ ॥ (४४५)

वार्त्तिक तिलक ।

एकदिन श्रीत्रिलोचनजी की घरनी, अपने एक पड़ोसिन के पास गई थी; उसने पूछा कि "अरी सखी ! तुम दुबली क्यों हुई जाती हो ?" इसने मुसकायके उत्तर दिया कि "बहिन ! वे (मेरे स्वामी) एक टहलुवा लाए हैं; वह खोटा पाँच सात सेर खाता है तो भी उसका पेट भरता ही नहीं, उसी के लिये आटा पीसते, रोटी करते मैं पिसी जाती हूँ। इसी से शरीर दुर्बल हो गया है। परन्तु बहिन ! यह भेद तुम्हीं से कहती हूँ, तुम अपने मन ही में रखना किसी से कहना नहीं, जो वह सुन पावेगा तो भिनही (सबेरे ही) चल देगा ॥"

फिर क्या था, अन्तर्यामी ने सुना और कपूर से उड़गए। यह तो पहिले ही टेक धरा ली थी कि "भोजन करने की निन्दा होते ही मैं आगे ठहरने का नहीं ॥"

अन्तर्यामी के चले जाने से भक्तराज जलहीन मीन की नाईं अति विकल हुए ॥

(२३३) टीका । कवित्त । (६१०)

बीते दिन तीनि, अन्न जल करि हीन भये, "ऐसो सो प्रवीन अहो फेरि कहाँ पाइयें ?। बड़ी तूँ अभागी ! बात काहे कों कहन लागी ? रागी साधुसेवा में ज कैसे करि ल्याइयें ?" ॥ भई नभबानी "तुम*खावो पीवो पानी यह मैं ही मति ठानी, मोकों प्रीति रीति भाइयें। मैं तो हौं अधीन, तेरे घर ही में रहौं लीन, जोपैं कहौ, सदा सेवा करिबे कौं आइयें ॥ १८५ ॥ (४४४)

वार्त्तिक तिलक ।

अन्तर्यामी के विना, श्रीत्रिलोचनजी को अन्न जल बिन तीन दिन व्यतीत हो गये; स्त्री से बोले कि "आह ! वैसा प्रवीण सेवक फिर कहाँ मिलने का ? अब मैं साधुसेवा किस प्रकार से करूँ ?"

* पाठान्तर तुम खावो पीवो पानी। "खावो अन्न पीवो पानी" ॥

अभागिन! तूने क्यों उसकी वार्ता चलाई? वह साधुसेवा में अति अनुरागी था। अब उसको कहाँ से कैसे लाऊँ?" भक्तराज त्रिलोचनजी को आकाशवाणी हुई कि "तुम प्रसाद पाओ जलपान करो उपवास मत करो, यह 'अन्तर्यामी' नामक तुम्हारा टहलू मैं ही था; और मैं सदा तुम्हारे ही पास हूँ भी; यदि अब भी तुम्हारी इच्छा हो, तो वैसी ही सेवकाई सन्तों की मझे स्वीकार है; मैं तो सदैव भक्तों ही के अधीन हूँ, कहो तो फिर पहुँचूँ?"

(२३४) टीका। कवित्त। (६०६)

"कीने हरिदास, मैं तौ दासहू न भयौं नेकु, बड़े उपहाँस मुख जग में दिखाइयैं। कहैं जन "भक्त" कहा भक्ति हम करी कहाँ? अहो! अज्ञताई रीति मन में न आइयैं॥ उनकी तौ बात बनि आवै सब उनहीं सौं गुन ही कौं लेत मेरे औगुन छिपाइयैं। आए घर माँझ तऊँ मूढ़ मैं न जानि सक्यौं! आवै अब क्योंहू धाय पाँय लपटाइयैं" ॥ १८६ ॥ (४४३)

वार्त्तिक तिलक।

इस प्रकार श्रीप्रभु की आकाशवाणी सुन त्रिलोचनजी ग्लानि से विलाप करने लगे कि--

"मैं कैसा दास हूँ? हा! मुझसे दासत्व भी कुछ न बना! स्वयं प्रभु दास होके रहे, यह भारी उपहास की बात हो गई, मैं संसार में क्या मुँह दिखाऊँ! लोग मुझे भक्त कहते हैं, धिक्कार मेरी भक्ति को!! ऐसी अज्ञानता मेरी सो प्रभु के मन में भी न आई॥"

"सर्कार की बात तो सर्कारही से बनआती है, दूसरेकीसामर्थ्यकहाँ? शील, स्वभाव, कृपा की बलि जाऊँ, आप तो गुण ही को ग्रहण करते हैं, शरणागत के दोषों को छिपाते हैं। घर में आप कृपा करके इतने दिनों विराजमान रहे, तब भी मुझ मूढ़ ने न जाना। अब कैसे हू पाऊँ तो दौड़कर चरणकमलों में लपट जाऊँ।" इसी प्रकार श्रीत्रिलोचनजी ने प्रेम पश्चात्ताप कर, फिर श्रीप्रभु की कृपालुता स्वभाव स्मरणपूर्वक भजन और सन्तसेवा में जीवन को व्यतीत किया॥

"तुमकहँ, भरत! कलंक यह, हम सबकहँ उपदेश॥"
भक्त भक्ति भगवन्त की, जय! जय!! जय!!!

श्रीवल्लभाचार्य्यजी।

(२३५) टीका। कवित्त। (६०८)

हिये में सरूप, सेवा करि अनुराग भरे, ढरे और जीवनि की, जीवनि कौं दीजियें। सोई लै प्रकास घर घर में बिलास कियो, अति ही हुलास, फल नैननि कौं लीजियें॥ चातुरी अवधि, नेकु आतुरी न होति किहूँ चहूँ दिसि नाना राग भोग सुख कीजियें। "बल्लभजू" नाम लियो "पृथु" अभिराम रीति, गोकुल मैं धाम जानि सुनि मन रीझियें॥ १८७॥ (४४२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवल्लभाचार्य्यजी की वात्सल्यरसभरी भक्तिरीति अति अनूप थी। हृदय में प्रभुस्वरूप का ध्यान धरे हुए अन्तर तथा बाहर में अति अनुराग से सेवापूजा करते थे। ध्यान-सेवा-सुख पाकर आप अनुग्रह कर और जीवों की ओर ढरे। यह विचार किया कि यह जगत् जीवनप्रभु की अमृत संजीवनी भक्ति अपने आश्रित जनों को भी देना चाहिये। सो ऐसा ही किया कि वह प्रीति रीति शिष्यवर्ग के घर घर में प्रकाशित कर प्रभु के विलास में हुलास पूर्ण कर दिया। आपके सदन में तथा सेवकों के घरों में प्रभु विग्रह की झाँकी कर नेत्र सफल होते थे। सेवा आदिक कृत्यों में आप चातुरी की अवधि, और परम धीर थे; किसी प्रकार से किंचित् भी आतुरता आपसे नहीं होती थी। नाना प्रकार के भोगपदार्थ तथा राग-रागिनियों से यश-लीला-गान का आनन्द लिया करते थे॥
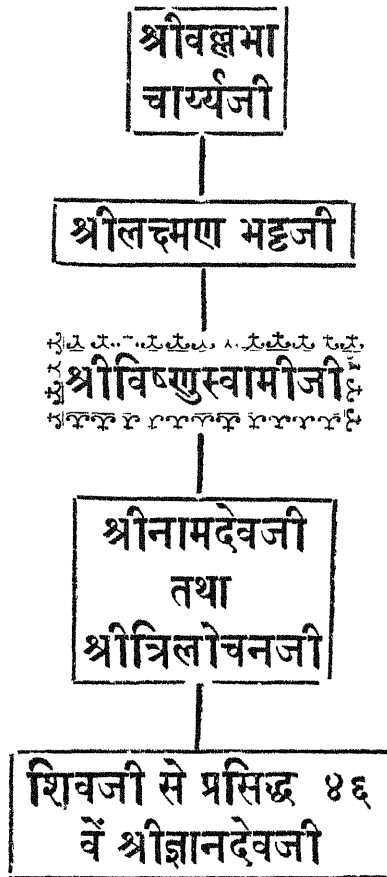
श्रीज्ञानदेवजी के छप्पय में जो श्री १०८ नाभा स्वामीजी ने "पृथु पद्धति परायण अभिराम रीतिवाले श्रीवल्लभजी" लिखा, सो उनका श्रीगोकुल में स्थान है। इनको जानके और सुयश सुनके मेरा मन इनमें रीझ गया है॥

(२३६) टीका। कवित्त। (६०७)

गोकुल के देखिबे कौं गयौ एक साधु सूधो, गोकुल मगन भयो रीति कछु न्यारियें। छोंकर[1] के वृक्ष पर बटुवा झुलाय दियो, कियो जाय दरशन, सुख भयो भारियें॥ देखै आइ नाहीं प्रभु, फेरि आप पास आयो चिंता सौं मलीन देखि, कही जा निहारियें। वैसेई सरूप केई, गई सुधि बोल्यौ आनि, लीजिये पिछानि कह्यो सेवा नित धारियें॥ १८८॥ (४४१)

१ "छोंकर"=क्षेमंकर, समी का वृक्ष॥

वार्त्तिक तिलक।

एक समय एक सरल चित्तवाले सीधे सन्त गोकुल तथा आपके देखने को गए, वहाँ की लोकोत्तर प्रेमोद्दीपक रीति देखके बड़े प्रसन्न हुए, यहाँ तक कि गोकुल अर्थात् मन सहित सब इन्द्रियाँ प्रेमानन्द में डूब गईं। श्रीशालग्राम ठाकुरजी का बटुवा क्षेमंकर के वृक्ष की डाल पर लटकाकर श्रीवल्लभाचार्य्यजी के दर्शन को गए। दर्शन करके और भी भारी सुख पाया। जब फिर आके देखा तो उस डाल में ठाकुर का बटुआ न पाया; तो आपके पास आके कह सुनाया। आपने सन्त को चिन्ता से मलान देखके कहा कि "फिर जाके वहीं देखिये।" अब आके देखें तो ठीक ठीक वैसे ही बहुत से ठाकुरबटुए झूल रहे हैं। साधुजी बेसुध होकर पुनः आपके पास आये, तब आपने कहा कि "अपने ठाकुरजी को पहिचान लो नित्य सेवा पूजा करते हैं और अपने ठाकुरजी का पहिचानते तक नहीं!"

(२३७) टीका। कवित्त। (६०६)

खुलिगईं आँखें अभिलाखें पहिचानि कीजै दीजैजू बताइ मोहिं, पाऊँ निज रूप है। कही जावो वाही ठौर देखौ प्रेम लेखौ हिये, लिये भाव सेवा करौ मारग अनूप है॥ देखि कै मगन भयो लयो उर धारि हरि नैन भरि आये जान्यो भक्ति को स्वरूप है। निसि दिन लग्यौ पग्यौ जग्यौ भाग पूरन हो पूरन चमतकार कृपा अनुरूप है॥ १८६॥ (४४०)

वार्त्तिक तिलक।

साधुजी को झलक गई कि यह परचो आपही का है; और चाहा कि पहिचानें; परन्तु पहिचान में न आए; तब आपसे विनय किया कि "कृपा करके बता दीजिये जिसमें मैं अपने प्रभु की मूर्त्ति को पाऊँ।" प्रार्थना सुन आपने समझाया कि "प्रेमभाव सहित सेवा किया करो; ठाकुर कहीं, और तुम कहीं; यह सप्रेम सेवा-भक्ति का मार्ग अति अनूप है।" यह कह, आज्ञा की कि "उसी ठाँव जाओ।" आके, अपने ठाकुरजी पाके, बड़े सुखी हुए; प्रेमजल आँखों में भर

आया, और भक्ति का स्वरूप जान गए, अपने को धन्य माना। और प्रभु के सेवा अनुराग में तत्पर हो पग गए; पूर्व के उनके पूर्ण भाग्य जगे, क्योंकि श्रीवल्लभाचार्य्यजी की कृपा से प्रभु की भक्ति का पूर्ण चमत्कार देख लिया॥

श्रीभक्तदासेभ्यो नमः। श्रीकलियुग के भक्तों की जय॥

(२३८) छप्पय। (६०५)

संत साखि जानैं सबै, प्रगट प्रेम कलियुग प्रधान॥ भक्तदास[1] इक भूप श्रवन सीताहरकीनौं। "मार मार" करिखड़्ग बाजि सागर मैं दीनौं॥ नरसिंह को अनुकरन होइ हिरनाकुस मार्‌यौ, वहै भयौ दशरत्थ, राम बिछुरत तन छार्‌यौ॥ कृष्ण दास बाँधे सुने, तिहि छन दीयो प्रान। संत साखि जानैं सबै, प्रगट प्रेम कलियुग प्रधान॥ ४९॥ (१६५)

वार्त्तिक तिलक।

इस बात को सब सज्जन जानते हैं, और सन्तजन इसके साक्षी हैं कि कलियुग में प्रगट प्रेम अर्थात् अनेक भक्तों का प्रेमभाव प्रत्यक्ष देखने में आया, उसमें ये तीन प्रेमावेशी भक्त परम प्रधान हुए। उनमें से (१) दक्षिण देश में श्रीसीतारामजी के दास्यरसावेशी भक्त-राजा "श्रीकुल-शेखरजी" हुए। इन्होंने श्रीरामायणजी में श्रीसीताहरण-कथा श्रवण करते ही महा प्रेमावेश में पगके, सेना सहित खड्ग खींच के "मारो मारो क्षुद्र रावण को" इस प्रकार वीरालाप करते घोड़े पर चढ़, दौड़ा के, घोड़े को सागर में डाल दिया। तब प्रेमगाहक प्रभु ने दरशन देके इन्हें लौटाया॥

"ढाई अक्षर 'प्रेम' का पढ़ा जो, पण्डित सोइ॥"

---

१ "भक्तदास"=श्रीराम-भक्तों का दास। "भक्तदास" रूढ़ि संज्ञा अर्थात् दूसरा नाम ही है। दास्यरसावेशी भक्त॥

(२) श्रीनृसिंह भगवान् का अनुकरण (लीला) में एक आवेशी भक्त नृसिंहजी के रूप बने। उन्होंने हिरण्यकशिपु बननेवाले को मार डाला; वे ही फिर लीला में श्रीदशरथ महाराजजी का रूप बने और श्रीसीताराम बिछोहते ही अपना शरीर त्याग दिया॥

(३) "श्रीकृष्णजी को श्रीयशोदाजी ने बाँधा" ऐसी कथा सुनते ही एक भक्ता "रतिवन्ती बाई" ने तन त्याग दिया॥

प्रगट है, सबको विदित है, साधु इसके साक्षी हैं कि कलियुग में "प्रेम प्रधान है;" कलियुग के प्रेमियों में तीन प्रधान आवेशी हैं, इनका प्रेम प्रत्यक्ष सच हो गया॥

(२३६) टीका। कवित्त। (६०४)

सन्त साखि जानैं कलिकाल मैं प्रगट प्रेम बड़ोई असत जाके भक्ति में अभाव है। हुतो एक भूप रामरूप ततपर महा, राम ही की लीला गुन सुनैं करि भाव है॥ बिप्र सों सुनावै सीता चोरी कौं न गावै हियो खरो भरि आवै, वह जानत सुभाव है। पर्‍यो द्विज दुखी निज सुवन पठाइ दियो जाने न सुनायो भरमायौ कियो घाव है॥१६०॥ (४३६)

वार्त्तिक तिलक।

इसके साक्षी साधु हैं कि कलिकाल में प्रेम ही प्रगट है क्योंकि इन तीनों का प्रेम प्रगट हो गया। उसको बड़ा अभागा और गया ही हुआ जानो कि जिसको इन सन्तों की कथा सुनके भी, श्रीभक्तिजी में अभाव अर्थात् अनादर ही बना रहे॥

---

(४०) श्रीभक्तदास कुलशेखरजी।

दक्षिण में एक राजा श्रीरामोपासक श्रीरामरूप में बड़े अनन्य दास्यरसावेशी प्रेमी भक्त थे; श्रीजानकीजीवनजी का परत्व उन्हें जैसा चाहिये वैसा था; बड़े भाव से श्रीअवधबिहारीजी की लीला श्रीवाल्मीकीय रामायण कथा सुना करते थे। इनका "कुलशेखर" नाम था; "भक्तदास" नाम से भी प्रसिद्ध थे। जो विप्र पण्डित

उनको कथा श्रवण कराते थे वे इनके अलौकिक प्रेम को जानते थे, क्योंकि एक समय आरण्यकाण्ड की खरदूषण की चढ़ाई की कथा सुनकर राजा आवेश में आ गया, आप घोड़े पर चढ़ हथियार बांध सेना साथ ले, शीघ्रतम पयान करने की आज्ञा दी। तो चतुर पण्डित ने देश-कालानुसार युक्ति से इनको लौटाया—इसलिए श्रीमहारानीजी की चोरी की कथा उन्होंने इन्हें कभी नहीं सुनाई ॥

एक दिन श्रीपण्डितजी दुखी हुए, इससे अपने पुत्र को कथा सुनाने के लिये भेजा। राजा का सुभाव नहीं जानने से उसने श्रीसीताहरण सुनाया; सुनते ही भक्त राजा को यह भ्रम आ गया कि यह इसी समय सत्य हो रहा है। इससे हृदय में घाव सरीखा दुःख हो गया। राजा ने लंका की ओर धावा किया ॥

(२४०) टीका। कवित्त। (६०३)

"मार मार" करि कर खडग निकासि लियौ, दियौ घोरौ सागरमैं, सो आवेस आयो है। "मारौं याहि काल दुष्ट रावन बिहाल करौं, पाँवन को देखौं सीता" भाव दृग छायो है॥ जानकारवन दोऊ दरशन दियौ आनि, बोले "विनप्रान कियौ, नीच फल पायो है"। सुनि सुख भयो, गयो शोक हृदै दारुन जो, रूप की निहारनि यों फेरि कै जिवायो है॥ १६१ ॥ (४३८)

वार्त्तिक तिलक।

खड्ग निकाल "मार मार" कहता, लङ्का की ओर घोड़ा दौड़ाया यहाँ तक आवेश आया कि समुद्र में भी घोड़ा डालही दिया; "दुष्ट रावण को व्यथित कर दूँगा, इसी क्षण मारडालूँगा; अपनी माता श्रीजानकीजी महारानी के चरणकमल के दरशन कर अभी ले आऊँगा।" इस प्रकार वीरवाक्य कहते हुए प्रेम में मग्न और नयनों में प्रेमाश्रु भरे हुए सागर में चले ही जा रहे थे—कि उसी क्षण, भक्तप्रणपालक प्रेमनिर्वाहक जनरक्षक श्रीजानकी श्रीजानकीरमणजी श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमदादि कपि सेना समेत पुष्पक विमानारूढ़, भक्त के समीप आकाश में प्रगट हो, दर्शन दे, इन्हें कृतकृत्य कर, बोले कि "हे प्रिय पुत्र! उस दुष्ट को हमने

सपरिवार मार डाला, उस नीच रावण ने अपनी करनी का फल पाया। तुम चिन्ता मत करो; देखो अपनी माता के दर्शन करो। हम अब अपनी राजधानी श्रीअयोध्याजी को जाते हैं, तुम भी घर जाओ॥"

श्रीवचनामृत सुनते ही इनके हृदय से दारुण शोक जाता रहा; दर्शन पाके अति कृतार्थ हुए। "मृतक शरीर प्राण जनु पाये॥" आप लौटके अपने घर आए॥

परमावेशी भक्त श्रीकुलशेखरजी की जय॥

"प्रेम कलियुग प्रधान॥"

"कलिकाल में प्रगट प्रेम॥"

दो० "कलियुगसम युग आन नहिं, जो नर करि बिश्वास।
गाइ राम गुणगण बिमल, भव तर बिनहि प्रयास॥"

चौपाई।

"कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुण्य होयँ, नहिं पापा॥"
"कलि केवल रघुपति गुण गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥"

दो० "सुनु व्यालारि, करालकलि, बिनुप्रयास निस्तार॥"
"कृतयुग, त्रेता, द्वापर, पूजा, मख अरु जोग।
जो गति होय सो कलि हरी, 'नाम' तें पावहिं लोग॥"
"रामनाम जपु जिय सदा सानुराग रे।
कलि न विराग जोग जाग तप त्याग रे॥"

चौपाई।

"रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जे जाननिहारा॥"
"मिलहिं न रघुपति बिनुअनुरागा। किये योग जप ज्ञान विरागा॥"
"कालधर्म नहिं व्यापहिं तेहीं। रघुपतिचरणप्रीति अति जेहीं॥"

और युगों से कलियुग में, कमलनयन श्रीहरि ने जीवों पर विशेष करुणा की है॥

---

(४१) श्रीलीलानुकरण भक्तजी।

(२४१) टीका। कवित्त। (६०२)

नीलाचल धाम तहाँ लीला अनुकर्न भयो, नरसिंह रूप धरि,

साँचै मारि डार्यो है। कोऊ कहैं द्वेस, कोऊ कहत आवेस, "तौ पै करौ दशरथ"; कियो; भाव पूरो पार्यो है॥ हुती एक बाई, कृष्णरूप सों लगाई मति, कथा में न आई, सुत सुनी, कह्यो धार्यो है। "बाँधे जसुमति" सुनि औरै भई गति, करि दई साँची रति, तन तज्यो, मानौ वार्यो है॥ १६२॥ (४३७)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय श्रीनीलाचल धाम में लीला होती थी। इन सत्य प्रेमावेशी भक्तजी को लोगों ने लीलाअनुकरण में "श्रीनृसिंह भगवान्" का स्वरूप बनाया; आपने आवेश में आके, जो हिरण्यकशिपु बना था उसको पेट फाड़ के मार ही डाला। सज्जन तो इसका कारण श्रीनृसिंहजी का सच्चा आवेश बताते थे, और दुर्जन लोग मार डालने का कारण द्वेष (वैरभाव) कहते थे॥

अन्ततः यह विचार हुआ कि "इनको श्रीरामलीला में श्रीदशरथजी महाराज का अनुकरण स्वरूप बनाओ और देखो कि आवेश होता है वा नहीं॥"

ऐसा ही किया गया; आपका भाव तो सच्चा था ही, पूरा पड़ा; अर्थात् आवेश में आकर श्रीप्राणनाथ रघुनाथ के वनयात्रा में बिछुरते ही, आपने शरीर को तृण सरीखा त्याग ही तो दिया॥

सबों ने जाना कि भावावेश पूरा था॥

---

(४२) श्रीरतिवन्तीजी।

श्रीरतिवन्तीजी नाम की एक बाईजी वात्सल्यनिष्ठा से श्रीकृष्णभगवान् में अत्यन्त प्रेम रखती थीं; भगवान् को अपना बेटा जानती और चाहती थीं; कथा सुनने का भी नित्य नियम था॥

एक दिवस आप कथा में नहीं गईं कि उस दिन ऊखलीबन्धन की कथा थी। बालक जो नित्य साथ जाया करता था, लौट कर उसने जब वही कथा आपको सुनाई, तो यह सुनते ही कि "परम

सुकुमार श्रीकृष्णचन्द्रजी को माता यशोदाजी ने ऊखल में बाँधा है" आप अति व्याकुल हुईं। तड़पने लगीं, और ही गति हो गई, अर्थात् सच्ची प्रीति से, कोमल अन्तःकरण में प्यारे का इतना दुःख न सहकर प्राण ही श्रीभक्तवत्सलजी महाराज पर न्योछावर कर दिये ॥

भाव इसको कहते हैं।

श्रीभक्ति महारानीजी की जय ! जय !! जय !!!

(२४२) छप्पय। (६०१)

प्रसाद अवज्ञा[1] जानिकैं, पाणि तज्यो एकै नृपति ॥ हौं कहा कहौं बनाइ बात, सबही जग जानै। करतैं "दौना"[2] भयो; स्याम[3] सौरभ[4], मनमानै ॥ 'छपन भोग' तैं पहिल खीचै[5] "करमा" कौ भावैं। सिलपिल्ले के कहत कुँअरि पै हरि चलि आवैं ॥ भक्तन हित सुत विष दियौ भूपनारि; प्रभु राखि पति। प्रसाद अवज्ञा जानिकैं पाणि तज्यौ एकै नृपति ॥ ५० ॥ (१६४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमहाप्रसाद की महिमा जाननेवाला श्रीपुरुषोत्तमपुरी का ऐसा राजा एक ही (अर्थात् अद्वितीय) हुआ, कि जिसने अपने दाहिने हाथ से श्रीप्रसाद की अवज्ञा जानके उसको कटवा ही डाला। मैं बातें बनाकर क्या कहूँ, सारा संसार जानता है कि उसी कटे हुए हाथ से "दौना" उत्पन्न हुआ है; कि जिसकी सुगन्ध श्रीपुरुषोत्तम प्रभु को बहुत ही भाती है ॥

जगन्नाथजी को छप्पन प्रकार के भोग से भी पहिले श्रीकर्माजी की खिचड़ी ही निवेदन होती है, वही बहुत अच्छी लगती है ॥

---

१ "अवज्ञा"=अपमान, आदर का अभाव। २ "दौना"=दमना, दौना, दँवना। ३ "स्याम"=भगवत्। ४ "सौरभ"=सुगंध। ५ "खीच"=खिचड़ी।

"सिलपिल्ले ! सिलपिल्ले !!" कहके पुकारने से दो कन्याओं के पास भगवान् का चले आना प्रसिद्ध ही है॥

भक्तों के लिये, अर्थात् सन्त को रखने के हेतु, तथा सन्तों की कुछ काल पर्य्यन्त सेवा पूजा के अर्थ रानियों ने अपने अपने पुत्र को विष ही दे दिये; श्रीप्रभु ने कृपाकरके उनकी लज्जा (पति) रख ली, तथा उन दोनों की अभिलाष को पूर्णकर पति को और पुत्रों को भी बचा लिया॥

(४३) प्रसादनिष्ठ पुरुषोत्तमपुर-नृपति ।

(२४३) टीका । कवित्त । (६००)

प्रसाद की अवज्ञा तें तज्यौ नृप कर एक करिकैं विवेक; सुनौ जैसें बात भई है। खेलै भूप चौपरि कौं, आयो प्रभु-भुक्त-शेष[1], दाहिने में पासे, बाएँ छुयौ, मति गई है॥ लै गए रिसायकैं फिराय, महा-दुख पाय, उठ्यो नरदेव, गृह गयो, सुनी नई है। लियो अनसन[2], "हाथ तजौं याही छन, तब साँचौ मेरौ पन," बोलि बिप्र पूछि लई है॥ १६३॥ (४३६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीजगन्नाथपुरी के महाराज ने श्रीभगवत्प्रसाद के अपमान के कारण अपना दाहिना हाथ ही कटवाडाला। यह वृत्तान्त जैसे हुआ सो सुनिये। राजा चौपड़ खेलने में निमग्न हो रहा था, उसी समय पण्डाजी श्रीप्रसाद लाए। दक्षिणकर में पासे थे, सो उसने बाएँ ही हाथ से श्रीप्रसाद का स्पर्शात्मक ग्रहण किया, ऐसी उसकी मति खेलके वश चली गई। इस असह्य अपमान से क्रोध में आके, पण्डा श्रीप्रसाद फेर ले गए॥

राजा उठकर घर आया, वहाँ उसको यह नई बात सुनने में आई कि पण्डा आज प्रसाद पाकशाला में नहीं दे गए! नरपति ने बड़ा दुख पाया, उसको अत्यन्त पश्चात्ताप और ग्लानि हुई; उसने अनसन व्रत लिया; और यह संकल्प किया कि "इसी क्षण इस हाथ को तज दूँ तब तो मेरा भक्तिपन सच्चा॥"

१ "प्रभु-भुक्त-शेष"=भगवत् प्रसाद। २ "अनसन"=उपवास॥

विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाकर महाराज ने इस बात की अनुमति भी ले ली कि "जिस अंग से भगवत् का अपराध हो जावे उसको त्याग करना भला है ॥"

(२४४) टीका । कवित्त । (५९९)

"काटै हाथ कौन मेरो ? रह्यो गहिमौन यातैं[१]; पूछत[२] सचिव कथा बिथा, सो बिचारियै । "आवै एक प्रेत, मो दिखाई नित देत निशि, डारिकैं झरोखा कर, शोर[३] करै भारियै" ॥ "सोऊँ ढिग आइ, रहौं आपुकों छिपाई, जब डारै[४] पानि आनि, तब ही सुकाटि डारियै" । कही नृप "भलै"; चौकी देत मैं घुमायो, भूप डार्यो उठि आइ छेद, न्यारो कियो, वारिय[५] ॥ १९४ ॥ (४३५)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा इस सोचविचार में था कि "मेरा हाथ कौन और क्योंकर काटै ?" और इसी से खिन्नचित्त चुप बैठा था ॥

मन्त्री ने पूछा कि महाराज ! "वार्त्ता क्या है ? आप व्यथा को प्रगट कीजिये, तो उसका प्रयत्न किया जावे" राजा ने उत्तर दिया कि "नित्य ही एक प्रेत आता है, रात्रि के समय मुझे देख पड़ता है, झरोखे में हाथ डालकर वह बड़ी भारी चिल्लाहट मचाया करता है ॥"

मन्त्री ने कहा कि "मैं आपके पर्यंक के पास आके सोऊँ और अपने तईं छिपाए रहूँ । वह प्रेत ज्यों ही आके झरोखे में हाथ डालै त्योंही काट डालूँ ।" राजा बोला "बहुत अच्छा ॥"

मन्त्री चौकी देरहा था, राजा अपने पर्यंक से उठ आया और छेद में हाथ डालकर उसने हाथ को घुमाया । वहीं, मन्त्री ने हाथ को धड़ से काटके अलग कर दिया । मानों राजा ने अपने कर को श्रीप्रभुपर यों न्योछावर किया ॥

(२४५) टीका । कवित्त । (५९८)

देखिकैं लजानौं, "कहा कियौं मैं अजानौं" ! नृप कही "प्रेत

---

१ "यातैं"=इससे, इसहेतु । २ "पूछत कथा, बिथा"=वार्ता तथा व्यथा का विवरण पूछा । ३ "शोर"=,,, कोलाहल, चिल्लाहट । ४ "डारै पानि आनि"=आके हाथ डाले । ५ "वारियै"=न्यौछावर कर दिया ॥

मानौं यही, हरि सों बिगारियै[1]"। कही जगन्नाथदेव, "लै प्रसाद जावौ उहाँ, ल्यावौ हाथ, बोवौ बाग, सोई उर धारियै" ॥ चले तहाँ धाइ, भूप आगे मिल्यो आइ, हाथ निकस्यो, लगाइ हियैं, भयौ सुख भारियै। [2]ल्याए कर फूल, ताके भए फूल "दौना" के, जु नितहीं चढ़त अंग, गन्ध हरिप्यारियै ॥ १९५ ॥ (४३४)

वार्त्तिक तिलक।

मन्त्री ने जब देखा कि यह मैंने राजा ही का हाथ काट डाला, तब वह बड़ा ही लज्जित हुआ, और पछताने लगा कि "मुझ अनजान ने यह क्या किया ?"

तब महाराज ने कहा कि "इसी हाथ को प्रेत मानो क्योंकि इसने हरि का अपराध किया है। तुमने तो बहुत अच्छा किया ॥"

श्लोक—"प्रसादं जगदीशस्य अन्नपानादिकं च यत्।
ब्रह्मवन्निर्विकारं हि यथा विष्णुस्तथैव तत् ॥ १ ॥"

उसी क्षण श्रीजगन्नाथजी ने पण्डों को आज्ञा की कि "प्रसाद लेके वहाँ जाव, राजा को दो, और कटा हुआ हाथ लाके वाटिका में बो दो, (भूमि में गाड़ दो) उसी से जो दौना होगा मैं उसी दौना को हृदय में धारण किया करूँगा ॥"

पण्डा लोग उधर दौड़े; राजा उताउल हो आगे आ, उनकी अगवानी कर उनसे सादर सविनय मिला; प्रसाद के लिये प्रेम से दोनों ही हाथ उठाए (हाथ बढ़ाये) तो दाहिना हाथ भी निकल आया अँगुलियाँ इत्यादि सब पूरी पूरी; अब दक्षिण हस्त पहिले से भी अति सुन्दर हो आया ॥

चौपाई।

"गहत प्रसाद हाथ जमि आयो। सकल पुरी 'जय जय' रव छायो ॥"

प्रसाद को हृदय में लगाया, परस्पर मिले, भारी सुख और आनन्द हुआ। हर्ष से फूलके फूलरूपी कर को लाए, वाटिका में गाड़ दिया; वही सुगंधित पत्र "दौना" हुआ, कि जो भगवान् के

१ "बिगारियै"=बिगाड़ किया है, अपराध किया है। २ "ल्याएकरफूल"=कररूपी फूल को लाए; वा हर्ष से फूलकर कर को लाए.॥

अंग पर नित्य चढ़ाया जाता है, और उसकी सुगंध सर्कार को अति प्रिय है; अब तक प्रभाव प्रसिद्ध है। प्रभु की कृपालुता की जय ॥

(४४) श्रीकर्माबाईजी ।

(२४६) टीका । कवित्त । (५९७)

हुती एक बाई, ताको "करमा" सुनाम जानि, बिना रीति भाँति भोग खिचरी लगावही । जगन्नाथदेव आपु भोजन करत नीकें, जिते लगें भोग तामें यह अति भावही ॥ गयो तहाँ साधु, मानि 'बड़ो अपराध करै' भरै बहु स्वांस, सदाचार लै सिखावही। भई यों अवार, देखैं खोलिकैं किवार, जोपै जूठनि लगी है मुख धोए बिनु आवहीं ॥ १९६ ॥ (४३३)

वार्तिक तिलक ।

श्रीकर्माजी नामक एक वात्सल्यरस की बड़ी प्रेमिनी बाईजी श्रीपुरुषोत्तमपुरी ही में रहती थीं, सो बड़े भोर नित्य श्रीजगन्नाथजी को खिचड़ी भोग लगाया करती थीं, परंतु किसी रीति भाँति सदाचार पर ध्यान न देके विना स्नान चौका इत्यादि के ही खिचड़ी कर बड़ी ही प्रीति से अर्पण किया करतीं । इसका ध्यान तो अवश्य रखतीं कि अबेर न हो और कच्ची वा अलोनी न रहे ॥

चौपाई ।

"साँची प्रीति करै प्रभु माहीं । राति दिवस बिसरै सुधि नाहीं ॥
कब मैं रचि रचि खिचरि बनाऊँ । कब लालहिं मैं भोग लगाऊँ ॥"

श्रीजगदीश भगवान् सुन्दर बालकरूप से नित्य प्रातःकाल आपही जाके बड़ी प्रसन्नता से भोजन कर आते थे । जितने विविध पदार्थ भोग लगा करते थे, तिन सबमें प्रभु को यह अति ही नीकी लगती थी, सबसे पहिले इसी को पाया करते थे ॥

एक दिन वहाँ एक सन्त गए; उन्होंने सब देखा; अपने जी में माना (विचार किया) कि "यह बड़ा भारी अपराध करती है," आप श्वास भरके बोले, और आपने श्रीबाईजी को बहुत प्रकार से साम्प्रदायिक आचार-विचार का उपदेश किया ॥

बाईजी डरीं; और बताई हुई रीति भाँति से खिचड़ी की; तथा सदाचार-अनुकूल उसको अर्पण किया; इस कारण बड़ा विलम्ब और अतिकाल हुआ ही॥

यहाँ पंडों ने जो श्रीजगन्नाथजी के मन्दिर के पट खोले तो श्रीमुख में खिचड़ी लगी हुई दरशन पाए। क्योंकि अबेर होने के कारण शीघ्रता से प्रभु विना श्रीमुख धोलाए ही बाईजी के यहाँ से चले आए॥

(२४७) टीका। कवित्त। (५६६)

पूछी "प्रभु! भयो कहा? कहिये प्रगट खोलि, बोलिहू न आवै हमैं, देखि नई रीति है"। "करमा सुनाम एक खिचरी खवाव मोहिं, मैं हूँ नित पाऊँ जाइ, जानि साँची प्रीति है॥ गयो मेरो सन्त, रीति भाँति सो सिखाइ आयो; मत[1] मो अनन्त, बिनु जाने यों अनीति है"। कही वही साधु सों "जु! साधि[2] आवौ वही बात"; जाइकैं सिखाई, हिय आई, बड़ी भीति है॥ १६७॥ (४३२)

वार्त्तिक तिलक।

पंडों ने स्तुति विनय करके पूछा कि "प्रभो! हम सबके मुँह से भय के मारे बात नहीं कहते बनती है, आज यह नई रीति देखने में आरही है, वार्ता क्या है? सो कृपाकर खोलके प्रगट बता दीजिये॥"

आज्ञा हुई कि "करमा नामक एक बाई है, सो नित्य ही मुझको खिचड़ी खिलाती है, मैं भी उसकी सच्ची प्रीति लखके नित्य जाके पा आया करता हूँ। उसके यहाँ कल एक मेरे सन्त गए सो वे उसको सदाचार रीति भाँति सिखा आए हैं, इसीसे विलम्ब हुआ सो त्वरा (जल्दी) से मैं विना मुख धुलाए हुए ही चला आया हूँ; वह साधु यह नहीं जानते कि मेरी अर्चापूजा की रीति इदमित्थं नहीं वरंच नेमियों तथा प्रेमियों के पथ इतने विविध प्रकार के हैं कि जिनका अन्त कोई नहीं पा

१ "मत मो अनन्त"=मेरे प्रेमियों तथा भक्तों के भजन सेवा के मत और मार्ग अनेक तथा अनन्त हैं, इदमित्थं नहीं। २ "साधि आवौ वही बात"=उसी बात को ठीक-ठीक कर आवो॥

सकता, और इस रहस्य को विना जाने ही अन्यथा कुछ कहना अनीति है॥"

"जाननिहारे जानहीं, बड़ो नेमते प्रेम॥"

पण्डों ने उस सन्त से वही बात समझाकर कही कि "महात्माजी! आप जाके श्रीकर्माबाईजी से फिर कह आइये 'कि मैंने जो झंझट बताए थे उन्हें आप जाने दीजिये, और जैसे प्रथम आप प्रभात ही शीघ्रता से भोग अर्पण किया करती थीं उसी सरल भाव से निःशंक आप अपनी सी कीजिये, श्रीभक्तवत्सल भावग्राहक सर्कार इसी में प्रसन्न हैं'॥"

वे साधुजी डर गए और वेगि जाके वैसा ही ठीकठाक कर आए॥

प्रभु आज्ञा से अब तक सबसे पहिले ही श्रीकर्माजी की खिचड़ी भोग लगाई जाती है॥

भावभक्ति, सरलता और सच्ची प्रीति की जय!!

चौपाई।

"नहिं विद्या, कुल, जाति अचारा। रामहिं केवल प्रेम पियारा॥"

(४५) (४६) सिलपिल्ले भक्ता उभय बाई।

(२४८) टीका। कवित्त। (५९५)

"सिलपिल्ले[1] भक्ता उभै[2] बाई," सोई कथा सुनौ, एक 'नृपसुता' एक 'सुता जिमींदार[3] की'। आए गुरु घर, देखि सेवा, ढिग बैठी जाइ, कही ललचाइ "पूजा कीजै सुकुमार[4] की"॥ दियो 'सिलाटूक' लैकै, नाम कहि दियो वही, कीजिये लगाइ मन मति भवपार की। करत करत अनुराग बढ़ि-गयो भारी, बड़ी यै विचित्र रीति यही सोभासार[5] की॥१९८॥ (४३१)

वार्त्तिक तिलक।

एक राजकन्या और एक भूम्यधिकारीसुता सिलपिल्ले-भगवान्

---

[1] "पिल्ले"=पिल्ला, लड़का, बेटा ("भखर" सरगुजा ओर की बोली) "सिलपिल्ले"="सिलाटूक"=पत्थर के टुकड़े। [2] "उभय"=२ दो। [3] "ज़मींदार"=(زمیندار) जिमीदार भूम्यधिकारी। [4] "सुकुमार"=भगवत्। [5] "शोभासार"=भगवत्।

की भक्ता दोनों बाइयों की अपूर्व कथा सुनिये । ये दोनों एक साथ ही रहती खेलती थीं ॥

एक समय राजा के गुरु महाराज आए; उनको श्रीशालग्रामजी की सेवा करते देख, ये दोनों पास जा बैठीं; वरंच हरिकृपा से पूर्वजन्म के भक्ति-संस्कार-वश सेवा पूजा को ललचाईं, और गुरुजी से इन दोनों ने माँगा कि "महाराज ! श्रीठाकुरजी की मूर्त्ति हमको भी दीजिये; हम शोभासार सुकुमार प्रभु की पूजा सेवा करेंगी ॥"

उन्होंने बालिका जान दोनों को एक एक टुकड़ा पत्थर देके कह दिया कि इन ठाकुरजी का नाम "सिलपिल्ले" है, मति और मन लगा के प्रीति से इनकी पूजा किया करो तथा यह प्रतीति रक्खो कि "ये ही हमको भवसागर से पार उतार देंगे ॥"

वे बड़भागिनी सेवा पूजा करने लगीं; करते करते उनकी प्रीति प्रतीति भगवत्मूर्त्ति में अत्यन्त बढ़ गई, उन सिलपिल्लों में ही श्रीसुकुमार शोभासारजी के रूप अनूप उन दोनों को झलक गए।

युगलसरकार की कृपा की यह बड़ी अनोखी रीति है कि ☞ "करते करते नकल के, सही असल ह्वै जाय ॥" "साँचा जग में बिरलाकोय। झुठझुठ खेलै साँचा होय ॥

भगवत् के सच्चे प्रेमियों के व्यवहार तथा आचरण का सच्चे मन से नेम से अनुकरण करते करते भगवत्कृपा से लोग वास्तव में हरिभक्त अवश्य हो ही जाते हैं; यह बात विशेष करके जान के मनस्थ रखने की है ॥

(२४६) टीका । कवित्त । (५६४)

पाछिले कवित्त माँझ दुहुँन की एक रीति, अब सुनौ न्यारी न्यारी नीके मन दीजियै। "जिमींदारसुता" ताके भए[1] उभै भाई, रहैं आपुस में बैर, गाँव[2] मार्‌यो, सब छीजियै[3] ॥ तामैं गई सेवा, इन बड़ोई कलेस कियौ, जियौ नाहिं जात, खान पान कैसें कीजियै। रहे समुझाय, याहि कछु

१ "भए उभै भाई"=दो भाई थे, दोनों भाई अलग हुए। २ "गाँव मार्‌यो"=गाँव में (इसके घर पर) डाकाडारा वा छापा मारा, लूट लिया। ३ "छीजियै"=क्षय हुआ, जाता रहा, नाश हुआ। "सेवा"=पूजने की मूर्त्ति ॥

न सुहाय, तब कही "जायल्यावौ तेरे दोऊ सम धीजियै" ॥१६६॥ (४३०)

वार्त्तिक तिलक।

यहाँ तक तो दोनों लड़कियों की एक ही रीति की वार्ता हुई; अब आगे मन लगा के उनके सुचरित्र अलग अलग सुनिये॥

---

(१) भूम्यधिकारीसुता (ज़मींदार की लड़की)।

इसके दोनों भाई दो गाँव में रहते थे और उनमें परस्पर अत्यन्त ही विरोध था; वह दूसरा भाई इस पर छापा मार के गाँव और घर को लूट ले गया। सब कुछ गया उसमें उस कन्या की सेवा-पिटारी भी लुट गई। इस लड़की को बड़ा ही क्लेश प्राप्त हुआ; प्राण ही भार हो गए जीवन ही कठिन अप्रिय था तो अन्न-जल कैसे अच्छा लगता॥

दो० "धवल महल, शय्या धवल, धवल शरद ऋतु रैन।
एक राम बिनु व्यर्थ सब, जिमि बिनु पुतरी नैन॥"

सब लोग समझाते २ हार गए, पर इसको कुछ भी नहीं सुहाता था। तब सबने कहा कि "तुझको तो दोनों भाई समान ही हैं, तू उस भाई के पास जाके स्वभावतः अपनी सेवा की मूर्त्ति माँग ला॥"

दो० "उमा, जे रघुपति चरणरत, विगत काम मद क्रोध।
निज-प्रभु-मय देखहिं जगत, कासन करहिं विरोध?॥"

(२५०) टीका। कवित्त। (५६३)

गई वाही गाँव जहाँ दूसरो जू भाई, रहे बैठ्यो हो अथाई माँझ, कही वही बात है। "लेवौ जू पिछानि तहँ बैठे एक ठौर प्रभु;" बोलि-उठ्यो कोऊ "बोलि लीजै प्रीति गात है"॥ भई आँखि राती, लागी फाटिबे कौं छाती, सो पुकारी सुर आरत सौं, मानो तन पात है। हिये आइ लागे, सब दुख दूर भागे, कोऊ बड़े भाग जागे, घर आई, न समात है॥ २००॥ (४२६)

---

१ "सम धीजियै"=तुल्य प्रिय समझिये। २ "अथाई"=बैठक। ३ "राती"=लाल, अरुण। ४ "सुर आरत"=आरत के वचन का स्वर। ५ "न समात"=प्रहर्ष से फूली नहीं समाती॥

वार्त्तिक तिलक।

वह भक्तिवती, जिस गाँव में दूसरा भाई रहता था वहाँ गई कि जहाँ वह अपनी अथाई में बैठा हुआ था। इसने वही बात कही, अर्थात् "मेरे तो जैसे वह भाई तैसे ही तुम, भाई भाई में चाहे जैसी हो पर मुझपर तो आप दोनों ही की समान कृपा चाहिये, मैं अपने ठाकुर के बिन मृतक-प्राय हो रही हूँ। मेरी सेवा की मूर्त्ति देके मुझको प्राणदान दीजिये।" उसने कहा कि "जा, वहाँ सब ठाकुर एक ही ठौर विराजते हैं, अपना पहिचान के ले ले।" यह कन्या बड़ी प्रसन्न हुई; परन्तु उसके भाई के पास बैठे हुए लोगों में से एक विमुख बोलउठा कि "यदि ऐसी ही प्रीति तुम्हारे हृदय में है तो तुम यहीं से अपने भगवान् को बुला लो॥"

उस दुष्ट की ऐसी बात सुन यह विरह से व्याकुल होगई, आँखें सजल तथा लाल होआईं, छाती फटने लगी, अति आरत दशा में वैसे ही स्वर से इसने अपने "सिलपिल्ले" भगवान् को पुकारा, ऐसी विकल होके मानो अभी शरीरपात हुआ ही चाहता है॥

करुणानिधान प्रभु उसकी वह टेर सुनते ही पहुँचकर उस बड़भागिनि अनुरागिनि की छाती में आ लपटे॥

चौपाई।

"शुद्धभाव कन्याकर जाना। आरत वचन सुनत भगवाना॥
प्रेमते प्रगट भए जगजाना। हरिव्यापक सर्वत्र समाना॥"

"जय जय" की ध्वनि छा गई॥

उसके सब दुःख भागे; आनन्द से अपने ग्राम में आई यहाँ भी "जय जय" ध्वनि होने लगी। इसके परमानन्द का कहना ही क्या। "मृतक-शरीर प्राण जनु भेंटे॥"

---

(२) नृपसुता।

(२५१) टीका। कवित्त। (५६२)

सुनौ "नृपसुता" बात, भक्ति गात गात पगी, भगी सब बिषैवृत्ति,

सेवा अनुरागी है। ब्याही ही बिमुख घर, आयो लैन वहै बर, खरी अरबरी कोऊ चित चिन्ता लागी है॥ करि दई संग, भरी अपने ही रंग, चली अलीहू न कोई एक वही जासौं रागी है। आयो ढिग पति, बोलि कियो चाहै रति, वाकी औरै भई गति, "मति आवौ, बिथा पागी है"॥ २०१॥ (४२८)

वार्त्तिक तिलक।

अब उस दूसरी बाई राज-कन्या की वार्त्ता सुनिये। जिसके मन तथा अङ्ग अङ्ग में भक्ति का विचित्र रङ्ग छा गया था; सब विषयों से उसको तीव्र वैराग्य हो गया और उसके मन की वृत्ति श्रीयुगलसर्कार के अनुराग में भलीभाँति लग गई। प्रभुकृपा की जय॥

उसका विवाह एक हरिविमुख के घर हुआ, सो वह वर इस अपनी स्त्री को ले जाने के लिये आया। इससे यह अतिही चिन्तित हो भारी घबराहट में पड़ गई। उसके साथ वह बिदा करदी गई, कोई सखी भी संग नहीं, वह अकेली अपने ही रंग में रँगी हुई चली। एक संग थे तो श्रीप्रभुप्राणनाथ ही थे कि जिनके प्रेम में वह निमग्न थी; अपनी डोली ही में श्रीठाकुरजी की पिटारी भी सादर रख ली॥

मार्ग ही में, जब उसके पास जाकर पति ने उसके साथ वार्त्तालाप तथा प्रीति व्यवहार चाहा, तो वह अत्यन्त घबड़ाके बोली कि तुम "मेरे पास न आओ, मैं बड़ी ही व्यथित हूँ॥"

(२५२) टीका। कवित्त। (५९१)

"कौन वह बिथा? ताकौ कीजियै जतन बेगि, बड़ो उदबेग, नेकु बोलि सुख दीजियै"। बोलिबो जौं चाहौ, तौ पै चाहौ हरिभक्ति हिये, बिन हरिभक्ति मेरो अंग जिन छीजियै"॥ आयो रोष भारी अब मन मैं बिचारी, "वा पिटारी मैं जु कछु, सोई लैकै न्यारो कीजियै"। करी वही बात, मूसि जलमाँझ डारि दई, नई भई ज्वाला, जियो जात नहीं, खीजियै॥ २०२॥ (४२७)

---

१ "खरीअरबरी"=शोक से अत्यन्त घबड़ाई। २ "मूसि"=चोरी करके, चुराके

वार्त्तिक तिलक।

पति ने पूछा कि "तुमको व्यथा कौन सी है? बताओ कि उसका प्रयत्न शीघ्र ही किया जावे; मुझे बड़ा ही उद्वेग है, तनक अपने मधुर वचन से मुझको सुखी करो॥" इन्होंने उत्तर दिया कि "यदि बोलना बुलाना चाहो तो श्रीभगवान् की भक्ति स्वीकार करो, नहीं तो मेरा अंग स्पर्श मत करो।" उसको क्रोध आ गया। और यह विचार करके कि "इस पिटारी में जो कुछ है वही बाधक है, उसी को चोरी से नदी में डाल देना चाहिये" उस दुष्ट ने वैसा ही किया; अर्थात् पिटारी छिपाके नदी में डाल ही दी। अपनी सेवा-मूर्त्ति न देखकर इसके हृदय में नई दाह उत्पन्न हुई, क्रोध तथा अतिशय व्यथा से जलने लगी॥

(२५१) टीका। कवित्त। (५९०)

तज्यो जल अन्न; अब चाहत प्रसन्न कियो, होत क्यों प्रसन्न जाको सरबस लियो है। पहुँचे भवन आइ, दई सो जताइ * बात, गात अति छीन देखि, "कहा हठ कियो है?"॥ सासु समुझावै, कछु हाथसों खवावै, याकों बोलिहू न भावै, तब धरकत हियो है। "कहै सोई करैं, अब पाँय तेरे परैं हम," बोली "जब वेई आवैं तौही जात जियो है"॥ २०३॥ (४२६)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभु की विरहिनि ने अन्नजल खाना पीना तज दिया। अब उस विमुख राजकुमार ने इसको प्रसन्न करना चाहा, बहुत प्रयत्न किये, परन्तु जिसका सर्वस्व ही उसने हर लिया सो भला कैसे प्रसन्न होती? जब वे सब घर आ पहुँचे तब पति ने सारी वार्त्ता कह सुनाई। सासु तथा और स्त्रियाँ अनेक प्रकार से समझा थकीं; और उसको झटक गई हुई देखकर पूछने लगीं कि "अपने इस हठ का परिणाम तो बता" सासु अपने हाथ से उसको खिलाया चाहती थी; पर इसको किसी की कोई बात भली नहीं लगती थी, उसका जी धड़कता था॥

* पाठान्तर "जनाइ"॥

सासु कहने लगी कि "हम अब तेरे पाँव पड़ती हैं जो कहे सोई करें।" इसने उत्तर दिया कि "जब वेही (प्राणनाथ श्रीठाकुरजीही) मिलें तभी जी सकती हूँ॥"

(२५४) टीका। कवित्त। (५८६)

आए वाही ठौर, भौंर[1] आई, तनु भूमि गिस्यो, ढस्यो जल नैन, सुर आरति पुकारी है। भक्तिबस श्याम जैसो काम बस कामी नर, धाइ लागे छाती सो जु संग सो पिटारी है॥ देखि पति सासु आदि, जगत बिबाद मिस्यो "बादही जनम गयो, नेकु न सँभारी है"। किये सब भक्त, हरि साधु सेवा माँझ पगे, जगे कोऊ भाग घर बधू यों पधारी है॥ २०४॥ (४२५)

वार्त्तिक तिलक।

तब वे उसी नदी के तीर उसी ठिकाने आए कि जहाँ पति ने श्रीसेवा की पिटारी जल में फेंक दी थी। उस स्थान को देख के जैसा इसका हृदय हो आया उसका अनुकथन विरहरूपी अग्नि से संतप्त प्रेमी हो सो कर सकता है। यह चक्कर खाकर धरती पर गिर पड़ी, आँखों से विरह के अश्रु की धारा बहने लगी, बड़े आरत स्वर से अपने प्राणपति भगवान् सिलपिल्ले को पुकार उठी—

दो० "मिलहु मोहिं तुम आइ प्रभु, दयासिन्धु! भगवान्!
दर्शन बिनु तव दासि अब, तजन चहति है प्रान॥"

करुणाकर श्रीश्याम तो भक्तिप्रिय ऐसे हैं ही कि "कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम," आप उसकी वह आरत टेर सुनते ही अपनी बिरहिनि वियोगिनि की छाती में पिटारी (सम्पुट) समेत आ लिपटे॥

दो० "सुनतहि अति आरत बचन, करुणानिधि अतुराइ।
निकसि सरित ते गोद तिहिं, आ लिपटे हरि धाइ॥"

अब कन्या के आनन्द की छाया ऐसी प्रतीति होती है कि—

१ "भौंर"=घुमरी, चक्कर॥

चौपाई ।

"परम रंक जनु पारस पावा । अन्धहि लोचन लाभ सुहावा ॥"

सासु पति आदि सब यह भक्तिप्रभाव देखके दंग हो गये । संसार के व्यर्थ विवाद से सबका मन हटा, पछताने लगे कि "श्रीहरिभक्ति बिन जन्म गये, कुछ सँभाला नहीं, हमारे भाग जागे कि ऐसी बधू घर में आ बिराजी ॥"

निदान, इसने घर भर को भगवद्भक्त बना दिया । भगवन्त तथा सन्तों की सेवा करके वे सब भवपार हो गए ॥

"श्रीसिलपिल्ले" नाम भगवत् का किस वेद में किस नामावली वा "सहस्रनाम" में है ? उनका किस गंडकी नदी से प्रादुर्भाव हुआ था ? और क्या चिह्नचक्र उनमें थे ? वे कब श्रीनारदपंचरात्र-रीति इत्यादि से संस्कृत हुए थे ? पर शुद्ध अन्तःकरण के सत्य प्रेम ही ने यह चमत्कार दिखाया । तब, वस्तुतः श्रीशालग्रामजी पर नेम प्रेम से जो श्रीतुलसीदल चढ़ाते हैं, अर्चा मूर्त्ति की विधिवत् सप्रेम पूजा करते हैं, उनके भाग्य का कहना ही क्या है ? ॥

(४७ । ४८) भक्तों के हित जिन्होंने सुतों को विष दिया वे दो बाई ।

(२५५) टीका । कवित्त । (५८८)

भक्तन के हित सुत विष दियौ उभै बाई कथा सरसाई, बात खोलिकै बताइयै[1] । भयो एक भूप ताके भक्त हूँ अनेक आवैं, आयो भक्तभूप[2], तासों लगन लगाइयै[3] ॥ तिनहीं चलत ऐपै चलन न देत राजा, बितयो बरष मास कहै "भोर जाइयै" । गई आस टूटि, तन छूटिबे की रीति भई, लई बात पूछि रानी, सबै लै जनाइयै ॥ २०५ ॥ (४२४)

१ "बताइयै"=बताई जाती है । २ "भक्तभूप"=सन्तशिरोमणि, भक्तराज । ३ "लगन लगाइयै"=प्रेम लगन लगाया था ॥

सासु कहने लगी कि "हम अब तेरे पाँव पड़ती हैं जो कहे सोई करैं।" इसने उत्तर दिया कि "जब वेही (प्राणनाथ श्रीठाकुरजीही) मिलैं तभी जी सकती हूँ॥"

(२५४) टीका। कवित्त। (५८६)

आए वाही ठौर, भौंर[1] आई, तनु भूमि गिस्यो, ढस्यो जल नैन, सुर आरति पुकारी है। भक्तिबस श्याम जैसो काम बस कामी नर, धाइ लागे छाती सो जु संग सो पिटारी है॥ देखि पति सासु आदि, जगत बिबाद मिट्यो "बादही जनम गयो, नेकु न सँभारी है"। किये सब भक्त, हरि साधु सेवा माँझ पगे, जगे कोऊ भाग घर बधू यों पधारी है॥ २०४ ॥ (४२५)

वार्त्तिक तिलक।

तब वे उसी नदी के तीर उसी ठिकाने आए कि जहाँ पति ने श्रीसेवा की पिटारी जल में फेंक दी थी। उस स्थान को देख के जैसा इसका हृदय हो आया उसका अनुकथन विरहरूपी अग्नि से संतप्त प्रेमी हो सो कर सकता है। यह चक्कर खाकर धरती पर गिर पड़ी, आँखों से विरह के अश्रु की धारा बहने लगी, बड़े आरत स्वर से अपने प्राणपति भगवान् सिलपिल्ले को पुकार उठी—

दो॰ "मिलहु मोहिं तुम आइ प्रभु, दयासिन्धु! भगवान्!
दर्शन बिनु तव दासि अब, तजन चहति है प्रान॥"

करुणाकर श्रीश्याम तो भक्तिप्रिय ऐसे हैं ही कि "कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम," आप उसकी वह आरत टेर सुनते ही अपनी बिरहिनि वियोगिनि की छाती में पिटारी (सम्पुट) समेत आ लिपटे॥

दो॰ "सुनतहि अति आरत बचन, करुणानिधि अतुराइ।
निकसि सरित ते गोद तिहिं, आ लिपटे हरि धाइ॥"

अब कन्या के आनन्द की छाया ऐसी प्रतीति होती है कि—

१ "भौंर"=घुमरी, चक्कर॥

चौपाई।

"परम रंक जनु पारस पावा। अन्धहि लोचन लाभ सुहावा॥"

सासु पति आदि सब यह भक्तिप्रभाव देखके दंग हो गये। संसार के व्यर्थ विवाद से सबका मन हटा, पछताने लगे कि "श्रीहरिभक्ति बिन जन्म गये, कुछ सँभाला नहीं, हमारे भाग जागे कि ऐसी बधू घर में आ बिराजी॥"

निदान, इसने घर भर को भगवद्भक्त बना दिया। भगवन्त तथा सन्तों की सेवा करके वे सब भवपार हो गए॥

"श्रीसिलपिल्ले" नाम भगवत् का किस वेद में किस नामावली वा "सहस्रनाम" में है? उनका किस गंडकी नदी से प्रादुर्भाव हुआ था? और क्या चिह्नचक्र उनमें थे? वे कब श्रीनारदपंचरात्र-रीति इत्यादि से संस्कृत हुए थे? पर शुद्ध अन्तःकरण के सत्य प्रेम ही ने यह चमत्कार दिखाया। तब, वस्तुतः श्रीशालग्रामजी पर नेम प्रेम से जो श्रीतुलसीदल चढ़ाते हैं, अर्चा मूर्त्ति की विधिवत् सप्रेम पूजा करते हैं, उनके भाग्य का कहना ही क्या है?॥

(४७।४८) भक्तों के हित जिन्होंने सुतों को विष दिया वे दो बाई।

(२५५) टीका। कवित्त। (५८८)

भक्तन के हित सुत विष दियौ उभै बाई कथा सरसाई, बात खोलिकै बताइयै[1]। भयो एक भूप ताके भक्त हूँ अनेक आवैं, आयो भक्तभूप[2], तासौं लगन लगाइयै[3]॥ तिनहीं चलत ऐपै चलन न देत राजा, बितयो बरष मास कहै "भोर जाइयै"। गई आस टूटि, तन छूटिबे की रीति भई, लई बात पूछि रानी, सबै लै जनाइयै॥ २०५॥ (४२४)

---

१ "बताइयै"=बताई जाती है। २ "भक्तभूप"=सन्तशिरोमणि, भक्तराज। ३ "लगन लगाइयै"=प्रेम लगन लगाया था॥

वार्त्तिक तिलक।

दो बाइयों ने भक्तों (सन्तों) के लिये, अपने २ पुत्र को विष ही दे दिया; उनकी कथा अति सरस है, सो स्पष्ट करके लिखी जाती है—

(१) एक बाईजी।

एक भक्त राजा था, उसके यहाँ सदैव अनेक साधु कृपाकर आया करते थे। एक समय एक बड़े महात्मा भक्तभूप कई मूर्ति संत साथ लिए आए; उनमें राजा का विशेष अनुराग हो गया। महात्माजी नित्य वहाँ से अन्यत्र चला चाहते थे, परंतु राजा नहीं जाने देता और कहा करता कि "महाराज आज रह जाइये, कल भोर जाइयेगा।" यों ही एक वर्ष और एक महीना बीत गया। तब उन संत ने अवश्य प्रभात जाने का निश्चय ही कर दिया और अब उनके विराजने की आशा टूट ही गई, तब राजा ऐसा व्याकुल हुआ कि उस सन्त बिन उसके जीने की संभावना नहीं रही। रानी ने राजा से पूछकर सब मर्म जान लिया॥

(१५६) टीका। कवित्त। (५८७)

दियो सुत बिष रानी, जानी "नृप जीवै नाहिं, सन्त हैं स्वतन्त्र, सो इन्हैंहि कैसैं राखियै"। भये बिन भोर, बधू शोर करि रोय उठी भोयंगई[1] रावले[2] मैं, सुनी साधु भाषियै॥ खोलिडारी कटिपट, भवन प्रवेश कियो, लियो देखि बालककौं नील तनु साषियै। पूछ्यो भूपतिया[3]सौं जू "साँच[4] कहि कियो कहा ?" कही "तुम चल्यो चाहो नैन अभिलाषियै"॥ २०६॥ (४२३)

वार्त्तिक तिलक।

राजा का जीना असंभव जान, रानी सोच विचार करने लगी; तब अंतर्यामी प्रभु ने एक अनूठा उपाय उसके मन में फुरवाया कि "उसने अपने पुत्र को विष दे दिया"; क्योंकि "साधु तो स्वतन्त्र हैं ही इनको और किस प्रकार से अटका रक्खूँ" कुछ रात्रि रहते ही

१ "भोयगई"=व्याप गई, छा गई, व्याप्त हुई। २ "रावले"= अन्तःपुर रनिवास। ३ "भूपतिया"=नृपवधू, रानी। ४ "साँच कहि"=यह कहके पूछा कि "साँच साँच कहो कि क्या किया"॥

रानी रो उठी, अन्तःपुर में भीतर बड़ा कोलाहल तथा हाहाकार मच गया। महात्माजी ने भी शीघ्र ही कटिपट खोल डाला, रनिवास में प्रवेशकर बात पूछी; लड़के का शरीर देखा तो प्रत्यक्ष काला हो गया था। महात्माजी ने रानी से पूछा कि "जी! सच सच कहो कि तुमने यह किया क्या है?"

रानी ने बता दिया कि "आपने चलना ही निश्चय किया, परन्तु हम सबकी आँखों को तो दर्शन की भारी प्यास बनी ही है, तृप्ति हुई ही नहीं॥"

दो० "महाराज! तव गवन सुनि, जानि भूप तनुनास।
मैं दै दीन्ह्यौ सुत गरल, सन्त करैं जेहिं बास॥"

(२५७) टीका। कवित्त। (५८६)

छातीखोलि रोए किहूँ बोलिहूं न आवै मुख, सुख भयो भारी, भक्ति रीति कछु न्यारीयै। जानी ऊँन जाति, जाति पाँति को बिचार कहा, अहो रस सागर सो सदा उरधारीयै॥ हरिगुण गाय, साखी सन्तनि बताय, दिये बालक जिवाय, लागी ठौर वह प्यारीयै। संग के पठाय दिये, रहे[1] वे जे भींजे हिये, बोले आप "जीऊँ जौनमारि कै बिडारीयै"॥ २०७॥ (४२२)

वार्त्तिक तिलक।

सन्त महात्माजी छाती खोलके ऊँचे स्वर से रोने लगे; इस प्रेमिनि का आश्चर्य्य कर्म देख आपको प्रेम जनित आश्चर्य्य ही दुख हुआ, यहाँ तक कि मुँह से स्पष्ट बात भी नहीं निकलती थी; परन्तु साथ साथ इसकी लोकोत्तर अनूठी प्रेमाभक्ति की कुछ न्यारीही रीति विचार के हृदय में अति ही आनन्द हुआ॥

भक्तराजाजी जाति में क्षत्री से कोई न्यून ही थे यह बात सन्त ने जानी, पर विचार किया कि "मैं इनमें जातिपाँति का विवेक

१ "रहे वे जे भींजे हिये"=वेही संत यहाँ रह गए कि जिनके हृदय श्रीभगवान् के प्रेमरस से भीगे थे निरस शुष्क न थे॥

क्या करूँ; ये तो राजा रानी दोनों भगवत्प्रेम का समुद्र ही हृदय में धारण किए हुए हैं, इससे ये प्रेमरूपही हैं॥

अपने संग के संतों को बुला के साक्षी करके, श्रीभगवान् के अमृतरूपी गुण गाए, यहाँतक कि श्रीभगवत्-कृपा से मृतक बालक को जिला ही दिया। तब श्रीसीताराम-नाम तथा यश की "जय जय"-कार हुई॥

महात्माजी को उस भक्त का स्थान अतिप्रिय लगा, जितने सन्त साथ में थे उन सबसे कहा कि "आप लोग जाइये, मैं यहाँ ही रहूँगा" वे प्रायः सब चले गए। केवल ऐसे ऐसे कई भक्तसन्त कि जिनके अन्तः-करणरूपी वस्त्र प्रेमरङ्ग से रंगे थे, वे यह कहते हुए कि "जो आप मारके भगाइये तो भी आपको छोड़के यहाँ से हम जाने के नहीं," प्रेम में बँधके रहगए॥

---

(२) दूसरी बाईजी।

(२५८) टीका। कवित्त। (५८५)

सुनौ चित्तलाई बात दूसरी सुहाई हिये, जिये जग माहिं जौं लौं, संत संग कीजियै। भक्त नृप एक, सुता ब्याही सो अभक्त महा जाके घर माँझ जन[1] नाम नहीं लीजियै[2]॥ पत्यो साधु सीथ सौं शरीर, दृग रूप पले, जीभ चरणामृत के स्वाद ही सों भीजियै[3]। रह्यो कैसें जाय अकुलाय न बसाय कछू "आवैं पुर प्यारे तब विष सुत दीजियै"॥ २०८॥ (४२१).

वार्त्तिक तिलक।

अब उस दूसरी भगवत्-भक्ता बाई की वार्त्ता जोकि सुनने से अतिप्रिय लगेगी सो चित्तलगाके सुनिये; देखिए, इसने सन्तसेवा दर्शन के लिए कैसा विलक्षण यत्न किया। इससे सज्जनों को उचित है कि जबतक जगत् में जियें तबतक अवश्य सन्तों का संग करें॥

एक भक्त राजा साधुसेवी था, उसकी लड़की ऐसे हरिविमुख के

---

१ "जन"=प्यारे, सन्त, हरिजन। २ "नहीं लीजियै"=नहीं लेता था। ३ "भीजियै"=भींगा हुआ था, भीजा रहा करता था॥

साथ ब्याही गई कि जिसके घर में सन्त भगवज्जन का नाम भी कोई नहीं लेता वा जानता था। इस भक्ता राजकन्या का शरीर तो साधुओं की सीथप्रसादी (जूठन) से पला हुआ था, और आँखें सन्तों के रूपके दर्शनों की पली थीं तथा इसकी रसना भगवत् और सन्तचरणामृत के रस की ही रसज्ञ थी, सो इसके श्वशुरालय में यह सब अति ही दुर्लभ था, तब इससे रहा कैसे जाता, अत्यन्त व्याकुल रहा करती थी "कोउ दुख दुसह दुखद न कठिन ऐसो, जैसो कहूँ छिनक विमुखसँग रहिबो॥" कुछ बस नहीं चलता था। एक दिन श्रीसीतारामजी के स्मरणपूर्वक विचार करने से इसको यह फुरा कि "जब हरिप्यारे संत इस ग्राम में आवें तब मैं अपने पुत्र को विष दे दूँ।" यह निश्चयकर इसने अपनी लौंड़ी से यह कह रक्खा कि "जब इस ग्राम में साधु आवें तब मुझसे कहियो॥"

इसी से कहा है कि "बिना भक्तमाल भक्ति-रूप अति दूर है॥"

(२५६) टीका। कवित्त। (५८४)

आए पुर सन्त आइ दासी ने जनाइ कही, सही कैसे जाइ, सुत विष लैकै दियो है। गए वाके प्रान, रोय उठी किलकानि, सब भूमि गिरे आनि, टूक भयो जात हियो है॥ बोली अकुलाय "एक जीवे को उपाय जोपै कियो जाय, पिता मेरे कैयो बार कियो है"। "कहै सोई करै" दृग भरैं "ल्यावौ सन्तनि कौं", "कैसे होतसन्त?" पूछ्यो; चेरी नाम[1] लियो है॥ २०९॥ (४२०)

वार्त्तिक तिलक।

रामकृपा से गाँव में साधुओं का एक वृन्द आ उतरा; सो टहलनी ने आके इस भक्तिवती को जनाया। तब जो पूर्व में कह आए कि यह बाल्य अवस्था ही से सन्तों का दर्शन चरणामृत आदिक सप्रेम लेरही थी सो उसके वियोग की पीड़ा अब इससे कैसे सही जाय। इसलिए इसने अपने बालक को विष दे दिया; वह मर गया; तब सब

१ "नाम लियो है"=बाह्य चिह्न आदि बता दिये॥

रो उठे; हाहाकार मचगया; राजा के सहित सब मूर्च्छित हो भूमिपर गिरे; सबके हृदय टूक टूक हुए जाते थे। तब भक्ताबाई अकुलाके बोली कि "पुत्र के जी उठने का एक उपाय है जो आप सब कीजिये, क्योंकि मेरे पिता ने कई बेर यही उपाय किया है सो सफल हुआ है मैंने प्रत्यक्ष देखा है।" राजा और सबोंने आँखों में आँसू भरे हुए रो रोके कहा कि "जो तू कहे सोई उपाय करें" इसने कहा कि "सन्तों को शीघ्र ढूँढ़ के बुला लाइये।" उन्होंने पूछा कि "सन्त कैसे होते हैं?॥"

दासी ने सन्तों के बाह्य चिह्न कह सुनाये; और यह भी बताया कि "अमुक ठिकाने आज बहुत से साधु लोग आ उतरे हैं॥"

(२६०) टीका। कवित्त। (५८३)

चली लै लिवाय चेरी, बोलिबौ सिखाय दियो "देखिकै धरनि परि पाँय गहि लीजियै"। कीनी वहीरीति, दृगधारा मानौ प्रीति सन्त करी यौं प्रतीति "गृह पावन कौ कीजियै" ॥ चले सुखपाय दासी आगे हीं जनाई जाय, आय ठाढ़ी पौरि[1], पाँय गहे, मति भीजियै[2]। कही हरे[3]बात "मेरे जानौ पितामात मैं तो अँग में न[4] माति आज, प्राण वारिदीजियै" ॥ २१० ॥ (४१६)

वार्त्तिक तिलक।

जहाँ सन्त उतरे थे, टहलनी वहाँ राजा को लिवा ले चली; मार्ग में यह भी बता दिया कि सन्तों से बातें करने की रीति ऐसी होती है, तथा यह भी कि "लम्बीदण्डवत् करके चरणारबिन्द पकड़ लीजियेगा"; क्योंकि यह दासी इसके पिता ही के घर की थी जहाँ संतसेवा होती थी। उन्होंने वैसा ही किया॥

राजा के नेत्रों में जो पुत्रमरण के दुःख से आँसुओं की धारा बहती थी, सो सन्तों ने यही प्रतीति की कि "हमारे ही प्रेम से अश्रु बहते हैं।" राजा ने हाथ जोड़ के सन्तों से प्रार्थना की कि "अपने पदरज से दास के घर को पवित्र कीजिये" सन्त कृपाकर सुखपूर्वक

१ "पौरि"=रनिवास की डेवढ़ी। २ "मतिभीजियै"=बुद्धि प्रेम में पग गई, मति प्रीति रङ्ग से भीजी हुई। ३ "हरे"=धीरे, धीमेस्वर में। ४ "न माति"=नहीं समाती थी, अँटती नहीं थी, अमाती नहीं॥

चले; तब चेरी ने हर्षित होके आगे हो जाके संतों के आने का समाचार कहा; अगवानी के लिये भक्ता बाई अपनी डेवढ़ी पर आके खड़ी हुई; साधुओं के पधारते ही चरणकमलों पर गिर पड़ी; प्रेमाश्रु की धारा आँखों से बह चली, प्रेमरस से मति भीज गई। हाथ जोड़ सन्तों से धीरे से कहने लगी कि "मैं तो अपने पिता माता परम हितकारी सन्तों ही को जानती हूँ; मैं तो आज हर्ष से फूली अपने शरीर में नहीं अँटती हूँ; जी चाहता है कि आप सब पर प्राण न्योछावर कर दूँ॥"

(२६१) टीका। कवित्त। (५८२)

रीझि गए सन्त, प्रीति देखिकैं अनन्त, कह्यो "होइगी जु वही सो प्रतिज्ञा तैं जो करी है"। बालक निहारि जानी विष निरधार[1] दियो, दियो चरनामृत कौं, प्रान संज्ञा धरी है॥ देखत, बिमुख जाय पाँय[2] तत-काल लिये, किये तब शिष्य, साधुसेवा मति हरी है। ऐसें भूप नारि पति राखी सब साखी, जन रहैं अभिलाखी जो पै देखौ याही घरी है॥ २११॥ (४१८)

वार्तिक तिलक।

इस भक्ता बाई (रानी) की अपार प्रीति देख, साधु लोगों ने बहुत रीझके कहा कि "तुमने अपने मन में जो प्रतिज्ञा की है सोई ठीक होगी" (क्योंकि इसके श्रद्धा विश्वासवश श्रीरामकृपा से वैसे ही पूरे सन्त भी प्राप्त हुए थे;) फिर बालक की ओर देख यह निश्चय जाना कि इसको विष दिया गया है, सन्तों ने कृपा करके भगवत् और संतों का (अपना) चरणामृत उसको पिलाया। अकालमृत्युहरण चरणा-मृत देते ही श्रीयुगलसर्कार की कृपा से बालक के प्राण पलट आए और चैतन्य हो गया॥

श्लोक—"अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा शिरसा धारयाम्यहम्॥"

दो० "धन्य सन्त जहँ जहँ फिरैं, तहँ तहँ करत निहाल।
चरणामृत मुख डारिकै, फेरिजियायो बाल॥"

१ "निरधार"=निश्चय। २ "पाँय लिये=चरण पकड़े॥

जय-जयकार शब्द के साथ माता पिता आदिक सब अति हर्ष को प्राप्त हुए; और राजा जो इस बालक का पिता था उसके सहित सब भक्ति विमुख लोग तुरत ही साधुओं के पाँवों पर यह विनय करते हुए गिरे कि "हम को अब शरण दीजिये।" श्रद्धा देख संतों ने उन्हें शिष्य किया।

तदनंतर राजा प्रत्यक्ष परचो देख सब सन्तों की इस प्रकार सेवा किया करता कि जिसको देख सबकी मति हर जाती थी॥

जो श्रीनाभास्वामीजी ने इस छप्पय में "भूपनारि प्रभु राखिपति" लिखा है, सो इस प्रकार प्रभु ने इस भक्ता रानी की लज्जा प्रतिज्ञा रख ली; उसके सब सज्जन साक्षी हैं। सो जो कदापि और किसी को ऐसी भक्ति की अभिलाषा हो, तो जैसे इसकी इसी घड़ी अभिलाषा पूरी हुई, वैसी ही पूर्ण होगी। लोक में रीति है कि जब तत्काल देख लो तथा परचो से तोष को प्राप्त हो, तो सब जनों की अभिलाषा सन्तों में बढ़ती है॥

(२६२) छप्पय। (५८१)

आशै अगाध दुहुँ भक्त को, हरितोषन अतिशै कियो॥ "रङ्गनाथ" को सदन करन बहु बुद्धि बिचारी। कपट धर्म रचि* जैन-द्रव्य हित देह बिसारी॥ हंस पकरनैं काज बधिक बानौं† धरि आए। तिलक‡-दाम की सकुच जानि तिन, आप बँधाए॥ सुतबध हरिजन देखि कै, दै कन्या, आदर दियो। आशै+ अगाध दुहुँ भक्त को, हरितोषन अतिशै कियो॥ ५१॥ (१६३)

वार्त्तिक तिलक।

(१। २) इन मामा भानजे दोनों भगवद्भक्तों के भाव भक्ति का

---

* "रचि"=वेष बनाके। † "बानौं"=भगवत् वष। ‡ "तिलक-दाम"=ऊर्ध्वपुण्ड्र और भागवती कण्ठी माला। + "आशै अगाध"=अथाह अभिप्राय॥

अभिप्राय अति अथाह था कि जिस अपनी भक्तिभाव से अपने वर्णधर्म तथा प्राणपर्य्यन्त अर्पण करके श्रीभगवान् को इन्होंने अतिशय प्रसन्न किया; किस प्रकार से सो कहते हैं—

श्रीरंगनाथजी के विराजने के लिये श्रीविग्रह के अनुरूप बड़ा भारी मन्दिर बनवाने के लिये द्रव्य मिलने के हेतु बुद्धि में बहुत प्रकार के उपाय विचार किये निदान कपट से जैनधर्मियों के शिष्य हो उनका वेष धारण कर अपने शरीर प्राण पर्य्यन्त की ममता छोड़के पारस द्रव्य ले मन्दिर बनवाया॥

(३।४) इसी भाँति, हंसभक्त तथा वैश्यभक्त इन दोनों की भक्ति का भी आशय वैसा ही अगाध था; उन्होंने भी हरि की अति प्रसन्नता प्राप्त की। हंसों के पकड़ने के लिये व्याधा सब सन्त का वेष धरके आए तिलक कण्ठी माला के संकोच से वधिकों का कपट जानकर भी हंसों ने अपने प्राणों का लोभ तज अपने तईं बँधवा लिया। और सदाव्रती-वैश्यभक्त भागवत वेषधारी लोभी को जाना और देखा कि इसने मेरे पुत्र को मार ही डाला है परन्तु अब शोकयुक्त है, इससे उसको अपनी कन्या बिबाह कर आदर दिया। इस प्रकार इन चारों भक्तों की भक्ति अथाह है कि जिसमें बड़े बड़े भक्तों का मन डूब जाता है॥

१. मामू। | ३. हंस भक्तों का जोड़ा।
२. भानजा। | ४. सदाव्रती साहूकार॥

(४९।५०) मामू-भानजा।

(२६३) टीका। कवित्त। (५८०)

आशय अगाध दोऊ भक्त मामा-भानजे कौं, दियौ प्रभु, तोष* ताकी बात चितधारियै। घर तें निकसि चले बनकौं बिबेकरूप; मूरति अनूप बिन मन्दिर निहारियै॥ दच्छिण मैं "रङ्गनाथ" नाम अभिराम जाकौ, ताकौ लै बनावैं धाम[1], काम सब टारियै। धन के

* पाठान्तर "पोष"। १ "धाम"=मन्दिर॥

जतन फिरे भूँमि पै, न पायो कहूँ, चहूँ दिशि हेरि, देख्यो, भयो सुख भारियै॥ २१२॥ (४१७)

वार्तिक तिलक।

जो नाते में मामू-भानजा होते थे, उन दोनों महाभक्तों की भक्ति का अभिप्राय अथाह था; जिस तत्सुखात्मक प्रेमाभक्ति से श्रीभगवत् को भी इन्होंने सन्तुष्ट किया; सो वार्ता सुनके चित्त में रख लीजिये॥

श्रीरामकृपा से विवेक उत्पन्न हुआ इससे असार संसार से विरक्त हो, घर त्यागके, भजन करने के लिये दोनों ही वन को पधारे; दक्षिण में एक ठिकाने, जहाँ श्रीविभीषणजी श्रीअयोध्याजी से ले जाकर पधरा गए थे, वहाँ "श्रीरंगनाथजी" नामक ठाकुरजी की अति अभिराम विशाल मूर्ति विना मन्दिर की देखकर जी में ऐसी अभिलाषा हुई कि "अब और सब कार्य्य छोड़के इनका मन्दिर बनवावें।" इसलिये बहुतसे द्रव्य के हेतु पृथ्वी पर अनेक देशों में चारों ओर फिरे; पर कहीं न पाया। ढूँढ़ते ढूँढ़ते अन्त में एक अटूट द्रव्य देखकर इनके हृदय में बड़ाभारी आनन्द हुआ॥

(१६४) टीका। कवित्त। (४७६)

मंदिर सरावगी कौं, प्रतिमा सों पारस की, आरसन किये बेद न्यून हूँ बतायो है। "पावैं प्रभु सुख, हम नर्कहूँ गये तौ कहा?" धरक न आई! कानलै फुकायो है॥ ऐसी करी सेवा, जासों हरी मति केवँरा ज्यों, सेवँरा-समाज सबै नीके कैं रिझायो है। दियो सौंपि भार, तब लबे को विचार करें "हरें कौन राह?" भेद राजनिपैं पायो है॥ २१३॥ (४१६)

वार्तिक तिलक।

वह अटूट धन क्या है सो कहते हैं, एक नगर में देखा कि

१ "भूमिपै"=अनेक स्थानों में, बहुत जगहों में। २ "आरसन"=दरसपरस, दर्शन स्पर्श। ३ "धरक"=शंका, धड़क। ४ "केवरा"=केवड़े का फूल। ५ "सेवरा"=सरावगी, बौद्ध, जैनी, जैन। ६ "राह"=मार्ग, मग, पंथ॥

सरावगियों का बड़ा भारी मन्दिर है; उसमें पारसनाथ की प्रतिमा पारस की ही है ("पारसनाथ-मूर्ति पारस की"), जिसकी प्रतिमा का दर्शन स्पर्श करना भी वेद ने अति न्यून (बड़ा पाप) बताया है ॥

"गजैरापीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरे ॥"

नितान्त, दोनों भक्त मन में विचारकर आपस में निश्चयकर कहने लगे कि "सुन्दर मन्दिर बने, तथा उसमें विराजके प्रभु सुख पावें, सो भला है; और हम यह न्यून कर्म करने से नरक में जायँगे तो क्या चिन्ता है।" यह मन में दृढ़कर बेधड़क जा कान फुँकाके उनका मन्त्र ग्रहणकर उनके शिष्य हो, ऐसी सेवा की कि उन सबकी मति इस प्रकार से हर ली कि जैसे केवड़ा * पुष्प को सूँघने से मन हर जाता है ॥

यहाँ तक कि सेवापूजा का सम्पूर्ण भार उन्होंने इन्हीं को सौंप दिया ॥

तब पारस लेने का विचार करने लगे कि "इसको किस मार्ग से हर लें ?" क्योंकि उस मन्दिर में भीतर जाने का द्वार नहीं रक्खा गया था, केवल हाथ डालके सेवा पूजा कर लेनेमात्र को, और दर्शन कर लेने को अवकाशमार्ग था । तब दोनों ने राजों (थवइयों, मिस्त्रियों) से युक्ति ही युक्ति यह भेद लिया कि मन्दिर के ऊपर से मार्ग है ॥

(२६५) टीका । कवित्त । (४७८)

मामा रह्यो भीतर, औ ऊपर सो भानजो हो, कलस भँवरकली[1] हाथसों फिरायो है। जेवरी लै फाँसि दियो मूरति, सो खैंचि लई, और बार वह आप नीकैं चढ़ि आयो है ॥ कियो हो जो द्वार तामैं फूलि तन फँसि बैठ्यो, अतिसुख पाय, तब बोलिकै सुनायो है। "काटिलेवौ सीस, ईस भेष की न निंदा करैं," भरैं अँकवारि, मन कीजियौ सवायो है ॥ २१४ ॥ (४१५)

* सेवरा वा सेवड़ा के अनुप्रास के लिये ही केवरा वा केवड़ा लाये हैं ॥
१ "भँवरकली"=पेच, कल ॥

वार्त्तिक तिलक ।

मन्दिर के ऊपर जाके कलस में जो भँवरकली थी, उस भँवरकली को दोनों भक्तों ने हाथों से घुमाकर अलग कर दिया; इससे उसमें इतना अवकाश (मार्ग) हो गया कि जिसमें होके सामान्य शरीर-वाला मनुष्य आ जा सके (पर मोटा नहीं)। तब उन्होंने उसी में एक मोटा सा रस्सा छोड़कर ऊपर बाँध दिया; उसी को पकड़ मामा भीतर चला गया, भानजा ऊपर रहा। मामू ने पारसवाली मूर्त्ति को वस्त्र में गठियाके उसी रस्से में बाँध दिया, और भानजे ने उसे खींच लिया। गठरी को रस्सी में से खोल, फिर (और बार) वह रस्सी भीतर छोड़ दी गई, जिसे पकड़के वे (मामाजी) आप भली प्रकार से चढ़ आए। जब उस छोटे द्वार में आधा शरीर निकल चुका तब मामाभक्तजी को अतिशय हर्ष और सुख प्राप्त हुआ कि जिस हर्ष से उनका शरीर फूलकर उसी बिल में फँस बैठा (फँस गया), न इधर सरकै न उधर ॥

मामू ने भानजे से कहा कि "मेरा सीस काट लो, जिसमें सेवड़े लोग वैष्णव वेष की निन्दा न करें, क्योंकि हम दोनों (मैं और तुम) वैष्णववेष धारण किये ही इन सबके यहाँ आके शिष्य हुए थे।" तब भानजा अँकवार भरके मामाजी को अपने बलभर खींच के निकालने लगा; परन्तु आपके मन में सवाया आनन्द बढ़ता ही जाता था इससे शरीर फूल के निकल नहीं सका ॥

(२६६) टीका। कवित्त। (४७७)

काटि लियो सीस, ईस-इच्छाकौ बिचार कियौ, जियौ नहीं जात तऊ चाह मतिपागी है। "जोपै तन त्याग करौं, कैसें आस-सिन्धु तरौं? ढरौं वाही ओर;" आयो; नींव खुदैं लागी है ॥ भयो शोक भारी, "हमैं ह्वै गई अबारी, काहू औरनैं बिचारी," देखैं वही बड़भागी है। भरि अँकवार मिले, मन्दिर सँवारि, झिले[1], खिले सुखपाइ नैन, जानैं जोई रागी है ॥ २१५ ॥ (४१४)

१ "झिले"=दौड़े, लपके ॥

वार्त्तिक तिलक।

जब भानजे के खींचने से मामाजी नहीं निकल सके, तब फिर आपने भानजे से कहा कि "मेरा सीस काट ही लो॥"

दो० "हरिमन्दिर के हेतु जो, लागै मोर शरीर।
तौ यामें कछु सोच नहिं, कछु न मानिये पीर॥"

ऐसे प्राण-समर्पण-रूप सच्चे वचन सुन, ऐसी ही सर्कारी इच्छा विचार, भानजे ने मामू के कहने के अनुसार शस्त्र से सीस काट ही लिया। और पारस तथा वह सीस लेके वहाँ से चम्पत हुआ। इन्होंने सीस को तो कहीं योग्यस्थल में डाल दिया; परन्तु परमभक्त मामू के वियोग से इनको जिया नहीं जाता था, जीने की इच्छा नहीं होती थी, तथापि प्रभु के मन्दिर बनवाने की चाह में मति पगरही थी; इससे विचार किया कि "यदि मैं शरीर को त्याग दूँ तो श्रीप्रभुमन्दिर के बनने की जो मेरी समुद्रवत् आशा है उसके पार कैसे पहुँचूँगा, अतः वहाँ ही चलूँ॥"

ऐसा निश्चय कर श्रीकावेरी गंगा के निकट जहाँ श्रीरंगनाथजी की मूर्त्ति थी, वहाँ आके देखते क्या हैं कि बड़े विस्तार के मन्दिर की नींव खुदवाने में कोई तत्पर है। उसको देख इनके मन में बड़ाभारी शोक इसलिये हुआ कि "हमको बहुत दिन लग गए अतिविलम्ब हो गया! इसी कारण से किसी दूसरे ने मन्दिर बनवाना प्रारंभ कर दिया।" समीप जाके देखें तो वे ही, बड़े भाग्यशाली मामाभक्तजी ही, *यह नींव खोदवा रहे हैं। दोनों को परस्पर के दर्शन से कोई अभूत ब्रह्मानन्द हुआ और दोनों के नेत्रकमल परम प्रफुल्लित हुए; झिलके (दौड़के) आपस में भुजा भर-भरकर मिले। इन दोनों अनुरागी भक्तों के मिलने का अपूर्व सुख वे ही जानें; जिनको इस अनुराग का अनुभव है॥

दोनों ने मिलके श्रीरंगनाथजी का सप्तावर्ण-युक्त "रङ्गविमान"

---

* आपकी आत्मनिवेदन भक्ति से, तथा भाजने के सर्वधर्मार्पण भक्ति से, संतुष्ट होके सर्व जगत्कर्त्ता ने मामूभक्त का वैसा ही दूसरा स्वरूप निर्माण करके और बहुत द्रव्य देके यहाँ उपस्थित कर दिया था॥

संज्ञक महामन्दिर बनवाया कि जिसका दर्शन करके अद्यापि सब बड़-भागियों को बड़ा आश्चर्य और अपूर्व आनन्द होता है॥

---

(५१) हंस भक्तों का प्रसंग।

(२५७) टीका। कवित्त। (५७६)

कोढ़ी भयो राजा, किये जतन अनेक, ऐपै एकहूँ न लागै, कह्यो "हंसनि मँगाइयै"। बधिक बुलाय कही "बेगही उपाय करौ, जहाँ-तहाँ ढूँढ़ि अहो इहाँ लगि ल्याइयै"॥ "कैसे करि ल्यावैं? वेतौ रहैं मानसर माँझ," "ल्यावोगे, छुटौगे तब, जनैं चारि जाइयै"। देखत ही उड़िजात, जाति को पिछानिलेत, "साधुसों न डरैं", जानि भेष लै बनाइयै॥ २१६॥ (४१३)

वार्त्तिक तिलक।

किसी देश का बड़ाभारी राजा कोढ़ी हो गया था। वैद्यों ने उसके अनेक प्रकार के यत्न किये, परन्तु कोई सफल नहीं हुआ; तब वैद्यों ने कहा कि "हंस मँगाइये उसकी औषध बनाई जायगी; उससे आप अवश्य अच्छे हो जायँगे।" राजा ने वधिकों को बुलाके आज्ञा दी कि "जाके जहाँ मिलें वहाँ से हंस लाओ, वेगि ही उपाय करो" बधिक बोले "महाराज! हंसों को किसप्रकार से लावें? वे तो 'मानससरोवर' ही में रहते हैं।" सुनकर राजा ने कहा कि "चार जने जाके किसी भाँति लाओ, विना लाए तुम्हारे प्राण नहीं बचने के॥"

हिम (पाला) से बचने योग्य वस्त्र चर्मादिक पहिन ओढ़के वे व्याधा मानससर को गए। परन्तु हंस पक्षियों के जोड़े, इन सबको देखते ही, व्याधा जानकर, उड़ जाया करते थे। बुद्धिमानों ने बताया कि "हंस वैष्णव सन्तों से ही नहीं डरते" तब वधिकों ने वैष्णव सन्तों का वेष धारण कर लिया॥

(२६८) टीका। कवित्त। (५७५)

गए जहाँ हंस, संत-बानों सो प्रशंस देखि जानिके बँधाये; राजा पास लैकै आये हैं। मानि मत सार, प्रभु बेद को स्वरूप

धारि, पूछिकै बजार[1], लोग भूप ढिग ल्याये हैं॥ "काहे को मँगाये पच्छी? अच्छी हम करैं देह, छोड़ि दीजै इन्हैं," कही "नीठकरि[2] पाये हैं"। औषदी * पिसाये, अंग अंगनि मलाये, किये नीके, सुख पाये, कहि उनको छुटाये हैं॥ २१७॥ (४१२)

वार्तिक तिलक।

वधिक सन्तों का वेष बनाके मानससर में हंसों के निकट गए; हरिभक्त विवेकी हंसों ने जान लिया कि 'ये वधिक हैं' पर परम प्रशंसनीय वैष्णववेष बनाके आए हैं; इसलिये इस वेष के सम्मानार्थ अपने तईं बँधा ही लेना चाहिये॥

दो० "हंस कहै सुनु हंसिनी! सुनी पुरातन बात।
साधुनिकट नहिं जात तौ, बाना की पति जात॥"

इससे वे उड़े नहीं। वधिक इनको पकड़कर राजा के पास ले आए॥

गुणग्राही हंसों ने कपटरूपी नीर छोड़के सन्तवेषरूपी क्षीर उनका ग्रहण किया॥

श्रीभक्तवत्सल प्रभु ने हंसों का मत भक्तिसारांशयुक्त जाना कि 'इन्होंने मेरे दासों के वेष का यहाँ तक सम्मान किया कि नीच वधिकों के शरीर में भी केवल बनावटमात्र देखके अपने शरीर और प्राण अर्पण कर दिये,' इसी से उसी क्षण आपने वैद्य का स्वरूप धारण कर, उस नगर के हाट में आ, लोगों से अपना यह गुण प्रगट किया कि "मैं कुष्ठरोग विशेष करके अच्छा कर देता हूँ!" लोग आपको राजा के पास लाए। वैद्यजी ने राजा से कहा कि "आपने इन हंसों को किसलिये मँगाया है? इनको छोड़ दीजिये, मैं आपका शरीर अभी अभी अच्छा किये देता हूँ।" राजा ने कहा कि "मैंने इन्हें बड़ी कठिनता से पाया है, योंही कैसे छोड़ दूँ?"

वैद्यजी ने ओषधि पिसवाके राजा के सब अंगों में लेप कराकर

---

१ "बजार"=بازار बाज़ार, हाट। २ "नीठकरि"=कठिनता से, बड़ी मुश्किल से।
* पाठान्तर "औषधी"॥

बात की बात में चंगा कुन्दन सा शरीर कर दिया। राजा ने अत्यन्त सुख पाया। आपने राजा से कहके हंसभक्तों को छुड़वा दिया। श्रीकृपा की और वैष्णव-वेष की जय॥

(२६६) टीका। कवित्त। (५७४)

"लेवो भूमि गाँउँ, बलिजाउँ या दयालता की, भाल भाग ताकैं जाकौं दरसन दीजियै"। "पायो हमसब, अब करौ हरिसाधु-सेवा; मानुष-जनम, ताकी सफलता कीजियै"॥ करी लै निदेस, देस भक्ति बिसतार भयो; हंस हित सार जानि, हिये धरिलीजियै। बधिकनि जानी जासों खगनि प्रतीति कीनी, ऐसो भेष छोड़ियै न, राख्यौ, मति भीजियै॥ २१८॥ (४११)

वार्त्तिक तिलक।

राजा अपना नवीन जन्म जान श्रीवैद्यनारायण के चरणों में पड़के प्रार्थना करने लगा कि "आपकी दयालुता की मैं बलिहारी जाऊँ; आपने हंसों के प्राण और मुझको हिंसा से बचाके मुझे चंगा कर दिया; जिसको आप कृपाकर दर्शन दें उसके भाल में बड़े भाग्य लिखे जानना चाहिये, अब मुझपर कृपाकर जितनी इच्छा हो उतनी भूमि वा गाँव लीजिये।" वैद्यरूपी प्रभु बोले कि "मैं सबकुछ पाचुका; अब मैं यही चाहता हूँ कि तुम भगवान् की भक्तिपूजा तथा सन्तों की सेवा कर, अपने मनुष्य जन्म को सफल करो॥"

चौपाई।

वैद्यरूपहरि अस कहि बयना। पुनिकह "तोहि यम की अब भयना"॥

यह कहिके प्रभु अन्तर्धान हो गए॥

राजा ने आपका उपदेश मान वैसा ही किया कि अपने देश भर में भक्ति का विस्तार कर दिया॥

देखिये, हंसों ने श्रीभागवतवेष का ऐसा आदर किया, तो उसी क्षण प्रभु ने प्रगट होकर हंसों के प्राण बचाए, यश दिया, और भक्तिमुक्ति दी। इस सारांश को अपना हित मानकर सबको अपने हृदय में धारण करना चाहिये कि गुण और सारग्राही हंसों ने

बधिक-कपटरूपी नीर छोड़कर सन्तवेषरूपी क्षीर को ग्रहण किया॥
प्रभुकृपा से वधिकों को भी यह ज्ञान हुआ कि "जिस वेष में खग जाति हंसों ने भी हमारी प्रतीति की, ऐसा वेष हम न छोड़ें।" ऐसा विचार, वधिक दुष्टव्यापार तज वेष धारण किये ही रहे, साधु संग में उनकी मति भी भक्तिरस में भीग गई और उनका परम कल्याण हुआ॥

---

(५२) सदाव्रती महाजन।

(२७०) टीका। कवित्त। (५७३)

महाजन सुनो सदाव्रती ताको भक्तिपन, मन मैं विचार, सेवा कीजै चितलायकै। आवत अनेक साधु निपटअगाध मति, साधिलेत जैसी आवै सुबुधि मिलायकै॥ संत सुखमानि, रहिगयो घरमाँझ, सदा सुत सों सनेह नित खेलै संग जायकै। इच्छा भगवान, मुख्य, गौन लोभ जानि, मारि डार्यो, धूरि गाड़ि, गृह आयो पछितायकै॥ २१६॥ (४१०)

वार्त्तिक तिलक।

हे महज्जनो! सदाव्रती महाजन की भक्ति की कथा सुनिए। श्रीगुरुउपदेश से इन्होंने मन में विचार किया कि "मैं चित्तलगाके सन्तों की सेवा किया करूँ" सो आप ऐसा ही करनेलगे; इससे इनके यहाँ अनेक प्रकारके साधु आया करते थे; ये भक्तजी ऐसे अतिशय अगाधमति-वाले थे, कि जिस प्रकार के सन्त होते वैसी ही सुबुद्धि से उनकी सेवा साधि लिया करते थे। एक समय एक सामान्य साधुवेषधारी आया, और खानपान का सुख पाके आपके घर में रह गया। भक्तजी के एक छोटा सा बालक था, जिसको इसके साथ स्नेह था, और इसके साथ जाके खेला करता था॥

एकदिन इस साधु की मति भ्रष्ट हो गई। उसमें मुख्य तो भगवत् की इच्छा (भक्तसुयश तथा सन्तमहिमा प्रगट करने के हेतु) जानिये,

---

१ "सदाव्रती महाजन"=वैश्य सेठ कि जिसका व्रत यह था कि सन्त ब्राह्मणों को सदा दिनरात भोजन देना॥

और गौण कारण लोभ कि जिसके वश भूषण लेलेने के लिये उस बालक को उसने जी से मारकर धूल में गाड़ दिया। और फिर मन ही मन में पछताता हुआ घर में चला आया॥

(२७१) टीका। कवित्त। (५७२)

देखै महतारी मग, बेटा कहाँ[1] पग रह्यौ? बीते चारि जाम, तऊ धाम मैं न आयो है। फेरी पुर डौंड़ी, ताके संग संत, आप, लौंड़ी, कह्यो यों पुकारि "सुत कौने बिरमायो है?॥ बेगिदै बताय दीजै आभरन दिये लीजै;" कही सों संन्यासी एही मार्‍यो, मन लायो है। दई लै दिखाय देह; बोल्यो "याको गहि लेहु, याही ने हमारो पुत्र हत्यौ, नीके पायो है"॥ २२०॥ (४०६)

वार्त्तिक तिलक।

उस लड़के की माता उसके आने का पन्थ देख रही थी सोचती थी कि "बेटा कहाँ अटक रहा?" चार पहर बीतगए पर अभी तक घर नहीं आया! साँझ समय वह महाजन उस सन्त और लौंड़ी इत्यादि को साथलिये ग्राम भर में यह पुकरवाता हुआ डौंड़ी फिरवाने लगा कि "पुत्र को किसने अँटका रक्खा है? बता दे, बतानेवाले को मैं उस लड़के के सब भूषण दे दूँगा॥"

चौपाई।

"सदाव्रती भूपति पहँ जाई। नृपसों कहि डौंड़ी पिटवाई॥"

पुकार सुनकर एक संन्यासी कि जिसने, उस लड़के को मारके धूल में छुपाते देखा था, सो आके बोला कि "मन में लोभ लाके इसी वैरागी ने तुम्हारे पुत्र को वध किया है" यह कहके जहाँ मृतक शरीर था वहाँ उनको लेजाके दिखा दिया॥

तब वैश्य भक्तजी ने अपने साथ के लोगों से कहा कि "इस संन्यासी को पकड़ ले चलो, इसी ने मेरे लड़के को मार डाला है, भला भया कि यह मिलगया" परंतु मन में तो क्षमा दया धैर्य्य को सँभाला॥

१ "कहाँ पग रह्यौ?"=किसके प्रेम में अरुझ रहा?

दो० सदाब्रती निज चित्त में, कीन्ह्यो बिमल बिचार।
मस्यो सुवन जी है नहीं, ब्यर्थ उपाधि असार॥

(२७२) टीका। कवित्त। (५७१)

बोल्यो अकुलाय "मैं तौ दियो है बताय, मोंको देवौ जु छुटाय, नहीं झूठ कछु भाषियै"। "लेवौ मति नाम साधु, जो उपाधि मेट्यौ चाहौ, जावौ उठि और कहूँ;" मानी, छोरि नाषियै॥ आयकै बिचार कियौ; जानी सकुचायो संत, बोलि उठी तिया "सुता दैकैं नीके राखियै"। पस्यो बधू—पांय, तेरी लीजियै बलाय, पुत्रशोक को मिटाय, और खरी अभिलाषियै॥ २२१॥ (४०८)

वार्त्तिक तिलक।

जब भक्तजी ने कहा कि "इसी को पकड़ लो" तब वह संन्यासी अति अकुलाके कहने लगा कि "मैंने लड़के को मारा नहीं है; आपको बतायमात्र दिया है, सो भी कुछ झूठ नहीं कहता हूँ मुझको छोड़ दीजिये।" भक्तजी ने कहा कि "यदि इस उपाधि से तुम छूटना चाहो तो लड़के के वध में सन्त का नाम न लो और यहाँ से टलके कहीं चले जाव।" संन्यासी ने बात मान ली, तब भक्तजी ने छोड़ दिया, वह चम्पत हो गया॥

भक्तजी मृतक शरीर को घर लाए; तदनन्तर उसकी दाहादिक क्रिया कर, विचार करके अपनी धर्मपत्नी से कहने लगे कि जान पड़ता है "ये सन्त उदास हो गये हैं।" तब परमभक्ता आपकी स्त्री बोलीं कि "मेरा कहा मानिये तो सन्त को अपनी पुत्री विवाह दीजिये और सम्मानपूर्वक राखिये।" इसकी आश्चर्य्य-भक्ति-भरी वाणी सुनके सदाब्रतीजी अपनी धर्म-पत्नी के चरणों में पड़के कहने लगे कि "तेरी बलिहारी जाऊँ; तूने पुत्रशोक को मिटाके अतिशय (खरी) उत्तम अभिलाषा की॥"

(२७३) टीका। कवित्त। (५७०)

बोलिलियौ सन्त, "सुता कोजियै जू अंगीकार, दुख सो अपार

१ "नाषियै"=गेरिये, पटकिये, फेंकिये, डारिये।

काहू बिमुख कौं दीजियै" । बोल्यौ मुरझाय "मैं तौ मार्यौ सुत हाय ! मोपै जियौहू न जाय, मेरो नाम नहीं लीजियै" ॥ "देखौ साधु-ताई, धरी सीस पै बुराई, जहाँ राईहू न दोस कियौ, मेरु सम रीझियै" । दई बेटी ब्याहि, कहि "मेरो उर दाह मिटै, कीजियै निबाह जग माहिं, जौलों जीजियै" ॥ २२२ ॥ (४०७)

वार्त्तिक तिलक ।

भक्तजी ने अपनी धर्मपत्नी का वचन अतिप्रिय मान, उस सन्त को बुलाकर प्रार्थना की, कि "इस मेरी कुमारी कन्या को आप अंगीकार कीजिये, क्योंकि किसी भक्तिविमुख को दूँगा तो मुझको अपार दुःख होगा ।" आपकी विनय सुन वह साधुवेषधारी अति ग्लानि से मुरझाके बोला कि "हाय ! आपके प्रियपुत्र को मैंने मारडाला, मुझसे जिया नहीं जाता, आप मुझ पातकी का नाम नहीं लीजिये ॥"

सदाव्रतीजी उस सन्तवेषधारी को सुनाके अपनी स्त्री से बोले कि "देखो तो आपकी साधुता कि आपने यह दोष अपने माथे पर वृथा ही धर लिया; जहाँ राई भर भी दोष नहीं वहाँ मेरु पर्वत के समान अपराध अंगीकार करते हैं । मैं इस साधुता पर रीझता हूँ ।" फिर विनय किया कि "मेरे हृदय की ताप मिटाने के लिये आप अवश्य कन्या को अंगीकार कर, जबतक मैं जग में जीऊँ तबतक यहाँ ही रहकर मुझे दर्शन देते रहिये, और अपनी कृपा से ही इन बातों का निर्वाह कीजिये ॥"

दो० "माया चाकी, कील हरि, जीव चराचर नाज ।
तुलसी जो उबरो चहसि, कील शरण को भाज ॥"

निदान उसको अपनी सुता ब्याह ही दी ॥

दो० "अवगुण ऊपर गुण करै, ऐसो भक्त जो कोय ।
ताकी पनही सिरधरौं, जब भर जीवन होय ॥"

(२७४) टीका । कवित्त । (५६९)

आये गुरुघर; सुनि, दीजै कौन सर[1], बड़े सिद्ध, सुखदाई; साधु

---

१ "सर"=सरवर, पटतर, उपमा ॥

सेवा लै बताई है। कह्यो "सुत कहाँ ?" "अजू! पायो[1]" कही "कैसी भाँति ?" भाँति का ❀ बखानौं, जग मीच लपटाई है" ॥ "प्रभु ने परीक्षा लई, सोई हमैं आज्ञा दई; चलियै, दिखावौं जहाँ देह कौं जराई है"। गए वाही ठौर, सिरमौर हरि ध्यान कियो, जियो, चल्यो आयो; दास कीरति बढ़ाई है॥ २२३ ॥ (४०६)

वार्त्तिक तिलक।

विवाह हो जाने के अनन्तर, सदाव्रतीजी के श्रीगुरुदेवजी जोकि बड़े ही भगवतभक्त सिद्ध उपमारहित सन्तसुखदायी थे, और जिन्होंने प्रभु की प्रसन्नता का साधन साधु सेवा को बताया था सो आप के घर में आए; यह सब विचित्र चरित्र कुछ तो श्रीप्रभु के इङ्गित से जानते ही थे, तथा यहाँ और किसी ने कह दिया सो सुनकर भक्तजी से पूछा कि "तुम्हारा पुत्र कहाँ है ?" भक्तजी ने उत्तर दिया कि "अजी महाराज! उसकी तो मृत्यु हो गई" श्रीगुरुजी ने प्रश्न किया कि "किस भाँति से ?" उत्तर दिया कि "प्रभो ! भाँति क्या बखानूँ, इस जगत् में तो मीच लपटी ही है" तब श्रीगुरुमहाराजजी बोले कि "यह तुम्हारी भक्ति की प्रभु ने परीक्षा लेकर तुम्हारा सुयश बढ़ा के, मुझे आज्ञा दी है" कि "तुम वहाँ जाव।" यह कह आपने आज्ञा की कि "चलो, जहाँ तुमने उसको दाह किया है वहाँ चलें॥"

वहाँ जाके सिद्धशिरोमणि श्रीगुरुजी ने ध्यान करके ज्यों ही श्री-प्रभु से प्रार्थना की, त्यों ही श्रीप्रभु का प्रगट किया हुआ वह पुत्र सजीव आ पहुँचा, और उसने श्रीगुरुचरणों को प्रणाम किया। जयजयकार हुआ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् ने अपने दास की उज्ज्वल कीर्ति बढ़ाई। जिस को अद्यापि सज्जन लोग सुन और गाकर अपूर्व प्रेम में मग्न हो जाते हैं॥

(२७५) छप्पय। (५६८)

चारौ युग चतुर्भुज सदा, भक्त-गिरा सांची करन॥

१ "पायो"=मीच को प्राप्त हो गया। ❀ "भाँति का बखानौं" पाठान्तर "भाँति को बखानै ?"॥

दारुमयी तरवार सारमय रची "भुवन[१]" की । "देवा[२]" हित शित केश प्रतिज्ञा राखी जनकी ॥ "कमधुज[३]" के कपि चारु चिता पर काष्ठ जुल्याये । "जैमल[४]" के जुधि मांहि अश्व चढ़ि आपुन धाये ॥ घृत-सहित भैंस चौगुनी; "श्रीधर[६]" सँग सायक-धरन । चारौ युग चतुर्भुज सदा, भक्त-गिरा सांची करन ॥ ५२ ॥ (१६२)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीचतुर्भुज भगवान् चारों युगों में अपने भक्तों की वाणी सदा ही सच्ची करते आते हैं ॥

(१) "भक्त श्रीभुवनसिंहजी चौहान" का खड्ग था तो काष्ठ ही का, परन्तु भक्तजी के मुख से "सार" उच्चारण होते ही प्रभुने उसको उत्तम सार लोहे का बना दिया ॥

(२) एवं "श्रीदेवापण्डाजी" के कहने से उनके हित करने के अर्थ भगवान् श्रीचतुर्भुजजी ने अपने विग्रह में श्वेत (धवल) केश धारण कर उनकी प्रतिज्ञा रखली ॥

(३) ऐसा ही, "श्रीकमधुज (कामध्वजजी)" ने कहा कि "मैं जिनका दास हूँ वही मेरे शरीर का दाह करेगा," इससे कपीश हनुमान्जी ने उनकी चिता के हेतु उत्तम काष्ठ लाके इनका मृतक शरीर जलाया ॥

(४) तथा, "राजा जयमलजी" के हेतु युद्ध में प्रभु स्वयं आप घोड़े पर चढ़ के दौड़े और लड़कर विजय किया ॥

(५) इसी भाँति, "ग्वालभक्त" जिन्होंने झूठ ही कह दिया कि "मैंने भैंसें ब्राह्मण को दे दी हैं, वह घृत सहित दे जावेगा" सो भी प्रभु ने सत्य किया कि चौगुनी भैंसें घर में पहुँचीं ॥

(६) इसीप्रकार "श्रीधरजी" जिन्होंने चोरों से कहा कि "मेरे साथ रक्षक हैं" सो इनकी गिरा सत्य करने के लिये अपने चारों भुजाओं में धनुष बाण लिये हुए श्रीरघुवीर लक्ष्मणजी ने रक्षा की ॥

१ श्रीभुवन चौहानजी	४ राजा श्रीजयमलजी
२ श्रीदेवापंडाजी	५ श्रीग्वालभक्तजी
३ श्रीकामध्वजजी	६ श्रीश्रीधरजी

श्रीप्रियादासजी ने आठवें कवित्त में जो यह लिखा है कि "समझ्यो न जात मन कम्प भयो चूर है। ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अतिदूर है ॥" इस कवित्त में सभी शंका करते हैं कि इस कवित्त में कथित भक्ति के लक्षणों से पृथक् अब क्या भक्तिरूप रह गया?

सो जानना चाहिए कि सदाव्रतीजी की भक्ति और अनूठी प्रतीति तथा सन्तों को विष देनेवाली स्त्रियों की भक्ति इत्यादिक ही वे भक्तियाँ हैं कि जो पूर्वोक्त लक्षणों से दूर हैं और, श्रीभक्तमाल में वर्णित भक्तों में ही देखी जाती हैं ॥

(२७६) टीका । कवित्त । (५६७)

सुनौ कलिकाल बात, और हैं पुराण ख्यात, "भुवन चौहान[1]" जहाँ "राना" की दुहाई है। पट्टा युगलाख[2] खात, सेवा अभिलाष साधु, चल्यो सो सिकार[3] नृप, संग भीर धाई है ॥ मृगी पीछे परे, करे टूक, हुती गाभिन, यों आइ गई दया, कही "काहे को लगाई है?। कहैं मोकों 'भक्त' क्रिया करौं मैं अभक्तन की; दारु तरवार धरौं" यहै मन भाई है ॥ २२४ ॥ (४०५)

वार्त्तिक तिलक ।

"और पुराणों में ख्यात" तीनों युगों के भक्तों के उदाहरण—— (१) कृतयुग में श्रीध्रुवजी ने कहा कि मैं प्रभु का भजन कर सिंहासन और राजा के गोद में बैठूँगा (२) त्रेता के आदि में प्रह्लादजी ने कहा कि खंभे में प्रभु हैं (३) द्वापर में भीष्मजी ने कहा कि मैं प्रभु को अस्त्र गहाऊँगा, इनकी तथा अनेक की वाणी प्रभु ने सच की (४) कलियुग में श्रीभुवन चौहानजी, इत्यादि ॥

---

(५३) श्रीभुवनजी चौहान ।

और युगों की कथाएँ तो पुराणों में विदित ही हैं, अब कलिकाल के भक्त की कथा सुनिये——जहाँ चित्तौरगढ़ उदयपुर के राना की दोहाई अर्थात् राज्य है, वहाँ एक भक्त श्रीभुवनसिंहजी चौहान थे।

---

१ "चौहान"=क्षत्रिय जातिविशेष। २ "युगलाख"=दो लाख, २००००० ।
३ "सिकार"=शिकार, मृगया, आखेट ॥

राना के यहाँ से दो लाख रुपये वार्षिक पाते थे, इसके लिये भूमि का पट्टा था; और भक्तजी साधुसेवा बड़ी अभिलाषा से करते थे। एक दिवस राना मृगया (शिकार) खेलने को चला; संग में सब राजभृत्य तथा सामन्त भुवनसिंहजी भी चले; कालवश एक मृगी के पीछे आपने घोड़ा दौड़ाकर उसको खड्ग से दो टुकड़े कर दिये; वह गर्भवती थी; उसको देखके भक्तजी को अति दया और ग्लानि आई; और मन में पछताने लगे कि "हा! मैंने क्यों मारा? मुझको सब लोग 'भगवद्भक्त' कहते हैं, परन्तु मैं कर्म अभक्तों का करता हूँ। इससे मन में संकल्प किया कि मैं आज से काष्ठ की कृपाण बनवाके धारण किये रहूँगा"। सो आपने वैसा ही किया॥

(२७७) टीका। कवित्त। (५६६)

और एक भाई, तानै देखी तरवार दारु, सक्यो न सँभार, जाय राना कौं जनाई है। नृप न प्रतीति करै, करै यह सौंह नाना, बाना प्रभु देखि तेज, बात न चलाई है॥ ऐसे ही बरस एक कहत बितीत भयो, कह्यो "मोहिं मारि डारौ, जोपै मैं बनाई है"। करी गोठ[1], कुंड जाय, पायकै प्रसाद, बैठे प्रथम निकासि आप, सबनि दिखाई है॥ २२५॥ (४०४)

वार्त्तिक तिलक।

इस वार्ता को चौहानजी के एक (कुलसंबंधी) भाई ने जाना और देखि लिया; और इस मर्म को अपने हृदय में रख न सका, वरंच जाके राना से कह दिया। परन्तु राना प्रतीति नहीं करता था। पिशुन ने नाना शपथ खाकर आग्रहपूर्वक कहा कि "महाराज! उनका खड्ग वास्तव में काष्ठ का ही है।" तथापि भक्तजी का श्रीहरिभक्तवेष और तेज देखकर राना ने आपसे उसका कुछ चर्चा नहीं की। इसी प्रकार एक वर्ष पर्यन्त उसने कहा ही किया; निदान उसने यह कहा कि "यदि मैं अन्यथा बनाके कहता होऊँ तो मुझको मार डालियेगा।" तब एक दिन राना ने, अपने एक

१ "गोठ"=गोष्ठी, सभा॥

उपवन के समीप सर (कुण्ड) के तीर समाज सहित जाके, भोजन कर, सभा गोष्ठी (गोठ) की। वहाँ राना ने प्रथम अपना खड्ग कोश से खींचकर सबको दिखाया ॥

(२७८) टीका। कवित्त। (५६५)

क्रमसौं निहारि, कही भुवन "बिचार कहा ?" कह्यौ चाहै 'दार'[1] मुख निकसत 'सार' है। काढ़िकै दिखाई, मानौं बिजुरी चमचमाई आई मन माँझ बोल्यौ "याकौ मारौ भार है" ॥ भक्त कर जोरिकै बचायौ "अजू! मारिये क्यों ? कही बात झूठ नहीं; करी करतार है"। "पट्टा दूना-दून पावौ, आवौ मत मुजरा कौं, मैं ही घर आऊँ, होय मोय मेरौ निस्तार है" ॥ २२६ ॥ (४०३)

वार्त्तिक तिलक।

राजा ने पहिले अपना खड्ग दिखाके फिर क्रमसे सब वीरसामन्तों के खड्ग, कोशों (मियानों) में से खिंचवाके, देखे और कहा कि "भुवनजी! क्या विचार करते हो ? तुम भी तो दिखाओ।" तब भुवनजी खड्ग को कर में लेकर कहा ही चाहते थे कि "मैं क्या दिखाऊँ, मेरा खड्ग तो दार का है," परन्तु सार का कर देनेवाले प्रभु ने 'दार' शब्द के स्थानपर मुखसे 'सार' कहला दिया, और साथ ही ज्योंही चौहानजी ने कृपाण खींचकर दिखाया, वही (तलवार) बिजली सा चमचमाने लगी कि राना की आँखों में चकचौंधसा हो आया। देखकर राना फड़क उठा और विचार के अपने वीरों से बोला कि "यह मिथ्यावादी पिशुन भूमि का भार है, इसको मार डालो ॥"

श्रीभुवनजी श्रीसीतारामभक्त तो थे ही, उस शत्रुता करनेवाले पर भी दया कर उसके प्राण बचाने के लिये हाथ जोड़कर राना से आपने कहा कि "महाराज! इसको क्यों मारते हैं ? इसने मिथ्या नहीं कही क्योंकि मैंने एकदिन आपके संग एक गर्भिणी मृगी को मारा, उसका

[1] "दार"=दारु, काष्ठ, लकड़ी ॥

बच्चा भी कटगया। उस दिन से दयावश मैं काष्ठ ही का कृपाण रखता था, इससे मेरा खड्ग तो था दारु ही का, परन्तु भक्तवत्सल करतार ने इसको सार का कर दिया॥" ऐसा सुन, रानाजी श्रीभुवन भक्त की सब वार्ता यथार्थ मान, भक्तियुक्त कहने लगे कि "आजसे आपको पट्टा दूना (चारलाख) दिया जाय, और आप मेरी सभा में जुहार करने तथा सेवा में कभी मत आया कीजिये; मैं ही दर्शन के लिये आपके ही घर आया करूँगा कि जिससे भवसागर से निस्तार हो जायगा॥"

अरिल्ल

"भई तलाया गोंठ जुरे जहँ चक्कवै।
परचौ निज है, आजु खाय द्वै लक्खवै॥
परमेश्वर पति राखि, बात नहिं कहन की।
बिजुरी ज्यों तरवार चमंकी भुवन की॥"

---

(५४) "राना" के कुलदेव "श्रीचतुर्भुजजी" के पंडा श्रीदेवाजी।

(२७९) टीका। कवित्त। (५६४)

दरसन आयो "राना" रूप "चतुभुजजू" कैं, रहे प्रभु पौढ़ि, हार सीस लपटाये हैं। बेगि दै उतारि, कर लैकैं गरे डारि दियो, देखि धौरौ[1] बार, कही "धौरे[2] आये?" "आये हैं"॥ कहत तो कही गई, सही नहीं जात अब, "महीपति डारै मारै" हरिपद ध्याये हैं। "अहो हृषीकेश! करौ मेरे लिए सेतकेस लेसहूँ न भक्ति" कही "किये, देखौ, छाये हैं"॥ २२७॥ (४०२)

वार्तिक तिलक।

श्रीचतुर्भुज भगवान् के दर्शन के हेतु रात्रि में राना प्रायः आया करता था। एकबार राना को अबेर हो गई और प्रभु के शयन का समय जानकर श्रीदेवाजी (पंडा*) ने शयन करा दिया, और प्रसाद

---

१ "धौरौ"=धवल, श्वेत। २ "धौरे आये हैं?"=केश क्या उज्ज्वल हो गये? क्या बाल पक गए?॥ * देवाजी श्रीपयहारी कृष्णदासजी के शिष्य (गृहस्थ) थे॥

माला लेकर अपने माथे में लपेट लिया; उसी अवसर राना दर्शन को आया; सो तो हुआ नहीं। परन्तु श्रीदेवाजी ने शीघ्रता से अपने सीस से माला उतारकर राना के गले में डाल दिया; उसमें लपटा हुआ पंडा (पुजारी) जी का एक श्वेत केश चला गया; उसको देख, राना ने कुछ सकोप व्यंग वचन से पूछा कि "पंडाजी ! क्या श्रीचतुर्भुजजी के केशों में शुक्लता (सफेदी) आ गई ?।" श्रीपंडाजी के मुख से निकल गई कि "हाँ आगई।" राना यह कहकर चला गया कि "कल दिन को आके दर्शन करूँगा॥"

पुजारीजी ने कहने को तो कह दिया, परन्तु अब अति दुःसह चिन्ता हुई कि 'राजा अब मुझे मारही डालेगा;' परन्तु भक्त तो थे ही, इससे प्रभु के चरणकमल का ध्यान करने लगे—

दो० "सीतापति रघुनाथजी ! तुम लगि मेरी दौर !
जैसे काग जहाज को, सूझत और न ठौर॥"

द्वारदेश में बैठ ध्यान करते हुए यह विनय करने लगे कि "हे हृषीकेश ! वाक्-इन्द्रिय के प्रेरक, अब आप मुझ दास की रक्षा के निमित्त वस्तुतः श्वेत केश धारण कीजिये। यद्यपि मुझमें आपकी भक्ति का लेश भी नहीं है, तथापि हूँ तो आप ही का।" ऐसी अति प्रार्थना सुन भक्तवत्सल कृपालु की, मन्दिर के भीतर से, स्पष्ट वाणी हुई ही तो सही कि "मैंने धारण कर लिये; देखो, मेरे मस्तक में धवल केश छाए हैं॥"

(२८०) टीका। कवित्त। (५६३)

मानि राजा त्रास, दुखरासिसिन्धु बूड़यो हुतो, सुनि कै मिठास-बानी, मानौ फेरि जियो है। देखे सेतबार, जानी कृपा मो अपार करी, भरी आँखैं नीर "सेवा लेस मैं न कियो है॥ बड़ेई दयाल, सदा भक्तप्रतिपाल करैं; मैं तो हौं अभक्त, ऐपै सकुचायो हियो है"। "झूठे सनबंधहू तैं नाम लाजै मेरोई जु," तातैं सुख साजै यह दरसाय दियो है॥ २२८॥ (४०१)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीदेवापंडाजी जो राजा का बड़ा भारी डर मान दुःखराशिरूपी समुद्र में डूबे हुए थे, सो इन्होंने श्रीप्रभु की यह अतिमिष्ट मृतकजियावनि वाणी सुनकर ऐसा सुख पाया कि मानो मरणशील अमृत पीके जी उठे, और फिर जब प्रभु के सीस में धौले बाल देखे तब और भी आनन्दमग्न हो अपने ऊपर सर्कार की अपार कृपा जान नेत्रों में प्रेमाश्रु भरके, प्रभु को धन्यवाद करने लगे कि "मैंने प्रभु की लेशमात्र भी सेवा नहीं की, परन्तु भक्तवत्सल प्रभु बड़े ही दयालु हैं, सदा अपने भक्तों का प्रतिपाल करते हैं; और मैं तो अभक्त ही हूँ, तथापि मेरी प्रार्थना से आपका कोमल हृदय संकोच को प्राप्त हुआ, पर हाँ, मैं झूठा सच्चा आपही का तो कहलाता था, सो इस सम्बन्ध से आपने यह विचार किया कि 'जो मैं इसकी अब रक्षा नहीं करूँ, तो मेरे ही नाम की लज्जा होगी' अतएव सर्कार ने मेरे सुख का साजनेवाला यह वेष धारण कर लिया, और अपनी कृपालुता सबको दिखा दी॥"

(२८१) टीका । कवित्त । (५६२)

आयो भोर राना, सेतबार सो निहारि रह्यो, कह्यो "केस काहू के लै पंडा ने लगाये हैं"। ऐंचि लियौ एक तामैं, खैंचिकै चढ़ाई नाक, रुधिर की धार नृपअंग छिरकाये हैं॥ गिर्यो भूमि मुरछा ह्वै, तन की न सुधि कछू, जाग्यो जामबीते, "अपराध कोटि" गाये हैं। "यही अब दंड राज बैठे सो न आवै इहाँ;" अबलौंहूँ आनि मानि करै जो सिखाये हैं॥ २२६॥ (४००)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा के मन में यह अमर्ष तो था ही कि "इस बुड्ढे (पुजारी) ने अपना पहिना हुआ हार मुझे पहिराया है," इससे प्रभात ही आकर श्रीचतुर्भुजजी के दर्शनकर श्वेतबाल देख चकित हो रहा, क्योंकि करुणानिधि प्रभु की कृपालुता उसको निश्चय तो हुई ही नहीं, अतः विचार किया कि "पंडे ने किसी के धवले केश लेकर लगा दिये हैं; इस अप्रतीति से श्रीचतुर्भुजजी के समीप जाके परीक्षा के लिये उसने एक

बाल उखाड़ ही तो लिया। उखाड़ने के साथ ही प्रभु ने अपनी नासिका सिकोड़ी (नाक चढ़ाई), और उससे लहू की धारा वेग से निकलकर राना के अंगों पर आ पड़ी; प्रभु के उस अपचार से राना मूर्च्छित होके भूमि पर गिर पड़ा, पहर भर उसको शरीर की तनक भी सुधि न रही॥

जब पहर भर पीछे वह मूर्च्छा से जगा, श्रीसर्कार से अपना "बहुत भारी अपराध" कहके क्षमा कराने लगा, तब श्रीरूपचतुर्भुजजी की आज्ञा हुई कि "यहाँ के राजाओं को अब यही दण्ड है कि जो राजगद्दी पर बैठा करे, आज से वह हमारे दर्शन को न आया करे।" इससे उदयपुर राना के वंश में जो राजा होता है राजतिलक होने पर वह प्रभु की आज्ञा की आन मानकर अब तक श्रीचतुर्भुजजी के मन्दिर में नहीं आता॥

---

(५५) श्रीकामध्वजजी।

(२८२) टीका। कवित्त। (५६१)

भए चारिभाई करैं चाकरी वै रानाजू की; तामैं एक भक्त, करै बन मैं बसेरो है। आय कै प्रसाद पावै, फेरि उठि जाय तहीं; कहैं "नेकु चलौ तौ, महीना लीजै तेरो है"॥ "जाके हम चाकर हैं, रहत हजूर[1] सदा," "मरै तौ जरावै कौन ?" "वही जाको चेरो है।" छूट्यो तन बन, राम-आज्ञा हनुमान आए, कियो दाह, धुआँ लगे प्रेत पार नेरो[2] है॥ २३०॥ (३६६)

वार्त्तिक तिलक।

चित्तौरगढ़-उदयपुर में ही राना के यहाँ इन चारों भाइयों की चाकरी लिखी थी, महीना पाते थे; परन्तु तीन भाई तो राना की सेवा में उपस्थित होते थे, पर एक चौथे कामध्वजजी श्रीसीतारामजी के अनन्य भक्त थे; ये वन ही में भजन करते हुए निवास करते, केवल प्रसाद पानेमात्र को घर आ जाया करते; और प्रसाद पाके फिर वहीं वन ही

---

१ "हजूर"=حضور=हुज़ूर, सम्मुख, वर्त्तमान, उपस्थित। २ "नेरो"=निकट, समीप॥

में चले जाया करते थे। तीनों कहा करते कि "भला तुम तनक एक बेर तो रानाजी को जोहार कर आया करो, क्योंकि तुम्हारी चाकरी का महीना भी हम लोग वहाँ से लाया करते हैं, न जाओगे तो कैसे मिलेगा ?" यह सुन श्रीयुत कामध्वजजी ने उत्तर दिया कि "मैं जिस प्रभु का चाकर हूँ उसी की सेवा में सदा निकट रहता हूँ।" तब भाइयों ने सक्रोध होके कहा कि तू "जब मरेगा तो तुझे जलावेगा कौन ? (हम तो न जलावेंगे)।" आपने छूटते ही (शीघ्र ही) उत्तर दिया कि "जिसका यह दास है सोही जलावैगा ॥"

निदान, आपका शरीर वन में ही छूटा, और उसी क्षण कृपानिधान श्रीसीतारामजी की आज्ञा से श्रीकपिनाथ हनुमान्जी आकर चन्दन की लकड़ी की चिता बनाके यथेष्ट दाह-क्रिया कर उनको दिव्य रूपसे श्रीरामधाम को ले गए। वरंच चिता के समीप में वृक्षों पर जो बहुत से प्रेत रहते थे सो वे सब प्रेत, आपके शरीर का धुवाँ लगने से, प्रेतयोनि से मुक्त होकर शुभगति को प्राप्त हुए। किन्तु एक प्रेत उस घड़ी वहाँ उपस्थित न था; आने पर अपने सजातियों को न देखकर, किसी एक मूर्त्ति से उसने सब वार्त्ता सुनी और उसी चिता की भस्म में लोटपोटकर प्रेतत्व से छूट शुद्ध हो सद्गति पाई ॥

---

(५६) श्रीजयमलजी ।

(२८३) टीका । कवित्त । (५६०)

"मेरतैं" प्रथम बास, "जैमल" नृपति, ताकौं सेवा-अनुराग, नेकु खटकौ न भावहीं। करैं घरी दस, तामैं कोऊ जो खबरि[1] देत, लेत नहीं कान, और ठौर मरवावही ॥ हुतो एक भाई बैरी, भेद यह पाइ लियो कियो आनि घेरौ, माता जाइकैं सुनावहीं। "करैं हरि भली," प्रभु घोरा असवार[2] भए, मारी फौज[3] सब, कहैं लोग सचुपावहीं ॥ २३१ ॥ (३६८)

१ "खबरि"=खबर خبر समाचार, जताना, जाके सुनाना। २ "असवार" اسوار=सवार, अश्वारूढ़। ३ "फौज" فوج=सेना ॥

वार्त्तिक तिलक।

हरिभक्तराज श्रीजयमलसिंहजी का, प्रथम "मेरता" नगर में निवास था; भगवत् की सेवा-पूजा में इनका ऐसा एकाग्र अनुराग था कि उसमें किंचित् भी खटका होने से क्लेश मानते थे; और दस घड़ी पर्य्यन्त नियम से पूजा करते थे; इस समय के बीच में जो कोई किसी प्रकार की वार्त्ता जनावे तो आप उसको श्रवण नहीं करते; वरंच उसी ठाँव वह मारा जायगा ऐसी आज्ञा दे रक्खी थी। आपके इस नियम का सब भेद आपके एक वैरी भाई ने जानकर उसी समय के प्रारंभ में बहुत सी सेना लेकर नगर को आ घेरा; और तो कोई आपके पास समाचार जताने को जा सका नहीं, परन्तु आपकी माताजी ने आके उस दुष्ट का घेर लेना आपको सुना दिया। सुनकर भक्तराज श्रीजयमलजी ने इतनी ही बात कही कि "श्रीहरि भली करेंगे" और उसी प्रकार सेवा-पूजा में ही लगे बने रहे॥

तब शत्रुसूदन भक्तवत्सल श्रीप्रभुजी जयमलसिंह के घोड़े पर चढ़ अस्त्र-शस्त्र ले सब सेना को मार, उस शत्रु को भी घायल कर गिराके, घोड़े को अश्वशाले में बाँध आप अन्तर्धान हो गए। और प्रभु की इस कृपालुता कर्त्तव्यता को देख लोगों ने आके कहा कि "वैरी की सब सेना मारी हुई पड़ी है।" यह सुन सब सचु (सुख) को प्राप्त हुए॥

(२८४) टीका। कवित्त। (५५९)

देखै हाँफै घोरो; "अहो! कौन असवार भयौ?" गयो आगे जबै, देख्यो वही बैरी पर्‌यो है। बोल्यो सुखपाय "अजू! साँवरो-सिपाही को है? एकले ही फौज मारी, मेरो मन हर्‌यो है॥" "तोही को दिखाई दई, मेरे तरसत नैन!" बनन सों जानी 'वही स्यामप्रभु ढर्‌यो है'। पूछिकै पठाय दियौ, वा नै पन यहै लियौ, कियौ, इन दुःख, करै भली, बुरो कर्‌यो है॥ २३२॥ (३९७)

वार्त्तिक तिलक।

अपना नियम पूजा समाप्तकर उठके वस्त्र शस्त्रादि से सुसज्जित हो,

निकलकर, श्रीजयमलजी ने अपना घोड़ा मँगवाया; देखें तो वह घोड़ा अत्यन्त श्रमित होकर पसीने से भरा हाँफ रहा है। देखकर आपने पूछा कि "इस घोड़े पर चढ़ा कौन था?" पर किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया क्योंकि कोई इसका मर्म जानता ही न था॥

फिर आप वैरी की सेना की ओर आगे जाके देखें तो वही शत्रु घायल पड़ा हुआ है। परन्तु प्रभु के दर्शन के सुख-युक्त उसने श्रीजयमलजी से पूछा कि "अजी महाराज! आपके यहाँ वह साँवला सा सुभट वीर कौन है? कि जिसने अकेले ही सब सेना (फ़ौज) मारडाली और मुझे घायलकर अपनी सुन्दरता से मेरा मन हर लेगया॥"

दो० "सियपिय वदन अदोष ससि, अलकावलि युग नाग।
　　नयन विशेष कटाक्ष शर, सखि! मोरे हिय लाग॥"

उसके वचन सुन, आप बोले कि "उन श्यामसुन्दर सुभट ने तुम्हीं को दर्शन दिया, मेरी तो आँखें तरस ही रही हैं॥"

आपके वचनों से उस शत्रु ने जाना कि "अहो हो! वे तो स्वयं प्रभु ही थे जिन्होंने कृपाकर इनकी रक्षाहेतु आके ऐसा पुरुषार्थ किया॥"

श्रीजयमलजी ने उससे पूछा कि तुम्हारी क्या इच्छा है? उसने कहा कि "मैं अपने घर जाया चाहता हूँ" आपने कृपाकर उसको पालकी में चढ़ाकर उसके घर पहुँचवा दिया। अपनी दुष्टता की ग्लानि से दुःखित हो उसने विचारा कि "देखो, प्रभु के भक्त ऐसे होते हैं कि मैंने तो उनसे ऐसी दुष्टता की, और उन्होंने मेरे साथ ऐसी भलाई की।" फिर वह भी श्रीजयमलजी की नाईं पूजन का पन ले सपरिवार भक्त हो गया॥

(५७) एक ग्वालभक्तजी।

(२८५) टीका। कवित्त। (५५८)

भयो एक ग्वाल, साधुसेवा सो रसाल करै, परै जोई हाथ लैकै सन्तन खवावहीं। पायो पकवान बनमध्य, गयो खवाइबेकों; आइबे

की ढील, चोर भैंस सो चुरावहीं ॥ जानिकै छिपाई बात मातासौं बनाइ कही, "दई बिप्र भूखौ, घृतसंग फेरि आवहीं"। दिन हो दिवारी कौ सु उन्हि पहिरायौ हाँस, आइ घर जाम लिये राँभकै सुनावहीं ॥ २३३ ॥ (३६६)

वार्त्तिक तिलक ।

किसी उत्तम ग्राम में ग्वाल जाति के मध्य एक भगवद्भक्त हुए; वे बड़ी रसीली साधुसेवा किया करते थे, कि जो कुछ भोजन का अच्छा पदार्थ हाथ लगता था सो सन्तों ही को खिला देते थे। एक दिवस वन में भैंस चरा रहे थे; किसी तिथि उत्सव संयोग से इन्हीं के घर से अच्छे २ पकवान उनके पास पहुँचे; सो आपने तो पाए नहीं, लेके समीपस्थ किसी साधु को पवाने के लिये ले गए; और भैंसें वहाँ ही छोड़ गए; आने में जितना विलम्ब हुआ उसी अन्तर में चोर भैंसों को चुराके हाँक ले गये। आपने आके देखा ढूँढ़ा तो भैंसें मिलीं नहीं; भक्तजी ने जान लिया कि भैंसों को चोर ले गए। परन्तु घरवालों के भय से उस वार्ता को छिपाकर माता से बात बना दी कि "माई! मैंने भैंसें एक भिक्षुक भूखे ब्राह्मण को दे दी हैं; वह माठा खायेंगे और घी सहित भैंसें फिर दे जायँगे॥"

कुछ दिन के अनन्तर जब दीपावली (दिवाली) का दिन आया, उस दिन चोरों ने भैंसों को उत्साह से चाँदी की हँसुलियाँ पहिनाईं; तब अपने भक्त की वाणी सत्य करनेवाले तथा भैंसों के प्रेरक प्रभु की प्रेरणा से भक्तजीकी भैंसें उसके घर की भैंसों को भी साथ ले भगीं; और श्रीग्वाल भक्तजी के घर पर सबकी सब आकर खड़ी हो रँभाने (शब्द करने) लगीं। श्रीभक्तजी ने देखकर कहा कि "माता! देखो, भैंसें आ गईं; और घी बेंच के रुपयों की हँसुलियाँ भी बनवाके ब्राह्मण देवता देकर चले गये।" श्रीसाधुसेवी भक्त की गिरा सत्यकारी भगवान् की जय॥

"अरुण मृदुल येई पदपंकज त्रिबिध ताप दुखहरण हमारे॥"

(५८) श्रीश्रीधर स्वामीजी ।

(२८६) टीका । कवित्त । (५५७)

भागवत-टीका करी "श्रीधर" सुजानि लेहु, गेह मैं रहत, करैं जगत व्यवहार हैं। चले जात मग, ठग[1] लगे, कहैं "कौन संग ?" "संगरघुनाथ मेरे जीवन अधार हैं" ॥ जानी इन कोउ नाहिं; मारिबो उपाय करे; धरे चाप बान, आवैं वही सुकुमार हैं। आये, घर ल्याये, पूछैं "स्याम सो सरूप कहाँ ?" जानी वेतौ[2] पार किये आपु, डार्यो भार हैं ॥ २३४ ॥ (३६५)

वार्त्तिक तिलक ।

ऊपर, कवित्त १६४ में, कह आए हैं कि श्रीश्रीधर स्वामीजी ने श्रीमद्भागवत पर कैसी उत्तमोत्तम परमधर्ममय टीका की है। सो जान लीजिये कि पहिले आप गृहस्थाश्रम में रहके संसार के शास्त्रोक्त व्यवहार किया करते थे और धनी भी थे। उन्हीं दिनों में एक समय, आप आगरे से घर चले आ रहे थे; मार्ग में कई ठग आपके साथ लग गए। उन ठगों ने आपसे पूछा कि "तुम्हारे संग कोई है ? और है तो कौन है ?"

आपने उत्तर दिया कि "मेरे संग मेरे प्राणाधार शार्ङ्गधर श्रीरघुवीर हैं॥"

इससे ठगों ने यह जान लिया कि "इनके साथ कोई भी नहीं है," वे आपके मार डालने का उपाय करने लगे। वहीं धनुष बाण धरे हुए वे ही सुकुमार श्रीभक्तरक्षक प्रभु जिनको आपने अपने साथ बूझा और बताया था ठगों के देखने में आए, और साथ साथ बने रहे यहाँ तक कि आप कुशल आनन्दपूर्वक घर पहुँच गए॥

आकर ठग श्रीश्रीधर स्वामी से पूछने लगे कि "जो परम सुकुमार श्यामसुन्दर वीर धनुषबाणधारी रक्षक तुम्हारे संग संग आया है, वह अब कहाँ है ? हम देखा चाहते हैं।" तब यह जानकर कि

---

१ "ठग लगे"=ठग पीछे पीछे साथ हो लिये। २ "वे"=प्रभु । ३ "डार्यो भार हैं"= गृहस्थी के भार को त्याग डाला॥

"स्वयं सर्कार ने ही मार्ग में मुझे विपिन के पार किया," आपने गृह के समस्त भार को तज डाला और निर्द्वन्द्व हो श्रीहरि के भजन में लग गए। श्रीभागवत टीका इसके पीछे की॥

चौपाई।

"प्रीति कृपा जो सदा निबाही। ऐसे प्रभु तजि भजिये काही॥"
"सिय सियपिय तजि भजिये काही। मोसे पतित पर ममता जाही॥"

(२८७) छप्पय। (५५६)

भक्तनि सँग भगवान नित, ज्यों गऊबच्छ गोहन फिरैं॥ "निहिंकिंचिन" इक दास तासु के हरिजन आये। बिदित बटोही रूप भये हरि आपु लुटाये॥ साषि देन कौ स्याम "खुरदहा" प्रभुहि पधारे। "रामदास" के सदन राय रन-छोर सिधारे॥ आयुध-छत तन अनुग के, बलिबंधन अपु बपु धरैं। भक्तनि सँग भगवान नित, ज्यों गऊबच्छ* गोहन[1] फिरैं॥ ५३॥ (१६१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवान् अपने भक्तों के साथ सर्वदा ऐसे फिरा करते हैं कि जैसे वत्स के संग संग गऊ॥

(१) एक साधुसेवापरायण हरिभक्त "निष्किञ्चन" नाम तिनके घर साधु लोग आए; भक्तजी की साधुसेवावृत्ति विदित ही थी, तथा यह कथा भी विदित है कि श्रीलक्ष्मीजी सहित स्वयं भगवान् ही एक सरावगी साहूकार बटोही के रूप में आए, और भक्तजी के हाथों से अपने तईं लुटवा डाला॥

(२) साखी देने के निमित्त श्यामप्रभुजी आपही खुर्दहा ग्राम में पधारे। (अपने पास बुलवाया नहीं)॥

(३) श्रीरायरनछोरजी "द्वारकाजी" से "डाकोर" श्रीरामदासजी के घर कृपा करके आए; और पण्डों के हथियार के घाव को भक्त के

* पाठान्तर "गऊ बच्छ"। १ "गोहन"=पीछे पीछे, साथ साथ॥

शरीर में लगने नहीं दिया, वरन् बलिबन्धन*प्रभु ने उस हथियार का घाव आपही अपने ही अंग पर ले लिया ॥

बछड़े के संग संग डोलनेवाली गऊ की भाँति भगवत् नित्य अपने अनुगों के साथ साथ विचरा करते हैं (फिरा करते हैं) ॥

(१) श्रीनिष्किञ्चन हरिपालजी;
(२) श्रीगोपालजी ने जिसभक्त के लिये साक्षी दी;
(३) श्रीरामदास डाकोरवाले ॥

☞ इन सब भक्तों की कथा आगे आती है ॥

---

(५९) निष्किञ्चन नाम "हरिपाल" ब्राह्मण।

(२८८) टीका । कवित्त । (५५५)

भक्तनि के संग भगवान् ऐसे फिखो करैं जैसे बच्छ संग फिरै नेहवती गाइ है। "हरिपाल" नाम बिप्रधाम में जनम लियो, कियो अनुराग साधु, दई श्री[1] लुटाइ है ॥ केतिक हज़ार[2] लै बज़ार[3] के क़रज़[4] ख्वाए[5], गरज़[6] न सरै, कियो चोरि को उपाइ है। बिमुख कों लेत, हरिदास कों न दुःख देत; आये संतद्वार; तियासंग बतराइ है ॥ २३५ ॥ (३९४)

वार्त्तिक तिलक ।

जैसी नेहवती गऊ अपने बच्चे के पीछे फिरा करती है वैसे ही श्रीभगवान् अपने भक्तों के संग संग सदा फिरा करते हैं ॥

श्रीहरिपालजी ने एक ब्राह्मण के धाम (घर) में जन्म लिया। संतों में बड़ा प्रेम रखते और भारी साधुसेवा किया करते थे; इसी

---

* यहाँ प्रभु का "बलिबन्धन"= नाम लिखने का भाव—(१) जैसे प्रभु ने राजा बलि को ऐसे छला कि नापने के समय शरीर बढ़ा के तीन ही पग में सब नाप लिया, वैसे ही यहाँ अति हलके होकर आप पण्डों को ठग दिया कि अपने सारे विग्रह को केवल एक बाली के तुल्य कर दिया। (२) जैसे बलि के यहाँ प्रभु विराजे, वैसे रामदासजी के यहां भी ॥

१ "श्री"=धन। २ "हज़ार"=هزار सहस्र १०००। ३ "बज़ार"=بازار हाट, नगर। ४ "क़रज़"= قرض क़र्ज़, ऋण, उधार। ५ "ख्वाए"=खवाए, खिलाए, खिला दिये। ६ "ग़रज़"=ग़र्ज़, غرض प्रयोजन, कार्य्य ॥

में आपने घर का सब धन उठा दिया, वरंच महाजनों से कई सहस्र रुपये ऋण भी लेकर साधु भक्तों को खिला दिये; यहाँ तक कि आप का नाम "निष्किञ्चन" प्रसिद्ध होगया ॥

जब ऋण भी नहीं मिलने और काम नहीं चलने लगा, तो साधु-सेवा ही के निमित्त चोरी पर पड़े, इस प्रकार से कि हरिविमुखों ही का धन लेते और भगवद्भक्तों को कदापि कुछ कष्ट नहीं देते थे। एक बेर कुछ साधु आपके द्वार पर आ निकले। उनके भोजन के निमित्त अपनी धर्मपत्नी से बातचीत करने लगे ॥

(२८९) टीका। कवित्त। (५५४)

बैठे कृष्ण रुक्मिनी महल[1] तहाँ सोच परचो, हरचो मन साधुसेवा, साहरूप कियो है। पूछी "चले कहाँ?" कही "भक्त है हमारो एक" "मैं हूँ आऊँ?" "आओ;" आये जहाँ पूछि लियो है॥ "अजू मग चल्यो जात बड़ो उत्पात मधि, कोऊ पहुँचावै, देवौं," लै रुपैया दियो है। "करो समाधान संत; मैं लिवाइ जाऊँ इन्हें;" जाइ बनमाँझ, देखि बहु धन, जियो[2] है॥ २३६ ॥ (३६३)

वार्त्तिक तिलक।

जब घर में कुछ नहीं ठहरा तो आप बड़े विकल हुए। उसी समय श्रीकृष्णभगवान् का मन भी, कि जो श्रीद्वारका के अन्तःपुर में श्रीरुक्मिणी महारानीजी के साथ विराज रहे थे, भक्तजी की ओर खिंचगया कि "हम विश्वम्भर कहलाते हैं और हमारे ही भक्त के पास इस क्षण साधुसेवा के अर्थ कुछ नहीं है।" कहाँ तो श्रीरुक्मिणी महारानीजी की परम प्रीति में मोहित थे, कहाँ भक्त की साधुसेवा-निष्ठा ने भगवान् का मन हरलिया। उठते देख महारानीजी ने पूछा कि "चले कहाँ?" हरि ने उत्तर दिया कि "अमुक स्थान में मेरा एक भक्त है, मैं उसीके यहाँ जाता हूँ।" श्रीजी ने पूछा कि "मैं भी आऊँ? (चलूँ)।" हरि ने कहा "आओ, चलो॥"

१ "महल"=محل=अन्तःपुर, रनिवास। २ "जियो है"=जी गये है, प्राण आए हैं, अति हर्ष को प्राप्त हुए हैं।

सरावगी साहूकार और साहूकारिनि के रूप में चलके दोनों, जहाँ श्रीनिष्किञ्चन भक्त अपनी धर्मपत्नी से बातें कररहे थे, आ पहुँचे। भक्तजी के पूछने पर साहूकारजी बोले कि "मार्ग के बड़े २ उत्पात में चलना है, सो यदि कोई हम लोगों को पहुँचा देवे तो उसको रुपये दें।" श्रीनिष्किञ्चनजी ने यह बात स्वीकार कर ली; और साहूकारजी ने कुछ रुपए दिये। इस द्रव्य को भक्तजी ने अपनी धर्मपत्नी को देकर कहा कि "तबतक तुम इससे सन्तों का बालभोग इत्यादि से कुछ समाधान करो, इतने में मैं इन लोगों को पहुँचाने को लिवा जाऊँ।" साहूकार तथा साहूकारिनि के साथ आप चले; वन में जा यह देख हर्षित हुए कि इन हरिविमुखों के पास धन गहने बहुत हैं॥

(२९०) टीका। कवित्त। (५५३)

देखैं जो निहार, माला तिलक न सदाचार, "होयँगे भण्डार जो पै धन इतो लायो है। लीजियै छिनाइ" "यह वारि" कहै "डारि देवौ;" दियौ सब डारि, छला छिगुनी में छायो है॥ अँगुरी मरोरि, कही "बड़ो तूँ कठोर अहो" तोकों कैसे छोड़ौं सन्त जेवैं मोको भायो है"। प्रगट दिखायो रूप सुन्दर अनूप वह, "मेरे भक्त-भूप" लैकै छाती सों लगायो है॥ २३७॥ (३९२)

वार्त्तिक तिलक।

आपने देखभाल लिया कि 'साहूकार के कोई संस्कार वैष्णव सदाचारानुसार अर्थात् माला तिलक कण्ठी छाप इत्यादि कुछ नहीं है और न भगवत् नाम ही उच्चारण करता है, परन्तु साहूकार साहूकारिनि दोनों के अंगों पर धन गहने लदे हुए हैं' इसलिये विचारने लगे कि 'जो इनके भण्डार बहुत धन से भली भाँति भरे हैं, तब तो ये इतना धन साथ लाए हैं; और इतने धन के हाथ लगने से संतों का भारी भण्डारा होगा, सो इसको छीन लेना चाहिये;' ऐसा मन में ला उन दोनों से बोले कि "एकही बेर कहने पर सब धन गहने धर दो।" दोनों ने अपने तईं असहाय जान

इनको धनुषबाणादिक हथियार लिये देख, डर के मारे सब कुछ उतार दिये, पर केवल एक छल्लामात्र साहूकारिनि वा साहूकार की अंगुली में रह गया। वह भी आपने अँगुली मरोड़कर छीन ली। सुकुमारी बोली कि "हा निगुड़ा! तू बड़ा ही निठुर है!" आपने उत्तर दिया कि "मुझे इसका छोड़ना कैसे अच्छा लग सकता है? क्योंकि इस छल्ले में कई संतों का भोजन हो सकता है।" धन ले, दोनों को वहीं बाट में छोड़, आप साधुओं के भोजन की चिन्ता में अपने घर की ओर लपके; थोड़ी ही दूर आये थे कि प्रगट हो भगवान् ने सुन्दर अनूप युगल मूर्ति से भक्तजी को दर्शन दिये। श्रीनिष्किञ्चनजी ने साष्टांग दण्डवत् कर वह सब भूषणादि श्रीदम्पति के कमलचरणों के सामने रखकर निवेदन किया कि "सर्कार! इसमें जो २ अनूठे २ गहने हैं सो आप दोनों के ही योग्य हैं; कृपाकर पहिनिये। और शेष को यह दास घर ले जाकर संतों को खिला देगा, साधु लोग बाट जोहते होंगे।" प्रभु ने आपको "भक्तभूप!" कहके छाती से लगा लिया और वह सब धन भक्तभूपजी को ही दे, आप युगल अखण्डैक नित्य किशोरमूर्ति अन्तर्द्धान होगये॥

श्रीभक्तभूपजी की जय:। साँचेमन मीत सर्कार की जय॥

दो० "तीन टूक कोपीन कै, अरु भाजी बिन नौन।
तुलसी, रघुपति उर बसैं, इन्द्र बापुरो कौन?॥"

(६०) श्रीसाक्षीगोपालजी के भक्त।

(२६१) टीका। कवित्त। (५५२)

"गौड़" देशबासी उभै बिप्र, ताकी कथा सुनौ; एक बैश बृद्ध जाति बृद्ध, छोटो संग है। और और ठौर फिरि आए फिरि आए "बन," तन भयो दुखी; कोनी टहल अभंग है॥ रीझो बड़ोद्विज "निज सुता तोको दई;" "अहो रहो नहीं चाह मेरे;" लई बिनै रङ्ग है। साखी दै गोपाल; "अब बात प्रतिपाल करो" टरो कुल, ग्राम, भाम, पूछचो सो प्रसंग है॥ २३८॥ (३६१)

वार्त्तिक तिलक।

गौड़ देश (उड़ीसा) के वासी दो ब्राह्मण, तिनकी कथा सुनिये। एक बूढ़ा, जाति का कुलीन, और दूसरा युवा सामान्य कुलवाला, दोनों साथ साथ तीर्थयात्रा को चले थे। और और ठौर फिरके, फिर श्रीवृन्दावन में जब आये तब कुलीन वृद्ध ब्राह्मण दुखी हुए। छोटे विप्रजी ने (जो साधु सुभाव तो थे ही) दुखी बूढ़े की अभंग सेवा की; अर्थात् दिनरात टहल में भली भाँति तत्पर रहे। अरोग होने पर बूढ़े ब्राह्मण अति प्रसन्न हुए और श्रीयुवा ब्राह्मणजी से बोले कि "हे विप्र! मैंने तुमको अपनी लड़की दी॥"

इन्होंने उत्तर दिया कि "ओह! मुझे तो आपसे कुछ चाह नहीं थी।" वृद्धदेव के बड़े आग्रह से श्रीगोपालजी को साक्षी रखकर इन्होंने विवाह स्वीकार कर लिया। जब घर आये, तब इन्होंने कहा कि "देवताजी! अब आप अपना वचन प्रतिपाल कीजिये॥"

स्त्री तथा कुल और ग्राम के लोगों ने वचन से टर (टल) जाने को कहा और (साथ ही) सारा प्रसंग पूछा॥

(२६२) टीका। कवित्त। (५५१)

बोल्यो छोटो बिप्र छिप्र दीजियै कही जो बात, तिया सुत कहैं "अहो सुता याके जोग है?"। द्विज कहै "नाहीं कैसे करौं? मैं तौ दैन कही," कही कहो "भूलि भयो, बिथा कौ प्रयोग है"॥ भई सभा भारी, पूछयो "साखी नर नारी?" "श्रीगोपाल बनवारी, और कौन तुच्छ लोग है"। "लेवौ जू लिखाइ जोपै साखी भरैं आइ तोपैब्याहि बेटी दीजै, लीजै, करों सुख भोग है"॥ २३६॥ (३६०)

वार्त्तिक तिलक।

छोटे विप्र जी बोले कि "आपने जो बात कही है सो शीघ्र (छिप्र) दीजिये।" स्त्री और पुत्र ने (पूरा प्रसंग सुनकर) कहा कि "क्या लड़की इसके योग्य है?" बूढ़े विप्रजी ने उत्तर दिया कि "मैं नहीं कैसे करूँ? मैंने तो देने को अवश्य कहा है।" तब सबने

सिखाया कि कह दो कि "दुख समय की बात है, चूक हुई, भूल से कह दी गई होगी॥"

इसकी बड़ी भारी सभा हुई। सभा ने पूछा कि "कोई नर वा नारी साक्षी है?" आपने कहा कि "और तुच्छ लोगों का क्या कहना; साक्षी तो स्वयं श्रीगोपाल वनमालीजी ही हैं॥"

बूढ़े की ओर से कहा गया कि "पत्र लिखाय लीजै कि यदि गोपालजी आके साखी भर देवें, तो बेटी आपके ही साथ ब्याह दी जायगी, कन्या ले जाकर सुख भोग कीजियेगा॥"

(२९३) टीका। कवित्त। (५५०)

आयौ बृंदाबन, बनबासी श्रीगोपालजू सों बोल्यो "चलौ साखी देवौ, लई है सिखायकै"। बीते कैयौ याम तब बोले श्यामसुन्दरजू "प्रतिमा न चलै" "तोपै बोले क्यों जू भायकै"॥ "लागे जब संग, युग सेर भोग धरौ रंग, आधे आध पावैं, चलौं नूपुर बजायकै। धुनि तेरे कान परै; पाछैं जिनि दीठि करै; करै रहौं वाहि ठौर कही मैं सुनायकै"॥ २४०॥ (३८९)

वार्त्तिक तिलक।

आप आके श्रीवृन्दावनवासी गोपालजू से बोले कि "ठाकुरजी! पंचायत में मैंने पत्र लिखवा लिया है, कृपा करके चलिये साखी दीजिये" कई पहर व्यतीत हुए, न कुछ उत्तर मिला न श्रीविप्रजी ने कुछ भोजन किया; तब प्रसन्न होकर श्रीश्यामसुंदरजी ने कहा कि "प्रतिमा चलती नहीं है।" तो आपने पूछा कि "यदि प्रतिमा चलती नहीं है तो कृपा करके बोलती क्योंकर है?॥"

श्रीवनमालीजी ने प्रसन्न होकर कहा कि "जब संग चलूँ तो दो सेर भोग अर्पण किया करना। हम दोनों आधा आधा पाया करेंगे; चलते समय मेरे चरणों के नूपुर बजते चलेंगे और उनकी ध्वनि तुम्हारे कानों में पड़ा करेगी; जिससे तुम अपने साथ साथ मेरे चलने की प्रतीति करना। मैं सुनाके कहे देता हूँ कि "पीछे दृष्टि न डालना, जहाँ फिरके देखोगे वहाँ से मैं आगे न बढ़ूँगा॥"

(२९४) टीका। कवित्त। (५४९)

गए ढिग गाँव, कही 'नेकु तौ चितावँ' रहे चितएतें ठाढ़े दियो मृदु मुसकायकै। "ल्यावौ जू बुलाय"; कह्यो आय "देखौ आए आप" सुनतहि चौंकि सब ग्राम आयो धायकै॥ बोलिकै सुनाई साष; पूजि हिये अभिलाष, लाख लाख भाँति रंग भस्यो उर भायक। आयो न सरूप फेरि, बिनै करि राख्यो घेरि, भूप सुख टेरि दियो अबलौं बजायकै॥ २४१॥ (३८८)

वार्त्तिक तिलक।

जब गाँव के पास पहुँचे तो भक्तराजजी ने अपने मन में कहा कि "तनक देख तो लूँ" देखते ही श्रीवनमाली गोपालजी वहीं खड़े रह गये, और मधुर मुसक्याय कर कहा कि "उन लोगों को यहीं बुला लाओ॥"

गाँव के भीतर आकर आपने कहा कि "देखो श्रीसाक्षीगोपालजी कृपाकर के गाँव के बाहर आ विराजे हैं" सुनते ही चौंककर सब ग्रामवासी दौड़कर आ टूटे। श्रीगोपालजी बोले, और सुन्दर साक्षी दी। युवा ब्राह्मणजी का अभिलाष पूरा हुआ हृदय में लाख लाख प्रकार से प्रेम छा गया॥

श्रीगोपालजी की वह प्रतिमा श्रीवृन्दावन को लौट नहीं गई, बरन् वहाँ के राजा तथा और प्रेमियों ने श्रीसाक्षीगोपालजी को अपने विनय बल से धर कर वहीं रक्खा॥

सब सुखी हुए। और यह बात विदित है ही कि उड़ीसा देश में आज तक श्रीसाक्षीगोपालजी विराजमान हैं॥

विनय "कोशलपाल कृपालु कल्पतरु, द्रवत सकृत सिर नाए॥"

---

(६१) श्रीरामदासजी।

(२९५) टीका। कवित्त। (५४८)

द्वारिका के ढिग ही डाकोर एक गाँव रहे, रहै रामदास भक्त भक्ति या को प्यारियै। जागरन एकादशी करे रनछोर जू के भयौ, तन वृद्ध, आज्ञा दई नहिं धारियै॥ बोले भरि भाय "तेरौ

आयबो सह्यौ न जाय चलौं घर धाय तेरे ल्यावौ गाड़ी भारियै। खिरकी जु मन्दिर के पाछे तहाँ ठाढ़ो करौ, भरौ अँकवारी मोकों बेग ही पधारियै ॥ २४२ ॥ (३८७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीद्वारकाजी के निकट (सात कोस) डाकोर (हीराकोरक) नाम के एक गाँव में श्रीरामदासजी रहते थे। आपको श्रीभगवान् की भक्ति अति प्रिय थी। श्रीरणछोर भगवान् के यहाँ प्रति एकादशी की रात को जागरन कीर्त्तन उत्सव हुआ करता था, उसमें आप भी बराबर पहुँचा करते थे, यह आपका नियम था। आप बूढ़े हुए, तो भगवान् ने कृपाकर आज्ञा दी कि "तुम इस अवस्था में अब सात कोस आने जाने का कष्ट न सहा करो।" परन्तु आपने जागरन के आनन्द में साथ देना नहीं छोड़ा ॥

भगवान् ने प्रेम तथा कृपापूर्वक कहा कि "तुम्हारा आना मुझसे सहा नहीं जाता; सो तुम शीघ्र मुझे अपने घर ही ले चलो। इसके योग्य एक गाड़ी ले आओ। मन्दिर के पीछे जो खिड़की है उसी के सामने गाड़ी खड़ी रखना। अपने अँकवार में लेके मुझे उस गाड़ी पर लेटा देना और बड़ी त्वरा से गाड़ी हाँक ले जाना॥"

(२९६) टीका। कवित्त। (५४७)

करी वाही भाँति, आयौ जागरन गाड़ी चढ़ि; जानी सब 'बृद्ध भयो, थकी पाँव गति है।' द्वादशी की आधी रात लैकै चल्यो मोद गात, भूषण उतारि धरे, जाकी साँची रति है॥ मन्दिर उघारि देखैं, परो है उजारि तहाँ; दौरे पाछे जानि; देखि कही कौन मति है। बापी पधराय हाँकि जाय सुखपाय रह्यो; गह्यो चल्यो जात आनि; मार्‍यो घाव अति है॥ २४३ ॥ (३८६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरामदासजी ने वैसा ही किया। गाड़ी पर चढ़के जागरन कीर्त्तन के उत्सव में आए। लोगों ने अनुमान किया कि 'बूढ़े होने से पावों की शक्ति थक जाने के कारण अबकी गाड़ी पर आए हैं।'

द्वादशी की आधी रात के समय भगवत् उसी ढंग से आपके साथ गाड़ी पर चले; आपके आनन्द की वार्त्ता ही क्या है? हाँ, श्रीभगवान् को गाड़ी पर चढ़ा ले चलने के पहिले श्रीरामदासजी ने भूषण सब उतारकर मन्दिर ही में छोड़ दिए; क्योंकि आप द्रव्य धन के भूखे तो थे ही नहीं, आपको तो केवल श्रीभगवत् के चरणों की सच्ची चाह थी॥

बड़े भोर जब मन्दिर खोलागया तो सबों ने देखा कि उजाड़ पड़ा है। जान गए कि रामदास ही ले गए। लोगों ने आपका पीछा किया, दौड़कर समीप पहुँचे कि जहाँ से गाड़ी दिखाई देने लगी, तथा आपने भी देखा कि पीछा करनेवाले आ पहुँचे। आपको भारी चिन्ता हुई कि "अब क्या बुद्धि चलाऊँ?"

भगवत् ने आज्ञा की कि "उस समीपस्थ वापी में मेरी प्रतिमा छुपा दो।" ऐसा ही करके आप गाड़ी पर पाँव फैला चैन से लेट रहे। गाड़ी धीरे धीरे हाँक दी (चला दी, खड़ी नहीं रक्खी)। वे लोग आ पहुँचे; गाड़ी जो चली जा रही थी उसको पकड़कर श्रीरामदासजी को बड़ी मार मारी बरन् आपकी देह में बरछी चुभा दी॥

(२९७) टीका। कवित्त। (५४६)

देखे चहुँदिशि गाड़ी; कहुँपै न पाये हरि; करि पछतावो, कहैं "भक्त कै लगाई है"। बोलि उठ्यो एक "एहि ओर यह गयो हुतो;" जाय देखैं बावरी कों लोहू लपटाई है॥ दासकों जु डारी चोट; ओट लई अंग मैं ही; नहीं मैं तो जाऊँ" बिजै[1] ❀ मूरति बताई है। "मेरी सम सोनो लेहु;" कही जन "तोलि देहु" "मेरे कहाँ?" बोल्यो "बारी तिया कै;" जिताई है॥ २४४॥ (३८५)

वार्त्तिक तिलक।

मारपीट के अनन्तर उन सबने उस गाड़ी में चारों ओर श्रीभगवान् को ढूँढ़ा, परन्तु कहीं नहीं पाया। तब वे सब पछताने लगे कि 'व्यर्थ ही हमने भक्त को कलंक लगाया तथा चोट लगाई!' इतने

१ "बिजै"=दूसरी। ❀पाठान्तर "गरी" (गड़ी)।

में उनमें से एक बोल उठा कि "मैंने रामदास को देखा था कि उस बावली की ओर गया था।" सबने बावली में जा देखा जल में रुधिर छाया हुआ था! तब वे सब चिन्तित तथा चकित हुए॥

श्रीभगवान् ने आज्ञा की कि "मेरा भक्त मुझे मेरी आज्ञा से ले चला है; तुमने जो मेरे भक्त को मारपीट की सो मैंने अपने शरीर पर ले ली है, देखो! मेरे ही लहू से बावली रुधिरमय हो रही है; तुमने बुरा किया; तुम सब फिर जाव; तुम्हारे साथ मैं नहीं जानेका; अमुक ठिकाने मेरी दूसरी मूर्त्ति है, तुम उसको ही ले जाकर पधरा लो। और मेरी इस प्रतिमा के तुल्य सोना लेके लौट जाव॥"

पुजारियों ने माँगा कि "अच्छा आप सोना तौल दीजिये" प्रभु ने आपको (रामदासजी को) आज्ञा दी कि "तौल दो।" आप बोले कि "भला मेरे पास सोना कहाँ है?" प्रभु ने उत्तर दिया कि "रामदासजी! अपनी स्त्री के कान की बाली को मेरी मूर्त्ति के तुल्य तौल के दे दो॥"

यह कह फिर आपको भगवत् ने जिता दिया॥

(२९८) टीका। कवित्त। (५४५)

लगे जब तौलिबे कों, बारी पाछे डारि दई, नई गति भई, पल उठै नहीं बारी कौ। तब तो खिसाने भए, सबै उठि घर गए, कैसें सुख पावैं फिर्‍यो मतिही मुरारी कौ॥ घर ही बिराजे आप, कह्यो भक्ति को प्रताप, जाप करै जोपै फुरै रूप लाल प्यारी कौ। बलिबंध नाम प्रभु बाँध बलि भयो तब; आयुध को छत सुनि आए चोट मारी कौ॥ २४५॥ (३८४)

वार्त्तिक तिलक।

जब वे श्रीभगवत् प्रतिमा के साथ सोने की उस बाली को तौलने लगे, तो यह नई गति हुई कि प्रभुप्रताप से बाली ऐसी भारी हो गई कि बालीवाला पलरा पृथिवी पर से उठा ही नहीं। भगवत् ने निज मूर्त्ति को हलका कर लिया; यह पल्ला ऊपर को उठ गया। तब तो पुजारी सब क्रोधित लज्जित हो हारकर घर लौट गए, यह

कहते हुए कि "रामदास के घर भगवत् भला क्या सुख पावेंगे ? पर प्रभु की मति ही उलटी हो गई ॥"

श्रीसर्कार अब आपके घर ही में आ विराजमान हुए। भक्ति का प्रताप कहा (दिखलाया)। श्रीरामदासजी भजन जाप ध्यान में मग्न रहने लगे ॥

देखिये, जो भक्त भगवन्नाम जपते हैं तो युगलसर्कार के रूप अनूप उनके हृदय में फुरते हैं (प्रकाश होते हैं) ॥

प्रभु ने जब से "बलि" को बाँधा तब से "बलिबन्ध" नाम हुआ और राजा बलि के यहाँ प्रभु विराजे; और जब श्रीरामदासजी हथियार की चोट से घायल हुए, तब प्रभु आपके यहाँ विराजने लगे और तभी से प्रभु का "आयुधछत" ऐसा नाम भी सुना जाता है ॥

अभी तक घाव पर पट्टी बाँधी जाती है। अब तक मन्दिर को जब जब सुधारने की आवश्यकता होती है, तब तब मूर्त्ति को रामदास भक्तजी के ही वंश का कोई जन उठाता है; किसी दूसरे से वह प्रतिमा उठती ही नहीं। इससे जाना जाता है कि अभी तक भगवत् वहाँ विराजते हैं ॥

(२९९) छप्पय। (५४४)

बच्छ हरन पाछैं बिदित सुनौ संत अचरज भयो॥ जसूस्वामिके बृषभ चोरि ब्रजबासी ल्याये। तैसेई दिये श्याम बरष दिन खेत जुताये॥ नामा ज्यों नँददास मुई इक बच्छि जिवाई। अंब अल्हकौं नये प्रसिद्ध जग गाथा गाई॥ बारमुखी के मुकुट कौं, श्रीरङ्गनाथ को शिर नयो। बच्छ हरन पाछैं बिदित सुनौ संत अचरज भयो॥ ५४॥ (१६०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमद्भागवत में ब्रह्माजी का बच्छहरण विस्तारपूर्वक गाया

हुआ है। वैसा ही आश्चर्य्यजनक चरित्र उसके पीछे (कलियुग में) हुआ सो विदित है, सन्तों के सुनने योग्य है॥

(१) श्रीजसूस्वामी के बल ब्रजवासी चोर चुरा लाए; सर्कार ने कृपा करके वैसे ही बैल स्वामीजी को दिये जिनसे वर्ष भर आपने खेत जुतवाए। फिर चोरों ने आपको बैल फेर दिये॥

(२) श्रीनामदेवजी की नाईं नन्ददासजी ने भी रामकृपा से मरी बछिया को जिला दिया॥

(३) श्रीअल्हजी के लिये आँब के वृक्ष नीचे को झुक आए, सो प्रसिद्ध ही है; जगत् में यह यश सब गाते हैं॥

(४) वारमुखी का मुकुट कृपाकर धारण कर लेने के लिये श्रीरङ्गनाथ कृपालुजी ने अपना सीस नवा दिया॥

१. श्रीजसूस्वामीजी,	३. श्रीअल्हजी,
२. श्रीनन्ददासजी,	४. एक वारमुखीजी॥

हे साधुवृन्द! ये सब कथा सुनिये; द्वापर में बच्छहरणचरित्र के पश्चात् कलियुग में भी यह आश्चर्य्यजनक वृत्तान्त हुआ सो प्रसिद्ध ही है॥

---

(६२) श्रीजसूस्वामीजी।

(३००) टीका। कवित्त। (५४३)

"जसू" नाम स्वामी, गङ्गा जमुना के मध्य रहैं गहैं साधुसेवा; ताको खेती उपजावहीं। चोरी गए बैल ताकी इनकौं न सुधि कछू तैसे दिये श्याम, हल जुतै मन भावहीं॥ आए ब्रजबासी पैंठ बृषभ निहारि कही "इन्हैं कौन ल्यायो?" घर जाय देखि आवहीं। ऐसे बार दोय चारि फिरेउ, न ठीक होत, पूछी, पुनि ल्याए आए, उन्हैं पै न पावहीं॥ २४६॥ (३८३)

वार्त्तिक तिलक।

अन्तर्वेद में अर्थात् श्रीगङ्गायमुनाजी के बीचवाले प्रदेश में "श्रीजसूजी" नाम एक स्वामी रहते थे; आपने साधुसेवावृत्ति धारण

की थी, इस निमित्त आप खेती किया करते थे। एक समय आपके बैलों को व्रजवासी चोर चुरा ले गये। आपको बैलों के चोरी जाने की कुछ सुधि नहीं हुई, क्योंकि श्याम कृपालु ने आपको ठीक वैसे ही बैलों का जोड़ा अनुग्रह किया। वे भी भली भाँति खेत जोता करते थे। हाँ, इस जोड़े को स्वामीजी अधिक प्यार किया करते थे॥

इसी प्रकार से एक वर्ष के लगभग व्यतीत हुआ। एक दिन हाट में वे ही चोर आए और श्रीस्वामीजी के यहाँ दोनों बैलों को देख चकित हो आपस में बोले कि "इनको हमारे यहाँ से यहाँ लाया कौन?"

वे घर पहुँचे तो वहाँ भी बैलों को बँधे देखा, यहाँ फिर आए तो यहाँ भी देखे। ऐसे ही दो चार (कई) बेर यहाँ वहाँ आए गए, दोनों जगह वैसा ही जोड़ा देख अति श्रमित और चकित हुए; चित्त में कोई एक बात ठीक नहीं होती थी। निदान स्वामीजी से पूछा; आपने उत्तर दिया कि "बैल तो मेरे रामजी के यहाँ सदा बने हैं खेत जोतते हैं।" तब घर जा बैलों को चोर लोग आपके पास ले आए। परन्तु यहाँ आते ही इन बैलों को न पाया (ये अदृश्य हो गए) केवल वे ही बैल फिर रह गए।

(३०१) टीका। कवित्त। (५४२)

बड़ोई प्रभाव देख्यो, तैसे प्रभु बैल दिये; भयो हिये भाय, जाय पाँयनि में परे हैं। निपट अधीन दीन भाषि; अभिलाप जानि, दयाके निधान स्वामी शिष्य लैकै करे हैं॥ चोरी त्यागि दई; अति शुद्ध बुद्धि भई; नई रीति गहि लई; साधु पन्थ अनुसरे हैं। अन्न पहुँचावैं, दूध दही दै लड़ावैं[१], आवैं, सन्त गुण गावैं वे अनन्त सुख भरे हैं॥ २४७॥ (३८२)

वार्त्तिक तिलक।

चोरों ने आपका यह बड़ाभारी प्रभाव देखा कि प्रभु ने कृपा करके आपको वैसे ही बैल दे दिये थे, इससे उनके हृदय में बड़ा

१ "लड़ावैं"=प्रेम करते थे॥

भाव उत्पन्न हुआ, और आके वे स्वामीजी के पाँवों में लपट गये। उनके निपट आधीन दीन वचन सुन, उनका अभिलाष देख, दयानिधि स्वामीजी ने उनको अपने शरण में लेके भगवत्मन्त्र का उपदेश किया। उन्होंने चोरीकर्म त्याग दिया, उनकी मति अति विशुद्ध हो गई; उन्होंने नवीन रीति धारण की; वे सन्तों के पन्थ पर चले; गुरुस्थान में भगवत् तथा साधुओं के लिये अन्न और दूध दही इत्यादि पहुँचाते; बड़ा अनुराग किया करते; साधुसंग में उपस्थित होते; भक्ति भक्त भगवंत तथा गुरु के यश गाते; अनन्तसुख पाते; और परमानन्द में छके रहते थे॥

दो० "हरिगुणग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानै, चिदानन्द सन्दोह॥"

(६३) श्रीनन्ददासजी वैष्णव-सेवी।

(३०२) टीका। कवित्त। (५४१)

निकट बरैली गाँव, तामैं सो हवेली, रहैं नन्ददास बिप्रभक्त साधु-सेवा-रागी है। करैं द्विज द्वेष तासों, मुई एक बछिया लै, डारि दई खेत माँझ गारी जक लागी है॥ हत्या कौं प्रसंग करैं, सन्त जन हूँ सों लरैं, हिन्दू सो न मारै, यह बड़ोई अभागी है। खेत पर जाय वाही लियो है जिवाय, देखि द्वेषी परे पाँय, भक्ति भाय मति पागी है॥ २४८॥ (३८१)

वार्त्तिक तिलक।

बरैली के समीप एक ग्राम "हवेली" में श्रीनन्ददास नाम एक ब्राह्मण साधुसेवानैष्ठिक रहते थे। एक दुष्ट गोतिया आपसे द्वेष रखता था, उसने एक मरी हुई बछिया आपके खेत में डाल दी; झूठ मूठ आपको हत्या दोष लगाया। बहुत बड़बड़ाता रहा। सन्तों से भी वे सब विवाद बखेड़ा करते थे कि यह हत्यारा है हिन्दू नहीं है तुम लोग कैसे साधु हो जो इसके यहाँ हो, इत्यादि॥

श्रीनन्ददासजी खेत पर गए और आपने उस बछिया को

श्रीभगवद्यश सुनाके जिला लिया। तब तो द्वेषी लोग आपके चरणकमल पर गिरकर शुद्ध भावभक्ति से हरिशरणागत हुए॥

---

(६४) श्रीअल्हजी [अर्चावतारनैष्ठिक]

(३०३) टीका। कवित्त। (५४०)

चले जात अल्ह, मग लाग बाग दीठि पर्यो, करि अनुराग हरिसेवा बिस्तारियै। पकि रहे आँब माँगे माली पास भोग लिये; कह्यो "लीजै"; कही; झुकि आई सबडारियै॥ चल्यौ दौरि राजा जहाँ, जायकै सुनाई बात, गात भई प्रीति आपुतट * पाँय धारियै। आवत ही लोटि गयो, "मैं तौ जू सनाथ भयो, देवोलै प्रसाद" भक्ति भाव ही सँभारियै॥ २४६॥ (३८०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीअल्हजी महाराज की भगवत्-प्रतिमा-निष्ठा की महिमा प्रशंसा किससे हो सकती है; एक दिन आप किसी तीर्थ को जाते थे, मार्ग में आपने पक्के रसालों की एक राजवाटिका देखी। "भयउ रमापति-पद-अनुरागा" वहीं बड़े प्रेम से श्रीसर्कार की षोडशोपचार पूजा करने लगे। भगवत्भोग के लिये माली से आँब माँगे; उसने रूखेपन से कहा "तोड़ लो।" आपने वृक्ष पर दृष्टि डाली; वहीं पक्के आँबों से लदी डालियाँ श्रीसिंहासन के निकट झुक आईं। आपने बड़ी सुगमता से रसालफल तोड़कर श्रीयुगलसर्कार को भोगलगाए॥ माली अपने राजा के पास दौड़ा गया; सब वार्ता जनाई। राजा आ आपके पदारविन्द पर लोटने लगा और प्रेम भाव में मग्न हो गया॥

वह बोला "मैं सनाथ हुआ, मुझे प्रसाद दीजिये" भक्ति भाव का माहात्म्य समझना चाहिये कि जहाँ ब्रह्मादिक सीस नवाते हैं वहाँ वृक्ष और महीपति का झुकना कौन सी बड़ी बात है॥

---

* पाठान्तर "आपुतट" =गिरते पड़ते॥

(६५) वारमुखीजी।

(३०४) टीका। कवित्त। (५३६)

बेश्या को प्रसंग सुनौ, अति रस रंग भस्यो, भस्यो घर धन अहो ऐपै कौन काम कौ। चले मग जात जन, ठौर स्वच्छ आई मन, छाई भूमि आसन, सो लोभ नाहीं दाम कौ॥ निकसी झमकि द्वार, हंस से निहारि सब, कौन भाग जागे भेद नहीं मेरे नाम कौ। मुहरनि पात्र भरि, लै महन्त आगे धस्यो, ढस्यो दृग नीर, कही "भोग करौ श्याम कौ"॥ २५०॥ (३७६)

वार्त्तिक तिलक।

एक दक्षिणी वेश्याजी की कथा बड़ी ही रँगीली तथा सुनने योग्य है। इसका घर धन से भरा था परन्तु किस काम का? क्योंकि वेश्या ही तो थी। वेश्याओं के बाहरी चमत्कारों का कहना ही क्या, इसके घर द्वार सब बड़े ही स्वच्छ तथा सुन्दर थे। एक दिन सन्तों का एक वृन्द इधर से जा रहा था; इस जगह की विमलता, वृक्ष की मनोहर छाया, जल का सुभीता इत्यादि देख, साधुलोग यहीं टिक रहे, जहाँ तहाँ भूमि पर आसन जमादिये, ठाकुर के सिंहासन विराजमान किये। सन्त लोग कुछ धन वा पूजा प्राप्ति के लोभ से यहाँ नहीं ठहरे, किन्तु भगवत्-सेवा की सुगमता समझ रम रहे॥

वारमुखीजी झमझम करती जो द्वारपर आ निकलीं, तो हंसों के दर्शन कर इन्होंने केवल मन की प्रसन्नता ही नहीं पाई, वरंच इनकी मति में भी निर्मलता आई। ये विचारने लगीं कि "इन महात्माओं को मेरी जाति का भेद ज्ञात नहीं है। अस्तु, मेरे भाग्य का उदय तो निःसन्देह ही हुआ है।" स्वर्णमुद्रों से भरी एक थाली श्रीमहन्तजी के आगे ला रक्खी और दीनता तथा प्रेम से आँखों में आँसू भर हाथजोड़ दण्डवत् कर विनय किया कि "इससे भगवत् को भोग लगाइये, इस अधम पतित को कृतार्थ कीजिये॥

(३०५) टीका। कवित्त। (५३८)

पूछी "तुम कौन? काके भौन में जनम लियो?" कियो सुनि

मौन, महा चिन्ता चित्त धरी है। "खोलिकै निसंक कहौ, संका जनि मानो मन," कहि "बारमुखी" ऐपै पाँय आय परी है॥ "भरो है भंडार धन करो अंगीकार अजू! करिये विचार जोपै, तोपै यह मरी है"। "एक है उपाय हाथ 'रङ्गनाथजू' को अहो कीजिये मुकुट जामैं जाति मति हरी है"॥ २५१॥ (३७८)

वार्त्तिक तिलक।

महन्तजी ने इनसे पूछा कि "तुम कौन हो? और तुम्हारे मा बाप कौन?" यह प्रश्न सुन ये मौन हो रहीं और चित्त में बड़ी चिन्ता करने लगीं। श्रीमहन्तजी ने पुनः कहा कि "मन में कुछ शंका न लाओ, निःशंक होकर खोलके कह दो।" इन्होंने, यह बतलाकर कि "वारमुखी हूँ" श्रीमहन्तजी के पदसरोज पर गिरके, प्रार्थना की कि "श्रीसीतारामकृपा से भण्डार धन से भरा है कुछ घटी नहीं है; पतितपावन सन्त कृपा करके इस दलतृण को अंगीकार करैं; और यदि कुछ बूझ विचार करने लगैंगे तौतो इस पापिनि का मरण ही समझैं॥"

साधु महात्माओं ने इनसे आज्ञा की कि हम रामकृपा से एक उपाय बताते हैं। इसकी सफलता श्रीरङ्गनाथजी के हाथों में है, और वह यह है कि "इस द्रव्य का अति उत्तम मुकुट बनवाकर श्रीरङ्गभगवान् को सप्रेम अर्पण करो॥"

(३०६) टीका। कवित्त। (५३७)

"बिप्रहू न छूए जाको, रंगनाथ कैसे लेत?" "देत हम हाथ तो कौ रहैं इह कीजियै"। कियोई बनाय सब घर को लगाय धन; बनि ठनि चली थार मधि धरि लीजियै॥ अस आज्ञा पाइकै निसंक गई मन्दिर मैं; फिरी यों ससंक धिक तिया धर्म भीजियै। बोलें आप "याको ल्याय आप पहिराय जाय" 'दियो पहिराय' नयो सीस मति रीझियै॥ २५२॥ (३७७)

वार्त्तिक तिलक।

वारमुखीजी ने कहा कि "जिसको विप्र (मनुष्य) भी छूते तक

नहीं, उसको स्वयं श्रीरङ्गनाथ भगवान् किस प्रकार से स्वीकार करेंगे ?"
"तेरे हाथों से चढ़वाने तक हम सब यहीं ठहरेंगे; तू मुकुट बनवाव॥"

इन्हों ने घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति लगाकर (कहते हैं कि तीन लाख के लागत का) एक जड़ाऊ मुकुट बड़ी श्रद्धा से बनवाया। वस्त्र शृङ्गार से बनठन के थाल में मुकुट को लेकर गाती बजाती धूमधाम से चलीं। ये आज्ञा पाकर मन्दिर में निशंक चली आईं परन्तु इस समय इनको मासिक धर्म हो गया; अति दुःखित लज्जित शंकित हो, ये पीछे हट अपने को धिक्कार दे, सजल नेत्र भूमि पर गिर पड़ीं॥

दीनवत्सल अन्तर्यामी प्रेमरसिक भगवत् ने शीघ्र ही पुजारी को आज्ञा की कि "वारमुखी को सादर लिवालाओ, वह अपने हाथों से मुकुट मुझे पहिरा जावै।" पुजारियों ने इनको प्रभु के निकट पहुँचा दिया। उनके हाथ न पहुँचने पर श्रीदीनबन्धु कृपासिन्धु ने स्वयं अपना सीस इतना झुका दिया कि बड़भागिनी ने हाथ उठाकर बड़े ही अनुराग से श्रीसर्कार को मुकुट पहिना दिया। रिझवार की जय। आपके प्रेम का क्या कहना॥

छन्द।

"मैं नारि अपावन, प्रभु जग पावन, करुणानिधि जनसुखदाई।
राजीव विलोचन, भवभयमोचन, पाहि पाहि शरणहिं आई॥
बिनती प्रभु मोरी, मैं मति भोरी, नाथ! न माँगौं बर आना।
पदपद्मपरागा, रस अनुरागा, मम मन मधुप करै पाना॥

दो० "बार बार बर माँगौं, हरषि देहु श्रीरङ्ग।
पद सरोज अनपाइनी, भक्ति, सदा सत्सङ्ग॥"

(३०७) छप्पय। (५३६)

और युगन तें कमलनैन, कलियुग बहुत कृपा करी॥
बीच दिये रघुनाथ भक्त संग ठगिया लागे। निर्जन बन

मैं जाय दुष्ट कर्म कियो अभागे ॥ बीच दियो सो कहाँ? राम! कहि नारि पुकारी। आए सारँगपानि शोकसागर ते तारी ॥ दुष्ट किये निर्जीव सब, दास संज्ञा धरी। और युगन तें कमलनैन कलियुग बहुत कृपा करी॥५५॥(१५९)

१ एक भक्त ब्राह्मण। २ इनकी धर्मपत्नी रामभक्ता॥

(६६।६७) दम्पति (भक्त विप्र सपत्नीक)

वार्त्तिक तिलक।

दीनहित श्रीराजीवलोचन भवभयमोचन श्रीरामचन्द्रजी और युगों की अपेक्षा कलियुग में जीवों पर अधिकतर कृपा कर रहे हैं॥

दो भक्तों के साथ मार्ग में ठग लगे; "श्रीरघुनाथजी तुम्हारे हमारे बीच में हैं" ऐसा कहकर ठगों ने श्रीभक्तों का सन्देह निबटाया, परन्तु निर्जन वन में पहुँचते ही उन अभागे हत्यारों ने अति दुष्टता की कि पुरुष को मार डाला। भक्ता स्त्री ने कहा कि "जिन रामजी को दुष्टों ने बीच में बताया था वे अब कहाँ हैं?" वहीं श्रीशार्ङ्गधर जनरक्षक रघुवीर ने प्रगट हो दुष्टों को मार भक्त को जिलाया अपने जनों को शोकसमुद्र के पार किया श्रीरामजी सब युगों से कलि में अधिकतर कृपा करते आते हैं॥

(३०८) टीका। कवित्त। (५३५)

बिप्र हरिभक्त करि गौनो चल्यो तिया संग, जाके दूनौ रंग, ताकैं बात लै जनाइयै। मग ठग मिले द्विज पूछैं "अहो! कहाँ जात?" "जहाँ तुम्ह जात" या मैं मन न पत्याइयै॥ पंथ को छुटाय, चाहैं बन मैं लिवाय जायँ, कहैं "अतिसूधो पैंड़ो" डर मैं न आइयै। बोले "बीच राम" तऊ हिये नेकु धकधकी, कहै वह बाम "श्याम नाम कहाँ पाइयै" ॥ २५३ ॥ (३७६)

वार्त्तिक तिलक।

एक भक्त, जाति के ब्राह्मण, गौना कराके स्त्री को ले घर आते थे। पुरुष से स्त्री का अनुराग दूना चढ़ा बढ़ा था। इनकी कथा सुनिये। मार्ग में ठग मिले, साथ चले। भक्त विप्रजी ने पूछा कि "तुम सब कहाँ जाते हो ?" ठगों ने उत्तर दिया कि "जहाँ तुम दोनों जाते हो।" इस उत्तर में ब्राह्मण भक्तजी को प्रतीति नहीं हुई क्योंकि ठग चाहते थे कि यथार्थ मार्ग को छुड़ाकर इन्हें वन को लिवा जायँ; उन सबोंने वन मग को "बड़ा सीधा" बताया। ब्राह्मणजी के नहीं पतियाने पर दुष्टों ने श्रीरामजी को बीच में कहके इनका सन्देह घटाया; फिर भी आपके मन में कुछ कुछ धकधकी थी ही। परन्तु आपकी स्त्री आपसे भी अधिकतर प्रीति प्रतीति रखती थी, भाग्यवती ने कहा कि "शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि रामजी का नाम बीच में देते हैं, भला श्रीरामजी का नाम सहज में कहाँ मिलता है ॥"

(३०९) टीका। कवित्त। (५३४)

चले लागि संग, अब रंग कै कुरंग करौ तिया पर रीझै भक्ति साँची इन जानी है। गए बन मध्य ठग लोभ लगि मार्‍यो बिप्र, छिप्र लै कै चले बधू, अति बिलखानी है ॥ देखै फिरि फिरि पाछैं; कहैं "कहा देखै ? मार्‍यो" तब तौ उचार्‍यो "देखौं वाही बीच प्रानी है"। आए राम प्यारे, सब दुष्ट मारि डारे, साधु प्रान दै उबारे, हित रीति यों बखानी है ॥ २५४ ॥ (३७५)

वार्त्तिक तिलक।

ब्राह्मण देवता अपनी स्त्री की भक्ति प्रीति प्रतीति श्रीसीताराम-चरणों में देखकर उसपर बहुत रीझे और मन में विचारा कि "चाहे दुष्ट कुरंग करें चाहे रंग।" वन के ही मग से सब साथ साथ चले। वन के बीच में जाके अभागे लोभी दुष्टों ने कुरंग किया, विप्र को मारडाला। ब्राह्मणी को बड़ी त्वरा से लिवा ले चले। ब्राह्मणी अतिशय विलाप करती और पुनः पुनः पीछे फिर फिर देखती जाती थी।

दुष्ट बोले कि "तूने देखा ही है कि तेरे पति को हमने मार डाला; तो अब तू फिर फिर देखती किसको है?" इस देवी ने उत्तर दिया कि "उन प्राणनाथ के आने की प्रतीक्षा कर रही हूँ कि जिनका नाम तुम सबोंने लिया था" कि "हमारे तुम्हारे बीच में हैं" "राम" कह पुकारा॥

अभागों ने कहा "चल फूहरी! ये सब कहने की ही बात भर थी।" इतने ही में प्राणनाथ श्रीरघुनाथ तथा लाड़िले लाल लषन-जी धनुष बाण कृपाण लगाए घोड़ों पर चढ़े देखने में आए। प्रभु ने दुष्टों का वध कर मृतक साधु ब्राह्मण को जिला लिया; यों दर्शन दे भक्त दम्पति को अत्यन्त सुखी किया; इनको इनके घर तक पहुँचा दिया। प्रभु की भक्तवत्सलता यों बखानी गई है॥

(३१०) छप्पय। (५३३)

एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥ तिलक दास धरि कोइ, ताहि गुरु गोबिंद जानै। षट-दर्शनी * अभाव सर्वथा घट करि मानै॥ भाँड़ भक्त को भेष हाँसि-हित भँड़-कुट ल्याये। नरपति के दृढ़ नेम ताहि ये पाँव धुवाये॥ भाँड़ भेष गाढ़ो गह्यो दरस परस उपजी भगति। एक भूप भागौत की कथा सुनत हरि होय रति॥ ५६॥ (१५८)

---

(६८) एक भेषनिष्ठ राजा।

वार्त्तिक तिलक।

एक भागवत (भगवत्भक्त) नृपति की कथा की ऐसी महिमा

* वर्ण-(१) ब्राह्मण (२) क्षत्री (३) वैश्य (४) शूद्र; आश्रम-(१) ब्रह्मचारी (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ (४) सन्यासी; षड्दर्शनी (१) उपनिषद् (२) न्याय (३) कर्मकाण्ड (४) तत्त्वविवेचन (५) योग और (६) स्मृतियाँ; छः शास्त्र-श्लोक १ वेदान्त, २ तर्क, ३ मीमांसा, ४ सांख्य, ५ पातञ्जल तथा। धर्म-शासनमित्येतत् प्राहुः शास्त्राणि षड्बुधाः॥ १॥

है कि इसके श्रवण से श्रीहरिपदपद्म में भक्ति होती है। श्रीऊर्ध्वपुण्ड्र तथा श्रीतुलसीजी की कण्ठी माला जिनके देखते थे, उनको ये बड़भागी अनुरागी महीपजी सर्वथा श्रीगुरु और श्रीहरि के समान जानते थे; षट्दर्शनी से भाव नहीं रखते थे भागवतों से सबको घट के मानते थे। भाँड़ों ने देखा कि 'इस राजा के यहाँ हमारी तो पूछ-पाँछ कुछ नहीं; कण्ठी और खड़े तिलकवालों का ही यहाँ सम्मान है;' इससे भाँड़ भागवत साधुओं का भेष हँसी हित धारण कर राजा के यहाँ पहुँचे, महाराज का यह प्रेम नेम दृढ़ था कि भेष के चरण अपने हाथों से धो लेते थे, अतः उन भाँड़ों को भी कराना पड़ा। भाँड़ों को हंसभेष के प्रभाव, और भागवतवर के दर्शन तथा स्पर्श से श्रीसीतारामीय भेष में भक्ति दृढ़ हो आई। इन भक्तभूप की कथा सुनने से किस अधिकारी के चित्त में भक्ति न उपजेगी ? ॥

(३११) टीका। कवित्त। (५३२)

राजा भक्तराज डोम * भाँड़ कौ न काज होय, भोय गई, "या कौ धन हरी कौ न दीजियै"। आए भेष धारि लै पुजाय नाँचै दै कै तारि नृपति निहारि कही यों निहाल कीजियै॥ भोजन कराये भरि मुहरनि थार ल्याय आगे धरि बिनय करी "अजू यह लीजियै"। भई भक्ति रासि बोले "आवै बास, भावै नाहिं," बाँह गहि, रहै "कैसैं चले मति भीजियै"॥ २५५॥ (३७४)

वार्त्तिक तिलक।

एक राजा भक्तराज था। इसके यहाँ भगवत् भेषधारी को छोड़ डोम (गानेवालों) और भाँड़ों को कुछ नहीं मिलता था; हरिभक्त राजा समझता था कि धन श्रीहरि का है, दूसरों को नहीं देना चाहिये। भाँड़ लोग सन्तों का भेष करके आए। पाँव पुजवाके, ताली बजा बजाके श्रीठाकुरजी के सामने नाचे। राजा ने देखकर कहा "आप सबने मुझे निहाल कर दिया।" भूप ने उनको प्रेम से भोजन

* किसी ने कहा है—दो०—जोगी १, जंगम २, सेवड़ा ३, संन्यासी ४, दर्वेष ५। छठएँ दर्शन विप्र ६ कौ, जामें मीन न मेष॥ १॥

कराया, थाली में स्वर्णमुद्रा भर आग ला रखकर विनय किया कि "यह अंगीकार कीजिये।" श्रीहरिकृपा से उनको बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई, भेष सदा धारण किये ही रहे, धन की वासना जाती रही, वे कहने लगे कि "इसमें से दुर्गन्ध आती है, हमको भला नहीं लगता है; हम लोग जाते हैं।" राजा ने उनके हाथ पकड़के कहा कि "क्यों चले? कृपा करके रहिये।" वे यह कहते चले गए कि "अब साँचो प्रीति भेष और भजन में हुई, अब वैराग तथा अनुराग ही में मति पग गई॥"

(३१२) छप्पय। (५३१)

अन्तरनिष्ठ नरपाल इक, परम धरम नाहिन धुजी॥ हरि सुमिरण हरि ध्यान आन काहू न जनावै। अलग न इहि बिधि रहै; अंगना मरम न पावै॥ निद्रावस सो भूप बदन तें नाम उचार्‍यो। रानी पति पर रीझि, बहुत बसु तापर वार्‍यो॥ ऋषिराज सोचि कह्यो नारि सों, "आज भक्ति मेरी कजी।"* अन्तरनिष्ठ नरपाल इक, परम धरम नाहिन धुजी॥ ५७॥ (१५७)

(६९।७०) एक अन्तर्निष्ठ राजर्षि तथा इनकी रानी।

एक राजा अन्तर्निष्ठ (गुप्त) भक्त परम भागवत था। उसके बाह्य में फहरानेवाली ध्वजा नहीं थी; अपनी हरिभक्ति हरिस्मरण हरिध्यान प्रगट होने नहीं देता था। वह इस प्रकार से रहता था कि इसकी धर्मपत्नी भी इसकी भक्ति का मर्म नहीं पाती थी, अतएव यह उदास सी रहा करती थी॥

नृपति से निद्रा में श्रीविहारीजी का नाम उच्चारण हुआ। इससे

---

* "कजी"=जाती रही, क़ज़ा होगई, चूक गई॥

इसका भक्ता रानी अपने पति पर अति रीझी और हर्ष से उसने प्रभात होते ही प्राणपति पर बहुत सा धन न्यवछावर किया॥

राजर्षि ने अपनी रानीजी से इस धूमधाम और प्रहर्ष का कारण पूछा। रानी ने अपने हर्ष का विषय विस्तारपूर्वक कह सुनाया। राजा को भारी सोच हुआ और इन्होंने अपनी रानी से कहा कि "खेद की बात है कि आज मेरी अन्तरंग भक्ति जाती रही॥"

(३१३) टीका। कवित्त। (५३०)

तिया हरिभक्त कहै "पति पै न भक्त पायों!" रहै मुरझायो, मन सोच बढ़्यो भारी है। मरम न जान्यो निशि सोवत पिछान्यो, भाव बिरह प्रभाव नाम निकस्यो बिहारी है॥ सुनत ही रानी प्रेम-सागर समानी भोर सम्पति लुटाई, मानो नृपति जियारी है। देखि उत्साह भूप पूछ्यो, सो निबाह कह्यो; रह्यो तन ठौर, नाम जीव यों बिचारो है॥ २५६॥ (३७३)

वार्त्तिक तिलक।

एक अन्तर्निष्ठ भक्तराजर्षिजी की स्त्री हरिभक्ता थी, परन्तु उसको इस बात का बड़ा सोच बना रहता था कि "मैंने पति हरिभक्त भगवन्नामानुरागी नहीं पाया!" इसी सोच से उसका मन मुर्झाया रहा करता था। रानी राजर्षि के गुप्त भाव का मर्म नहीं जानती थी; एक रात स्वप्न में भाव तथा विरह के प्रभाव से राजा के मुख से श्रीविहारीजी के नाम का उच्चारण हुआ। तब रानी ने परम भागवत को पहिचाना और जाना कि 'महाराज स्मरण ध्यान मानो गुप्त रखते हैं।' हरिनाम को श्रवण करते ही रानी प्रेमसिन्धु में मग्न हो अपने पति पर अत्यन्त रीझ गई। भोर होते बहुत अन्न वस्त्र और बहुत धन उस पर न्यवछावर कर लुटाने लगी, हर्ष से फूली न समाती थी; मानो राजा ने नया जन्म पाया है॥

राजर्षि ने यह उत्साह धूमधाम देखकर इस सुख का कारण पूछा; रानी ने स्पष्ट रीति से सब कुछ कह सुनाया। सुनते ही राजा सोच से ठठक गया कि 'जैसे ही नाम मुँह से बाहर निकला, गुप्त

नेम चला गया, वैसे ही जीव भी शरीर से निकल जावे तो भला है।" ऐसा विचार करने लगा; ऐसा ही हुआ ॥

(३१४) टीका । कवित्त । (५२६)

देखि तन त्याग पति, भई और गति याकी; "ऐसे रतिवान में न भेद कछू पायो है।" भयो दुख भारी; सुधि बुधि सब टारी; तब नेकु न बिचारी, भावराशि हियो छायो है ॥ निशिदिन ध्यान, तजे बिरह प्रबल प्रान, भक्ति रस खान, रूप कापै जात गायो है। जाके यह होय, सोई जानै रस भोय, सब डारै मति खोय; यामैं प्रगट दिखायो है ॥ २५७ ॥ (३७२)

वार्त्तिक तिलक ।

जब रानी ने देखा कि पति ने शरीर त्याग कर दिया तो इसकी और ही दशा हुई; अतिशय दुःखित हो सुधि बुधि खो, पछताने लगी कि "महाराज श्रीसीतारामकृपा से ऐसे भावराशि भक्तराज थे, पर कैसे खेद की बात है कि यह मर्म मैं तनक नहीं बिचारती जानती थी!"

जैसे राजर्षि की मति गति रही, वैसी ही श्रीभगवत् कृपा से रानी भी दिनरात ध्यान में रहने लगी, ❀ यहाँ तक कि प्रबल विरह में प्राण छोड़ दिया ॥

भक्तिरसखानि का स्वरूप, और मति, रति और गति को कौन बखान सकता है? श्रीभक्ति महारानीजी जिस पर कृपा करती हैं सोई रसिकजन इसको कुछ कुछ समझ सकते हैं, और केवल विद्या-बुद्धि का यहाँ पता नहीं रहता ॥

इन बातों को इस दम्पति-कथा में प्रगट देख लीजिये ॥

(३१५) छप्पय । (५२८)

गुरु गदित बचन शिष सत्य अति, दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो ॥ अनुचर आज्ञा माँगि कह्यो "कारज कों

❀ सोरठा "कली भली दिन चारि, जब लगि मुख मूँदे रहै ।
बेत डार से डारि, फूलिबो सहै न फूल को ॥"

जैहों"। आचारज "इक बात तोहि आये तैं कहिहों॥" स्वामी रह्यो समाय दास दरसन कों आयो। गुरु की गिरा बिश्वास फेरि सब घर मैं ल्यायो॥ शिषपन साँचो करन कों, बिभु सबै सुनत सोई कह्यो। गुरु गादित बचन शिष सत्य अति, दृढ़ प्रतीति गाढ़ो गह्यो॥ ५८॥ (१५६)

(७१।७२) गुरु शिष्य।

वार्त्तिक तिलक।

एक शिष्य ने अपने गुरु भगवान् के वचन को अति सत्य मान कर उसमें परमपूर्ण प्रतीति की। श्रीगुरुजी की आज्ञा लेकर शिष्यजी एक काम को चले; इनके गुरु भगवान् ने आज्ञा की कि "अच्छा जाओ, जब तुम लौटकर आओगे, तब तुमसे एक बात कहूँगा॥"

जब उस कार्य्य से निवृत्त होकर लौट के शिष्यजी श्रीगुरुदर्शन को आए तो देखा कि आचार्य्य के मृतक शरीर को लोग लिये जाते हैं; तब शिष्यजी यह कहकर कि "महाराजजी ने मुझे कुछ कहने की प्रतिज्ञा की है, श्रीवचन कदापि अन्यथा नहीं।" शव के साथ सबको घर फेर ही लाए॥

प्रतीति साँची करने के लिये श्रीसर्कार की कृपा से गुरु भगवान् जी उठे और विश्वास-श्रद्धा-पूर्ण शिष्य से अपने संकल्पानुसार वचन कहे ही। प्रतीति विश्वास इसको कहते हैं। इसी से श्रीप्रिया-दासजी महाराज ने कहा है कि "प्रीति परतीति रीति, मेरी मति हरी है॥"

(३१६) टीका। कवित्त। (५२७)

बड़ो गुरुनिष्ठ कछु घटी साधु इष्ट जाने स्वामी सन्त पूज्य माने कैसें समझाइयें। नित्यहि बिचारे पुनि टारे पै उचारे नाहिं चल्यो जब रामती कों कही फिरी आइयें॥ सपथ दिवाई न जराइबे कों

दियो तन, ल्यायो यों फिराई वहे बात जू जनाइयें। साँचो भाव जानि प्रान आये सो बखान कियो "करो भक्त सेवा" करी बर्ष लौं दिखाइयें॥ २५८॥ (३७१)

वार्त्तिक तिलक।

एक शिष्य बड़े ही गुरुनिष्ठ थे यहाँ तक कि श्रीगुरु भगवान् को सन्त और भगवन्त से भी बढ़के मानते जानते; पर श्रीगुरु महाराज साधुओं को पूज्य इष्ट समझते थे, अतः श्रीगुरुजी के चित्त में यह चिन्ता रहती थी कि शिष्य को कैसे समझाऊँ जिसमें "मोते अधिक सन्त कहँ जानै।" नित्यही श्रीगुरुजी इसी सोच विचार में रहा करते, पर कुछ कहते न थे। एक दिन जब शिष्यजी रामत को जाने लगे तो श्रीगुरु ने आज्ञा की कि "लौटकर आओ तो कुछ कहूँगा॥"

जब फिर आए तो देखा कि गुरु-मृत-शरीर को दग्ध करने को लोग ले जा रहे हैं; तब सबको सपथ दे दिलाकर शव को फेर लाकर श्रीगुरुशरीर के आगे कर जोड़कर खड़े हो विनय किया कि "जो बात कहने की आज्ञा हुई थी सो कही जावै॥"

सच्चा भाव जानकर श्रीसर्कार ने इनको पुनर्जीवित कर दिया, आपने 'साधुसेवा' बताई, वरंच शिष्य की प्रार्थना से एक वर्ष पर्य्यन्त कर दिखाई॥

(७३) श्री ६ रैदासजी महाराज।

(३१७) छप्पय। (५२६)

संदेह ग्रंथि खंडन निपुन, बानि बिमल "रैदास" की॥ सदाचार श्रुति शास्त्र बचन अबिरुद्ध उचार्‌यो। नीर खीर बिबरन परम हंसनि उर धार्‌यो॥ भगवत कृपा प्रसाद परमगति इहि तन पाई। राजसिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई॥ बर्णाश्रम अभिमान तजि, पद रज बंदहि जासु की। संदेह ग्रंथि खंडन निपुन, बानि बिमल "रैदास" की॥५६॥(१५५)

दो० "सब सुख पावैं जासुते, सो हरि जू को दास।
कोउ दुख पावै जासुते, सो न दास रैदास॥"

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी श्री १०८ रैदासजी की विमल वाणी, सन्देह की ग्रन्थियों (गिरहों) के खोलने में बड़ी ही निपुण, तथा सदाचार वेद और शास्त्र के अविरुद्ध (अनुकूल) है। दूध और जल (सारासार) के विवेक में प्रवीण थे, तथा विवेकी हंसों (महानुभावों) ने अपने हृदय में आपके वचनों को धारण किया है। श्रीसीतारामकृपा प्रसाद से इसी शरीर में ही परमगांत को पाया। राजसिंहासन पर बैठकर ज्ञाति की प्रतीति दिखाई॥

बड़े बड़े लोगों ने वर्णाश्रम (ब्राह्मण जाति वा संन्यास आश्रम) का घमंड छोड़ छोड़ आपके चरणसरोज की धूरि अपने अपने सीस पर रक्खी है॥

(३१८) टीका। कवित्त। (५२५)

रामानंदजू कौ शिष्य ब्रह्मचारी रहे एक गहेवृत्ति चूटकी की कहे तासों बानियों। करो अंगीकार सीधो कहि दस बीसबार बरषे प्रबल धार तामें वापि आनियों॥ भोग कों लगावे प्रभु ध्यान नहिं आवे अरे कैसें करि ल्यावे जाइ पूछि नीच मानियों। दियो शाप भारी बात सुनी न हमारी घटि कुल में उतारी देह सोई याकों जानियों॥ २५६॥ (३७०)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी अनन्त श्रीरामानन्दजी का एक शिष्य ब्रह्मचारी था वह उसकी यह वृत्ति थी कि झोरी फेर कर चुटकी माँग लाया करता था उसी से स्वामीजी महाराज के यहाँ भगवन्त और सन्त की सेवा होती थी। आपकी कुटी के समीप एक बनिया रहता था, उसने आपसे अपने यहाँ की चुटकी (सीधा) अंगीकार करने के लिए दस बीस बेर प्रार्थना की थी परन्तु श्रीस्वामीजी के निषेध से कभी यह नहीं लेते थे॥

दो० "रामचन्द्र के भजन बिनु, 'बढ़ो' कहावै सोय।
जैसो दीपक 'बुझन' कहँ, बढ़ो कहैं सब कोय॥"

एक दिन पानी बहुत बरसता था इसी से श्रीगुरु आज्ञा को चित्त पर न रखके आलस वश निकटस्थ उस बनिये का ही सीधा ले आए। जब थाल सर्कार के आगे अर्पण हुआ तो भोजन करते हुए भगवत् को स्वामीजी महाराज ने ध्यान में नहीं देखा। अतः इस ब्रह्मचारी-जी से पूछा कि "चुटकी कहाँ कहाँ की लाया है?" उन्होंने कहा कि "अमुक बनिया का सीधा लाया हूँ॥"

श्रीमहाराजजी ने पूछपाछ कर जाना कि वह बनिया चमार के साथ कारबार रखता है। आपने अपनी आज्ञा टालने और भगवत् के भोग न स्वीकार करने से भारी शाप दिया कि "तूने मेरी बात नहीं सुनी इसलिये जा चमार के यहाँ जन्म ले॥"

श्रीरैदासजी के पूर्वजन्म की वार्त्ता ऐसी है। इसी से आपने चमार के घर में जन्म लिया॥

श्रीकृपा से सिंहासन पर बिराजे और अपने ब्राह्मण होने की प्रतीति कराई अर्थात् यज्ञोपवीत का चिह्न शरीर में दिखाया॥

(३१९) टीका। कवित्त। (५२४)

माता दूध प्यावे याकों छुयोऊ न भावे सुधि आवे सब पाछिली सुसेवा को प्रताप है। भई नभबानी रामानन्द मन जानी बड़ो दण्ड दियो मानी बेगि आये चल्यो आप है॥ दुखी पिता माता देखि धाय लपटाय पाय कीजिये उपाय कियो शिष्य गयो पाप है। स्तन पान कियो जियो लियो उन्ह ईस जानि निपट अजानि फेरि भूले भयो ताप है॥ २९०॥ (३६९)

वार्त्तिक तिलक।

माता का दूध पीना क्या आपको तो स्पर्श भी नहीं अच्छा लगता था; क्योंकि श्रीगुरुसेवा के प्रताप से आपको पिछले जन्म की सारी वार्त्ता की सुधि बनी थी कि "चमार से व्यवहार रखनेवाले

बनिये की सामग्री लाने से तो चमार के घर जन्म हुआ; और जो उसका दूध पीऊँ तो न जानूँ कि क्या गति हो ॥"

स्वामी श्रीरामानन्दजी महाराज को आकाशवाणी हुई कि "ब्रह्मचारी तुम्हारे घोर शाप से अमुक चमार के घर जन्मा है उस पर तुमको अब दया उचित है।" श्रीवचनामृत को सुनकर श्री १०८ रामानन्द स्वामीजी महाराज शीघ्र ही उस चमार के घर जा, आप के पास पहुँचे। माता पिता जो दुखी हो रहे थे, श्रीस्वामीजी को देखते ही दौड़कर पाँव पड़, गिड़गिड़ाने लगे कि "महाराज ! लड़का दूध नहीं पीता ! आप कृपा कर कुछ उपाय कर दीजिये।" श्रीजी ने श्रीकृपा से श्रीराममन्त्रराज उपदेश किया; निष्पाप तथा सुखी हो आपने माता के स्तन से दुग्ध पान करने लगे; मानों पुनर्जीवित हुए; श्रीस्वामीजी को ईश्वर से अधिक मानने जानने लगे ॥

पूर्व जन्म का अपना चूक स्मरण कर अपने अज्ञान पर बड़ा पश्चात्ताप किया ॥

(३२०) टीका । कवित्त । (५२३)

बड़ेई रैदास हरिदासनि सों प्रीति करी पिता न सुहाई दई ठौर पिछवारहीं । हुतो धन माल कन दियो हू न हाल तिया पति सुख जाल अहो किये जब न्यारहीं ॥ गाँठै पगदासी कहूँ बात न प्रकासी ल्यावें खाल करें जूती साधु संत कों सँभारहीं। डारी एक छानि कियो सेवा को सुस्थान रहें चौड़े आप जानि बाँटि पावे यहि धारहीं ॥ २६१ ॥ (३६८)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीरैदासजी बड़े हरिभक्त हुए; और माता पिता आदि से आपको वैराग्य था, श्रीहरिभक्तों ही से प्रीति रखते थे। आपका यह आचरण माता पिता को तनक नहीं सुहाता था। मा बाप ने कह दिया "जा, घर के पिछवाड़े रह, तब आपने एक छोटी सी कुटिया बना ली कि जिसमें श्रीठाकुरजी की सेवा करते थे ॥

माँ बाप के पास बहुत अन्न धन था, परन्तु उसमें से एक कनका एक कौड़ी भी उन लोगों ने आप को नहीं दी, आपकी नई धर्म्मपत्नी और आप बिना छाया के ही, ठाकुरजी की झोपड़ी के पास बड़े ही आनन्द से रहा करते। हत्या नहीं करके मोल चमड़ा लाके उसकी पनही बना बना के सन्तों के चरणां में देते थे और अपना भजन सेवा गुप्त रखते थे सरकारी कृपा से जो अन्न मिल जाता था वह अतिथि और भूखों को देकर भोग लगाते थे॥

(३२१) टीका। कवित्त। (५२२)

सहे अति कष्ट अंग हिये सुख सील रंग आए हरिप्यारे लियो भक्त भेष धारिकै। कियो बहु मान खान पान सो प्रसन्न ह्वैकै दीनों कह्यो पारस है राखियो सँभारिकै॥ "मेरे धन राम, कछु पाथर न सरे काम, दाम मैं न चाहों, चाहों डारों तन वारिकै। राँपी एक सोनों कियो दियो करि कृपा राखो राखो यह छानि माँझ लै हो जु निकारिकै॥ २६२॥ (३६७)

वार्त्तिक तिलक।

दम्पति शीत इत्यादि से शारीरिक दुःख तो अवश्य सहा करते थे परन्तु उनके साधुशील अन्तःकरण प्रेम रंग से अत्यन्त सुख मग्न रहते थे॥

एक दिन एक साधु का वेष बनाय कृपा करके स्वयं श्रीजानकीनाथ आपके पास आये। आपने यथाशक्ति बहुत आदर सत्कार किया सेवा पूजा की श्रीसाधुजीने अति प्रसन्न होकर पारस का एक टुकड़ा दिया और कहा कि इसको सम्हाल कर रखिये यह पारस है इसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है वरंच आपकी एक राँपीमें वह पारस छुला कर उसके लोहे को सोना बनाके प्रत्यक्ष देखा भी दिया। परन्तु आप बोले "मेरा एक धन केवल श्रीरामजी मात्र ही हैं, पत्थर को मैं किसी काम का नहीं समझता। हम दोनों व्यक्ति अपने शरीर और इस पत्थर को

भगवत् पर न्यवछावर करते हैं यदि आपको यह पत्थर छोड़ ही जाना है तो ठाकुरजी के छप्पर में कहीं खोंस जाइये जब आइयेगा पहिचान के ले लीजियेगा॥"

(३२२) टीका। कवित्त। (५२१)

आये फिरि श्याम, मास तेरह बितीत भये, प्रीति करि बोले "कहौ पारस की रीति कौं"। "वाहि ठौर लीजै मेरो मन न पतीजै अब चाहौ सोई कीजै मैं तो पावत हौं भीति कौं॥" लेके उठि गये; नये कौतुक सो सुनो, पावैं सेवत मुहर पाँच नितही प्रतीति कौं। सेवहु करत डर लाग्यो; निसि कह्यो हरि "छोड़ो अर आपनी, औ राखौ मेरी प्रीति कौं" ॥ २६३ ॥ (३६६)

वार्त्तिक तिलक।

भगवत् पारस को सामने छप्पर में खोंस के चले गये, और तेरह महीने व्यतीत होने पर फिर उसी भागवत वेष में आकर दरशन दे पूछा कि "पारस के व्यवहार का समाचार बताइये," आप दण्डवत् सत्कार करके बोले कि "वह उसी ठेकाने होगा जहाँ आपने रखा था, देखभाल के अपना ले लीजिये; मेरी परीक्षा न कीजिये; मेरे मन को तो उससे प्रतीति नहीं होती है, मैं उससे डरता हूँ; आप उसको जो चाहिये सो कीजिये॥"

साधु देवता उस पत्थर को लेकर चले गये॥

अब नया कौतुक सुनिये कि ठाकुरजी का आसन झारने के समय आप नित्य पाँच स्वर्ण मुद्रा पाने लगे; तब सेवा पूजा से भी डरे; तब रात को श्रीसरकारने स्वप्न में आज्ञा की कि "अपना हठ (अर) छोड़ो और मेरी बात रक्खो॥"

(३२३) टीका। कवित्त। (५२०)

मानि लई बात, नई ठौर लै बनाय चाय संतनि बसाय, हरि मंदिर चिनायो है। बिबिधि बितान तान, गनो जो प्रमान होई, भोई गई, भक्ति पुरी जग जस गायो है॥ दरसन आवैं लोग, नाना बिधि राग भोग; रोग भयो विप्रनि कौं तन सब छायो है। बड़ेई

खिलारी वे, रहे हैं छान–डारि करी, घर पै अँटारी; फेरि द्विजन सिखायो है ॥ २६४ ॥ (३६५)

चौपाई।

"कै माया, कै हरिगुण गाई। दोनों से तो दोनों जाई॥"

दो० "ब्यास बड़ाई जगत की, कूकुर की पहिचान।
प्रीति किये मुख चाटि है, बैर किहे तनु हान॥"

वार्त्तिक तिलक।

अब श्रीसर्कार की बात श्री १०८ रैदासजी ने मान ली। एक नए ठाँव में कोठा अटारी हरि मन्दिर तथा सन्तनिवास स्थान बनाये, विविध वितान चँदोवा ध्वजा पताका बन्दनवार इत्यादि से साज सजाया; कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, वह श्रीभक्तिमहारानी की पुरी जान पड़ती थी; संसार में श्री १०८ रैदासजी का यश पूरे रूप से फैल गया। श्रीकृपा से नाना प्रकार के भोग राग संगीत होते, और बहुत लोग दरशन को आया करते थे; बड़ी भीड़ लगी रहती थी। "पूजहि तुमहिं सहित परिवारा॥"

ब्राह्मणों को मत्सर रोग हुआ, वे यह सब देख देख डाह से जलने लगे। रामजी तो बड़े खिलाड़ी हैं ही। कहाँ तो परम अकिञ्चन श्रीरैदासजी एक झोंपड़ी में गुप्त भजन में दिन बिता रहे थे, कहाँ स्वयं प्रभु ने धन माया कोठा अटारी दे श्रीहरि महोत्सवादि ठाट और सन्तसेवा की धूमधाम बढ़ा दी। और फिर अति अधिक बढ़ते समझ भक्तहित विचार, आपही सर्कार विप्रों के हृदय में वैसे प्रेरक हुए॥

(३२४) टीका। कवित्त। (५१६)

प्रीति रसरास सों रैदास हरि सेवत है, घर में दुराय लोक रंजनादि टारी है। प्रेरि दिये हृदय जाय द्विजनि पुकारि करी भरी सभा नृप आगे कह्यो मुखगारी है॥ जनकों बुलाय समझाय न्याय प्रभु सौंपि कीनों जग जस साधु लीला मनु हारी है। जिते प्रतिकूल में तो माने अनुकूल, 'यातें संतनि प्रभाव मनि कोठरी की तारी है'॥ २६५ ॥ (३६४)

वार्त्तिक तिलक।

श्री १०८ रैदासजी रसराशि प्रेम अनुराग से श्रीयुगल सर्कार (प्रिया प्रियतम) की सेवा में छके गुप चुप घर में रहते थे लोक को रिझाने से कुछ प्रयोजन नहीं रखते थे; "लोकमान्यता अनल सम कर तप कानन दाह।" भक्तहितकारी कौतुकी खिलारी प्रभु ने ब्राह्मणों के हिय में प्ररणा की, ब्राह्मण लोगों ने राजा की सभा में जाके पुकारा, श्रीरैदासजी को गालियाँ देदे कर यों कहने कि "वह चर्मकार भगवत् की प्रतिमा तथा सालग्रामजी की पूजा सेवा करता है लोग उसका आदर करते हैं, इस सबका नीच को अधिकार नहीं; वरंच

श्लो० "अपूज्याः यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमात्।
त्रयस्तत्र प्रवर्त्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥"

राजा ने श्रीरैदासजी को बुलाके समझाया, न्याय किया (जैसा आगे वर्णन होता है); इनका प्रताप प्रत्यक्ष देख कर इनको ठाकुर की सेवापूजा सौंपदी; विप्र लोग लज्जित हुए; श्रीरैदासजी का यश संसार में छागया। साधु की लीला प्रभु का मन हरनेवाली है। श्रीहरि का वचनामृत है कि "जो लोग मेरे भक्तों के प्रतिकूल होते हैं मैं उनको अनुकूल मानता हूँ, क्योंकि उनकी प्रतिकूलता साधु-महिमा रूपी मणि वाली कोठरी की ताली होती है। (जैसे हिरण्यकशिपु ने जब श्रीप्रह्लादजी को कष्ट दिये तो आपके प्रभाव प्रसिद्ध हुए); अर्थात् दुष्टों के द्वारा सन्तों के माहात्म्य मैं प्रकाश करता हूँ॥"

चौपाई।

"जात पांत पूछै नहिं कोइ। हरि को भजै सो हरि को होइ॥"

(३२५) टीका। कवित्त। (५१८)

बसत चितौर माँझ रानी एक झाली नाम; नाम बिन कान खाली[1]; आनि शिष्य भई है। संगहुतें बिप्रसुनि छिप्र तन आनि लागी भागी मति नृप आगे भीर सब गई है॥ वैसेहि सिंहासनपै आयकै;

१ "खाली"=خالی शून्य॥

बिराजे प्रभु; पढ़े बेद बानी, पै न आये, यह नई है। "पतित पावन नाम कीजिये प्रकट आजु" गायो पद गोद आई बैठे भक्ति लई है ॥ २६६ ॥ (३६३)

वार्त्तिक तिलक।

चित्तौरगढ़ में "झाली" नाम की एक रानी रहती थी। श्रीहरि-नामोपदेश से इसका कान पवित्र नहीं हुआ था (मन्त्र नहीं पाया था)। वह श्रीकाशीजी आके श्रीरैदासजी महाराज से शिष्य हुई। जो ब्राह्मण लोग रानी के साथ थे, यह सुनके उनके तन में आग सी लग गई; विचार उनके कुछ नहीं रहा राजा के आगे ब्राह्मणों की भीड़ पहुँची। राजा ने श्रीरैदासजी को आदर से बुलाया। सभा हुई यद्यपि विवाद में ब्राह्मण नहीं जीते पर ब्राह्मणों ने माना नहीं तब यह ठहरी कि ऊँचे सिंहासन पर श्रीभगवत् की मूर्त्ति (जिनकी ब्राह्मण लोग पूजा किया करते थे) विराजमान कराई गई और यह बात ठहरी कि जिनके बुलाने से श्रीठाकुरजी पास चले आवें उन्हीं को पूजा सेवा इत्यादि सब कुछ का अधिकार जानना चाहिये॥

ब्राह्मण लोग एक एक करके तथा वृन्द के वृन्द मिलकर पहरों वेद ऋचाओं से स्तुति करते मन्त्र जपते रहे, परन्तु मूर्त्ति मूर्त्ति ही बनी रही; और जब श्रीरैदासजी ने कहा कि "विलम्ब छांड़ि आइये, कि तौ बुलाइ लीजियै। पतित पावन नाम आपनो शीघ्र साँच की-जियै॥" तो सभा के सामने सबके देखते श्रीभक्तवत्सल ठाकुरजी श्रीरैदासजी की छाती में आ लगे; जय! जय!! शब्द की ध्वनि हो उठी। श्रीभक्ति महारानीजी की जय॥

(३२६) टीका। कवित्त। (५१७)

गई घर झाली पुनि बोलिके पठाये, "अहो जैसे प्रतिपाला अब तैसें प्रतिपारियै"। आपुहू पधारे; उन बहु धन पट वारे; बिप्र सुनि पाँव धारे; सीधौ दै निवारियै॥ करिकै रसोई द्विज भोजन करन बैठे द्वै द्वै मधि एक यों रैदासकों निहारियै। देखि भई आँखें; दीन भाषैं सिख लाखैं भये स्वर्ण को जनेऊ काढ्यो त्वचा कीनी न्यारियै॥ २६७ ॥ (३६२)

वार्तिक तिलक।

झाली रानी ने, अपनी राजधानी चित्तौर जाके वहाँ से श्रीरैदासजी को विनय कर, सादर बुला भेजा कि "जैसे आपने मेरा प्रतिपाल किया है वैसे ही तनक यहाँ आके भी प्रतिपाल कीजिए।" श्रीरैदासजी कृपा करके वहाँ पधारे; आनन्द से रानी ने बहुत धन वस्त्र श्रीगुरु भगवान् पर न्यवछावर किये॥

ब्राह्मण लोग भी जो गए उनको सीधा देकर निबटाया क्योंकि उन्होंने श्रीरैदासजी के भंडारे में पूड़ी मिठाई भी नहीं खाना चाहा। जब ब्राह्मण रसोई भोजन करने लगे, तो अपने प्रति दो दो विप्र के बीच श्रीरैदासजी को बैठे पाया। यह प्रभाव देख उनकी आँखें खुलीं, दीन हो गिड़गिड़ाने लगे उनमें से बहुत विप्र आपके शिष्य भी हुए। सबकी प्रतीति दृढ़ाने के निमित्त श्रीरैदासजी ने अपने पूर्वजन्म की कथा कही, तथा शरीर की त्वचा न्यारी कर स्वर्ण यज्ञोपवीत सबों को दिखाया॥

कठौते में श्रीगंगाजी आपके घर आई और उसी में से जड़ाऊ कङ्कण आपने दिये॥

लाखों को भगवत् सन्मुख करके आप परमधाम को गए। स्वामी अनन्त श्रीरामानन्दजी की कृपा की और श्रीरैदासजी की जय॥

---

(७४) श्री ६ कबीरजी।

(३२७) छप्पय। (५१६)

कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी॥ भक्ति बिमुख जो धर्म सो अधरम करि गायो। जोग जग्य व्रत दान, भजन बिनु तुच्छ दिखायो॥ हिन्दू तुरक*प्रमान "रमैनी, शबदी, साखी"। पच्छपात नहिं बचन, सबही के हित की भाखी॥ आरूढ दसा ह्वै जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी। कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षटदरसनी॥ ६०॥ (१५४)

वार्त्तिक तिलक ।

जगद्विख्यात श्री १०८ कबीरजी ने चार वर्ण, चार आश्रम, छः ❀ दर्शन, किसी की आनि कानि नहीं रक्खी। केवल श्रीभक्ति (भागवतधर्म) को ही दृढ़ किया। 'भक्ति के विमुख' जितने धर्म, उन सबको "अधर्म" ही कहा है। सच्चे जी से सप्रेम भजन (भक्ति, भाव, बन्दगी) के विना तप, योग, यज्ञ, दान, व्रत सबको तुच्छ बताया है। आर्य अनार्यादि हिन्दू, मुसलमान † दोनों को प्रमाण सिद्धान्त बातें सुनाई हैं ॥

चौपाई ।

"धर्म एक एकहि व्रत नेमा। काय बचन मन प्रभु पद प्रेमा ॥"

अपनी बीजक अर्थात् "रमैनी, शब्दी, साखी" में किसी मत की सुहाती (खुशामद) और मुँह देखी नहीं कही है किसी का पक्षपात आपके वचनों में नहीं है; "अन्तःकरण में कुछ और, और बघारना मुँह से कुछ और" इसको बहुत ही बुरा बताया है। हिन्दू, मुसलमान सबके हित की ही बात बखानी है। आप प्रेमा दशा में आरूढ़ थे ॥

(३२८) टीका। कवित्त। (५१५)

अति ही गंभीर मति सरस कबीर हियो लियो भक्ति भाव, जाति पाँति सब टारियै। भई नभ बानी "देहतिलक रमानी करौ, करौ गुरु रामानन्द गरें माल धारियै" ॥ "देखैं नहिं मुख मेरो मानिकैं मलेछ मोको," "जात न्हान गंगा कही मग तन डारियै"। रजनी के

❀ "वर्णाश्रम षट दर्शनी"। (छप्पय ५६ देखिये)

† Turkey टर्की (ملک روم) रूम के रहनेवालों को "तुर्क ترک" कहते हैं; तुर्क प्रायः मुसलमान होते ही हैं, अतः "तुर्क" मुसलमानों को कहते हैं। श्रीकबीरजी महाराज ने हिन्दुओं के लिये "राम" तथा मुसलमानों के लिये رحیم "रहीम" (दयालु), नाम को, सच्चे दिल तथा निष्कपट प्रेमभक्ति से कहने का उत्साह बढ़ाया है प्रेम भक्ति रहित मिथ्या और केवल दिखाऊ आडम्बरों पर "मुलना" तथा "पाँड़े" अर्थात् मौलाना और पण्डितों को बहुत धिक्कारा है ॥

रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंहजी की टीका "रमैनी" पर है सो देखने योग्य है ॥

वार्त्तिक तिलक।

शेष में आवेश सों चलत आप, परै पग राम कहै मंत्र सो बिचारियै॥ २६८॥ (३६१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीरजी की मति अति गंभीर तथा अन्तःकरण श्रीभक्तिरस से सरस था, भाव भजन में पूरे, जाति पाँति वर्णाश्रम इत्यादि साधारण धर्मों का आदर नहीं करते थे॥

लड़कपन ही में आकाशवाणी हुई कि "कबीर! अपने शरीर में (रमानी वा रामावत् अर्थात् रामानन्दी) तिलक रमाके, गले में तुलसीजी की माला धारण करके, रामानन्दजी का शिष्य हो।" आपने प्रार्थना की कि "प्रभो! स्वामी श्रीरामानन्दजी यदि मुझको तुर्क (मुसलमान) मानकर मेरा मुँह भी नहीं देखें तो?" तो आज्ञा हुई कि "रामानन्दजी गंगा स्नान को जाया करते हैं, तुम मार्ग में जा पड़ो॥"

रात्रि के पिछले पहर में स्वामी श्रीरामानन्दजी के मार्ग में जा, देखभालके, ये पड़ रहे। श्रीसीतारामनामस्मरणावेश में श्रीस्वामी महाराज श्रीगंगातट पर चले जा रहे थे, अचानक प्रभु का दक्षिण चरणकमल इनकी छाती पर ज्योंही पड़ा त्योंही इधर श्रीस्वामीजी ने राम! राम!! कहते हुए पाँव सँभाल लिया, और उधर अति आनन्द में भरे श्रीकबीरजी ने श्रीगुरुमुख से महामन्त्र ("राम, राम") पा उसी को उपदेश मान सुख में मग्न राम राम रटते जपते, अपने घर पहुँचे। आकाशवाणी द्वारा आज्ञा के लिये श्रीयुगल सर्कार का अनेक धन्यवाद कर उस रंग में रँग गए॥

"सीतापति के भजन बिन, राजा परजा सब अफल।
तत्त्ववेत्ता तिहुँलोक में, राम रटैं ते नर सुफल॥"

(३२९) टीका। कवित्त। (५१४)

कीनी कही बात माला तिलक बनाय गात मानि उतपात मात सोर कियो भारियै। पहुँची पुकार रामानन्दजू के पास आनि कही

कोऊ पूछे तुम नाम ले उचारियै॥ "ल्यावौ जू पकरि वाको कब हम शिष्य कियो"? ल्याये करि परदा[1] में पूछी; कहि डारियै। राम नाम मंत्र यही लिख्यो सब तंत्रनि में खोलि पट मिले साँचौ मत उर धारियै॥ २६६॥ (३६०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीरजी ने वही बात की; अर्थात् अपने शरीर में भागवत संस्कार नाम ऊर्ध्वपुण्ड्र, तुलसी, की कंठीमाला, इत्यादि धारण किये उसी महामन्त्र का जप करने लग यह सब देख, बड़ा उत्पात मान आपकी माता कहलानेवाली बहुत चिल्लाने लगी; श्रीस्वामीजी के पास भी वह चिल्लाहट पहुँची; किसी समीपी ने कहा कि वह कहती है कि "कबिरा से जो पूछती हूँ कि तूने यह सब कहाँ पाया, तुझे किसने बताया? तो वह श्रीस्वामीजी ही को अपना गुरु बताता है।" यह सुन श्रीस्वामीजी ने आज्ञा की कि "कबीर को पकड़ लावो, पूछा जाय कि मैंने उसको कब शिष्य किया है?" लोग कबीरजी को ले आये। कपड़े का ओट करके श्रीस्वामीजी ने पूछा, कबीरजी ने उत्तर में सारा प्रसंग कह डाला और विनय किया कि "सब तंत्रों और ग्रंथों में राम ही नाम को महामंत्र परमजाप्य लिखा है॥" (अनेक प्रमाण हैं)॥

"उस ब्राह्ममुहूर्त्त में इस काशी धाम में श्रीगंगाजी की सीढ़ी पर आपने अपने चरणस्पर्शपूर्वक श्रीराम नाम कहा उस समय वहाँ कोई और नहीं था, केवल मैंने ही सुना; और फिर इस महामंत्र से परे उपदेश करने को और रह ही क्या गया? इतनी बात सुन, अति प्रसन्न हो, श्रीस्वामीजी ने ओट हटाकर प्रत्यक्ष हो, कबीरजी को यह कहते हुए छाती से लगा लिया, कि "वत्स! तेरा मत सच्चा पक्का है, यही नाम अपने उर में धरो। भगवतस्मरण और भागवत सेवा करो॥"

---

१ "परदा" ४७,२ पट, व्यवधान, व्यवहित, आड़, ओट।

(३३०) टीका। कवित्त। (५१३)

बीनै*तानौ बानौ; हिये राम मड़रानौ; कहि कैसैं कै बखानौं वह रीति कछु न्यारियैं। उतनोई करैं जामैं तन निरबाह होय, भोय गई औरै बात भक्ति लागी प्यारियैं॥ ठाढ़े मंडी माँझ पट बेचन लै, जन कोऊ आयो मोकों देहु देह मेरी है उघारियैं। लग्यौ देन आधौ फारि आधे सों न काम होत, दियौ सब लियौ जौपैं यहै उर धारियैं॥ २७०॥ (३५६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीरजी कपड़ा बुनने का उद्यम करते थे। यद्यपि बाह्य में ताना बाना करते तथापि अन्तःकरण में निरन्तर श्रीसीतारामरूप तथा श्रीसीताराम नाम मंत्र जपा करते थे जैसे आकाश में पक्षी मँड़राते हैं। प्रेमाभक्ति भाव, प्रीति प्रतीति रीति, न्यारी ही वस्तु है वह वर्णन क्योंकर किया जावे। श्रीश्रीभक्ति महारानी की कृपा व्याप गई, वही प्यारी लगती थी, उद्यम तो केवल उतना ही करते थे कि जितने में शरीर तथा माता आदि का निर्वाह हो॥

एक दिन हाट में कपड़ा बेचने को खड़े थे, एक साधु ने माँगा कि "मैं वस्त्ररहित हूँ, मुझे दो।" आप थान में से आधा फाड़ने लगे, उन्होंने कहा कि "आधे से पूरा नहीं पड़ने का।" आप बोले कि "अच्छा सब लो॥"

(३३१) टीका। कवित्त। (५१२)

तिया सुत मात मग देखैं भूखे; आवैं कब? दबि रहे हाटनि मैं ल्यावैं कहा धामकों। साँचो भक्ति भाव जानि, निपट सुजान वे तौ कृपा के निधान, गृह शोच पर्‌यो श्यामकों॥ बालद लै धाये दिन तीनि यों बितायें जब आये घर डारी दई, दई हौं अरामकों। माता करैं सोर कोऊ हाकिम[1] मरोरि बाँधे डारौ बिन जानैं सुत लेत नहीं दामकों॥ २७१॥ (३५८)

---

* "बीनै"=बुनै। १ "हाकिम" = حاکم आज्ञा देनेवाला, राजकर्मचारी, राजकार्य्यनिर्वाहक, शासनकर्ता, न्यायकर्ता॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीरजी की माता और स्त्री-पुत्र आपकी बाट जोह रहे थे कि कपड़ा बेचकर हाट से कुछ लावें तो भोजन होय। परिवार उधर इस प्रतीक्षा में थे और इधर आप यह सोचकर कि "छूँछा हाथ घर क्या जाऊँ" पैंठ से ही वन में जा छिपे। श्रीसुजानशिरोमणि भक्तवत्सल महाराज कृपानिधान श्रीरामजी को इनके घर के लोगों का सोच पड़ा; जब तीन दिन बीत गये तो सर्कार व्यापारी के भेष में बैलों पर आटा घी चीनी इत्यादि लदवाये हुए लाकर श्रीकबीरजी के घर दे गये। माता चिल्लाने लगी कि यह सब सामग्री मुझ दरिद्र के घर न पटको कोई राज्याधिकारी वा कोतवाल पकड़ै बाँधैगा दंड करैगा। मेरा लड़का कबीर किसी अनजाने की एक कौड़ी नहीं छूता है, पर व्यापारी ने कहा कि कुछ भय नहीं॥

(३३२) टीका। कवित्त। (५११)

गये जन दोय चार, ढूँढ़िकै लिवाय ल्याये, आये घर सुनी बात, जानी प्रभु पीर कौं। रहे सुख पाय कृपाकरी रघुराय; दई छिनमैं लुटाय सब, बोलि भक्ति भीर कौं॥ दियौ छोड़ि तानौ बानौ; सुख सरसानौ हिये; किये रोस धाये सुनि बिप्र तजि धीर कौं। क्योंरे तू जुलाहे! धन पाये, न बुलाये हमैं? शूद्रनि कौं दियो जावौं कहैं यों कबीर कौं॥ २७२॥ (३५७)

वार्त्तिक तिलक।

दो चार जन जाकर श्रीकबीरजी को ढूँढ़ लाये; घर पहुँच आपने सब वार्ता सुनी और समझा कि श्रीसर्कार ने मेरे लिये यह कष्ट उठाया है। श्रीरघुनाथजी की कृपा को धन्यवाद कर श्रीसीतारामजी को भोग लगाकर संतों भक्तों को क्षणमात्र में सबका सब पवाय दिया; ताना बाना कपड़ा बिनना छोड़कर श्रीसर्कार के भजन में लगे। यह नित्य का उत्सव देखि ब्राह्मणों को धैर्य न रहा, क्रोध कर आये और बकने लगे–"रे जोलाहा! तूने धन पाया, बैरागियों को जो शूद्र हैं बुला बुलाकर खिलाया, और हम ब्राह्मणों को पूछा भी नहीं॥"

(३३३) टीका । कवित्त । (५१०)

क्यौंजू, उठि जाऊँ ? कछु चोरी धन ल्याऊँ, नित हरि गुनगाऊँ, कोऊ राह में न मारी है। "उनिकों लै मान कियो याहि मैं अमान भयौ, दयो जोपै जाय हमैं तौ ही तौ जियारी है॥" "घर मैं तौ नाहिं मंडी जाहिं तुम रहौ बैठे;" नीठिकै छुटायौ पैंडौ; छिपे व्याधि टारी है। आये प्रभु आप द्रव्य ल्याये समाधान कियो लियो सुख, होय भक्त कीरति उजारी है॥ २७३ ॥ (३५६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीरजी ने कहा कि "मैं डाका नहीं देता हूँ, धन चुराके नहीं लाता हूँ, घर बैठे श्रीराम गुन गाता हूँ; क्या यहाँ से उठकर चला जाऊँ ? आपको देने को धन अब कहाँ से लाऊँ ?" ब्राह्मणों ने कहा कि "तूने बैरागियों शूद्रों का मान किया इससे प्रत्यक्ष हम सब ब्राह्मणों का अनादर और अपमान है; जो तुझसे दिया जाय तो हमको दे, तबही हमारा जीवन ठीक है।" श्रीकबीरजी ने यह कहके उनसे बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाए और उस व्याधि को टाला कि "आप सब यहीं ठहरिये मैं जाता हूँ पैंठ (हाट) से कुछ लाता हूँ, क्योंकि घर में तो कुछ है नहीं" और हाट की ओर चलके बाट में कहीं आप छिप रहे॥

प्रभु ने आपके रूप में स्वयं आके द्रव्य अन्न दे देके ब्राह्मणों का सम्मान किया, सर्कार ने इसमें सुख माना कि मेरे भक्त (कबीरजी) की कीर्ति उज्ज्वल रहे। श्रीकाशीजी भर में श्रीकबीरजी का सुयश छा गया॥

(३३४) टीका । कवित्त । (५०९)

ब्राह्मन कौ रूपधरि आये छिपि बैठे जहाँ, "काहे कौं मरत भौन *जावौ जू कबीर के। कोऊ जाय द्वार ताहि देत है अढ़ाई सेर, बेर जिन लावौ, चले जावौ यों बहीर के॥" आये घर माँझ देखि निपट मगन भये; नये नये कौतुक ये कैसें रहै धीर के। वारमुखी लई संग मानौ वाही रंग रँगे, जानौ यह बात करी डर अति भीर के॥ २७४ ॥ (३५५)

* पाठान्तर "भूख"॥

वार्त्तिक तिलक ।

उधर तो आपने श्रीकबीरजी हो प्रति व्यक्ति को ढाई ढाई सेर देने का प्रबन्ध किया, और इधर एक ब्राह्मण के रूप से वहाँ पहुँचे जहाँ कबीर जी छुपे और श्रीयुगलसर्कार के नाम स्मरण तथा रूप के ध्यान में संसार से अचेत बैठे थे; कहा कि "अरे तू कौन है ? यहाँ भूखों क्यों मरता है ? कबीरजी के घर जा; जो जाता है कबीरजी उसको ढाई सेर देते हैं। यह देख ! मैं भी लाया हूँ; सीधा वहीं चला जा, विलम्ब मत कर ॥" आप घर आए सर्कार की कृपा देख प्रेमानन्द में अति मग्न हुए ॥

जब आपके यहाँ बड़ी भीड़ होने लगी, मान बड़ाई बहुत बढ़ी, तो इसको विष सम जान, आप नए नए कौतुक करने लगे ; एक वेश्या को साथ लेकर बाहर निकले। लोगों ने समझा कि अब यही रंग बदला लोक में सुयश घटा । भला सामान्य लोगों में इतना धैर्य्य कहाँ ? जो श्रद्धा घट न जाय। आपने तो केवल लोक-रंजन के भय से ऐसा किया ॥

(३३५) टीका । कवित्त । (५०८)

सन्त देखि डरे, सुख भयौ ई असन्तनि के, तब तौ बिचार मन माँझ और आयो है। बैठो नृप सभा जहाँ गये पै न मान कियौ; कियौ एक चोज़ उठि जल ढरकायो है । राजा जिय शोच पस्यो, कस्यो कहा ? कह्यो तब "जगन्नाथ पण्डा पाँव जरत बचायो है"। सुनि अचरज भरे नृप ने पठाये नर, ल्याये सुधि, कही "आज साँच ही सुनायो है ॥ २७५ ॥ (३५४)

वार्त्तिक तिलक ।

यह देख सन्त लोग तो हरिमाया से डरे, और अभागे निन्दक खल-गण सुखी हुए।

तब श्रीकबीरजी महाराज मन में कुछ और विचार ठान राजा की सभा में गए । राजा ने आपका कुछ भी आदर सम्मान नहीं किया । आप कहीं बैठ गए; थोड़े ही काल के अनन्तर उठके उस

पात्र में से (जिसको लोग मदिरा से भरा अनुमान करते थे) सभा ही में जल ढाल दिया। राजा ने पूछा कि "यह क्या किया?" आपने उत्तर दिया कि "श्रीजगन्नाथजी में एक पंडे का पाँव जला चाहता था, इसलिये आग बुझा दी है।" यह आश्चर्य्यजनक वचन सुन के राजा ने साँड़िनीवाले को पुरुषोत्तमपुरी भेजा लौट आकर उसने कहा कि "सब वार्त्ता सत्य है॥"

(३३६) टीका। कवित्त। (५०७)

कही राजा रानी सो "जु बात वह साँची भई, आँच लागी हिये अब कहो कहा कीजियै?"। "चलें ही बनत" चले, सीसतृण बोझ भारी, गरे सो कुल्हारी बाँधि, तिया संग भीजियै॥ निकसे बजार ह्वै कै, डारिदई लोकलाज, "कियौ मैं अकाज छिन छिन तन छीजियै।" दूरते कबीर देखि, ह्वै गये अधीर महा, आये उठि आगे कह्यौ, डारि मति रीझियै॥ २७६॥ (३५३)

वार्त्तिक तिलक।

राजा ने रानी से कहा कि "श्रीकबीरजी की वह बात (पंडे के पाँव जलने से बचाने की) तो ठीक ही निकली; बताओ अब क्या करना चाहिये। मैंने महाराज का बड़ा अपमान किया है, इस भय आँच से मेरा जी तप्त है; और, मैंने नहीं करना सो किया इससे क्षण-क्षण शरीर तेज-बल-हीन हो रहा है॥"

रानी ने कहा कि "चले ही बनत"। रीति अनुसार, लाज तज, गले में कुल्हारी बाँध, माथे पर तृणभार रख, रानी को साथ ले, नंगे पाँव, नगर के मध्य हो, आपके पास चला। श्रीकबीरजी की दृष्टि ज्यों ही दम्पति पर पड़ी, आप महा अधीर हो, उठकर, आगे आ, कुल्हारी बोझा फिंकवा, रानी राजा का आदर सत्कार कर अमृत वचनों से दम्पति को अपनी प्रसन्नता जनाई और सुखी किया॥

(३३७) टीका। कवित्त। (५०६)

देखिकै प्रभाव, फेरि उपज्यौ अभाव द्विज आयौ पादसाह सो "सिकंदर" सुनाँव है। बिमुख समूह संग, माता हूँ मिलाय लई,

जाय कै पुकारे "जू दुखायौ सब गाँव है" ॥ "ल्यावौ रे! पकर, वाके देखौं यै मकर कैसो, अकर मिटाऊँ, गाढ़े जकर तनाव है। आनि ठाढ़े किये, "क़ाज़ी" कहत "सलाम करौ;" "जानैं न सलाम, जानैं राम," गाढ़े पाँव है ॥ २७७ ॥ (३५२)

वार्त्तिक तिलक।

यह प्रभाव देख करके ब्राह्मणों के हृदय में पुनः मत्सर उत्पन्न हुआ; वे सब काशीराज को भी श्रीकबीरजी के वश में जानकर, 'बादशाह सिकंदर लोदी' के पास, जो आगरे से काशीजी आया था, पहुँचे। श्रीकबीरजी की मा को भी मिलाके साथ में लेके मुसलमानों सहित बादशाह की कचहरी में जाकर उन सबने पुकारा कि "कबीर नगर भर में उपद्रव मचा रहा है।" बादशाह ने आज्ञा दी कि उसको पकड़ लावो मैं उसका मकर देखूँ, गाढ़े सिकड़ी में डालके उसका अकड़ मिटाऊँ। आप बादशाह के पास लाये गए; "क़ाज़ी" ने कहा कि "सलाम करो।" आपने उत्तर दिया कि "मैं श्रीरामजी को छोड़ और दूसरे किसी को सीस नवाना नहीं जानता हूँ॥"

(कवित्त) "बिमुखन मुख निंदा सुनिकै सिकंदर ने पकरि मँगाये आप आये ताहि ठाम है। कही काजी पाजी सुनो ये महा मिजाजी करो सिर को झुकाय बादशाह को सलाम है ॥ बोले श्रीकबीर रस राम कहैं धीर उर ध्याय रघुबीर जन पीर हारी नाम है। जानौं न सलाम कहौं साँची मैं कलाम बात दूसरी हराम जग जानौं एक राम है ॥"

(३३८) टीका। कवित्त। (५०५)

बाँधि कै जंजीर गंगा नीर माँझ बोरि दिये, जिये तीर ठाढ़े; कहैं "जंत्र मंत्र आवही"। लकरीन माँझ डारि अगिनि प्रजारि दई, नई मानो भई देह, कंचन लजावही ॥ बिफल उपाय भये, तऊ नहीं आय नये, तब मतवारो हाथी आनि कै झुकावही। आवत न ढिग, औ चिघारि हारि भाजि जाय; आप आग सिंह रूप बैठे सो भगावही ॥ २७८ ॥ (३५१)

वार्त्तिक तिलक।

†बादशाह ने आपको लोहे की सांकर में बांधकर श्रीगंगाजी में छोड़वा दिया, पर श्रीकृपा से सांकर टूट गई और आप तीर पर‡ खड़े देखने में आये, बादशाह ने कहा कि "इसको जंत्र मंत्र आता है," फिर लकड़ियों में आग लगवाकर आपको उसमें छोड़वा दिया; परन्तु इसमें से भी आप ऐसे (तेजस्वी) निकले जैसे आग में से सोना। "क़ाज़ी" के सब उपाय निष्फल हुए परन्तु श्रीकबीरजी बादशाह के आगे नहीं ही झुके। तब मतवाला हाथी लाकर उनके सामने छोड़ दिया; हाथी आपके पास नहीं आया, बरन् चिघर चिघर करके भाग गया, क्योंकि हाथी के आगे आप सिंहरूप बैठे देख पड़े॥ (सिकंदर लोदी का राज्य सं० १५४५ से १५७४ तक)

(३३९) टीका। कवित्त। (५०४)

देख्यो बादशाह भाव, कूदि परे गहे पाँव, देखि करामात, मांत भये सब लोग हैं। "प्रभु पै बचाय लीजै, हमैं न गजब कीजै, दीजै जोई चाहो गाँव देस नाना भोग हैं"॥ "चाहैं एक राम, जाकौं जपैं आठो जाम, और दाम सों न काम, जामैं भरे कोटि रोग हैं।" आये घर जीति, साधु मिले करि प्रीति, जिन्हैं हरि की प्रतीति वेई गायबे के जोग हैं॥ २७९॥ (३५०)

वार्त्तिक तिलक।

सब लोग हार गए। 'बादशाह' ने प्रभाव देखकर, आपके चरणों पर शिर नवाय, विनय किया कि "मुझे जगकर्ता की अप्रसन्नता तथा क्रोधानल से बचा लीजिये, आप जो चाहैं नगर, प्रदेश, सामग्री सो सब लें।" आपने उत्तर दिया कि "धन धान्य द्रव्य में

---

† कलि अब्द ४५८९ संवत् १५४५ में सिकन्दर लोदी बादशाह हुआ और २९ वर्ष राज्य कर १५७४ बिक्रमी में मर गया बोध होता है कि कबीरजी का परिचय इसी ज़माने की बात है लगभग १५४८ वा १५४९॥

‡ "उठेला गङ्गा की लहरी टूटेला जंजीर।
प्रेम भरे राम राम रटेले का[illegible]र॥
जाके मन न डिगे तन कैसे कै डिगे॥"

करोड़ों अवगुन और रोग भरे हैं, उससे मुझको कुछ प्रयोजन नहीं, मैं केवल 'श्रीराम' नाम चाहता हूँ, कि जिसको आठो याम जपा करता हूँ ॥"

महा राजसभा से भी जीतकर आप स्थान में पहुँचे। सन्त भक्त जिन्हें हरि में प्रतीति थी, अति प्रीति और आनन्द से दर्शन और मिलन को आए। जिनको श्रीसीतारामजी में श्रद्धा विश्वास प्रीति प्रतीति है वेई महानुभाव गाए जाने के योग्य हैं ॥

(३४०) टीका । कवित्त । (५०३)

होय के खिसाने द्विज, निज चारि विप्रन के मूड़नि मुड़ायो भेष सुन्दर बनाये हैं। दूर दूर गांवनि में, नावनि को पूँछि पूँछि, नाम लै "कबीर जू" कौ झूठैं न्योति आये हैं॥ आये सब साधु सुनि एतो दूरि गये कहूँ चहूँ दिसि सन्तनि के फिरैं हरि धाये हैं। इनहीं को रूप धरि न्यारी न्यारी ठौर बैठे एऊ मिलि गये नीके पोषि के रिझाये हैं ॥ २८० ॥ (३४६)

वार्त्तिक तिलक ।

ब्राह्मणों को मत्सर ने पुनः घेरा; कई कई जनों को माथ मुड़वा वैरागी के सुन्दर भेष धारण करवा, चारों ओर भेजा, जो अनेक गाँवों में जा जाकर झूठमूठ श्रीकबीरजी की ओर से न्यवता दे दे आए कि "अमुक दिन भण्डारा है।" उसी दिन चारों ओर से वृन्दके वृन्द साधु पहुँचे। वार्त्ता जानकर श्रीकबीरजी कहीं जा छुपे ॥

श्रीसर्कार कबीरजी के वेष में अपार सामग्री सहित पहुँच, अनेक रूप से सन्तों का आदर सत्कार कर आसन दिला, ऐसा भण्डारा दिया, कि जो केवल लक्ष्मीनाथ से ही बन सकता है। सब सन्तों को अत्यन्त रिझालिया। श्रीयुगल सर्कार की जय ॥

(३४१) टीका । कवित्त । (५०२)

आई अपछरा, छरिबे के लिये, बेस किये, हिये देखि गाढ़े, फिरि गई, नहीं लागी हैं। चतुर्भज रूप प्रभु आनि कैं प्रगट कियो, लियो फल नैननि कौं, बड़ो बड़ भागी हैं॥ सीस धरे हाथ, "तन साथ

मेरे धाम आवौ, गावौ गुण, रहौ जौलौं तेरी मति पागी हैं।"
"मगह" में जाय, भक्ति भाव को दिखाय, बहु फूलनि मँगाय, पौढ़ि
मिल्यौ हरि रागी हैं॥ २८१ ॥ (३४८)

वार्त्तिक तिलक।

स्वर्ग से एक अप्सरा आपकी परीक्षा के लिये आई, अपना सब करतब कर हार के लज्जित हो लौट गई। "जेहि राखै रघुबीर, बाल को बंका कर सकै?।" आपने आँखों का फल पाया, श्रीलक्ष्मीनाथ ने चतुर्भुजरूप से दर्शन दिये और सीस पर करसरोज रखके आज्ञा की कि "जब तुम्हारा जी चाहै तब सबके देखते शरीर सहित मेरे परमधाम में चले आइयो; और जब तक यहाँ रहो मेरे गुण गाओ॥"

श्रीकबीरजी का	विक्रमी संवत्	ईसवी सन्	शाके	कलि अब्द
जन्म	१४५१	१३९४ *	१३१६	४४९५
परमधाम	१५५२	१४९५	१४१७	४५९६

H. H. Wilson, Esq. ने १४४८ ईसवी अर्थात् १५०५ विक्रमी लिखा है श्रीकबीरजी १५४९ में मगहर गये। वहीं से संवत् १५५२ के अगहन सुदी एकादशी को परमधाम पहुँचे॥

दो॰ "पन्द्रह सौ उनचास में, मगहर कीन्हों गौन।
अगहन सुदी एकादशी, मिले पौन सों पौन॥"

श्री १०८ कबीरजी मगहर जा, भावभक्ति प्रचार कर, बड़े ही प्रसिद्ध हुए। फूल मँगा, उनको बिछा, उस पर लेट, एक सादा वस्त्र ओढ़, १०१ (एकसौ एक) वर्ष की अवस्था में, श्रीपरमधाम को पहुँचे। जय! जय!!

हिन्दू ❀ मुसलमान दोनों ने देखा कि वस्त्र के तले कुछ नहीं था; केवल फूल ही फूल थे॥

---

* "संतो! मतै मात जन रंगी॥ कोऊ पीवत प्याला प्रेमसुधारस मतवाला सतसंगी॥" "सुर नर मुनि जिते पीर औलिया" जिन्ह रे पिया तिन्ह जाना। कह कबीर "गूँगे की शक्कर क्योंकर सकौं बखाना?"

श्रीकबीरजी जुलाहे के घर तो पले ही थे, और जुलाहे उनके परिवार, इससे इनका सम्बन्ध मुसलमानों से स्पष्ट है। और, मानसी भागवत संस्कारपूर्वक श्रीराम नाम

(७५) श्री ६ पीपाजी की कथा।

(३४२) छप्पय। (५०१)

पीपा प्रताप जग बासना नाहर कौं उपदेश दियो॥ प्रथम भवानी भक्त मुक्ति माँगन कौं धायो। सत्य कह्यो तिहिं शक्ति, सुदृढ़ हरिशरण बतायो॥ श्रीरामानँद पद पाइ, भयो अतिभक्ति की सींवाँ। गुण असंख्य निर्मोल सन्त धरि राखत ग्रीवाँ॥ परसि प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मंगल कियो। पीपा प्रताप जग बासना नाहर कौं उपदेश दियो॥ ६१॥ (१५३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपीपाजी का प्रताप जगत् में विदित है, आपके सुयश की वासना संसार में फैल रही है; एक वासना-नाहर ❀ ने आपका उपदेश ग्रहण किया। प्रथम श्रीपीपाजी श्रीदेवीभवानीजी के भक्त रहे, एक समय शीघ्रतायुक्त मन्दिर में जा पूजा ध्यान करके मुक्ति माँगी,

महामंत्र उपदेश के साथ, स्वामी अनन्त श्रीरामानन्दजी महाराज का कृपापात्र होना प्रसिद्ध ही है; इसी भाँति हिन्दू तुरुक दोनों ही से संबंध के कारण श्रीकबीरजी के वचनों से दोनों के कल्याण की इच्छा और दोनों ही पर आपकी बड़ी ही कृपा पाई जाती है।

कहते हैं कि आपने "बीजक" को संवत् १४६७ विक्रमी में स्वामी श्री १०८ रामानन्दजी महाराज के परधाम के अनन्तर, १६ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भ किया था॥

"जो कबीर काशी मरैं, रामहिं कौन निहोर ?॥"

दोहा—भजन भरोसे रामके, मगहर तजे शरीर।
अविनाशी की गोद में, बिलसैं दास कबीर॥

Doctor Hunter, M. A. L.L.D., K.C.I.E., C.S.I.

जो आपका जन्म सन् १३८० ई० में लिखते हैं, उनके अनुसार भी, आप सन् १३६५ और १४११ ईसवी में इस मृत्युलोक में वर्त्तमान थे॥

❀ "वासना-नाहर"=एक प्रकार का नाहर (व्याघ्र) कि जिसको बहुत दूर से मनुष्य आदि की वासना (गन्ध) पहुँच जाती है॥

श्रीभवानीजी ने प्रत्यक्ष रूप धर के बताया कि "श्रीहरि की शरणागति को दृढ़ धरो श्रीरामानन्दजी को गुरु करो ॥"

श्रीस्वामीजी के चरण प्रताप से आप भक्तिभाव की सीमा तथा असंख्य अनूप गुणों के समूह हुए। सन्तों को बड़े ही विनय बल से अपने यहाँ अटका के पूजा सेवा किया करते थे। श्री १०८ पीपाजी की प्रणाली अति सरस निकली; सारे संसार के मंगल का कारण हुइ। आपके प्रताप की वासना जगद्विख्यात हुई कि ऐसे भारी हिंसक पशु (नाहर) को भी चेताया और उसको उपदेश लगा ॥

(३४३) टीका। कवित्त। (५००)

"गागरौन" गढ़ बढ़ पीपा नाम राजा भयो; लयो पन देवी सेवा, रंग चढ्यौ भारियै। आये पुर साधु; सीधो दियो, जोई सोई लियो; कियो मन माँझ 'प्रभु ! बुद्धि फेरि डारियै' ॥ सोयो निशि; रोयो देखि सुपनो बेहाल अति, प्रेत विकराल देह धरिकै पछारियै। अब न सुहाय कछू; वहूँ पायँ परि गई; नई रीति भई, वाहि भक्ति लागी प्यारियै ॥ २८२ ॥ (३४७)

वार्त्तिक तिलक।

गागरौन * नाम नगर में एक बड़ा गढ़ और "पीपा" नाम वहाँ का राजा था; देवीजी की पूजा का उसका पन था और उनमें वह भारी प्रेम रखता था। कहते हैं कि चालिस मन भोग प्रतिदिन चढ़ाता था। शुभ गुणों से राजा सम्पन्न था एक दिन अकस्मात् कई मूर्ति संत इस बड़भागी राजा की पुरी की ओर आ निकले ॥

जब साधु आये तब राजा ने उनके निकट रसोईं की सीधा सामग्री पहुँचवा दी। राजा का भाग धन्य और धन धान्य। साधु महात्मा तो (जिनके प्रभुही धन हैं) नित्य पूरण काम सदा कृतारथरूप होते ही हैं, राजा ने आटा दाल चावल जल दल फूल फल, जेन केन विधि, जो ही कुछ दिया सो ही बड़ी प्रशंसा और सन्तुष्टता पूर्वक संतों ने अंगीकार किया ॥

---

* श्रीकाशीजी और श्रीद्वारावती (द्वारकापुरी) के बीच।

सन्तों ने प्रभु से विनय किया कि "राजा की मति सुधार दीजिये॥"
राजा ने रात को भयानक स्वप्न देखा; प्रेत ने उसकी खाट उलट दी। श्रीदेवीजी ने उसको प्रत्यक्ष दर्शन दिये। राजा ने मुक्ति माँगी, श्रीदेवीजी ने इस प्रार्थना से प्रसन्न हो हरिभक्ति का मार्ग बताया; और देवीजी ने राजा का आदर किया, नई रीति हुई। राजा को हरिभक्ति अति प्रिय लगी॥

(३४४) टीका । कवित्त । (४६६)

पूछ्यो हरि पायबे कौ मग जब, देवी कही, "सही रामानन्द गुरु करि, प्रभु पाइयै।" लोग जानैं बौरो भयौ, गयौ यह काशीपुरी; फुरी मति अति, आये जहाँ-हरि-गाइयै॥ द्वार मैं, न जाने देत, आज्ञा ईश लेत, कही राजसों न हेत, सुनि सबही लुटाइयै। कह्यो "कुवाँ गिरौ" चले गिरन प्रसन्न हिए, जिये सुख पायौ, ल्याय दरस दिखाइयै॥ २८३ ॥ (३४६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीपीपाजी ने श्रीदेवीजी से पूछा कि "माता! श्रीसीतारामजी कैसे मिलैं?" श्रीदेवीजी ने उत्तर दिया कि "पुत्र! काशीजी में जाके श्रीरामानन्दजी का शिष्य हो।" श्रीपीपाजी बड़ी ही आतुरता से श्रीकाशीपुरी, भगवान् रामानन्दजी के स्थान में पहुँचे; आश्रम देख और हरिकीर्तन सुन विशेष आनन्द पाया॥

ड्योढ़ी पर के भृत्य ने पीपाजी को रोका; उनके आगमन का सब समाचार तथा हेतु श्रीस्वामीजी से विस्तारपूर्वक निवेदन किया; और श्रीआज्ञा आ सुनाई कि "गृहासक्ति और विरक्ति में बड़ा अंतर है। राजसी लोगों से हमारा प्रेम नहीं।" पीपाजी ने सबका सब तृण की नाईं उड़ा दिया सब धन ठिकाने लगाया। इसके उपरांत इनको यह आज्ञा दी गई कि "कुएं में कूद पड़," आज्ञा सुनि, पीपाजी कुएं की ओर ज्योंही लपके, कि इतने में भगवान् रामानन्दजी के सेवक लोग बड़ी फुर्ती और अति लाघव से इनको पकड़ के श्रीस्वामीजी महाराज के सन्मुख ले गये। श्रीदर्शन से पीपाजी कृतकृत्य हुए॥

(३४५) टीका । कवित्त । (४९८)

किये शिष्य कृपा करी, धरी हरि भक्ति हृदै; कही "अब जावौ गृह, सेवा साधु कीजियै । बितये बरस, जब सरस टहल जानि, संत सुख मानि, आवैं घरमधि लीजियै ॥" आये आज्ञा पाय धाम, कीन्ही अभिराम रीति; प्रीति कौ न पारावार; चीठी लिखि दीजियै । "हूजियै कृपाल; वही बात प्रतिपाल करौ;" चले जुग*बीस जन संग, मति रीझियै ॥ २८४ ॥ (३४५)

वार्त्तिक तिलक ।

भगवान् रामानन्दजी ने संस्कारपूर्वक पीपाजी को शिष्य करके आज्ञा की कि "वत्स ! अब तुम गागरौनगढ़ जाओ, और वहीं रह के साधुसेवा करो; जब तुम्हारी साधुसेवा सरस निकलेगी, तब बरस दिन बीते हम स्वयं तुम्हारे घर आवेंगे ।" पीपाजी राजधानी में आके साधु-सेवा करने लगे, यहाँ तक की, कि उनकी कीर्त्ति कौमुदी का प्रकाश दसोंदिशाओं में फैलगया; बारह महीने श्रीपीपाजी को सुख से एक पल सरिस जान पड़े; अब श्रीगुरु दर्शन की प्रतीक्षा कर, विरह से विकल हो, पीपाजी ने काशीजी में पाती (पत्रिका) निवेदन की; जिसके सत्य कार्पण्य और यथार्थ प्रणय से द्रव कर, निज वचन को सँभाल, संतों से पीपाजी की साधुसेवा की प्रशंसा सुन, श्रीसीताराम कृपा से, तीक्ष्ण विराग और तीव्र अनुरागवाले चालीस मूर्त्ति संतोंको साथ ले, अनन्त श्रीरामानन्दजी ने श्रीकाशीजीसे गागरौनगढ़ को प्रस्थान किया॥

(३४६) टीका । कवित्त । (४९७)

कबीर रैदास आदि, दास सब संग लिये, आये पुर पास; पीपा पालकी लै आयौ है । करी साष्टांग न्यारीन्यारी बिनै साधुन को, धन को लुटाय सो समाज पधरायौ है ॥ जैसी कीन्ही सेवा, बहु मेवा, नाना राग भोग, बानी के न जोग; भाग कापै जात गायौ है । जानी भक्ति रीति, "घर रहौ, कै अतीत होहु;" करिकै प्रतीति गुरु पग लगि धायौ है ॥ २८५ ॥ (३४४)

* "जुगबीस"=२०+२०=४०; २०×२=४०

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीपीपाजी ने सुना कि भगवान् रामानन्दजी महाराज चालीस कृपापात्रों के साथ नगर के निकट आ पहुँचे; शीघ्र राजधानी के बाहर पालकी सहित आ, अगुआई की; और अलग अलग साष्टांग दंडवत् कर, पालकी में चढ़ा, धन धान्य लुटाते, श्रीगुरुनारायण की पालकी में अपना कंधा भी लगाए हुए चले। प्रेम से अपने कंधे पर पालकी रक्खे, बड़े धूम धाम से गीत बाजा इत्यादि के साथ, घर में ला पधराया ॥

जिस भाव से श्रीगुरु और संत समाज की सेवा पूजा करने लगे कहते नहीं बनता; नित्य के राग भोगकी प्रशंसा किससे की जासकती है ? स्वामीजी महाराज ने इनकी रुचि देख, आज्ञा की कि "यदि तुम इसी रीति पर रामकृपा से चले चलो तो राज्य त्यागना और घर में बने रहना दोनों ही बातें तुम्हारे लिये तुल्य ही हैं।" श्रीगुरु वचन को हृदय में समझ दौड़कर श्रीचरणारबिन्द पर आ गिरे अर्थात् यह चाहा कि "सब छोड़ श्रीगुरुसेवा में बना रहूँ ॥"

(३४७) टीका । कवित्त । (४६६)

लागी संग रानी दस दोय, *कही मानी नहीं, कष्ट को बतावै, डरपावै, मन लावहीं। "कामरीन फारि मधि, मेखला पहिरि लेवो, देवो डारि आभरन, जो पै नहीं भावहीं" ॥ काहू पैं न होय, दियो रोय, भोय भक्ति आई, छोटी नाम सीता, गरें डारी न लजावहीं। "यहू दूर डारौं, करौं तन को उघारौं;" कियौ; दया रामानन्द हियौ; पीपा न सुहावही ॥२८६॥ (३४३)

वार्त्तिक तिलक।

जब पीपाजी की बारह (वा बीस) रानियों ने जाना कि हमारे महाराज, राज और घर सब कुछ छोड़, विरक्त हो, भगवान् श्रीरामानन्द-जी के साथ जा रहे हैं, तो वे सबकी सब साथ हुईं; और, मार्ग के कष्ट बताने डराने डांटने फटकारने समझाने से भी किसी ने नहीं माना। श्रीपीपाजी ने कमली फाड़ फाड़ कर, सब रानियों

* "दसदोय"=१०+२=१२ अथवा १०×२=२०

को दी कि "यही गले में पहन पहन लो, और भूषण वसन उतार डालो, जो यहाँ रहना नहीं भाता है तो इसी वेष से चलना पड़ेगा।" यह तो किसी से नहीं हो सका; सबों ने रो दिया, परन्तु "सीता-सहचरी" नाम सबसे छोटी रानी, जो भक्तिवती सुन्दरी सुकुमारी और बड़ी सुशीला थी, शीघ्र उठ खड़ी हुई; और अपने सिंगार आभरन इत्यादि उतार, लाज तज, कंबल की मेखला❀ (अलफी) गाती पहन, हाथ जोड़, समाज में आ मिली। पीपाजी ने कहा कि "यह भी उतार फेंको" सीता-सहचरी ने ऐसा ही किया। भगवान् रामानन्दजी को इस पर बड़ी ही दया आई; पर पीपाजी को स्त्री का साथ लेना नहीं भला लगता था॥

(३४८) टीका। कवित्त। (४९५)

जौ पै यापै कृपा करी, दीजै काहू संग करि, मेरे नहीं रंग यामैं, कही बार बार है। सौंह को दिवाय दई; लई तब कर धरि; चले ढारि; बिप्र एक छोड़ैं न बिचार है॥ खायौ बिष; ज्यायौ; पुनि फेरि कै पठायौ सब; आयौ यों समाज द्वारावती सुखसार है। रहे कोऊ दिन; आज्ञा माँगी इन रहिबे की; कूदे सिंधु माँझ; चाह उपजी अपार है॥ २८७ (३४२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगुरुभगवान् से पीपाजी ने पुनः पुनः प्रार्थना की कि "मुझको इसका साथ ले चलना नहीं भाता है, यदि आपको इस पर इतनी करुणा है तो किसी और कृपापात्र के साथ कर दीजिये।" पर स्वामीजी महाराज ने शपथ दिया; तब पीपाजी ने सीतासहचरीजी का हाथ थाँभ लिया। श्रीसीतारामकृपा से समाज ने प्रस्थान किया॥

रानियाँ दूसरा रंग लाईं, एक ब्राह्मण को (जो पुरोहित से कुछ सम्बन्ध रखता था, कहते हैं कि उन्नीस सौ रुपए देने की प्रतिज्ञा कर) कहा कि "किसी भाँति राजा को रोको।" वह ब्राह्मण हलाहल

❀"मेखला"=कटि-भूषण, करधनी॥

विष खा गया जिसके भयानक परिणाम से पीपाजी अत्यन्त डरे॥ परन्तु भगवान् रामानन्द ने श्रीसीतारामकृपा से तत्क्षण ही उस दुर्बुद्धि को जिला दिया; और उन मूर्खों को फेर दिया, यह मंगल समाज सानन्द शीघ्र पयान कर सुखपूर्वक, विचरता, मार्गवासियों को कृतार्थ करता, श्रीद्वारावती (द्वारका) पहुँचा। कुछ दिन सुख से साथ रहकर पीपाजी ने श्रीगुरु-सत्संग का आनन्द प्राप्त किया। जब समाज वहाँ से काशीजी को चला, तो आज्ञा माँगकर श्रीपीपाजी द्वारावती ही में रह गये भगवत्दर्शन की अत्यन्त आकांक्षा से श्रीपीपाजी सीता-सहचरी समेत एक दिन समुद्र में कूद पड़े॥

दीर्घ-दर्शी स्वामी श्री १०८ रामानन्दजी महाराज, पीपाजी के जल में कूदने की परीक्षा तो ले ही चुके थे॥

(३४९) टीका। कवित्त। (४९४)

आये आगे लैन आप, दिये हैं पठाय जन, देखि द्वारावती कृष्ण मिले बहुभाय कै। महल महल माँझ चहल पहल लखी, रहे दिन सात, सुख सकै कौन गाय कै॥ आज्ञा दई जाइबे की; जाइबौ न चाहैं; दिये पिये वह रूप "देखौ मोंहीं को जु जाय कै"। "भक्त बूड़ि गयं, यह बड़ोई कलंक भयौ, मेटौ तम, अंक संक गही अकुलाय कै॥ २८८॥ (३४१)

वार्त्तिक तिलक।

जैसे ही दम्पति समुद्र में कूदे, वैसे ही श्रीकृष्ण भगवान् के भेजे हुए एक मूर्ति ने इन दोनों को रास्ता दिखाते हुए श्रीमहल तक पहुँचा दिया, जहाँ श्रीरुक्मिणीजी महारानी समेत श्रीकृष्ण भगवान् इनकी अगुवाई के लिये स्वयं आगे आ खड़े थे। श्रीपीपाजी और सीतासहचरीजी ने श्रीद्वारावती का दर्शन करके अद्भुत आनन्द तो पाया ही था, किन्तु प्रभु जिस कृपा और भाव से इनसे मिले, और सात दिन तक इन्होंने मंदिर मंदिर में जैसा चहल पहल (परमानन्द) का अनुभव पाया, उस सुख का वर्णन किसी कवि से क्या वरन शेष-शारदा से भी नहीं हो सकता॥

प्रभु ने बाहर जाने की आज्ञा दी; यद्यपि साक्षात् दर्शन के सुख को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे, तथापि श्रीहरि ने यह समझाया कि "जहाँ रहोगे वहाँ इसी ध्यान में मग्न रहोगे, और यदि तुमको न भेजूँ तो लोक में यह कलंक होगा कि भगवत् का भक्त डूब गया। सो तुम्हें इस कलंकरूप अंधकार को मेटना उचित है।" आज्ञा सीस पर धर उस छाप को जो भगवत् ने अनुग्रह किया, पीपाजी ने हाथ में ले लिया; और विरह से अत्यंत विकल हुए। श्रीरुक्मिणी दयामयी ने अपना प्रसाद, सारी, महाभाग्यवती सीतासहचरी को अनुग्रह किया; तदनंतर प्रभु समुद्रतट तक पहुँचाने के अर्थ उठ खड़े हुए॥

(३५०) टीका। कवित्त। (४९३)

चले पहुँचायबे को प्रीति के अधीन आप, बिन जल मीन जैसे ऐसे फिरि आये हैं। देखि नई बात, गात सूके*पट, भीजे हिये, लिये पहिचानि, आनि, पग लपटाये हैं॥ दई लैके छाप पाप जगत के दूर करौं, "डरौ कहूँ और" कहि सीता समुझाये हैं। छठेई मिलान † बन में पठान भेंट भई, लई छीनि तिया, किया चैन, प्रभु धाये हैं॥२८९॥ (३४०)

वार्त्तिक तिलक।

भगवत् तो प्रेम के अधीन हैं ही, पहुँचाने को चले और पहुँचाकर श्रीभक्तवत्सल महाराज ऐसे फिरे जैसे जल बिन मीन; श्रीपीपाजी तथा श्रीसीतासहचरीजी की दशा क्या कही जाय? जैसे विना प्राण के शरीर की॥

समुद्र के तट पर लोगों ने श्रीपीपाजी और सीतासहचरीजी को बड़े आश्चर्य से देखा; इनके शरीर और वस्त्र का एक सूत वा एक रोम भी भीगा नहीं था। सबके सब सूखे ही थे; इनके हृदय भगवत्-प्रेम से भली भाँति भीगे थे। सिंधुतट की भीड़ ने, जिनमें से बहुतों ने इन दोनों को समुद्र में कूदते देखा था, पहिचान लिया; महात्मा लोगों ने

* "सूके"=सूखे, भीगे नहीं। † "मिलान"=मार्ग माप (ميل mile)॥

बड़े आदर से दोनों को लाके दिव्य द्वारका और श्रीहरिकृपा का वृत्तान्त सुना; तथा छाप को देखकर चरणों में लिपट गये; श्रीपीपाजी ने छाप को पुजारी के हाथों में सौंप श्रीमुख वचन कह सुनाया कि "जिसके छाप लगेगी सो भवसागर से उत्तीर्ण हो जायगा॥" श्रीआयुध अंकित प्राणियों की महिमा श्रीपीपाजी ने भगवत् आज्ञा से समझाके कहा कि "लोगों का पाप छुड़ाया कीजिये॥"

दर्शन को आनेवाले लोगों की भीड़ देखकर श्रीपीपाजी श्रीसीता-सहचरी की सम्मति से शीघ्र ही वन की ओर चल दिए। श्रीपीपाजी ने श्रीसहचरीजी को समझाया कि "तुम सरीखी युवा सुन्दरी को मुझ अकेले के साथ चलना ठीक नहीं है;" पर श्रीकल्यानीजीने एक न सुना॥

वन में छः "मिलान" जाने पर दुष्ट पठान लुटेरों की दृष्टि श्रीसह-चराजी पर पड़ी और साथ ही सबके सब इन दोनों पर टूट पड़े। स्त्री को छीन चम्पत हुए॥

श्रीसीतासहचरी भगवत् से विनय करने लगीं कि "प्रभो यदि तुमने तनक विलंब किया तो इसकी लाज और प्राण पर न जानूँ कि क्या और कैसा हो?"

"तुम को तो है यह खेल कौतुक, पर।
जाते हैं लाज प्राण याँ, प्रियवर!
हूँ मैं अबला न सिख दो यों बेढब।
जुक्त ऐसी हँसी औ सिष है कब?
सब औसर में हो निकट प्यारे।
तजि विलँब बेग हो प्रगट प्यारे॥"

वहीं, श्रीहरिने निगुड़े दुष्टों को पूरा दंड और श्रीसहचरीजी को दर्शन दिया। श्रीपीपाजी भगवतइच्छा समझ एकांत को सुखद मान भगवद्-भजन में चैन करने लगे; तथापि श्रीहरि श्रीसहचरीजी को श्रीपीपाजी के पास पहुँचाकर आप अंतर्द्धान हो गये॥

(३५१) टीका। कवित्त। (४६२)

अभू लगि जाओ घर, कैसे कैसे आवैं डर बोली "हरि! जानियै न भाव पै न आयो है"। लेतहौं परिच्छा, मैं तो जानौं तेरी सिच्छा ऐपै, सुनि दृढ़ बात कान अति सुख पायो है"॥ चले मग दूसरे; सु, तामें एक सिंह रहै, आयो बासलेत; शिष्य कियो; समझायो है। आए और गाँव, सेषसाईं प्रभु नाँव रहै, करे बाँस हरे; ढरे "चौधर" सुहायो है॥ २६०॥ (३३६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपीपाजी ने सीतासहचरीजी से कहा कि "देखो! कैसे कैसे उपद्रव खड़े होते हैं; तुम अब भी घर फिर जावो; आपने उत्तर दिया कि हे हरि! यह दासी तो कदापि पीछे पग देने की नहीं; आपने ठीक विचार नहीं किया है; मेरे निमित्त आपने कौन सा उद्योग किया है? और श्रीयुगल सर्कार ने किस आपत्ति की शान्ति नहीं की है? तब श्रीपीपाजी ने मुसकाके कहा "मैं केवल तुम्हारी परीक्षा लेता था, तुम्हारी समझ बूझ को मैं जानता हूँ, तुम्हारी दृढ़ता देख समझ सुनके मैंने अतिशय सुख पाया॥

दो० "पीपाजी तब हँसि कह्यो, लई परीक्षा तोरि।
तैं तो श्रीरुक्मिणि सखी, तोहिं तजे बड़ि खोरि॥"

उस मग को तज, दोनों मूर्तियों ने दूसरा पथ पकड़ा; कुछ आगे बढ़, एक सघन विपिन में एक बड़े सिंह के गरज की प्रतिध्वनि सुनी जो मनुष्यों की बास पाके टोह लेता हुआ इन दोनों की ओर आ निकला। परन्तु इन पर दृष्टि पड़ते ही वह मृगराज बकरी के सदृश अधीन हो श्वान की नाईं पूँछ हिलाने लगा॥

चौपाई।

"पीपा ताके निकट सिधारेउ। देइ तेहि मंत्र, माल गर डारेउ॥"

सिंह को उपदेश और शिक्षा दे, समझा बुझा, एक गाँव में आये जहाँ शेषसाईं नाम प्रभु के दर्शन किए॥

एक जगह कोई मनुष्य लाठी बेच रहा था, उससे एक लाठी

माँगी, उसने कहा "बँसवाड़ी में से जाकर काट क्यों नहीं लाते?" आपने कहा "बहुत अच्छा, रामकृपा से ऐसा ही होगा।" सो उसकी वे सब सूखी लाठियाँ धरती में जड़ पकड़कर, हरे हरे बाँस हो गई आपने उसमें से एक लाठी काट ली॥

फिर "श्रीचीधड़ भगत" का नाम सुनके उनसे मिलने को चले॥

श्रीपीपाजी और श्रीसीता-सहचरी का नाम, यश, देश-देश, गाँव-गाँव, गली-गली, प्रसिद्ध हो गया था॥

(३५२) टीका। कवित्त। (४६१)

दोऊ तिया पति देखैं आए भागवत; ऐपै घर की कुगति रति साँची लै दिखाई है। लहँगा उतारि, बेचि दियौ, ताकौ सीधौ; लियौ "करौ अजू पाक," वधू कोठी मैं दुराई है॥ करी लै रसोई सोई; भोग लगि बैठे, कह्यौ "आवौ मिलि दोई" "कही पाछे सीथ भाई है।" "वाहू कौ बुलावौ ल्यावौ आनि कै जिमाँवौ," तब सीता गई ठौर जाइ नगन लखाई है॥ २६१॥ (३३८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीचीधड़ भगतजी और उनकी भगतिन ने भागवतों के दर्शन से अति आनंद पाया। चीधड़ भगतजी ने पूछा तो जान पड़ा कि घर में कुछ नहीं है। श्रीपीपाजी और सीतासहचरीजी का नाम सुन-के दोनों हर्ष से फूले नहीं समाये॥

चीधड़जी की धर्मपत्नीजी ने अपना लहँगा उतारके बड़े प्रेम से दिया और श्रीचीधड़जी ने उसको बेच, सीधा सामग्री मोल ले श्रीपीपाजी के आगे ला रक्खा॥

जब रसोई होगई, और श्रीयुगल सर्कार को भोग लग चुका, तो आप दोनों ने कहा "भगतिनजी को बुलाइये, सब मिलकर प्रसाद पावैं; इन्होंने उत्तर दिया "वह पीछे से सीथ प्रसादी लेगी आप दोनों पावें।" चार पत्ते परस के श्रीपीपाजी ने सहचरीजी को कहा कि "तुम आप जाके भगतिनजीको लिवाय लाओ।" श्रीसहचरीजी आके देखती हैं तो भगतिनजी को एक कोठी में नंगी बैठी पाया॥

(३५३) टीका । कवित्त । (४६०)

पूछें "कहो बात, ए उघारे क्यों हैं गात," कही "ऐसेही बिहात, साधुसेवा मन भाई है । आवैं जब सन्त सुख होत है अनंत, तन ढक्यौ, कै उघारौ? कहा चरचा चलाई है"॥ जानिगई रीति, प्रीति देखी एक इनही में, "हमहूँ कहावैं, पै, छटा हूँ न पाई हैं।" दियौ पट आधौ फारि, गहि कै निकारि लई, भई सुखसैल, पाछैं पीपा सों सुनाई है ॥ २६२ ॥ (३३७)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसहचरीजी ने पूछा कि "भगतिनजी नंगी क्यों हो?" उत्तर दिया कि "दिन इसी भाँति व्यतीत होते हैं; साधुसेवा में विलक्षण सुख की प्राप्ति हुआ करती है; उस सुख के सामने कुछ भी दुख ऐसा जान नहीं पड़ता; जब संत कृपा करिकै पधारते हैं, तो असीम सुख मिलता है; तब इस चरचा की क्या आवश्यकता रहती है कि "तन ढका है कि नंगा?"

सहचरीजी ने बातों में सब कुछ समझ लिया और जाना कि "ओह ! श्रीसीतारामकृपा से इनकी रीति प्रीति बर्ताव इन्हीं में है; हमलोग भी 'संतभक्त' कहलाते हैं, पर इनकी छटा भी हममें कहीं पाई नहीं जाती।" अपने वस्त्र में से आधा फाड़कर उनको पहिनाया और हाथ पकड़ के वहाँ से लिवाय लाईं; जितना सुख समूह हुआ वह वर्णन नहीं हो सकता है ॥

प्रसाद पाने के अनंतर श्रीपीपाजी से श्रीसहचरीजी ने सब वार्ता विस्तारपूर्वक कह सुनाई ॥

(३५४) टीका । कवित्त । (४८६)

"करैं वेस्या कर्म, अब धर्म है हमारो यही," कही; जाय बैठी जहाँ नाजनि की ढेरी है । घिरि आये लोग जिन्हैं नैननि कौ रोग; लखि दूर भयो सोग, नेकु नीकेहूँ न हेरी है ॥ कहैं "तुम कौन?" बारमुखी, नहीं भौन संग भरुवा" सु गहे मौन; सुनि परी बेरी है । करी अन्न रासि आगे मुहर रुपैया पागे; पठै दई चौधर के; तब ही निबेरी है ॥ २६३ ॥ (३३६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसहचरीजी ने कहा कि "मेरा अब यही धर्म है कि अपनी सौन्दर्य्यता को बेचूँ, और इन दंपति को अन्नादि दूँ ॥

सो० "हरि जन चरित विचित्र, जिमि हरि चरित विचित्र अति ।
जानिय सदा पवित्र, नहिं संशय, वे अलख गति ॥ १ ॥"

दो० "चरित समर्थन के अलख, गूढ़, अतर्क्य, अदोस ।
जे सुनि ईर्षा करहिं ते, मूढ़ अविद्याकोस ॥ १ ॥
बड़े कहैं सो कीजियै, करैं सो लेब बिचार ।
श्याम कीन्हि करतूति जे, नहिं कर्तव्य हमार ॥ २ ॥"

यह कह अन्न के गोले (बाज़ार) में जा बैठीं जिन लोगों को वेश्याओं के देखने का रोग था वे लोग वहाँ घिर आये; परन्तु श्रीसचहरीजी के दर्शन के माहात्म्य से उनके रोग सोग जाते रहे, उनके मन पवित्र हो गए और उन्होंने फिर आपकी ओर विषय-दृष्टि से नहीं देखा; पूछा कि "तुम कौन हो?" आपने कहा कि "वारमुखी, मेरे घर गृहस्थी नहीं है और साथ में * भडुआ (मौन बैठा है) भी नहीं है।" इतना कह आप मौन हो गईं। सब लोग वहाँ घिरे खड़े ही रहे; वरंच रामकृपा से सब लोगों को निश्चय निर्णय हो गया कि ये श्रीसीता-सहचरीजी और श्रीपीपाजी हैं। ("तब ही निवेरी है") आपके आगे नाज सोना अन्न धन का ढेर लगा दिया। आप उस अन्न धन को श्रीचीधड़ भगतजी के घर भिजवा कर तब वहाँ से आप भी उठके श्रीपीपाजी और चीधड़ भगतजी के यहाँ चली आईं ॥

उस नाज सोना धन धान्य से श्रीचीधड़जी भली भाँति साधुसेवा करने लगे ॥

(३५५) टीका । कवित्त । (४८८)

आज्ञा माँगि "टोड़े" आये; कभूँ भूखे कभूँ धाये; औचकही दाम पाये, गयो हो स्नान को। मुहरनि भाँड़ो, भूमि गाड़ो, देखि छाँड़ि आयो; कही निसि, तिया बोली "जावो सर आन को॥ चोर चाहैं

* कोई २ कहते हैं कि पीपाजी को भँडुआ बताया ॥

चोरी करें; ढरे सुनि वाही ओर, देखें जो उघारि सांप, डारें हतै प्रान को। ऐसे आय परीं; गनी, 'सात सत बीस' भईं, तौलै पाँच बांट करें एक के प्रमान को॥ २६४॥ (३३५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपीपाजी श्रीसीतासहचरी सहित श्रीचीधड़जी और उनकी भगतिन से आज्ञा लेके "टोड़े" नाम के एक गांव में आये। "कभी घी घना कभी मुट्ठी चना कभी वह भी मना" तो विरक्तों के भोजन की ऐसी वार्त्ता प्रसिद्ध ही है इसका कहना ही क्या है॥

एक दिन स्नान को गये थे, वहाँ अचानक बहुत धन देखा कि स्वर्णमुद्राओं से भरे हुए घड़े धरती में गड़े कुछ कुछ दिखाई दे रहे हैं। आप देख के छोड़ आये। रात को स्त्री से यह बात कही। ये बोलीं कि "अब से आप उस ठिकाने न जाइये, दूसरे पोखरे पर स्नान को जाया कीजिये॥"

श्रीपीपाजी श्रीसीतासहचरीजी से उस धन के पता ठिकाने की जब बात जहाँ कर रहे थे। उसी समय वहीं, पास ही चोर भी चोरी की ताक में छिपे दोनों की बातें सुन रहे थे; सो वे चोर उसी पते पर पहुँचे, और उन पात्रों को देखा भी; परन्तु जो उनको खोलें तो उन में विषधर साँप देख पड़े क्रोध से भरके वे चोर उन बरतनों को उठालाये और श्रीपीपाजी के घर में गिरादिया; ऐसे घरबैठे ही धन पहुँच गया; श्रीपीपाजी ने गिने तो सोने के भारी भारी मुद्रे (७२० सात सौ बीस) थे, जो एक एक स्वर्णमुद्रा तौल में पाँच पाँच तोले का था॥

(३५६) टीका। कवित्त। (४८७)

जोई आवै द्वार, ताहि देत हैं अहार; और बोलि कै अनंत संत भोजन करायो है। बीते दिन तीन, धन खाय प्याय छीन कियौ; लियौ सुनि नाम नृप, देखिबे को आयो है॥ देखि कै प्रसन्न भयौ; नयौ; "देवौ दीक्षा मोहि;" "दीक्षा है अतीत, करैं आप सो सुहायो है"। "चाहो सोई करौं, ह्वै कृपाल, मोकों ढरौ," "अजू! धरौ आनि संपति औ रानी;" जाइ ल्यायौ है॥ २६५॥ (३३४)

वार्तिक तिलक।

श्रीपीपाजी उस धन को पाके साधु भागवत अतिथि और भूखों को खिलाने लगे; जो आता था उसको पूरा भोजन देते थे, और प्रति दिन बहुत संतों को बुला के भंडारा देते थे; तीन दिन इसी धूमधाम से व्यतीत हुए; सब धन खिला पिला उड़ादिया॥

वहाँ का राजा "सूर्य्यसेनमल" आपका नाम सुन के दर्शन को आया, देख के बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़ी नम्रता से बार बार दंडवत् कर प्रार्थना की कि "मुझको दीक्षा शिक्षा दीजिये।" आपने आज्ञा की कि "पहली शिक्षा अतीत (विरक्त) होना है, जो हो सके तो हो क्योंकि हम अपने सरीखा सुंदर कर लेते हैं" राजा ने कहा कि "जो कहियेगा सो करूँगा, आप मुझपर कृपा कीजिये।" श्रीपीपाजी ने आज्ञा की कि "अपनी सब संपत्ति और रानी लाके मुझको भेंट दे दे" राजा ने वैसा ही किया॥

(३५७) टीका। कवित्त। (४८६)

करिकै परीक्षा, दई दीक्षा; संग रानी दई; "भई ए हमारी, करौ परदा न सन्त सों! दीयौ धन घोरा कछू, राख्यौ दै निहोरा; भूप मान तन छोरा; बड़ौ मान्यौ जीव सन्त सों॥ सुनि जरि बरि गये भाई "सेनसूरज" के, ऊरज प्रताप कहा कहैं सीताकंत सों। आयौ बनिजारौ, मोल लियौ चाहैं बैलनि कौं; दियौ बहकाय, कहौ पीपा जू अनंत सों॥ २६६॥ (३३३)

वार्त्तिक तिलक।

इस भाँति परीक्षा लेकर श्रीपीपाजी ने राजा सूर्य्यसेनमल को दीक्षा दी, और रानी तथा राज्य उसको फेर देके यह शिक्षा दी कि "रानी और राज्य सब कुछ मेरा है, तू अपना न समझ, भगवन्त और सन्तों की सेवा किया कर और सन्तों से कुछ ओट न रखना, ए रानियाँ सामने दर्शन किया करें॥"

वारंवार विनय करके एक घोड़ा और एक तोड़ा भेंट करके राजा बिदा हुआ। राजा ने अपने नृपतित्व का अभिमान छोड़ा और

स्वामीजी की आज्ञानुसार सन्त तथा जीव जन्तु की सेवा करने लगा ॥

राजा सूर्यसेनमल के भाई इत्यादि यह सब देख सुन दुष्टता से जल भुन गये, परन्तु श्रीसीतारामजी तथा श्रीसीतासहचरीजी के कान्त श्रीपीपाजी के ऊँचे (ऊरज) प्रताप से चीं नहीं कर सकते थे ॥

एक बनिजारा बैल मोल लेने आया दुष्टों ने उससे कह दिया कि पीपाजी के पास बहुत अच्छे अच्छे खैला (नाटा) बैल अनन्त हैं ॥

(३५८) टीका। कवित्त। (४८५)

बोल्यौ बनिजारो दाम खोलि, "खैला दीजिये जू !" "लीजियै जू! आय, गाँव चरन पठाये हैं"। गये उठि पाछे बोलि सन्तनि, महोच्छौ कियौ; आयौ वाही समै; कही "लेहु मन भाये हैं" ॥ दरसन करि, हिये भक्तिभाव भर्यौ आनि, आनिकै बसन सब साधु पहिराये हैं। और दिन न्हाने गये घोड़ा चढ़ि छोड़ि दियौ, लियौ, बाँध्यौ दुष्टननि; आयौ, मानौ ल्याये हैं ॥ २६७ ॥ (३३२)

वार्त्तिक तिलक।

वह बनिजारा श्रीपीपाजी की कुटिया में आ बहुत से रुपये सामने रख, बोला कि 'मुझे खैला (बैल) चाहिये।" आपने कहा कि "बहुत अच्छा, जितने चाहिये उतने लीजियो; बैल गाँव में चरने के लिये गये हैं; कल दो पहर से पहले आना।" आज्ञानुसार उधर बनिजारा रुपये दे चला गया, और इधर आपने न्योता दे दे के सन्तों बुलवाया, उसके सब रुपये भंडारे में लगादिये ॥

दूसरे दिन सहस्रशः सन्त इकट्ठे हुए थे उसी महोत्सव के समय बनिजारा भी आ पहुँचा और बैल माँगे आपने उत्तर दिया कि "इन संतों को देख, कि परलोक की खेप पहुँचा देनेवाले ये कितने बैल भोजन कर रहे हैं, मैं इन्हीं बैलों का वाणिज्य करता हूँ सो ले।" संतों के दर्शन करके उसकी बुद्धि निर्मल हो गई और उसने बड़ा आनन्द पाया; शीघ्र ही वस्त्र भी लाके सन्तों को उढ़ाया पहनाया; और रुपये भी संतों के वस्त्र के लिये दिये। इस प्रकार से उस बड़भागी

के रुपये से श्रीपीपाजी ने भोजन और वस्त्र से सेवा करके उस समय संतों के समाज को बड़ाही प्रसन्न किया। श्रीकृपा से वह बनिजारा तब से बड़े प्रेम से साधुसेवा करने लगा ॥

एक दिन श्रीपीपाजी घोड़े पर चढ़ तड़ाग में स्नान को गए, घोड़े को जब योंही छोड़ स्नान आदि में लगे, तब दुष्टों ने घोड़े को चुरा लेजाकर अपने यहाँ बाँध रक्खा। परन्तु जब श्रीपीपाजी स्नान आदि करके चलने लगे तो घोड़े को वहाँ कसा कसाया श्रीरामकृपा से हिहनाता ऐसा उपस्थित पाया कि मानों उसको कसके अभी कोई लाया है ॥

☞श्री १०८ पीपाजी का समय, विक्रमी संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा सोलहवीं*शताब्दी के पूर्वार्द्ध में था ॥

(३५६) टीका । कवित्त । (४८४)

गये हे बुलाये†आप; पाछे घर संत आये; अन्न कछू नाहिं; "कहूँ

---

*सोलहवीं शताब्दी के अन्त (संवत् १५६७) में श्रीअवध प्रदेश 'जायस" के मध्य मलिक मुहम्मद जायसी ने "पद्मावत" (दोहे चौपाइयों में) प्रशंसनीय रची ॥

† जिसके न्याय में श्रीपीपाजी की सहायता बिन, राजा तथा उसके मन्त्री असमर्थ थे, वह झगड़ा यह था कि एक तालाब पर किसी पथिक की सुन्दर स्त्री के निकट कोई अनचीन्हा पुरुष आकर कहने लगा कि यह स्त्री मेरी है। झगड़ा अन्त को राजा की कचहरी में पहुँचा; साक्षी के अभाव से राजा मंत्री सब चकराये थे, श्रीपीपाजी सर्वज्ञ जब ठीक बात समझ गये तो, लोहे के छोटे बड़े कई मंजूषे (सदूक़ Box) और ताला मंगा के एक लोहे का बोतल सा वस्तु और उसका पेंच एक बली वीर के हाथ में धरा के, राजा से बोले कि "दोनों मनुष्यों में से जो इस बोतल में आधे घंटे तक रह सके सोही इस स्त्री का स्वामी समझा जाय।" इतना सुन एक तो चुप हो रहा पर दूसरा यह कहकर कि "मै बोतल के भीतर जाता हूँ" अदृश्य हो गया। श्रीपीपाजी ने वीर को पेंच चढ़ाने की आज्ञा देकर, लोहे के बोतल को लोहे के सबसे छोटे मंजूषे में और उसको उससे बड़े में तथा क्रमशः एक को दूसरे में धरते और ताला लगवाते हुए, अंत को कहा कि "यह मनुष्य नहीं है, दैत्य प्रेत है यदि उसमें से निकलेगा तो भारी उपद्रव मचावेगा ॥

कोई कहते हैं कि धरती में गाड़ दिया गया और कोई कहते हैं कि श्रीपीपाजी उसकी सुगति के कारण हुए, दोनों प्रकार से सुना जाता है ॥

जो मनुष्य चुप हो गया था वही उस स्त्री का पति था, स्त्री उसको दे दी गई ॥

जाय करि ल्याइयै"। बिषई बनिक एक देखि कै बुलाइ लई दई सब सौंज कही "सही निसि आइयै"॥ भोजन करत माँझ पीपा जू पधारे; पूछी वारे तन प्रान जब कहिकै सुनाइयै। करिकै सिंगार सीता चली झुकि मेह आयो, काँधे पैं चढ़ायौ बपु बनिया रिझाइयै॥२६८॥(३३१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपीपाजी महाराज को राजा सूर्यसेनमल ने एक झगड़े के न्याय में सहायता लेने के लिये सादर सविनय बुलाया था, सो आप वहीं गए थे। पीछे में आपकी कुटी में सन्तों का समाज आया। श्रीसीतासहचरीजी ने संतों को सादर सप्रेम आसन दिला, घर में देखा तो अन्न कुछ भी न था; विचारा कि "जाके कहीं से कुछ अन्नादि लाना चाहिये।" इसलिये चलीं। आपको देख एक विषयी बनिये ने सब सामग्री पूरा पूरा, यह वचन लेके, कुटी पर पहुँचवा दिया कि "रात को अवश्य आना।" जिस समय संत भगवत्प्रसाद पा रहे थे, श्रीपीपाजी आ पहुँचे और देखके अति आनन्द को प्राप्त हुए। समय पाके पूछा और सुना कि यह ऋद्धी सिद्धी कहाँ से आई। सब मर्म जानकर, श्रीसहचरीजी पर अति प्रसन्न हो तनमन प्राण निछावर किया॥

रातको जब शृंगार करके आप बनिये बापुरे के पास चलीं तो कुछ कुछ पानी बरसने लगा इसलिये श्रीपीपाजी ने आपको अपने कंधे पर बिठा लिया॥

(३६०) टीका। कवित्त। (४८१)

हाट पैं उतारि दई; द्वार आप बैठे रहे; चहे सूके पग, "माता! कैसे करि आई हौ?"। "स्वामी जू लिवाय ल्याये;" "कहाँ हैं?" "निहारौ जाय;" आय पाँय पर्यो डर्यो, राखौ सुखदाई हौ॥ "मानो जिनि संक, काज कीजियै निसंक, धन दियौ बिन अंक, जापै लरें मरैं भाई हौ"। मर्यो लाज भार, चाहै धसौं भूमि फार, दृग बहै नीर धार, देखि, दई दीक्षा पाई हौ॥ २६६॥ (३३०)

श्रीमहाराजजी आपको उस बापुरे की दुकान पर उतारके स्वयं बाहर ठहरे। ज्योंही आप उसकी दूकान में उतरीं, उस बनिये के भाग खुले, पहले उसकी दृष्टि श्रीचरणों ही पर पड़ी, और उस प्रभाव से उसकी बुद्धि रामकृपा से निर्मल तथा पवित्र होगई चरण सूखे देखकर पूछा कि "माता! आप कैसे आई हैं?" उत्तर दिया कि "स्वामीजी अपने काँधे पर लाये हैं।" पुनि पूछा कि "महाराजजी कहाँ हैं?" बोलीं "जा देखो द्वार पर होंगे।" बनिया दौड़ा गया देखकर चरणों पर गिरा। श्रीपीपाजी ने कहा कि "तुम जाव लज्जा और भय मत करो, क्योंकि तुमने बिना कागद लिखाये ही बहुतसा धन दिया है कि जिसके लिये भाई भाई लड़ मरा करते हैं॥"

बनिया लाज से मरा जाता था कि धरती में धसमरूँ और रोता था। आप दोनों मूर्त्ति को उस पर दया आई। श्रीपीपाजी ने उसको दीक्षा देकर, आवागमन के दुःख से छुड़ा दिया॥

(३६१) टीका। कवित्त। (४८२)

चलत चलत बात नृपति श्रवन परी, भरी सभा बिप्र कहैं बड़ी बिपरीति है। भूप मन आई यह निपट घटाई होत, भक्ति सरसाई नहीं जानै घटी प्रीति है॥ चले पीपा बोध दैन, द्वार ही तें सुधि दई, लई सुनि कही आवौ करौं सेवा रीति है। "बड़ो मूढ़ राजा मोजा गाँठै बैठ्यो मोची घर," सुनि दौरि आयो रहे ठाढ़े कौन नीति है॥३००॥(३२६)

वार्त्तिक तिलक।

यह बात चलते चलते, भरी सभा में, राजा के कानों तक पहुँच गई। ब्राह्मण चिल्लाने लगे कि "यह बड़ी बिपरीत बात है।" अभागे नृपति के मन में भी आई कि "यह बड़ी ही घटाई है।" राजा भक्ति में सरस नहीं रहा, उसकी प्रीति श्रीपीपाजी के चरणारविन्द से हट घट गई। विप्रों के कहने से अभागे राजा ने ऐसे गुरु संबंध मानने में बड़ी लज्जा और अपना मान भंग जाना॥

श्रीपीपाजी को राजा पर दया आई, उसको बोध देने के लिये चले। बाहर ही से नौकरों के द्वारा सुधि जनाई, राजा ने नौकर को उत्तर दिया कि "जा के कह दो कि पूजा कर रहा हूँ।" पीपाजी ने कहला भेजा कि "राजा बड़ा मूढ़ है मोची के पास बैठा मोजा बनवा रहा है और पूजा का मिस।" यह सुन भूपति के कान खड़े हुए, रोमांच होआये, डरा। यथार्थ को समझकर उसकी समझ ठिकाने आ गई, क्योंकि उस क्षण उसका मन मोची जोड़ा के पासही था दौड़ता हुआ डरता, कांपता, हाथ जोड़े, आकर चरणों पर गिर पड़ा। श्रीपीपाजी महाराज ने पूछा कि "गुरु का अनादर और भगवत् पूजा के समय मन दूसरी जगह रखना, यह कौन सी नीति रीति है?"

(३६२) टीका। कवित्त। (४८१)

हुती घर माँझ, बाँझ रानी एक रूपवती, माँगी "वही ल्यावौ बेगि;" चल्यौ, सोच भारी है। डगमग पाँव धरै, पीपा सिंह रूप करै, ठाढ़ौ देखि डरै, इत आवै आप ख्वांरी[1] है॥ जाय तौ बिलाय गयौ, तिया ढिग सुत नयौ, नयौ भूमि पर, "कला जानी न तिहारी है"। प्रगट्यो सरूप निज, खीजि क प्रसंग कह्यौ "कहाँ वह रंग? शिष्य भयौ लाज टारी है"॥ ३०१॥ (३२८)

वार्त्तिक तिलक।

टोंड़े के राजा सूर्यसेनमल की एक रानी रूपवती और बाँझ थी, श्रीपीपाजी ने आज्ञा की कि "शीघ्र उसको मेरे पास लाओ।" इस अप्रिय आज्ञा को सुन, सोच संकोच से भरा, डगमग पाँव रखता हुआ, राजा रनिवास की ओर चला। परन्तु आगे थोड़ी दूर पर एक सिंह बैठा देखा; डरके मारे न आगे जा सकता था, और न पीछे ही पाँव रख सकता था। इतने ही में सिंहरूपी श्रीपीपाजी अंतरधान हो गये; राजा जो उस रानी के पास पहुँचा तो उसके निकट एक नवीन बालक देख, अद्भुत लीला देख, साष्टांग दंडवत् कर सूर्यसेन ने श्रीमहाराजजी के चरणों ... "महाराज! आपकी महिमा कला जानी नहीं जाती" ... रंग में इनकी मति

---

१ "ख्वारी خواری"=बुराई॥

ज्ञान सूचक यह स्तुति सुनते ही बालकरूप दुरा के, श्रीपीपाजी ने निजरूप से राजा को दर्शन दे, डाट के कहा कि "तुझे वह दिन भूल गया कि जब शिष्य हुआ था, रानी राज इत्यादि की लाज छोड़के किस प्रेम रंग में पगा था सो रङ्ग तेरा कहाँ गया ?"

(३६३) टीका । कवित्त । (४८०)

कियौ उपदेश, नृप हृदै में प्रबेस कियौ, लियौ वही पन, आप आये निज धाम है। बोल्यौ, एक नाम-साधु "एक निसि देहु तिया;" "लेहु कही भागौं;" संग भागी सीता बाम है ॥ प्रात भये चलैं नाहिं, "रैन ही की आज्ञा प्रभु;" चल्यौ हारि, आगे घर घर देखो ग्राम है। आयौ वाही ठौर, "चलो माता ! पहुँचाय आवौं," आय गहे पाँव, भाव भयौ, गयौ काम है ॥ ३०२ ॥ (३२७)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीपीपाजी ने उपदेश दिया, और वह उपदेश राजा के हृदय में श्रीसीताराम कृपा से जा भी बैठा । सूर्यसेनमल ने पूर्ववत् वही अपना नियम भगवत्पूजा तथा साधुसेवा का धारण किया; और श्रीपीपाजी प्रसन्न हो के अपने स्थान में चले आये ॥

संत रूप बनाए एक नाम का साधु परंतु वास्तविक दुराचारी श्रीपीपाजी से बोला कि "सहचरी को एक राति के लिये मुझे दीजिये" आपने आज्ञा दी कि ले जाइए उसने कहा कि मेरे साथ दौड़ती चलो । आज्ञानुसार श्रीसहचरीजी उसके संग दौड़ीं (भागीं) पर भोर होते ही आप यह कह ठहर गईं कि "श्रीमहाराजजी ने मुझे केवल राति ही भर की आज्ञा दी थी" हार के वह दुराचारी वहाँ से ले जाने के लिए पालकी लेने को चला गया । आगे के गाँव में घर घर उसको श्रीसीता-सहचरी ही देख पड़ने लगीं । संत भगवंत की [illegible] उसकी मति सुधर गई कामबुद्धि जाती रही, भाव भक्ति उपज मन में [illegible] और लज्जित हो वहीं पहुँचा जहाँ श्रीसहचरीजी रुकी रहा, उसकी प्रीति [illegible]णों पर गिर के वह बोला कि "हे माता ! आप के कहने से अभागे [illegible]जिये, चलिये, आप को श्रीमहाराजजी के अपना मान भंग जाना

पास पहुँचाय आऊँ।" इनको श्रीपीपाजी के पास पहुँचाकर फिर निः-काम भक्त हुआ॥

(१६४) टीका। कवित्त। (४७६)

बिषई कुटिल चारि, साधुभेष लियौ धारि, कानी मनोहारि कही "तिया निज दीजियै। करिकै सिंगार, सीता कोठे माँझ बैठी जाय, चाहैं मग आतुर ह्वै, अजू! जाहु लीजियै॥ गये जब द्वार, उठी नाहरी सुफारिबेकौं, फारै नहीं, बानौ जानि, आय अति खीजियै। अपनौ बिचार्‌यो हियो, कियो भोग भावना कौ, मानि साँच, भये शिष्य प्रभु, मति धीजियै॥ ३०३॥ (३२६)

। वार्त्तिक तिलक।

चार विषयी, अभागी, कुटिल, दुराचारियों ने सन्तों का भेष बनाके श्रीपीपाजी महाराज से विनय किया कि "अपनी स्त्री हमको दीजिये।" आज्ञानुसार श्रीसहचरीजी शृंगारकर ऊपर कोठे में जा बैठीं और आपने इन सबों को अत्यन्त आतुर उनकी बाट जोहते देख बता दिया कि "जाओ उस कोठे पर चले जाओ ले लेओ" जब ये चारों उस कोठे के द्वार पर गये, तो देखा कि एक बाघिन गुर्राती फुफकारती, इनको फाड़ खाने के लिये चली आती है, परन्तु संतभेष देखके, इन विषयियों को फाड़ नहीं खाती है। ये सब डरके भागे और श्रीपीपाजी महाराज पर झुँझलाने रिसियाने लगे कि "तुमने कपट करके, हम लोगों के प्राण लेने के लिये, कोठे पर बाघिनि रख छोड़ी है।" आपने उत्तर दिया कि "जैसा तुम लोगों का कुविचार था उसी भावना के अनुसार ही तो भोग भी मिला चाहै॥"

इतना श्रीमुख वचन सुन, उसमें प्रतीति कर, श्रीसहचरीजी में माता का भाव ला, उसी कोठे पर ये चारों शीघ्रतापूर्वक पुनः गये, जाते ही माता सीतासहचरीजी ने निजरूप से इन लोगों को दर्शन दे श्रीमहाराजजी के पास भेजा। आज्ञानुसार आके ये सब श्रीमहाराजजी के चरणों पर पड़के शिष्य हो गये, और सन्त भगवन्त के रंग में इनकी मति परायण हो भीग गई॥

(३६५) टीका। कवित्त। (४७८)

गूजरी कों धन दियौ; पियौ दही सन्तनि नै (३) ब्राह्मन को भक्त कियौ (४) देबी दी निकारिकै। (५) तेली कों जिवायौ (६) भैंसि चोरनि पै फेरि ल्यायौ (७) गाड़ी भरि आयौ (८) तन पाँच ठौर जारिकै॥ (९) कागद लै कोरो कस्यौ (१०) बनियाँ को सोक हस्यौ (११) भस्यौ घर त्यागि (१२) डारी हत्याहूँ उतारिकै। (१३) राजा कौ औसेर भई (१४) सन्त कौ जु बिभौ दई (१५) लई चीठी, मानि, गये श्रीरंग उदारिकै॥ ३०४॥ (३२५)

वार्त्तिक तिलक।

१। २ एक दिन सन्तों ने श्रीपीपाजी से कहा कि श्रीराघवजी को दही पिलाइये। श्रीसीतारामकृपा से एक ग्वालिनि दही लिये हुए वहीं आ पहुँची (यामैं लै दिखाई, यह बात सरसाई, 'आई जाई भक्त मन, सोई पूरी होत है सही।') ग्वालिनि ने दही देके उसका दाम तीन रुपये बताया। आपने आज्ञा की कि "उधार ही छोड़ जा, आज जो पूजा आएगी, रामकृपा से तूही पाएगी।" ग्वालिनि यह कहके प्रसन्नतापूर्वक बैठी दधि पीते देखती रही कि "यदि आज और कुछ पूजा न आवे तो यही दही मुझ दासी की ओर से सन्तों को पूजा जानिये।" श्रीपीपाजी को श्रीसीतारामभरोसा तो था ही इसका कहना ही क्या है, ज्यों ही सन्त लोग दही प्रसाद पी पी उठा चाहते थे कि वहीं उसी समय श्रीपीपाजी का एक बड़भागी शिष्य पहुँचा जिसने कुछ स्वर्णमुद्राएँ (अशर्फ़ियाँ) और मोतियों की एक माला भेंट की; वह सबका सब श्रीमहाराजजी ने उस बड़भागिनी ग्वालिनि को दे डाला॥

दो० "तुलसी बिरवा बाग कौ, सींचत हूँ कुम्भिलाय।
राम भरोसे जो रहै, पर्वत पै हरियाय॥"

वह ग्वालिनि इतना धन लेते डरी, परन्तु श्रीस्वामीजी ने उसका भली भाँति परितोष कर दिया। वह गूजरी अपने घर आके केवल दो चार स्वर्णमुद्रा अपने प्रयोजन के लिये रख, शेष स्वर्णमुद्रा

और वह मोतीमाला पूजा चढ़ा श्रीमहाराजजी से शिष्य हो गई। (३) एक दिन एक देवीउपासक ब्राह्मण ने श्रीपीपाजी का, और गाँव भर का न्योता किया; पर आप न गये; और विशेष प्रार्थना पर यह उत्तर दिया कि "जहाँ श्रीसीतारामसम्बन्ध नहीं वहाँ मैं नहीं जाता आता, परन्तु यदि ऐसा करो तो चलूँ कि देवी को भोग धरने के पूर्व ही सब अमनियों में से श्रीसीतारामजी के पास पहुँचाओ।" इसी के अनुसार हुआ, और श्रीमहाराजजी ने सन्तों सहित भगवत्-प्रसाद पाया। रात को देवी ने ब्राह्मण से कहा कि "मैं आज भूखी ही रही, भगवतपार्षदों ने मुझे मन्दिर से बाहर निकाल दिया।" विप्र देवता की आँखें खुलीं, भोर ही आ श्रीपीपाजी से शिष्य परिवार समेत हुए। (४) शिष्य होते ही गाँव भर देवी की पूजा छोड़ श्रीसीतारामभक्त हो गया। (५) एक दिन एक रूपवती तेलिनि "तेल लो! तेल लो!" पुकारती हुई आ निकली; आप बोल उठे कि "तुझ सुन्दरी को "तेल तेल" नहीं भला लगता; तेरे मुँह से तो "सीताराम सीताराम" अनुरूप होता॥"

दो० "हे सुन्दरि! तब चाहिये, शब्द रूप अनुकूल।
तेल धार अवछिन्न रटु, सरस "राम" सुखमूल॥"

तेलिनि बोली "वह तो विधवा कहती हैं वा मुए पर कहा जाता है।" आपने कहा कि "भला, तू भी तभी कहना॥"

घर आई कि उसका पति भीतर जाने लगा कि नासिका में चौखट लगी और गिरकर मर गया; तब उस तेली की देह लेकर सब चले और तेलिनि भी सत्य राम सत्य राम कहती सती होने चली। श्रीपीपाजी ने आके कहा कि "अब तो राम राम कहती है?" तब चरणों पर पड़के कहने लगी "आपही ने मेरे पति को मार डाला है!" रोती पीटती हाय राम हाय राम चिल्लाती श्रीपीपाजी महाराज से कहके सिर धुनने लगी। आपने आज्ञा की "यदि तेरा पति जी उठे तो तुम दोनों श्रीसीताराम श्रीसीताराम जपना, श्रीरामचरित सुना करना।" उसने कहा "बहुत अच्छा।" तेलिनि ने घर पहुँच,

पति को जीता पा, सब प्रसंग सुना, दोनों सीताराम सीताराम कहते आके चरणों पर गिरे और शिष्य हुए ॥

दो० "सिला सुतिय भइ, गिरि तरे, मृतक जिये जग जान ।
राम अनुग्रह सगुन शुभ, सुलभ सकल कल्यान ॥"

(६) एक राति चोर आकर भैंस को चुरा ले चले; श्रीपीपाजी भैंस के बच्चे को लिए हुए यह कहते साथ चले कि "पड़िया भी लेते जाइये, "माँ ! माँ!!" चिल्लाती है इसके विना भैंस दूध क्योंकर देगी ?" वचन सुन चोर भैंस लिये लौटे और चरणों पर गिरके भैंस और पड़िया खूँटों में बाँध आपके शरणागत हो गये ॥

(७) एक समय भीड़भाड़ को त्याग, श्रीपीपाजी और श्रीसीतासहचरीजी एक एकांत निर्जन ठाँव में जा भजन करने लगे; उस ठौर भी एक भाग्यवान् महाजन जा पहुँचा और गाड़ी भर अन्न, घी, चीनी और द्रव्य आपको भेंट किये । उसी समय लुटेरे पहुँचे और उनको सहज ही में श्रीपीपाजी ने गाड़ी सौंप दी । कई पल के अनंतर आपने लुटेरों से जाके यह कहा कि "मेरे पास इतने रुपये भी हैं, सो भी ले लो ।" डाकुओं ने आपका नाम पूछा; पहिचाना; दंडवत् कर, रुपये फेर, गाड़ी भी उसी स्थान पर फिर पहुँचा दी और शिष्य होकर भवसागर पार हो गये ॥

(८) एक वृत्तान्त सुनिये । किसी दिन एक ही साथ आपको पाँच गाँव से न्योता आया; और इतने में कुछ संत लोग भी आ गये; आप उनके सत्कार में तत्पर हो, पाँचों प्रेमियों का मन रखने के लिये, पाँच शरीर धरि पाँचों ठौर जा, प्रत्येक के उत्सव समाज में विराजते रहे ॥

उनमें से एक जगह पर प्रभात होते अपने शरीर को त्याग दिया; वहाँ पर आपकी शिष्या दो बाई भी उपस्थित थीं, वे यह घटना अपने सामने देख, दुःखी हो, श्रीसीतासहचरीजी से निवेदन करने को टोड़े-नगर को चलीं ॥

जब वे दूसरे ग्राम में आईं, तो देखा कि वहाँ भी श्रीपीपाजी के मृतक शरीर को जला रहे हैं; तीसरे ग्राम में भी उन दोनों ने आप-

के मृतक देह की जलती चिता देखी; इसी प्रकार पाँचों ग्राम में उन दोनों ने सुना कि रात उत्सव में श्रीपीपाजी विराजते थे भोर को तन त्याग किया और आज उनके शव की चिता जल रही है। यह आश्चर्य देख सुन ज्योंही वे दोनों बाइयाँ टोड़ेनगर में पहुँचीं, तो देखा कि संतसमाज में श्रीसीतासहचरीजी समेत श्रीपीपाजी महाराज आनन्दयुत सीताराम जपते झूमते विराजमान हैं॥

तब दोनों आपके चरणों पर गिरीं और समाज में सब वार्ता कही। बहुतों ने सुनके आश्चर्य माना। उन दोनों ने श्रीगुरु में से मनुष्य बुद्धि उठाली और गुरुप्रभाव विचारि अकथनीय आनन्द पाया॥

चौपाई।

"यह न कछुकगुरु की प्रभुताई। विश्व रूप व्यापक सुखदाई॥"
दोनों ने अपने तईं बड़ी भाग्यवती जाना॥

(९) श्रीपीपाजी के यहाँ साधुसेवा उठाने के बहुत से रुपये एक बनिये के होगये, उसने वारंवार माँगा पर आपके यहाँ उन दिनों कौड़ी न थी; बनिये ने पंचायत में बही रखके कहा कि महाराजजी के यहाँ बहुत रुपये हो गये हैं देते नहीं हैं। पंचों ने जो बही देखी तो बकुलापङ्ख कोरा कागद पाया, महाराजजी के नाम कुछ लिखा न था। पंचों ने बहुत झुंझलाके बनिये को दंड देना चाहा॥

(१०) यह समाचार श्रीस्वामीजी ने जानकर कहला भेजा कि "बनिये के रुपये हैं ठीक सही, परंतु वह बहुत शीघ्रही रुपया माँगता कड़ाई करता था, उसी कष्ट के कारण भगवत् इच्छा से उसकी बही कोरी हो गई।" बनिया चरण पर गिर के गिड़गिड़ाने लगा। एक महाजन आ पहुँचा और श्रीसीतारामकृपा से बनिये के सब रुपये चुकाकर उस बापुरे को शोकरहित कर दिया॥

(११) टोड़ेनगर में जो श्रीमहाराजजी की कुटी थी, वह ऋद्धि सिद्धि से भरी थी; परंतु एक दिन श्रीपीपाजी और श्रीसीता-सहचरीजी सम्मत करके, झंझट समझ के, उस भरे घर को त्याग कर, किसी ओर चल दिये॥

(१२) एक ब्राह्मण जिसको गोहत्या लगी थी और पंचों ने उसे जाति से निकाल दिया था। श्रीपीपाजी का नाम सुन, आपके शरण में आ, सब वार्ता सुना रोने लगा॥

चौपाई।

"पीपा कह्यो जपौ हरि नामा। मिटै ब्रह्महत्या दुखधामा॥
जपन सो राम नाम द्विज लाग्यौ। तन ते तुरत पाप सब भाग्यौ॥"

स्वामीजी ने श्रीभगवत् चरणामृत और प्रसाद पवाकर उसको बिदा कर दिया; पर कट्टर ब्राह्मणों ने जाति में नहीं लिया। तब श्रीपीपाजी ने उसी ब्राह्मण के हाथों से नैवेद्य श्रीहनुमान्‌जी के मंदिर में रखवाया। जब थार उतारा गया, भोग लगने के चिह्न पाए गए। यह आश्चर्य देख सब ब्राह्मणों ने उसको अब हत्या रहित जान जाति में ले लिया॥

(१३) बहुत काल बीतने से टोड़े के राजा सूर्यसेनमल को श्रीगुरु-चरणारविन्द के दर्शन की बड़ी ही उत्कण्ठा उपजी। राजा ने घुड़चढ़ों को जिधर तिधर भेजा कि आपको ढूँढ़ लावें। उनमें से एक ने बीस दिन के रास्ते पर आपके दर्शन पाये। राजा की लालसा प्रार्थना सुनाई। आपने उत्तर दिया "हमें उनकी कामना की सुधि हो चुकी है; अभी अभी उसको दर्शन देने के लिये उपस्थित थे ही।" उस घुड़चढ़े को एक पत्र दे, बिदा किया। आप और श्रीसीतासहचरीजी ने उसी क्षण राजा के पास टोड़ेनगर पहुँचकर उसको अपने दर्शनों से कृतार्थ किया॥ बहुत दिन पीछे वह घुड़चढ़ा भी आ पहुँचा और सब वार्त्ता कही॥

(१४) एक संत ने कुछ कारज के लिये श्रीपीपाजी से धन माँगा आपने राजा सूर्यसेन व दूसरे राजा से दिलवा दिया॥

(१५) श्रीरंगदास नाम एक भगवद्भक्त ने, जो श्री ६ अनंतानन्द स्वामी के शिष्य आपके भतीजे चेला लगते थे, विनयपत्र भेज श्रीपीपाजी को बुलाया आप और श्रीसीतासहचरीजी दोनों गए॥ अगुआनी और अति आदर किया॥

(३६६) टीका। कवित्त। (४७७)

(१) श्रीरंग के चेत धस्यौ, (२) तिय हिय भाव भस्यो, (३) ब्राह्मण को शोक हस्यो, राजा पै पुजायकै। (४) चँदवा बुझाय लियौ, (५) तेली को लै बैल दियौ, (६) दियौ पुनि घर माँझ भयौ सुख आयकै॥ (७) बड़ोई अकाल पस्यौ, जीव दुख दूरि कस्यौ, पस्यौ भूमि गर्भधन पायौ दै लुटायकै। (८) अति बिसतार लियौ, कियौ है बिचार; (९) यह सुनै एक बार फेरि भूलै नहीं गायकै॥ ३०५॥ (३२४)

वार्त्तिक, तिलक।

(१) एक समय श्रीरंगदासजी मानसी पूजा कर रहे थे और उनसे फूलों की माला का पहनाना सहज में नहीं बनता था। श्रीपीपाजी ने बता दिया कि "मुकुट उतारके यों पहिनाय दीजिये।" श्रीरंगदासजी ने वैसा ही कर, श्रीजानकीनाथ को माला पहिनाय, सुख पा, वह ध्यान विसर्जन कर, श्रीपीपाजी को दंडवत् किया। सुखपूर्वक आप दोनों श्रीरंगदासजी के स्थान में रहने लगे॥

(२) एक दिन दो सुन्दरी अति नीच जाति की युवतियाँ उस जगह के समीप गोबर चुन रही थीं कि जहाँ श्रीपीपाजी और श्रीरंगजी विराज रहे थे॥

चौपाई।

"श्रीपीपा बोल्यौ मुसकाई। राम भिन्न मोहिं कोउ न दिखाई॥

ऐसा सुन्दर मनोहर तनु पाके ये गोबर चुनें, बड़ी दया की बात है; देखो, इन दोनों को उपदेश देकर रामकृपा से कल्याण को पहुँचा दूँगा।" इतना कह उन दोनों को अपने पास बुला लिया। वे अति नम्र और सरल हाथ जोड़े सम्मुख आ खड़ी हुई। श्रीपीपाजी ने उनसे कहा कि "ऐसा सुन्दर तन पाने का लाभ यह है कि श्रीजानकीजीवन शोभाधाम अखंडैकनित्य किशोर का भजन करो।" यह उपदेश उन दोनों युवतियों के हृदय में ऐसा लगा कि उसी क्षण ऊर्ध्वपुण्ड्र लगा, कंठी पहन, श्रीसीताराम सीताराम मनो-

हर स्वर से गाती हुई, घर को गईं; और श्रीभगवद्भक्ति उनको अत्यंत प्रिय लगने लगी।

दो० "देह गेह की सुधि नहीं, टूट गई जग प्रीति।
नारायण गावत फिरैं, प्रेम भरे हरि गीति॥"

घरवालों को महाविमुख पा, परित्याग कर, वे दोनों उलटे पाँवों फिरीं और श्रीपीपाजी के पास पहुँचीं॥

दो० "जरौ सुसंपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
सन्मुख होत जो रामपद, करैं न सहज सहाइ॥"

निदान वह दोनों आप ही के शरण में रहने लगीं और श्रीभगवत्-यश गाया करती थीं॥

(३) एक ब्राह्मण ने अपनी कन्यादान में सहायता के लिये श्रीपीपाजी से विनय किया। श्रीपीपाजी ने (ब्राह्मण को जगद्गुरु जान) उस व्यक्ति को वहाँ के राजा के पास भेजा कि "ये मेरे गुरु हैं, यदि आपको श्रद्धा हो तो कन्यादान में इनकी सहायता कीजिये।" राजा ने उस ब्राह्मण को बहुत रुपये दिये॥

(४) कुछ दिन सत्संग का सुख दे, श्रीरंगदासजी से बिदा हो, टोड़ेनगर में अपने स्थान पर फिर आये। एक एकादशी की राति को राजा सूर्यसेन के सामने जागरण कीर्तन हो रहा था, अकस्मात् उसी समाज के मध्य श्रीपीपाजी उठके हाथ मलने लगे। सबने देखा कि हाथ में कारिख लग गयी। राजा ने इस आश्चर्य का हेतु पूछा; आपने उत्तर दिया कि श्रीद्वारकाजी में भगवत् के चँदोवा में आग लग गई थी उसको बुझा दिया है। राजा ने "साँड़िनीसवार" भेज के पुछवाया तो यथार्थ जाना गया कि उस एकादशी की राति को भगवत्-चँदोवा में आग लग गई थी सो श्रीपीपाजी ने बुझाई थी जो यहाँ उस राति को उपस्थित थे॥

(५) किसी दिन आप स्नान को गये थे, वहाँ एक तेली का लड़का पानी पिलाने के लिये बैल लाया, उसी समय एक ब्राह्मण ने श्रीपीपाजी से रो रो के कहा कि "एक बैल के विना मेरी खेती गृहस्थी

डूबी जाती है;" श्रीपीपाजी ने उसी बैल की नाथ उस ब्राह्मण के हाथ में पकड़ा दी; ब्राह्मण देवता बैल लेके लम्बे हुए॥

उधर वह तेली का लड़का रोने चिल्लाने लगा; आपने उसको चुप कराके प्रतीति करायी कि तेरा बैल तेरे घर बँधा है। लड़के ने घर आके देखा तो वस्तुतः एक बैल खूँटे पर बँधा है। लड़का बड़ा प्रसन्न हुआ और श्रीस्वामीमहाराजजी का शिष्य हो गया॥

(६) आप भी बड़े प्रसन्न हुए और श्रीयुगलसर्कार की कृपा के धन्यवाद में बहुत अन्न धन निछावर किया॥

(७) एक साल उस प्रदेश में भारी अकाल पड़ा; राजा सूर्यसेनमल के सँभाले न सँभला। प्रजा बहुत दुःख पाने लगी। राजा ने श्रीपीपाजी से प्रार्थना की; श्रीपीपाजी अपनी कुटी में से सबको अन्न जल कपड़े इत्यादि बाँटने लगे और धरती में गड़ा धन उखाड़ उखाड़ अकालपर्यन्त बाँटते रहे कि टोड़ानगर, बरन् सूर्यसेनमल के राज्य भर के लोग, उस कराल काल में अति ही सुखी रहे॥

(८) श्रीपीपाजी के चरित अनेक बड़े और विस्तृत हैं; जो कुछ संक्षेप से कहे गये उसीसे साधु और भक्त जन विचार लेंगे॥

(९) जो एक बेर श्रीपीपाजी के सुयश सुनता गाता है, उसको फिर कभी भूलता नहीं, उसका जी चाहता है कि "सदा आपके यश गाया ही करूँ॥"

---

(७६) श्री ६ धनाजी (और एक विप्र)।

(३६७) छप्पय। (४७६)

धन्य धना के भजन को, बिनहिं बीज अंकुर भयो॥ घर आये हरिदास तिनहिं गोधूम खवाये। तात मात डर खेत थोथ लांगूल चलाये॥ आस पास कृषिकार खेत की करत बड़ाई। भक्त भजे की रीति प्रगट परतीति जु पाई॥ अचरज मानत जगत में कहुँ निपुज्यो, कहुँवै बयो। धन्य धना के भजन को, बिनहिं बीज अंकुर भयो॥ ६२॥ (१५२)

वार्त्तिक तिलक।

श्री १०८ धनाजी महाराज के भजन को धन्य है, कि बीज बोए विना ही उनका खेत उगा (जमा) आपके घर सन्त लोग आये; उनको जो गेहूँ बिया के लिये रक्खा था सो पवादिया। माता पिता के डर से छूँछे ही खेत में लांगूल (हल) चलवा दिया, जिससे जान पड़ै कि इसमें भी बीज बोए हुए हैं। आसपास के गृहस्थ आपके खेत की (ठट्ठा से) बड़ाई किया करते थे। साधुसेवा की रीति तथा परतीति प्रत्यक्ष देखो। जग में इस बात के सुननेवाले आश्चर्य्य मानते हैं कि बोया गया किसी और खेत में और उपजा किसी और ही खेत में। विना बीज बोए ही जिनका खेत उपजा, ऐसे श्री १०८ धनाजी का भजन धन्य धन्य है॥

(३६८) टीका। कवित्त। (४७५)

खेत की तौ बात कही प्रगट कबित्त माँझ, और एक सुनो, भई प्रथम जु रीति है। आयौ साधु बिप्रधाम, सेवा अभिराम करै, दख्यौ ढिग आय, कही "मोहूँ दीजै प्रीति है"॥ पाथर लै दियौ, "अति सावधान कियौ" छाती मह लाय जियौ, सेवै जैसी नेहनीति है। रोटी धर आगे, आँखि मूँदि लियौ, परदा कै; छियौ नहीं टूक, देखि भई बड़ी भीति है॥ ३०६॥ (३२३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीधना भक्तजी के विना बीज ही खेत उपजने की बात तो श्रीनाभा स्वामीजी ही ने अपने कवित्त (छप्पय) में कह दिया, अब और एक बात सुनिये, कि जिस रीति से श्रीधना भक्तजी को प्रथम भक्ति उत्पन्न हुई। एक समय आपके गृह में एक श्रीभगवद्भक्त ब्राह्मण आये सो श्रीशालग्रामजी की भली प्रकार पूजा करने लगे; देखके धना भक्तजी समीप में जाके कहने लगे कि "स्वामीजी! मुझे भी ठाकुरजी दीजिये, मुझे बड़ी प्रीति है पूजा करूँगा।" सुनके भक्त द्विजवर ने एक गोल मोल पत्थर देकर कहा कि

"ठाकुरजी लो, सावधान हो प्रेम से पूजा करना।" धना भक्तजी ने ठाकुर लेकर हृदय में लगाके मानों प्राण पाया, और जैसी प्रेम की रीति नीति है वैसी सेवा पूजा आप करने लगे। जैसे ब्राह्मणजी को भोग लगाते देखा था वसे ही आगे रोटी धर ओट (आड़) कर, आँखें मूँद के भोग लगाया फिर देखें तो एक टूक भी रोटी प्रभु ने नहीं खाई तब आपको बड़ा भय हुआ॥

(३६९) टीका। कवित्त। (४७४)

बार बार पाँव परै, अरै, भूख प्यास तजी, धरै हिये साँचौ भाव पाई प्रभु प्यारियै। छाक नित आवैं नीकैं भोग कों लगावैं, जोई छोड़ सोई पावै, प्रीति रीति कछु न्यारियै॥ जाकौ कोऊ खाय ताकी टहल बनाय करैं ल्यावत चराय गाय हरि उर धारियै। आयौ फिरि बिप्र नेह खोज हूँ न पायौ कहूँ सरसायौ बातैं लै दिखायौ स्याम ज्यारियै॥ ३०७॥ (३२२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीठाकुरजी को वारंवार प्रणाम करने लगे, हठपूर्वक अन्न जल छोड़-कर प्रार्थना की॥

हृदय में सच्चा भाव देख अति प्रियमान प्रभु ने रोटी खाई। अब तो जो खाने को छाक (कलेऊ) को रोटी आती थी सो नित्य ही प्रभु को भोग लगाने लगे। जो प्रभु छोड़ देते थे, उतनाही प्रसाद आप पाते थे, क्योंकि प्रीति की रीति तो जगत् से न्यारी ही है। एक दिन ठाकुर-जी आपसे कहने लगे कि "जिसका कोई खाता है उसकी टहल भली प्रकार से करता है इससे हम तुम्हारी गऊ चराय लाया करेंगे ऐसा कहकर उसी दिन से श्रीहरि नित्य ही गऊ चराय लाया करते थे। कुछ काल बीते उन भक्त ब्राह्मण ने फिर श्रीधनाजी के घर में आके देखा तो पाषाण पूजा के स्नेह का खोज भी नहीं पाया। तब धनाजी से पूछा कि "पूजा करते हो कि नहीं?" तब श्रीधनाजी सब वृत्तांत कह गये कि "स्वामीजी! कई दिन तो प्रभु ने कुछ नहीं पाया इससे मैंने भी नहीं खाया।

अब तो आपकी मूर्ति ही में से प्रगट होकर रोटी भी खाते हैं और गैया भी चरा लाते हैं।" यह सुन ब्राह्मणजी अति चकित हुए और सप्रेम हृदय से कहने लगे कि "धना! हमको भी तो दिखा दे।" धनाजी वहाँ ले गये जहाँ आप गऊ चराते थे, परन्तु ब्राह्मण को न दीख पड़े। निदान, धनाजी की प्रार्थना से श्यामसुन्दरजी ने दर्शन दे मानों ब्राह्मण को मरे से फिर जिया लिया॥

(३७०) टीका। कवित्त। (४७३)

द्विज लखि गायनि मैं, चायनि समात नाहिं, भायनि की चोट दृग लागी नीर झरी है। जायकै भवन, सीता-रवँन प्रसन्न करै, बड़े भाग मानि प्रीति देखी जैसी करी है॥ धना को, दयाल ह्वैकै, आज्ञा प्रभु दई "ढरौ, करौ गुरु रामानंद, भक्ति मति हरी है।" भए शिष्य जाय, आप छाती सों लगाय लिये, किये गृहकाम सबै; सुनि जैसी, धरी है॥ ३०८॥ (३२१)

वार्त्तिक तिलक।

ब्राह्मणजी के हृदय में, गायों के बीच में श्रीप्रभु की छवि माधुरी देखके, आनन्द का उत्साह नहीं समाना; प्रेमभाव की चोट चित्त में लग गई, इससे आनन्दमय आँसुओं की झरी भी नेत्रों से लग गई। और यह निश्चय किया कि "अब गृह में जाके मैं भी सप्रेम भजन कर श्री-सीतारामजी को प्रसन्न करूँ। मेरा कोई बड़ा भाग्य था कि इस बड़-भागी धना के संग से मुझे श्रीरामजी का दर्शन हुआ।" श्रीद्विजभक्तजी ने जैसी धनाजी की प्रीति और उस प्रीति का प्रभाव देखा वैसा ही इन्हों-ने आप भी किया॥

ब्राह्मणजी के चले जाने पर, गुरु शिष्य संप्रदाय के परिपालक प्रभु ने परम दयाकर धनाजी को आज्ञा दी कि "अब तुम श्रीकाशी-जी में जाके श्रीरामानन्दजी को गुरु करके श्रीरामतारकमंत्र ग्रहण करो; तुम्हारी प्रीति भक्ति ने हमारा मन हर लिया।" आज्ञा पा, श्री-रामानंदजी के शिष्य हो, फिर घर में आके प्रभु को प्रगट पा, चरणों

में पड़े। प्रभु ने हृदय में लगा लिया। इस प्रकार धनाजी गृह में रह के गृह के कारज भी किया करते और भगवद्भजन भी॥

हमने जैसी संतों से सुनी थी वैसी इनकी कथा लिखके रख दी है॥

---

(७७) श्री ६ सेनजी*।

(३७१) छप्पय। (४७२)

बिदित बात जग जानियै, हरि भये सहायक "सेन" के॥ प्रभुदास के काज रूप नापित को कीनो। छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो॥ तादृस ह्वै तिहिं काल भूप के तेल लगायो। उलटि राव भयो शिष्य प्रगट परचौ जब पायो॥ स्याम रहत सनमुख सदा, ज्यों बच्छा हित धेन के। बिदित बात जग जानियै, हरि भये सहायक "सेन" के॥ ६३॥ (१५१)

वार्त्तिक तिलक।

यह वार्ता विदित है, सम्पूर्ण जगत् जानता है, कि श्रीहरि श्री-"सेन" भक्तजी के सहायक हुए; किस प्रकार हुए सो सुनिये, अपने सच्चे दास का कारज करने के लिये प्रभु ने नापित (नाऊ) का रूप धारण किया और बहुत शीघ्र ही छुरा रखने वाली पेटी कंधे में टाँग, हाथ में दर्पण लेकर, सेनभक्त का रूप धर, बाँधौगढ़ बघेला के राजा वीरसिंह के पास तेल लगाने के समय जाके तेल लगाया, तथा दर्पण आदिक दिखाके सब सेवा की। राजा ने जब यह प्रभुकृत परचौ प्रगट जाना तब फिर वह श्रीसेन भक्तजी का शिष्य हो गया॥

देखिये, जैसे गऊ अपने बछड़े की प्रीति हितकार में सम्मुख तत्पर रहती है वैसा ही भक्तवत्सल श्यामसुन्दर श्रीरामजी अपने भक्तों के हितकार में सम्मुख तत्पर रहते हैं। प्रभु ने इस प्रकार श्रीसेन भक्त की सहायता की॥

---

* विक्रमी पन्द्रहवीं शताब्दी में आप विराजमान थे॥

(३७२) टीका। कवित्त । (४७१)

"बाँधौगढ़" बास, हरि साधु सेवा आस लागी, पगी मति अति, प्रभु परचौ दिखायौ है। करि नित्त नेम, चल्यौ भूप कौं लगाऊँ तेल, भयौ मगमेल संत, फिरि घर आयौ है॥ टहल बनाय करी, नृप की न संकधरी, धरि उर श्याम, जाय भूपति रिझायौ है। पाछे सेन गयौ, पंथ पूँछै, हिये रंग छायौ, भयौ अचरज राजा बचन सुनायौ है॥ ३०६॥ (३२०)

वार्त्तिक तिलक।

"श्रीसेन भक्तजी" का निवास "बघेलखण्ड बांधवगढ़" में था। आपकी आशा श्रीसीतारामजी तथा संतों की सेवा पूजा में लगी रहती थी, और उसी में अतिशय प्रीति रीति से मति पग गई थी॥

तब श्रीप्रभु ने परचौ दिखाया कि एक दिन श्रीसेन भक्तजी श्रीराम पूजा मंत्र जप आदिक नित्य नेम कर गृह से राजा वीरसिंह के तेल लगाने के लिये चले; मार्ग में बहुत से संत मिल गये, आप सबको दंडवत् प्रणाम कर प्रार्थनापूर्वक लौटके अपने घर में लिवाय लाये। राजा की भय शंका छोड़, सन्तों की भले प्रकार सेवा पूजाकर रसोई बनवाके सन्तों को प्रसाद पवाने लगे। सेन भक्त की प्रीति देख प्रभु श्यामसुन्दर ने, जैसा छप्पय में कहि आये वैसा ही जाके, राजा की सेवा कर प्रसन्न किया। सन्तों की सेवा करने के पीछे सेन भक्त राजा के समीप चले, मार्ग में राजा के समीप से आनेवाले लोगों से आपने पूछा कि "राजा महाराज स्नान कर चुके, तो तेल किसने लगाया था?" लोगों ने कहा "आप ही ने तो लगाया है।" सुन के भक्तजी के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ और जाना कि यह कुछ प्रभु की कृपा कौतुक है, इससे आपके हृदय में अतिशय प्रेम-रंग का उमंग छा गया। जब सेन भक्त राजा के पास गये तब राजा पूछने लगा॥

(३७३) टीका। कवित्त। (४७०)

"फेरि कैसे आये ?" सुनि अति हीं लजाये; कही "सदन पधारे सन्त, भई यों अबार है। आवन न पायों वाही सेवा अरुझायौं," राजा दौरि सिर नायौ, देखी महिमा अपार है॥ भीजि गयौ हियौ, दासभाव दृढ़ लियौ, पियौ भक्तिरस, शिष्य ह्वैके जान्यौ सोई सार है। अबलौं हूँ प्रीति, सुत नाती वही रीति चलैं, हीय जौ प्रतीति प्रभु पावै निरधार है॥ ३१०॥ (३१६)

वार्त्तिक तिलक।

राजा बोला कि "सेन! तुम अब फिर किस लिये आये ?" आप अति लज्जित हो हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगे कि "हे महाराज! मेरे गृह में सन्त लोग कृपा कर आगये, सो उनकी सेवा सत्कार करने लगा आने न पाया, इससे विलम्ब हो गया।" ऐसा सुन राजा को प्रभु के कर कमल स्पर्श का अलौकिक सुख तो हुआ ही था, इससे जान गया कि "सेन" का रूप धारण कर, भगवान् ही आये थे॥

राजा वीरसिंह दौड़कर श्रीसेन भक्तजी के चरणों पर गिर पड़ा, यह विचार करने लगा कि 'ओह! इन भक्तजी की अपार महिमा है;' निदान राजा का हृदय श्रीरामप्रेमरस में डूब गया और श्रीसीतारामजी का तथा श्रीसेन भक्तजी का दास्यभाव मन में दृढ़ धारण कर, आपका शिष्य होकर श्रीभक्तिरस को पान कर उसी को सारांश जान, जगत् को असार माना॥

टीकाकार कहते हैं कि अब तक भी सेन भक्तजी के पुत्र पौत्रादिक उसी सन्त भगवन्त की सेवा भक्ति रीति में चलते हैं। यह बात निश्चय है कि जो हृदय में सच्ची प्रीति प्रतीति हो तो प्रभु अवश्य मिलते हैं॥

---

(७८) श्री ६ सुखानन्दजी।

(३७४) छप्पय। (४६६)

भक्तिदान, भै हरन भुज, "सुखानंद" पारस परस॥
"सुखसागर" की छाप राग गौरी रुचि न्यारी। पद-

रचना गुरु मंत्र मनों आगम अनुहारी ॥ निसिदिन प्रेम प्रवाह, द्रवत भूधर ज्यों निर्भर। हरिगुन कथा अगाध भाल राजत लीलाभर ॥ संत कंज पोषन बिमल, अति पियूष सरसी सरस। भक्तिदान भै हरन भुज, "सुखानंद" पारस परस ॥ ६४ ॥ (१५०)

वार्त्तिक तिलक ।

जनों को भक्तिदान देने में तथा संसार के भय हरने में श्रीसुखानन्द-जी श्रीरामरघुवीरजी के भुजा के सरीखे रहे; और लोहा सरीखे खोटे जीवों को अपने संगरूपी स्पर्श से सुवर्ण सरीखा उत्तम संत कर देने के लिये मानों पारस मणि ही थे ॥

चौपाई ।

"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई । पारस परसि कुधातु सुहाई ॥"

दो० "पारस में अरु संत में, बड़ौ अंतरौ जान ।
वह लोहा सोना करै, ये करें आपु समान ॥"

आप अपने पदों की पूर्ति में "सुखसागर" की छाप दिया करते थे; जैसे श्रीमीराबाई "गिरिधर नागर" की, और आपने गौरी राग में बहुत से पद बनाये हैं। उनमें लोक से न्यारी ही प्रियतारुचि प्राप्त होती है ॥

और आपने ऐसे प्रभाव युक्त नियमानुकूल पदों की रचना की है कि मानों गुरुमंत्र ही है अथवा दिव्य संहितातंत्र है; दिन रात्रि श्रीराम-प्रेमाश्रु का प्रवाह नेत्रों से ऐसा चलता था कि जैसे श्रीचित्रकूट पर्वत के झरना झरते हैं; श्रीसीताराम गुणगण बहुत गाया करते थे । कथा लीलारूपी विमल अमृत से अतिशय भरे हुए, संत जन कमलों के पोषक विकासक, मानों अति सरस तड़ाग (तालाब) ही थे। और जब भगवत्कथा कहने लगते थे तब श्रीसुखानन्दजी का ललाट (लिलार) अति प्रकाशमान राजता था ॥

(७९) श्री ६ सुरसुरानन्दजी।

(३७५) छप्पय। (४६८)

महिमा महाप्रसाद की "सुरसुरानन्द" साँची करी ॥ एक समै अध्वा चलत बरा बाक छल पाये। देखादेखी शिष्य तिनहुँ पाछैं ते खाये॥ तिन पर स्वामी खिजे बमन करि बिन बिस्वासी। तिन तैसे परतच्छ भूमि पर कीनी रासी॥ "सुरसुरी-सुवर" पुनि उदगले, पुहुप रेनु, तुलसी हरी। महिमा महाप्रसाद की "सुरसुरानन्द" साँची करी॥ ६५॥ (१४९)

वार्त्तिक तिलक।

श्री १०८ सुरसुरानंदजी ने भगवत्मुक्तावेष में महाप्रसाद की महिमा जैसी भक्तिग्रंथों में लिखी है वैसी सत्य करके प्रत्यक्ष दिखा दिया॥

एक समय शिष्यों को साथ लिये मार्ग में चले जाते थे। वहाँ किसी वैष्णवद्रोही नीच ने उरद का बरा बहुत सा बनाया और उसमें मांस भी मिला दिया था फिर उसने तुलसी छोड़ वाक्यछल कर आपसे कहा कि "यह भगवत्प्रसाद है ❀ लीजिये, पाइये।" आप थोड़ा सा हस्त में ले प्रसाद ध्यान भावपूर्वक पाकर आगे चल दिये किंचित् ही अंतर में शिष्य लोग थे, उन्होंने देखा कि स्वामीजी ने यह प्रसाद पाया है। फिर उस दुष्ट ने उन लोगों को भी "प्रसाद" कह वही बरा दिया सो सबके सब स्वादबुद्धि से बहुत बहुत खाकर स्वामीजी के समीप आये; तब आपने क्रोध करके कहा कि "क्यों रे मूर्खो! तुम लोगों ने भाव विश्वास विना ही बरा क्यों खा लिया? वमन करो" उन्होंने जो वमन किया तो वैसे ही बरा भूमि में राशि लग गया; सबके सबने जल लेकर कुल्लियाँ कीं; तदनंतर श्रीसुरसुरी के पति श्रीसुरसुरानन्दजी अपने

❀ "वैष्णवे भगवद्भक्तौ प्रसादे हरिनाम्नि च। अल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥"

मुँह में उँगलियाँ दे वमन कर उस प्रसाद को देखें तो वह बरा साक्षात् हरित तुलसीदल, पुष्प तथा रेणु हो गया कि जिसकी सुगंधि चारों दिशि में छा गई। इस प्रकार से आपने महाप्रसाद की महिमा दिखाई। श्रीमहाप्रसाद की जय ॥

श्रीसुरसुरानन्दजी ही के द्वारा श्रीधरनीदासजी थे । श्रीसरयूतट (माँझीसारन) श्रीप्रसादीदासजी (एकमास्टेसन परसासारन ॥)

(८०) श्री ६ सुरसुरीजी देवी ।

(३७६) छप्पय । (४६७)

महासती सत ऊपमा, त्यों सत्त "सुरसुरी" को रह्यो ॥ अति उदार दंपती त्यागि गृह, बन को गवने ॥ अचरज भयो तहँ एक, संत सुन जिन हो बिमने । बैठे हुते एकांत आय असुरनि दुख दीयो । सुमिरे सारँगपानि रूप नरहरि कौ कीयो ॥ सुरसुरानन्द की घरनि कौ, सत राख्यो नरसिंह जह्यो । महासती सत ऊपमा त्यों सत्त "सुरसुरी" को रह्यो ॥ ६६ ॥ (१४८)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीअरुन्धती, अनुसूया, लोपामुद्रा, सावित्री, आदिक जो महासती हैं, तिनके सत्त के समान श्रीरामकृपा से "श्रीसुरसुरीजी" का सत्य पातिव्रत अखण्ड रह गया। एक समय अति उदार दम्पति श्री "सुरसुरानन्द" जी और श्री "सुरसुरी" जी अपने गृह की सब सम्पत्ति दान कर, श्रीसीतारामजी के भजन करने के लिये, गृह त्याग, उत्तम वन में आए। हे सन्तो! वहाँ एक आश्चर्य हुआ सो सुन प्रभु का विश्वास मान आप आनन्दित होवैं। विमन मत होवैं ॥

---

१ "जह्यो"=प्राणत्याग कराया। पाठान्तर "जयो"=जीत लिया ॥

एक समय दोनों मूर्ति एकांत में बैठे थे; वहाँ बहुत से असुर (मुसलमान) आकर, श्रीसुरसुरीजी का अति सुन्दर रूप देख, इन को लेने को दौड़े। दम्पति ने श्रीशार्ङ्गपाणि रघुवीरजी का स्मरण किया, प्रभु ने उसी क्षण नृसिंहरूप धारणकर, सब दुष्टों के प्राण लेके, श्रीसुरसुरानन्दजी की पत्नी का पातिव्रत रख लिया। तदनन्तर श्रीराजमाधुरीरूप के दर्शन से भक्त दम्पति को कृतार्थ कर अन्तर्द्धान हुए॥

---

(८१) श्री ६ नरहरियानन्दजी।

(३७७) छप्पय। (४६६)

निपट "नरहरियानन्द" कौ, करदाता दुर्गा भई॥ घर भर लकरी नाहिं शक्ति कौ सदन उदारैं। शक्ति भक्त सों बोलि दिनहिं प्रतिबरही डारैं॥ लगी परोसी हौंस भवानी भ्वैंसो मारै। बदले की बेगारि मूँड़ वाके सिर डारै॥ "भरत" प्रसंग ज्यों कालिका, "लडू" देखि तन में तई। निपट "नरहरियानन्द" कौ, करदाता दुर्गा भई॥ ६७॥ (१४७)

वार्त्तिक तिलक।

जैसे राजा को प्रजा कर देते हैं, ऐसे ही श्रीनरहरियानन्दजी को कर भली प्रकार देनेवाली श्रीदुर्गादेवीजी हुई। एक समय मेघों ने जल की बड़ी झड़ी लगाई; और श्रीनरहरियानन्दजी की कुटी में श्रीभगवन्त सन्त के भोग के लिये अन्नादिक सामग्री तो सब थी, परन्तु सूखी लकड़ी न थी॥

आप विचार करने लगे कि "अब किस प्रकार रसोई हो और श्रीसीतारामजी को भोग लगाके सन्तों को प्रसाद पवाऊँ।" तब

---

१ यह महारानी पन्द्रहवीं शताब्दी विक्रमीय में विराजमान थीं। २ "मैं रह गइउँ आली! मोहाय करके, प्रभु देखे न पाइउँ नयन भर के॥" ३ श्रीलड्डू स्वामी। ४ श्रीनरहरियानन्द स्वामी॥

चित्त में यह फुरा कि "देवी के मन्दिर में बहुत से काष्ठ लगे हैं सो ले आऊँ।" ऐसा विचार कुल्हाड़ी लेकर शक्ति भगवती का गृह आप उजाड़ने लगे। श्रीदेवीजी प्रत्यक्ष होकर बोलीं कि "हे श्रीरामभक्तजी! आप हमारा घर मत गिराइये; मैं आपको नित्य लकड़ी दिया करूँगी।" आपने कहा "बहुत अच्छा" और चले आये। तब श्रीदेवीजी रात्रि में नित्य एक बरही (बड़े बोझ भर) लकड़ी आपकी कुटी में डाल जाती थीं॥

इस वार्ता को एक पड़ोस का रहनेवाला मनुष्य जानकर वह भी आपके समान लकड़ी लेने की इच्छा कर, श्रीदेवीजी का गृह उजाड़ने लगा; श्रीभवानीजी उसके शरीर में प्रवेश कर व्याप्त हो भूमि में पछाड़, प्राण लिया चाहती थीं; बहुत विलंब देख उसके घर के लोग जा देखें तो वह मरणप्राय हो रहा है; तब सबों ने श्रीदेवीजी की बड़ी प्रार्थना की। श्रीदेवीजी उसी के भीतर से बोलीं कि "यह यदि नरहरियानन्दजी को वैसी ही लकड़ियों का बोझ नित्य दिया करें, तब तो छोड़ूँगी नहीं तो मार डालूंगी।" उस दिन से देवी की बेगार उसी के सीस पड़ी, नित्य श्रीनरहरियानन्दजी को लकड़ी दिया करता था॥

(८२) श्रीलड्डूभक्तजी।

ऐसे ही श्रीभागवत में "श्रीजड़भरतजी" और श्रीभद्रकाली का प्रसंग लिखा है; और उसी प्रकार श्री "लड्डू" भक्तजी का॥

श्रीजड़भरतजी की कथा सिन्ध सौवीर देश के राजा रहूगण के साथ लिखी जा चुकी है कि "श्रीजड़भरतजी" महाराज जंगल में बैठे भगवत्स्मरण कर रहे थे। भिल्लों के एक राजा ने भद्रकाली नाम अपनी इष्ट देवता को बलि देने के लिये एक लड़के को मोल लिया था, उस लड़के को किसी से ज्ञात हो गया कि मुझे बलि देने को मोल लिया है इसी से वह लड़का रात्रि के समय भाग गया। राजा ने उसके ढूँढ़ने के लिये लोग भेजे। उस लड़के को तो राजा के जनों ने नहीं पाया, परन्तु "श्रीजड़भरतजी" ही को ले

आये। आप तो परमहंस थे ही, शांतभाव से दुष्टों के संग चले आए॥

जब उनको विधिपूर्वक बलि देने के लिये राजा उपस्थित हुआ तो श्रीदेवीजी ने विचारा कि यद्यपि रामभक्त तो कुछ बोलेंगे नहीं, परन्तु "जो अपराध भक्त कर करई। रामरोषपावक सो जरई॥" उसी अपने विग्रह में से श्रीकालिकाजी प्रगट हो दुष्ट के हाथ से खड्ग छीन उसी से सब दुष्टों को मार अपने गणों के हाथ में उनका सिर दे दे, स्वयं देवी श्रीजड़भरतजी के आगे नाचने और उनको प्रसन्न करने लगीं। श्रीभक्त और भगवत् को श्रीदेवीजी ने इस भाँति प्रसन्न किया॥

श्रीजड़भरतजी तो आनंद की मूर्ति थे ही, श्रीसीताराम सीताराम कहते हुए पुनः जंगल में चले गए॥

"श्रीलड्डूस्वामीजी" एक समय बंगाले के मध्य एक कुदेश में गए; वहाँ लोग आपको दुर्गाजी की बलि देने को ले गए। कालीजी क्रोधाग्नि से तप्त हो खड्ग ले दुष्टों को मार श्रीलड्डूस्वामी की रामभक्ति की प्रशंसा करने लगीं। यह देख सुन, सब ग्रामवासी भगवद्भक्त हो गए॥

---

(८३) श्रीपद्मनाभजी *।

(३७८) छप्पय। (४६५)

"कबीर" कृपा तें परम तत्त्व, "पद्मनाभ" परचौ लह्यौ॥ नाम महानिधि मंत्र, नामही सेवा पूजा। जप तप तीरथ नाम, नाम बिन और न दूजा॥ नाम प्रीति नाम बैर नाम कहि नामी बोलै। नाम "अजामिल" साखि, नाम बंधन तें खोलै॥ नाम अधिक रघुनाथ तें "राम" निकट "हनुमत" कह्यौ। "कबीर" कृपा तें परम तत्त्व, "पद्मनाभ" परचौ लह्यौ॥ ६८॥ (१४६)

---

* आप संवत् १५७४ के लगभग वर्तमान थे॥

वार्त्तिक तिलक ।

(अब तक स्वामी अनन्त श्रीरामानन्दजी के चेलों का यश वर्णन था ।) आपने गुरुदेव श्रीकबीरजी की कृपा से श्रीपद्मनाभजी ने परम तत्त्व, परब्रह्मस्वरूप भूत श्रीराम नाम से परचौ पाया; क्योंकि आप बड़े ही श्रीरामनामानन्य एक तत्त्वाभ्यासी हुए; आपने श्रीरामनाम महा-निधि ही को परम मंत्र मान जप किया; और श्रीरामनाम ही की सेवा पूजा की ॥

दो०—"राम नाम आनादि ब्रह्म, सुमिरे शंकर सेस ।
राम चरण साँचा गुरू, यों देवै उपदेस ॥"

और तंत्रशास्त्र की विधिपूर्वक जप तथा पंचाग्नि आदिक तप, पृथ्वी भर के तीर्थ, सब आप श्रीरामनाम ही को जानकर प्रेम करते थे ॥

श्रीनाम को छोड़, और कोई दूसरा साधन मनही में न लाते थे ॥

श्लोक "तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम् ।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्यकालम् ॥"

दो० "राम नाम सुमिरन भजन, नामहि पूजा प्रेम ।
तप, तीरथ, दानादि सब, नाम योग, सुख, छेम ॥"

नाम ही से तथा श्रीरामनामानुरागी ही से, प्रीति करते थे । और जो नाम से विमुख जीव थे उन्हीं से वैर विरोध करते थे, अथवा जब किसी से वैर विरोध हो जाता था, तब नाम ही स्मरण करते थे । नामी जो परब्रह्म परमात्मा श्रीरामचन्द्रजी हैं उनको भी नाम ही कहके बोलते थे ॥

(क०) "मूल रेफ ब्रह्म, ताते कारन सुछम थूल, तीन हूँ अकार सतचित मुद धाम है । रेफ राम मिलित सिया सनेह नादरूपा दीरघ अकार स्वर विद्या अभिराम है ॥ ब्यंजन मकार थूल, माया बिन्दु, जीवा-नन्द, संजुत अकार जीव वदै रसराम है । सब नाम रामही के मानि कै करै प्रणाम, जपै "राम" नाम जानि जीव ब्रह्मधाम है ॥"

श्रीभगवत् नाम में अजामिल साक्षी है; अर्थात् अपने पुत्र के बहाने से "नारायण" नाम लिया इसी से नाम ने भव-बंधन तथा यमपाश-बंधन से छुड़ा दिया। देखो, श्रीधर्मराज अजामिल प्रसंग॥

साक्षात् श्रीरघुनाथजी के प्रति हनुमान्जी ने कहा है कि "हे प्रभु! आपका नाम आपसे भी बड़ा है, क्योंकि आप तो केवल अयोध्या-वासी प्रजा ही मात्र को अपने परमधाम को ले गये, और आपके नाम तीनों लोकों के जीवों को परमधाम ले जाते हैं॥"

श्लोक "राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चिता मतिः।
त्वयैका तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्॥१॥"

इस प्रकार श्रीकबीरजी की कृपा से पद्मनाभजी ने परमतत्त्व का परचौ पाया॥

(३७६) टीका। कवित्त। (४६४)

कासीबासी साहु भयो कोढ़ी, सो निबाह कैसे, परिगये कृमि चल्यौ बूड़िबे कों, भीर है। निकसे "पदम" आय, पूछी ढिग जाय, कही गही देह खोलौ गुन न्हाय गंगा नीर है॥ "राम नाम कहै बेर तीन मैं, नवीन होत;" भयोई नवीन कियौ भक्ति मति धीर है। गयौ गुरु पास, "तुम महिमा न जानी; अहो! नाम भास काम कर" कही यों कबीर है॥ ३११॥ (३१८)

वार्त्तिक तिलक।

एक काशीवासी सेठ कोढ़ी हो गया और उसकी देह में कीड़े भी पड़ गये; उसने किसी प्रकार से जीने में अपना निर्वाह न देखा, तब उसने कहा कि "हम श्रीगंगाजी में डूब जायँगे;" उसके घर के और बहुत से लोग लेकर गंगातट गये। उसी समय उसके भाग्य-वश श्रीपद्मनाभजी वहाँ आपड़े; और पूछा कि "क्या है?" लोगों ने सब कह दिया कि "यह कोढ़ी डूब मरता है।" आपने आज्ञा दी कि "इसके बंधन, और पाषान आदिक, छोड़ दो; यह गंगास्नान कर यह संकल्प मन में करे, कि "मैं जन्म भर श्रीरामनाम जपूँगा" तीन बार श्रीरामनाम कहे, अभी अभी इसकी नवीन काया हो

जावेगी।" वैसा ही किया; श्रीरामानुरागी की कृपा से उसका नवीन शरीर हो गया, कुष्ठ छूट गया। तदनंतर उसने जन्म भर भक्तिपूर्वक श्रीरामनामस्मरण किया॥

श्रीपद्मनाभजी अपने गुरु श्रीकबीरजी के पास आये, श्रीकबीरजी यह वार्त्ता सुन कहने लगे कि "तुमने श्रीरामनाम की महिमा नहीं जानी, कुष्ठ तो श्रीराम नाम का आभास * मात्र नाश कर देता।" तब पद्मनाभजी ने अति आश्चर्य को प्राप्त हो श्रीनाम का प्रभाव जाना॥

(क०) "कोऊ एक जमन जरठ मग जात कहूँ, सूकर के सावक ने मार्‍यो ताहि धाय कै। जोर सों पुकार्‍यौ "मोहिं मार्‍यौ है 'हराम' जाति, ऐसे कहि बेगि प्रान गए अकुलाय कै॥ गोपद समान भव-सागर सों पार गयौ; नाम के प्रताप ऐसो पद कह्यौ गाय कै। प्रेम सों कहैगो कोऊ नाम, कृपा राम, कौन अचरज रामधाम देतु है जो चाय कै॥"

(चैता) "सखी! नैहर में, काहे फिरति बौरानी, ए रामा, सखी नैहर में। खेलत खात रात दिन बीते रहियै सदा न जवानी, ए रामा॥ इधर से आवै उधर चलि जावै करि रहु कोटि जतनवा, ए रामा। धन सम्पति कहिं ठहरै न आली, करि लेहु राम भजनवा, ए रामा॥"

---

(८४) श्रीतत्वाजी। (८५) श्रीजीवाजी।

(३८०) छप्पय। (४६३)

"तत्वा" "जीवा" दच्छिण देस बंसोद्धर राजत बिदित॥ भक्ति सुधा जल समुद्र भये बेलावलि गाढ़ी। पूरब जा † ज्यों रीति प्रीति उत्तरोत्तर बाढ़ी॥ रघुकुलसदृश सुभाव, सिष्ट गुण, सदा धर्म रत। सूर, धीर, उदार, दया पर, दच्छ, अनन्य ब्रत॥ पदमखंड

---

* आभास अर्थात् जैसे जमन ने "हराम" कहा। † पूर्वजा दो पहर के पीछे की छाया अर्थात् पश्चिम सूर्य आने से पूर्व में प्रगट होनेवाली बढ़ती हुई छाया॥

"पद्मा पद्धति" प्रफुल्लित कर सविता उदित । "तत्वा" "जीवा" दच्छिण देस बंसोद्धर राजत बिदित॥६९॥(१४५)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीरामभक्त "तत्वाजी" तथा "जीवाजी" दक्षिण देश विप्र कुल में अपने वंश भर के उद्धार करनेवाले, जगत् विदित दोनों भ्राता विराजमान हुए ॥

दोनों भाई भक्तिसुधा जल समुद्र के दोनों तट की दृढ़ वेलावली (मर्यादा) हुए; और सन्त भगवन्त में दोनों भाइयों की प्रीति रीति उत्तरोत्तर कैसी बढ़ी कि जैसे दो पहर के पीछे की छाया उत्तरोत्तर बढ़ती है। आप दोनों, रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी के खरे खरे पूरे दास थे, इससे रघुवंशियों के ऐसा शुद्ध सुभाव, श्रेष्ठ गुण, सदा धर्म में प्रीति, लोक परलोक के शत्रुओं के लिये शूर, तथा धीर, उदार, दयापरायण, अति प्रवीण, और अनन्य व्रतयुक्त थे ॥

"श्रीपद्मापद्धति" जो श्रीसम्प्रदाय, सोई कमल के वन सरीखा है, सो उसको प्रफुल्लित करनेवाले दोनों भाई मानों दो सूर्य उदित हुए। इस प्रकार के निज वंशोद्धारकारक श्रीतत्वा जीवा भक्त हुए ॥

श्लो० "प्रारंभगुर्वी*क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्नाछायेवमैत्री खलसज्जनानाम् ॥१॥"

(३८१) टीका । कवित्त । (४६२)

तत्वा, जीवा, भाई उभै, बिप्र साधु सेवा पन; मन धरी बात, तातें शिष्य नहीं भये हैं । गाड़यौ एक ठूँठ द्वार, होय अहो हरी डार, संत चरणामृत को लै के डारि दये हैं ॥ जब ही हरित देखें, ताको गुरु करि लेखैं, आये श्रीकबीर, पूजि आस, पाँव लये हैं । नीठ नीठ

* खलों और सज्जनों की मित्रता ऐसी घटती बढ़ती जाती है जैसी कि दिन के पूर्वार्द्ध तथा परार्द्ध की छाया घटती बढ़ती है ॥

नाम दियौ दियौ परिचाय, धाम, काम कोऊ होय जो पै आवौ कहि गये हैं॥ ३१२॥ (३१७)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "तत्वा" जी तथा "जीवा" जी दोनों भाई ब्राह्मण थे। संत वैष्णवों की सेवा का व्रत भले प्रकार धारण किये थे। परंतु मन में एक वार्ता निश्चय किये हुए थे; इससे किसी के शिष्य नहीं हुए थे। वह वार्ता यह है कि आपने अपने द्वार पर एक सूखे काष्ठ का ठूँठ गाड़ दिया था। जो नित्य नवीन संत आते थे उनके चरण धोकर चरणामृत उसमें डालते थे मन में यह था कि "जिसके पद तीर्थ से इस ठूँठ में हरे२पत्ते निकल आवें उसी को अपना गुरुदेव जान उसी से मंत्र लेंगे॥"

कुछ काल में उनके भाग्यवश श्रीकबीरजी आये और उनका चरण धोकर ज्योंही उसमें डाला, उसी क्षण उस ठूँठ में हरित शाखा पल्लव हो गये। तब इन दोनों भक्तों की आशा पूर्ण हुई, चरण पकड़ पकड़ के प्रार्थना की कि "हमको मंत्र दीजिये॥"

कबीरजी मंत्र नहीं देते थे परंतु बड़ी कठिनता से दोनों भाइयों को महामंत्र श्रीरामनाम दिया; और आपका निवास श्रीकाशीजी में जिस टोले में था सो भले प्रकार से बता दिया कि "कोई कारज पड़ै तौ हमारे समीप आना;" क्योंकि श्रीकबीरजी तौ त्रिकालज्ञ थे ही, होने वाली बात जानते थे॥

(३८२) टीका। कवित्त। (४६१)

काना कानी भई, द्विज जानी जाति गई, पाँति न्यारी करि दई, कोऊ बेटी नहीं लेत है। चल्यो एक काशी, जहाँ बसत कबीर धीर, जाय कही पीर, जब पूछ्यौ कौन हेत है॥ दोऊ तुम भाई, करौ आपु में सगाई, होय भक्ति सरसाई, न घटाई चित चेत है। आय वहै करी, परी ज्ञाति खरभरी, कहैं कहा उर धरी, कछू मति हूँ अचेत है॥ ३१३॥ (३१६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकबीरजी के जाने के अनंतर श्रीतत्वाजी जीवाजी के ग्राम देश के ब्राह्मण लोग आपस में कहने सुनने लगे कि "कबीरजी की जाति जानते हो न ?" किसी ने कहा "हाँ, जानते हैं, ये 'जुलाहा' हैं" "तब तो तत्वा जीवा का ब्राह्मणत्व नष्ट हुआ !"

दो० "जाति न पूछौ सन्त की, परखो उनका ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान॥"

इस प्रकार कुमंत्र कर, दोनों भक्तों को ब्राह्मणों ने अपनी पंक्ति से न्यारा कर दिया। और इनकी कन्या का भी किसी ने विवाह न किया। तब एक भाई ने परम धीर श्रीकबीरजी के समीप श्रीकाशीजी जाके प्रणाम किया; आपने पूछा कि "किस हेतु से आये हो ?" इन्होंने अपना दुःख निवेदन किया। श्रीकबीरजी ने आज्ञा दी कि "तुम्हारे दोनों भाइयों के एक एक कन्या, एक एक पुत्र है; सो आपस में विवाह कर दो इसमें तुम्हारी कोई घटी नहीं होगी तुम्हारी भक्ति की अति सरसाई होगी।" आज्ञा पा, अति प्रसन्न हो घर में आ, वैसा ही करने को उद्यत हो गये। विवाहादिक के गीत सुनकर सब लोगों ने आपका निश्चय जाना। तब तो जातिवाले ब्राह्मणों में बड़ी ही शंका हुई और आपस में कहने लगे कि इन दोनों की मति में भ्रम हो गया। यह क्या अनर्थ कर रहे हैं॥

(३८३) टीका। कवित्त। (४६०)

"करैं यही बात, हमैं और न सुहात," आये सबै हा हा खात, यह छाँड़ि हठ दीजियै। पूछबे कों फेरि गये, करौ ब्याह जो पै नये, दंड करि नाना भाँति, भक्ति दृढ़ कीजियै॥ तब दई सुता, लई पाँति न प्रसन्न ह्वै कै, पाँति हरिभक्तनि सों सदा मति भीजियै। बिमुख समूह देखि समय बड़ाई करैं, धरैं हिय माँझ, कहैं पन पर रीझियै॥ ३१४॥ (३१५)

वार्त्तिक तिलक।

भगिनी भ्राता (बहिन भाई) का विवाह करने में सन्नद्ध देख,

सब ब्राह्मण लोग आकर, हा हा खाकर कहने लगे कि "आप दोनों, यह हठ छोड़ दीजिये, ऐसा मत कीजिये, हम आपके पुत्र कन्या दोनों का विवाह कर लेंगे।" आपने कहा कि "हम तो श्रीगुरु आज्ञा से ऐसाही करेंगे, हमको अब उस प्रकार विवाह करना भला ही नहीं लगता।" पुनः अति दीन होकर सब ब्राह्मणों ने वारंवार प्रार्थना की; तब, फिर एक भाई ने श्रीकबीरजी के पास आके सब वृत्तान्त कह, पूछा कि "जैसी आज्ञा हो ?॥"

श्रीकबीरजी ने कहा कि "जो अब ब्राह्मण लोग नम्र हुए हैं तो उनको यह दंड करो कि भगवद्भक्ति करें, तब ब्याह करो।" श्रीगुरु आज्ञा सिर पर रख अपने गृह आ, सबको भक्ति दृढ़ कराके तब अपनी कन्याएँ दीं। और उनके पंक्ति में ले लेने से कुछ प्रसन्न न हुए। क्योंकि आप तो श्रीरामभक्त के साथ ही अपनी जाति पाँति मान प्रेमरस में सदा मग्न रहते थे॥

श्रीतत्वाजी जीवाजी का श्रीगुरुवचन में ऐसा विश्वास देख विमुख लोग सम्मुख बड़ाई करते थे कि "हम सब तो आपके गुरु वचन पालन के प्रण ही में रीझ गये॥"

(३८४) छप्पय । (४५६)

बिनै ब्यास मनो प्रगट ह्वै, जग को हित "माधौ" कियौ॥ पहिले बेद बिभाग कथित, पुरान अष्टादस। भारत आदि भागौत मथित उद्धार्‌यौ हरि जस॥ अब सोधे सब ग्रन्थ अर्थ भाषा बिस्तार्‌यौ। लीला जै जै जैति गाय भवपार उतार्‌यौ॥ जगन्नाथ इष्ट बैराग्य सींव करुणा रस भीज्यौ हियौ। बिनै ब्यास मनो प्रगट ह्वै, जग को हित "माधौ" कियौ॥ ७०॥ (१४४)

---

(८६) श्रीमाधवदासजी जगन्नाथी।

वार्त्तिक तिलक।

मानो श्रीविनय युक्त व्यासजी प्रगट होकर श्रीमाधवदासजी ने

जगत् के जीवों का हितकार किया। जैसे प्रथम द्वापर में प्रगट होकर व्यासजी ने वेदों का विभाग किया, तथा अठारह पुराण और महाभारत बनाकर सबों को मथ कर, हरियशमय "श्रीभागवत" निकाला, वैसेही अब माधवदासरूप होकर, सब ग्रन्थों को ढूँढ़ विचार, सारांश ले, भाषा ग्रंथ विस्तार किये। उनमें "जयजयकार" शब्दयुक्त भगवत्लीला गान की है; जिसको गाके, जीव भवसागर के पार उतर जाते हैं॥

श्रीजगन्नाथजी आपके इष्टदेव थे, और आप वैराग्य की तो सीवाँ थे, तथा करुणारस में आपका हृदय सदा भीगा रहता था॥

(३८५) टीका। कवित्त। (४५८)

माधौदास द्विज, निज तिया तन त्याग कियौ, लियौ इन जानि जग ऐसोई ब्योहार है। सुत की बढ़नि जोग लियें तित चाहत हो, भई यह और लै दिखाई करतार है॥ ताते तजि दियौ गेह, वेई सब पालै देह, करै अभिमान सोई जानिये गँवार है। आये नीलगिरि-धाम, रहे गिरिसिंधु तीर, अति मतिधीर, भूख प्यास न विचार है॥ ३१५॥ (३१४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमाधवदासजी ब्राह्मण थे। आपकी स्त्री ने प्राण त्याग दिया। देखकर आपको ज्ञान होगया कि "संसार में शरीरों का व्यवहार ऐसाही मिथ्या है। मैं चाहता था कि यह पुत्र बड़ा हो परिवार बढ़े, परन्तु कर्त्ता प्रभु ने मुझे और ही वार्त्ता दिखाई" इत्यादिक विचार कर प्रबल वैराग्यपूर्वक गृह को त्याग दिया। मन में यह विचारते, कि "ये मेरे माता पुत्रादिक जितने देहधारी हैं उन सबका पालन परमेश्वर ही ने किया है और प्रभु ही करेंगे। मैं जो इनके पालन का अभिमान करूँ, तो बड़ागँवारपना है" इत्यादिक विचार करते नीलाचलधाम में श्रीजगन्नाथजी का दर्शन कर नीलगिरि के समुद्र तीर एकांत में पड़ रहे महामतिधीर भूखप्यास को त्याग केवल प्रभु के स्मरण ही में लगे रहे॥

(३८६) टीका । कवित्त । (४५७)

भए दिन तीन, एतो भूख के अधीन नाहिं, रहैं हरिलीन; प्रभु शोच पस्यो भारियै । दियौ सैन भोग, आप लक्ष्मीजू लै पधारीं, हाटक की थारी झन झन पाँव धारियै ॥ बैठे हैं कुटी में पीठ दिये, हिये रूप रँगे बीजुरी सों कौंधि गई नीके न निहारियै । देखी सो प्रसाद, बड़ौ मन अहलाद भयौ, लयौ भाग मानि, पात्र धस्योई बिचारियै ॥ ३१६ ॥ (३१३)

वार्त्तिक तिलक ।

तीन दिवस बीत गये; आप क्षुधा के आधीन नहीं हुए; केवल हरिस्मरण में मन लीन रहा । आपकी दशा देख श्रीजगन्नाथजी को शोच हुआ कि "मेरा भक्त तीन दिन से भूखा पड़ा है" तब जो सुवर्ण की थाली में सयन भोग धरा था, सो प्रसाद (उच्छिष्ट) करके दिया; स्वयं श्रीलक्ष्मीजी नूपुरादिकों का शब्द झन झन करती ले आईं । आप द्वार की दिशि पीठि दिये, श्रीश्यामसुन्दर के रूप में रँगे हुए, बैठे थे । श्रीलक्ष्मीजी आपके समीप प्रसाद रख के चली गईं । आपने देखा कि बिजली सी चमकी, परंतु भले प्रकार दर्शन नहीं पाया ! श्रीमहाप्रसाद देख कर अति आनंदित हो, अपना बड़ा भाग्य मान, प्रसाद पाकर थाल वहाँ ही रख दिया ॥

(३८७) टीका । कवित्त । (४५६)

खोलैं जो किवार, थार देखियै न सोच पस्यो, कस्यो लै जतन ढूँढ़ि, वाही ठौर पायौ है । ल्याये बाँधि मारी बेंत, धारी जगन्नाथ देव, भेव जब जान्यौ, पीठ चिह्न दरसायौ है ॥ कही पुनि आप मैं ही दियौ, जब लियौ याने, माने अपराध पाँव गहि कै छिमायौ है । भई यों प्रसिद्ध बात कीरति न माँत कहूँ, सुनि कै लजात, साधु सील यह गायौ है ॥ ३१७ ॥ (३१२)

वार्त्तिक तिलक ।

प्रभात में पण्डा लोगों ने जब किवार खोले, तब थार नहीं देखा, सबको बड़ा सोच हुआ । यत्नपूर्वक सबके सब सर्वत्र ढूँढ़ने लगे;

ढूँढ़ते ढूँढ़ते श्रीमाधवदासजी के समीप थाल रक्खा पाया; अविवेकी लोगों ने इतना विचार न किया कि "ये जो चुरा लाते तो ऐसा ही क्यों रख छोड़ते।" थाल लिया, और आपको बाँध कर बेंत मारे; उन बेंतों की चोट सब श्रीजगन्नाथ देवजी ही ने अपने तन पर धारण कर लिया॥

जब पण्डा लोग प्रभु को तैल लगाने लगे, तब देखें तो पीठ में बेंत के चिह्न ज्यों के त्यों उबटे हैं! सबके सब शंकित हुए। प्रभु ने आज्ञा दी कि "जब हमने उनको थाल प्रसाद दिया है तब उन्होंने लिया है।" यह सुन सबने श्रीमाधवदासजी के चरणों को गह के अपराध क्षमा कराया; यह सब वार्ता पुरी भर में प्रसिद्ध हो गई। तब आपकी कीर्त्ति अत्यन्त फैल गई। सब प्रशंसा करने लगे; आप सुनके अति लज्जित होते थे, क्योंकि साधु का सुभाव ग्रन्थों में ऐसा ही गाया गया है॥

(३८८) टीका। कवित्त। (४५५)

देखत सरूप सुधि तन का बिसरि जात, रहि जात मन्दिर में जानैं नहीं कोई है। लग्यौ सीत गात, सुनो बात, प्रभु काँपि उठे; दई सकलात आनि प्रीति हिये भोई है॥ लागे जब बेग, बेग जाय परे सिन्धु तीर, चाहैं जब नीर, लिये ठाढ़े, देहँ धोई है। करिकै बिचार औ निहारि, कही "जानौं मैं तो, देत हौ अपार दुःख, ईशता लै खोई है"॥ ३१८॥ (३११)

वार्त्तिक तिलक।

अब तो आप मन्दिर में, श्रीजगदीशजी का इस प्रकार सप्रेम इकटक दर्शन किया करते थे कि शरीर की सुधि बुधि सब भूल जाती थी। प्रभुइच्छा से पण्डा लोग आपको देखते न थे, मन्दिर ही में रहि जाते थे; एक बार जाड़े में आप मन्दिर में उघारे रह गये, शरीर में अति शीत लगा, तब शीत से प्रभुजी काँपने लगे। उसी क्षण पण्डाओं को स्वप्न देकर बुलाय, एक नवीन ओढ़ना मँगा के ओढ़ा, और अपनी प्रसादी श्रीमाधवदासजी को ओढ़ाई। आप ओढ़ना प्रसादी पाकर अत्यन्त प्रीति में भर गये॥

एक समय माधवदासजी को संग्रहणी के रोग से मल पड़ने लगा; आप समुद्र तीर में जा पड़ रहे। जब शौच के लिये पानी चाहा; तो श्रीजगन्नाथजी ने स्वयं जल लाके, सब देह को धोया। श्रीमाधवदासजी ने देखकर जाना कि "ये प्रभु हैं," हाथ जोड़ कहने लगे कि "आप अपनी ईश्वरता छोड़ ऐसा लघु कर्म करके मुझको अत्यन्त दुःख देते हैं॥"

(३८६) टीका। कवित्त। (४५४)

"कहा करौं, अहो! मोपै रहो नहीं जात नेकु," "मेटौ बिथा गात" "मोकौं बिथा वह भारी है"। "रहे भोग शेश, और तन में प्रबेश करैं, तातें नहीं दूर करौं, ईशता लै टारी है॥ वहू बात साँच, याकी गाँस एक और सुनौ, साधु को न हँसै कोऊ यह मैं बिचारी है"। देखत ही देखत मैं, पीड़ा सो बिलाय गई; नई नई कथा कहि भक्ति बिसतारी है॥ ३१६॥ (३१०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजगन्नाथजी ने उत्तर दिया कि "मैं क्या करूँ, भक्तों का दुःख देख मुझको किंचित् काल भी नहीं रहा जाता।" श्रीमाधवदासजी ने कहा कि "मेरी व्यथा ही मिटा क्यों नहीं देते?" प्रभु बोले कि "मिटा देने में मुझे एक भारी व्यथा है, कि जो मिटा दूँ तो कर्म के भोग का शेष रह जाय, फिर उसको दूसरा शरीर धरके भोगना पड़े। इसी से तुम्हारा दुःख नहीं छुड़ाया अपनी ईशता को छोड़ तुम्हारी सेवा की॥"

दो० "तुलसी रेखा कर्म की, मेटत हैं नहिं राम।
मेटैं तो अचरज नहीं, समुझि किया है काम॥"

सो यह वार्ता भी सत्य है, पुनः प्रभु ने कहा कि "इसको एक दूसरी गाँस सुनो, जिस लिये मैंने सेवा की है जिसमें कोई मनुष्य किसी भक्त की हँसी न करे कि देखो भगवद्भक्ति का कुछ फल नहीं है; 'यह सन्त कैसे दुःख में पड़े हैं। कोई एक लोटा जल तक देनेवाला नहीं।' इस प्रकार विचार के मैंने सेवा की है॥

प्रभु के दर्शन तथा स्पर्श से बात की बात में देखते देखते ही आपकी समस्त पीड़ा बिला गई ॥

श्रीमाधवदासजी ने श्रीपुरी में बिराजे हुए नई नई कथा काव्य-रचना कर श्रीभगवद्भक्ति को अत्यंत विस्तार किया ॥

(३६०) टीका। कवित्त। (४५३)

कीरति अभंग देखि भिक्षा कौ अरंभ कियौ, दियौ काहू बाई पोता खीझत चलाय कै। देवौ गुण लियौ नीके जलसों प्रछाल करि, करी दिव्य बाती, दई दिये में बराय कै॥ मंदिर उँजारौ भयौ, हिये का अन्ध्यारौ गयौ, गयौ फेरि देखन कौं, परी पाँय आय कै। ऐसे हैं दयाल, दुख देत में निहाल करैं, करैं लै जे सेवा ताको सकै कौन गाय कै॥॥ ३२० ॥ (३०६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमाधवदासजी अपनी अभंग कीर्ति देख भिक्षा माँगने लगे। एक दिवस एक अति कृपण वृद्धा बाई के घर भिक्षा माँगने गये; वह गृह पोत रही थी। आपने दो बार माँगा, अत्यंत क्रोधकर उसने पोतनेवाला वस्त्र ही फेंक मारा। आपने कृपालुता से विचार किया कि "इसने कुछ वस्त्र दिया तो सही" आपने उस वस्त्र को ले लिया ॥

पद।

"सन्तनि की यह रहनि सदा है। गुन में गुन देखैं, अचरज क्या ? दोषौं में गुन गहनि महा है ॥"

(श्रीकाष्ठजिह्वा स्वामी)

आपने जल में धो, स्वच्छ कर, उस पोतने की बाती बना श्री-जगन्नाथजी के मन्दिर के दीपकों में लगा बार दिया। जब मन्दिर में उन बत्तियों का प्रकाश हुआ, उसी क्षण उस माई के हृदय का भी अज्ञानकृत अन्धकार जाता रहा। दूसरे दिन आप कृपाकर उसके घर फिर भिक्षा माँगने गये। वह देखते ही चरणों पर गिर पड़ी। आपकी कृपा से उसको भक्ति उत्पन्न हुई। अपने धनादिकों से सन्तसेवा कर भवपार होगई ॥

आप ऐसे दयालु थे कि उसने तो मारा दुःख दिया, और आपने उसको कृतकृत्य निहाल कर दिया। दोष में गुण लेना सन्तों ही का काम है। भला ऐसे शुद्ध सन्तों की जो कोई सेवा करै तो उसका फल कौन कह सकता है॥

(३९१) टीका। कवित्त। (४५२)

पण्डित प्रबल दिगबिजै करि आयौ; आय बचन सुनायौ "जू! बिचार मोसों कीजियै।" दई लिखि "हारि;" काशी जाय कै निहारि पत्र, भयौ अति ख्वार, लिखी जीति वाकी, खीजियै॥ फेरि मिलि माधौ जू कौं वैसे ही हरायौ, एक खर कौ मँगायौ कही "चढ़ौ जब धीजियै।" बोल्यौ "जूती बाँधो कान," गयो सुनि न्हान; आन जगन्नाथ जीते, लै चढ़ायौ वाकौ, रीझियै॥ ३२१॥ (३०८)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय एक बड़ा प्रबल पण्डित, चारों दिशाओं में विजय कर, श्रीजगन्नाथपुरी में आया और यहाँ के सब पण्डितों से कहा कि "मुझसे शास्त्रार्थ करो।" पण्डितों ने इसकी प्रबल पाण्डित्य देख कहा कि "तुम श्रीमाधवदासजी को जीत लो तो मानों हम सबको जीति लिया॥"

उसने श्रीमाधवदासजी से जा कहा कि "मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये।" आपने उत्तर दिया कि "हम तुमसे हारे हैं।" पण्डित बोला कि "लिख दो" आपने अपनी हार लिख दी। श्रीकाशी में आ वह पत्र पण्डितों को दिखा, स्वयं देखा सो प्रभु की कृपा से पत्र में लिखा था कि "माधवदासजी जीते, दिग्विजयी पण्डित हारा।" यह देख पण्डित अति क्रोधयुक्त फिर माधवदासजी के पास आके कहने लगा कि "तुमने छल कर अपनी जीत लिख दी थी, अब मुझसे शास्त्रार्थ करो, मैं तुमको हराके दोनों कानों में जूतियाँ बाँध गदहे पर चढ़ा पुरी भर में फिराऊँगा।" श्री-माधवदासजी इसके क्रूर वचन सुन बोले कि "मैं स्नान कर आऊँ तब शास्त्रार्थ करूँ।" ऐसा कहके चले गये। तदनन्तर श्रीजगन्नाथजी माधवदासजी का

रूप धर, पण्डित को हरा, उसके कानों में जूतियाँ बँधा, गधे पर चढ़ा, पुरी भर में फिराने लगे। और आप बहुत से लोगों को संग ले पीछे से ताली थपोड़ी बजा हँसते ठहाका लगाते थे। पश्चात् आके उस मूर्ख पण्डित को श्रीमाधवदासजी ने छोड़वा दिया।

(३६२) टीका । कवित्त । (४५१)

ब्रज ही की लीला सब गावैं, नीलाचल माँझ; मन भई चाह "जाय नैननि निहारियै"। चले वृन्दाबन, मग लग एक गाँव जहाँ बाई भक्त, भोजन कों ल्याई चाव भारियै॥ बैठे ये प्रसाद लेत; लेत दृग भरि, "अहो! कहौ कहा बात दुख हिये की उघारियै?"। "साँवरौ कुँवर यह कौन कौ भुराय ल्याये? माय कैसें जीवै" सुनि मति लैं बिसारियै॥३२२॥(३०७)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीमाधवदासजी वृन्दावन (ब्रज) की ही सब लीला जगन्नाथधाम में गाया करते थे; मन में चाह उत्पन्न हुई कि "नेत्रों से श्रीवृन्दावनजी का दर्शन कर आऊँ" आप वृन्दावन को चल दिये॥

मार्ग के एक ग्राम में एक बाई भगवद्भक्ता थी वह आपका दर्शन कर बड़े प्रेम से घर लाय प्रसाद पवाने लगी; उस बड़भागिनी को श्रीजगन्नाथजी ने दश १० वर्ष का बालक बन आपके समीप ही में दर्शन दिया। वह भक्तिवती दर्शन पा नेत्रों से जल ढारने लगी। माधवदासजी ने कारण पूछा, माई बोली कि "यह साँवला साँवला सा सुन्दर बालक किस का भुलाके (फुसलाके) आप अपने साथ लिवा लाये हैं? इसके वियोग से इसकी मैया कैसे जीवैगी।" सुनकर श्रीमाधवदासजी जान गये कि इसको प्रभु ने दर्शन दिया। इससे आप भी प्रेम में मग्न हो गये॥ श्रीकृपा की जय॥

(३६३) टीका । कवित्त । (४५०)

चले और गाँव, जहाँ महाजन भक्त रहै, गहै मन माँझ, आगे बिनती हूँ करी है। गये वाके घर; वह गयौ काहू और घर; भाय भरी तिया आनि पायन में परी है॥ ऊपर महन्त कही "अजू एक

सन्त आए;" "इहाँ तौ समाई नाहिं;" आई अरबरी है। कीजिये "रसोई;" "जोई सिद्ध सोई ल्यावो;" दूध नीके कै पिवायो; नाम "माधौ" आस भरी है॥ ३२३ ॥ (३०६)

वार्त्तिक तिलक।

आप उस माई के ग्राम से आगे चले। एक दूसरे गाँव में आये; वहाँ एक वैश्य महाजन भक्त था। वह जब प्रथम जगन्नाथपुरी में गया था तो श्रीमाधवदासजी से अपना नाम ग्राम बता प्रार्थना की थी कि "जो श्रीवृन्दावन आइये तो मुझ दर्शन दीजियेगा" उसके घर में गये, वह कहीं गया था; उसकी स्त्री बड़ी भक्तिवती थी, उसने आपके चरणों में प्रणाम किया उसकी अटारी पर एक वैष्णव महंत थे उसने कहा कि "एक और संत आये हैं;" उन्होंने उत्तर दिया कि "यहाँ समाई नहीं है" तब वह भक्ता घबड़ाके आपसे रसोई करने की प्रार्थना करने लगी। आप बोले "जो सिद्ध पदार्थ हो सो ला" वह चीनी मिलाके दूध लाई। आपने प्रभु को अर्पण कर पान किया अपना नाम "जगन्नाथी माधवदास" बताया कि "मेरा आगमन अपने पति से कह देना॥"

(३६४) टीका। कवित्त। (४४६)

गये उठि; पाछे भक्त आयौ, सो सुनायौ नाम; सुनि अभिराम, दौरे संगही महंत है। लिये जाय पाँय लपटाय; सुख पाय मिले; भिले घर माँझ; "तिया धन्य तो सों कंत है"॥ संतपति[1] बोले "मैं अनंत अपराध किये! जिये अब," कही "सेवो सीत मानि जंत[2] है। आवत मिलाप होय, यही राखौ बात गोय;" आये बृन्दाबन जहाँ सदाई बसंत है॥ ३२४ ॥ (३०५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमाधवदासजी उठके चल दिये। पश्चात् कुछ ही काल में बड़भागी आया, और आपका नाम सुन अति प्रेम से दौड़ा; तथा आपका नाम सुन साथ ही वह महंत भी दौड़ा; श्रीमाधवदासजी के

१ "संतपति"=महन्त। २ "जंत"=यत्न, उपाय॥

चरणों में लिपट गये; आप सुखपूर्वक मिले, और लौटके भक्त के घर में आय बोले कि "ऐसी भक्ति-युक्त नारी धन्य तथा उसका प्रियपति तू धन्य है ॥"

उस महंत ने हाथ जोड़ श्रीमाधवदासजी से विनय किया कि "मैंने आपका अमित अपराध किया; सो कैसे छूटै?" आपने आज्ञा दी कि "जब तक जियो तब तक वैष्णवों का सीथप्रसाद सेवन करो; अपराध छूटने का यही यत्न जानो, जब वैष्णव आवैं तब उनसे मिलि दंडवत् प्रणाम कर, सत्कार किया करो; यह मेरी कही वार्ता छुपाके प्रीति से हृदय में धर रक्खो ॥"

फिर श्रीमाधवदासजी वहाँ से चल, जहाँ सदा वसंत ऋतु सरीखा आनन्द रहता है उस श्रीवृन्दावन में आये ॥

(३९५) टीका। कवित्त। (४४८)

देखि देखि बृन्दावन मन में मगन भये, गये श्रीबिहारीजू के चना तहाँ पाये हैं। कहि रह्यो द्वारपाल "नेकु में प्रसाद," लाल यमुना रसाल तट भोग कों लगाये हैं॥ नाना बिधि पाक धरैं, स्वामी आप ध्यान करैं, बोले हरि "भावैं नाहिं वेई लै खवाये हैं"। पूछ्यो, सो जनायौ, ढूँढ़ि ल्यायौ, आगे गायौ सब, "तुम तौ उदास," हाँ, सरस समझाये हैं॥ ३२५ ॥ (३०४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवृन्दावन देख देख आपका मन प्रेमानन्द में मग्न हुआ; फिर "श्रीबाँकेबिहारीजी" के मन्दिर में दर्शन को गये; वहाँ बाहर ही किसी ने चने दिये। द्वारपाल ने कहा "कुछ ही विलंब में आपको प्रसाद भी मिलेगा, थाल गया भोग लग रहा है" आपने विचारा कि "क्षुधा की निवृत्ति तो चनों ही से हो जावेगी ॥"

श्रीयमुनातट रसाल वन में आके श्रीगोपाललाल को अर्पण कर चने पाके बैठे रहे। यहाँ बिहारीजी के आगे नाना प्रकार के व्यंजन धर मंदिर (स्थान) के महंत स्वामीजी ध्यान करने लगे भावना में बिहारीजी बोले कि "हमको तो एक प्रिय भक्त ने चने भोग लगा दिये;

इससे इन सब पदार्थों की क्षुधा ही नहीं है॥" स्वामी ने प्रार्थना कर पूछा कि "उन भक्तजी का क्या नाम है कहाँ हैं?" प्रभु ने बताया, तब लोग दौड़के श्रीमाधवदासजी को ढूँढ़ लाये। आप आये चनों को पाने पवाने का वृत्तान्त कहा। विहारीजी के यहाँ के महंत हँसके कहने लगे कि "आप तो उदासीन विरक्त हैं, चने ही ले के चल दिये। सो जगत् से उदासीन होना तो भला है, परंतु रसिकराज विहारीलाल से और उनके प्रसाद से उदासीन होना उचित नहीं॥"

(३६६) टीका। कवित्त। (४४७)

गये व्रज देखिबे कों; "भांडीर" में "खेम" रहे निसि कौं दुराय खाय क्रिमि लै दिखाये हैं। लीला सुनिबे कों "हरियाने" गाँव रहे जाय गोबर हूँ पाथि पुनि नीलाचल धाये हैं॥ घर हू को आये सुत सुखी सुनि माता बानी, मारग में स्वप्न दै कै बनिक मिलाये हैं। याही बिधि नाना भाँति चरित अपार जानो, जिते कछु जाने तिते गानकै सुनाये हैं॥ ३२६॥ (३०३)

वार्त्तिक तिलक।

किसी और दिन आप वहाँ से व्रज के सब स्थलों को देखने गये; भांडीर वट में आये; वहाँ एक "खेमदास" नामक वैरागी रहता था; वह प्रथम तो आपको अपनी कुटी में रहने ही न देता था, परन्तु आप रहे सो आपको तो उसने कुछ रूखा सूखा सा प्रसाद पवा दिया, और आप रात्रि में छिपके, खीर खाने लगा। श्रीमाधवजी ने उसका कपट जाना इससे दिखा दिया कि वह संपूर्ण खीर के चावल कीड़े होकर रेंगते थे। तब तो वह दीन तथा विकल होकर आपके चरणों में आ गिरा। आपने बहुत प्रकार से सदुपदेश देकर उसको संत-सेवा में प्रवृत्त किया॥

फिर श्रीवृन्दावन से चले "हरियाने" में "गोली" नामक ग्राम में भगवतलीला भागवत कथा बहुत अच्छे प्रकार से होती थी। वहाँ रहके कथा सुनने लगे। आप ऐसे निरभिमान थे कि वहाँ का गोबर

नित्य आपही पाथ दिया करते थे । पीछे लोग आपको जान चरणों में पड़े ॥

पुनः वहीं से श्रीजगन्नाथधाम को चले, मार्ग में आपके गृहस्थाश्रम में निवासवाला ग्राम मिला। आपने विचारा कि "माता को भी देखता चलूँ।" गृह के समीप लोगों से माता और पुत्र का कुशल सुना; किसी ने दौड़के माता से कहा कि तेरा पुत्र आया है ॥

माताजी बोलीं कि "मेरा पुत्र विरक्त हो करके फिर घर आवै, ऐसा कपूत नहीं है।" आप माता के शुभ वचन सुन संकुचित हो शीघ्र ही लौट चले । फिर जिसके यहाँ प्रथम गए थे उस भक्त वैश्य के ग्राम के निकट आये तब उसको स्वप्न देकर बुलाके, मिलकर, श्रीजगन्नाथधाम में चले आये ॥

इसी भाँति श्रीमाधवदासजी के अनेक अपार चरित हैं; मैं जितने चरित जानता था, उतने गाके सुना दिये ॥

---

(८७) श्रीरघुनाथ गुसाईं।

(३९७) छप्पय। (४४६)

(श्री) रघुनाथ गुसाईं गरुड़ ज्यौं, सिंहपौरि ठाढ़े रहैं ॥ सीत लगत सकलात बिदित पुरुषोत्तम दीनी । सौच गये हरि संग कृत्य सेवक की कीनी । जगन्नाथपद प्रीति निरंतर करत खवासी । भगवत्धर्म प्रधान प्रसन्न नीलाचल बासी ॥ उतकल देस उड़ीसा नगर "बैनतेय" सब कोउ कहैं । (श्री) रघुनाथ गुसाईं गरुड़ ज्यौं, सिंहपौरि ठाढ़े रहैं ॥ ७१ ॥ (१४३)

वार्त्तिक तिलक।

जिस प्रकार श्रीभगवत् के अग्रभाग में श्रीगरुड़जी खड़े रहते हैं उसी प्रकार श्रीरघुनाथ गुसाईंजी श्रीजगन्नाथजी के आगे "सिंहपौरि ड्योढ़ी" पर खड़े रहते थे । एक समय आपको रात्रि में अत्यंत जाड़ा

लगने पर स्वयं श्रीपुरुषोत्तमजी ने ओढ़ने को दुलाई दी; यह बात प्रसिद्ध है। और जब रोग से गुसाईंजी को मल गिरने लगा, तब प्रभु ने सेवक की नाईं अंग प्रच्छालन आदि कृत्य किया। श्रीजगन्नाथजी के पदकमल में आपकी अत्यंत प्रीति थी। निरंतर सेवा करते थे। भगवद्धर्म करने करानेवालों में प्रधान प्रसन्नतापूर्वक नीलाचल में वास करते थे॥

बरन् उड़ीसानगर के तथा उत्कल देश के निवासी सब श्रीरघुनाथ गुसाईंजी को "गरुड़जी" ही कहा करते थे॥

(३६८) टीका। कवित्त। (४४५)

अति अनुराग घर संपति सों रह्यौ पागि, ताहू करि त्याग कियौ नीलाचल बास है। धन को पठावै पिता ऐ पै नहीं भावै कछू देखिबो सुहावै महाप्रभुजी कौ पास है॥ मन्दिर के द्वार, रूप सुन्दर निहास्यौ करैं, लग्यौ सीत गात सकलात दई दास है। सौच संग जायबे की रीति कों प्रमान वहै वैसे सब जानौ माधौदास सुखरास है॥ ३२७॥ (३०२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरघुनाथ गुसाईंजी का घर सर्व सम्पत्ति से भरा था; उसको भी त्याग कर अनुरागपूर्वक "नीलाचल" में आपने निवास किया। आपके पिताजी गृह से धन भेजते थे, परन्तु आपको प्रिय नहीं लगता; केवल महाप्रभुजी का दर्शन तथा समीप रहना प्रिय लगता था। श्रीजगन्नाथजी के द्वार पर खड़े सुन्दर रूप को देखा करते थे। एक रात जब शरीर में शीत लगा, तब प्रभु ने अपने दास को दुलाई दी; और रोग से शौच जाने पर प्रभु की सेवा करने की रीति, प्रथम जैसी श्रीसुखराशि माधवदासजी की कथा में लिखी है उसी प्रकार जानिये॥

(३६९) टीका। कवित्त। (४४४)

महाप्रभु कृष्ण चैतन्य जू की आज्ञा पाइ, आये "बृन्दाबन," "राधाकुण्ड" बास कियो है। रहनि, कहनि, रूप चहनि, न कहि

सकै, थकै सुनि; तन भाव रूप करि लियो है॥ मानसी में पायौ दूध भात, सरसात हिये लिये रस नारी देखि बैद कहि दियौ है। कहाँ लौं प्रताप कहौं; आपही समझि लेहु, देहु वही रीझि जासों आगे पाय जियो है॥ ३२८॥ (३०१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजगन्नाथधाम से महाप्रभु कृष्ण चैतन्यजी की आज्ञा पाके, आपने श्रीवृन्दावन आ, श्रीराधाकुण्ड में निवास किया। आपकी रहन-सहन, प्रभु के रूप की चाह कही नहीं जाती; सुन सुनके मति थक जाती है; स्वस्वरूप तथा पर स्वरूप की भावना करते करते इस शरीर और भावना-रूप दोनों ही को एक कर लिया॥

एक समय आपका शरीर सरुज हुआ तब आपने मानसी सेवा में प्रभु को दूध भात भोग लगाया। और श्रीनन्दलालजी का दिया हुआ वही प्रसाद अपने सरस हृदय से ग्रहण किया। उसका रस इस पांचभौतिक शरीर में व्याप्त हो गया। वैद्य ने नाड़ी देखकर सबों से कह दिया कि "इन्होंने तो आज दूध भात पाया है।" हे सज्जनो! मैं इन महानुभाव का प्रताप कहाँ तक कहूँ; आप सब स्वयं समझ लीजिये। जैसा आगे, श्रीरघुनाथ गुसाईंजी भावना कर जिए थे कृपा करके वैसा ही वरदान मुझे भी दीजिये कि जिसको पाके आगे कृतकृत्य होऊँ॥

---

(४००) छप्पय। (४४३)

नित्यानंद कृष्णचैतन्य की, भक्ति दसौंदिसि[1] बिस्तरी॥ "गौड़ देस" पाखंड मेटि कियो भजन परायन। करुणा-सिंधु कृतज्ञ भये अगनित गति दायन॥ दसधा[2] रस आक्रांति, महतजन चरण उपासे। नाम लेतनिहपाप दुरित तिहि नरके नासे॥ अवतार बिदित पूरब मही,

१ "दसौं दिसि"=चारों कोन और नीचे ऊपर सहित दश दिशा। २ "दसधा"=नवधा भक्ति तथा प्रेमाभक्ति।

उभै महत देही धरी। नित्यानन्द कृष्णचैतन्य की, भक्ति दसोंदिसि बिस्तरी ॥ ७२ ॥ (१४२)

वार्त्तिक तिलक।

"श्रीनित्यानंदजी" की, तथा "श्रीकृष्णचैतन्य" महाप्रभुजी की भक्ति दशों दिशाओं में विस्तार हुई। गौड़ (बंगाल) देश का पाखंड मिटा के, जीवों को आपने भगवद्भजन में परायण किया। दोनों महात्मा करुणासिंधु, अति कृतज्ञ ने अगिनित जीवों को गति दी ॥

आपका हृदय दशधा, नाम प्रेमाभक्ति से सदा पूर्ण रहा करता था। आपके चरणों की उपासना बड़े बड़े महात्मा लोगों ने की। जो कोई आपका नाम जपते हैं उनके दुरित पाप नाश हो जाते हैं, निष्पाप हो जाते हैं। पूर्व देश की भूमि में श्रीबलदेवजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अपने अंशों से दोनों महंतों की देह धरकर अवतार लिया; यह बात विख्यात ही है ॥

(१) श्रीकृष्णचैतन्यजी। (२) श्रीनित्यानन्द प्रभुजी।

(४०१) टीका। कवित्त। (४४२)

आप बलदेव सदाबारुणी सों मत्त रहैं, चहैं मन मानौं प्रेम मत्तताई चाखियै। सोई नित्यानन्द प्रभु महँत की देह धरी, भरी सब आनि तऊ पुनि अभिलाखियै ॥ भयो बोझ भारी, कि हूँ जात न सँभारी, तब ठौर ठौर पारषद माँझि धरि राखियै। कहत कहत और सुनत सुनत जाके, भये मतवारे; बहु ग्रंथ ताकी साखियै ॥ ३२९ ॥ (३००)

---

(८८) श्रीनित्यानंद प्रभुजू।

वार्त्तिक तिलक।

प्रथम द्वापर अवतार में आप श्रीबलदेवजी श्रीकृष्ण भगवान् के बड़े भाई (दाऊजी) वारुणी पानकर मत्त रहते थे, फिर आपने मन में चाह किया कि "अब मैं प्रेम की मत्तता भी चाखूँ;" इसी हेतु से आपने "श्रीनित्यानन्द" महंतजी का शरीर धारण किया। और

सम्पूर्ण प्रेममत्तता लेकर अपने हृदय में भर लिया; तथापि और प्रेमाभिलाषा बनी ही रही। आपको उस मादकता का ऐसा भारी बोझा हुआ कि किसी प्रकार सँभाला नहीं जाता, तब कृपा करके ठौर ठौर अपने शिष्य पार्षदों को थोड़ा थोड़ा दे दिया, जिस प्रेम-माधुरी के कहते कहते तथा सुनते सुनते कितने अनुरागी मतवारे हुए। उनके चरित्रों के, और प्रेम वाग्विलास के बहुत से ग्रंथ साक्षी है॥

(८६) श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजू।

(४०२) टीका। कवित्त। (४४१)

गोपिन के अनुराग आगै, आप हारे श्याम, जान्यो यह लाल रंग कैसे आवै तन मैं। येतौ सब गौर तनी नख सिख बनी ठनी, खुल्यौ यों सुरंग अंग अंग रँगे बन मैं॥ श्यामताई माँझ सो ललाई हूँ समाई जोही, तातें मेरे जान फिरि आई यहै मन मैं। "जसुमति सुत" सोई "शची सुत" गौर भये, नये नये नेह चोज नाचै निज गन मैं॥ ३३०॥ (२६६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगोपीगणों के अपार प्रेम के आगे श्यामसुन्दर श्रीकृष्णजी हार गये, तब विचार किया कि "इस प्रेम का लालरंग मेरे तनु में किस प्रकार आवे, ये गोपिका वृन्द गौर तनु युक्त नख शिख शृंगार से ललझर बनी ठनी हैं।" उनके तब शोभायुक्त सुरंग अंगों का संग वन में करने से आपकी झलाझल श्यामताई में, गोपिकाओं के अंग की ललाई समा गई; अपने को गौर देखा। इसलिये मुझे जान पड़ता है कि आपके मन में यह बात आई कि "अब मैं गौरांग शरीर धारण करूँ।" सोई श्रीयशोदानंदन कन्हैया अब गौरांग शचीनंदन "श्रीकृष्णचैतन्य" जी हुए। और जैसे प्रथम गोपियों के संग रास में नाचते थे, वैसे ही फिर अब अपने अनुरागियों के बीच में स्नेह के चुटीले पद गान कर नाचते थे, प्रेम की जय!!

(४०३) टीका । कवित्त । (४४०)

आवै कभूँ प्रेम हेमपिंडवत तन होत, कभूँ संधि संधि छूटि अंग बढ़ि जात है। और एक न्यारी रीति आँसू पिचकारी मानों, उभै लाल प्यारी भावसागर समात है ॥ ईशता बखान "करौ सो प्रमान याकों काह ? 'जगन्नाथक्षेत्र नेत्र निरखि साक्षात है'। चतुर्भुज षट-भुज रूप लै दिखाय दियो, दियो जो अनूप हित बात पात पात है ॥ ३३१ ॥ (२६८)

वार्त्तिक तिलक ।

आपको जब कभी प्रेमावेश होता था तब गौर शरीर तप्त सुवर्ण के पिंड की नाईं लाल होजाता था, और कभी प्रेम से संधि संधि छूट अंग अंग फूलि उठते थे। आपकी एक रीति और लोक से न्यारी थी, कि प्रेम के आँसू इस प्रकार चलते थे मानों श्रीलालजी की तथा प्यारीजी की युगल पिचकारी छूटती हैं। इस प्रकार प्रेमभाव के समुद्र में आप डूबे रहते थे ॥

जो कहिये कि मूल, टीका के कवित्तों में आपकी ईशता का बखान किया है सो इसका प्रमाण करो तो जगन्नाथक्षेत्र में सबने नेत्रों से साक्षात् देखा है कि एक समय प्रेमनृत्य करते करते चतुर्भुज होकर आपने दर्शन दिया। तब लोगों ने कहा कि चतुर्भुज हो जाना तो इस क्षेत्र का प्रभाव ही है तदनन्तर आपने षट्भुज होकर दर्शन दिया। आपने जो हितोपदेश जीवों को दिया सो वार्त्ता पत्र में लिखी है अद्यापि वहाँ आपके षट्भुज मूर्त्ति का दर्शन होता है ॥

(४०४) टीका । कवित्त । (४३९)

कृष्णचैतन्य नाम जगत प्रगट भयो, अति अभिराम लै महन्त देही करी है। जितौ गौड़ देश, भक्ति लेसहूँ न जानै कोऊ, सोऊ प्रेमसागर में बोर्यो कहि "हरी" है ॥ भए सिरमौर एक एक जग तारिबे कों धारिबे कों कौन साखि पोथिन मैं धरी है। कोटि कोटि अजामील वारि डारै दुष्टता पै, ऐसे हूँ मगन किये, भक्ति भूमि भरी है ॥ ३३२ ॥ (२६७)

वार्त्तिक तिलक।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अति अभिराम महन्त की देह धारण कर "श्रीकृष्ण चैतन्य" नाम से जगत् में प्रगट हुए। जितना गौड़ बंगाल देश था उसमें कोई लेश मात्र भक्ति न जानता था; वहाँ के लोगों को "हरि हरि" नाम जपना उपदेश कर प्रेमसागर में डुबा दिया॥

सो० "सकल तत्त्व कौ सार, अकथ अनूपम, रामहित। ❀
"प्रेम" अतर्क अपार, बरनि सकै सो कौन अस?"

आपके शिष्य प्रशिष्यादि अनेक शिरमौर हुए, कि एक एक महानुभाव ने जगत् के अनेक लोगों को तार दिया। उनकी साक्षी पुस्तकों में लिखी धरी हैं। जिनकी दुष्टता पै कोटिन अजामील सरीखे पापियों को न्योछावर कर दीजिये, वैसे दुष्टों को भी प्रेम में मग्न कर भक्ति भूमि भर में भर दिया॥

(९०) श्रीसूरजी †।

(४०५) छप्पय (४३८)

"सूर" कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करै॥ उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति, अति भारी। बचन प्रीति निर्बाह, अर्थ अद्भुत तुक धारी॥ प्रतिबिंबित दिबि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी। जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥ बिमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुन श्रवननि धरै। "सूर" कबित सुनि कौन कबि, जो नहिं सिर चालन करै॥ ७३॥ (१४१)

वार्त्तिक तिलक।

ऐसा कौन कवि है? कि जो श्रीसूरदासजी का कवित्त सुनकर

❀ भक्तमाली पण्डित उपाध्याय श्रीरामहित शर्म्मा, रामपूर, नगरा, सारन छपरा।
† श्रीसूरदासजी यही हैं। बहुत से लोग भ्रम से बिल्वमंगलजी (छप्पय ४६) को श्रीसूरदास समझते हैं॥

प्रशंसापूर्वक अपना सीस न हिलावें। उनकी कविता में बड़ी भारी नवीन युक्तियाँ, चोज, चातुर्य, बड़े अनूठे अनुप्रास, और वर्णों की यथार्थ बड़ी भारी स्थिति है। कवित्त के आदि में जिस प्रकार का वचन तथा प्रेम उठाया उसका अंत तक निर्वाह किया। और कविता के तुकों में अद्भुत अर्थ धरा है। आपके हृदय में प्रभु ने दिव्य दृष्टि दी, जिसमें सम्पूर्ण श्रीहरिलीला का प्रतिबिम्ब भासित हुआ। सो प्रभु का जन्म तथा कर्म और गुण, रूप सब दिव्य दृष्टि से देखकर अपनी रसना, (जीभ) वचन से प्रकाशित किया ॥

जो और कोई जन श्री ५ सर कथित भगवद्गुण गण अपने श्रवण में धारण करै तौ उसकी भी बुद्धि विमल गुण युक्त होजाय। कहते हैं कि आपने सवालाख भजन (पद) का अपने मन में संकल्प किया था, पर लाख ही बना के शरीर त्यागा; श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं पच्चीस सहस्र कहके उस ग्रंथ को और अपने भक्त की वासना को पूरा कर दिया❀ ॥

श्रीसूरदासजी की दिव्यदृष्टि की परीक्षा भी राजसभा में हुई थी ॥

दो० "किधौं सूर कौ शर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद सुन्यौ, यों सिर धुनत अधीर ॥"

"सूर सूर † तुलसी शशी, उडुगन केशवदास।
अब के कबि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश ॥"

❀ जो पच्चीस सहस्र भजन श्रीकृष्ण भगवान् ने कृपा करके रचा है उन भजनों में सूरश्याम की छाप दिया है। कृपा की जय। † सूर्य्य ॥

श्रीसूरजी ने अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, तीनों के समय देखे थे। आपका समय प्रायः संवत् १६१७ से १६६० तक के लगभग कहा जाता है ॥

("ललिता! तोहिं बूझत शाहजहाँ। ऊधव! तजि श्याम, तुम आए कहाँ?")

("बाल्मीकि तुलसी भये, ऊधव सूर शरीर")

(अकबर बादशाह संवत् १६६२ तक, जहाँगीर १६८४ तक, और १६८४ से शाहजहाँ था।) जैसा कि गोस्वामी श्री १०८ तुलसीदासजी ने भी कई बादशाहों के समय देखे थे; यह बात प्रसिद्ध ही है कि आपका समय १५८३ से १६८० तक रहा ॥

दो० "पढ्यौ गुरू सन बीच शर ५, सन्त बीच गन ४० जान।
गौरी शिव हनुमत कृपा, तब मैं रचौ चिरान ॥ १ ॥"

श्रीरामचरित मानस ॥ श्रीतुलसीदासजी ॥

(९१) श्रीपरमानन्दजी।

(४०६) छप्पय। (४३७)

ब्रजबधू रीति कलियुग बिषैं "परमानंद" भयौ प्रेमकेत॥ पौगंड बाल, कैशोर, गोपलीला सबगाई। अचरज कहा यह बात हुतौ पहिलौ जु सखाई॥ नैननि नीर प्रवाह, रहत रोमांच रैन दिन। गदगद गिरा उदार श्याम शोभा भीज्यौ तन॥ "सारंग" छाप ताकी भई, श्रवण सुनत आवेस देत। ब्रजबधू रीति कलियुग बिषैं "परमानंद" भयौ प्रेमकेत॥ ७४॥ (१४०)

वार्त्तिक तिलक।

द्वापर में जिस प्रकार गोपी जनों की रीति थी, उसी प्रकार कलियुग बिषे श्रीपरमानन्दजी प्रेम के स्थान हुए। श्रीकृष्णचन्द्र के जन्म से पाँच वर्ष तक की बाल लीला, तथा १० वर्ष तक की पौगंड लीला, और दश से सोरह वर्ष के भीतर की कैशोर लीला, ये सब गोप्य चरित्र गान किये। सो इस वार्ता का क्या आश्चर्य है, क्योंकि ये श्रीनन्दनन्दन के प्रथम के सखा ही तो हैं। आपके नेत्रों से प्रेमवारि का प्रवाह, तथा शरीर में रोमांच, राति दिन बना रहता था। और आपकी उदार वाणी सदा गद्गद रहती थी। श्री-श्यामसुन्दर की शोभा से तन मन भीगा रहता था। आपने अपनी कविता में "सारँग" छाप दिया है। आपकी कविता सुनते मात्र में प्रेमावेश देती है॥

---

(९२) श्रीकेशव भट्टजी।

(४०७) छप्पय। (४३६)

"केशौभट" नरमुकुटमणि, जिन की प्रभुता बिस्तरी॥ "कास्मीरि" की छाप; पाप तापनि जग मंडन। दृढ़ हरिभक्ति कुठार, आन धर्म बिटप बिह-

डन ॥ मथुरा मध्य मलेच्छ, बाद करि, बरबट * जीते। काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते ॥ बिदित बात संसार सब सन्त साखि नाहिन दुरी। "केशौभट" नरमुकुटमणि, जिन की प्रभुता बिस्तरी ॥ ७५ ॥ (१३६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकेशव भट्टजी सब नरों के मुकुटमणि हुए, कि जिनकी प्रभुता जगत् में विस्तार हुई। आपकी "काश्मीरी" की छाप थी; आप पापों के ताप देनेवाले जगत् को शोभित करनेवाले हुए। भगवद्धर्म से विरुद्ध अन्य धर्म रूपी वृक्षों के काटने को आपने हरि-भक्ति रूपी दृढ़ कुठार धारण कर, उनको निर्मूल किया। मथुराजी के मध्य में म्लेच्छ यवनों से विवादकर उन बरबटों को हराकर विश्रान्त घाट के श्रेष्ठ मार्ग को जीत लिया ॥

अनेक दुष्ट "काज़ी" चेटकी जिन्हें किसी ने न जीते थे, वे आप का परचौ प्रभाव देख अति भय युक्त हुए; यह सब वार्ता संसार में विदित है। छिपी नहीं है। सब संत साक्षी हैं कि विश्रान्त घाट के मार्ग का विघ्न "श्रीकेशवभट्ट काश्मीरी" जी ने नाश किया ॥

(४०८) टीका। कवित्त। (४३५)

करि दिगबिजै, सब पंडित हराय दिये, लिये बड़े बड़े जीति, भीति उपजाई है। फिरत चौडोल चढ़े, गज बाजि लोग संग, प्रतिभा कौ रंग, आए "नदिया" प्रभाई है ॥ डरे द्विज भारी, महाप्रभू जू बिचारी तब, लीला बिस्तारी, गंगा तीर सुख दाई है। बैठे ढिग आय, बोले, नम्रता जनाय, "रह्यो जग जसु छाय, नेकु सुनै मन भाई है" ॥ ३३३ ॥ (२६६)

* "बरबट"=पाखण्डी, मिथ्या मार्गवाले ॥

वार्त्तिक तिलक।

प्रथम अवस्था में श्रीकेशवभट्टजी ने दिग्विजय कर, सब पंडितों को हराय, बड़े बड़े विद्याबुद्धियुक्तों को जीतकर, भय उत्पन्न किया। चौडोल नामक पालकी पर चढ़े, बहुत से घोड़े हाथी मनुष्यों को संग लिये, प्रतिभा बुद्धि के रंग में रँगे, फिरते फिरते नदिया (नवद्वीप) शांतीपुर आये; वहाँ के ब्राह्मण बड़े बड़े पंडित नैयायिक श्रीकेशव-भट्टजी का प्रभाव देखकर डर गये। तब महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी ने विचारकर, सुखदाई लीला विस्तार कर, श्रीगंगातीर जहाँ केशवभट्ट बैठे थे वहाँ आ, पास में बैठ, प्रणाम कर नम्रतापूर्वक बोले कि "आपका यश जगत् में छा रहा है, सो मेरे मन में इच्छा है कि आपकी कुछ शास्त्रसंबंधी वार्ता श्रवण करूँ॥"

(४०६) टीका। कवित्त। (४३४)

"लरिकान संग पढ़ौ, बातैं बड़ी बड़ी गढ़ौ, ऐ पै रढ़ौ कहौं सोई, सीलता पै रीझियै"। "गंगा कौ सरूप कहौ;" "चाहौ दृग आगे सोई," नये सौ श्लोक किये, सुनि मति भीजियै॥ तामैं, एक कंठकरि, पढ़िकै सुनायौ "अहो बड़ो अभिलाष, याकी व्याख्या करि दीजियै"। "अचरज भारी भयौ कैसे तुम सीखि लयो?" "दयौ लै प्रभाव तुम्हें, ताने दयौ जीजियै" ॥३३४॥ (२६५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकृष्णचैतन्यजी का वचन सुन केशवभट्टजी बोले कि "बालकों के संग तो पढ़ते हो, परन्तु बातें बड़ी बड़ी गढ़ते हो; अस्तु जो कहो सो हम कहें, क्योंकि तुम्हारी शीलता पर हम प्रसन्न हैं।" आप बोले कि "श्रीगंगाजी का स्वरूप कहिये।" केशवभट्ट बोले कि "जो नेत्रों से देखते हो सोई गंगाजी का स्वरूप है।" महाप्रभु ने कहा "नये श्लोक बनाइये॥"

तब भट्टजी ने १०० श्लोक बनाके सुनाये। महाप्रभुजी ने सुन, प्रसन्न हो, उसमें का एक श्लोक सुनाकर कहा कि "इसका अर्थ कहिये, मुझे सुनने की बड़ी अभिलाषा है।" भट्टजी ने आश्चर्ययुक्त

हो पूछा कि तुमने कैसे सीख लिया ?" श्रीमहाप्रभुजी ने उत्तर दिया कि "जिसने आपको बनाने का प्रभाव दिया उसी ने हमको सिखा दिया ॥"

(४१०) टीका । कवित्त । (४३३)

"दूषन औ भूषन हूँ कीजियै बखान याके," सुनि दुख मानि, कही "दोष कहाँ पाइयै ।" "कविता प्रबंध मध्य रहै खोटि गंध अहो! आज्ञा मोको देउ," कह्यो "कहि कै सुनाइयै" ॥ व्याख्या करि दई नई, औगुन सुगुन मई; आये निज धाम "भोर मिल" समुझाइयै। सरस्वती ध्यान कियौ, आई ततकाल बाल, "बाल पै हरायो, सब जग जितवाइयै" ॥ ३३५ ॥ (२६४)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि "इसके अर्थ, दूषण और भूषण सब कहिये।" दूषण शब्द सुन भट्टजी दुःखयुक्त हो कहने लगे कि "मेरी कविता में दूषण कहाँ ?" श्रीमहाप्रभुजी ने कहा "कविताप्रबंध में दोषों की गंधि अवश्य रहती है, मुझको आज्ञा दीजै तो कह सुनाऊँ।" भट्टजी बोले कि "कहो ।" तब श्रीमहाप्रभुजी ने नवीन चमत्कार युक्त अर्थ, और भूषण तथा दूषण भी सब सुना दिये । भट्टजी ने कहा कि "अच्छा प्रातःकाल हम तुमको समझावेंगे," ऐसा कह, आसन पर आ, एकांत में श्रीसरस्वतीजी का ध्यान किया । श्रीसरस्वतीजी आई; भट्टजी बोले "हे देवि ! सम्पूर्ण जगत् से जितवाके, इस बालक से मुझे हरवा दिया ?"

(४११) टीका । कवित्त । (४३२)

बोली सरस्वती "मेरे ईश भगवान् वे तौ मान मेरौ कितौ सन्मुख बतराइयै। भयौ दरसन तुम्हैं" मन परसन होत, सुनि सुख सोत बानी आये प्रभु पाइयै ॥ बिनै बहु करी, करि कृपा आप बोले अजू! "भक्ति फल लीजै, काहू भूलि न हराइयै" । हिये धरि लई, भीर भार छोड़ि दई; पुनि नई यह भई, सुनि दुष्ट मरवाइयै* ॥ ३३६ ॥ (२६३)

* श्रीकेशवभट्ट के अनुयायियों ने कवित्त ८३३ से ८३६ तक के चार कवित्त निकाल दिये हैं ॥

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसरस्वतीजी बोलीं कि "वे बालक नहीं हैं, ईश्वर भगवत् के अवतार हैं। मेरा प्रभाव ऐसा नहीं है कि उनके सम्मुख वार्ता करूँ। जिस प्रभु को मन वाणी स्पर्श नहीं कर सकते, उनका दर्शन तुमको हुआ।" भट्टजी ने सरस्वतीजी की ऐसी सुखमय वाणी सुन, महाप्रभुजी के समीप आ, सप्रेम प्रार्थना की; श्रीमहाप्रभुजी कृपा कर कहने लगे "आप आज से भूल के भी किसी को न हराइये। श्रीकृष्णभक्ति मनुष्यतन का फल है, सो लीजिये।" यह वार्ता सुनते ही भट्टजी हृदय में धारण कर सब भीड़भाड़ छोड़ केवल भक्ति में आरूढ़ हुए॥

पुनः कालांतर में दुष्टों ने मथुरा में नवीन दुष्टता उठाई, तब आपने उन दुष्टों को नाश किया॥

(४१२) टीका । कवित्त । (४३१)

आपु काश्मीर सुनी बसत बिश्रांत तीर तुरत समूह द्वार जंत्र इक धारियै। सहज सुभाय कोऊ निकसत आय, ताको पकरत जाय ताकें 'सुन्नत' निहारियै॥ संग लै हजार शिष्य भरे भक्तिरंगमहा अरे वही ठौर बोले नीच पट टारियै। क्रोधभरि भारे आय, 'सूबा' पै पुकारे, वे तौ देखि सबै हारे, मारे जल बोरि डारियै॥ ३३२॥ (२६२)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीकेशवभट्टजी भगवद्भक्ति में निरत "काश्मीर"❀ में विराजते थे॥

वहाँ ही सुना कि "श्रीमथुरा विश्रान्तघाट के मुख्य मार्ग के बड़े द्वार पर बहुत से दुष्ट तुर्क लोगों और क़ाज़ियों ने एक ऐसा यंत्र बाँधा है कि जो कोई आर्य (हिन्दू) उसके नीचे से निकलता है उसकी 'सुन्नत' हो जाती है (अर्थात् अधो इन्द्री की त्वचा कट जाती है), तब उसको बहुत से यवन पकड़ वस्त्र छोड़, दिखाके कहते हैं कि देखो तुम तो 'मुसल्मान' हो; और उसको बलात्कार अपनी जाति में मिला लेते हैं"। तब एक सहस्र शिष्य संग में लिये, श्रीभक्ति के रंग

❀ किसी के मत से "कश्मीर" शब्द 'कश्यप' पमेरू से है॥

में भरे अनुष्ठानादिक से श्रीसुदर्शनचक्रजी का प्रभाव उस सिद्ध किये, आकर उसी "विश्रांतघाट" के मार्ग में बरबटों के यंत्र का प्रभाव नष्ट कर, उसी के नीचे से निकले। देखकर बहुत से यवन दौड़कर कहने लगे कि "देखिये! अपना वस्त्र उघारकर आप मुसल्मान हैं।" श्रीभट्टजी ने शिष्यों को आज्ञा देकर सब दुष्टों को ताड़ना कराया। भागकर सब दुष्ट, जो उनका सहायक सूबा * था, उससे कहा; उसने बहुत सी सेना (फ़ौज) दी। भट्टजी ने श्रीसुदर्शन-चक्रजी को स्मरण किया, उसी क्षण सबकी देह में आग लग गई, और शिष्य लोगों ने भी दुष्टों को युद्ध कर मारा। बहुतों को श्रीयमुना-जी में डुबा दिया। तब बचे हुए 'क़ाज़ी और सूबा' चरणों पर पड़े, त्राहि त्राहि पुकार किया॥

आपने दुष्टता न करने की शपथ कराकर सबको छोड़ दिया॥ उनका यन्त्र मन्त्र आदिक सब तोड़ फोड़ जल में डुबाकर तब जिनको 'मुसलमान' बना लिया था, उन सबों को अपने प्रभाव से हिन्दू का चिह्न लौटाके, भगवन्नाम स्मरण करने का उपदेश दिया। इस भाँति मथुराजी में निष्कण्टक भगवद्भक्ति का प्रचार किया॥

---

(९३) श्रीभट्टजी।

(४१३) छप्पय। (४३०)

श्रीभट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन॥ मधुर भाव संमिलित ललित लीला सु बलित छबि। निरखत हरखत हृदै प्रेम बरसत सु कलित कबि॥ भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित। जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित॥ आनन्दकन्द श्रीनन्द सुत श्रीवृषभानुसुता भजन। श्रीभट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन॥७६॥ (१३८)

---

* "सूबा" صوبہ=एक सूबे का शासक॥

वार्त्तिक तिलक।

श्री "भट्ट" जी (संसार शत्रु को पराजय करने में बड़े सुभट) ने, रसिकों के मन में आनन्द देने के लिये अपने ग्रंथों के द्वारा मेघ के समान अघटित भक्तिरस को प्रगट कर वर्षा किया। ऐसी काव्य-रचना की कि सुन्दर मधुर भाव से मिलित युगल छवि से सुवलित (सुवेष्टित) ललित लीला उसमें वर्णित है। जिस जिसको बुद्धि के नेत्रों से देख सुकलित (सुयुक्त) कविजन हर्षित हृदय से प्रेम बरसते हैं। आप अपने सदुपदेश तथा ग्रंथ से भव निस्तार के लिये सबों को नित्य दृढ़ भक्ति देते हैं; जिन श्रीभट्टजी के सुयशरूपी चन्द्रमा ने उदित होकर सुजनों के चित्त का अति अंधकार तथा श्रम भ्रम हर लिया। आप आनन्दकन्द श्रीनन्दनन्दन और श्रीमती वृषभानुनन्दिनीजी के भजन में तत्पर थे, और वही उपदेश आपने सबको दिया॥

---

(९४) श्रीहरिव्यासजी।

(४१४) छप्पय। (४२६)

हरिव्यास तेज हरिभजन बल, देवी को दीक्षा दई॥ खेचर नर की शिष्य, निपट अचरज यह आवैं। बिदित बात संसार संतमुख कीरति गावैं॥ बैरागिन के बृन्द रहत सँग श्याम सनेही। ज्यों जोगेश्वर मध्य मनो सोभित बैदेही॥ श्रीभट्ट चरण रज परसतें सकल सृष्टि जाकों नई। हरिव्यास तेज हरिभजनबल, देवी को दीक्षा दई॥ ७७॥ (१३७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिव्यासजी ने अपने हरिभजन के तेज बल से देवी को दीक्षा

दिया। आकाश में चलने वाली देवी मनुष्य की शिष्य हुई यह अति आश्चर्य की बात है, परन्तु यह बात सब संसार में विदित है, और सत्य वक्ता सन्तजन श्रीहरिव्यासजी की कीर्त्ति गान करते हैं। आपकी चेली वैष्णवी देवी भी विद्यमान है। आपके साथ में वैराग्य-युक्त तथा श्याम-सुन्दरजी के स्नेही संतों के वृन्द सदा रहते थे॥

वे संत नव योगेश्वरों के सरीखे होते थे। उनके मध्य में आप मानों "वैदेही" अर्थात् श्रीविदेहराज विराजमान होते थे। श्रीगुरु (श्रीभट्टजी) के चरण के रजस्पर्श करने से श्रीहरिव्यासजी को सम्पूर्ण सृष्टि के लोगों ने नमस्कार किया॥

(४१५) टीका। कवित्त। (४२८)

चटथावल गाँव बाग देखि, अनुराग भयौ, लयो नित्त नेम करि चाहैं पाक कीजियै। देबी कौ स्थान, काहू बकरा लै मार्‍यो आनि, देखत गलानि "इहाँ पानी नहिं पीजियै"॥ भूख निसि भई, भक्ति तेज मिड़ गई, नई देह धरि लई आय, लखि मति भीजियै। "करौ जू रसोई" "कौन करै, कछु औरै भोई;" "सोई मोंकों दीजै दान शिष्य करि लीजियै"॥ ३३८॥ (२६१)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "हरिव्यासजी" सन्तों को साथ लिये विचरते "चटथावल" नाम ग्राम में आए; एक उत्तम वाटिका देख आपका चित्त प्रसन्न हुआ, वहाँ उतरके जप पूजन आदिक नित्यनेम कर, सामग्री सँवार, आपने रसोई करने का विचार किया। इतने में उसी वाटिका में देवी के स्थान पर किसी ने बकरा मारके देवी को चढ़ाया। यह दुराचार देखकर दयालु सन्तों को अति ग्लानि हुई। निश्चय किया कि "यहाँ प्रसाद की तो बात क्या, जल तक भी नहीं पीना चाहिये॥"

सब संतों के साथ श्रीहरिव्यासजी भूखे ही रह गये। रात्रि हो गई श्रीहरिभक्तों के अनुताप तेज से देवी पिस गई। तब नवीन देह

धारण कर, आय, संतों को देख देवी अति अनुरागयुक्त नम्र हो बोली कि "अजी संतो! आप लोग भूखे क्यों पड़े हो? रसोई कीजिये।" आपने उत्तर दिया कि "इस देवी और देवी के भक्तों की हिंसा देख मन में अति ग्लानि व्याप्त हो गई है। अब रसोई कौन करे।" उसने विनय किया कि "वह देवी मैं ही हूँ; मुझे यह दान दीजिये कि मुझे शिष्य कर, रसोई करके, भगवत् का भोग लगा प्रसाद पाइये पवाइये॥"

(४१६) टीका। कवित्त। (४२७)

करी देवी शिष्य, सुनि, नगर को सटकी, यों पटकी लै खाट जाकी बड़ौ सरदार है। चढ़ी मुख बोलै "हौं तो भई हरिब्यास दासी, जौ न दास होहु तौ पै अभी डारौं मार है"॥ आये सब भृत्य भये मानौं नये तन लये, गये दुख पाप ताप, किये भव पार है। कोऊ दिन रहे, नाना भोग सुख लहे; एक श्रद्धा कै स्वपच आयौ पायौ भक्ति-सार है॥ ३३९॥ (२९०)

वार्त्तिक तिलक।

आपने देवीजी की प्रार्थना सुन उनको शिष्य किया। देवी भगवतमंत्र सुन नगर को दौड़ी, आके जो उस नगर का मुखिया था, उसको खाट समेत उठा, भूमि पर पटक, छाती पर चढ़के कहने लगी कि "मैं तो श्रीहरिव्यासजी की शिष्य दासी हुई, तुमलोग भी जो उनके शिष्य दास न होगे तो अभी सबको मार डालूँगी।" देवी की आज्ञा सुनके सबके सब आके श्रीहरिव्यासजी के शिष्य हुए; मंत्र, माला, तिलक, मुद्रा ग्रहण कर मानों सबको नवीन शरीर प्राप्त हुए। सबों के दुःख, पाप, ताप छूट गये। भगवद्भजन कर संसार से पार हुए। श्रीहरिव्यासजी वहाँ कुछ दिन रहे नाना प्रकार के सत्कार भोग सुख प्राप्त हुए॥

पश्चात् आपके समीप एक श्वपच (भंगी) बड़ी श्रद्धा से आय त्राहि त्राहि कर साष्टांग भूमि पर गिर पड़ा; आपने उसको भी सब भक्तियों का सार श्रीभगवन्नाम उपदेश दिया। वह सप्रेम रटकर भवपार हुआ॥

(६५) श्रीदिवाकरजी।

(४१७) छप्पय। (४२६)

अज्ञान ध्वांत अंतहिं करन, दुतिय दिवाकर अवतस्यौ॥ उपदेशे नृपसिंह, रहत नित अज्ञाकारी। पक्क वृत्त ज्यों नाय संत पोषक उपकारी॥ बानी "भोलाराम" सुहृद सबहिन पर छाया। भक्तचरणरज जाँचि, बिशद राघौ गुण गाया॥ "करमचन्द" "कस्यप" सदन बहुरि आय, मनो बपु धस्यौ। अज्ञान ध्वांत अंतहिं करन, दुतिय दिवाकर अवतस्यौ॥ ७८॥ (१३६)

वार्त्तिक तिलक।

अपने शिष्य वर्गों के हृदय के अज्ञानरूपी अंधकार को अंत (नाश) करने के लिये श्री "दिवाकर" भक्तजी ने मानों दूसरे दिवाकर (सूर्य) का अवतार लिया। आप श्री १०८ अग्रदेव स्वामीजी के शिष्य थे॥

सो बड़े बड़े राजसिंहों को उपदेश दिया, वे सब आपके आज्ञाकारी रहते थे। जैसे आम्र आदिक वृत्त सफल पक्क के नव जाते हैं, उसी प्रकार आप अपने फलसम्पत्तियुक्त नमित होकर संतों के उपकारी पोषक हुए। आप "भोलाराम भोलाराम" इस वचन के सहारे से वाणी बोलते थे। (अथवा भोलाराम वणिक् आपके सुहृद 'मित्र' थे)। आप सब जीवों पर कृपारूपी छाया करते थे; और आपने जीवनपर्यन्त श्रीरामभक्तों के चरणों की रज ग्रहणकर, श्रीरघुनन्दनजी के चरणों का विशद गुणगण-गान किया। आपके पिता श्री "कर्मचन्द" जी, श्री "कश्यप" जी के समान थे; उनके गृह में फिर मानों शरीर धारण कर श्रीदिवाकर (सूर्यदेव) जी ने अवतार लिया॥

(६६) श्रीबिट्ठलनाथ गुसाईं।

(४१८) छप्पय। (४२५)

"बिट्ठलनाथ" ब्रजराज ज्यों, लाल लड़ाय कै सुख लियौ॥ राग भोग नित बिबिधिरहत परिचर्या ततपर। सज्या भूषन बसन रचित रचना अपने कर॥ वह गोकुल वह नंदसदन दीच्छित को सो है। प्रगट बिभौ जहाँ घोस * देखि सुरपति मन मोहै॥ "बल्लभ" सुत बल भजन के, कलियुग मैं द्वापर कियौ। "बिट्ठलनाथ" ब्रजराज ज्यों, लाल लड़ाय कै सुख लियौ॥ ७६॥ (१३५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवल्लभाचार्यजी के पुत्र श्रीबिट्ठलनाथजी ने, मानसी भावना तथा अर्चा विग्रह और अपने पुत्रों † ही में श्रीकृष्णभाव मान के, ब्रजराज श्रीनन्दराय की नाईं, मधुर प्यार लाड़ लड़ाय कर बात्सल्य-सुख को लिया। नित्यही विविध प्रकार के भोग राग, शय्या, भूषण, वस्त्र आदिक सब अपने हाथों से रचना कर श्रीगोपाललाल को

*"घोष"=आभीर पल्ली, अहीरों का पुरवा, गोपग्राम॥

† सातों बेटों की सात गादियाँ गोकुल में बड़ी बड़ी हैं। सातों में भगवत् की विशाल मूर्तियाँ विराजमान थीं उनमें से एक मूर्ति श्रीनाथजी को उदयपुर का राना और दूसरी मूर्ति चन्द्रमा की वालीय जयपुर ले गया दोनों जगह बिट्ठलनाथजी की औलाद वहाँ अधिकारी वा पुजारी हैं। उदयपुर और जयपुर में मूर्तियाँ आलमगीर बादशाह के वक्त में गईं अर्थात् संवत् १७१४ और १७६४ के मध्य में। एक समय आपके एक बेटे जो भगवत्कला थे एक बन्दर को देखकर डरकर भागकर श्रीबिट्ठलजी की गोद में आ छिपे। "उस समय गोसाईं बिट्ठलनाथजी को भगवत् के ऐश्वर्य का ध्यान था इसलिये प्यार से पुत्र रूप से पूछा कि लंका में वैसे वैसे बन्दरों के साथ थे और यहाँ एक छोटे से बन्दर से डरना क्या बात है" पुत्र-रूप भगवत् ने जवाब दिया कि हम भक्त के उपासना अनुकूल चरित्र कर सुख देते हैं यदि तुमको ऐश्वर्य चित्त में है तो बालचरित्र की उपासना क्यों? यह सुन श्रीबिट्ठलजी लज्जित और परम आनन्दमग्न होकर आपको गोद में लिपटा लिया॥

अर्पण करते; परिचर्या में तत्पर रहते थे। जिस प्रकार द्वापर में गोकुल और नन्दजी का घर था, उसी प्रकार आप जो तैलंग ब्राह्मण दीक्षित हैं उनका गृह शोभित होता रहा। जहाँ गोकुल में आपका गृह है वहाँ श्रीनन्दराय के घोष कहिये आभीरपल्ली का विभव प्रगट है जिसको देख चन्द्र, इन्द्र का भी मन मोहि जाता है। और क्या प्रशंसा की जाय, श्रीवल्लभाचार्यजी के पुत्र श्रीबिट्ठलनाथजी ने अपने भजन के बल से कलियुग में द्वापर कर दिया॥

---

(९७) श्रीत्रिपुरदासजी।

(४१९) टीका। कवित्त। (४२४)

कायथ "त्रिपुरदास" भक्ति सुख राशि भरयौ, करयौ, ऐसो पन सीत दगला पठाइयै। निपट अमोल पट हियें हित जटि आवै तातें अति भावै, नाथ अंग पहिराइयै॥ आयो कोऊ काल नरपति नैं बिहाल कियौ, भयौ ईश ख्याल नेकु घर में न खाइयै। वही ऋतु आई, सुधि आई आँखि पानी भरि आई, एक द्राति[1] दीठि आई बेंचि ल्याइयै॥ ३४०॥ (२८९)

वार्त्तिक तिलक।

☞"श्रीत्रिपुरदासजी" का नाम यद्यपि श्रीनाभास्वामीजी के मूल में छूट गया, तथापि "श्रीबिट्ठलनाथजी" के अति प्रिय शिष्य कृपापात्र होने से, श्रीटीकाकार प्रियादासजी ने आपकी टीका लिखी है॥

श्रीत्रिपुरदासजी कायस्थ शेरगढ़-निवासी का हृदय सुखराशि भक्ति से भरा था; उन्होंने ऐसा प्रेमप्रण किया कि शीतकाल में "श्रीवल्लभाचार्य-जी" के ठाकुरजी को दगला (रुईदार अँगरखा) सदा भेजा करते थे। वह अति बहुमूल्य वस्त्र बड़े प्रेम से गोटा, पट्ठा लगवाके भेजते श्रीगुसाईंजी को अति प्रिय लगता था, इससे अपने ठाकुर श्रीगोकुल-नाथजी के अंग में अवश्य पहिराया करते थे। परिवर्तनशीलता तो विदित ही है, कोई काल ऐसा आ प्राप्त हुआ कि राजा ने सब धन हर के आपको दुःखित कर दिया। कर्मप्रदाता ईश्वर का ऐसा

---

[1] "द्राति" دوات=दवात, मसियानी, कज्जलपात्र॥

खेल हुआ कि घर में नित्य भोजन भी नहीं होता था॥

जब वही शीतऋतु आई, तब आपको भी वस्त्र भेजने की सुधि आई; और अत्यन्त अनुताप से नेत्रों से जल बहने लगा। इतने में एक मसियानी घर में धरी दृष्टि पड़ी; निश्चय किया कि "इसी को बेंच के कोई वस्त्र भेज दूँ॥"

(४२०) टीका। कवित्त। (४२३)

बेंचि कै बजार यों, रुपैया एक पायौ ताकौ, ल्यायौ मोटौ थान मात्र रंग लाल गाइयै। भीज्यो अनुराग, पुनि नैन जल धार भीज्यो, भीज्यो दीनताई, धरि राख्यौ और आइयै॥ कोऊ प्रभुजन आय सहज दिखाई दई, भई मन दियौ लै, "भँडारी पकराइयै। काहू दास दासी के न काम कौ; पै, जाउ लैकै, बिनती हमारी जू गुसाईं न सुनाइयै।"॥ ३४१॥ (२८८)

वार्त्तिक तिलक।

उस कज्जलपात्र को बेंचने से १) (एक रुपया) पाया; उससे लाल रंग से भीगा (रँगा) हुआ मोटे वस्त्र का थान मोल लिया। वह वस्त्र त्रिपुरदासजी के अनुराग से भीगा, पुनः उन्हीं के नेत्र-जल-धार से भी भीगा, फिर आपकी दीनता से भी भीगा। उसको लेकर आपने अपने घर रक्खा (आप का गृह "शेरगढ़" में था)॥

विचार करते थे कि "श्रीवृन्दावन की ओर से कोई आवेगा तौ भेज दूँगा।" इतने ही में श्रीगुसाईंजी का कोई जन सहज ही में दीख पड़ा। मन में भया कि "दे देना चाहिये।" उनको देकर बड़ी दीनता से कहने लगे कि "यह श्रीगुसाईंजी के भंडारी (कोठारी) के हाथ में दे दीजियेगा। यद्यपि यह वस्त्र किसी दासी दास के काम का भी नहीं है तथापि ले जाइये, मेरी ओर से कुछ विनय प्रार्थना वा, इस वस्त्र का ही समाचार, श्रीगुसाईंजी को मत सुनाइयेगा॥"

"राजिन्दर, जानकी-वर-चरण ध्यावो।
सुयश श्रीप्राणपति के नित्य गावो॥"
(जानकी प्रपन्न राजेन्द्रशरण, छपरा)

दो० "जीते भज्यो न रामही, मस्यो न सरयू तीर।
बनादास तिन ब्यर्थ ही, पायो मनुज शरीर॥ १॥
दरस स्वाति सुन्दर जलद, प्यासे चातक नैन।
कबधौं दर्शन पाइ है,! कब लहिहै सुख चैन॥ २॥
हम बासी वहि देश के, जहाँ जाति कुल नाहिं।
देह मिलन हो तो नहीं, वहाँ सु शब्द मिलाहिं॥ ३॥"

(४२१) टीका। कवित्त। (४२२)

दियो लै भंडारी कर राखे धरि पट, वापै निपट सनेही नाथ बोले अकुलाय कै। "भये हैं जड़ाये, कोऊ बेग ही उपाय करौ;" बिबिध उढ़ाये अंग बसन सुहाय कै॥ आज्ञा पुनि दई, यों अंगीठी बारि दई, फेर वही भई, सुनि रहे अतिही लजाय कै। सेवक बुलाय कही "कौन की कवाय आई?" सबै की सुनाई, एक वही ली बचाय कै॥ ३४२॥ (२८७)

वार्त्तिक तिलक।

उसने लाके गुसाईंजी के कोठारी के हाथ में दे दिया। उसने उस वस्त्र को बिछा के उसी पर अच्छे अच्छे वस्त्र रख दिये परन्तु, श्रीअत्यन्त स्नेही नाथ अति अकुला के गुसाईं श्रीबिट्ठलनाथजी से बोले कि "हमको जाड़ा बहुत लगा है, शीघ्रही कुछ उपाय करिये" गुसाईंजी ने रुई भरे बहुत से सुन्दर सुन्दर वस्त्र उढ़ाये, प्रभुने फिरि आज्ञा दी कि "जाड़ा तो नहीं गया।" गुसाईंजी ने अंगीठी बार कर प्रभुके आगे रखदी। फिर प्रभुने कहा कि "जाड़ा तो नहीं गया॥"

सुनके श्रीगुसाईंजी लज्जित हो गये कि "अब क्या उपाय करूं।" तब विचार कर सेवक को बुला पूँछा कि किस किसकी कवाय (जड़ावर) आई है? वह (कोठारी) एक त्रिपुरदासजी का नाम छोड़ और सब के नाम एक एक कर कह गया॥

(४२२) टीका। कवित्त। (४२१)

सुनी न "त्रिपुरदास" ! बोल्यो "धन नास भयौ, मोटौ एक थान आयौ राख्यौ है बिछाय कै"। "ल्यावौ बेगि याही छिन" मन की प्रवीन जानि, ल्यायो दुख मानि, ब्योंति लई सो सिंवाय कै॥ अंग पहिराई सुखदाई, का पै गाई जाति, कही तब बात "जाड़ौ गयौ भरि भाय कै"। नेह सरसाई, लै दिखाई, उर आई सबै ऐसी रसिकाई हदै राखी है बसाय कै॥ ३४३ ॥ (२८६)

वार्त्तिक तिलक।

गुसाईंजी ने कहा "त्रिपुरदास की जड़ावर का नाम तो नहीं सुना ?" उसने कहा कि "उनका सब धन नाश हो गया ! एक बहुत मुटिये वस्त्र का थान भेजा है, उसको मैंने वस्त्रों के नीचे बिछा रक्खा है।" श्रीगुसाईंजी ने सुनते ही कहा कि वह वस्त्र इसी क्षण ला। प्रभु प्रवीण ने उनके मन की प्रीति जान ली। वह विमन होके लाया, श्रीगुसाईंजी ने अति शीघ्र ही, सीनेवालों को बुलाय ब्योंताय, सिलाके प्रभु के श्रीअंग में पहिनाया, प्रभु को वह अत्यन्त सुखदाई हुआ। प्रभु ने अकथनीय सुख पाके कहा "अब हमारा जाड़ा गया" (प्रेम के भूखे साँवलिया) देखिये भक्त के स्नेह की सरसता प्रभु ने दिखाई। यह सबके हृदय में निश्चय हुआ कि श्रीनाथ ने इस प्रकार की रसिकाई अपने हृदय में बसा रक्खी है॥

श्रीत्रिपुरजी की जय॥

---

(९८) श्रीबिठ्ठलेशसुत।

(४२३) छप्पय। (४२०)

(श्री) बिठ्ठलेस-सुत सुहृद श्रीगोबरधनधर ध्याइयै॥ श्रीगिरिधर[१] जू सरससील, गोबिन्द[२] जु साथहि। बालकृष्ण[३] जसबीर, धीर, श्रीगोकुलनाथ[४]हि॥ श्रीरघुनाथ[५] जु महाराज,

श्रीजदुनाथहिं भजि । श्रीघनश्यामं जु, पगे प्रभु अनुरागी सुधि सजि ॥ ए सात, प्रगट विभु, भजन जगतारन तस जस गाइये । (श्री) बिट्ठलेस-सुत सुहृद श्रीगोबरधनधर ध्याइयै ॥ ८० ॥ (१३४)

वार्त्तिक तिलक ।

४८ वें छप्पय, कवित्त १८७ में श्रीवल्लभाचार्यजी की कथा लिखी जाचुकी है जो संवत् १५७७ के लगभग हुए। आपही के पुत्र श्रीबिट्ठलेश (बिट्ठलनाथ) जी हैं जिनकी कथा मूल ७६ छप्पय में वर्णित है ॥

श्रीबिट्ठलनाथजी का वात्सल्यभाव था। सो श्रीकृष्ण भगवान् ने आपकी भक्तिवश कृपा करके विचारा कि "नन्द बाबा की जगह तो श्रीबिट्ठल गुसाईंजी हैं; पर माता यशोदाजी के स्थान में भी एक चाहिये;" इसलिये आपसे स्वीकार करने के अर्थ स्वप्न में कहकर, एक ब्राह्मण की सुन्दर गुणवती कन्या से विवाह करवा दिया। दम्पति से श्रीकृष्ण भगवान् के अंश विभु सात बेटे क्रमशः हुए; अर्थात् प्रथम पुत्र में ५ वर्ष पर्यन्त, पुनः छठे वर्ष से दशवें वर्ष तक द्वितीय पुत्र में, फिर पन्द्रहवें वर्ष तक तृतीय में, बीसवें तक चतुर्थ में, पचीसवें तक पंचम में, तीसवें तक षष्ठ में, ३५ (पैंतीसवें) वर्ष पर्यन्त सप्तम पुत्र में भगवान् का विभु रहा और इस प्रकार से ३५ वर्ष तक लगातार क्रमशः प्रत्येक में और उसके पश्चात् अर्चावतार में स्वयं भगवत् ने आप इनके पुत्र होने का सुख श्रीबिट्ठलनाथजी को दिया। आपके भाग्य तथा भगवत्-कृपा की प्रशंसा कहाँ तक की जासकै, और उन सात की सराहना किससे हो सकै कि जो पाँच पाँच वर्ष तक भगवद्विभु, और तिस पीछे श्रीवल्लभाचार्य सम्प्रदाय के भूषण रहे ॥

एक समय आपके एक पुत्र बन्दर देख डरकर भागे और आपके गोद में आ लिपटे; आप भगवत् ऐश्वर्य के ज्ञान में उस समय कह

पड़े कि एक बन्दर मात्र से तुम इतना डरते हो! तो किष्किन्धा लंका में बन्दरों की सेना के मध्य कैसे रहे?" हरि ने उत्तर दिया कि "हम भावग्राही भावप्रिय हैं, नहीं तो गुणातीत हैं ही; तुमको यदि ऐश्वर्य ही की वार्त्ता है तो माधुर्य उपासना क्यों?" सुनकर महाराज बहुत लज्जित हुए॥

श्री "बिट्ठलेश"-सुत अर्थात् श्रीगोसाईं बिट्ठलनाथजी के सातो पुत्र, सुहृद् साक्षात् श्रीगोबर्द्धनधर (श्रीकृष्णचन्द्र) को ध्यान धरना और उनके यश गाना चाहिये। सातो सरसशील, यशवीर, धीर, श्रीप्रभु के अनुराग में पगे, विवेकी, प्रभु के प्रगट विभूतिरूप, हरिभजन प्रवीण, और जगतारण हुए॥

(१) श्रीगिरिधरजू;*
(२) श्रीगोविन्दजू;
(३) श्रीबालकृष्णजू;
(४) श्रीगोकुलनाथजू;
(५) श्रीरघुनाथजूमहाराज;
(६) श्रीयदुनाथजू;
(७) श्रीघनश्यामजू;

---

(६६) श्रीबालकृष्ण (कृष्णदास) जी।

(४२४) छप्पय। (४१६)

गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ॥ श्रीबल्लभ गुरुदत्त भजनसागर गुनआगर। कबित नोख निर्दोष नाथसेवा मैं नागर॥ बानी बंदित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत। ब्रजरज अति आराध्य, वहै धारी, सर्वसु चित॥ सांनिध्य सदा हरि दास बर्य, गौर श्याम दृढ़ ब्रत लियौ। गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ॥ ८१॥ (१३३)

---

* श्रीबिट्ठलनाथ गुसाईं के सातों लड़कों की सात गद्दियाँ बहुत बड़ी बड़ी हैं, सातों में भगवत् मूर्त्तियाँ विराजमान थीं। उनमें से [आलमगीर औरंगज़ेब के समय, विक्रमी संवत् १७१४। १७६४ के मध्य,] एक मूर्ति को उदयपुर के राना और दूसरे स्थान की मूर्ति को जयपुर के महाराज अपने अपने यहाँ ले गए॥

वार्त्तिक तिलक।

गिरिधारी श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीकृष्णदासजी पर रीझ के अपने नाम में साझी किया अर्थात् आपका नाम भी "कृष्ण" (बालकृष्ण वा कृष्ण दास) रखवाया और आपके नाम का पद बनाया। आप गुरु श्रीवल्लभाचार्य सम्प्रदाय के अनुसार जो भजन की रीति तिसमें पूरे और गुणागार हुए। आपकी कविता निर्दोष तथा अनोखी हुआ करती थी। आप छठे ही वर्ष से भगवत्सेवा में प्रवीण हुए। आपकी वाणी को पण्डित लोग आदरते और वन्दना करते थे कि जो अलंकृत तथा श्रीगोपालजी के सुयश से भूषित होती थी। आप श्रीव्रज की रज की बहुत ही आराधना और उसको धारण किया करते थे। आप सबों से सुचिन्तित थे अथवा सब प्रकार से निश्चित रह भगवत् चिन्ता ही में लगे रहते थे, और सर्वदा महात्मा सन्तों के संग में रहा करते थे॥

श्रीराधाकृष्ण भजन का एक मात्र दृढ़ व्रत आपको था॥

(४२५) टीका। कवित्त। (४१८)

प्रेम रसरास कृष्णदासजू प्रकास कियौ, लियौ नाथ मानि सो प्रमान जग गाइयै। दिल्ली के बजार मैं जलेबी सो निहारि नैन, भोग लै लगाई लगी विद्यमान पाइयै॥ राग सुनि भक्तिनी कौ, भए अनुराग बस, ससिमुख लालजू कौं जाइकै सुनाइयै। देखि रिझवार रीझ निकट बुलाइ लई, लई संग चले, जगलाज को बहाइयै॥ ३४४॥ (२८५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबालकृष्णजी ने प्रेमरस की राशि प्रकाश की और आपके ठाकुर "श्रीनाथ" ने आपकी प्रेमनिष्ठा से अति प्रसन्न भी हुए सो यह बात जग में प्रसिद्ध है; "प्रेमरसराशि" नाम एक ग्रन्थ भी बनाया। उसको प्रभु ने अंगीकार किया॥

एक समय आप कुछ वस्तु लेने दिल्ली गए; वहाँ एक मिठाईवाले के यहाँ उत्तम जलेबियाँ कड़ाही से निकलती देख, उन जलेबियों को "श्रीनाथजी" को (मानसी) भोग लगाया। प्रेम के ग्राहक श्रीठाकुरजी ने स्वीकार कर लिया। यहाँ मन्दिर में थार उतारने के समय जलेबियों का थार भी पाया गया॥

आगे चलकर एक वारमुखी का राग सुनकर आपने अनुरागावेश में उससे पूछा कि "हे चन्द्रमुखी भक्तिनि! मेरा शशिमुख लाला राग का बड़ा रसिक है, तुम उसको राग गान सुनाने के लिये मेरे साथ चलोगी?" उसने रिझवार समझ कहा कि "हाँ, चलूँगी॥"

आप लोक की लज्जा छोड़, उस वारमुखी को अपने साथ लाए॥

(४२६) टीका। कवित्त। (४१७)

नीके अन्हवाय, पट आभरन पहिराय, सोंधौ हूँ लगाय, हरिमन्दिर में ल्याये हैं। देखि भई मतवारी, कीनी लै अलापचारी, कह्यो "लाल देखे?" बोली "देखे, में ही भाये हैं" ॥ नृत्य, गान, तान भावभरि मुसक्यान, दृग रूप लपटान, नाथ निपट रिझाये हैं। ह्वै कै तदाकार, तन छूट्यौ अंगीकार करी, धरी उर प्रीति, मन सबके भिजाये हैं॥ ३४५॥ (२८४)

वार्त्तिक तिलक।

उस वारमुखी को व्रज में ला, भली भाँति स्नान करवा, वसन भूषण पहिरा, शृङ्गार करा, सुगन्ध लगा, उसे "श्रीनाथ" जी के मन्दिर में लाकर, ठाकुरजी के सामने खड़ीकर, आज्ञा की कि "मनुष्यों को बहुत रिझाया; अब तेरा भाग्य चमका हमारे लालजी को रिझा।" वह हरि के दर्शन पा मतवाली हो नाचने गाने लगी। आपने पूछा "मेरे लला को तूने देखा?" उसने उत्तर दिया कि "केवल देखा ही नहीं बरन् इनकी सौन्दर्य पर अपना तन मन भी वार चुकी॥"

उसने गाया, नाचा, भाव बताया, अपनी सब कलाएँ प्रगटकर भगवत् को अतिशय रिझा लिया। तदाकार हो गई; सबको प्रेम रङ्ग में भिगा दिया; शरीर उसी दशा में छोड़कर परमपद को पहुँच गई॥

(४२७) टीका । कवित्त । (४१६)

आए, सूर सागर सो कही "बड़े नागर हौ, कोऊ पद गावौ, मेरी छाया न मिलाइय" । गाये पाँच सात, सुनि जान मुसुकात, कही भलें जू प्रभात आनि करिकै सुनाइयै ॥ पस्यो सोच भारी, गिरिधारी उर धारी बात, सुन्दर बनाय, सेज धस्यो यों लखाइयै । आय कै सुनायौ, सुख पायौ, पच्छ-पात लै बतायौ, हूँ मनायौ रङ्ग छायौ, अभू गाइयै ॥ ३४६ ॥ (२८३)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसूरजी से मिले, श्रीसूरजी ने आपसे कहा कि "भाई ! तुम बड़े चतुर हौ, एक पद बनाके सुनाओ पर उसमें मेरे किसी पद की छाया न पाई जावै" आपने पाँचसात पद सुनाए; पर सूरजी ने मुसक्याके बताया कि इनमें मेरे अमुक अमुक पद की छाया है । निदान यह ठहरी कि आज रहे, कल नया पद सुनाया जावै । आपको बड़े सोच में देख श्रीगिरिवर-धारीजी ने मन में विचार एक सुन्दर पद * बनाके आपके आसन पर रखदिया जिसको देख आप बड़े प्रसन्न हुए । आपने जाकर श्रीसूरजी को सुनाया । श्रीसूरजी ने अति सुख पाकर कहा कि आपके ठाकुर ने अपने बाबा का (आपका) पक्षपात कर आपके निमित्त स्वयं बना दिया है ।" दोनों मूर्ति भगवत्कृपा के रङ्ग में पग गए । अब तक वह पद गाए जाते हैं ॥

(४२८) टीका । कवित्त । (४१५)

कुवाँ में खिसिल, देह छूटि गई, नई भई, भई यों असंका कछु औरै उर आई है । रसिकन मन दुख जानि, सो सुजान नाथ दिया दरसाय, तन ग्वाल सुखदाई है ॥ गोबर्द्धन तीर कही "आगे बलबीर गये श्री-गुसाईं धीर सों प्रनाम," यों जनाई है । धनहू बतायो, खोदि पायो बिसवास आयो, हियें सुख छायो, सेक पंक लै बहाई है ॥ ३४७ ॥ (२८२)

* कहते हैं कि उस पद का प्रथम तुक यह है :—
"आवत बने कान्ह गोप बालक सँग बच्छ की खुर रेणु छुरित अलकावली ॥"

फिसलके कुआँ में गिर पड़े; शरीर छूट गया; दिव्य नवीन देह पाई। लोगों ने अकालमृत्यु की आशंका की। रसिकजनों के मन में दुःख हुआ। सो जानकर श्रीनाथ सुजानशिरोमणि ने दिखा दिया कि आप दिव्य ग्वालशरीर धरे गोवर्द्धन पर्वत की जड़ में यह कहते चले जा रहे हैं कि "बलवीर आगे गए हैं उनके पीछे जाता हूँ; गुसाईंजी से मेरा प्रणाम कह देना। और अमुक ठिकाने इतना धन है, साधुसेवा में लगा देवें।" खोदा गया तो वह द्रव्य मिला, सबको विश्वास आया, शंकारूपी पंक धुल गया, सबका मन प्रसन्न हुआ॥

---

(१००) श्रीगोकुलनाथजी।

गुसाईं गोकुलनाथजी (श्री १०८ वल्लभाचार्यजी के पोते, श्रीबिट्ठलनाथ के पुत्र) के पास एक धनी ने लाखों रुपए भेंट देने के लिये लाकर विनय किया कि "मुझे शिष्य कीजिये।" आपने उससे पूछा कि "किसी वस्तु में तुम्हारी विशेष प्रीति आशक्ति है?" उसने उत्तर दिया कि "किसी में नहीं।" आपने कहा कि "जब तुममें प्रीति का बीज ही नहीं, तो मैं तुम्हें शिष्य नहीं कर सकता; यदि किसी में प्रेम होता तो उसे मोड़कर श्रीशोभाधाम के चरणों में लगा दिया जाता॥"

"कान्हा" नाम एक भंगी मन्दिर के बाहर झाड़ू लगाया करता और सामने से "श्रीनाथ" जी का दर्शन कर प्रेम में मग्न हुआ करता था॥

सबकी दृष्टि बालक (ठाकुरजी) पर न पड़े इसलिये आपने एक भीत (दीवार) खिंचवा दी। दर्शन न पाने से कान्हा विकल हुआ। श्रीठाकुरजी ने उसे तीन रात बराबर स्वप्न में आज्ञा की कि "गोकुलनाथ से कह कि यह भीत गिरवा दें।" कान्हाजी आपसे तो विनय नहीं कर सके पर किसी से कह दिया। तब गोसाईंजी ने उससे पूछा; उसने सब वार्त्ता कही। आप प्रेम में डूबे, कान्हाजी को

कृपापात्र जान हृदय से लगा लिया और नई भीत गिरवा दी क्योंकि उससे स्वप्न का प्रमाण मिला। प्रेम की ग्राहकता की जय, प्रेमियों की जय॥

चौपाई।

"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानौं एक प्रेम कौ नाता॥"

१०१। १०२ श्रीवर्द्धमान। श्रीगंगलजी।

(४२६) छप्पय। (४१४)

"वर्द्धमान," "गंगल" गंभीर, उभै थंभ हरिभक्ति के॥ श्रीभागौत बखानि, अमृतमय नदी बहाई। अमल करी सब अवनि, तापहारक सुखदाई॥ भक्तन सों अनुराग दीन सों परमदयाकर। भजन जसोदानन्द सन्तसंघट के आगर॥ भीषमभट्ट अंगज उदार, कलियुग दाता सुगति के। "वर्द्धमान," "गंगल" गंभीर, उभै थंभ हरिभक्ति के॥ ८२॥ (१३२)

(१) श्रीवर्द्धमानजी। (२) श्रीगंगलजी।
(३) श्रीभीष्मभट्टजी॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवर्द्धमानजी और श्रीगंगलजी, दोनों भाई "श्रीभीष्मभट्ट" जी के पुत्र बड़े गम्भीर, उदार, त्रिताप हरनेवाले, सुख देनेहारे, बड़े दीनदयाल, भगवद्भक्ति के दो खम्भे, कलि के जीवों के सद्गति के देनेवाले हुए; श्रीमद्भगवत् की कथा कहने में मानों अमृत की नदी बहाते थे; संसार भर में आप दोनों का यश विदित था; हरिभक्तों से बड़ा अनुराग रखते थे; सन्तसमूह में अग्र अथवा सन्तों के संग में आगर और श्रीयशोदानन्दनजी के भजन में निपुण थे॥

(१०३) श्रीक्षेम गुसाईंजी।

(४३०) छप्पय। (४१३)

"रामदास" परतापतें, "षेम गुसाईं" षेमकर॥ रघुनन्दन को दास, प्रगट भूमंडल जानै। सर्बस सीता-राम और कछु उर नहिं आनै॥ धनुष बान सों प्रीति, स्वामि के आयुध प्यारे। निकट निरंतर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे॥ सूरबीर हनुमत सदृश, परम उपासक प्रेम भर। "रामदास" परतापतें, "षेम गुसाईं" षेमकर॥ ८३॥ (१३१)

वार्त्तिक तिलक।

गुरु महाराज श्रीरामदासजी के प्रताप से श्रीक्षेम गुसाईंजी कल्याण करनेवाले हुए। जगत्भर में यह विख्यात है कि आप श्री-रघुनन्दनजी के परम भक्त थे, कुछ भी हृदय में नहीं लाते थे केवल श्रीसीतारामजी को अपना सर्वस्व जानते थे; स्वामी के आयुध धनुष बाण आपको अति प्रिय थे, धनुष बाण से अतिशय प्रेम रखते थे। आपका मन श्रीयुगलसर्कार से अलग नहीं होता, सदैव श्रीचरणों ही में रहता था। श्रीमारुतिजी की छाया सूरवीर, अनन्य उपासक और परम प्रेमी थे॥

---

(१०४) श्रीबिठ्ठलदासजी।

(४३१) छप्पय। (४१२)

"बिठ्ठलदास" माथुरमुकुट भयो अमानी मानदा॥ तिलक दाम सों प्रीति, गुनहिं गुन अंतर धार्‌यो। भक्तन को उतकर्ष जनम भरि रसन उचार्‌यो॥ सरल हृदै, संतोष जहाँ तहाँ, पर उपकारी। उत्सव में सुत दान कियो कर्म दुसकर भारी॥ हरि गोबिन्द जै जै गोबिन्द

---

१ षेमकर=क्षेमकर॥

गिरा सदा आनंददा। "बिट्ठलदास" माथुरमुकुट भयौ अमानी मानदा ।८४॥ (१३०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबिट्ठलदासजी उत्तम माथुर चौबे ब्राह्मण थे 'सबहि मानप्रद आपु अमानी।' आपको तिलक (उर्द्ध्वपुण्ड्र) और कण्ठीमाला से बड़ी प्रीति थी। गुण ही गुण को (अवगुण को नहीं) उर में रखते थे। सन्तों भक्तों की बड़ाई जन्म भर आपकी जिह्वा पर रही। सरल हृदय सन्तोषशील, और परहितरत थे, ऐसा भारी दुष्कर कर्म किया कि उत्सव में पुत्र को भगवत् की न्यवछावर करके दान कर दिया। सदा "गोबिन्द" नाम ऐसे प्रेम से उच्चारण किया करते थे कि सब क आनन्दमग्न कर देते थे॥

(४३२) टीका। कवित्त। (४११)

भाई उभै माथुर, सुराना के पुरोहित हे, लरि मरे आपस में, जियौ एक जाम है। ताको सुत बिट्ठल सु दास, सुख रासि हिये लिये, बैस थोरी भयौ बड़ौ सेवै स्याम है॥ बोल्यौ नृप सभा मध्य, "आवत न बिप्र सुत, छिप्र लैके आवौ" कही, कह्यौ "पूजें काम है"। फेरि कै बुलायौ, "करौ जागरन याही ठौर," काहू समझायौ "गावै नाचै प्रेमधाम है"॥ ३४८॥ (२८१)

वार्त्तिक तिलक।

"श्रीबिट्ठलदासजी" के पिता और चचा उत्तम माथुर चौबे ब्राह्मण, और राना के पुरोहित थे; दोनों भाई आपस में लड़कर पहर भर में मर गए। बिट्ठलजी उस समय थोड़ी ही बैस के थे; पर लड़कपन ही से आप सुखराशि श्याम को अपने हृदय में रखते थे। राना के पास जाने आने की आवश्यकता नहीं समझते थे। एक दिन राना ने सभा में पूछा कि "वह विप्रसुत आता नहीं है! क्या बात है?" दुर्जनों ने कहा कि "वह अपने तईं लोभरहित हरिदास अनुमान करता है।" राना ने शीघ्र बुला भेजा; आपने उत्तर दिया कि "श्रीहरिगोविन्दकृपा से राना के प्रताप से मेरी कामना पूर्ण है

रानाजी को कष्ट क्यों दूँ।" किसी ने कहा कि "वह नाचनेगाने में ही बैरागियों के साथ अपने घर अपना दिन बिताता है।" पुनः राना ने आपको कहला भेजा कि "आज रात को हरिकीर्तन जागरण हमारे ही यहाँ हो॥"

(४३३) टीका। कवित्त। (४१०)

गये संग साधुनि लै, बिनै रंग रँगे सब, राना उठि आदर दै, नीके पधराये हैं। किये जा बिछौना तीनि छत्तनि के ऊपर लै, नाचि गाय आये प्रेम गिरे नीचे आये हैं॥ राजामुख भयो सेत, दुष्टनि कों गारी देत, सन्त भरि अंक लेत, घर मधि ल्याये हैं। भूप बहु भेंट करी, देह वाही भाँति परी, पाछे सुधि भई, दिन तीसरे जगाये हैं॥ ३४६॥ (२८०)

वार्त्तिक तिलक।

आप साधुओं को साथ लेकर पहुँचे; सबके सब विनय प्रेम में रँगे थे, और श्रीबिट्ठलजी के प्रेम का कहना ही क्या। राना ने उठकर समाज का आदर सम्मान किया। कई दुर्जनों के कहने से जागरण के लिये बिछावन तिखने की छत पर कराया गया था। समाज को वहीं पधराया। श्रीबिट्ठलजी भगवद्यश नाम के कीर्त्तन में प्रेम से ऐसे बेसुध हुए कि तिखने पर से नीचे धम से गिर पड़े। राना का जी उड़ गया, बहुत ही डरा, उन दुष्टों पर क्रोध करके दुर्वचन सुनाए। साधुओं ने आपको गोद में उठा लिया, घर लाए। श्रीभक्तरक्षक भगवान् की कृपा से आपको चोट का तनक नाम तक नहीं पहुँचा। शरीर वैसा ही पड़ा रहा, तीसरे दिन सुध बुध आया, आप जागे। राना ने अपराध क्षमा कराया, बहुत कुछ भेंट पूजा भेजी॥

(४३४) टीका। कवित्त। (४०९)

उठे जब, माय ने जनाय सब बात कही, सही नहीं जात निसि निकसे बिचारिकै। आये यों "छठीकरा" में, गरुड़ गोबिन्द सेवा, करत मगन हिये रहत निहारि कै॥ राजा के जे लोग सु तौ ढूँढ़ि करि रहे बैठि, तिया मात आई करै रुदन पुकारि कै। किये लै

उपाय, रही कितौ हाहा खाय, ये तौ रहे मँड़राय, तब बसी मन हारि कै॥ ३५० ॥ (२७६)

वार्त्तिक तिलक।

जब श्रीबिट्ठलजी की मूर्च्छा गई तो आपकी माताजी ने राना की परीक्षा की सब बात कह सुनाई। आप रात के समय अपने घर से चल दिये। "छठीकरा" ग्राम में आए जहाँ श्रीयशोदाजी ने भगवान् की छठी की थी। वहाँ श्री "गरुड़गोविन्द" जी की सेवा पूजा में तत्पर हुए; प्रभु की छवि देख देख मग्न रहा करते थे। राना के नौकरों ने लाख ढूँढ़ा, कहीं नहीं पाया। पर आपकी स्त्री तथा माता को आप मिले; त्रिया और माता चिल्ला चिल्लाकर रोने लगीं; घर चलने के लिये बहुत कुछ कहा, पर आपने एक न सुनी; वहीं जमे रह गए। तब हारकर आपकी स्त्री और माताजी भी वहीं रहीं॥

(४३५) टीका। कवित्त। (४०८)

देख्यो जब कष्ट तन, प्रभू जू स्वपन दियौ "जावौ मधुपुरी" ऐसै तीन बार भाषियै। आये जहाँ जाति पाँति छाये कछु औरै रंग; देख्यो एक खाती, साधु संग अभिलाषियै॥ तिया रहै गर्भवती सती मति सोच रती खोद भूमि पाई प्रतिमा सु धन राषियै। खाती को बुलाय कही "लही यहु लेहु तुम" उन पाँय परि कह्यौ रूप मुख चाषियै॥ ३५१ ॥ (२७८)

वार्त्तिक तिलक।

आपको कुछ कष्ट में देखकर भगवत् ने तीन बेर स्वप्न में आज्ञा की कि "मधुपुरी (श्रीमथुराजी) जाओ।" आज्ञानुसार मथुराजी गए, परन्तु वहाँ अपनी जाति को और ही रंग में अर्थात् भगवद्-भक्ति से विमुख पाया, इस कारण से एक बढ़ई साधुसेवी के घर में आसन किया॥

आपकी स्त्री परम सती गर्भवती थीं, इससे द्रव्य के अभाव से कुछ शोच हुआ। मिट्टी खोदते में श्रीसीतारामकृपा से बहुत सा धन और एक भगवत्प्रतिमा प्राप्त देखकर आप उस बढ़ई भक्त

को देने लगे; पर भक्तजी ने पाँव पड़कर विनय किया कि "भगवत् की और भागवत की सेवा के योग्य आपही हैं ॥"

(४३६) टीका। कवित्त। (४०७)

करें सेवा पूजा, और काम नहिं दूजा, जब फैलि गई भक्ति, भये शिष्य बहु आय कै। बड़ोई समाज होत, मानो सिंधु सोत आये बिबिध, बधाये गुनीजन उठे गाय कै॥ आई एक नटी, गुण रूप धन जटी, वह गावै तान कटी, चटपटी सी लगाय कै। दिये पट भूषन लै, भूख न मिटत किहूँ, चहूँ दिसि हेरि पुत्र दियो अकुलाय कै॥ ३५२ ॥ (२७७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबिट्ठलजी पूजा छोड़ और कुछ नहीं करते थे, सो आपकी भगवत्सेवा ऐसी विख्यात हुई कि बहुत लोग आ आके आपके चेले हुए। बड़े धूमधाम से समाज होता था मानो उत्सव के सोते समुद्र में आ पहुँचते थे। गुणियों का नाचना गाना भी भले प्रकार से होता था। एक दिन एक गुणवती नटी ने भगवत् के आगे ऐसा नृत्य और कीर्त्तन किया कि बेसुध होकर श्रीबिट्ठलदासजी ने सब सम्पत्ति की तो बात ही क्या, वरञ्च अपने पुत्र श्रीरंगीरायजी तक को भी श्रीभगवत् पर न्यवछावर करके उस नटी को दे दिया॥

दो० "रूप, चोज की बात पुनि, सरस कटीली तान।
रसिक प्रबीणन के हिये, छेदन को ये बान॥"

(४३७) टीका। कवित्त। (४०६)

"रँगी राय" नाम ताकी सिष्या एक रानासुता, भयो दुख भारी नेकु जलहूँ न पीजियै। कहि कै पठाई वासों, "चाहौ सोई धन लीजै, मेरो प्रभु रूप मेरे नैननिकूँ दीजियै"॥ "द्रव्य तौ न चाहौं, रीझि चाहौं तन मन दियौ;" फेरि कै समाज कियौ बिनती कौं कीजियै। जिते गुनीजन तिनै दिये अनगन दाम, पाछे नृत्य कस्यो आप, देत सो न लीजियै॥ ३५३ ॥ (२७६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरंगीरायजी की शिष्या राना की एक लड़की थी; इसने यह सुनकर कि "हमारे गुरुजी को उनके पिता श्रीबिट्ठलदासजी ने अमुक नटिनी को दान कर दिया," अन्न जल छोड़ दिया; और उस नटिनी को कहला भेजा कि "मनमाना धन मुझसे ले मेरे गुरु भगवान् को मुझे दे कि दर्शन किया करूँ।" उसने उत्तर दिया कि "मैं द्रव्य की भूखी नहीं। हाँ, रीझने पर तो तन मन धन सबही दे सकती हूँ॥"

राजकन्या ने श्रीबिट्ठलजी से बहुत बिनय करके, पुनः भागवत्समाज कराया। सब गुणी नाचे गाए, उनको इसने बहुत कुछ दिया, और इसने आप भी भगवत् के आगे नृत्य किया; श्रीबिट्ठलजी न्यवछावर देने लगे, पर न लिया॥

(४३८) टीका। कवित्त। (४०५)

ल्याई एक डोला मैं बैठाय रंगीरायजू कौ, सुन्दर सिंगार, कही बार तेरी आइयै। कियौ नृत्य भारी जो विभूति सो तौ वारि लिये भरि अँकवारी भेंट किये द्वार गाइयै॥ "मोहन न्यौछावर मैं भयौ, मोहि लेहु मति," लियौ उन शिष्य, तन तज्यौ कहा पाइये। कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक बिचित्रन कौ, जौ पै लाल मित्र कियौ चाहौ, हिये ल्याइयै॥ ३५४॥ (२७५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरंगीरायजी का सुन्दर शृङ्गार कर, उनको डोले में बिठला, वह नटिनी ले आई, और कहा कि "अब नृत्य करने की तुम्हारी बारी है।" श्रीरंगीरायजी ने ऐसा नृत्य तथा गान किया कि निपट रीझके नटी श्रीरंगीरायजी को न्यवछावर कर फिर श्रीबिट्ठलदासजी को देने लगी, पर जब आपने न लिया तो इनकी शिष्या राजकन्या ने इनको ले लिया और अति प्रसन्न हुई॥

उसी क्षण श्रीरंगीरायजी ने अपने प्राण भी भगवत् को न्यवछावर कर दिये॥

बड़े बड़े रसिकों के चरित्र मैंने गा सुनाये, जो आप चाहते हों कि "श्रीयुगल सर्कार के चरणों में प्रेमापराभक्ति मुझे होवै," तो

इन रसिकों के अपूर्व चरित्रों को अपने हृदय में आप धारण करें ॥

(१०५) श्रीहरिराम हठीले ।

(४३६) छप्पय । (४०४)

हरिराम हठीले भजनबल, राना को उत्तर दियौ ॥ उग्र, तेज, उदार, सुघर सुथराई सींवा । प्रेमपुंज, रसरासि, सदा गद्गद सुर (स्वर) ग्रीवा ॥ भक्तन को अपराध करै ताकौ फल गायौ । हिरण्यकशिपु प्रह्लाद परम दृष्टांत दिखायौ ॥ सस्फुट बकता जगत मैं, राज सभा निधरक हियौ । हरिराम हठीले भजनबल, राना को उत्तर दियौ ॥ ८५ ॥ (१२९)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीहरिराम हठीलेजी उग्र, तेजस्वी, उदार, सुघर, बड़े सुन्दर, प्रेमपुञ्ज, रसराशि थे; आपके गले का स्वर सदा गद्गद रहा करता था। जो कोई किसी हरिभक्त का अपराध करै उसका क्या फल होता है, सो श्रीप्रह्लादजी के शत्रु हिरण्यकशिपु का उदाहरण देकर राजसभा में राना से, निधड़क और स्पष्ट रूप से कह ही सुनाया; भगवद्भजन के बल से जी में राना का कुछ डर न आया ॥

(४४०) टीका । कवित्त । (४०३)

राना सों सनेह, सदा चौपर कौं खेल्यौ करै, ऐसो सो संन्यासी भूमि संत की छिनाई है। जाय कै पुकाखौ साधु, भिरकि बिडाखौ पखौ बिमुख के बस, बात सांची लैं भुठाई है॥ आये हरिरामजू पै, सबही जताई, रीति प्रीति करि बोले चल्यौ आगे आवै भाई है। गये, बैठे, 'आयौ जन' मन मैं न ल्यायौ नृप, तब समुझायौ, भाख्यौ; फेरि भू दिवाई है॥ ३५५ ॥ (२७४)

वार्त्तिक तिलक ।

राना के दर्बार में एक संन्यासी था जो राना के साथ चौपर

खेला करता और उस कारण वह बहुत मुँहलगा हो गया था । उसने एक बैरागी साधु की भूमि छिनवा दी । सन्त ने राजसभा में जाकर पुकारा; परन्तु उस विमुख (संन्यासी) के वश में होकर राना ने इन्हें झिड़की के साथ निकलवा दिया; सच्चे पुकार को झूठा समझा ॥

बैरागी सन्त ने आकर श्रीहरिरामजी से अपना सब वृत्तान्त निवेदन किया । आप इन्हें भाई जानकर अथवा यह बात मनभाई मान, रीति प्रीति कर, बोले कि "चलो ।" आप उनको लेकर राना के दर्बार में जा बैठे, पर राना तनक भी अपने मन में यह बात न लाया कि हरिजन आए हैं । तब आपने उस राना को फटकारा, और हिरण्यकशिपु की दशा सुनाकर उसे समझा दिया कि सन्त का अपराध करने का परिणाम कैसा होता है । राना ने साधु की भूमि फेर दी । वे परस्पर मुदित हुए ॥

---

(१०६) श्रीकमलाकरभट्टजी ।

(४४१) छप्पय । (४०२)

"कमलाकरभट" जगत में, तत्त्वबाद रोपी धुजा ॥ पंडित कला प्रबीन अधिक आदर दे आरज । संप्रदाय सिरछत्र, द्वितीय मनौं "मध्वाचारज" ॥ जेतिक हरि अवतार, सबै पूरन करि जानै । परिपाटी "ध्वजबिजै" सदृश, भागौत बखानै ॥ श्रुति, स्मृति, संमत पुरान, तप्तमुद्राधारी भुजा । "कमलाकरभट" जगत में, तत्त्वबाद रोपी धुजा ॥ ८६ ॥ (१२८)

वार्त्तिक तिलक ।

पण्डित श्रीकमलाकरभट्टजी ने जगत् में तत्त्ववाद की ध्वजा फहरायी थी । कला प्रवीण थे, और आर्य (श्रेष्ठ) लोगों का बड़ा आदर मान किया करते । "श्रीमाध्वसम्प्रदाय" के सीस के छत्र,

मानों द्वितीय "मध्वाचार्य" ही थे। भगवान् के जितने अवतार, उन सबके सबही को पूर्ण अवतार मानते, अंश, कला भेद नहीं रखते थे। "विजयध्वजी" परिपाटी के अनुसार "श्रीमद्भागवत" की कथा कहते; श्रुति, स्मृति, पुराण, सबसे सम्मत, किसी से कुछ विरोध नहीं रखते; अपने भुजाओं पर भगवत् आयुधों की तप्त मुद्रा धारण किये हुए थे॥

---

(१०७) श्रीनारायणभट्टजी।

(४४२) छप्पय। (४०१)

"ब्रजभूमिउपासक" भट्ट सो, रचि पचि हरि एकै कियौ॥ गोप्यस्थल मथुरा मंडल जिते, "बाराह" बखाने। ते किये "नारायण" प्रगट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥ भक्ति-सुधा कौ सिंधु सदा सतसंग समाजन। परम रसज्ञ, अनन्य, कृष्णलीला कौ भाजन॥ ज्ञान समारत पच्छ कौं नाहिंन कोउ खंडन बियौ। "ब्रजभूमिउपासक" भट्ट सो, रचि पचि हरि एकै कियौ॥ ८७॥ (१२७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनारायणभट्टजी ब्रज की भूमि के उपासक हुए, नाम, रूप, लीला, धाम को एक ही करके (अभेद) मानते थे। आपने वाराहपुराणानुसार श्रीमथुरामण्डल के सब गोप्यस्थल प्रगट किये। आप भक्तिपीयूष-सागर, और सन्तों के समाजों में रहनेवाले, परम रसज्ञ, अनन्य, और श्रीकृष्णलीला के बड़े प्रेमी थे। किसी स्मार्त के पक्ष का खण्डन नहीं करते थे॥

(४४३) टीका। कवित्त। (४००)

भट्ट श्रीनारायनजू भये ब्रजपरायन, जायँ जाही ग्राम तहाँ व्रत करि

ध्याये हैं। बोलिकै सुनावैं इहाँ अमुकौ सरूप है जू, लीलाकुण्ड धाम स्याम प्रगट दिखाये हैं ॥ ठौर ठौर रासके बिलास लै प्रकास किये, जिये यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं। "मथुरा" ते कही "चलौ बेनी," पूछै "बेनी कहाँ?" "ऊँचे गाँव" आप खोदि सोत लै लखाये हैं ॥ ३५६ ॥ (२७३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनारायणभट्टजी व्रजभूमिपरायण हुए; जिस ग्राम में जाते व्रज का ही ध्यान किया करना ही आपका व्रत था; लोगों को बुलाकर बताते थे कि "यहाँ अमुक मूर्त्ति है, खोदो तो निकलै; यहाँ अमुक कुण्ड है, यहाँ अमुक धाम है," और प्रगट दिखा भी दिया करतेथे। ठौर ठौर रहस्य विलास प्रकाश करते कि "यहाँ हरि ने अमुक लीला की है;" जिसको जानकर रसिकों को बड़ा ही आनन्द होता था। आपने कहा कि "श्रीवेणी तीर चलो।" लोगों ने पूछा कि "वेणी कहाँ है?" आपने "ऊँचे गाँव" में उनको ले जा, पृथ्वी खोदवा, श्रीवेणीजी का स्रोत दिखा दिया ॥

---

(१०८) श्रीवल्लभजी।

(४४४) छप्पय। (३६६)

व्रजवल्लभ "वल्लभ", परम दुर्लभ सुख नैननि दिये ॥ नृत्य गान गुण निपुन रास में रस बरषावत। अब * लीला ललितादि बलित दम्पतिहिं रिझावत ॥ अति उदार निस्तार, सुजस व्रजमण्डल राजत। महा-महोत्सव करत, बहुत सबही सुख साजत ॥ श्रीनारायण-भट्ट, प्रभु, परम प्रीति रस बस किये। व्रजवल्लभ

---

* बहुतेरे कहते हैं कि आप (श्रीवल्लभजी) श्रीनारायणभट्टजी के शिष्य थे। और और लोगों का कहना है कि दोनों परस्पर प्रेमी थे। आप श्रीनाभा स्वामी के समय में, और विक्रमी संवत् १६३२, सन् १५७५ ईसवी के लगभग वर्त्तमान थे। उस समय के बादशाह की सम्मति लेकर और श्रीनारायणभट्टजी की सहायता पाकर, आपने रहस्य-लीला के महोत्सव का प्रकाश किया ॥

"वल्लभ," परम दुर्लभ सुख नैननि दिये ॥ ८८ ॥ (१२६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवल्लभजी ब्रजभूमि से बड़ी ही प्रीति रखते; और ब्रजमण्डल के लोग भी आपसे बड़ी प्रीति करते थे; क्योंकि आपने सबके नेत्रों को श्रीरहस्यलीला का दुर्लभ सुख दिया था; नृत्य, संगीत, और और गुणों में आप प्रवीण थे; और रहस्यलीला में आप आनन्दरस की वर्षा किया करते थे। श्रीललितादि सखियों समेत श्रीराधाकृष्णजी को रिझाया करते थे। आप कलिजीवों के निस्तारक हुए। श्रीब्रजमण्डल में आज भी आपका सुयश छा रहा है। बड़े सुख साज के साथ, महामहोत्सव किया करते थे। श्रीवल्लभाचार्यजी ने श्रीनारायणभट्ट को, परम प्रीति से रस वश किया था॥

---

(१०९) श्रीरूपजी। (११०) श्रीसनातनजी।*

(४४५) छप्पय। (३९८)

संसारस्वादसुख बांत ज्यों, दुहुँ "रूप," "सनातन," त्यागि दियौ॥ गौड़देश बंगाल हुते सबही अधिकारी। हय गय भवन भँडार बिभौ भूभुज उनहारी॥ यह सुखअनित्य बिचारि बास वृंदाबन कीन्हौ। यथालाभ संतोष कुंज करवा मनदीन्हौ॥ ब्रजभूमि रहस्य राधाकृष्ण भक्त तोष उद्धार कियौ। संसारस्वादसुख बांत ज्यों, दुहुँ "रूप," "सनातन," त्यागि दियौ॥ ८९॥ (१२५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजी दोनों भाइयों ने संसारस्वाद के

* ☞ आप संवत् १६३० सन् १५७३ ई० कलिअब्द ४६७४ में वर्त्तमान थे॥

सब सुखों को उबान्त (वमन किये हुए) की भाँति परित्याग किया ॥

आप गौड़देश बंगाले के शासक के एक बड़े अधिकारी थे; आप दोनों भाई बड़े विभव वाले थे; हाथी, घोड़े, भवन, भूमि, भंडार, सब कुछ भूभुज (अवनीश) केसे रखते थे । एक समय रुपये गिनते गिनते ही सारी रात व्यतीत हो गई। यह अनित्य सुख आपको ग्लानि तथा बड़ी विरक्ति का कारण हुआ। अपने गुरु श्रीनित्यानन्द-जी की आज्ञा से दोनों भाइयों ने श्रीवृन्दावन में वास किया। यथा-लाभसन्तोष यह आपमें पूरा था। केवल करवा कोपीन और श्री-वृन्दावन के कुंज के अतिरिक्त अन्य कुछ में आपने मन नहीं दिया। व्रजभूमि के तीर्थों को और श्रीराधाकृष्ण भक्तसुखकारी के रहस्य को प्रकाश दिया ॥

(४४६) टीका । कवित्त । (३९७)

कहत बैराग, गए पागि नाभा स्वामी जू वे, गई यों निवर तुक पाँच लागी आँचि है। रही एक माँझ, धस्यो कोटिक कवित्त अर्थ, याही ठौर लै दिखायो कविता को साँचि है ॥ राधाकृष्णरस की आचा-रजता कही यामें, सोई "जीवनाथभट्ट" छपै बानी नाँचि है । बड़े अनुरागी ये तौ, कहिबौ बड़ाई कहा, अहो जिन कृपादृष्टि प्रेम पोथी बाँचि है ॥ ३५७ ॥ (२७२)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीनाभा स्वामीजू महाराज श्रीरूपजी श्रीसनातनजी के वैराग्य ही के वर्णन में, अपने छप्पय के पाँच तुक तक निवर गए, ऐसे अनुरक्ति विरक्ति के आवेश में आप पग गए। बचे हुए केवल एक ही तुक में श्रीस्वामीजू ने कोटि कवित्त के अर्थ रखदिये; कविता की सचाई और स्वरूप ऐसे ही ऐसे ठौर में प्रगट होते हैं। श्रीराधा-कृष्णरस के आचार्य श्रीरूपजी श्रीसनातनजी हैं, यह आपकी आचा-र्यता कही है। इसी प्रकार श्रीजीवनाथभट्टजी के छप्पय में भी वाणी की चमत्कृति प्रगट है। आप बड़े ही अनुरागी थे इसका कहना ही क्या है। अहो ! जिनकी कृपाकटाक्ष से प्रेम की पोथी पढ़ी जाती है ॥

(४४७) टीका। कवित्त। (३९६)

बृन्दावन ब्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय, दई दरसाय जैसी शुक-मुख गाई है। रीतिहूँ उपासना की भागवत अनुसार, लियौ रससार सो रसिक सुखदाई है॥ आज्ञा प्रभु पाय पुनि "गोपीस्वर" लगे आय, किये ग्रंथ पाय भक्ति भाँति सब पाई है। एक एक बात में समात मन बुद्धि जब, पुलकित गात दृग झरी सी लगाई है॥ ३५८॥ (२७१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीब्रजभूमि वृन्दावन को उस समय प्रायः कोई नहीं जानता था; श्रीरूपजी, श्रीसनातनजी, दोनों भाइयों ने ही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी के अनुशासन से वहाँ आकर वैसी ही दिखा दी कि जैसी श्रीशुकदेव स्वामी ने वर्णन किया है। आपने उपासना की रसराशि रीति भी श्रीमद्भागवत के अनुसार प्रकाश की कि जो रसिकजनों को अति सुखदाई है॥

श्रीयमुनाजी, कुंजवन और दो चार घरों के पुरवे के अतिरिक्त उस समय वहाँ कुछ न था। श्रीवृन्दा देवीजी की पूजा के लिये लोगों का जाना सुन आप दोनों भी वहीं जा रात्रि में बसे। वृन्दा देवीजी ने दर्शन दिया॥

पुनि श्रीकृष्ण भगवान् की आज्ञा पाके श्रीगोपीश्वर महादेवजी के दर्शन किये। श्रीशिवजी के अनुग्रह तथा स्वप्न देने से श्रीरूपजी ने श्रीहरिभक्ति के विविध ग्रन्थ (भक्तिरसामृत, रससिद्धान्त, भगवदमृत, इत्यादि) रचे कि जिनकी एक एक बात में मन बुद्धि के प्रवेश करने से गात पुलकित होता है, और नयनों से प्रेमाश्रु की झड़ी सी लग जाती है॥

श्रीवृन्दा देवीजी ने आज्ञा की, तब इनकी मूर्त्ति को दोनों महानुभावों ने खोद निकाली और स्थापना किया। जब किसी की गऊ बच्चा देती है तो वह कुछ दिन तक श्रीवृन्दा देवीजी को दूध चढ़ाता है॥

(४४८) टीका। कवित्त। (३६५)

रहै "नन्दगाँव," "रूप" आये, श्री "सनातन" जू महासुख रूप भोग खीर कौ लगाइयै। नेकु मन आई, सुखदाई प्रिया लाड़िली जू मानौ कोऊ बालकी सुसोज सब ल्याइयै ॥ करिकै रसोई सोई, लै प्रसाद पायौ, भायो, अमल सो आयो चढ़ि, पूछी, सो जताइय। "फेरि जिनि ऐसी करौ यही दृढ़ हिये धरौ ढरौ निज चाल," कहि आँखैं भरि आइयै ॥ ३५६ ॥ (२७०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरूपजी नन्दगाँव से श्रीसनातनजी के पास आए। इनकी यह इच्छा हुई कि तस्मई (क्षीरान्न) युगलसर्कार को भोग लगाकर सोई प्रसाद ऐसे महानुभाव को पवावें। यह बात जैसे मन में आई ही थी कि परम सुखदाइनि श्रीराधिका लाड़िलीजू एक बालिका का रूप धर खीर भोग का सब सौंज ले ही आईं। श्रीसनातनजी ने रसोई करके श्रीयुगलसर्कार को भोग लगाया। जब दोनों प्रेमियों ने प्रसाद पाया, तो अद्भुत स्वाद आया बरन् कुछ अमल सा चढ़ आया। श्रीरूपजी ने इसका कारण पूछा। श्रीसनातनजी ने उत्तर में सब वार्ता कह सुनाई। श्रीरूपजी ने आज्ञा की कि फिर कभी ऐसा न हो, इस बात को हृदय में दृढ़ करके रक्खो। अपनी विरक्ति चाल पर ही चलो। दोनों मूर्त्ति श्रीललीजी की कृपा को स्मरण कर प्रेम जल आँखों से बरसाने लगे॥

(४४९) टीका। कवित्त। (३६४)

रूप गुण गान होत, कान सुनि सभा सब अति अकुलान प्रान, मूर्छा सी आई है। बड़े आप धीर रहे ठाढ़े, न सरीर सुधि, बुधि में न आवै ऐसी बात लै दिखाई है॥ श्रीगुसाईं "कर्णपूर" पाछे आय देखे आछे, नेकु ढिग भए, स्वास लाग्यौ तब पाई है। मानौ आगि आँच लागी, ऐसो तन चिह्न भयौ, नयौ यह प्रेम रीति कापै जात गाई है॥ ३६० ॥ (२६९)

वार्त्तिक तिलक ।

एक रात श्रीरूपजी श्रीगुसाईंजी के[1] समाज में श्रीहरिरूप गुण यश नाम का कीर्तन गान ऐसा हो रहा था कि समाज के समाज सब ही बेसुध हो रहे थे। प्रेम में प्राण ऐसे व्याकुल हुए कि सबको मूर्च्छा सी आ गई। परन्तु आप बड़े धीर थे खड़े ही रहे[2] हाँ, शरीर की सुधि तो न थी। गुसाईं श्रीकर्णपूरजी के मन में आया कि 'आपको देखें तो।' सो ये आपके कुछ समीप गए, आपके श्वास जो इनके लगे तो ऐसे तप्त थे कि मानों आग की आँच लगी; इनके शरीर में फफोले पड़ आए। यह प्रेमरीति नई है किससे इसका वर्णन हो सकै ॥

(४५०) टीका । कवित्त । (३९३)

"श्रीगोबिन्दचन्द" आय निसिकौ स्वपन दियौ, दियौ कहि भेदसब जासों पहिचानियै। रहौं मैं खरिक माँझ पोषैं निसि भोर साँझ, सीचैं दूध धार गाय, जाय देखि जानियै॥ प्रगट लै कियौ, रूप अति ही अनूप छबि, कबि कैसे कहै, थकि रहै, लखि मानियै। कहाँ लौं बखानौं भरै सागर न गागर में, नागर रसिक हिये निसि दिन आनियै॥ ३६१ ॥ (२६८)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीगोविन्दचन्द्रजी ने आपको स्वप्न में दर्शन देकर आज्ञा की कि "खरिक में अमुक ठिकाने मेरी मूर्त्ति है, भूमि खोदके निकालकर स्थापित करो;" पहिचानने के अर्थ गोविन्ददेवजी ने पूरे पूरे सब पते बता दिये और यह भी कहा कि "गऊ सब भोर साँझ वहाँ मुझको दूध चढ़ाती हैं, जाके देखो।" श्रीरूपजी श्रीसनातनजी ने श्रीगोविन्दचन्द्र की मूर्त्ति प्रगट की; ऐसी अनूप प्रतिमा कि उसकी छवि बखानने में कवि लोग थकित हो जाते हैं, देखते ही बनता है।

---

१ कहते हैं कि श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के गोलोकवासी होने पर आपके समाज के लोग श्रीपुरुषोत्तमपुरी से श्रीवृन्दावन में श्रीरूपसनातनजी के पास चले आए। २ जब शरीर का अभिमान नहीं रहता तो मूर्च्छा नहीं होती है ॥

मैं कहाँ तक बखान करूँ सागर कहीं गागर (घड़े) में समा सकता है ? रसिक जनों के हृदय में प्रभु दिन रात बिराजते हैं ॥

(४५१) टीका । कवित्त । (३६२)

रहैं "श्रीसनातन" जू "नन्दगाँव" "पावन" पै, आवन दिवस तीन दूध लै के प्यारियै। साँवरो किशोर, आप पूछे "किहिं ओर रहो ?" "कहे चारि भाई" पिता रीतिहूँ उचारियै ॥ गये ग्राम, बूझी घर, हरि पै न पाये कहूँ, चहूँ दिसि हेरि हेरि, नैन भरि डारियै। अब कै जो आवैं, फेर जान नहीं पावैं; सीस लाल पाग भावैं, निसि दिन उर धारियैं ॥ ३६२ ॥ (२६७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीसनातनजी नन्दगाँव में पावनसर पर रहते थे; श्रीप्रिया-प्रियतमजी की कृपा से दूध मिला करता था; एक बेर तीन दिन पर्यन्त नहीं मिला। चौथे दिन एक साँवले किशोर ने क्षीरान्न (खीर) प्रसाद लाकर दिया। आपने इनकी सुन्दरता देख पूछा "लाला! तुम रहते कहाँ हौ ?" आपने उत्तर दिया कि "मैं चार भाई हूँ," और अपने पिता का भी पता बताया। श्रीसनातनजी ने उस गाँव में जाकर उनका घर लोगों से पूछा परन्तु श्रीहरि का पता कहीं नहीं पाया! चारों दिशि ढूँढ़ थके, नेत्रों से आँसू बहाने और कहने लगे कि "वे चित्तचोर लाल पगियावाले अब यदि आवेंगे, तो फिर उनको जाने न दूँगा।" इसी भाँति प्रभु के प्रेम में आप मग्न रहा करते थे ॥

(४५२) टीका। कवित्त। (३६१)

कही ब्याली रूप बेनी, निरखि सरूप नैन, जानी श्रीसनातनजू काव्य अनुसारियै। "राधासर" तीर द्रुम डार गहि झूलैं, फूलैं, देखत लफलफात गतिमति वारियै ॥ आये यों अनुज पास, फिरैं आस पास, देखि भयो अति त्रास, गहे पाँउ, उर धारियै। चरित अपार, उभै भाई हित सार पगे, जगे जग माहिं, मति मन मैं उचा-रियै ॥ ३६३ ॥ (२६६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसनातनजी ने अपने अनूप काव्य में श्रीप्रियाजी की चोटी को व्याली रूप कहा है (नागिन की उपमा दी है)। श्रीरूपजी को दुष्ट जीव की उपमा भली नहीं लगी पर काव्यरीति समझ चुप रह गए। एक दिन श्रीराधासर के तीर एक वृक्ष में झूला देखा कि बहुत सी सखियाँ श्रीलाड़िलीजी को झुला रही हैं, और श्रीललीजी की वेणी ठीक ठीक नागिन के बच्चे की ही भाँति लहराती अत्यन्त शोभा देती है। आपको उस काव्य का स्मरण हो आया और आनन्द में फूले न समाए, गति मति सब न्यवछावर कर दिया॥

अनुज (छोटे भाई) के पास आ, आपकी परिक्रमा कर, पाँव पड़, बड़े त्रसित हुए; और सम्पूर्ण वार्त्ता कह सुनाई॥

दोनों भाइयों के प्रेम तथा चरित अपार, परमार्थसार, और जग में विख्यात हैं। मन बुद्धिको इसमें डुबा के परमसुख लेना चाहिये॥

श्रीरूप सनातनजी ने श्रीगोविन्दचन्द्रजी ❀ की पूजा की आज्ञा अपने भतीजे "जीवगुसाईंजी" को दी, ये गृहस्थाश्रम को त्याग कर आपके पास आगए थे॥

आमेर के राजा मानसिंह ने आपके दर्शन कर प्रार्थना की कि "कुछ आज्ञा कीजिये" आपने कहा "कोई आवश्यकता नहीं।" पर बड़ा हठ और विनय से आज्ञा की कि "श्रद्धा हो तो श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर बनवादो।" राजा मानसिंह ने (कहते हैं कि तेरह लाख रुपए में, अकबर बादशाह से आज्ञा लेकर लाल पत्थर से कि जिससे उन्हीं दिनों में संवत् १६२१। १६३१ में अकबराबाद (आगरे) का किला बन रहा था) बनवा दिया॥

❀ राजा जयसिंह (जयपुर) वाराहपुराण में श्रीगोविन्ददेवजी के दर्शन का माहात्म्य सुन वृन्दावन में आ बड़ी विनती प्रार्थना कर श्रीगोविन्दचन्द्रजी को जयपुर ले गया; यहाँ आपकी एक मूर्त्ति बनवाकर रख गया। यह बात "मुहम्मदशाह" बादशाह के समय में हुई कि जिसका राज्य विक्रमी संवत् १७७६ से १८०५ तक था॥

(१११) श्रीहितहरिवंशजी।

(४५३) छप्पय। (३९०)

(श्री) हरिबंश गुसाईं भजन की, रीति सकृत कोउ जानिहै॥ (श्री) राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी। कुंज केलि दंपति, तहाँ की करत खवासी *॥ सर्बसु महा प्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी। बिधि निषेध नहिं, दाम †अनन्य उतकट ब्रत धारी॥ ब्यास-सुवन पथ अनुसरै, सोई भलै पहिचानि है। (श्री) हरिबंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है॥ ९०॥ (१२४)

स० "आनन ओप मयङ्क लजावत भावत भाव भरी निपुनाई।
त्यों जलजात लजात बिलोकत कोमल पाँयन की अरुनाई॥
अङ्गन की दुति कोटि अनङ्ग के अङ्ग की मोचति जेट ‡ निकाई।
को ब्रजबल्लभ धीर धरै लखि जानकीनाथ की सुन्दरताई॥"

ब्रजनन्दन सहाय (ब्रजवल्लभ) अखतियारपुरी
(शाहाबादी) विरचित सवैया।

वार्त्तिक तिलक।

गुसाईंजी श्रीहितहरिवंशजी के भजन की रीति बिरलय कोई जान सकता है। श्रीप्रिया प्रियतम के चरणों के उपासक थे। श्रीराधाजी को प्रधान मानते थे। आपके हृदय में अति सुदृढ़ भक्ति थी। दम्पति के कुंजकेलि के विशेष कैंकर्यभावना में सखीभाव से किया करते थे। श्रीमहाप्रसाद में आपका विश्वास प्रसिद्ध है; उसके बड़े अधिकारी थे क्योंकि महाप्रसाद को अपना सर्वस्व जानते थे। 'विधि निषेध' (सामान्यधर्म) पर चित्त न देकर, भागवतधर्म (विशेषधर्म) मालाकंठी अनन्य भक्ति का उत्कट व्रत मन में रखकर श्रीराधाकृष्ण की बड़ी भाग्यवती दासी रहे। श्रीव्याससुवन

*"खवासी خواصی"=विशेष कैंकर्य। † "दाम"=माला। पाठान्तर "दास"। ‡ जेट=समूह॥

(श्री १०८ शुकदेवजी) के * तथा आपके मार्ग पर चलनेवाला ही भाग्यभाजन इस पथ को पहिचान सकता है, और प्रायः प्रेमी रसिक जन कोई कोई जानते हैं॥

दो० "श्रीजानकी पद कंज, सखि! करहिं जासु उर ऐन।
बिनु प्रयास तेहि पर द्रवहिं, सियपिय राजिवनैन॥ १॥
जय जानकि मम स्वामिनी, जय स्वामी सियनाह।
सियसहचरि नित चाहती, सिय सियपिय की चाह॥२॥"
"नमो नमः श्रीजानकी, नमोनमो श्रीराम।
कमलाअलि बर माँगती, युगलप्रेम निःकाम॥ ३॥"
"श्रीराधा जहँ पगधरैं, कृष्ण धरैं तहँ नैन।"

(४५४) टीका। कवित्त। (३८९)

हितजू की रीति कोऊ लाखनि मैं एक जानैं; "राधा ही † प्रधान मानै पाछे कृष्ण ध्याइयै। निपट बिकट भाव, होत न सुभाव ऐसो; उनहीं की कृपादृष्टि नेकु क्यों हूँ पाइयै॥ बिधि औ निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये, जिये निज दास निसि दिन वहै गाइयै। सुखदचरित्र, सब रसिक बिचित्र नीके जानत प्रसिद्ध, कहा कहिकै सुनाइयै॥ ३६४॥ (२६५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहितहरिवंशजी की भजन-रीति, लाखों में कोई एक जानता होगा; श्रीराधाकृष्णजी का ध्यान किया करते, पर प्रधान श्रीराधा जी ही को मानते थे। यह भाव निपट विकट है, ऐसा सुभाव श्रीयुगल सर्कार की कृपा ही से होता है; आपकी ही कृपा से किसी को कुछ कुछ यह भाव मिल सकता है॥

आप विधि तथा निषेध के झंझट से निर्द्वन्द्व थे; उनके प्राण प्राणनाथ ही थे जो हृदय में बसते थे; निशिदिन आप श्रीदम्पति की सेवा अति प्रीति से करते और दम्पतिकेलि का ही गान किया करते थे। सुखदाई विचित्र चरित्रों को सब विलक्षण रसिकजन भलीभाँति जानते हैं यह प्रसिद्ध ही है, मैं कहाँ तक कह सुनाऊँ॥

* श्रीहरिवंशजी के पिता का भी नाम "व्यास" जी था। † पाठान्तर "राधाई"॥

☞ "श्रीराधावल्लभी" शृङ्गारभाव के आचार्य आपही हैं॥

दो० "सुमुख, सुलोचन, सरल, सत, चिदानन्द, छविधाम।
प्रानप्रान, जियजीव के, सुखके सुख, सियराम॥"

सो० प्रान तोर, मैं तोर, बुधि, मन, चित, यश, तोर सब।
एक तुही तो मोर, काह निवेदौं? तोहिं पिय॥

दो० इत्र पान इत्यादि लिये, बचन कर्म मन नेम।
रुपिया श्रीसम्मुख सदा, सादर खड़ी सप्रेम॥

(४५५) टीका। कवित्त। (३८८)

आये घर त्याग, राग बढ़्यौ प्रिया प्रीतमसों, बिप्र बड़ भाग हरि आज्ञा दई जानियै। तेरी उभै सुता, ब्याह देवौ, लेवौ नाम मेरौ, इनकौ जो बंस सो प्रसंस जग मानियै॥ ताही द्वार सेवा बिसतार निज भक्तन की अगतिन गति, सो प्रसिद्ध पहिचानियै। मानि प्रिय बात गहगह्यौ सुख लह्यौ सब, कह्यौ कैसे जात यह मत मन आनियै॥ ३६५॥ (२६४)

वार्त्तिक तिलक।

आप देवनन्द (सर्कार सहारनपूर) के वासी, व्यासजी नाम गौड़ ब्राह्मण तथा श्रीतारा देवी के पुत्र थे। आपके पिता बादशाह के नौकर भारी अधिकार वाले थे। श्रीनृसिंह भगवान् की कृपा से दम्पति श्रीताराव्यास के पुत्र अर्थात् इन्हीं श्रीहितहरिवंशजी का जन्म, विक्रमी संवत् १५५६ में हुआ। रुक्मिणि नाम स्त्री से आपके दो पुत्र और एक कन्या हुई, जिसके विवाह से श्रीकृपा से शीघ्र भार रहित होकर आप घर छोड़ श्रीवृन्दावन आए; श्रीयुगलसर्कार के चरणों में अधिक अनुराग बढ़ा, विशेषतः श्रीराधाजी के पदकंज में जिनकी कृपा अपार हुई॥

एक ब्राह्मण बड़भागी को प्रभु ने स्वप्न में आज्ञा की कि "हित-हरिवंशजी को मेरी आज्ञा सुनाके तुम अपनी दोनों लड़कियाँ ब्याह दो; इनसे जग में प्रशंसनीय बंश होगा यह विश्वास करो; मैं उन्हीं के द्वारा निज भक्तों को भक्ति वृद्धि और बद्ध जीवों को कल्याण

गति दूँगा इसको प्रमाण जानो।" इस प्रिय वाणी को सुन सब बड़े प्रसन्न हुए। जैसी रीति श्रीराधावल्लभजी की सेवा प्रीति की आपके सम्प्रदाय में प्रगट हुई, मन में समझने की बात है कही कैसे जावै। आप बीड़ा प्रसाद को एकादशी व्रत से लाख गुना अधिक समझते थे। इसकी चमत्कृति श्रीवृन्दावन में देखिये। वहाँ श्रीप्रियाजी का प्रताप प्रत्यक्ष है॥

(४५६) टीका। कवित्त। (३८७)

राधिकावल्लभलाल आज्ञा सो रसाल दई सेवा मो प्रकास औ बिलास कुंज धामकौ। सोई बिसतार सुखसार दृग रूप पियौ, दियौ रसिकनि जिन लियौ पच्छ बामकौ॥ निसि दिन गान रस माधुरी कौ पान उर अंतर सिहान एक काम स्यामास्यामकौ। गुन सो अनूप कहि, कैसे कै सरूप कहै, लहै मन मोद, जैसे और नहीं नामकौ॥ ३६६॥ (२६३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीराधिकावल्लभलाल ने रसाल आज्ञा दी जिससे सेवा की रीति का और कुंज तथा धाम के विलास का प्रकाश हुआ। सोई सुखसार का विस्तारपूर्वक श्रीकृपा से आँखों से दर्शन पाया, और रसिकों को बताया, इन भाग्यभाजनों ने श्रीप्रियाजी की प्रधानता मान ली और आपका पक्ष लिया। रात दिन श्रीयुगलसर्कार के यश को गाते थे, रस माधुरी को पीते थे, कोई अन्य कामना नहीं रखते थे, केवल युगलसर्कार को हृदय के भीतर सिंहासन पर विराजमान कराए रहते थे। अनूप गुण नाम रूप हैं, मन ही उनसे मोद पाता है; कहते नहीं बनता॥

---

(११२) श्रीहरिदासजी रसिक।

(४५७) छप्पय। (३८६)

"आसधीर" उद्योतकर, "रसिक" छाप हरिदास की॥ जुगल नामसौं नेम, जपत नित कुंजबिहारी। अवलोकत रहैं केलि, सखी सुख के अधिकारी॥ गान

कला गंधर्व, स्याम स्यामा कों तोषैं। उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं॥ नृपति द्वार ठाढ़े रहैं, दरसन आसा जास की। "आसधीर" उद्योत कर, "रसिक" छाप हरिदास की॥ ९१॥ (१२३)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी श्रीहरिदासजी शृङ्गारउपासना में बड़े ही दृढ़ और धीर हुए। अपने पिता श्रीआसधीरजी के सूर्यवत् प्रताप से रसिकों में आप प्रसिद्ध हुए। आप "श्रीरसिकजी" इस नाम से प्रसिद्ध थे। आपका नेम प्रेम श्रीयुगल नाम (श्रीराधाकृष्ण) से था; "श्रीकुंजविहारी" को नित्य जपा करते थे। रसराज अर्थात् सखी सुख के अधिकारी थे, श्रीप्रियाप्रियतम की केलि (विहार) को सदैव देखा करते; संगीतकला में गन्धर्व से बढ़के थे; अपने गान से श्रीयुगल सर्कार को तुष्ट रखते; उत्तम उत्तम भोग लगाया करते; प्रसाद सन्तों तथा बन्दरों, मयूरों, मछलियों को भी बड़ी प्रीति से पवाते थे। आपके दर्शन के लिये राजा लोग द्वार पर खड़े रहा करते थे॥

(४५८) टीका। कवित्त। (३८५)

स्वामी "हरिदास" रसरास को बखान सकै, रसिकता छाप जोई जाप मधि पाइयै। ल्यायौ कोऊ चोवा, वाकौ अति मन भोवा वामैं, डार्यो लै पुलिन यह, "खोवा" हिये आइयै। जानिकै सुजान, कही "लै दिखावौ लाल प्यारे", नैसुकु* उघारे पट सुगँध बुड़ाइयै। पारस, "पाषान" करि जल डरवाय दियौ, कियौ तब शिष्य; ऐसे नाना विधि गाइयै॥ ३६७॥ (२६२)

वार्त्तिक तिलक।

रसिक स्वामी श्रीहरिदासजी के रसरास वा शृङ्गारनिष्ठा का वर्णन किससे हो सकता है। श्रीयुगल सर्कार के नित्यविहार में सखी

* "नैसुकु"=किंचित् पट, परदा, तथा श्रीअङ्ग के वस्त्र॥

भावना से प्रस्तुत रहा करते थे। एक समय युगल मंत्र का जाप कर रहे थे, उसी के मध्य श्रीभगवत् का वचनामृत हुआ कि तुमको "रसिक" कहकर लोग नाम लिया करेंगे ॥

किसी भक्त ने आपको चोआ (इत्र) भेंट किया, जिसको वह अति उत्तम समझता और जो उसके जी को बहुत ही भाता था। आपने उसको ध्यान से होली में प्रभु के ऊपर और देखने में तो श्रीयमुनाजी के पुलिन (रेत) में, जहाँ बैठे थे, डाल दिया। उसने खेद कर मन में कहा कि "ऐसा उत्तम विष्णु तैल, सो खो गया!" सुजान रसिकजी ने उसके मन की जानली। आपने एक दास को आज्ञा की कि "इनको ले जाकर श्रीबाँकेबिहारी-लालजी के दर्शन कराओ।" लिवा जाकर उसने पट उघारके दिखाया तो श्रीविहारीजी के वस्त्र चोआ से सराबोर, तथा सारा मन्दिर वैसे ही सुगन्ध से भरपूर पाया कि जैसा सुगन्ध उसके निवेदित चोआ में था। श्रीस्वामी-जी के इस प्रभाव को समझकर वह बड़ा लज्जित और हांषत हुआ ॥

एक मनुष्य आपके पास शरणागत होने आया; उसने एक पारस-मणि को भेंट में दिया। आपने पहिले उसे "पाषाण" कह यमुनासरित के जल में फेंकवा दिया। तब उसको शिष्य किया ॥

उस समय का बादशाह (अकबर), वेष छुपाके तानसेन के साथ जाकर आपके दर्शनों से कृतार्थ हुआ। संवत् १६११ से १६६२ के मध्य किसी समय की यह घटना है ॥

ऐसे ऐसे चरित आपके नाना प्रकार से गाए गए हैं ॥

---

(११३) श्रीहरिवंशजी के शिष्य श्रीव्यासजी।

(४५६) छप्पय। (३८४)

उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ, भक्त इष्ट अति "ब्यास" के ॥ काहू के आराध्य मच्छ, कच्छ, नरहरि, सूकर। बामन, फरसाधरन, सेतुबंधन जु सैलकर ॥ एकन के यह रीति नेम नवधा सों लायें। सुकुल सुमोखन सुवन

अच्युत गोत्री जु लड़ायें॥ नौगुण तोरि नुपुर गुह्यौ महत सभा मधि रास के। उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ, भक्त इष्ट अति "ब्यास" के॥ ९२॥ (१२२)

वार्त्तिक तिलक।

संतसेवी श्रीव्यासजी ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक और श्रीतुलसी की कण्ठी-माला पर विशेष आग्रह रखते; माहात्म्य बड़ाई करते तथा हरिभक्तों को आप अपना परम इष्टदेव ही मानते थे। कोई कोई श्रीभगवत् के मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुरामादिक अवतारों की आराधना करते हैं; कोई कोई श्रीकृष्णचन्द्रजी की उपासना करते हैं; किसी किसी के सर्वस्व श्रीसीतापति रामचन्द्रजी ही हैं; और किसी किसी को भगवत् की नवधा भक्ति का नियम होता है; परन्तु श्रीसुमोखनजी के पुत्र श्रीशुक्ल श्रीव्यासजी महाराज तो अच्युत गोत्री (भागवत, वैष्णव, भगवद्भक्त, सन्त) ही को अपना इष्ट जानकर भक्तों ही के लाड़-प्यार उपासना पूजा किया करते थे॥

एक रात शरदपूनों के रास रहस्य समाज के समय श्रीप्रियाजी का नूपुर टूट गया; वहीं उसी क्षण अपने कंधे का नवगुण अर्थात् यज्ञोपवीत तोड़कर उसी से श्रीपदपंकज के घुंघरू को गूँथकर आपने ठीककर पहना दिया। प्रेम की जय!!!

(४६०) टीका। कवित्त। (३८३)

आये गृह त्यागि, बृन्दाबन अनुराग करि, गयौ हियौ पागि होय न्यारो तासों खीझियै। राजा लैन आयो ऐपै जायबौ न भायो; श्री-किशोर उरझायौ मन, सेवा मति भीजियै॥ चीरा जरकसी सीस चीकनौ खिसिलि जाय, "लेहु जू बँधाय, नहीं आप बाँधि लीजियै"। गये उठि कुंज, सुधि आई सुखपुंज, आये देख्यौ बँध्यौ मंजु, कही "कैसें मोपै रीझियै"॥ ३६८॥ (२६१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीव्यासजी सनाढ्य ब्राह्मण, (महात्मा सुमोखन शुक्लजी बुंदेलखंडी ओड़छा निवासी के आत्मज) बड़े धर्मप्रचारक, श्रीराधा-वल्लभीय सम्प्रदाय के हुए। आपका पहिला नाम "हरीराम" था। "ओड़छे" के रहनेवाल थे। जब पैंतालीस वर्ष के हुए तब, संवत् १६१२ में, घर त्यागकर श्रीवृन्दावन आए। आपकी पद्धति के, (१) वृन्दावनी व्यासवंशी गुसाईं, और (२) ओड़छावाले गुसाईं दो नामों से विख्यात हैं॥

आपको श्रीवृन्दावन में विशेष निष्ठा थी; धाम के प्रेम में आपके अन्तःकरण पग रहे थे। जो श्रीवृन्दावन से जाया चाहता, आप उससे अप्रसन्न होते; ओड़छे का नरेश "मुद्गर" एक समय आपको विनयपूर्वक लेने आया; पर आपको श्रीवृन्दावन से अन्यत्र जाना नहीं भाता था; राजा को दिखाकर एक भंगिन के हाथ के पत्तल से श्रीगोविन्दप्रसाद सन्तों का उच्छिष्टसीथ आप लेकर पागए (खा लिया), भला इस मर्म को नृपति क्या समझ सकता? वह लौट गया; आप अति प्रसन्न हुए, आपकी मति और मन तो श्रीकिशोर-सेवा में गठे थे, कहने लगे कि "संसार एक पकौड़ी ही का हुआ॥"

एकबेर परमोत्तम चीरा श्रीठाकुरजी के सीस में बाँध रहे थे, चिकनाई से सरक सरक जाते देख आप मन्दिर से यह कहते निकले कि "मुझसे बँधा लीजिए, यदि मेरा बाँधा नहीं भावै तो आपही बाँध लीजिये।" और सेवाकुंज दर्शन करने चले गए; कुछ क्षण बीते गृह के लोगों ने चीरा बाँधे देख जा सुनाया; आप सुखपुंज पाय फिर गए तो ऐसा सुन्दर बँधा दर्शन पाया कि हर्ष से फूले न समाए; सब दर्शन करके चीरा की बँधाई की प्रशंसा करने लगे। आप बोले कि "जब आप ही ऐसा सुन्दर बाँध सकते हैं, तब भला इस दीन का बाँधा क्योंकर भावै॥"

(४६१) टीका। कवित्त। (३८२)

संत सुख दैन बैठे संग ही प्रसाद लैन, परोसति तिया सब भाँ-तिन प्रबीन है। दूध बरताई लै मलाई छिटकाई निज, खीझि उठे,

जानि पति पोषति नवीन है ॥ सेवासों छुटाय दई, अति अनमनी भई, गई भूख बीते दिन तीन तन छीन है। सब समझावैं, तब दंड को मनावै, अंग आभरन बेंचि साधु जेंवैं यों अधीन है ॥ ३६९ ॥ (२६०)

वार्त्तिक तिलक ।

सन्तों को सुख देनेवाले (श्रीव्यासजी) सन्तों को प्रसन्न रखने के अर्थ श्रीभगवत्प्रसाद साथ ही (पंगत में) पाया करते थे। सब प्रकार प्रवीण स्त्री परसा करती थी, यह सेवा उसी की थी। एक दिन दूध परसने में मलाई फिसलकर आपके पात्र में आ गिरी; आपको नवीन सन्देह हुआ कि पति जानकर विशेष पोषण मेरा इसके चित्त में आया; ऐसा सोचकर आपने उस पर बड़ा क्रोध किया। वह सेवा उनसे आपने छुड़ा दी; सुशीला बड़ी अनमनी हो तीन दिन तक भूखी रह गई। उन्हें तनक्षीण देख सबने श्रीभक्तजी को समझाया, तब आपने उन्हें यह दंड किया कि वह सब भूषण बेंचके सन्तों का एक भंडारा करदें॥

दो० "तब निज भूषण बेंचिकै, नारी अति हरषाय ।
सन्तसमाज बुलाइकै, सादर दियो खवाय ॥"

तब आपने उनको फिर सेवा दी ॥

(४६२) टीका । कवित्त । (३८१)

सुता कौ बिबाह भयौ, बड़ौ उत्साह कियौ, नाना पकवान सब नीके बनिआये हैं। भक्तनि की सुधि करी, खरी अरबरी मति, भावना करत भोग सुखद लगाये हैं ॥ आय गये साधु, सो बुलाय कही पावैं जाय; पोटनि बँधाय चाय कुंजनि पठाये हैं। बंसी पहिराई; द्विज भक्ति लै दृढ़ाई; संत, संपुट * मैं चिरैया दै, हित सों बसाये हैं ॥ ३७० ॥ (२५९)

वार्त्तिक तिलक।

आपकी लड़की के विवाह में, बड़े उत्साह से बारात के लिये नाना प्रकार के अच्छे अच्छे पकवान घरवालों ने बनवाए। श्रीव्यासजी ने देखे। उन सबको सन्तों के योग्य समझकर आपकी भक्ति-

* "सम्पुट"=जिस डब्बा में ठाकुरजी को रखकर बटुआ में धरते हैं ॥

वती बुद्धि चंचल हो विचारने लगी; आपने भावना में भगवत् को भोग लगाकर चुपके से सन्तों भक्तों को बुलाबुलाकर कुछ को तो भोजन करा दिये और औरों को बड़ी बड़ी गठरी बँधा पारस दे दे दिये, वरन् कुंजों में भेज भेज दिये। परिवारवालों को बारात के लिये पुनः सामाँ नहीं बनवानी पड़ी वरन् "मिली साजु जैसी की तैसी॥"

एक दिन एक वंशी सोने व चाँदी की श्रीकिशोरजी के हाथों में धारण कराते समय श्रीअंगुली कुछ छिल गई, लहू निकल आया! श्रीव्यासजी बहुत पछताए और शीघ्र ही जल से आर्द्र वस्त्र (भीगा कपड़ा) श्रीअंगुलियों में बड़े प्रेम से बाँधा। * दृढ़ भक्ति तथा माधुर्य भाव की जय॥

पश्चिम देश के एक ब्राह्मण आपके यहाँ सीधा ले अलग रसोई करते पानी चमड़े के छागले में भरके काम में लाते; आपने उनको नए जूते में भरके घी, और द्विज देवता के क्रुद्ध होने पर यह उत्तर दिया कि "जिस धातु का आपका जलपात्र है उसी धातु का तो यह घृतपात्र भी है" विप्रजी लज्जित और भक्त हो भगवत्प्रसाद पाने लगे। यों उनको भक्ति में आपने दृढ़ कर दिया॥

एक सन्त श्रीयुगल सर्कार को गीत बड़ी अच्छी भाँति से सुनाया करते थे। इसलिये आप उन्हें जाने के समय बराबर प्रेम से रोक लिया करते थे। एक दिन उस सन्त ने हठ करके अपने ठाकुर का बटुआ माँगा; आपने श्रीशालग्रामजी के बदले एक गौरैया चिड़िया उनके सम्पुट में रखकर बटुआ में धरके उनका बटुआ उनके हाथों में दिया। मार्ग में जब श्रीयमुनातट पूजने को सन्त ने बटुआ खोला तो चिड़िया श्रीकृपा से जीती हुई निकलकर फुर्र से उड़ गई। साधु देवता लौटकर आपसे पूछने लगे "मेरे ठाकुरजी उड़ आए हैं?" आपने कहा "देखलूँ।" आप मन्दिर में से आकर कहने लगे कि "हाँ, वृन्दावन से नहीं जाया चाहते।" सन्त प्रसन्न हो प्रेम से श्रीवृन्दावन में बसे। प्रेम धन्य, कृपा धन्य, धामनिष्ठा धन्य॥

---

* वहाँ ठाकुरजी की उँगली में अभी तक भीगे कपड़े के बाँधने की परम्परा चली आती है॥

(४६३) टीका। कवित्त। (३८०)

सरद उज्यारी रास रच्यौ पिया प्यारी, तामें रंग बढ़यौ भारी, कैसे कहिकै सुनाइयै। प्रिया अति गति लई, बीजुरी सी कौंधि गई, चकचौंधी भई छबि मंडल मैं छाइयै॥ नूपुर सो टूटि छूटि पस्यौ, अरबस्यौ मन, तोरिकै जनेऊ, कस्यौ वाही भाँति भाइयै। सकल समाज मैं यों कह्यौ "आज काम आयौ, ढोयो हौं जनम," ताकी बात जिय आइयै॥ ३७१॥ (२५८)

वार्त्तिक तिलक।

एक शरदपूनो की रात को रास होरहा था, समाज में प्रेम रंग बहुत बढ़ाचढ़ा था, वर्णन कैसे हो सकै। श्रीप्रियाजी ने आवेश से ऐसी गति ली कि मण्डली में मानों बिजलीसी चमक उठी। ऐसा प्रकास हो गया, सबकी आँखों में चकाचौंध हो गया। परन्तु श्रीप्रियाजी का नूपुर (घुँघुरू) टूट गया, दाने छितरा गए। आपका मन चंचल हुआ, शीघ्र ही आपने अपना जनेऊ तोड़कर उससे ठीकठाक कर चरण में धारण करा दिया; और उस भरे महात्माओं के समाज में बोले कि "यज्ञोपवीत के भार को जन्म भर ढोया, पर वह आज काम आगया॥"

(४६४) टीका। कवित्त। (३७६)

गायौ "भक्त इष्ट अति," सुनिके महंत एक, लैनकों परीच्छा आयौ, संग संतभीर है। भूख कों जतावै, बानी ब्यास को सुनावै, सुनि कही भोग आव इहाँ, मानै हरि धीर है॥ तब न प्रमान करी, संक धरी, लै प्रसाद ग्रास दोय चार, उठे मानों भई पीर है। पातर समेट लई "सीत करि मोकों दई; पावौ तुम और;" पाव लिये, हग नीर है॥ ३७२॥ (२५७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभास्वामी ने जो अपने छप्पय (मूल ६२) में यह कहा कि "भक्तइष्ट अति व्यासकें," सो सुनकर एक महन्तजी श्रीव्यासजी की परीक्षा लेने आए, उनके साथ सन्तों

की भीड़भाड़ भी थी। श्रीव्यासजी को सुनाकर महन्त ने कहा "मैं भूख से अतीव पीड़ित हूँ।" आपने कहा "भोग का थार जा चुका है, तनक धीर धरिये, पंगति हुआ ही चाहती है।" यह सुन महन्तको इनके 'भक्तइष्ट' होने में शंका हुई श्रीनाभा स्वामी के वचन को प्रमाण न माना; पुनः "भूख भूख" बोल उठे। आप तो सन्तों में वस्तुतः श्रीहरि का भाव रखते थे ही, आपने चटपट कहा कि "हाँ, भोग आता है"; यह कह आपने भोग मँगा ही दिया। महन्तजी ने प्रसाद केवल दो चार ग्रास पाकर, पेट में पीड़ा के आदर से, छोड़ दिया। श्रीव्यासजी ने उसको भागवतप्रसादी मानकर अपने पाने के अर्थ पत्तल समेटके रख लिया; और बोले कि "आपने बड़ी कृपा की जो मेरे लिये प्रसादी कर दी। पर आपने पूर्ण होके पाया नहीं, सो और भोग आता है, कृपाकर आप अवश्य पाइये।" आपका यह निश्छल दृढ़ भाव सन्तों में देख, महन्तजी के नेत्रों में अश्र भर आए; पाँव पकड़कर कहने लगे कि "मैं परीक्षा लेने आया था वास्तव में आप भगवद्भक्तों को अति इष्टदेव मानते हैं, श्रीनाभा स्वामी ने यथार्थ लिखा है॥"

चौपाई।

"साधु कह्यो तब भरो हुलासा। सत्य, व्यास! तुम भक्तन-दासा॥"

(४६५) टीका। कवित्त। (३७८)

भये सुत तीन, बाँट निपट नवीन कियौ, एक ओर सेवा, एक ओर धन धस्यो है। तीसरी जु ठौर स्याम बंदनी औ छाप धरी, करी ऐसी रीति, देखि बड़ौ सोच पस्यौ है॥ एक ने रुपैया लिये; एक ने किसोर जू कों; श्री "किसोरदास" भाल तिलक लै कस्यौ है। छापे दिये स्वामी हरिदास; निसि रास कीनौ, वही रास ललितादि गायो मन हस्यौ है॥ ३७३॥ (२५६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीव्यासजी के तीन लड़के थे उनके लिये आपने पूँजी की बाँट बड़ी विलक्षण (नए ढंग की) की; और तीनों से कहा कि "जिसका

जो जी चाहे इन तीनों में से सो सोही ले लेवै।" एक (रासदास) ने धन रुपए लिये; दूसरे (विलासदास) ने सेवा (श्रीकिशो ठाकुरजी को); और तीसरे ने जिसका नाम श्रीकिशोरदास था स्यामबंदनी और छाप तिलक माथे चढ़ालिया। स्वामी हरिदासजी से छाप धारण कराकर श्रीकिशोरदासजी हरिकृपा से भजन में मग्न हुए॥

एक दिन श्रीकिशोरदासजी स्वामी श्रीहरिदासजी तथा श्रीव्यासदेवजी के साथ यमुनाजी के तट गए और वहाँ अपना बनाया एक भजन रहस्य का गा सुनाया। उसी रात को श्रीव्यासजी ने दिव्य रहस्य में उसी पद को श्रीललिताजी को गाते सुना। श्रीव्यासजी की और श्रीकिशोरदासजी की जय! जय!! जय!!!

---

(११४) श्रीजीवगुसाईंजी।

(३६६) छप्पय। (३७७)

(श्री) "रूप" "सनातन" भक्तिजल, "जीवगुसाईं" सर गँभीर॥ बेला भजन सुपक्क, कषाय न कबहूँ लागी। वृन्दावन दृढ़बास जुगलचरननि अनुरागी॥ पोथी लेखन पान अघट अक्षर चित दीनौं। सदग्रंथनि कौ सार सबै हस्तामल कीनौं॥ संदेह ग्रंथि छेदन समर्थ, रस रास उपासक परम धीर। (श्री) "रूप" "सनातन" भक्तिजल, "जीवगुसाईं" सर गँभीर॥ ६३॥ (१२१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरूपजी और श्रीसनातनजी की भक्तिरूपी जल के, उनके भतीजे तथा शिष्य श्रीजीवगुसाईंजी श्रीहरि-कृपा से गम्भीर सरोवर के सरिस हुए; अर्थात् उन दोनों की भक्तिरूपी जल इनके हृदयसर में भर गया। उस सर के बेला (मर्जादा, घाट) सम श्रीभगवद्भजन की परिपक्वता (सिद्धता) को जानिये। श्रीजीवगुसाईंजी की भक्तिरूपी जल में कषाय (काई) कदापि नहीं लगी॥

आप पुस्तक लिखने में अति प्रवीण दत्तचित्त चमत्कार युक्त थे अर्थात् अति ललिताक्षर अति शीघ्र अति शुद्ध अति स्पष्ट तथा एक पृष्ठ लिखके सूखने को रख दूसरे पत्रा के पृष्ठ को लिखकर फिर पूर्व पत्रा के पृष्ठ को लिखते थे, परन्तु एक अक्षर घटबढ़ नहीं होता था। वेद, पुराण, शास्त्र, स्मृति और संहिताओं के भाव समझने में, सिद्धान्त प्रमाण जानने में, आपने पूरा चित्त लगाया ॥

सब ऐश्वर्य और संपत्ति तृणसम परित्याग करके श्रीवृन्दावन में आके दृढ़ निवास किया। श्रीयुगलसर्कार के चरणों के बड़े भारी अनुरागी हुए। सब सद्ग्रन्थों के सार को आपने ऐसा अभ्यास और मनस्थ किया था कि जैसे मनुष्य अपनी हथेली पर के आँवले को सम्पूर्ण प्रकार से रेखा रेखा भली भाँति देखता है। सन्देहरूपी गिरहों को खोलने में आप परम समर्थ, महावैराग्यवान्, शान्त, बड़े धीर, तथा रसज्ञ; और परम रहस्योपासक थे ॥

आप एक दिन बहुमूल्य पाटाम्बर पहने थे, देखकर श्रीरूपसनातन-जी ने कहा "विरक्त कहलाकर यह वस्त्र ?" आपने उसी घड़ी किसी को दे डाला और, ग्राम के बाहर श्रीयमुनाजी के तीर कुटी बनाकर भजन में मग्न रहने लगे। आपकी वृत्ति तथा प्रेम देखकर, श्रीरूप और सनातनजी ने विशेष शिक्षा दी और अत्यन्त कृपा की। गुप्त रखने की आज्ञा दी, पर आपने सबके हित के लिये प्रगट कर दिये ॥

(४६७) टीका। कवित्त। (३७६)।

किये नाना ग्रन्थ, हृदै ग्रन्थि दृढ़ छेदि डारैं, डारैं धन यमुना में आवैं चहूँ ओर तें। कही दास "साधुसेवा कीजै" कहैं "पात्रता न," "करों नीके" करी; बोल्यौ कटु कोप जोर तें॥ तब समझायौ, सन्तगौरव बढ़ायौ, यह सबकों सिखायौ, बोलैं मीठौ निसि भोर तें। चरित अपार, भाव भक्ति कौ न पारावार, कियो ऊ बैराग सार कहै कौन छोरतें॥ ३७४ ॥ (२५५)

वार्त्तिक तिलक।

आपने अनेक ग्रन्थ बनाए जो हृदय की दृढ़ ग्रन्थियों को भली

भाँति काट देते हैं। आपके पास चारों ओर से लोग धन भेजते थे और भेंट देते थे, आप आदर से लेकर श्रीयमुनाजी में फेंक दिया करते थे। शिष्य सेवकों ने धन को साधुसेवा में लगाने की बारंबार प्रार्थना की। उत्तर दिया कि "साधुसेवा करने योग्य पात्र तुम लोगों में से कोई नहीं दीखता।" एक दास ने कहा "मैं भली भाँति करूँगा।" वह आज्ञा लेकर सन्तों की सेवा करने लगा। कुछ काल के अनन्तर एक दिन एक सन्त ने कुसमय में कुछ भोजन माँगा, इसने क्रोध करके कटु वचन कहे। तब सुनकर आपने बहुत समझाया। सन्तों की महिमा बताकर कहा कि "इसी लिये मैं कहता था कि साधुसेवा अति कठिन है।" सदैव मिष्ठ बोलने की सबको शिक्षा दी। स्त्री का मुख नहीं देखते थे॥

दो० "मीराजी ब्रज में गईं, ते निज भक्ति लखाय।
सो पन दियो छुड़ाय सो,*मीरा कथा सुहाय॥"

आपके चरित अपार हैं। आपकी भक्तिभाव का पार कौन पा सकता है। वैराग्य धारण करने पर भी आपकी गूढ़वृत्ति भावभक्ति को पहुँचना सहज नहीं। एक परीक्षित कृपापात्र को कुटी सौंपके आप वृन्दावन के कुंजों में प्रेममत्त परम अकिंचन फिरने लगे। श्रीवृन्दावन से कहीं अन्यत्र रात्रि को न बसने तथा बड़ी भारी पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर बादशाह (अकबर) ने थोड़ी घड़ी के लिये सत्संग के निमित्त, घोड़ों के रथ पर आगरे में बुलाकर फिर रथ पर डाक ही द्वारा उसी दिन श्रीवृन्दावन पहुँचा भी दिया। बादशाह के बड़े आग्रह पर यह आज्ञा की कि श्रीवृन्दावन में एक बड़ा भारी पुस्तकालय कर दो कि जिसमें सब वेद, पुराण, उपपुराण, स्मृतियाँ, शास्त्र और संहिता आदि सब प्रकार की संस्कृत पोथियाँ संगृहीत हों। बादशाह ने वैसा ही किया॥

---

* श्रीमीराजी ने पूछा "श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त यहाँ पुरुष और कौन है?"
("श्रीमीराबाईजी" की जीवनी देखिये)॥

(४६८) छप्पय। (३७५)

वृन्दावन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियौ। सर्बस राधारमन "भट्ट गोपाल" उजागर। "हृषीकेश," "भगवान," "बिपुलबीठल" रससागर॥ "थानेश्वरी जगन्नाथ," "लोकनाथ" महामुनि "मधु," "श्रीरंग"। "कृष्णदास," पंडित उभै अधिकारी हरि अंग॥ "घमंडी," "युगलकिशोर" भृत्य "भूगर्भ" जीव दृढ़व्रत लियौ। वृन्दावन की माधुरी, इन मिलि आस्वादन कियौ॥ ९४॥ (१२०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवृन्दावन की माधुरी का आस्वादन श्रीकृपासे इन महानुभावों को प्राप्त हुआः—

१ श्रीगोपालभट्टजी। उजागर, जिनके सर्वस्व श्रीराधारमणजी ही थे।
२ श्रीअलिभगवान्‌जी।
३ श्रीबिट्ठलविपुलजी, रससागर।
४ श्रीजगन्नाथथानेश्वरीजी।
५ श्रीलोकनाथजी।
६ श्रीमधु गुसाईंजी, महामुनि।
७ श्रीश्रीरङ्गजी।
८ श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी, अधिकारी।
९ श्रीकृष्णदास पंडितजी, हरि के अंग (मित्र)।
१० श्रीभूगर्भजी दृढ़व्रतवाले।
११ श्रीघमंडीजी।
१२ श्रीयुगलकिशोर भृत्य।
१३ श्रीजीवगोसाईंजी।
१४ श्रीहृषीकेशजी॥

(११५) गुसाईं श्रीगोपालभट्टजी ।

(४६९) टीका । कवित्त । (३७४)

श्रीगोपालभट्टजू के हिये वै रसाल बसे, लसे यों प्रगट राधारवन सरूप हैं। नाना भोग राग करैं, अति अनुराग पगे, जगे जग माहिं, हित कौतुक अनूप हैं ॥ बृन्दाबन माधुरी अगाध कौ सवाद लियौ, जियौ जिन पायौ सीथ, भये रस रूप हैं। गुनही कौ लेत, जीव अवगुन को त्यागि देत, करुनानिकेत, धर्मसेत, भक्तभूप हैं॥ ३७५ ॥ (२५४)

वार्त्तिक तिलक ।

गुसाईं श्रीगोपालभट्टजी शृङ्गार माधुर्य और धामनिष्ठा में निपुण, गौड़ ब्राह्मण, महात्मा श्रीव्यंकटभट्टजी के बेटे, महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी के शिष्य ने, श्रीवृन्दावन की अगाध माधुरी का स्वाद लिया; आपके हृदय में वे रसाल नाम श्रीराधारमणजी प्रगट स्वरूप से बसते थे। नाना प्रकार के भोगराग बड़े अनुराग से अर्पण किया करते थे; संसार में बड़े प्रसिद्ध हुए; आपके सर्वहितू होने के अनेक कौतुक हैं; जिसने आपकी सीथप्रसादी पाई वह जीवनमुक्त, रसका रूपही होगया; किसी जीव का अवगुण अपने मन में कभी न लाते थे, सब प्राणियों के गुणों ही को हृदय में सदा रखते थे ॥

सब सम्पत्ति ऐश्वर्य को परित्याग कर श्रीवृन्दावन में आ बसे थे। धर्मसेत, करुणानिकेत और भक्तभूप हुए ॥

एक बेर प्रभु अति कृपा करके (वैशाख की पूर्णमासी को) आपके सेवावाले शालग्रामजी में से परम सुन्दर मूर्त्ति प्रगट हुए, जो श्रीराधारमणजी अभी तक मन्दिर में विराजमान हैं। भक्तरुचि रखनेवाले भावग्राहक श्रीप्रभु की जय ॥

(११६) श्रीअलिभगवान् ।

(३७०) टीका । कवित्त । (३७३) .

अलिभगवान, रामसेवा सावधान मन, वृन्दावन आये कछु औरै रीति भई है। देखे रासमण्डल में बिहरत रस रास, बाढ़ी छबि

प्यास दृग, सुधि बुधि गई है ॥ नाम धरि रास औ बिहारी, सेवा प्यारी लागी, खगी हियमाँझ, गुरु सुनी बात नई है । बिपिनि पधारे, आप जाय पग धारे सीस, "ईश मेरे तुम," सुख पायौ, कहि दई है ॥ ३७६ ॥ (२५३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीअलिभगवान् ने गुरु से श्रीराममन्त्र पाया। श्रीवृन्दावन में रास के बड़े ही प्रेमी हुए। दर्शन के बड़े प्यासे थे। श्रीठाकुरजी को "रास-विहारी" जी कहते, और अच्छे प्रकार से सेवा करते थे। कृपा करके गुरुजी ने श्रीवृन्दावन में जाकर दर्शन दिये। गुरु आगमन सुन, आपने श्रीचरण पर अपना सीस रखकर विनय किया कि "यद्यपि आप गुरु ईश से बड़े हैं, तथापि मेरा सम्पूर्ण मन तो रासविहारीजी में बहुत आनन्द मानता है।" सुनकर श्रीगुरुभगवान् अलिभगवान् से प्रसन्न हुए और कहा कि "रासविहारीजी भी तो श्रीरामहीजी के अवतार हैं, रासविहारीजी ही में पगे रहौ ॥"

---

(११७) श्रीबिट्ठल बिपुलजी।

(४७१) टीका। कवित्त। (३७२)

स्वामी हरिदासजू के दास, नाम बीठल है, गुरु से बियोग दाह उपज्यौ अपार है। रास के समाज में बिराज सब भक्तराज, बोलि कै पठाये, आये आज्ञा बड़ो भार है ॥ युगल सरूप अवलोकि, नाना नृत्य भेद, गान तान कान सुनि, रही न सँभार है। मिलि गये वाही ठौर, पायौ भाव तन और, कहे रससागर सो ताकौं यों बिचार है ॥ ३७७ ॥ (२५२)

वार्त्तिक तिलक।

लीलारसिक तथा गुरुनिष्ठ श्रीविपुल बिट्ठलजी स्वामी श्रीहरि-दासजी के शिष्य थे। श्रीगुरु के परमधाम जाने पर गुरु वियोग ने आपको बड़ा शोकाकुल कर दिया; कहीं जाते आते न थे। एक रात वहाँ (श्रीवृन्दावन में) रास के समाज में महानुभावों ने आपको बुला भेजा; आज्ञानुसार आप गए। श्रीयुगलसर्कार के दर्शन कर,

तथा गान बाजा की अपार माधुरी सुन, आप बेसुध हो गए। उसी में श्रीगुरु हरिदासजी की और श्रीयुगलसर्कार की दिव्य झाँकी पाके श्रीबिट्ठलविपुलजी रससागर में मग्न हो, पाँचभौतिक तन तजके दिव्य शरीर पा, परमधाम को पहुँच गए; प्रेम इसका नाम है। प्रेमाभक्ति की जय ॥

---

(११८) श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी ।

(४७२) टीका । कवित्त । (३७१)

महाप्रभु पारषद थानेस्वरी जगन्नाथ, नाथ कौं प्रकास घर दिना तीन देख्यो है। भए सिष्य, जान आप नाम कृष्णदास धर्यौ, कृष्णजू कहत सबै आदर बिसेख्यो है। सेवा 'मनमोहनजू' कूप में जनाइ दई, बाहर निकास, करी लाड़, उर लेख्यो है। सुत रघुनाथजू कौं, स्वप्न में श्लोक दान, दयाकै निदान; पुत्र दियो, प्रेम पेख्यो है ॥ ३७८ ॥ (२५१)

वार्तिक तिलक ।

"महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी" के पार्षद "थानेश्वरी श्रीजगन्नाथजी" प्रथम अपने गृह में थे; पूर्वजन्मसंस्कार भाग्योदय अर्थात् श्रीहरिकृपा से गृह ही में प्राणनाथ भगवान् का प्रकाशमान रूप तीन दिवस देखा, अति ज्ञानानन्द को प्राप्त हुए ॥

चौपाई ।

"मम दर्शन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज स्वरूपा ॥"

तब आके महाप्रभुजी के शिष्य हुए। आपने इनका "कृष्णदास" नाम रक्खा, सब लोग अति आदर से "कृष्णजी" ही कहते थे ॥

स्वप्न में "श्रीमनमोहनजी" ने कहा कि "हम अमुक कूप में हैं निकालकर पधराओ और सेवा करो।" बड़े प्रेम से वैसा ही किया ॥

आपके पुत्र (रघुनाथदास) विद्याहीन अपढ़ थे । एक समय आप इस चिन्ता में थे, स्वप्न में कृपानिधि सर्कार ने आपको एक

श्लोक बताकर आज्ञा की कि "यही श्लोक पुत्र को पढ़ा दो।" आपने वह श्लोक पुत्र को दिया; सुत रघुनाथदास बड़े विद्वान् हरिप्रेमी हुए। कृपा की जय ॥

---

(११६) श्रीलोकनाथ गुसाईंजी।

(४७३) टीका। कवित्त। (३७०)

महाप्रभु कृष्णचैतन्यजू के पारषद, लोकनाथ नाम, अभिराम सब रीति है। राधाकृष्ण लीलासों रँगीन मैं नबीन मन, जैसे जल मीन तैसें निसि दिन प्रीति है॥ "भागवत" गान रसखान, सो तौ प्राणतुल्य, अति सुख मान, कहैं गावैं जोई मीति है। रसिक प्रबीन मग चलत चरण लागि, कृपा कै जनाय दई, जैसी नेह नीति है॥ ३७६ ॥ (२५०)

वार्त्तिक तिलक।

महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी के आप शिष्य थे, "लोकनाथ" नाम था। आपकी सब रीति अति अभिराम थी। श्रीराधाकृष्णजी की नवीन लीला में आपका मन भली भाँति रँगा था; जैसे जल की प्रीति मीन को वैसे ही आपको भी रूप नाम लीला धाम से प्रेम था। शृङ्गारमाधुर्यनिष्ठा में बड़े दृढ़ थे। श्रीवृन्दावन धाम से अतिशय प्रीति थी। श्रीमद्भागवत का गान कीर्त्तन सदा आपके प्राण सरिस था और श्रीमद्भागवत पाठ गान करनेवालों से बड़ा प्रेम रखते थे, यह कहते थे कि "भागवत पढ़नेवाले हमारे मित्र हैं।" एक दिन रसिकप्रवीणजी मार्ग चलते एक को श्रीभागवत गाते सुन उसके पाँवों पर गिर पड़े; और कृपा करके यह भेद उसको जना दिया जिससे औरों को भी श्रीभागवत ग्रन्थ और भागवत का माहात्म्य प्रसिद्ध हुआ ॥

एक दिन इनके ठाकुर के भूषण चोरों ने चुरा लिये। थोड़ा आगे जाके सब अन्धे होकर लौट आए श्रीरसिकजी के चरणों पर पड़े, आपने कृपाकर उन सबको सनाथ किया।

---

(१२०) श्रीमधुगोसाईंजी।

(४७४) टीका। कवित्त। (३६६)

श्रीमधुगोसाईं आये बृन्दाबन; चाह बढ़ी, देखैं इन नैननि सों कैसोधौं सरूप है। ढूँढ़त फिरत बन बन कुंजलता द्रुम, मिटी भूख प्यास, नहीं जानैं छाँह धूप है॥ जमुना चढ़त, काटकरत, करारे जहाँ, बंसीबट तट डीठ परे वै अनूप है। अंक भरिलिये, दौर अजहूँलौ सिरमौर चाहै भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है॥ ३८०॥ (२४६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमधुगुसाईंजी धामनिष्ठा में दृढ़, "श्रीमधु" नाम श्रीवृन्दावन में बंगाले से आए, तब यह चाह आपके मन में बढ़ी कि "मैं अपने नेत्रों से श्रीकृष्णचन्द्र को देखूँ कि वह रूप कैसा है।" इस प्रेम की उत्कंठा में भरे हुए, भूख प्यास, छाया, धूप, नींद, सब कुछ छोड़, वन वन, प्रति कुंज और लता-वृक्षों के बीच में ढूँढ़ते फिरते थे॥

चौपाई।

"प्रियतम पद पंकज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥"

वार्त्तिक तिलक।

वंशीवट के निकट में जहाँ श्रीयमुनाजी बढ़ी हुई, करारे काटि रही थीं, वहाँ आपने कृपाकर अनूप रूप से दर्शन दिये। मधुगुसाईंजी दौड़ भक्तवत्सलजी को अंक में भरकर, अनिर्वाच्य परमानन्द को प्राप्त हुए॥

चौपाई।

"ऐसो सुख बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जल स्वाती॥ १॥
हरिदर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥ २॥"

प्रेम हो तो ऐसा; दर्शन की प्यास हो तो ऐसी॥

तदनंतर उस साक्षात् रूप से भगवान् अर्चामूर्ति "गोपीनाथ" रूप हो, वहाँ विराजे; अब तक जिसके बड़े भाग हों, वह रसिकसिरमौर के दर्शन करता है। प्रेम की जय, जय, जय॥

(१२१) श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी।

(४७५) टीका । कवित्त । (३६८)

गुसाईं श्रीसनातन जू "मदनमोहन" रूप माथें पधराये कही "सेवा नीके कीजियै" । जानौं "कृष्णदास" ब्रह्मचारी अधिकारी भये, भट्ट श्रीनारायणजू सिख्य किये रीझियै॥ करिकैं सिंगार चारु, आपही निहारि रहै, गहै नहीं चेत भाव माँझ मति भीजियै । कहाँ लौं बखान करौं राग भोग रीति भाँति, अबलौं बिराजमान देखि देखि जीजियै ॥ ३८१ ॥ (२४८)

वार्त्तिक तिलक।

प्रेमी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी गुसाईं श्रीसनातनजी के शिष्य थे, सो इनको योग्य, प्रेमी, तथा सुपात्र जानके आप (श्रीसनातनजी) ने प्रभु "श्रीमदनमोहन" विग्रहजी के कैंकर्य का भार कृष्णदासजी के सीस पर धर, आपने कहा कि "प्रभु की सेवा भले प्रकार करो।" श्रीगुरुआज्ञा माथे रख यथार्थ सेवा करने लगे, क्योंकि सेवा के अधिकारी ही थे । कुछ कालांतर में श्रीनारायण भट्टजी आपके (श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी के) शिष्य हुए; उनको सेवा सौंपी; उनकी प्रेमाभक्ति प्रभु के रीझने योग्य थी, आपकी सानुराग सेवा क्या कही जाय, अति सुन्दर शृंगार करके श्रीछवि को इकटक देखते निहारते प्रेम समाधि लग जाती थी, तन मन की सब सुधि भूलि मति चित्त भावानुराग में भीग जाते थे; और राग भोग की रीति भाँति कहाँ तक बखान की जाय। आपके प्रेम के लड़ाये हुए श्रीमदन-मोहनजी अब तक विराजमान हैं कि जिनके दर्शन से जीवों का जीवन सुफल होता है॥

---

(१२२) श्रीकृष्णदास पंडितजू।

(४७६) टीका । कवित्त । (३६७)

श्रीगोबिन्दचन्द रूपरासि रसरासि दास, कृष्णदास पंडित ये दूसरे[१] यों जानि लैं । सेवा अनुराग अंग अंग मति पागि रही,

---

१ श्रीरामदासजी और श्रीकृष्णदासजी भक्त कई हुए हैं॥

पागि रही मति जौपै तौपै यह मानि लै ॥ प्रीति हरिदासन सों बिबिधि प्रसाद देत, हिये लाय लेत, देखि पद्धति प्रमानि ल। सहज की रीति में प्रतीति सो बिनीति करैं, ढरैं वाही ओर मन अनुभव आनि लै॥ ३८२ ॥ (२४७)

वार्त्तिक तिलक।

रूप के राशि श्रीगोविन्दचन्दजी के रसराशि दास "प्रेमी श्रीकृष्णदासजी पंडित" जान लेना चाहिये। प्रभु की सेवा अनुराग के जितने अंग हैं, उन सबों में इनकी मति पग रही थी। हे श्रोताजनो! जो आपकी भी मति प्रेम से पगी हो, तो यह वार्त्ता हितकरके मान लीजिये॥

श्रीकृष्णदासजी की हरिदासों वैष्णवों से अति प्रीति थी; सन्तों को श्रीगोविन्दजी का विविध प्रकार का प्रसाद देते; हृदय में लगा लेते थे; इस प्रेम सम्प्रदाय को भी बुद्धि के नेत्रों से देखकर प्रमाण करना चाहिये। प्रेमी पंडितजी श्रीहरि और हरिभक्तों से सहजरीति ही से अति विनीत हो, प्रीति प्रतीति रख, उसी ओर ढरते थे॥

इस प्रेमाभक्ति का अनुभव अपने मन में करना चाहिये॥

---

(१२३) श्रीभूगर्भ गोसाईंजू।

(४७७) टीका। कवित्त। (३६६)

गुसाईं "भूगर्भ" बृन्दाबन दृढ़बास कियौ, लियौ सुख बैठि कुंज "गोबिंद" अनूप हैं। बड़ेई बिरक्त अनुरक्त रूप माधुरी में, ताही कौ सवाद लेत मिले भक्त भूप हैं॥ मानसी बिचार ही अहार, सो निहारि रहैं, गहैं मन वृत्ति, वेई, युगल सरूप हैं। बुद्धि के प्रमान उनमान में बखान कस्यो भस्यौ बहु रंग जाहि जानैं रस रूप हैं॥ ३८३ ॥ (२४६)

वार्त्तिक तिलक।

गुसाईं श्री "भूगर्भजी" ने धामनिष्ठा दृढ़तापूर्वक वृन्दावन वास किया और अति अनूप श्री "गोविन्द" कुंज (मन्दिर) में विराजमान होकर श्रीगोविन्ददेव भगवान् के प्रेम के सुख के लिये; आप

संसार से अति विरक्त, और प्रभुरूप माधुरी के अति ही अनुरक्त थे; भक्त भूपों के साथ में मिले हुए उसी माधुरी का स्वाद लेते थे। मानसी सेवा ही का चिन्तवन आपका आहार था; मन की वृत्तिरूप दृष्टि से गौर श्याम युगल स्वरूप ही को निहारते रहते थे॥

आपकी अगम्य दशा को मैंने अपनी बुद्धि के प्रमाण ही भर अनुमान करके बखान किया है; आपके हृदय में अथाह प्रेमरंग भरा था; उसको रस रूप संत ही जानते थे॥

---

(१२४) श्रीरसिकमुरारिजी।

(४७८) छप्पय। (३६५)

(श्री) "रसिकमुरारि" उदार अति, मत्त गजहिं उपदेश दियो॥ तन, मन, धन, परिवार, सहित, सेवत सन्तन कहँ। दिव्य भोग, आरती, अधिक हरिहूँ ते हिय महँ॥ श्रीवृन्दाबनचन्द श्याम श्यामा रँग भीने। मगन प्रेम पीयूष पयध परचै बहु दीने॥ श्रीहरिप्रिय "श्यामानन्दबर" भजन भूमि उद्धार कियो। (श्री) "रसिकमुरारि" उदार अति, मत्त गजहिं उपदेश दियो॥ ८५॥ (११८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरसिकमुरारिजी अतिशय उदार हुए। आपने मतवाले हाथी को ज्ञानभक्ति उपदेश देकर अपना शिष्य कर लिया, और उदार ऐसे हुए कि परिवार सहित तन मन धन जन से सन्तों की सेवा करते थे; कहाँ तक कहा जाय हरिभक्तों में श्रीहरि से भी अधिक भाव हृदय में मान, दिव्य भोग अर्पण कर, आरती किया करते थे। श्रीवृन्दावन युगलचन्द श्यामा श्याम के रंग में भीगे, प्रेमपीयूष पयोधि में मग्न रहते थे॥

शेर।

"होंठ पर नाम वही, चित्त वहीं देह कहीं।
हाथ में कंज चरण. जाप वही, आप वहीं॥ १॥
(रूपकला)

और बहुत से परिचय भी दिये। अपने गुरुदेव श्रीहरिप्रिय "श्यामानन्द" जी की श्रेष्ठ भजनरूपी भूमि का उद्धार किया। श्रीरसिकमुरारिजी ऐसे उदार हुए कि दुष्ट राजा की छीनी हुई भूमि को उद्धार किया, हरि-सेवा में लौटा लिया। अपना तन मन धन सब कुछ सन्तों ही का समझते थे॥

(४७९) टीका। कवित्त। (३६४)

रसिकमुरारि साधुसेवा बिसतार कियो, पावै कौन पार, रीति भाँति कछु न्यारियै। संतचरणामृत के माट गृह भरे रहैं, ताही को प्रनाम पूजा करि उर धारियै। आवैं हरिदास, तिन्हैं देत सुखराशि जीभ एक, न, प्रकाशिसकै, थकै सो विचारियै। करैं गुरु उत्सव, लै दिन मान सबै कोऊ, द्वादस दिवस जन घटा लागी प्यारियै॥ ३८४॥ (२४५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरसिकमुरारिजी ने संत-सेवा का बड़ा ही विस्तार किया। आपकी अलौकिक रीति भाँति का वर्णन कर कौन पार पा सकता है। गृह में संतों के चरणामृत के माट (पात्र) भरे हुए वेदिकाओं पर रक्खे रहते, उन्हीं की पूजा, और उन्हीं को प्रणाम, हृदय में भाव धारण करके, किया करते थे। आपके स्थान में अनेक भगवद्दास आते थे, उनका सत्कार कर, अति भारी सुख दिया करते थे। आपकी अनूठी प्रीति रीति कभी एक जीभ से प्रकाश नहीं हो सकती; विचार कर मन थक जाता है॥

जिस दिन गुरु उत्सव करते थे, उस दिन समस्त जीवमात्र का भोजनादिक से सत्कार करते थे, और संत जनों की घटा (समूह) बारह दिवस (दिनों) तक छाई रहती थी॥

(४८०) टीका । कवित्त । (३६३)

संतचरणामृत कों ल्यावो जाय नीकी भाँति, जी की भाँति जानिबे को दास लै पठायौ है। आनिकै बखान कियौ लियौ सब साधुन कौ, पान करि बोले "सो सवाद नहीं आयौ है" ॥ जिते सभाजन, कही चाखौ देहु मन कोऊ महिमा न जानै कन, जानी छोड़ि आयौ है। पूछी, कही "कोढ़ी एक रह्यौ," आनो, ल्यायो, पीयो, दियो सुख पाय, नैन नीर ढरकायौ है ॥ ३८५ ॥ (२४४)

वार्त्तिक तिलक ।

एक दिवस, भंडारे में बहुत संत * प्रसाद पा रहे थे; आपने एक शिष्य सेवक के जी की (हृदय की) गति जानने के लिये आज्ञा दी कि "अच्छे प्रकार से सब संतों का चरणामृत उतार लाओ।" चरणामृत लाकर उसने कहा कि "मैं सब संतों का चरणामृत ले आया हूँ" आप पान कर बोले कि "क्या कारण है कि जैसा स्वाद नित्य आता था वैसा नहीं आया।" जितने लोग सभा में बैठे थे उन सबों को भी चरणामृत देकर बोले कि "मन को एकाग्र कर पान करो, कहाँ वह स्वाद है?" वे बिचारे चरणामृत की महिमा और स्वाद किंचित्भी नहीं जानते थे क्या बताते। आप तो परमनिष्ठ थे, आपने जानलिया कि किसी सन्त का चरणामृत लेते में छोड़ दिया है। पूछने से वह कहने लगा कि "हाँ, एक कोढ़ी वेषधारी तो रह गया है;" आपने आज्ञा दी कि "उनका भी ले आओ।" फिर उनका भी मँगाके जब आपने चरणामृत लिया, तब सुख स्वाद पाने से आपके नेत्रों से प्रेमाश्रु झरने लगे ॥ जय ! जय !!

(४८१) टीका । कवित्त । (३६२)

नृपति समाज मैं, बिराजमान भक्तराज, कहैं, वे बिबेक, कोऊ कहनि प्रभाव है। तहाँ एक ठौर साधु भोजन करत, रौर देवौ दूजी सोंटा संग, कैसे आवै भाव है ॥ पातरि उठाय श्रीगुसाईं पर डारि-दई, दई गारी, सुनी आप बोले देख्यो दाव है। सीथ सौं बिमुख

* आपके एक भंडारे में बारह बड़े बड़े महाराजा आज्ञा में उपस्थित थे ॥

मैं तो, आनि मुख मध्य दियो; कियो दास दूर, सन्तसेवा मैं न चाव है॥ ३८६॥ (२४३)

वार्त्तिक तिलक।

किसी दिवस कई एक राजा और सज्जनों के समाज में भक्तराज श्रीरसिकमुरारिजी बिराजे हुए भक्तिविवेकमई वार्ता कह रहे थे, वे सब श्रोता विवेक को ग्रहण करते थे; क्योंकि आपका कथन बड़ाही प्रभावयुक्त था। उसी समय सब सन्त इकट्ठे भोजन प्रसाद पाने को बिराजे थे उनमें से एक वेषधारी अपने सोंटे (दंडा) के लिये दूसरा पारस (प्रसाद पत्तल) माँगता था, और पनवारा पत्तल न देने से झगड़ा करने लगा; आपके भण्डारी अधिकारियों को सोंटे में भाव कैसे आता, इससे उन्होंने नहीं दिया। खीझकर वह पत्तल प्रसाद उठा, उसने श्रीगुसाईंजी के ऊपर डाल गालियाँ भी दीं सुनकर आप बोले "देखो सन्त की कृपा से मेरा कैसा अच्छा दाव पड़गया है, मैं केवल चरणामृत लेता, और सीथप्रसादी से विमुख था; सो इन सन्त ने लाके मुख में डाल दिया।" यह कह उसको सोंटे का और उसका भी दो पत्तल पारस दिला दिये॥

वह दास जिसने सोंटे का पत्तल नहीं दिया तिसको उस कैंकर्य (बंदगी) से छुड़ा दिया कि "सन्तसेवा में तेरा भाव अनुराग नहीं है, क्यों जी? सोंटे का पत्तल क्यों न दिया? इस सोंटे से भाँग घोटकर और पीसकर सन्त तीन पारस उड़ाय जाते हैं॥"

(४८२) टीका। कवित्त। (३६१)

बाग मैं समाज सन्त, चले आप देखिबें को, देखत दुरायो जन हुक्का, सोच पस्चो है। बड़ो अपराध मानि, साधु सनमान चाहैं, "धूमितन," बैठि कही "देखो कहूँ धस्चो है"॥ जायकै सुनाई दास, काहूके तमाखू पास, सुनिकै हुलास बढ़्यो, आगैं आनि कस्चो है। झूठे ही उसाँस भरि, साँचे प्रेम पाय लिये, किये मन भाये, ऐसे संका दुख हस्चो है॥ ३८७॥ (२४२)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय आपकी बाटिका में संतों का समाज विराजमान था, आप दर्शन के लिये गये; एक वेषधारी नारियल (हुक्का) पी रहा था, आपको देख संकुचित हो, नारियल (हुक्के को) छिपादिया; आप अपना बड़ा अपराध मान, उस साधु का सन्मान करने के लिये, झूँठही पेट थाम (पकड़) घूमकर बैठगए; और एक दास से कहने लगे कि "मेरे पेटमें बड़ी पीड़ा उठी है, कहीं (हुक्का) नारियल चिलम मिलै तो यह उससे अच्छा हो।" सेवक को कहा कि "देखो किसी संत के पास हो तो ले आओ" वह सेवक सब संतों से पूछने लगा कि "किसी के पास पीने की तमाखू होय तो दीजिये।" वह पीनेवाला जो संकुचित हुआ था सो बड़ा प्रसन्न हो, आगे ले आया। आप झूँठेहा पीने की भाँति उसांस (फूँक) लेकर मानो उसको पानकर पीड़ा रहित होगये। इस प्रकार आपने संका सोच दुःख हरके उस साधु को प्रसन्न किया॥

(४८३) टीका। कवित्त। (३६०)

उपजत अन्न गाँव, आवै साधुसेवा ठांव, नयौ नृप दुष्ट आय काँव काँव कियौ है। ग्रामसो जब्त[1] कस्यो कस्यो लै बिचार आप स्यामानन्दजू मुरारि पत्र लिखि दियौ है॥ जाही भाँति होहु ताही भाँति उठि आवौ इहाँ आये हाथ बाँधि करि अचैहूँ[2] न लियौ है। पाछे साष्टांग करी करी लै निबेदन सो भोजन में कही चले आये भीज्यौ हियौ है॥ ३८८॥ (२४१)

वार्त्तिक तिलक।

स्थान के संबंध में एक ग्राम था, उसमें खेती से बहुत सा अन्न उत्पन्न होता था जिससे स्थान में संतसेवा होती थी। दैववश एक नया दुष्ट राजा हुआ, उसने बहुत से दुर्वचन बोल, ग्राम ले लिया।

---

१ "जब्त कस्यो"=[illegible] रोक लिया, ले लिया। २ जैसे एक स्त्री प्रियतम पति की आज्ञा सुनकर मूसल को ओखली के ऊपर आकाश में ही छोड़कर दौड़ी; तथा दूसरी स्त्री डोरी को कुएँ में से बिना निकाले छोड़ आ पहुँची। (दोनों के मूसल व डोरी डोल वैसेही अधड़ में रामकृपा से टँगे रहे)॥

श्रीरसिकमुरारिजी के गुरुदेव "श्रीश्यामानन्द" जी उस ग्राम में थे। वहाँ से आप को पत्र लिखा कि " तुम जिस भाँति हो उसी भाँति पत्र देखते ही चल आओ।" आप प्रसाद पाते थे आज्ञा सुनकर वैसे ही चलदिये, सत्रह कोस में श्रीश्यामानन्दजी थे, आपके मुख हाथ जूठे थे, इस से पीछे ही से साष्टांग दंडवत् कर हाथ जोड़ निवेदन किया कि प्रसाद पातेही में आज्ञा सुन वैसे ही चला आया हूँ। यह सुनकर श्रीश्यामानन्दजी का हृदय कृपा प्रसन्नता से भीग गया ॥

(४८४) टीका । कवित्त । (३५६)

आज्ञा पाय, अचयौ लै, दै पठाये वाही ठौर दुष्टसिरमौर जहाँ, तहाँ आप आये हैं। मिले मुतसद्दी[1] सिष्य, आइकै सुनाई बात, "जावौ उठि प्रात," यह नीच जैसे गाये हैं ॥ "हमही पठावैं, काम करि समझावैं सब, मन में न आवै, जानी नेह डर पाये हैं। "चिन्ता जिनि करौ, हिये धरौ निहचिंतताई" "भूप सुधि आई दिना तीन कहाँ छाये हैं" ॥३८६॥ (२४०)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीगुरुआज्ञा पाय आपने आचमन किया मुँह हाथ धोये। आप का समर्थ जान, श्रीश्यामानन्दजी ने उस खल राजा के पास भेजा; जहाँ वह दुष्टसिरमौर था, वहाँ आप आये। वहाँ के कायस्थ मंत्री लोग आपके शिष्य थे, वे सब आपके पास आए और वह राजा जैसा नीच था सो सब कह उन सबोंने प्रार्थना की कि "आप प्रातःकाल यहाँ से चले जाइये, हमको उसके पास भेजिये, हम उसको समझाकर सब कार्य सुधार लेंगे।" उन लोगों का कहना आपके मन में नहीं आया, जाना कि ये लोग हमारे स्नेह से डरते हैं। तब शिष्यों को आपने समझाया कि "तुमलोग कुछ चिंता मत करो, हृदय में निश्चित रहो, जाकर हमारा आगमन उससे कह दो॥"

शिष्य लोग आपके पास तीन दिन तक रहे; इससे राजा ने इन को बुलाकर पूछा "तुम लोग तीन दिन कहाँ रहे?" इन्होंने

१ "मुतसद्दी" متصدی=पटवारी, मन्त्री, दीवान, श्रेष्ठ लेखक ॥

कहा कि "हमारे श्रीगुरुजी आये हैं, उनके समीप थे ॥"

(४८५) टीका । कवित्त । (३५८)

सुनी आये गुरुवर, कही "ल्यावो मेरे घर, देखौं करामात," बात यह लै सुनाई है। कह्यो आनि "अभूँ जावौ," "चलौ, उनमान देखैं," चले सुख मानि, आयौ हाथी धूम छाई है ॥ छोड़िकैं कहार भाजि गये, न निहारि सके; आप रससार बानी बोले जैसी गाई है। "बोलौ 'हरे कृष्ण कृष्ण,' छाड़ौगज तम तन," सुनि गयौ हिये भाव, देह सो नवाई है ॥ ३६० ॥ (२३६)

वार्त्तिक तिलक।

दुष्ट राजा ने मंत्रियों के मुख से यह सुनकर कि "हमारे गुरु स्वामीजी आये हैं" कहा कि "उनको हमारे यहाँ लाओ, हम उनकी कुछ 'करामात' देखें, तब गाँव देंगे।" उसने जब यह बात सुनाई, तब आपके शिष्यवर्ग ने फिर आपसे प्रार्थना की कि "स्वामीजी! आप अब भी स्थान को चले जाइये" आपने उत्तर दिया "चलो, उसको देखूँ क्या कहता करता है।" ऐसा कह, पालकी पर विराजमान हो, सुखपूर्वक पधारे ॥

उधर से दुष्ट ने बड़ा पागल और मनुष्यों को मार डालनेवाला, एक हाथी सामने छुड़वा दिया। हल्ला धूम मचा, कहार सब पालकी छोड़कर भागे; हाथी की ओर देख भी न सके। आप हाथी के प्रति प्रभावयुक्त परम रसीली वाणी बोले कि "हे चेतन! तुम हाथी शरीर का तमोगुण तजो, श्रीहरेकृष्ण श्रीहरेकृष्ण बोलो।" आपका प्रभाव-युक्त उपदेश सुनते ही हाथी का हृदय भाव से भर गया; अपना मस्तक और सूँड़ आपके चरणों में नवाकर उसने प्रणाम किया ॥

(४८६) टीका । कवित्त । (३५७)

बहे दृग नीर, देखि ह्वै गयौ अधीर, आप कृपाकरि धीर कियो, दियौ भक्तिभाव है। कान में सुनायौ नाम, नाम दै "गुपालदास," माल पहिराई गरें, प्रगट्यौ प्रभाव है ॥ दुष्ट सिरमौर भूप लखि, उहिं ठौर आयौ, पाँय लपटायौ, भयौ हिये अति चाव है। निपट अधीन,

गाँव केतिक नवीन दिये, लिये कर जोरि "मेरौ फल्यौ भाग दाव है" ॥ ३६१ ॥ (२३८)

वार्त्तिक तिलक ।

हाथी आपके दर्शन कर वचनामृत सुन, प्रेम से अधीर होगया, नेत्रों से जल की धारा चलने लगी; आपने कृपा से हाथी को धीरकर, भक्तिभाव दे, कान में भगवन्नाम मंत्र सुना दिया, "गोपालदास" नाम उसका रक्खा, गले में श्रीतुलसीजी की माला पहिना दी ॥

आपका प्रभाव प्रगट देख दुष्टशिरोमणि राजा भी आपके समीप आ, चरणों में लिपट गया। इसके हृदय में भी प्रेम उत्साह हुआ, और अत्यन्त अधीन होकर, वह ग्राम तथा और कई नवीन ग्राम देकर, हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगा कि "मेरे बड़े भाग्य हैं जो आपके दर्शन हुए ॥"

(४८७) टीका । कवित्त । (३५६)

भयौ गजराज भक्तराज, साधु सेवा साज, संतनि समाज देखि करत प्रनाम है। आनि डारै गोनि, बनजारनि की बारन सो, आयेई पुकारन व जहाँ गुरुधाम है ॥ आवत महोच्छौ मध्य, पावत प्रसाद सीथ, बोले आप हाथी सों, "यों निंद्य वह काम है"। छोड़िदई रीति, तब भक्तन सों प्रीति बढ़ी, संगही समूह फिरै फैलि गयो नाम है ॥ ३६२ ॥ (२३७)

वार्त्तिक तिलक ।

इस प्रकार श्रीरसिकमुरारिजी दुष्ट राजा को परचौ दे, मत्त गजेन्द्र को शिष्य कर, साथ में ले, अपने स्थान में आए। अब तो वह गजराज पूरा भक्तराज हो गया; सन्तों को देखकर प्रणाम करता; और सेवा भी करता था, जहाँ बनजारे (व्यापारी) लोग रहते, वहाँ से आटा दाल चावल की गोन (गठरी) स्थान में ले आता था। गजभक्त के गुरु स्थान में आकर उन बनजारों ने पुकार किया। उस हाथी का नियम था कि सन्तों के महोत्सव भण्डारे में आता, सन्तों का उच्छिष्ट प्रसादी पाता था।। जब भण्डारे में

हाथी आया तब श्रीरसिकमुरारिजी ने कहा कि बनजारों की वस्तु बलात्कार ले आना निन्द्य काम है, छोड़ दो, गुरुआज्ञा मान गोपालदासजी ने वह रीति छोड़ दी, परन्तु सब बनिकों ने आप सीधे का नियम कर दिया। सन्तों से हाथी की प्रीति बहुत बढ़ी। अब तो इन (गजगोपालदास) के साथ में सन्तों की "जमात" फिरने लगी; "गजगोपालदास महन्त" का नाम सर्वत्र विदित हो गया ॥

(४८८) टीका। कवित्त। (३५५)

सन्त सत पाँच सात संग, जित जात तित लोग उठि धावैं, ल्यावैं सीधे, बहु भीर है। चहूँ दिसि परी हुई, 'सूबा' सुनि चाह भई, हाथ पै न आवत सो आनै कोऊ धीर है॥ साधु एक गयो गहि लयो भेष दास तन; मन में प्रसाद नेम, पीवै नहीं नीर है। बीते दिन तीन चारि, जल लै पिवावै धारि, गंगाजू निहारि मधि तज्यौ यों सरीर है॥३६३॥ (२३६)

वार्त्तिक तिलक।

महन्त गजगोपालदासजी के संग में पाँच सात सौ मूर्ति सन्तों का समूह रहने लगा, जिस ओर जाते थे वहाँ सब लोग उठ दौड़ते, सन्तों के लिये सीधा सामग्री ला देते थे, लोगों की भीर लगजाती थी, इस गजेन्द्र की भक्ति की चारों दिशाओं में धूम मच गई ॥

इस बात को यमनप्रान्त-राजा (सूबा) ने सुना; उसको हाथी के देखने की इच्छा हुई, बहुत लोगों को भेजा कि "पकड़ लाओ" परन्तु हाथी किसी के हाथ न आया। उसने कहा कि "जो कोई धीर हाथी को पकड़ लावै उसको हम बहुत द्रव्य देंगे।" यह सुन एक दुष्ट साधु-वेषधारी गया, पकड़ लाया; श्रीगोपालदासजी सन्त का वेष देख चले आये। परन्तु गजगोपालदासजी का नियम चरणामृत प्रसाद लेने का था, इससे आपने जल नहीं पिया, तीन चार दिन विना जल बीत गये, तब विचार कर लोग उनको श्रीगंगाजी की धारा में जल पिलाने ले गये। गज भक्त गंगा में प्रवेश कर, शरीर छोड़, भगवद्धाम को चले गये, भक्तों ने जयजयकार किया ॥

(४८९) छप्पय। (३५४)

भवप्रवाह निस्तार हित, अवलंबन ये जन भये॥ सोझा[1], सीवां[2], अधार[3] धीर, हरिनाम[4], त्रिलोचन[5]। आशाधर[6], द्यौराजनीर[7], सधना[8], दुखमोचन॥ काशी-श्वर[9], अवधूत, कृष्णकिंकर[10], कटहरियां[11]। सोभू[12], उदा-राम[13], नामडूगर[14], व्रतधरिया॥ पदम[15], पदारथ[16], राम-दास[17], बिमलानन्द[18], अमृतश्रये। भवप्रवाह निस्तार हित, अवलंबन ये जन भये॥ ९६॥ (११८)

वार्त्तिक तिलक।

संसार प्रवाह म बहे जाते हुए जीवों के निस्तार के लिये ये भगवद्भक्त अवलंबन रूप हुए। सोझाजी, सीवाँजी, धीर मतिवाले अधारजी, हरि-नामजी, त्रिलोचनजी, आशाधरजी, द्यौराजनीरजी, संसारी जीवों का दुःख छुटानेवाले सधनजी, गुसाईं काशीश्वरजी, अवधूत कृष्णकिंकरजी, कटहरियाजी, सोभूजी, उदारामजी, श्रीरामनामस्मरण व्रत धरनेवाले डूगरजी, पदमजी, पदारथजी, रामदासजा और विमलानन्दजी॥

इन (अठारह) भगवज्जनों ने अपने वचन और कर्मों से जीवों पर प्रेमामृत की वर्षा की॥

१ श्रीसोझाजी	१० श्रीकृष्णकिंकरजी
२ श्रीसीवांजी	११ श्रीकटहरियाजी
३ श्रीअधारजा	१२ श्रीसोभूजी
४ श्रीहरिनामजी	१३ श्रीउदारामजी
५ श्रीत्रिलोचनजी	१४ श्रीडूगरजी
६ श्रीआशाधरजी	१५ श्रीपदमजी
७ श्रीद्यौराजनीरजी	१६ श्रीपदारथजी
८ श्रासधनजी	१७ श्रीरामदासजी
९ श्रीकाशीश्वरजी	१८ श्रीविमलानन्दजी॥

(१२५) श्रीसदन (सधन) जी।

(४६०) टीका। कवित्त। (३५१)

सदना कसाई, ताकी नीकी कस आई, जैसे बारैबानी सोने की कसौटी कस आई है। जीव को न बध करै, ऐपै कुलाचार ढर बेंचै मांस लाय, प्रीति हरि सों लगाई है॥ गंडकीकौ सुत बिन जाने तासों तौल्यौ करै, भरे दृग साधु आनि पूजे, पै न भाई है। कही निसि सुपने में "वाही ठौर मोंको देवौ, सुनौं गुनगान, रीझौं हिय की सचाई है"॥ ३६४॥ (२३५)

वार्त्तिक तिलक।

सधन जाति के कसाई थे, उनकी (दुःखादिरूप) कसौटी में बहुत अच्छी कस (परीक्षा) उतरी, जसे बारह बानी सोना की कस कसौटी में उपटती है। यद्यपि जन्म कसाई कुल में हुआ तथापि आप जीव को नहीं बध करते थे, अपने कुल का आचरण जान और कसाइयों के यहाँ से मांस लाकर बेचा करते थे। पूर्वसंस्कार के वश स्वाभाविकही श्रीहरि से प्रीति लग गई; सप्रेम नाम स्मरण किया करते थे। दैवयोग से इनके पास एक गंडकीसुत (शालग्रामजी) थे उन्हीं से, विना जाने, माँस तौल २ के बेचा करते थे; एक साधु ने देखकर कहा कि "ये तो शालग्रामजी हैं इनसे मत तोलो, लाओ हम इनकी पूजा करेंगे।" श्रीसधनजी ने दे दिया। संत लाके पंचामृत आदिक संस्कार करके पूजा करने लगे; परन्तु वह पूजा प्रभु को प्रिय न लगी; साधु से रात्रि स्वप्न में आज्ञा दी कि हमको उसी सधना के यहाँ पहुँचा दो, वह हमारा नाम गुण सप्रेम गाता है सो सुनते उसके हृदय की सचाई पर हम रीझ गये हैं॥"

(४६१) टीका। कवित्त। (३५२)

लैके आयौ साधु, 'मैं तौ बड़ौ अपराध कियौ, कियौ अभिषेक सेवा करी पै न भाई है। ए तौ प्रभु रीझे तौ पै जोई चाहौ सोई करौ, गरो भरि आयो सुनि, मति बिसराई है॥ वेई हरि उर धारि,

डारि दियौ कुलाचार, चले जगन्नाथ देव, चाह उपजाई है। मिल्यौ एक संग संग जात, वे सुगात सब, तब आप दूर दूर रहैं जानि पाई है॥ ३६५॥ (२३४)

वार्त्तिक तिलक।

स्वप्न में प्रभु की आज्ञा सुन साधु शालग्रामजी को ले श्रीसधनजी के पास आकर कहने लगे कि "मैंने बड़ा अपराध किया तुम्हारे यहाँ से शालग्रामजी को ले गया; अभिषेक प्रतिष्ठाकर पूजा सेवा किया परन्तु प्रभु को प्यारी न लगी; ये तुझी पर रीझे हैं; मुझे स्वप्न में आज्ञा दी कि 'हमको उसीके पास पहुँचा दो;' सो लो चाहे मांस तोलो चाहे पूजा करौ" ऐसा सुनते ही श्रीसधनजी प्रेम में मग्न हो गये। देह की सुधि बुधि भूल गई, गद्गद कंठ, रोमांच शरीर, हो गये। अब तो कुलाचार और घर को तज प्रभु को हृदय में धारणकर श्रीशालग्रामजी को ले, जगन्नाथजी के दर्शन को चल दिये। और भी यात्री मिले, उन्हीं के साथ साथ चले; पर वे सब इनको कसाई जान ग्लानि युक्त हुए; तब उनके मन का भाव जान उन सबका संग छोड़ आप पृथक् हो चले॥

(४९२) टीका। कवित्त। (३५१)

आयौ मग गाँव, भिक्षा लेन इक ठाँव गयौ, नयो रूप देखि कोऊ तिया रीझि परी है। 'बैठौ याही ठौर करौ भोजन" निहोरि कह्यौ; रह्यौ निसि सोय, आई "मेरी मति हरी है॥ लेवो मोको संग;" गरौ काटौ तौ न होय रंग, बूझी और काटी पतिग्रीव, पै न डरी है। कही "अब पागौ मोसों," "नातौ कौन तोसों मोसों;" सोर करि उठी "इन मार्‍यौ" भीर करी है॥ ३६६॥ (२३३)

वार्त्तिक तिलक।

मार्ग में एक ग्राम मिला, वहाँ एक घर में आप भिक्षा लेने गये एक स्त्री इनका नवीन रूप देख, रीझके कामवश हो, बोली कि "तुम आज यहाँ ही भोजन करौ, रहौ," आपने वैसा ही किया; वह स्त्री रात्रि में समीप आ कहने लगी "मेरी मति तुम पर रीझ

गई है, मुझको अपने साथ ले चलो;" आप बोले कि "जो तू गला भी काट डाले तो भी मैं तुझसे प्रेम नहीं कर सकता॥"

उस दुष्टा ने और का और ही समझ, भय छोड़, अपने पति का कण्ठ काट डाला; और वह आके कहने लगी कि "अब मेरा अंग संग करौ।" श्रीसधनजी ने उत्तर दिया कि "मैं तो पहिले ही इनकार कर चुका हूँ, तुझसे मुझको क्या सम्बन्ध है?" तब तो रो रो पुकारने लगी कि "अपने साथ मुझे ले चलने के हेतु इसने मेरे पति को मार डाला है!" सुनकर गाँव के सब लोग इकट्ठे हो गये॥

(४९३) टीका। कवित्त। (३५०)

हाकिम पकरि पूछै; कहै हँसि "मास्यौ हम," डास्यौ सोच भारी, कही "हाथ काटि डारियै"। कट्यौ कर, चले, हरि रंग माँझ मिले, मानी जानी "कछु चूक मेरी" यहै उर धारियै॥ जगन्नाथदेव, आगे पालकी पठाई लेन, सधना सो भक्त कहाँ? कहैं न बिचारियै। चढ़ि आये प्रभु पास, सुपनौ सो मिट्यो त्रास, बोले "दै कसौटी हूँ पै भक्ति बिसतारियै"॥३६७॥ (२३२)

वार्त्तिक तिलक।

जब वह दुष्टा स्त्री यों चिल्लाने पुकारने लगी कि "यह मेरे पति को मार, मुझे साथ ले चलने को कहता है," तब इस बात को सुन उस गाँव के अधिपति ने सधन को पकड़वाके पूछा। आपने हँस कर कह दिया कि "हाँ, हमने मारा है।" परन्तु उस ग्रामाधिप को इनकी भक्ति लक्षण देखके पूरा पूरा निश्चय नहीं हुआ, बड़ाभारी सोच करने लगा कि "अब मैं क्या करूँ?" इससे इनका वध तो नहीं किया, केवल हाथ कटवाकर छोड़ दिया॥

हाथ कटने पर श्रीजगन्नाथजी के दर्शन को चल दिये। कुछ मन में दुःख मलीनता नहीं आई, वरंच प्रेम भक्ति की ओर अधिक मन झिला; विचारपूर्वक हृदय में यह निश्चय किया कि "मेरा

कोई पूर्व का ❀ पाप था सो प्रभु ने यह दण्ड दिवाकर शुद्ध कर दिया॥

चौपाई।

"नहिं दुख यह रघुपति कै दाया। कर्म भुगाय छुटावत माया॥"

उधर श्रीजगन्नाथदेवजी ने सधनजी के लेने को आगे अपनी पालकी भेजी। पण्डे लोग "सधन" भक्त को पूछते पूछते आकर बोले कि "पालकी पर चढ़कर चलो;" आप प्रभु की पालकी बिचारि नहीं चढ़ते थे, पण्डे प्रभु की आज्ञा अमिट सुना, बलात्कार उस पर चढ़ाकर ले आये। श्रीसधनजी आके प्रभु के दर्शन कर साष्टांग प्रणाम करने लगे † उसी क्षण हाथ ज्यों के त्यों हो गये, सब दुःख स्वप्न-सरीखा मिट गया। जगन्नाथजी कृपापूर्वक बोले कि "सधन! तुमने यथार्थ कसौटी दे दी, परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, दुःख में तुम्हारा मन मलीन नहीं हुआ, अब आनन्दपूर्वक लोक में हमारी भक्ति विस्तार करो॥"

---

(१२६) श्रीगुसाईं काशीश्वरजी।

(४६४) टीका। कवित्त। (३४६)

श्रीगुसाईं कासीस्वर, आगे अवधत बर, करि प्रीति नीलाचल रहे, लाग्यौ नीको है। महाप्रभु कृष्णचैतन्यजू की आज्ञा पाय, आये बृंदाबन, देखि भायौ भयौ हीको है॥ सेवा अधिकार पायौ, रसिक गोबिन्दचन्द चाहत मुखारबिन्द, जीवनि जो जीको है।

❀ "वह पद भाषा ह्वै कै जैसे तैसे गावत है, हम तुम्हैं गावत हैं सदा बेद बानी सौं। हम निर्मल गंगाजल सों अन्हवावैं तुम्हैं, तुम रीझे सधना के बधना के पानी सों॥" "जौलौं मेरे सन्तन में राखै जाति-भेद सदा, तौलौं कहौ कैसे वह पावै सुखसार है। मेरो साधु-नीच पद-पंकज न धोयो जौलौं, तौलौं सब सास्त्रन को पढ़बोई भार है॥"

† श्रीजगन्नाथजी ने विप्ररूप से कृपाकर श्रीसधनजी को बता दिया कि पूर्वजन्म में तुम काशी में विप्र पण्डित थे। एक दिन एक गऊ एक कसाई के घर से भागी जाती थी। पीछे कसाई दौड़कर आया। पूछने से तुमने हाथों से बता दिया। वही गाय यह स्त्री हुई और वही कसाई उसका यह पति, जिसको पूर्वजन्म के पलटे उसने गला काटा है। और उसी दोष से तुम्हारे हाथमात्र काटे गए। मैं अपने भक्तों को कर्म भुगाके पाप छुड़ा ही देता हूँ।

नित ही लड़ावैं, भावसागर बढ़ावैं, कौन पारावार पावै, सुनै लागै जग फीको है ॥ ३६८ ॥ (२३१)

वार्त्तिक तिलक।

गुसाईं श्रीकाशीश्वरजी प्रथम दशा में श्रेष्ठ अवधूतवृत्ति वेष युक्त थे; विचरते हुए श्रीजगन्नाथक्षेत्र में आये; वहाँ रहना आपको बहुत अच्छा लगा; सो वहाँ रह गये। तदनंतर अपने गुरु महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी की आज्ञा पाकर श्रीवृन्दावन में आए ॥

श्रीवृन्दावन को देख हृदय की प्यारी अभिलाषा पूर्ण हुई। रसिक-चन्द "श्रीगोविन्दजी" की सेवा पूजाका अधिकार पाया। जीव का जीवन आधार जो श्रीमुखारविन्द, सो उसका दर्शन कर नित्य ही लाड़, प्यार, प्रेम करते। प्रेमभाव का समुद्र आपके हृदय में बढ़ता था, उसको वर्णन कर कौन पार पा सकता है? आपकी दशा का बखान सुन सब संसार फीका लगने लगता है ॥

(४९५) छप्पय। (३७८)

करुनाछाया, भक्तिफल, ए कलिजुग पादप रचे ॥ जती रामरावल्लि[१], स्यामं[२], खोजी[३], संतसीहा[४]। दलहा[५], पद्म[६], मनो-रथु[७], राँका[८], घोगू[९], जप जीहा ॥ जाड़ा[१०], चाचागुरू[११], सवाई[१२], चाँदा[१३], नापा[१४]। पुरुषोत्तम[१५] सों साँच, चतुर[१६], कीता[१७], (मनकौ) जिहि मेट्यौ आपा ॥ मति सुन्दर, धीधाँगै श्रम संसार नाच* नाहिन नचे। करुनाछाया, भक्तिफल, ए कलिजुग पादप रचे ॥ ९७ ॥ (११७)

वार्त्तिक तिलक।

वृक्षों में दो वस्तु विशेषतः परहित की ही होती हैं, एक फल, दूसरे छाया। सो करुणारूप छाया, और भागवत बिष भक्तिरूप फल, इनके संयुक्त, इन संतों को कलियुग में भगवान् ने वृक्षरूप रचा; अर्थात् सब परमार्थी हुए।

---

* "नाच"=चाल पाठान्तर ॥

चौपाई।

"संत बिटप, सरिता, गिरि, धरनी। पर हित हेतु सबनि की करनी॥"

यती रामरावल्लजी, श्यामजी, खोजीजी, संतसीहाजी, दलहाजी, पद्मजी, मनोरथजी, राँकाजी, श्रीराम नाम जपनेवाले धौंगूजी, जाड़ाजी, चाचागुरुजी, सवाईजी, चाँदाजी, नापाजी सत्य सत्य यथा नाम तथा गुण युक्त पुरुषोत्तमजी और चतुरजी, जिन्होंने अपने मन का ममत्व और अपनपौ मिटा डाला ऐसे कीताजी, इन सब भक्तों की अति सुन्दर बुद्धि हुई; और परिश्रमरूपी "धीधांग" अर्थात् मृदंग के तालके साथ, संसार की गति में ये भक्त नहीं नाचे॥

१ श्रीरामरावल्लजी
२ श्रीश्यामजी
३ श्रीखोजीजी
४ श्रीसीहाजी
५ श्रीदलहाजी
६ श्रीपद्मजी
७ श्रीमनोरथजी
८ श्रीराँकाजी
९ श्रीधौंगूजी
१० श्रीजाड़ाजी
११ श्रीचाचागुरुजी
१२ श्रीसवाईजी
१३ श्रीचाँदाजी
१४ श्रीनापाजी
१५ श्रीपुरुषोत्तमजी
१६ श्रीचतुरजी
१७ श्रीकीताजी

(१२७) श्रीखोजीजी।

(४६६) टीका। कवित्त। (३४७)

"खोजी" जू के गुरु हरिभावना प्रवीन महा, देह अंत समै बाँधि घंटा सो प्रमानियै। "पावैं प्रभु जब तब बाजि उठै, जानौ यही;" पाये, पन बाजी, बड़ी चिंता मन आनियै॥ तन त्याग बेर नहीं हुते, फेरि पाछे आये, वाही ठौर पौढ़ि देख्यौ, आँब पक्यौ मानियै। तोरि, ताके टूक किये, छोटौ एक जंतु मध्य, गयौ सो बिलाय, बाजि उठी जग जानियै॥ ३९९॥ (२३०)

वार्त्तिक तिलक।

"खोजीजी" के श्रीगुरुदेवजी श्रीरामजी के ध्यान भावना में बड़े

ही प्रवीण थे। देह के त्यागसमय में प्रथम से एक घंटा बँधाकर उन्होंने यह कह रक्खा था कि "जब हम प्रभु के समीप प्राप्त होंगे, तब यह घंटा आपसे आप बजने लगेगा॥"

तदनंतर आपने शरीर त्याग किया। परन्तु घंटा नहीं बजा। सब शिष्यों सेवकों के मन में बड़ी चिंता हुई। श्रीखोजीजी, अपने स्वामीजी के तनत्यागसमय न थे; कुछ पीछे आये। सबों ने यह वृत्तान्त सुनाया। तब खोजीजी ने गुरु को खोज निकाला अर्थात् जहाँ पड़के गुरुजी ने देहतजा था, आपने वहाँ लेटके देखा कि "ऊपर एक बहुत सुन्दर पका हुआ आम का फल लगा है।" मन में विचार कर, उस फल को तोड़, दो टुकड़े कर, देखें तो एक छोटा सा जीव उसमें था, सो वह उसी क्षण बिला गया। और वह घंटा स्वयं बजने लगा। सबने जान लिया कि आम्र में के जन्तु का शरीर तज अब श्रीगुरु महाराज श्रीरामधाम में प्राप्त हुए॥

(४९७) टीका। कवित्त। (३४६)

शिष्य की तौ जोग्यताई नीके मन आई, अजू गुरु की प्रबल ऐपै नेकु घट क्यों भई। सुनौ याकी बात "मन बातवति गति" कही सही लै दिखाई; और कथा अति रसमई॥ 'वे तौ प्रभु पाय चुके प्रथम,' प्रसिद्ध; पाछे आछयौ फल देखि हरि जोग उपजी नई। इच्छा सो सफल श्याम भक्तबस करी वही, रही पूर पच्छसब बिथा उर की गई॥ ४००॥ (२२९)

वार्त्तिक तिलक।

इस प्रसंग में शिष्य "खोजीजी" की अति श्रेष्ठता मन में निश्चय हुई, परंतु गुरुजी की प्रबलता में किंचित् मात्र न्यूनता क्यों हुई? इसकी वार्त्ता सुनिये कि "मन की गति वायु से भी अति चपल" भगवान् ने गीता आदिक ग्रन्थों में, कहा है; सो आपने प्रत्यक्ष दिखाकर शिष्यों को उपदेश दिया कि मन ऐसा प्रबल है इससे सदा सावधान रहना चाहिये। ("अन्ते या मतिः सा गतिः")॥

और दूसरी अति रसमयी वार्त्ता यह है कि "खोजीजी के गुरुजी

तो ध्यानयोग से प्रभु को प्राप्त हो ही चुके थे," यह प्रसिद्ध है; परंतु पीछे बहुत अच्छा फल देख 'यह प्रभु के अर्पण योग्य है' यह नवीन इच्छा उत्पन्न हो गई; सो इच्छा सफल करने के लिये भक्तवत्सल श्यामसुन्दर अंतर्यामी ने स्वयं लीला किया किंचित् ही काल में जो पूर्व प्रतिज्ञा थी सो पूर्णकर सबके हृदय का शोकदुःख नाश किया॥

(१२८) श्री "राँकाजी"। (१२९) "श्रीबाँकाजी"।

(४९८) टीका। कवित्त। (३४५)

राँका पति, बाँका तिया, बसैं पुरपंढर में उर मैं न चाह नेकु रीति कछु न्यारियै। लकरीन बीनि करि, जीविका नबीन करैं; धरैं हरिरूप हिये, ताही सों जियारियै॥ बिनती करत नामदेव कृष्णदेव-जू सों, कीजै दुख दूर कही "मेरी मति हारियै। चलौ लै दिखाऊँ, तब तेरे मन भाऊँ," रहे बन छिपि दोऊ थैली मगमाँझ डारियै॥ ४०१॥ (२२८)

वार्त्तिक तिलक।

"राँका" नाम के हरिभक्त, उनकी पत्नी का "बाँका" नाम पड़ा। दोनों अनुरागी "पंढरपुर" में बसते थे। प्रभु को छोड़ हृदय में किसी पदार्थ की चाह किंचित् भी न थी लोकोत्तर निहकिंचन रीति थी, सूखी लकड़ियाँ वन से बीन चुन लाते, बेंचकर नित्य नवीन जीविका करते थे। हृदय में श्रीहरि के रूप का ध्यान धरे रहते थे। मुख्य जीवन वही था। इन दोनों की दशा देख, श्रीनामदेवजीने*श्रीकृष्णदेवजी से विनय किया कि "हे कृपालु! इनका दुःख नाश करिये॥"

प्रभु बोले कि "मेरी मति इनसे हारगई। कुछ लेते ही नहीं, तो क्या करूँ? चलो, मैं तुमको इनकी सब दशा दिखाऊँ, तब तुमको मैं अच्छा लगूँगा।" प्रभु नामदेवजी को साथ लिवाकर एक थैली भर स्वर्णमुद्रा (मुहर) मार्ग में डालकर वन में छुप रहे॥

(४९९) टीका। कवित्त। (३४४)

आये दोऊ तिया पति, पाछे बधू आगे स्वामी, औचक ही मग-

* श्रीकबीरजी, श्रीनामदेवजी और श्रीबाँकापति राँकाजी उसी (पन्द्रहवीं) शताब्दी में विराजमान थे।

माँझ संपति निहारियै। जानी यों जुवति जाति, कभूँ मन चलि जाति, याते बेगि संभ्रम सों धूरि वापै डारियै॥ पूछी "अजू! कहा कियौ भूमि मैं निहुँरि तुम?" कही वही बात, बोली "धनहूँ बिचारियै"। कहै मोसों राँका एपै बाँका आज देखी तुही, सुनि प्रभु बोले बात साँची है हमारियै॥ ४०२॥ (२२७)

वार्त्तिक तिलक।

आगे राँकाभक्तजी पीछे उनकी पत्नी दोनों उसी मार्ग में आये, भक्तजी ने औचक ही देखा कि मार्ग में द्रव्य की थैली पड़ी है। विचार किया कि "स्त्री की जाति है कहीं मन चल न जाय," इसलिये बहुत शीघ्रता से धूल लेकर उस पर डाल दी। उनकी पत्नी आकर पूछने लगीं कि "आपने यहाँ पर झुककर क्या किया है?॥"

आपने वही बात कह दी। श्रीभक्तिवतीजी बोलीं "कि आपके मन में अभी धन का ज्ञान बना ही है?" सुनकर, प्रसन्न हो, कहने लगे कि मुझको तो सब "राँका" कहते हैं, परन्तु आज मैंने जाना कि तू सच "बाँका" है। दोनों की दशा देख वचन सुन नामदेवजी से प्रभु बोले कि "देखो, मेरी बात सत्य है कि नहीं?" शान्ति और विराग की जय॥

(५००) टीका। कवित्त। (३४३)

नामदेव हारे हरिदेव कही और बात, जो पै दाह गात, चलौ लकरी सकेरियै। आये दोऊ बीनिबे को देखी इकठौरी ढेरी द्वै हूँ मिलि पावैं तऊ हाथ नहिं छेरियै॥ तब तौ प्रगट स्याम ल्याये यों लिवाय घर, देखि मूँड़ फोरौ कह्यो ऐसे प्रभु फेरियै। बिनती करत कर जोरि अंग पटधारौ भारौ बोझ पर्यौ लियौ चीरमात्र हेरियै॥ ४०३॥ (२२८)

वार्त्तिक तिलक।

जब भगवान् ने कहा कि "देखो मेरी ही बात सच्ची निकली," तब श्रीनामदेवजी ने हार मानी। फिर प्रभु बोले कि "जो कदाचित् इनके परिश्रम का तुम्हें बड़ा ही संताप है, तो चलो, दोनों जने लकड़ियाँ चुन चुन कर इकट्ठा रख दें, ये दोनों जने ले जायँगे परिश्रम थोड़ा होगा॥"

श्रीकृष्णचन्द्र और नामदेवजी ने ऐसा ही किया; जब राँका बाँका लकड़ी चुनने आये तब देखें कि बहुतसी लकड़ी इकट्ठी धरी हैं। दोनों ने उन लकड़ियों में हाथ तक नहीं लगाया, यहाँ तक कि दो लकड़ी भी कहीं इकट्ठी मिलें तो दूसरे की धरी हुई जान वे उनको नहीं छूते थे; तब श्यामसुन्दरजी प्रगट होकर दोनों को घर में लिवा लाये और प्रभु तथा नामदेवजी ने कहा कि "तुम हठ छोड़कर कुछ तो लो।" भक्तों ने प्रार्थना की कि "जो आपसे कुछ चाहना कर लेवे, सो प्राणी तो 'मुँड़फोरा' है, वह भक्त काहे को है, और ये नामदेवजी भी 'मुँड़फोरा' सरीखे आपको वन वन में फिराते हैं!" यह सुन, नामदेवजी ने हाथ जोड़ विनय किया कि "प्रभु की आज्ञा मान भला एक एक वस्त्र तो शरीर में धारण कर लीजिये," तब तो दोनों के सीस पर बडा ही भार पड़ा, पर वस्त्रमात्र ले लिया। ऐसे अचाही निष्काम भक्तों की जय॥

दो० "जाहि न चहिये कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह॥"

(५०१) छप्पय। (३४२)

पर-अर्थ-परायन भक्त ये, कामधेनु कलियुग्ग के॥ लद्दमरा[१], लफरा[२], लड्डू[३], सन्त[४] जोधपुर त्यागी। सूरज[५], कुम्भनदास[६], बिमानी[७], खेम[८] बिरागी॥ भावन[९], बिरही भरत[१०] नफर[११], हरिकेस[१२] लटेरा। हरिदास[१३], अयोध्या चक्रपानि[१४] (दियो) सरजू तट डेरा॥ तिलोक[१५], पुखरदी[१६], बिज्जुली[१७], उद्धव[१८], बनचर बंस के। पर-अर्थ-परायन भक्त ये, कामधेनु कलियुग्ग के॥ ९८॥ (११६)

वार्त्तिक तिलक।

कलियुग के ये श्रीभगवद्भक्त, पराये के अर्थ साधने में तत्पर और कामधेनु के समान मनोरथ के दाता हुए—

१ श्रीलक्ष्मणभक्तजी
२ श्रीलफराजी
३ श्रीलड्डूजी
४ श्रीत्यागीसन्त ❀ जी जोधपुर के
५ श्रीसूरजभक्तजी
६ श्रीकुंभनदासजी
७ श्रीविमानीजी
८ श्रीखेमबैरागीजी
९ श्रीभावनजी
१० श्रीविरहीभरतजी
११ श्रीनफरजी
१२ श्रीहरिकेशजी लटेरा वंश में उत्पन्न
१३ श्रीहरिदासजी, और
१४ श्रीअयोध्या सरयूतटवासी चक्रपाणिजी
१५ श्रीतिलोक सुनारजी
१६ श्रीपुखरदीजी
१७ श्रीबिज्जुलीजी, और
१८ श्रीउद्धवजी, वनचर (हनुमान वंश) में उत्पन्न ॥

(१३०) श्रीलड्डूभक्तजी।

(५०२) टीका । कवित्त । (३४१)

लड्डूनाम भक्त, जाय निकसे बिमुख देस, लेसहूँ न सन्तभाव जानैं, पाप पागे हैं। देवी कों प्रसन्न करैं, मानुस को मारि धरैं, लै गये पकरि, तहाँ मारिबे कों लागे हैं॥ प्रतिमा कों फारि, बिकरार रूप धारि आई, लै कै तरवार मूँड़ काटे, भीजे बागे हैं। आगे नृत्य करै, दृग भरै साधु पाँव धरै; ऐसे रखवारे जानि जन अनुरागे हैं॥ ४०४॥ (२२५)

वार्त्तिक तिलक।

लड्डूनामके †भगवद्भक्त, विचरते हुए बंगाले प्रदेश के एक विमुख ग्राम में पहुँचे; वहाँ के लोगों की संतों में भावभक्ति किंचित् भी न

❀ कोई इसका अर्थ यों करते हैं कि सन्त ने जोधपुर को त्यागा। श्रीभक्तमालजी की नामावली नहीं प्राप्त होने से नामों का ठीक पता लगाने में जो कठिनता होती है, भक्तमाली ही लोग जानते हैं॥

† यह कथा पूर्व ही में प्रसंगतः लिखी जा चुकी है। "कुर्बानी" तथा जीवबलि की प्रथा विचित्र ही बात है "इन दुहुँ राह बिगाड़ी साधो, इन दुहुँ राह बिगारी। आपस में दोउ (हिन्दू-मुसलमान) लड़े मरत हैं, भेद काहु नहिं जाना॥" "महरम हो सो जानै साधो, ऐसा देस हमारा है। कर नयनों दीदार, महल में प्यारा है॥"

थी, केवल पाप में ही परायण थे। मनुष्य को मार बलिदान देकर देवी को प्रसन्न करते थे। लड्डूभक्तजी को अकेले देख, पकड़कर, खड्ग ले, मार डालने को उद्यत हुए। उनकी दुष्टता देख श्रीदेवीजी ने अपनी प्रतिमा फोड़, विकरालरूप धारण कर, प्रगट हो, वही खड्ग छीन, कई दुष्टों के सीस काट डाले; और दुष्ट भाग गये। तब देवी श्रीलड्डूभक्तजी के आगे नेत्रों में प्रेम के आँसू भरकर नाचने लगीं; संत के चरणों को पकड़कर प्रसन्न किया। सब देवी देवताओं के अंतर्यामी श्रीरामजी को ऐसे रक्षा करनेवाले जानकर, भक्त लोग सानुराग भजते हैं, कृपा को समझ प्रेम-मग्न होते हैं। सब ग्रामवासी भगवद्भक्त हो गए॥

(१३१) श्रीसन्तजी।

(५०३) टीका। कवित्त। (३४०)

सदासाधुसेवा अनुरागरंग पागि रह्यो, गह्यो नेम भिक्षा व्रत गाँव गाँव जाय कै। आये घर संग पूछैं तिया सों यों "संत कहाँ?" "संत चूल्हे माँझ" कही ऐसे, अलसाय कै॥ बानीसुनि जानी; चलेमग, सुखदानी मिले, "कहौ कित हुते?" सो बखानी उर आय कै। "बोली वह साँच, वही आँचही को ध्यान मेरे," आनि गृह फेरि किये मगन जिवाय कै॥ ४०५॥ (२२४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीसंतभक्तजी सदा साधुसेवा के अनुराग में पगे प्रति ग्राम ग्राम में जा, भिक्षा कर, नियम से संतसेवा करते थे। एक दिवस भिक्षा के लिये किसी ग्राम में गये थे, इनके पीछे गृह में संतजन आए। आपकी स्त्री से, जो कि बड़ी ही विमुख और संसारिनि थी, सन्तों ने पूछा कि "संतभक्तजी कहाँ गये?" उसने अलसाकर रूक्षता से कहा कि "चूल्हे में गये।" वैष्णव इसकी वाणी सुन, अतिविमुख जान, वहाँ से चल दिये। मार्ग में विविध प्रकार की भिक्षा लिए हुए संतसुखदाता श्रीसंतभक्तजी मिले और दण्डवत् किया। संतों ने पूछा कि "कहाँ गये थे?" तब, प्रभुप्रेरणा से आपके शुद्ध हृदय में

जो स्त्री ने कहा था सो वार्ता भास गई, बोले कि "प्रभो! जो स्त्री ने कही है वह वार्ता सत्य है, मुझे सदा अग्नि और चूल्हे ही का ध्यान बना रहता है, अर्थात् चूल्हे में अग्नि जलाके रसोई बनाय प्रभु को भोग लगाय कब संत प्रसाद पावें। प्रभो! कृपाकरि चलिये।" सुनकर प्रसन्न हो लौट आये। आपने प्रीतिपूर्वक भोजन करा, संतों को आनन्द में मग्न कर दिया॥

(१३२) श्रीतिलोकसुनारजी

(५०४) टीका। कवित्त। (३३६)

पूरब मैं ओक, सो "तिलोक" हो सुनार जाति, पायौ भक्तिसार, साधुसेवा उर धारियै। भूप के विवाह सुता, जोरौ एक जेहरि कौं, गढिबे कों दियौ, कह्यौ "नीके कै सँवारियै"॥ आवत अनंत संत औसर न पावै किहूँ, रहे दिन दोय,भूप रोस यों सँभारियै। "ल्यावौ रे पकरि;" ल्याये; "छाड़ियै मकर कही, नेकु रह्यौ काम, आवै नातो मारि डारियै"॥ ४०६॥ (२२३)

वार्त्तिक तिलक।

पूर्व देश के रहनेवाले, जाति के सुनार श्रीतिलोकजी सारांश भक्ति को प्राप्त होकर तन मन से संतसेवा में परायण थे। उस नगर के राजा की कन्या का विवाह था, अतः एक जोड़ी जेहरि (चरणभूषण) बनाने के लिये राजा ने द्रव्य देकर आज्ञा दी कि "बहुत अच्छे प्रकार से बनाकर लाओ॥"

आपके घर नित्य अनेक मूर्ति संत आया करते; उनकी सेवा करने में आप लगे रहते थे; जेहरि बनाने के लिये कुछ औसर ही नहीं मिलता था, उसमें हाथ तक नहीं लगा सके। जब विवाह के दो ही तीन दिन रह गये, तब राजा ने सक्रोध आज्ञा दी कि "उसको पकड़ लावो।" लोगों ने ऐसा ही किया, आपने राजा से कहा कि "मुझे छोड़ दीजिये, उसमें थोड़ा सा काम रह गया है; जो उस दिन मैं न लाऊँ तो मुझे मरवा डालियेगा, मेरे प्राण ले लीजियेगा॥"

(५०५) टीका। कवित्त। (३३८)

आयौ वही दिन, कर छुयौ हूँ न इन, "नृप करै प्रान बिन,"

बन माँझ छप्यौ जायकै। आये नर चारि पाँच, जानी प्रभु आँच, गढ़ि लियौ, सो दिखायौ साँच, चले भक्तभाय कै॥ भूप कौ सलाम[१] कियौ, जेहरि कौ जोरौ दियौ, लियौ कर, देखि नैन छोड़ैं न अघाय कै। भई रीझि भारी, सब चूक मेटि डारी; धन पायौ लै मुरारी, ऐसे बैठे घर आयक ॥ ४०७ ॥ (२२२)

वार्त्तिक तिलक ।

वही दिन (अर्थात् राजकन्या के विवाह का दिन) आ गया; पर इन्होंने तो उस भूषण के बनाने के लिये सुवर्ण को हाथ से भी नहीं छुआ। तब मन में विचार किया कि "राजा मार ही डालेगा" इससे जाकर वन में छिप रहे ॥

राजा के चार पाँच जन इनके घर आये। कृपासिंधु प्रभु ने अपने भक्त को सकुटुम्ब तापयुक्त जान, तिलोकभक्त का रूप धारण कर, अपनी चातुर्य्य से जेहरि बनाकर, राजसेवकों को दिखा, वह चरणभूषण ले, अपने भक्त के अनुरूप आये, और राजा को जुहारकर, जेहरि का जोड़ा दिया। राजा हाथ में लेकर देखते ही मोहित होगया, देखने से नेत्र तृप्त न हुए; बड़ा ही प्रसन्न हुआ, विलंब करने की सब चूक क्षमा कर, बहुत सा धन दिया। भगवान् लाकर भक्त के घर में विराजमान हुए।

(५०६) टीका । कवित्त । (३३७)

भोरही महोछौ कियौ, जोई माँगै सोई दियौ, नाना पकवान रस खान स्वाद लागे हैं। संत कौ सरूप धरि, लै प्रसाद गोद भरि, गये तहाँ "पावैं जू तिलोक गृह पागे हैं" ॥ "कौन सो तिलोक ?" "अरे दूसरो तिलोक मैं न" बैन सुनि चैन भयौ, आये निसि रागे हैं॥ चहल पहल धन भर्यौ घर देखि दर्यौ प्रभुपदकंज जानौ मेरे भाग जागे हैं ॥ ४०८ ॥ (२२१)

वार्त्तिक तिलक ।

तिलोकरूपी प्रभु ने प्रातःकाल होते बड़ा ही महोत्सव किया; जिसने जाकर जो वस्तु माँगी उसको वही दिया, नाना प्रकार के

१ "सलाम" سلام =जोहार, दण्डवत, प्रणाम, जयहरि, रामराम ॥

पकवान अनूप रस स्वाद से भरे हुए, साधु ब्राह्मणों को खिलाये॥

तदनंतर एक साधु का रूप धर प्रसाद लकर वन में जहाँ भक्तजी बैठे थे, वहाँ जा, प्रसाद देकर, प्रभु ने कहा कि "हम तिलोक के घर गये थे, उन्होंने हमको पवाकर और दिया भी है, सो तुम पाओ।" भक्तजी ने पूछा कि "महाराज! कौन तिलोक?" आप बोले कि "अरे! इसी नगर का सुनार भक्त, और अन्यत्र तिलोकी में दूसरा ऐसा कौन है?"

संत के वचन सुन आपको बड़ा ही आनन्द हुआ, प्रभु की कृपा-कौतुक विचार प्रसाद पाकर सानुराग रात्रि में घर आये; देखें तो सुखमय चहल पहल हो रहा है और घर धन धान्य से भरा है; जान लिया कि श्रीलक्ष्मीजी भगवान् के पदपंकज इस घर में आये; मेरे बड़े ही भाग्य उदय हुए। प्रभु भक्तवत्सल की जय॥

(५०७) छप्पय। (३३६)

अभिलाष अधिक पूरन करन, ये चिन्तामनि चतुर-दास॥ सोम[१], भीम[२], सोमनाथ[३], बिको[४], बिशाखा[५], लम-ध्याना[६], महदा[७], मुकुंद[८], गनेस[९], त्रिबिक्रम[१०], रघु[११], जग जाना॥ बालमीक[१२], बृद्धव्यास[१३], जगन[१४], झाँझू[१५], बीठल[१६] आचारज। हरिभू[१७], लाला[१८], हरिदास[१९], बाहबल[२०], राघव[२१] आरज॥ लाखा[२२], छीतर[२३], उद्धव[२४], कपूर[२५], घाटम[२६], घूरी[२७], कियो प्रकास। अभिलाष अधिक पूरन करन, ये चिन्तामनि चतुरदास॥ ९९॥ (११५)

वार्त्तिक तिलक।

अपने अनुकूल जनों की अतिशय अभिलाषा पूर्ण करनेवाले, चिंतामणि के समान, परमार्थ पथ में चतुर, ये सब भगवद्दास हुए। नाम—सोमभक्त, भीमभक्त, सोमनाथजी, बिकोजी, विशाखाजी,

लमध्यानजी, महदाजी, मुकुंदभक्तजी, गणेशभक्तजी, त्रिविक्रमजी, रघुभक्तजी, इन सबों को सम्पूर्ण जगत् जानता था। वाल्मीकिभक्तजी, वृद्धव्यासजी, जगनजी, झाँझूजी, बिट्ठल आचार्यजी, हरिभूजी, लालाजी, हरिदासजी, बाहुबलजी, परमश्रेष्ठ राघवदासजी, लाखोंजी, छीतरजी, उद्धवजी, कपूरभक्तजी, घाटमजी, घूरीजी, इन सबोंने अपने सुयश जग में प्रकाश किये।

१ श्रीसोमजी
२ श्रीभीमजी
३ श्रीसोमनाथजी
४ श्रीबिक्को (विकोदी) जी
५ श्रीविशाखाजी
६ श्रीलमध्यान*ध्यानजी
७ श्रीमहदाजी
८ श्रीमुकुन्दजी
९ श्रीगणेशजी
१० श्रीत्रिविक्रमजी
११ श्रीरघुजी (जगद्विख्यात)
१२ श्रीवाल्मीकिजी
१३ श्रीवृद्धव्यासजी
१४ श्रीजगनजी
१५ श्रीझाँझूजी
१६ श्रीबिट्ठलआचार्यजी
१७ श्रीहरिभूजी*
१८ श्रीलालाजी
१९ श्रीहरिदासजी
२० श्रीबाहुबलजी
२१ श्रीराघवजी आर्य्य (श्रेष्ठ)
२२ श्रीलाखाजी
२३ श्रीछीतरजी
२४ श्रीउद्धवजी
२५ श्रीकपूरजी
२६ श्रीघाटमजी
२७ श्रीघूरीजी

(२२–२७) इन्होंनेजग में अपने यशप्रकाश किये॥

(१३३) श्रीघाटमजी।

श्रीघाटमजी, जाति के मीना, जयपुर राज्य के खोड़ी (घोड़ी) ग्राम के रहनेवाले, गुरुवचन में विश्वास और श्रीहरि में भक्ति कर उत्तम पद को प्राप्त हो कृतार्थ हुए। प्रथम उनकी बटमारी ठगी चोरी की वृत्ति रहा करती थी, भाग्यवश कुछ विवेक आया, किसी हरिभक्त का सुसंग हुआ, उन्होंने शिक्षा दी कि "बटमारी चोरी

* लमध्यानी, ऐसा एक नाम कोई बताते हैं, कोई लखमन ध्यानी, कोई हरिभू, और कोई हरिभूला, ऐसा नाम बताते हैं।

ठगी छोड़ दो।" घाटम ने कहा "इसी धंधे से तो मेरी जीविका है।" संत ने कहा कि "अच्छा, चार वार्त्ता हमारी ग्रहण करो (१) सत्य बोलना (२) साधुसेवा (३) भगवत् अर्पण किये पीछे कुछ खाना (४) और भगवत् आरती में जा मिलना।" सुनते ही चारों बातें अंगीकार कर भगवत्मंत्र भी ग्रहण किया। श्रीगुरु के चारों उपदेश पर आप अति दृढ़ हो गये॥

एक दिन साधु आये, घर में कुछ भी न था। खलिहान से गेहूँ चुरा लाकर संतों को भोजन कराया, परंतु भय था कि "पद के चिह्नों को देखने से मैं खलिहानवाले के हाथों से कहीं अभी पकड़ा न जाऊँ।" इतने ही में आँधीयुक्त पानी बरसा, आपकी चिन्ता मिट गई; आपने निश्चिन्तता से संतों की सेवा की॥

एक समय श्रीगुरु ने भगवत् उत्सव में घाटम को बुलाया उस समय में भी पास में कुछ न था; चिंतायुक्त हो, चोरी करने राजा के गृह में आये, द्वारपालों ने पूछा, तब आपने सत्य उत्तर दिया कि "मैं चोर हूँ 'घाटम' मेरा नाम है" वे सब इनका उत्तम वेष देख समझे कि "इन्होंने अपने तईं हँसी ही से चोर कहा है," कुछ न बोले। ये जाकर घुड़साल से एक उत्तम काले (मुश्की) रंग के घोड़े पर चढ़कर चले, अश्वरक्षकों ने रोका, फिर उनसे भी सत्य ही कहकर चले आये। श्रीगुरु-गेह की ओर चले॥

संध्या समय एक नगर में किसी हरिमंदिर में आरती होती थी वहाँ घोड़ा बाँधकर आरती दर्शन कर भजन करने लगे। यहाँ राजा के यहाँ उस घोड़े की ढूँढ़ पड़ी॥

बहुत से लोग घोड़े के पाँव का पता लेते उसी मंदिर के द्वार पर पहुँचे। भक्तवत्सल प्रभु ने उस घोड़े का श्वेत रंग कर दिया, घाटम चढ़ के जब बाहर निकले, तब राजभृत्य लज्जित हो सोचने लगे कि घोड़ा तो वैसा ही है पर रंग इसका दूसरा है, अब राजा हमको दंड देगा; श्रीघाटमजी उनको भयभीत देखकर दयायुक्त बोले कि "वह चोर मैं हूँ और यह घोड़ा भी वही है; प्रभु ने मेरी रक्षा हेतु कृपाकर यह

रंग बदल दिया। तुम चिंता न करो, तुम्हारी रक्षा के हेतु मैं घोड़े समेत तुम्हारे राजा के पास चलता हूँ।" यह कहकर राजा के पास आ, आपने अपना सब वृत्तांत सुना दिया। चरणों पर पड़ राजा ने बहुत सा द्रव्य और वह घोड़ा भी श्रीघाटमजी को दिया; सब ले जाकर आपने श्रीगुरुजी को अर्पण किया। श्रीहरिगुरुभक्ति का ऐसा प्रभाव और प्रताप है। जय॥

(५०८) छप्पय। (३३५)

भक्तपाल दिग्गज भगत, ए थानाइत सूर धीर॥ देवानन्द, नरहरियानन्द, मुकुन्द महीपति संतराम तम्मोरी। खेम, श्रीरंग, नंद, बिस्नु, बीदा, बाजूसुत, जोरी॥ छीतम, द्वारिकादास, माधव मांडन, रूपा, दामोदर। भक्त नरहरि, भगवान, बाल, कान्हर, केसौ, सो हैं घर॥ दास प्रयाग, लोहंग, गुपाल, नागू सुत, गृह भक्तभीर। भक्तपाल दिग्गज भगत, ए थानाइत सूर धीर॥ १०० ॥ (११४)

वार्त्तिक तिलक।

ये महा भगवद्भक्त दिग्गजों के समान स्थानाधिपति, परम सूर धीर, सब भक्तों के पालनेवाले हुए—

१ श्रीदेवानन्दजी
२ श्रीनरहरियानन्दजी
३ श्रीमुकुन्दजी
४ श्रीमहीपतिजी
५ श्रीसन्तरामजी
६ श्रीखेमजी
७ श्रीश्रीरंगजी
८ श्रीनन्दजी
९ श्रीबाजूजी
१० श्रीबींदाजी } बाजूजी
११ श्रीविष्णुजी } दोनों पुत्र
१२ श्रीछीतमजी
१३ श्रीद्वारिकादासजी
१४ श्रीमाधवजी
१५ श्रीमाण्डनजी
१६ श्रीरूपाजी

१७ श्रीदामोदरजी १८ श्रीनरहरिजी १९ श्रीभगवानजी २० श्रीबालजी २१ श्रीकान्हरजी २२ श्रीकेशोजी	भले प्रकार अपने घर ही में शोभा पानेवाले ॥	२३ श्रीप्रयागदासजी २४ श्रीलोहंगजी २५ श्रीनागूजी २६ श्रीगोपालजी श्रीनागू के पुत्र

इन सब संतसेवी भक्तों के गृह में भक्तों की भीर बनी ही रहा करती थी ॥

(५०९) छप्पय । (३३४)

बद्रीनाथ, उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरिभजन पर ॥ केसौ पुनि हरिनाथ, भीम, खेता, गोविंद, ब्रह्मचारी । बालकृष्ण, बड़भरथ, अच्युत, अपया व्रत-धारी ॥ पंडा गोपीनाथ, मुकुन्दा, गजपति, महाजस । गुननिधि, जसगोपाल, दई भक्तनि कौ सरबस ॥ श्रीअंग सदा सानिधि रहैं कृत पुन्यपुंज भल भाग भर । बद्रीनाथ, उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरिभजन पर ॥१०१॥ (११३)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीबदरिकाश्रम (श्रीबद्रीनाथ) जी में, उड़ीसा जगदीशक्षेत्र में और श्रीद्वारिकापुरी में चारोंधाम में श्रीजगन्नाथजी और श्रीरनछोर-टीकमजी के ये सेवक हरिभजन में परायण हुए ॥

१ श्रीकेशवजी २ श्रीहरिनाथजी		८ श्रीभीमजी ९ श्रीखेताजी	
३ श्रीब्रह्मचारीगोविन्दजी ४ श्रीबालकृष्णजी ५ श्रीबड़भरतजी ६ श्रीअच्युतजी ७ श्रीअपयाजी	इन सन्तों ने संत सेवा का व्रत धारण किया	१० श्रीगोपीनाथपंडाजी ११ श्रीमुकुन्दजी १२ श्रीगजपतिजी १३ श्रीगुणनिधिजी १४ श्रीजसगोपालजी	ये महायशयुक्त हुए (१०–१२)

इन्होंने हरिभक्तों को अपना तन मन धन सर्वस्व अर्पण किया, तीनों-धाम में ये १४ भक्त भगवत् श्रीअंग के सदा समीप रहनेवाले, कृतपुण्य-पुंज, भले प्रकार भाग्य से भरे हुए, तेजपुंज हुए ॥

(१३४) श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी ।

(५१०) टीका । कवित्त । (३३१)

श्रीप्रतापरुद्र गजपति कै बखान कियौ, लियौ भक्तिभाव महा प्रभु पै, न देखहीं । किये हूँ उपाय कोटि, ओटि लै संन्यास दियौ, हियौ अकुलायौ "अहो ! किहूँ मोको पेखहीं" ॥ जगन्नाथ रथ आगे नृत्य करैं मत्त भये नीलाचलनृप पाँय पर्यौ, भाग लेखहीं । छाती सों लगायौ, प्रेम-सागर बुड़ायौ, भयौ अति मन भायौ, दुख देत ये निमेखहीं ॥ ४०६ ॥ (२२०)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी, नीलाचल पुरुषोत्तमपुरी के राजा थे । महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी से भक्तिभाव मन्त्र ग्रहण कर शिष्य हुए । महाप्रभु ने इनकी प्रेमपरीक्षा लेने के अर्थ किसी दिन से इनकी ओर देखना छोड़ दिया । आपने कोटिन उपाय किये तथापि प्रभु ने नहीं ही देखा; तब संन्यास वेष का ओट लिया, और हृदय में अत्यन्त आकुलता हुई कि "मुझे किसी प्रकार से श्रीगुरु कृपादृष्टि से देखैं ॥"

एक दिवस प्रेम से मत्त हुए महाप्रभुजी श्रीजगन्नाथजी के रथ के आगे नृत्य करते थे; भाग्य समझ, प्रेम से विह्वल हो, साष्टांग पड़ राजा ने चरणों को पकड़ लिया; महाप्रभुजी ने सत्य प्रेम देख, उठाकर छाती में लगा प्रेमानन्द के समुद्र में मग्न कर दिया । राजा का मनोरथ अति पूर्ण हुआ ॥

श्रीहरि गुरु थोड़े ही काल अपने वियोग का दुःख देकर फिर सदा के लिये अखण्ड सुख दे देते हैं ॥

(५११) छप्पय । (३३२)

हरिसुजस प्रचुर कर जगत में,*ये कबिजन अतिसय

* पाठान्तर मय, मैं ॥

उदार ॥ विद्यापति, ब्रह्मदास, बहोरन, चतुरबिहारी। गोबिंद, गंगा, रामलाल, बरसानियाँ मंगलकारी ॥ प्रियदयाल, परसराम, भक्त भाँई, खाटीको। "नन्द-सुवन" की छाप कवित "केसौ" कौ नीको ॥ आसकरन, पूरन नृपति, भीषम, जनदयाल, गुन नहिंन-पार। हरि सुजस प्रचुर कर जगत मैं, ये कबिजन अति-सय उदार ॥ १०२ ॥ (११२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरि का सुजस जगत् में प्रचार करनेवाले ये सब कविजन अतिशय उदार हुए; नाम—

विद्यापतिजी, ब्रह्मदासजी, बहोरनकविजी, बड़े चतुर बिहारी कविजी, श्रीगोविन्दसखाजी, गंगारामकविजी, बरसानियाँ श्रीराम-लालजी, मंगलमय हरिचरित्र गानकर इन्होंने जीवों को मंगलमय कर दिया, प्रियदयालजी, परसरामजी, भक्त भाईजी, खाटीकजी; जिन्हों में "नन्दसुवन" की छाप पड़ी है ऐसे कवित्त श्रीकेशवजी के अच्छे हुए। आसकरनजी राजा, पूरनजी राजा, भीषमजी, जन दयालजी; ये सब अपार गुणों से युक्त हुए ॥

१ श्रीविद्यापतिजी
२ श्रीब्रह्मदासजी
३ श्रीबहोरनजी
४ श्रीविहारीजी
५ श्रीगोविन्दस्वामीजी
६ श्रीगंगारामजी
७ श्रीरामलालजी
८ श्रीप्रियदयालजी
९ श्रीपरशुरामजी
१० श्रीभक्तभाईजी
११ श्रीखाटिकजी
१२ श्रीकेशवजी
१३ श्रीआसकरनजी
१४ श्रीपूरनजी
१५ श्रीभीष्मजी
१६ श्रीजनदयालजी

(१३५) श्रीगोविन्दस्वामीजी ।

(५१२) टीका । कवित्त । (३३१)

गोवर्द्धननाथ साथ खेलैं, सदा झेलैं रंग अंग, सख्य भाव हिये, गोविंद सुनाम है। स्वामी करि ख्यात, ताकी बात सुनि लीजै नीके, सुने सरसात नैन, रीति अभिराम है ॥ खेलत हो लाल संग, गयो लौट दाव लैकै, मारी खैंचि गिल्ली देखि मन्दिर मैं स्याम है। मानि अपराध, साधु धक्का दै निकारि दियो, मति सो अगाध, कैसे जानै वह बाम है ॥ ४१० ॥ (२१६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीबिट्ठल गुसाईं के शिष्य श्रीगोविन्दस्वामी नाम से विख्यात हृदय में सदा सख्य भाव रखकर, "श्रीगोवर्द्धननाथजी" से अंग से अंग मिलाय रंग झेलने और साथ खेलने हारे, अभिराम रीतिवाले की वार्ता भलीभाँति सुनिये, कि जिसको सुनकर नेत्र प्रेम से सजल सरस हो जाते हैं ॥

आपको बाल्यावस्था ही से श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रगट होकर दर्शन देते वरंच साथ खेला करते थे। एक दिन नन्दलालजी के साथ गुल्ली डंडा खेलते थे। प्रथम प्रभु का दाव था सो गोविन्द सखा को बहुत दौड़ाया, जब इनका दाव आया, तब नन्दलाल भगे; ये पीछे दौड़े। श्यामसुन्दर को मन्दिर में देख, खैंच कर गुल्ली मारी। मन्दिर में एक साधु पुजारी थे, सो उन्होंने इनका बड़ा अपराध मान इनको धक्का देकर निकाल दिया। क्योंकि सख्य रस भरी अगाध मति को, वह प्रेम से विमुख, कैसे जान सकता ?

आप भारी गवैये और महान् कवि थे, अष्ट छाप में इनकी गिनती थी। इनकी "कदम्बखण्डी" नाम उपवन अब तक गोवर्द्धनजी के पास विद्यमान है ॥

(५१३) टीका । कवित्त । (३३०)

बैठ्यो कुंड तीर जाय, निकसैगो आय, बन दिये हैं लगाय, ताको फल भुगताइयै । लाल हिय सोच पर्‍यो, कैसे भर्‍यो जात, वह

अखौ मगमाँझ, भोग धखौ पै न खाइयै॥ कही श्रीगुसाईंजू कों, मोकों ये न भाई कछू, चाहौ जौ खवावो, तौ पै वाकों जा मनाइयै। "वाको हुतो दाव मोपै, सो तौ भाव जान्यौ नहीं, कही मोसों बातैं सो कुमारै बेगि ल्याइयै" ॥ ४११ ॥ (२१८)

वार्त्तिक तिलक।

जब उस साधु ने आपको धक्का देकर निकाल दिया, तब आप (श्रीगोविन्दसखाजी) जाके कुण्ड तीर बैठे; और ऐसा कहने लगे कि "वन में जाने को तो इस मार्ग से निकलेगा सही, जो अपने बैरागी को मुझे धक्का देने में लगा दिया, तिसका पलटा फल मैं भुगता ही लूँगा।" अब तो लालजी के हृदय में बड़ा ही सोच पड़ा कि "वह सखा अपनी दाव लिये बिना नहीं छोड़ैगा वह मार्ग ही में बैठा है।" आपके आगे भोग धरा गया, परन्तु ग्रहण नहीं किया। प्रगट होकर श्रीगोसाईंजी से कहा कि "मुझको यह भोग वस्तु कुछ नहीं अच्छी लगती, जो मुझे खिलाया चाहो तो मेरे सखा को जाकर मना लाओ, क्योंकि उसका दाव था सो मैंने नहीं दिया, तब उसने आकर मुझे गुल्ली मारी; उस भाव को तो साधु जान सका नहीं, उसको दुर्वचन कहकर धक्का दे दिया, वह क्रोध में भरा है; सो प्रिय कुमार को आप शीघ्र लिवा लाइये॥"

(५१४) टीका। कवित्त । (३२६)

बन बन खेले बिन बनत न मोकौं नेकु, भनत जु गारी अनगनत लगावैगो। सुधि बुधि मेरी गई, भई बड़ी चिंता मोहिं, ल्याइये जू ढूँढ़ि कहूँ चैन ढिग आवैगो॥ भोग जे लगाये, मैं तौ तनक न पाये, रिस वाकी जब जाये, तब मोहूँ कछु भावैगो। चले उठि धाये, नीठ नीठ कै मनायल्याये, मन्दिरमैं खायमिलि, कही गरैं लावैगो॥ ४१२ ॥ (२१७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीलालजी ने गुसाईंजी से कहा कि "देखिये, बन बन प्रति खेले बिना, मेरा मन प्रसन्न नहीं ही होता; और वह वनमार्ग में बैठा मुझे गालियाँ दे रहा है; जो उधर में जाऊँगा तो अनेक चोट

लगावैगा; मेरी तौ सब सुधि बुधि भूल गई; बड़ी ही चिंता उत्पन्न हुई है, मेरे मित्र को ढूँढ़ि लाइये तब मेरा मन प्रसन्नता युक्त हो, आपने जितने भोग लगाये हैं मैंने उसमें से अभी किंचित् भी नहीं पाया; उसकी रिस शान्त हो तब मुझे कुछ अच्छा लगेगा।" श्रीगुसाईंजी सुनते ही दौड़े; बड़ी कठिनता और बड़े यत्न से आपको मनाकर लाये, कहा कि "तुम्हारे प्रेमी ने कहाहै कि आकर मेरे साथ मिलकर खायँ और गले मिलें।" ऐसाही किया ॥

(५१५) टीका। कवित्त। (३२८)

गये है बहिरभूमि, तहाँ कृष्ण आये झूमि, करी बड़ी धूम, आकबोड़िन सौं मारि कै। इनहूँ निहारि उठि मार दई वाहो सों जु, कौतुक अपार, सख्यभाव रससार कै ॥ माता मगचाहै, बड़ी बेर भई, आई तहाँ, "कहाँ बार लाई" ओट पाई उर धारि कै। आयौ यों बिचार अनुसार सदाचार कियौ, लियौ प्रेम गाढ़, कभूँ करत सँभारि कै ॥ ४१३ ॥ (२१६)

वार्त्तिक तिलक।

एक दिवस, गोविन्दस्वामीजी बहिरभूमि (शौच) के लिये गये थे, वहाँ ही प्रेमानन्द से झूमते श्रीकृष्णचन्द्रजी आकर, उसी दशा में आक (मदार) के फलों से आपको मार मार कर बड़ी धूम मचाने लगे; आपने देखा, तब उठकर उन्हीं फलों से श्रीकृष्णचन्द्रजी को भी आप मारने लगे। दोनों सख्यभाव रससार में छके हुए अपार कौतुक मचा रहे थे, गोविन्दसखाजी की माता, बड़ा विलम्ब जान मार्ग देख रही थीं, फिर बिचारने लगीं कि "कहाँ बिलंब लगाया?"

वहाँ ही आईं; उनको देख श्रीकृष्णचन्द्र छिप गये; आप उसकी ओट (बहाने) से बचे। और तब मन में विचार आया; शौच का सदाचार क्रिया की। इस प्रकार के गाढ़े प्रेम से छके, श्रीबड़भागीजी कभी सँभारसे, और कभी बे सँभाले अपने मित्र के संग खेलाकरते थे ॥

(५१६) टीका। कवित्त। (३२७)

आवत हो भोग महासुन्दर, सुमन्दिर कों, रह्यौ मग बैठि, कही "आगें मोहिं दीजियै"। भयौ कोप भार, थार डारि, जा

पुकार करी, भरी न अनीति जात, सेवा यह लीजियै॥ बोलि कै सुनाई, "अहो कहा मन आई?" तब बोलि कै बताई, "अजू बात कान कीजियै। पहिले जु खाय, बन माँझ उठि जाय, पाछे पाऊँ कहाँ धाय, सुनि मति रस भीजियै॥ ४१४॥ (२१५)

वार्त्तिक तिलक।

एक दिन की बात है कि अतिसुन्दर भोग का थार रसोई करनेवाले मन्दिर में लिये आते थे; गोविन्दसखाजी मार्ग में बैठे बोले कि "पहिले मुझ पाने को दे दीजिये।" सुनकर पूजा रसोई करनेवालों को बड़ा क्रोध हुआ, थाल को पटक, जा, गुसाईंजी से पुकार किया कि "ऐसी सेवा आप लीजिये, इस लड़के की अनीति हमसे नहीं सही जाती।" गुसाईंजी ने आपसे पूछा कि, "लाला! तेरे मन में क्या आई?" इन्होंने उत्तर दिया "अजी महाराज! मेरी बात सुनिये, यह आपका लाला पहले खाकर वन में चला जाता है, मैं पीछे पाने को पाता हूँ पीछे जाता हूँ, तब वह मुझे मिलता नहीं, ढूँढ़ता फिरता हूँ।" सुनकर गुसाईंजी की मति प्रेमरस से भीग गई। उस दिन से थार मन्दिर में पहुँचते ही इधर इनको भी पवा देते थे॥

(५१७) छप्पय। (३२६)

जे बसे बसत मथुरा मंडल, ते दयादृष्टि मोपर करौ॥ रघुनाथ[1], गोपीनाथ[2], रामभद्र[3], दासूस्वामी[4]। गुंजामाली[5] चित उत्तम[6], बीठल[7], मरहठ[8], निहकामी॥ जदुनंदन[9], रघुनाथ[10], रामानंद[11], गोबिन्द[12], मुरलीसोती[13]। हरिदास मिश्र[14], भगवान[15], मुकुंद[16], केसौ[17] दंडोती॥ चतुरभुज[18], चरित्र[19], बिष्णुदास[20], बेनी[21], पदमो सिर धरौ। जे बसे बसत मथुरा-मंडल, ते दयादृष्टि मो पर करौ॥१०३॥ (१११)

वार्त्तिक तिलक।

जो भक्त मथुरामंडल में आगे बसे हैं और जो अब बसते हैं, ते

सब मुझ पर दयादृष्टि कीजिये। और कृपाकर मेरे सीस पर अपने चरण-कमल रखिये ॥

१ श्रीरघुनाथभक्तजी
२ श्रीगोपीनाथभक्तजी
३ श्रीरामभद्रभक्तजी
४ दासूस्वामीजी
५ गुंजामालीजी
६ चित्तउत्तमजी
७ बीठलजी
८ निष्कामभक्तमरहठजी
९ यदुनंदनभक्तजी
१० दूसरे रघुनाथभक्तजी
११ रामानन्दभक्तजी
१२ गोविन्दभक्तजी
१३ मुरलीश्रोत्रीजी
१४ हरिदासमिश्रजी
१५ भगवानभक्तजी
१६ मुकुन्दभक्तजी
१७ केशवदंडवतीजी
१८ चतुर्भुजजी
१९ चरित्रभक्तजी
२० विष्णुदासजी
२१ बेनीभक्तजी

"भगवान" नाम के कई भक्त हुए हैं ॥

(१३६।१३७) श्रीगुंजामालीजी और आपकी पुत्रवधू

(५१८) टीका । कवित्त । (३२५)

कही नाभा स्वामी आप, गायौ मैं प्रताप संत बसे ब्रज बसैं सो तौ महिमा अपार है। भये गुंजा माली "गुंजा" हार धारि नाम पर्यौ, कर्यौ बास "लाहौर मैं" आगें सुनौ सार है॥ सुतबधू बिधवा सों बोलि कै सुनायौ "लेहु धनपति गेह श्रीगोपाल भरतार है। देवौ प्रभुसेवा," माँगै नारि बार बार यहे डारै सब वारि यापै गनै जग छार है॥४१५॥ (२१४)

वार्त्तिक तिलक ।

आप श्रीनाभास्वामीजी ने उन संतों का प्रताप कहा, सो मैं भी गान करता हूँ कि जो भक्त श्रीव्रज में बसे और बसैं उनकी महिमा अपार है। गुंजा (चोंटली, घुँघची) की माला धारण करने से गुंजा माली नाम पड़ गया; आप लाहौर में हुए; आपकी सारांश कथा आगे सुनिये। आपकी पुत्रवधू (पतोहू) विधवा हो गई, आपने उसको बुलाके कहा कि "पतोहू ! तुम यह अपने पति का

घर और धन लो, तुम्हारे भर्त्ता यही सेवामूर्ति श्रीगोपालजी हैं, इन अपने भर्त्ता को लो।" वह भक्तिसंस्कारयुक्त थी ही, इससे प्रभुसेवा ही वारंवार माँगकर कहने लगी कि "मुझे प्रभु की सेवा ही दीजिये और जगत् की वस्तु तो सब छार हैं। मैं इन पर सब न्यवछावर करती हूँ, और कुछ नहीं लूँगी॥"

(५१६) टीका। कवित्त। (३२४)

दई सेवा वाहि, और घर धन तिया दियौ, लियौ ब्रजबास, वाकी प्रीति सुनि लीजिय। ठाकुर बिराजैं, तहाँ खेलैं सुत औरनि के, डारैं ईंटा खोहा, पस्यौ प्रभु पर खीझियै॥ दिये वे बिड़ारि, धस्यौ भोग, पै न खात हरि, पूछी कही वेई आवैं तब ही तौ जीजियै। कह्यौ रिस भरि "धूरि नीकी, भोर डारैं भरि, खावौ," अब हाहा करी पायौ, ल्याई रीझियै॥ ४१६॥ (२१३)

वार्त्तिक तिलक।

इस प्रकार उसकी भक्ति देख श्रीगोपालमूर्ति उसी को दिया; और धन घर सब अपनी स्त्री को दे, आप आकर श्रीवृन्दावन में बसे। अब उस पतोहू की प्रीति सुनिये, उसकी भक्ति देख प्रभु श्रीमूर्ति से खाने और उसके साथ बोलने भी लगे। एक दिन जहाँ ठाकुर बिराजे थे वहाँ औरों के लड़के ईंटा धूलि डालते खेलते थे सो वह मिट्टी धूलि प्रभु के ऊपर पड़ी, तब इन्होंने क्रोध कर लड़कों को भगा दिया। पीछे, भोग का थार रक्खा, सो प्रभु ने कुछ न पाया। इन्होंने प्रार्थना कर पूछा तो आप बोले कि "वे लड़के आवें खेलें तभी मुझको प्रसन्नता होगी।" इन्होंने प्रणय कोपकर कहा कि "जो धूलि ही आपको प्यारी है तो बड़े भोर लड़कों को बुलाके डलवा दूँगी, अभी खाइये।" बहुत प्रार्थना किया और लड़कों को बुला लाई, तब आपने भोजन किया और बहुत प्रसन्न हुए॥

(५२०) छप्पय। (३२३)

कलिजुग जुवतीजन भक्तराज महिमा सब जानै जगत॥ सीता[1], झाली[2], सुमति[3], सोभा[4], प्रभुता[5], उमा[6] भटि-

यानी । गंगा[7], गौरी[8], कुँवरि[9], उबीठा[10], गोपाली[11], गनेसदे-रानी[12] ॥ कला[13], लखा[14], कृतगढ़ौ[15], मानमती[16], सुचि, सति-भामा[17] । जमुना[18], कोली[19], रामा[20], मृगा[21], देवादे[22]* भक्तन वि-श्रामा ॥ जुग[23], जेवा[24], कीकी[25], कमला[26], देवकी[27], हीरा[28], हरि-चेरी[29], पोखे भगत । कलिजुग जुवती जन भक्तराज म-हिमा सब जानै जगत ॥ १०४ ॥ (११०)

वार्त्तिक तिलक ।

कलियुग में ये युवतीजन भक्तराज हुईं; इनकी महिमा कीर्त्ति सब जगत् जानता है । श्रीसीतासहचरीजी, झालीजी, सुमतिजी, शोभाजी, भटियानी उमाजी, गंगाजी, गौरीजी, कुँवरिजी, उबीठाजी, गोपालीजी, रानीगणेशदेईजी, कलाजी, लखाजी, कृतगढ़ौजी, मानमतीजी, परम पवित्र सतिभामाजी, यमुनाजी, कोलीजी, रामाजी, मृगाजी, देवादेईजी, ये सब हरिभक्तन को विश्राम देनेवाली हुईं । जेवाजी, कोकीजी, कमलाजी, देवकीजी, होराजी, हरिचेरीजी इन्होंने भोजन वस्त्रादिकों से हरिभक्तों की सेवा की । श्रीजनकनन्दिनी वा श्रीभानुसुता की बड़ी कृपापात्र हुईं ॥

१ श्रीसीतासहचरीजी
२ श्रीझालीजी
३ श्रीसुमतिजी
४ श्रीशोभाजी
५ श्रीप्रभुताजी
६ श्रीउमाभटियानीजी
७ श्रीगंगाजी
८ श्रीगौरीजी
९ श्रीकुँवरीजी
१० श्रीउबीठाजी
११ श्रीगोपालीजी
१२ श्रीरानीगणेशदेईजी
१३ श्रीकलाजी
१४ श्रीलखाजी
१५ श्रीकृतगढ़ौजी
१६ श्रीमानमतीजी
१७ श्रीसतिभामाजी
१८ श्रीजमुनाजी
१९ श्रीकोलीजी
२० श्रीरामाजी

* 'देवादे'=अर्थात् देनेवाली, वा देवादेई, देवादेवी ॥

२१ श्रीमृगाजी	२६ श्रीकमलाजी
२२ श्रीदेवाजी	२७ श्रीदेवकीजी
२३ श्रीजेवाजी } जुगजेवा	२८ श्रीहीराजी
२४ श्रीजेवाजी }	२६ श्रीहरिचेरीजी
२५ श्रीकीकीजी	

(१३८) श्रीगणेशदेई रानी।

(५२१) टीका। कवित्त। (३२२)

"मधुकरसाह" भूप भयौ, देस "ओड़छे" कौ, रानी सो "गनेसदेई" काम बाँकौ कियौ है। आवैं बहु संत सेवा करत अनंत भाँति, रह्यौ एक साधु खान पान सुख लियौ है॥ निपट अकेली देखि बोल्यौ "धन थैली कहाँ?" "होय तौ बताऊँ सब तुम जानौ हियौ है"। मारी जाँघ छुरी लखि लोहू बेगि भागि गयौ, भयौ सोच, "जानै जिनि राजा बंद दियौ है"॥ ४१७॥ (२१२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमधुकरसाहजी ओड़छे के राजा थे इनकी रानी परम श्रीरामभक्ता श्रीगणेशदेईजी ने भक्तिपथ में बड़ाही बाँका काम किया; आप अति प्रीति तथा अनेक भाँति से सन्तसेवा करती थीं; इस हेतु बहुत संत आया करते थे। किसी समय खान पान का सुखपाकर एक साधु वेषधारी (नाममात्र का साधु) आपके यहाँ रह गया। आप के यहाँ वैष्णवमात्र को रोक (परदा) न था॥

एक दिन आप अकेली बिराजी थीं, उसी समय में वह साधु वेषधारी एक छूरी लिये आया और बोला कि "धन की थैली कहाँ है?" आपने उत्तर दिया "मेरे पास जो धन आता है सो आपलोगों की सेवा में लग जाता है, थैली नहीं है, होय तो बताऊँ, मेरे हृदय को आप जानते हैं मैं धन नहीं रखती।" तथापि उस लोभी ने फिर माँगा और नहीं पाया; तब जंघे में छुरी मार दी! रुधिर चलने लगा, देखकर वह दुष्ट भाग गया॥

श्रीगणेशदेईजी को यह सोच हुआ कि "कहीं राजा न जानैं, नहीं तो इसको दंड देंगे;" घाव को बाँध दिया॥

(५२२) टीका। कवित्त। (३२१)

बाँधि नीकी भाँति, पौढ़ि रही, कही काहूसों न, आयौ ढिग राजा, "मति आवौ, तियाधर्म है"। बीते दिन तीन जानी बेदन नबीन कछू, "कहियै प्रबीन मोसों खोलि सब मर्म है"॥ टारी बार दोय चारि, नृप के बिचार पस्यौ, कस्यौ समाधान "जिन आनौ जिय भर्म है"। फिस्यौ आसपास भूमि पर तन रासकरी, भक्तिकौ प्रभाव छाँड़ि तिया पति सर्म है॥ ४१८॥ (२११)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभक्तिभागिनीजी उस घाव को अच्छे प्रकार बाँधकर पड़ रहीं किसी से कुछ कहा नहीं; जब आपके समीप में आपके पति मधुकरसाहजी आये तब बोलीं कि "आप मत आइये मुझे स्त्री-धर्म हुआ है।" तीन दिन बीते शुद्धता बिचारि फिर आकर राजा ने आपको पड़ी ही देखा, जाना कि "कोई नवीन व्यथा है।" आपसे पूछने लगे कि "हे प्रवीन प्रिये! जो व्यथा होय सो सब मर्म खोलकर कहो।" सुनकर आपने दो चार बेर टालमटोल किया; राजा ने नहीं माना; तब सत्य सत्य सब वृत्तान्त कहकर समाधान करने लगीं कि "आप कोई मन में भ्रम लाकर वैष्णवों में अभाव मत कीजियेगा; यह कोई मेरा कर्म ही ऐसा था सो भी भोग ही गया॥"

राजाजी भी तो परम भागवत थे, सुनकर आपकी क्षमा और भक्ति पर न्यवछावर हो; परिक्रमा कर भूमि पर पड़के प्रणाम किया, श्रीभक्ति का प्रभाव हृदय में धारण कर स्त्री पति की लज्जा छोड़ श्रीगणेशदेईजी में भक्ति का गौरव मानने लगे॥

श्रीगणेशदेईजी की एक और उत्तम कथा जो बुंदेलखण्ड देश के सब सज्जनों को विदित है सो सुनिये। श्रीमधुकरसाहजी श्रीकृष्णचन्द्रजी के उपासक थे; और श्रीगणेशदेईजी राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजी की उपासना युक्त थीं। इससे जब तब श्रीअयोध्याजी आती थीं। एक बार श्रीअयोध्याजी आईं, प्रेमवश कुछ दिन रहगईं; श्रीमधुकरसाहजी का, भक्तिसम्बन्ध से, आपमें बड़ा स्नेह था; इससे कई पत्र लिखे, परन्तु धाम के स्नेहविवशता से नहीं गईं॥

तब राजा ने लिख भेजा कि "अब अपने प्रभु को साथ ही लिवाकर आना।" पत्र बाँचके गणेशदेईजी ने प्रभु से प्रार्थना की कि "देखिये राजा क्या लिखते हैं।" निदान कुछ दिन श्रीअवध में और रहीं फिर यह विचार किया कि "प्रभु के तो मेरे सरीखी बहुत किंकरी हैं किस किस के साथ में जायँगे; परन्तु मैं भी ऐसे ओड़छे नहीं जाऊँगी; श्रीसरयूजी में प्रवेश कर प्राण त्याग कर दूँगी।" ऐसा निश्चय कर स्नान के बहाने से श्रीसरयूजी में डूब ही तो गईं। उसी क्षण भक्तवत्सल कृपासिंधु श्री-रघुनंदनजी श्यामसुन्दर किशोरमूर्ति मणिविग्रह से आपके अंक में आ गये। और गणेशदेईजी को तीर पर खड़ी कर दिया। फिर उस क्षण का प्रेमानन्द श्रीगणेशदेईजी का कौन कह सकता है? जहाँ आपकी स्थिति थी वहाँ प्रभु को लाकर विराजमान कर महाउत्सव किया। दान द्रव्य लुटाना, बाजा बजवाना इत्यादिक आनन्द की धूम मची और सब वृत्तांत श्रीमधुकरसाहजी को पत्र द्वारा निवेदन किया॥

राजा सुनकर बहुत द्रव्य और सेना समेत श्रीअवध आकर प्रभु के दर्शन कर कृतार्थ हुआ। प्रभु की प्रेरणा से श्रीगणेशदेईजी ने श्रीजानकी-जीवनजी को इस प्रकार से ओड़छे लिवा ले चलीं कि पुष्य * वा पुनर्वसु नक्षत्र में वहाँ से प्रभु पधारे; जब तक पुष्य नक्षत्र रहा तब तक पधारतीं फिर २६ दिन मार्ग में एक स्थल में स्थित रहतीं, फिर सत्ताई-सवें दिन पुष्य नक्षत्र में चलतीं इसी भाँति केवल पुष्य ही में चलकर ओड़छे गईं, वहाँ अकथनीय आनन्द उत्सव से प्रभु विराजमान हुए। पीछे आपके विग्रह अनुरूप श्रीजानकीजी श्रीलक्ष्मणजी श्रीहनुमान्‌जी आदिकों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठा करके समीप में पधराई गईं। कोई आगे बैठता नहीं था॥

श्रीगणेशदेईजी का यह नियम था कि पूजा अपने हाथ से करती थीं। वहाँ के बहुत लोगों के मन में ऐसी शंका होती थी कि "ये प्रभु रानी को स्वयं सरयूजी में नहीं मिले, किन्तु कोई यत्न से ले

* कोई महात्मा पुष्य नक्षत्र और कोई पुनर्वसु बताते हैं॥

आई हैं।" इस वार्ता को श्रीजानकीवल्लभजी जान गये तब एक दिवस एकांत पूजा में रानी को आज्ञा दिया कि "बहुत काल से खड़ी हो बैठ जाओ।" आप प्रणाम कर बोलीं, "कृपानिधे! आप खड़े हैं, किंकरी कैसे बैठ जाय?" प्रभु बोले "हम बैठ जायँ फिर उठेंगे नहीं।" आप बोलीं "जसी इच्छा होय।" सबों के विश्वास के लिये आपके ऊपर कृपाकर श्रीजानकीवल्लभजी वीरासन से बैठ गये। अब तक बिराजे ही हैं। ❀ ओड़छा नगर किसी हेतु से उजड़ गया परन्तु प्रभु और आपके सेवक वर्गमात्र अब तक रहते हैं। श्रावणशुक्लतृतीया को आप झूलने पर बिराजते हैं तब विशेष उत्सव मेला होता है ॥

(५२३) छप्पय । (३२०)

हरि के संमत जे भगत, ते दासनि के दास ॥ नरबाहन[1], बाहन बरीस[2], जापू[3], जैमल[4], बीदावत[5]। जयंत[6], धारा[7], रूपा[8], अनुभई[9], उदारावत[10] ॥ गंभीरे अर्जुन[11], जनार्दन[12], गोबिंद[13], जीता[14]। दामोदर[15], साँपिले[16], गदा[17], ईश्वर[18] हेमबिदीता[19] ॥ मयानन्द[20] महिमा अनंत गुढीले[21], तुलसीदास[22]। हरि के संमत जे भगत, ते दासनि के दास ॥ १०५ ॥ (१०६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीभगवान् के अनुकूल जो भक्त हैं; मैं उन भक्तों के दासों का दास हूँ ॥

श्रीनरवाहनजी, श्रीवाहनवरीशजी, श्रीजापूजी, श्रीजयमलजी, श्रीबिन्दावतजी, श्रीजयन्तजी, श्रीधाराजी, श्रीरूपाजी, श्रीअनुभवीजी, श्रीउदारावतजी, श्रीगंभीरे अर्जुनजी, श्रीजनार्दनजी,

❀ श्रीअयोध्याजी श्रीकनकभवन में जो श्रीविग्रह हैं आप ठीक उसी मूर्ति के सदृश हैं। भेद केवल इतना ही है कि वे श्याम हैं और ये गौर ॥

(रानी की स्थापित बैठी मूर्ति है)

श्रीगोविन्दजी, श्रीजीताजी, श्रीदामोदरजी, श्रीसांपिलेजी, श्रीगदाभक्तजी, श्रीईश्वरभक्तजी, श्रीहेमबिदीताजी, अपार महिमावाले श्रीमयानन्दजी, श्रीगुढीलेजी, श्रीतुलसीदासजी ॥

इन सब भक्तों के दास का मैं दास हूँ ॥

१ श्रीनरवाहनजी	१२ श्रीजनार्दनजी
२ श्रीवाहनवरीशजी	१३ श्रीगोविन्दजी
३ श्रीजापूजी	१४ श्रीजीताजी
४ श्रीजयमलजी	१५ श्रीदामोदरजी
५ श्रीबिन्दावतजी	१६ श्रीसांपिलेजी
६ श्रीजयन्तजी	१७ श्रीगदाभक्तजी
७ श्रीधाराजी	१८ श्रीईश्वरजी
८ श्रीरूपाजी	१९ श्रीहेमबिदीताजी
९ श्रीअनुभवीजी	२० श्रीमयानंदजी
१० श्रीउदारावतजी	२१ श्रीगुढीलेजी
११ श्रीगंभीरे अर्जुनजी	२२ श्रीतुलसीदासजी (दूसरे)

(१३९) श्रीनरवाहनजी।

(५२४) टीका। कवित्त। (३१९)

रहैं भौगाँव नाँव, नरबाहन साधुसेवी, लूटि लई नाव जाकी, बंदीखानै दियौ है। लौंड़ी आवै दैन कछू खायबे को, आई दया, अति अकुलाई, लै उपाय यह कियौ है ॥ बोलो "राधाबल्लभ" औ लेवौ "हरिबंस" नाम; पूछै "सिष्य" नाम कहौ; पूछी नाम लियौ है। दई मँगवाय बस्तु राखि यों दुराय बात आय दास भयौ कही रीझि पद दियौ है ॥ ४१९ ॥ (२१०)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "नरवाहन" जी श्रीहरिवंशजी के शिष्य, परम संतसेवी, "भौगाँव" में रहते थे। व्रज के एक ज़मींदार थे और लुटेरे भी। कोई सेठ लक्षावधि की संपदा नाव में भरे गंगाजी में चला आता था, आपने संतसेवा के लिये सब लूटलिया, और उस सेठ को कारा-

गार (बन्दीघर) में डाल दिया। उस वणिक (सेठ) को भोजन देने एक लौंड़ी (टहलनी) कारागार में जाती थी; देखकर उस दासी के हृदय में बड़ी दया आई, तब बहुत अकुलाके उसको एक उपाय बताया कि तुम बड़े ऊँचे स्वर से "राधावल्लभ श्रीहरिवंश !" इस प्रकार से नाम जपो; जब पूछा जाय, तब कहना कि "मैं श्रीहरिवंशजी का शिष्य हूँ।" उसने ऐसा ही किया ॥

श्रीनरवाहनजी ने पूछा कि "तुम यह नाम क्यों जपते हो?" उसने कहा "मैं श्रीहरिवंशजी का शिष्य हूँ।" राजा नरवाहन बड़े ही गुरुनिष्ठ थे। सुनते ही धन देकर कहा कि "श्रीगुसाईंजी से यह बात मत कहना।" वह वैश्य घर में आ, शीघ्र ही श्रीवृन्दावन जाकर श्रीहितहरिवंशजी का शिष्य हो गया, और अपना वृत्तान्त भी कहा कि "नरवाहनजी ने लाखों का धन लेकर मुझे बन्दी में डाल दिया था, सो मैंने आपका नाम लिया और झूठ ही कहा कि "आपका शिष्य हूँ," तब धन देकर मुझे घर भेज दिया।" सुनकर प्रसन्न हो श्रीगुसाईंजी ने दोनों को प्रभुपदप्रेम दिया। श्रीनरवाहनजी की जय ॥

आपकी गुरुभक्ति पर रीझकर इन्हीं की छाप देकर दो पद बनाकर अपनी "चौरासी" (ग्रंथ) में रख दिया ॥

(५२५) छप्पय । (३१८)

श्रीमुख पूजा संत की, आपुन तें अधिकी कही ॥ यहै बचन परमान "दास गाँवरी" "जटियाने" भाऊ। "बूँदी" "बनियां राम[२]" "मंड़ौते[३]" "मोहनबारी" "दाऊ[४]" ॥ "माड़ौठी" "जगदीसदास," "लछमन" "चटुथावल" भारी। "सुनपथ" में "भगवान;" सबै "सलखान" "गुपाल" उधारी ॥ "जोबनेर" "गोपाल" के भक्त इष्टता निर्बही। श्रीमुख पूजा संत की, आपुन तें अधिकी कही ॥ १०६ ॥ (१०८)

वार्त्तिक तिलक।

भगवान् ने अपने श्रीमुख से अपनी पूजा से अपने भक्त संतों की पूजा अधिक कही है। इसी श्रीमुख वचन प्रमाण मानकर इस छप्पय के कहे हुए भक्तों ने प्रभु से अधिक प्रभु के भक्तों को इष्टदेव मान पूजा सेवा की "जटियाने," में "श्रीगाँवरीदासजी" को इसी वचन के प्रमाण संतों में भाव था। "बूँदी" में श्री "बनियाराम" जी को भी यही भाव था। "मँड़ौते" में "मोहनबारीजी" "दाऊ" जी के भी संत इष्टता का ही भाव था। "माड़ौठी" में "जगदीशदासजी;" "चटथावल" में भी "लक्ष्मणभक्तजी" भारी संतसेवी थे; "सुनपथ" में "भगवान्भक्तजी;" सम्पूर्ण "सलखान" नगर को "गोपालभक्तजी" ने उद्धार किया; "जोबनेर" में "गोपालजी" की भक्तों में इष्टता का निर्वाह हुआ॥

श्लोक "आदिस्तु परिचर्यायां सर्वाङ्गैरपि वन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥ १॥
नैवेद्यं पुरतो मह्यं चक्षुषा गृह्यते मया॥
रसं वैष्णवजिह्वाग्रे गृह्णामि कमलोद्भव॥ २॥

१ श्रीगामरी (गाँवरी) दासजी
२ श्रीबनियारामजी
३ श्रीमोहनबारीजी
४ श्रीदाऊरामजी
५ श्रीजगदीशदासजी
६ श्रीलक्ष्मणभक्तजी
७ श्रीभगवान्भक्तजी
८ श्रीगोपालभक्तजी (सल०)
९ श्रीगोपालजी जोबनेर के।

(१४०) श्रीगोपालभक्तजी।

(५२६) टीका। कवित्त। (३१७)

"जोबनेर" बास सो "गोपाल" भक्त-इष्ट ताकों कियौ निर्वाह, बात मोको लागी प्यारियै। भयौ हो विरक्त कोऊ कुल में, प्रसंग सुन्यौ, आयौ यौं परीक्षा लैन, द्वार पै बिचारियै॥ आय पस्यौ पाँय, "पाँय धारौ निज मंदिर मैं;" "सुंदरि न देखौं मुख, पन कैसे टारियै?"। "चलौ, जिन टारौ तिय रहैंगी किनारौ, करि,

चले, सब छिपी, नैकु देखी, याकै मारियै ॥ ४२० ॥ (२०६)

वार्त्तिक तिलक ।

जयपुरप्रदेश के "जोबनेर" ❀ नामक एक पुर के वासी श्री-"गोपाल" जी ने भक्त-इष्टता का निर्वाह भलीभाँति से किया, सो वार्ता सुनकर मुझे अति प्यारी लगी। आपके कुल का कोई जन विरक्त वैष्णव हो गया था, वे आपके 'हरिभक्त को इष्ट मान सेवा करने' का प्रसंग कहीं सुन, परीक्षा लेने के लिये द्वार पर आये। श्रीगोपालजी ने देख के चरणों में प्रणाम कर कहा कि "आप अपने घर में पधारिये।" वे बोले कि "मेरा प्रण है कि स्त्री का मुख न देखूँ, सो उस प्रतिज्ञा को छोड़ तुम्हारे घर के भीतर कैसे जाऊँ ?" आपने कहा "चलिये, अपना प्रण मत छोड़िये, स्त्रियाँ एक ओर रहैंगी, आपके सामने नहीं आवैंगी।" तब वे गृह में गये, आपने स्त्रियों को छिपा दिया, परंतु एक स्त्री थोड़ा झाँकने लगी, इन्होंने देखकर श्रीगोपालजी के गाल पर एक तमाचा जड़ ही तो दिया ॥

(५२७) टीका । कवित्त । (३१६)

एक पै तमाचो दियौ, दूसरे ने रोस कियौ, "देवौ या कपोल पै" यों बानी कही प्यारी है। सुनि, आँसू भरि आये, जाय लपटाये पाँय, कैसे कही जाय यह रीति कछु न्यारी है ॥ "भक्त-इष्ट" सुन्यौ, मेरे बड़ौ अचरज भयौ, लई मैं परीक्षा, भई सिच्छा मोको भारी है। बोल्यौ अकुलाय, "अजू पैयै कहा भाय, ऐपै साधु सुख पाय कहैं, यही मेरी ज्यारी है" ॥ ४२१ ॥ (२०८)

वार्त्तिक तिलक ।

थप्पड़ के लगते ही एक दूसरे ने तो क्रोध किया, पर श्रीगोपालजी

❀ एक गोपालजी काशी के निकट बाबुली ग्राम के; और एक गोपालभट्ट श्रीवृन्दावन के श्रीहरिवंशजी के ठाकुर के सेवक; एक गोपालजी श्रीपयहारीकृष्णदासजी के शिष्यों में, एक गोपालजी कवि ब्रज के; एक गोपालजी हरिव्यासदेव की दूसरी शाखा में भगवान्दासजी के शिष्य; एक गोपालजी कवि बाँसवाड़े के; एक कवि इंटोरा के; एक जटाधारी; एक नरोड़ा के; एक गोपालजी "वल्लभाख्यान" के कर्ता; एक कायस्थ सिहनद के; एक बड़नगर के; और एक गुजरात के ॥ इतने श्री "गोपाल" जी प्रसिद्ध हैं ॥

हाथ जोड़ सन्त से बोले "हे इष्टदेव! आपने एक कपोल को तो कृपाकर तमाचा दिया परन्तु यह दूसरा कपोल आपके करकमल के स्पर्श से विहीन अपना अपमान मानेगा, कृपाकर थपेड़ा इस कपोल को भी दीजिये।" क्षमाशील भक्तजी ने ऐसी प्यारी वाणी कही, सुनते ही उन परीक्षा-कारी सन्त के नेत्रों में आंसू भर आये, और उठकर चरणों में लपट के बोले कि "यह आपकी लोकोत्तर रीति को कैसे प्रशंसा करूँ, मैंने सुना कि 'आप हरिभक्तों को इष्टदेव मानते हैं सो मुझे बड़ाही आश्चर्य हुआ इसलिये मैंने परीक्षा ली। उसमें मुझे यह बड़ी भारी शिक्षा हुई कि भगवद्भक्तों को इस प्रकार मानना चाहिये और उनको ऐसा सहना चाहिये, और निष्ठायुक्त पुरुषों की परीक्षा न लेनी चाहिये॥"

सुनते ही श्रीगोपालजी अकुला के बोले "अजी महाराज! मैं भाव को कहाँ पा सकता हूँ, परन्तु सन्तजन कृपा कर मुझे अपना "दास" कहते हैं, यही मेरा जीवन (ज्यारी) है॥"

---

(१४१) श्रीलाखाजी।

(५२८) छप्पय। (३१५)

परमहंस बंसनि मैं, भयो बिभागी बानरो॥ "मुरधरखण्ड" निवास भूप सब आज्ञाकारी। रामनाम बिश्वास भक्तपदरज ब्रतधारी॥ जगन्नाथ के द्वार दँडौ तानि प्रभु पै धायो। दई दास की दादि, * हुंडी करि फेरि पठायो॥ सुरधुनी ओघ संसर्ग तें नाम बदल कुच्छित नरो। परमहंस बंसनि मैं, भयो बिभागी बानरो † ॥ १०७॥ (१०७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीलाखाजी "वानर-वंश" में उत्पन्न होकर भी, परमहंस वंशों के सुख, सुयश, भजन, तथा सुकृत के भागी (हिस्सेदार) हुए॥

---

* "दादि"=दाद داد =न्याय, दया। † "बानरौ" =वानरवंशी॥

"मुरधरखण्ड" (मारवाड़) में आपका निवास था; आपके भजन और सन्त-सेवा के प्रताप से सब राजा आज्ञाकारी थे; महामन्त्र श्रीराम नाम में आपको दृढ़ विश्वास था और भगवद्भक्तों के पदपंकज-रज के व्रतधारी थे। श्रीजगन्नाथ प्रभु के द्वार पर दर्शन के हेतु साष्टांग दण्डवत् करते हुए अपने गृह से पधारे। श्रीजगन्नाथजी ने अपने दास पर दया कर, जो अवश्य करने योग्य कार्य था उस को करने के लिये हुण्डी करा के फिर घर को भेजा। जैसे 'सुरधुनी ओघ' जो श्रीगंगाजी की धारा उसमें मिलने से कुत्सित मलीन नालाओं का भी नाम रूप पलट कर श्री "गङ्गा" ही का नाम रूप हो जाता है, इसी प्रकार, वानरवंश डोम जाति से भगवत् भागवत में मिलकर आप भी तद्रूप हो गये॥

दो० "तुलसी नारो जगत को, मिलै संग में गंग।
महा नीचपन आदिको, शुद्ध करै सतसंग॥ १॥

श्लो० "यस्माद्यस्मादपिस्थानाद्गंगायामम्भ आपतत्।
सर्वं भवति गाङ्गेयं को न सेवेत बुद्धिमान्॥ १॥"

☞ कवित्त १२ का तिलक पृष्ठ ४३ में देखिये। भूलसे १०७ वें छप्पय को १११ वां छपगया है और "४२२ वें कवित्त में" के स्थान पर "४२६ में"; छप गया है॥

(५२६) टीका। कवित्त। (३१४)

"लाखा" नाम भक्त, वाकौ "बानरौ"; बखान कियौ, कहै जग डोम ❀ जासौं मेरौ सिरमौर है। करै साधुसेवा बहु पाक डारि मेवा, संत जेंवत अनंत सुख पावै कौर कौर है॥ ऐसे में अकाल

❀ "कहै जगडोम"। पश्चिम वृन्दावन मारवाड़ आदि देशों की बोली बानी को न जानने वाले "डोम" जाति से इस प्रान्त का डोम सूप बेचनेवाला बँसफोड़ वा भंगी (हलाल खोर) जानते हैं, सो उनकी बड़ी भूल है; क्योंकि उस देश में "डोम" "भाट," "चारण", इनकी जाति और वृत्ति एक समान "कथक" की सी होती है सोई डोम लाखाजी थे (इधर के डोम नहीं); डोम ही को "बानरवंशी" भी कहते हैं। इसीसे मुंशी तुलसीराम[1], श्रीतपस्वीराम[2]जी, भक्त कल्पद्रुमकार[3], और ज्वालाप्रसादजी ने लाखाजी को श्रीहनुमानवंशी लिखा है। बहुत महात्मा श्रीनाभा स्वामी को भी इसी जाति में जन्म कहते हैं। विदित हो कि उधर का 'डोमवंश' इधर का 'डोम' नहीं॥

पखौ, आवैं धरि माल जाल, कैसे प्रतिपाल करै, ताकी और ठौर है। प्रभुजू स्वपन दियौ "कियौ मैं जतन एक गाड़ी भरि गेहूँ भैंसि आवै करौ गौर * है" ॥ ४२२ ॥ (२०७)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीनाभास्वामीजी ने जिसको "वानर" कहके वर्णन किया, उन भक्तजी का "लाखा" नाम था, जगके लोग आपको "डोम" "हनुमान्-वंशी" कहते थे। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि भक्तिभूषित होने से मेरे तो सिरमौर हैं। आप बड़ी प्रीति से साधु-सेवा करते थे। अनेक मेवे डालके पकवान मिठाई बनवाकर भोजन कराते थे; जिन पदार्थों को पाने में ग्रास ग्रास में संतों को अनंत सुख होता था ॥

ऐसी सेवा करते समय में बड़ा अकाल पड़ गया, तब तो बहुत से लोग तिलक माला वैष्णव वेष धर आपके यहाँ आने लगे। अब सबों का कैसे प्रतिपाल करसकें, विचार किया कि "इस घर को छोड़ कहीं चले जावें।" उसी रात्रि में श्रीभक्तवत्सल रामजी ने स्वप्न दिया कि "तुम कहीं जाओ मत; हमने एक यत्न किया है, एक गाड़ी भर गेहूँ और एक दूध देती भैंसि तुम्हारे यहाँ आवेगी, उसी से संतों की तथा और जीवों की सेवा सहायता करो ॥"

(५३०) टीका । कवित्त । (३१३)

"गेहूँ कोठी डारि मुँह मूँदि नीचे देवो खोलि, निकसै अतोल पीसि रोटी लैं बनाइयै। दूध जितौ होय सो जमायकै बिलोय लीजै, दीजै यों चुपरि संग छाँछि दै जिवाइयै" ॥ खुलिगईं आँखैं, भाखैं तिया सों जु आज्ञा दई, भई मन भाई, अजू हरिगुन गाइयै। भोर भयें गाड़ी भैंसि आई, वही रीति करी, करी साधुसेवा नाना भाँतिन रिझाइयै ॥ ४२३ ॥ (२०६)

वार्त्तिक तिलक ।

"उस गेहूँ को कोठी में भर उसका मुँह मूँद देना नीचे से छेद कर निकालना, उसमें अप्रमाण गेहूँ निकलेगा, उसको पीस पीस कर

* "गौर"= ग़ौर ,,=विचार ॥

रोटी बनवाना, दूध को जमाके मथके घी निकाल, रोटी में चुपड़ देना, और छाछ के साथ रोटी खिलाया करना॥"

इतना सुनते ही जाग उठे, नेत्र खुल गये, अपनी धर्मपत्नी से सर्कार की कृपा आज्ञा सुनाकर कहने लगे कि "प्रभु ने मेरे मन का भाया किया, अब उनके गुण गाय गाय सन्तों की सेवा करूँगा॥"

प्रभात होते ही गाड़ी भर गेहूँ और भैंसि आई; जैसी प्रभु की आज्ञा थी उसी रीति से साधुओं की सेवा कर बहुत प्रकार से रिझाने लगे॥

(५३१) टीका। कवित्त। (३१२)

आई कौन रीति, वाकी प्रीतिहू बखान कीजै, लीजै उर धारि सार भक्ति निरधार है। रहै ढिग गाँव, तहाँ सभा एक ठाँव भई, टूटि गयो भाई सो उगाही कौ बिचार है॥ बोलि उठ्यौ कोऊ "यौं ब्यौहार को तौ भार चुक्यौ, लीजियै सँभारि "लाखा" सन्त भव पार है"। लाज दबि तिन दिए गेहूँ लै पचास मन, दई निज भैंसि संग सब सरदार है॥ ४२४॥ (२०५)

वार्त्तिक तिलक।

वह भैंसि और गेहूँ गाड़ी किस रीति से आई और आपकी सन्तसेवा की प्रीति देख किस प्रकार प्रीतिपूर्वक भेजा सो सुनिये। इस जगत् में भक्ति ही सार है सो निश्चय कर यह बात हृदय में रख लीजै॥

जिस गाँव में लाखाजी थे उसी के समीप के एक गाँव में सब लोगों ने इकट्ठे हो सभा की कि उन लोगों का एक भाई निर्धन होगया उसको सम्पन्न करने के लिये सबसे धन उगाहैं यह विचार ठीक किया गया॥

प्रभु प्रेरित उनमें से एक बोला कि "व्यवहार का भार तो चुक गया, परन्तु परमार्थ में श्रीलाखाजी सन्तको भी सँभार करना चाहिये जिससे भवसागर के पार उतर जाना है।" उसके वचन सुन लाज से दबके सबों ने पचास मन ५०) गेहूँ दिया और सबों में जो श्रेष्ठ था उसने अपनी भैंसि दी। इस रीति से गेहूँ की गाड़ी और भैंसि आई॥

(५३२) टीका। कवित्त। (३११)

मारवार देस तें चल्यौ ई साष्टांग किये, हिए "जगन्नाथ देव याही पन जाइयै"। नेह भरि, भारी, देह वारि फेरि डारी, कैसें करै तनधारी, नेकु श्रम मुरझाइयै॥ पहुँच्यौ निकट जाय, पालकी पठाइ दई, कहैं "लाखा भक्त कौन? बेगि दै बताइयै"। काहू कहि दियौ; जाय कर गहि लियौ, "अजू! चलौ प्रभु पास, इहि छिनही बुलाइयै"॥४२५॥ (२०४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीलाखाभक्तजी मारवाड़ देश में जहाँ रहते थे वहाँ ही से साष्टांग प्रणाम करते श्रीजगन्नाथजी के दर्शन को चले। हृदय में यह निश्चय प्रतिज्ञा की कि "साष्टांग प्रणाम करते ही श्रीजगन्नाथ देव जी के समीप तक जाऊँगा।" सो इसी प्रकार से गये! बड़े भारी प्रेम से भरे हुए प्रभुके ऊपर देहको न्यवछावर कर दिया, भला देखिये किसी तनधारी से ऐसा परिश्रम कैसे हो सकता है, थोड़े ही परिश्रम करने में लोग मुरझा जाते हैं। आप दंडवत् करते ही जा पहुँचे॥

श्रीजगन्नाथजी ने अपने पंडों पार्षदों के साथ अपनी पालकी भेज दी। वे सब मार्ग में पूछते चले आते हैं कि "लाखाभक्त कौन है?" किसी आपके संगी ने बता दिया। पंडे लोग जाकर हाथ पकड़ बोले "अजी भक्तजी! इस पालकी पर चढ़के चलिये। प्रभुने इसी क्षण बुलाया है॥"

(५३३) टीका। कवित्त। (३१०)

"कैसे चढ़ौं पालकी में? पन प्रतिपाल कीजै, दीजै मोकों दान, यही भाँति जा निहारियै"। बोले "प्रभु कही भाय सुमिरनी बनाय ल्याये, अब पहिराय मोहिं सुनि उर धारियै॥ चढ़े, "चढ़ि बढ़ि कियौ चाहैं, यह जानी मैं तौ, पढ़ि पढ़ि पोथी प्रेम मोपै बिसतारियै"। जाय कै निहारे, तन मन प्रान वारे, जगन्नाथ जू के प्यारे नेकु ढिग तें न टारियै॥ ४२६॥ (२०३)

वार्त्तिक तिलक।

आप हाथ जोड़ कर बोले "मैं पालकी पर किस प्रकार चढ़ूँ?

प्रथम ही संकल्प कर चुका हूँ कि "साष्टांग ही से जाकर प्रभु के दर्शन करूँगा," उस प्रतिज्ञा को मैं पालन किया चाहता हूँ, आप लोग भी मुझे यही वरदान दीजिये कि इसी प्रकार जाकर दर्शन करूँ।" पंडों ने उत्तर दिया कि प्रभु की आज्ञा है, चढ़िये, और यह भी आज्ञा हुई है कि "जो सुमिरनी बनाकर लाये हैं, सो हमको बहुत प्रिय है, शीघ्र आकर पहिरावैं॥"

ऐसा वचन सुन श्रीलाखाजी ने निश्चय प्रभु की आज्ञा जानी, क्योंकि सुमिरनी की बात पते की थी। प्रभु का अनुशासन मान चढ़के चले; और भक्तजी यह कहने लगे कि "मैंने जान लिया कि मुझसे लघु जीव को सर्कार अपने आश्रितों में चढ़बढ़ के किया चाहते हैं; आप प्रेम की पोथी पढ़पढ़ मेरे ऊपर कृपा विस्तार किया चाहते हैं॥"

भक्तजी ने जा प्रणाम कर नेत्रों से दर्शन पाय, प्रभु के ऊपर तन मन प्राण सब न्यवछावर कर दिये आप श्रीजगन्नाथजी को अत्यंत प्यारे थे इससे प्रभु अपने निकट से पृथक् नहीं होने देते थे॥

(५३४) टीका। कवित्त। (३०६)

बेटी एक क्वाँरी ब्याहि देत न बिचारी मन धन हरि साधुनि कौ, कैसे कै लगाइयै। "कीजै वाकौ काज" कही जगन्नाथ देवजू ने "लीजै मोपै द्रव्य" उर नेकहूँ न आइयै॥ बिदा पै न भए चले दृग भरि लये, गये आगे नृप भक्त मग चौकी अटकाइयै। दियौ है सुपन प्रभु जिनि हठ करौ अजू हुंडी लिख दई लई बिनै कै जताइयै॥ ४२७॥ (२०२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीलाखाभक्तजी की एक बेटी घर में कुँवारी (कुमारी) थी, इस विचार से उसका विवाह नहीं करते थे कि "मेरे पास जो धन है, सो श्रीहरि और संतों का है, इसमें से उसमें कैसे लगाऊँ?॥"

श्रीजगन्नाथजी ने स्वयं आज्ञा दी कि "हमसे द्रव्य लेकर उसका विवाह अवश्य करदो।" परन्तु आपके मन में यह बात नहीं आई; कुछ दिन रहकर फिर गृह को चले, किन्तु द्रव्य लेने के भय से प्रभु के समीप बिदा होने नहीं गये। प्रभु के वियोग से नेत्रों में जल

भर, चले आये। श्रीजगन्नाथजी ने एक भक्त राजा को स्वप्न दिया उसने मार्ग में चौकी बैठा दी; जब आये तब लोग राजा के पास लेगये। राजा ने सत्कार कर विनय प्रार्थना की कि मुझे स्वप्न में प्रभु ने आज्ञा दी है सो आप हठ मत कीजिये कन्या के विवाह के लिये द्रव्य लीजिये तब आपने लिया, राजा ने हुंडी लिखा दी॥

(५३५) टीका। कवित्त। (३०८)

हुंडी सो हजार की, यों लैकै गृहद्वार आये, तामैं तें लगायौ सौक बेटी ब्याह कियौ है। और सब संतनि बुलाय कै खवाय दिये, लिये पग दास सुखरासि पन लियौ है॥ ऐसें ही बहुत दाम वाही के निमित्त लैलै, संत भुगताये अति हरषित हियौ है। चरित अपार कछु मति अनुसार कह्यौं, लह्यौ जिन स्वाद सो तौ पाय निधि जियौ है॥ ४२७॥ (२०१)

वार्त्तिक तिलक।

दशसौ (एक सहस्र) रुपये की हुंडी लेकर गृह में आ, इन्होंने केवल एकसौ रुपये लगाके तो अपनी कन्या का विवाह कर दिया, और शेष सब द्रव्य सन्तों को बुलाकर दिव्य पदार्थ भोजन करा दिये, सब संतों के चरण ग्रहण कर सुखी हुए॥

इसी प्रकार प्रथम भी कन्या के विवाह के निमित्त भक्त लोगों ने बहुत द्रव्य दिये थे; परंतु वह सब भी साधुओं को खिलाकर आप आनंदित हुए थे।

श्रीलाखाभक्तजी के ऐसे ऐसे अपार चरित्र हैं; मैंने अपनी मति के अनुसार कुछ वर्णन किये; जिन्होंने साधुचरित्र के रस का स्वाद पाया, वे भक्त यह श्रीलाखाजी की कथा सुन मानों निधि पाके जिये हैं॥

---

(१४२) श्रीनरसी मेहताजी।

(५३६) छप्पय। (३०७)

जगत बिदित "नरसी" भगत, (जिन) "गुज्जर" धर पावन करी॥ महास्मारत लोग भक्ति लौलेस न

जानैं। माला मुद्रा * देखि तासु की निन्दा ठानैं ॥ ऐसे कुल उत्पन्न भयौ, भागौत सिरोमनि । ऊसर तें सर कियौ, खंडदोषहिं खोयो जिनि । बहुत ठौर परचौ दियौ, रसरीति भक्ति हिरदै धरी । जगत बिदित "नरसी" भगत, (जिन) "गुज्जर" धर पावन करी ॥१०८॥ (१०६)

कलि अब्द	संवत्	ईसवी सन्	शाके
४६४४	१६००	१५४३	१४६५
४६६७	१६५३	१५६६	१५१८

दो० "हृदय राखि मेहता-चरित, भजु श्रीसीताराम ।
'तपसी' मिलिहै भक्तिमणि, पूजहिं सब मनकाम ॥"

वार्त्तिक तिलक ।

जगत् में विख्यात श्रीनरसी भक्तजी हुए; जिन्होंने गुजरात देश की भूमि को और उस प्रदेश के वासियों को पावन किया; वहाँ के लोग बड़े ही स्मार्त, कर्मकाण्ड में आशक्त, और अज्ञानी थे । श्रीहरिभक्ति को लवलेशमात्र भी नहीं जानते; जो किसी को तुलसी की कंठी माला, वैष्णवीय तिलक (ऊर्द्ध्व पुण्ड्र), शंख चक्रादि मुद्रा धारण किये देखें, उसकी बड़ी ही निन्दा करते थे । ऐसे कुल में उत्पन्न होकर, आप भागवतशिरोमणि हुए । वह देश ऊसर भूमि के समान भक्तिजलहीन अशुद्धतायुक्त था, उस गुर्जरखंड (गुजरात) को भगवद्धर्म जल युक्त प्रेमपंकज विकसित सरोवर समान करके दोषों को जिन्होंने नाश किया और बहुत ठिकाने पर परीक्षा परचौ दिये (सो टीका में वर्णन होंगे); ऐसे रस रीति भक्ति हृदय में धारण करनेवाले श्रीनरसीजी हुए ॥ (उनको पुनः पुनः दण्डवत्) ॥ शृङ्गारमाधुर्यनिष्ठा में आप गोपिकाओं के तुल्य हुए ॥

(५३७) टीका । कवित्त । (३०६)

"जूनागढ़" बास, पिता माता तन नास भयौ, रहै एक भाई

* "मुद्रा"=छाप भगवत् आयुध के ॥

औ भौजाई रिस भरी है। डोलत फिरत आय, बोलत "पियावौ नीर," भाभी पै न जानी पीर, बोली जरीबरी है॥ "आवत कमाए, जल प्याये बिन सरै कैसे ? पियौ," यों जवाब*दियौ देह थरथरी है। निकसे बिचारि "कहूँ दीजै तन डारि," मानौ शिव पै पुकार करी; रहे चित धरी है॥ ४२६॥ (२००)

वार्त्तिक तिलक।

भक्तशिरोमणि श्रीनरसी मेहताजी का गुजरात प्रदेश के "जूनागढ़" में निवास था। आप नागर ब्राह्मण थे; माता पिता दोनों के तन छूट गये; घर में एक शाक्त भाई और क्रोध करनेवाली एक भावज (भौजाई) थी। एक दिन आप डोलते फिरते किसी ओर से आये और बोले कि "भाभी! पानी पिला दीजिये।" सुनके उसने प्यास की पीर तो नहीं जानी, पर जरबर के बोली कि "बड़ी कमाई करके तो आते हो! विना जल पिलाये कैसे काम चलेगा ? पी न लो, पाते क्यों नहीं हो।" उसका ऐसा उत्तर सुन, अपमान से आपका शरीर काँपने लगा॥

घर से निकल विचार किया कि "कहीं शरीर को तज दूँ।" नगर से बाहर एक शिवालय था। उसमें जाके मानों आपने अपना दुःख शिवजी से पुकारके सुनाया। वह अपमान और शिवमहिमा चित्त में धरे हुए आप वहीं पड़े रहे॥

दो० "नरसी हो अति सरस हिय, कहा देउँ समतूल।
कहेउ सरस शृङ्गाररस, जानि सुखनि कौ मूल॥
दीनी ताकों रीझि कै, माला नन्दकुमार।
राखि लियो अपनी शरण, बिमुखनि मुखदै छार॥
जहँ जहँ भक्तन को कछू, संकट परत है आनि।
तहँ तहँ आपन बीचि ह्वै, धरत अभय को पानि॥"
(श्रीध्रुवदासजी)

(५३८) टीका। कवित्त। (३०५)

बीते दिन सात, शिवधामतें न जात बार, "परै काहू तुच्छ द्वार, सोई सुधि लेत हैं"। इतनी बिचारि, भूख प्यास दई टारि, लियौ

*"जवाब"=جواب=उत्तर॥

प्रगट सरूप धारि, भयौ हिये हेतु है ॥ बोले "वर माँग," अजू माँगिबौ न जानत हौं; तुम्हैं जोई प्यारौ सोई देवौ, चित चेत है"। पस्यो सोच भारी, "मेरी प्रान प्यारी नारी, तासों कहत डरत, बेद कहै 'नेति नेति' है" ॥ ४३० ॥ (१६६)

वार्त्तिक तिलक।

आप उस सूने शिवमन्दिर में विना अन्न जल सात दिवस पड़े रहे, मन्दिर के बाहर नहीं गये; श्रीशिवजी ने विचार किया कि "कोई यदि किसी असमर्थ तुच्छ के द्वार पर भी पड़ा रहता है तो वह सुधि लेता है, और मैं तो महेश्वर हूँ।" इससे श्रीनरसीजी की भूख प्यास पहिले नाश कर फिर कृपापूर्वक स्वरूप धारण कर प्रगट हो, बोले कि "वर माँग॥"

नरसीजी ने कहा "अजी महाराज! मैं माँगना नहीं जानता, जो आपको प्यारा हो सो दे दीजिये; वही मुझको अच्छा लगता है।" श्रीशिवजी सोच विचार करने लगे कि जो मेरा प्रियतत्त्व है सो मैं अपनी प्राणप्रिया पार्वती से भी कहते डरता हूँ, उसको वेद भी "नेति नेति" कहते हैं॥

(५३६) टीका। कवित्त। (३०४)

"दियौ मैं बृकासुर को बर, डर भयौ तहाँ, वैसे डर कोटि कोटि यापै वारि डारे हैं। बालक न होय यह पालक है लोकनि कौ, मन कौ बिचार कहा दीजै प्रानप्यारे हैं॥ जो पै नहीं देत मेरौ बोलिबो अचेत होत;" दियौ निज हेत तन आलिन के धारे हैं। ल्याये बृन्दाबन रास मण्डल, जटित मनि, प्रिया अनगन बीच, लालजू निहारे हैं॥ ४३१ ॥ (१६८)

वार्त्तिक तिलक।

"एक बार मैंने वृकासुर को वर दिया, उसमें मुझे पीछे भारी डर का सामना हो गया, पर वैसे डर इस पर कोटिन न्यवछावर हैं; क्योंकि यह बालक नहीं है, बरन् लोकों का पालक और निस्तारक है।" मन में और विचार किया कि "प्रभु (हरि) मुझको प्रिय हैं उन्हीं को दूँ; जो नहीं देता तो मेरा वचन वृथा होता है॥"

इससे श्रीशंकर ने अपनी इच्छा से श्रीनरसीजी को सखी तन दिया और आप भी वैसा ही स्वरूप बनाकर अति कृपा से श्रीनित्य वृन्दावन रासमंडल का इनको दर्शन कराया, जहाँ मणिन जटित भूमि में अगणित अनेक प्रियाओं के मध्य लालजी के दर्शन हुए ॥

(५४०) टीका । कवित्त । (३०३)

हीरनि खचित रासमंडल, नचत दोऊ रचित अपार नृत्य गान तान न्यारियै ॥ रूप उजियारी, चंद चाँदनी न सम, तारी देत करतारी, लाल-गति लेत प्यारियै ॥ ग्रीवा की ढुरनि, कर आँगुरी मुरनि, मुखमधुर सुरनि, सुनि श्रवन तपारियै । बजत मृदंग मुँह चंग संग, अंग अंग उठति तरंग रंग छबि जीकी ज्यारियै ॥ ४३२ ॥ (१६७)

वार्त्तिक तिलक ।

सोने से रचित हीराओं से जटित रासमंडल में दोनों प्रियाप्रियतम नाच रहे हैं; लोक से न्यारा नाच और गान हो रहा है; श्रीश्यामाश्याम के रूप की अनूप उजियाली फैली है, चन्द्र और चाँदनी की समता कहाँ ? लालजी तारी दे दे कर प्यारी २ गति लेते हैं। ग्रीवा की ढुरनि, तथा हाथों की उँगलियों की मुरनि देख, मुख का मधुर स्वर सुन, आँखों कानों की ताप नाश हो जाती है; मृदंग बज रहा है, उसी के संग २ मुँहचंग भी बजता है और अंग अंग में जीव की भी जीवनी सी छवि के तरंग उठ रहे हैं ॥

(५४१) टीका । कवित्त । (३०२)

दई लै मसाल ❀ हाथ, निरखि निहाल भई; लाल डीठि परी कोऊ नई यह आई है । शिव सहचरी रँगभरी अटकरी, बात मृदुमुसकात नैन कोर मैं जताई है ॥ चाहै याहि टारौ यह चाहै प्रान वारौ, तब श्याम ढिग आय कही नीके समुझाई है । "जावौ यहै ध्यान करौ; करौ सुधि, आऊँ जहाँ;" आए निज ठौर, चटपटी सी लगाई है ॥ ४३३ ॥ (१६६)

वार्त्तिक तिलक ।

करुणायतन श्रीशिवजी ने नरसी सखी के हाथ में दीपक दिया;

❀ "मसाल"=مشعل=मशूअल, बड़ा दीपक ॥

नरसी सखीजी श्रीलालजी को देखकर निहाल होगईं; लालजी की भी दृष्टि इनके ऊपर पड़ी, जाना कि यह कोई नवीन सखी आई है। फिर अनुमान से जाना कि यह रंगभरी शिवजी की सहचरी है। शिवजी ने भी मन्दमुसकाके नैनों की कोर से जनाया कि "इसको अंगीकार कीजिये" अंगीकार कराके शिवजी इसको वहाँ से टारके लिवा लाना चाहते थे, पर यह प्राण न्यवछावर किया चाहती थीं॥

तब समीप आकर श्यामसुन्दरजी ने भली भाँति समझाया कि "जाओ, यही हमारा ध्यान किया करो, और जहाँ स्मरण करके बुलावोगे मैं उसी समय वहीं दर्शन दूँगा।" आज्ञा मान अपने ग्राम में तो आये, परन्तु उस दर्शन के वियोग की चटपटी सी मन में लग गई॥

(५४२) टीका। कवित्त। (३०१)

कीनी ठौर न्यारी, बिप्रसुता भई नारी, एक सुत उभै बारी, जग भक्ति बिसतारी है। आवैं बहु संत, सुख देत हैं अनंत, गुन गावत रिझावत औ सेवा बिधि धारी है॥ जिती द्विजजात दुख भयौ अति गात, मान्यौ बड़ौ उतपात, दोष करैं न बिचारी है। एतौ रूपसागर मैं नागर मगन महा, सकै कहा करि चहूँ ओर गिरिधारी है॥ ४३४॥ (१६५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरसीजी अपने भाई से न्यारा एक स्थान बनाकर रहने लगे। हरिइच्छा से एक ब्राह्मण की कन्या से विवाह हुआ, उस पत्नी से दो कन्या और एक पुत्र उत्पन्न हुए॥

जगत् में आपने हरिभक्ति का बड़ा ही विस्तार किया। आपके गृह में बहुत से संत आते थे। उनको अनेक प्रकार से परस्पर सुख दिया लिया करते थे। सदा प्रभु के गुणगान करते रिझाते, और भगवत्-भागवत-सेवा विधि-विधान से किया करते थे॥

आपका यह आचरण देख, जितने अभक्त ब्राह्मण थे, वे बड़ा उत्पात मान दुःखी होकर आपसे बड़ा द्वेष करने लगे, क्योंकि वे सब अविचारी तो थे ही। और श्रीनरसीजी तो प्रेमपथ में प्रवीण श्रीश्यामसुन्दरजी के रूपसागर में मग्न रहते थे; दुष्ट लोग क्या कर सकते

हैं? आपके तो चारों ओर श्रीगिरिधारी रक्षक हैं, आप सर्वत्र श्रीगिरिधारी ही को देखते थे॥

(५४३) टीका। कवित्त। (३००)

तीरथ करत साधु आये पुर, पूछैं "कोऊ हुंडी लिखि देय हमैं? द्वारिका सिधारिबे"। जे वे रहे दूषि, कही जात ही भगावैं भूषि, नरसी बिदित साह आगे दाम डारिबें॥ चरण पकरि गिरि जावौ जौ लिखावौ अहो कहौ बार बार सुनि बिनती न टारिबे। दियौ लै बताय घर; जाय वही रीति करी; भरी अँकवार "मेरे भाग, कहा वारिबे?"॥ ४३५॥ (१६४)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय तीर्थ करते कई संतजन जूनागढ़ में आकर पूछने लगे कि "हमको द्वारिका जाना है, कोई वहाँ को हुंडी कर देनेवाला है?" यह बात, जो खल आपकी निन्दा और विरोध करनेवाले थे, उन्होंने सुनकर कहा कि "यहाँ बड़े विख्यात सेठ नरसी हैं, उनके पास जाते ही आपकी यह भूख जाती रहेगी; परन्तु इस यत्न से हुंडी करेंगे कि आगे रुपये रख देना और चरण पकड़के दंडवत् कर वारंवार प्रार्थना करना, तब हुंडी लिख देंगे;" और उन खलों ने आपका स्थान भी (जाकर) बता दिया॥

संतों ने वैसा ही किया। श्रीनरसीजी उठकर मिले, और बोले कि "मेरे बड़े भाग्य हैं कि आप आये, मैं क्या न्यवछावर करूँ॥"

(५४४) टीका। कवित्त। (२९९)

सात सै रुपया गिनि ढेरी करिदई आगे, लागे पग, "देवौ लिखि," कही बार बार है। जानो बहकाए, प्रभु दाम दै पठाये, लिखी किये मन भाये, "साह साँवल उदार है॥ वाही हाथ दीजियै, लै कीजियै निशंक काज;" गये जदुराजधानी पूछ्यो सो बजार है। ढूँढ़ि फिरि हारे भूख प्यास मींड़डारे, पुरतजिभयेन्यारे, दुखसागर अपार है॥ ४३६॥ (१६३)

वार्त्तिक तिलक।

संतों ने ७००) (सात सौ) रुपए आपके आगे रख प्रणाम कर

वारंवार कहा "हमको हुंडी लिखि दीजिये;" आपने जान लिया कि लोगों ने इनको भरमाके भेजा है। फिर निश्चय किया कि "प्रभु ही ने मेरे लिये यह द्रव्य भेजा है। सो उन्हीं को हुंडी लिख दूँ।" प्रभु ही के नाम से लिख दिया और बता दिया कि "हमारे अढ़तिया बड़े उदार 'साँवलसाहु' हैं उन्हीं के हाथ हुंडी देकर रुपए लेकर अपना कार्य करना॥"

संत हुंडी लेकर द्वारिका आ नगर में 'साँवलियासाहु' की कोठी पूछने लगे। किसी ने नहीं बताई; भूख प्यास छोड़ बहुत ढूँढ़ा पर नहीं पाया; तब अति दुःखी होकर द्वारिका के बाहर गये।

(५४५) टीका। कवित्त। (२६८)

साहकौ सरूप करि, आये काँधे थैली धरि, "कौन पास हुंडी? दाम लीजिय गनाय कै।" बोलि उठे "ढूँढ़ि हारे! भलेजू निहारे आजु," कही "लाज हमैं देत, मैं हूँ पाये आय कै॥ मेरो है इकौ सौ बास, जान कोऊ हरिदास, लेवो सुखरासि, करो चीठी दीजै जाय कै। धरे हैं रुपैया ढेर, लिख्यो करौ बेर बेर," फेरि आय पाती दई; लई गरे लायकै॥ ४३७॥ (१६२)

वार्त्तिक तिलक।

तब श्रीकृष्णचन्द्रजी सेठ का रूप कर, कंधे पर थैली धरे, आकर कहने लगे कि "किस के पास नरसीजी की हुंडी है? अपना दाम गिना ले! चुकाले!!" सुनकर संत बोले "अजी! हम तुमको ढूँढ़कर हार गये, भले आये;" आप बोले कि "मुझको बड़ी लज्जा हुई कि आपको हुंडी के रुपये मिलने में विलम्ब हुआ। मेरा गृह एकान्त में है, कोई कोई हरिजी के दास जानते हैं; अपने रुपये लीजिये और हमारा पत्र भी नरसीजी को देकर कहना कि "वारंवार हुंडी लिखा करें, बहुत से रुपये यहाँ रक्खे हैं॥"

संतों ने रुपये ले द्वारिका तीर्थ यात्रा कर, लौट आ, नरसीजी को पत्र दिया। श्रीनरसी मेहताजी अति हर्षित हो पत्र लेकर संतों को गले से लगाकर मिले॥

(५४६) टीका। कवित्त। (२६७)

"देखि आये साह?" दौरि मिले उत्साह अंग, बेऊ रंग बोरे सन्त, संग कौ प्रभाव है। हुंडी लिखि दई, दाम लिये सो खवाय दिये, किये प्रभु पूरे काम, संतनि सों भाव है॥ सुता ससुरारि, भयौ छूछक बिचारि, सासु देत बहु गारि, जाको निपट अभाव है। पिता सों पठाई कहि, "छाती लै जराई इनि, जौपै कछु दियौ जाय, आवैं" यह दाव है॥ ४३८॥ (१६१)

वार्त्तिक तिलक।

इन संतों से श्रीनरसीजी ने पूछा कि "श्यामल साह को आप देख आये?" साधुओं ने उत्तर दिया कि "हाँ।" तब ये संत, और नरसीजी, परस्पर बड़े उत्साह से मिले। संतों को भी अब यह ज्ञात होगया कि, ये हुंडी का व्यापार नहीं करते; श्रीप्रभु ही ने हमको रुपये और दर्शन दिये; इससे बड़भागी संत भी प्रेमरंग में डूब गये॥

जो हुंडी के रुपये थे सो सबके सब नरसीजी ने संतों ही को खिला दिये; आपका संतों में भाव था इसलिये प्रभु ने सब कामनाएँ पूर्ण कीं॥

श्रीनरसीजी की बड़ी कन्या के पुत्र हुआ, सो लोक रीति में पिता के यहाँ से 'छूछक' (ननसारी, पीली) अर्थात् वस्त्र भूषण पकवान आदिक सब जाता है, सो नहीं गया। तब उस कन्या की सासु जो बड़ी कर्कशा थी सो गालियाँ देने लगी। पुत्री ने आप से कहला भेजा कि "यहाँ सासु गालियाँ देकर मेरी छाती जलाती है, जो पिताजी के पास कुछ देने को हो तो अवश्य आकर दें॥"

(५४७) टीका। कवित्त। (२६६)

चले गाड़ी टूटी सी, उभय बूढ़े बैल जोरि, पहुँचे नगर छोर, दिज कही जायकै। सुनत ही आई देखि मुँह पियराई, फिरी "दाम नहीं एक तुम कियौ कहा आय कै?"॥ "चिंता जिनि करौ, जाय सासु ढिग ढरौ, लिखि कागद❀ में धरौ अति उत्तम अघाय कै"। कही समझाय, सुनि निपट रिसाय उठी, कियौ परिहास, लिख्यौ गाँव खुनसाय कै॥ ४३९॥ (१६०)

❀ कागद=کاغذ='कागज़' पत्र॥

वार्त्तिक तिलक।

एक टूटी सी गाड़ी में दो बूढ़े बैल जोड़ उसी पर चढ़, श्रीनरसीजी चले; जब उस ग्राम में पहुँचे, एक ब्राह्मण ने पुत्री से कहा कि "तुम्हारे पिता आये हैं।" उसने आकर देखा कि कुछ पदार्थ पास में नहीं! तब अति उदास मुख कर कहने लगी कि "जो आप कुछ लाये ही नहीं तो आकर किया ही क्या?"

आपने उत्तर दिया कि "चिन्ता मत कर, सासु के निकट जाके कह कि जो जो पदार्थ चाहै सो सब भले प्रकार एक कागद में लिख दें।" कन्या ने सासु से समझाकर ऐसा ही कहा। वह बहुत रिसाकर कहने लगी कि "मुझ से हँसी की है।" फिर ग्राम भर के सब लोगों के नाम लिखवा दिये कि "इन सबको वस्त्र भूषण चाहिये॥"

(५४८) टीका। कवित्त। (२६५)

कागद ल आई देखि दूसरें फिराई पुनि भूलौ पै न पाई जात 'पाथर' लिखाये हैं। रहिबे कों दई ठौर, फूटी ढही पौरि जाके बैठे सिरमौर आय बहु सुख पाये हैं॥ जल दै पठायौ भली भाँति कै औटायौ, भई बरषा, सिरायौ, यों समोय कै अन्हाये हैं। कोठरी सँवारि, आगे परदा सो दियौ डारि, लै बजाई तार बेस अगनित आये हैं॥ ४४०॥ (१८६)

वार्त्तिक तिलक।

पुत्री वह पत्र (सूची) लेकर आई; आपने देखकर कहा कि "फिर जा, किसी के लिये कोई वस्तु भूल गई हो, सो भी लिखवा ला, पीछे नहीं मिलेगी।" पुत्री ने फिर जाकर कहा; सासु बोली "अब क्या लिखाऊँ? "दो पत्थर" और लिख दे॥"

श्रीनरसीजी के रहने के लिये किसी का एक फूटा टूटा घर था वही बता दिया गया था। श्रीभक्तसिरमौरजी उसी में जाकर बिराजे, बड़े प्रसन्न हुए, पुत्री की सासु क्रोध से तपी तो थी ही, इससे जल बहुतही औटाकर भेजा, उसी क्षण वर्षा हुई, जल पड़ने से वह जल भी यथार्थ हो गया। आपने स्नान किया। उस गृह में एक कोठरी थी उसको झार बहार कर द्वार में एक वस्त्र पर्दा डाल दिया, और वह

सूचीपत्र भीतर रख, तान पूराले, प्रभु को स्मरण कर आप बाजा बजाकर गाने लगे॥

जितने पदार्थ उसमें लिखे थे सो सब उस कठोरी में प्रभु कृपा से पूर्ण हो गये॥

(५४९) टीका। कवित्त। (२९४)

गाँव पहिरायौ, छबि छायौ, जस गायौ, अहो हाटक रजत, उभै पाथर हू आये हैं। रहि गई एक भूलें लिखत अनेक जहाँ, "लैहौं ताहीपास जापै सब मिलि पाये हैं"॥ बिनती करत बेटी "दीजियै जू लाज रहै," दियौ मँगवाय, हरि फेरिकैं बुलाये हैं। अंग न समात सुता तात कौं निरखि रंग संग चली आई पति आदि बिसराये हैं॥ ४४१॥ (१८८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरसीजी ने सोने रूपे के आभूषण और सुन्दर वस्त्र सम्पूर्ण ग्राम के लोगों को पहिनाया; सब छवि से छा गये; आपका आश्चर्य यश गाने लगे। और दो पत्थर भी सोने रूपे के * दिये। लिखने में उस ग्राम की एक स्त्री भूल गई थी वह आकर कहने लगी कि "जिस से सबको मिला है उसी के हाथों से मैं भी लूँगी।" कन्या ने आप से प्रार्थना की कि "इसको भी मँगवा दीजिये जिसमें मेरी लाज रहै।" आपने फिर प्रभु को स्मरण कर वस्त्र भूषण मँगाकर उसको भी दिये॥

श्रीनरसीजी की कन्या अपने पिता का यह प्रभाव प्रेम रंग उमंग देख अकथनीय आनन्दित हुई; पति आदिकों को बिसराकर, आपके साथ ही साथ जूनागढ़ चली आई॥

(५५०) टीका। कवित्त। (२९३)

सुता हुतीं दोय, भोय भक्ति, रहीं घर ही में, एक पति त्यागि, एक पतिहू न कियौ है। पुर में फिरत उभै गाइन सुचाइन सों, धन सों न भेंट, काहू नाम कहि दियौ है॥ आई लगीं गायबे कों, कही

* कोई कहते हैं कि सोने की ईंट तथा चाँदी की ईंट भी दी।

समझाय, "अहो पायबे को नाहीं कछू पावै; दुख हियौ है। चाहौ हरि भक्ति, तौ मुँड़ाय कै लड़ाय लीजै, कीजै बार दूर;" रहीं, प्रेम रस पियौ है॥ ४४२॥ (१८७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरसीजी की दो कन्याएँ थीं; एक का नाम "कुँवर सेना" दूसरी का "रतन सेना," सो हरिभक्ति में लवलीन होकर घर ही में रह गईं, बड़ी अपने पति को तज के; और छोटी ने तो अपना विवाह ही नहीं किया॥

जूनागढ़ में कोई सामान्य जाति की दो गानेवाली स्त्रियाँ आईं, उन्होंने बहुत ठिकाने उत्साह से गान किया, परन्तु एक पैसा भी नहीं मिला! किसीने कह दिया कि "नरसीजी के यहाँ जाकर गाओ;" वे आकर गाने लगीं। आपने उनको समझाकर कहा कि "यहाँ कुछ मिलेगा नहीं, पीछे तुम्हारा हृदय दुखी होगा; उन्होंने नहीं माना; तब आपने कहा कि "यहाँ धन नहीं मिलेगा, श्रीहरिभक्ति चाहौ तौ बालों को मुड़ाकर विरक्त होकर आओ, प्रेम से गाकर प्रभु को लाड़ लड़ाओ।" उन दोनों ने ऐसा ही किया। आपके यहाँ रहीं और प्रेमरस पान करने लगीं॥

(५५१) टीका। कवित्त। (२६२)

मिलीं उभै सुता, रंग झिलीं संग गायन वै, चायनि सों नृत्य करैं, भायनि बताय कैं। "सालंग" है नामा मामा मंडलीक मंत्री रहे कहे "बिपरीत बड़ी" राजा सों सुनाय कैं॥ बड़े बड़े दंडी और पंडित समाज कियौ, करौ वाकी भंडी, देश दीजिए छुटाय कैं। आये चार चोबदार ❀ चलौ जू बिचार कीजै भयौ दरबार हमैं दियें हैं पठाय कैं" ॥ ४४३ ॥ (१८६)

वार्त्तिक तिलक।

अब तो श्रीनरसीजी की प्रेमवती दोनों कन्याएं और साथ साथ

❀ चोबदार (چوبدار)=दण्डधारी भृत्य ॥

वे दोनों रंगभरी गानवती ये चारों मिलके प्रभु के आगे गानपूर्वक बाजे बजा बजा भाव बता बताकर नाचा करती थीं ॥

यह सब देख "सालंग" नाम ब्राह्मण जो श्रीनरसीजी का मामा और जनागढ़मंडल के राजा का प्रधान मंत्री था, उसने राव (राजा) को सुनाकर कहा कि "नरसी बड़ा विपरीत आचरण कर रहा है" सो, राजा की अनुमति लेकर बड़े बड़े दंडी और पण्डितों का समाज इकट्ठा कर उसने कहा कि "आप सब उसको शास्त्ररीति से परास्त कर कुमार्गी ठहराइये, तब हम देश से निकाल देंगे।" यह कहकर चार चपरासी भेजे कि "जाकर नरसी को बुला लाओ ॥"

आकर उन्होंने आपसे कहा कि "चलो, राजसभा में पंडितों का समाज बैठा है, सो वहाँ वाद और विचार के निमित्त तुमको सालंगजी ने बुलाया है, हमें इसीलिये भेजा है ॥"

(५५२) टीका। कवित्त। (२६१)

"चारौं तुम जावो टरि, भयौ हमैं राजा डर;" "सकै कहा करि? अजू चलैं संग संगहीं"। नाचत बजावत ये चलीं ढिग गावत सुभावत मगन जानी भीजि गईं रंगहीं ॥ आये वाही भाँति, सभा प्रभा हत भई; तऊ बोले कहा "रीति यह जुवती प्रसंग हीं?"। कही "भक्ति गंध दूरि, पढ़े पोथी, परी धूरि, श्रीशुक सराही तिया माथुरनि भंगहीं" ॥ ४४४ ॥ (१८५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरसीजी ने सुनकर दोनों गानेवालियों तथा अपनी सुताओं से कहा कि "तुम चारौ कहीं टल जावो, मुझको राजा का भय है।" उन्होंने उत्तर दिया कि "राजा क्या कर सकता है? हम चारों की चारों आपके साथ ही सभा में चलेंगी," और गाते बजाते नाचते, प्रेमरंग में भीगी, भाव में मग्न चलीं; उसी प्रकार चारों प्रेमवतियों को साथ लिये श्रीनरसीजी सभा में आये। आपकी भक्ति तेज देख वह सभा प्रभाहत हो गई सबके मुख उतर गए ॥

तथापि पूछा कि यह कौन रीति है और किस ग्रंथ में लिखी है कि

अपने साथ में निरंतर स्त्रियों को रखते हो? श्रीनरसीजी ने उत्तर दिया कि "आप सबको भगवद्भक्ति की गंधमात्र भी नहीं प्राप्त हुई! इससे आपकी इस कोरी पंडिताई पर धूल पड़गई! स्त्री हो या पुरुष हो, जिसमें भगवद्भक्ति हो उसी का साथ करना चाहिये; देखिये, श्रीमद्भागवत में परमहंस श्रीशुकदेवजी ने मथुरावासी ब्राह्मणों की स्त्रियों की कैसी श्लाघा प्रशंसा की है; और उन ब्राह्मणों ने स्वयं अपनी भक्तिवती स्त्रियों की प्रशंसा कर अपने को धिक्कार दिया है॥"

(५५३) टीका। कवित्त। (२६०)

बोलि उठ्यौ बिप्र एक "छूछक प्रसंग देख्यौ," कह्यौ रसरंग भर्यौ ढर्यौ नृप पाँय में। कही "जू बिराजौ, गाजौ, नित सुख साजौ जाय, किये हरि राय बस, भीजे रहौ भाय मैं" ॥ धारौ उर और सिरमौर प्रभु मंदिर में सुन्दर केदारौ राग गावै भरे चाय मैं। स्याम कंठ माल टूटि आवत रसालहियें, देखिदुख पावै परे बिमुख सुभाय मैं॥४४५॥ (१८४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरसीजी का भक्ति प्रभाव युक्त उत्तर सुन, प्रतिपक्षी लोग परास्त हुए; तब एक हरिभक्त ब्राह्मणदेव ने राजा से श्रीनरसीजी के छूछक के प्रसंग का प्रभाव कह सुनाया कि "महाराज! मैंने अपने नेत्रों से देखा है कि आपने एक कोठरी में पट डालकर प्रभु का यश गान किया सो अनेक प्रकार के अमूल्य भूषण वसन निकले, ग्रामभर को पहिनाया।" सुनकर राजा श्रीनरसीजी के चरणों में प्रणाम कर बोला "आप जाके सुखपूर्वक बिराजिये, श्रीभगवन्नामयश सदा गान कर आनन्द से गरजिये, क्योंकि आपने श्रीहरि को वश कर लिया; सो उनके भाव प्रेम में मग्न रहिये।" सुनकर श्रीनरसीजी आनन्द से अपने घर चले आये॥

इसके अनंतर एक वार्ता और सुनकर हृदय में धारण कीजिये॥ भक्तसिरमौर श्रीनरसीजी प्रभु के मन्दिर में सुन्दर प्रेम उत्साह में

भरे "केदारा" राग में प्रभु का गुनगान किया करते थे, तब श्रीश्याम-सुन्दर के कंठ से फूलों की रसाल माला टूटकर आपको प्रसादी मिलती थी। यह चरित्र देख उस कठिन देश में बहुत लोग हरिभक्त होगए; पर जो विमुख स्वभाव के वश पड़े थे वे सहज ही दुखी हुए॥

(५५४) टीका। कवित्त। (२८६)

नृपति सिखायौ जाय, "बृथा जस छायौ, काचे सूत मैं पुहायौ हार, टूटै ख्यात करी है।" माता हरिभक्त भूप कही "जिनि करौ कान," तऊ बानि राजस की माया मति हरी है॥ गयौ ढिग मन्दिर के सुन्दर मँगाय पाट तागौ बटवाय करि माला गुहि धरी है। प्रभु पहिराय कह्यौ "गाय अब जानि परै" भरै सुर, राग और गायौ पै न परी है॥ ४४६ ॥ (१८३)

वार्त्तिक तिलक।

दुखी हो, जाकर दुष्टों ने राजा को सिखाया कि "देखिये, इसका वृथा ही यश छा गया है, कच्चे सूत से माला पुहाके प्रभु को पहिना-कर गाने लगता है, फूलों का भार पाके कच्चा सूत टूट पड़ता है; परन्तु विख्यात कर दिया कि माला टूटके मुझे प्रसादी मिलती है।" राजा की माताजी श्रीहरिभक्तियुक्त थीं, उन्होंने राजा से कहा कि "इन विमुखों की बात तुम मत सुना करो॥"

तथापि, रजोगुणी प्रकृति तो थी ही, माया ने मति हर ली; इससे राजा श्रीनरसीजी के मन्दिर में गया और सुन्दर रेशम मँगाय कई परत बटाके माला गुँथवाकर प्रभु को पहिराकर कहा "अब गाइये, जो माला टूट पड़े तो मुझे निश्चय होवे।" श्रीनरसीजी ने और और रागों से (केदारा राग के अतिरिक्त क्योंकि इस राग को गिरौं रक्खा था) स्वर भर के गान किया, परंतु माला नहीं गिरी॥

(५५५) टीका। कवित्त। (२८८)

विमुख प्रसन्न भये; तब तौ उराहने दै नये नये चोज हरि सन-मुख भाखिये। "जानै ग्वाल बाल एक माल गहि रहे हिये, जिये लाग्यौ यही रूप, कहौ लाख लाखिये॥ नारायण बड़े महा, अहा

मेरे भाग लिख्यो, करै कौन दूरि छबि पूर अभिलाखिये। म्हारौ कहा जाय आय परसै कलंक तुम्हे, राखिय निसंक हार, भक्त मारि नाखिये॥ ४४७॥ (१८२)

वार्त्तिक तिलक।

माला का न टूटना देख दुष्ट विमुख लोग बड़े ही प्रसन्न हुए, तब श्रीनरसीजी प्रभु के सम्मुख नये नये चोजों से उलाहना देकर कहने लगे, कि "मैंने ग्वाल के बालक का स्वभाव जानलिया, ऐसे कंजूस हो कि पैसे की माला हृदय में गहरहे हो, दी नहीं जाती; मैं क्या करूँ, मेरे जी को तो यही रूप प्यारा लगता है, लाखों भाँति समझाने से नहीं समझता। देखो! श्रीलक्ष्मीपति नारायण ऐसे महान् बड़े हैं कि ब्रह्मांड भर को अनेक पदार्थ देकर पालन करते हैं और अपने भक्तों की इच्छा पूरी करते हैं; परंतु मेरे भाग में तो 'गोपाल' ही लिखे हैं उसको कौन अन्यथा कर सकता है? इसी से मैं इन्हीं की पूर्ण छवि की अभिलाषा करता हूँ। यह दशा है कि एक माला अपने उर से अलग नहीं करते हो *। हे प्रभो! इस कृपणता में मेरा क्या जायगा तुम्हीं को कलंक लगेगा; लो अब हार को निशंक अपने कंठ में रक्खे रहना; मुझ भक्त को मार डालो॥"

(४५६) टीका। कवित्त। (२८७)

रहैं तहाँ साह, किये उभै लै बिबाह जाने तिया एक भक्त कहै "हरिकों दिखाइये"। नरसी कही ही "भलै," सोई प्रभु बानी लई, साँच करि दई, गए राग छुटवाइयै॥ बोले, पट खोलि दियै, किये दरसन तानै; ताने पट सोवै वह कही "देवौ भाइयै"। लियै दाम, काम कियौ, कागद गहाय दियौ, दियौ कछु खाइबे कों, पायौ लै भिजाइयै॥ ४४८॥ (१८१)

वार्त्तिक तिलक।

वहाँ एक सेठ था उसने दो विवाह किये थे, उसकी एक स्त्री बड़ी

* प्रभु ने माला क्यों न दिया कि नरसीजी ने केदारा राग नहीं गाया और केदारा राग क्यों नहीं गाया कि वह बन्धक (गिरों) रक्खा था॥

भक्ता थी, सो उसने श्रीनरसीजी से कई बार प्रार्थना की थी कि "मुझे श्रीहरि के दर्शन करा दीजे;" आपने कहा भी था कि "बहुत अच्छा" सो प्रभु ने अपने भक्त की वाणी सत्य करने तथा केदारा राग छुड़ाने के लिये नरसीजी के रूप से जाकर पुकारा। स्त्री बड़भागी ने केवाड़ खोल दर्शन पाए, प्रणाम किया और उसका अभागी पति (साहु) मुँह पर वस्त्र ओढ़े सोता रहा, उसने दर्शन नहीं किये, अपनी स्त्री से कह दिया कि "रुपए लेकर कागद (लिखत) दे दो।" उसने द्रव्य लेकर रागवाली लिखत फेर दी और प्रेम से कुछ मेवे मिठाई खिला विनय भी किया।

चौपाई।

"यह जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥"
प्रभु ने कृपाकर उसको प्रेम से भिगा दिया॥ कृपा की जय॥
घर आने पर भी अभागों को भगवत् भागवत के दर्शन यों नहीं होते॥

दो० "तुलसी या संसार में, सबसे मिलिये धाय।
क्या जानैं कोइ रूप महँ, नारायण मिलि जायँ" ॥ १ ॥

(५५७) टीका। कवित्त। (२८६)

गहने धखौ हो राग केदारौ, सो साह घर, धरि रूप नरसी कौ, जाय कै छुटायौ है। कागद लै डारयौ गोद, मोद भरि गाय उठे, आय झन्न झन्न स्याम हार पहिरायौ है॥ भयौ "जै जैकार," नृप पाय लपटाय गयौ, गह्यौ हिये भाव सो प्रभाव दरसायौ है। बिमुख खिसाने भये, गये उठि, नये नाहिं, बिन हरिकृपा भक्तिपंथ जात पायौ है॥ ४४६॥ (१८०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनरसीजी ने संतसेवा के लिये कुछ द्रव्य लेकर केदारा राग सेठ के यहाँ गिरों रख दिया था। सो यों श्रीनरसीजी का रूप धारण कर रुपए दे, राग छुड़ा, गिरवीवाला पत्र फेर लाकर, प्रभु ने श्रीनरसीजी के गोद में डाल दिया; तब आप जान गये कि कृपासिन्धु

प्रभु छुड़ा लाये। इससे आनन्द युक्त केदारा राग * गाने लगे॥ और दिन तो माला ही टूट पड़ती थी, उस दिन कृपालु प्रभु की मूर्ति ने स्वयं चलके झन्न झन्न नूपुर बजाते आकर श्रीनरसीजी को अपने करकंज से ही माला पहिना दी। देखकर सब भक्तों ने "जय जय, धन्य धन्य" किया; राजा श्रीनरसीजी के चरणों में लिपट गया। और यह प्रभाव देख हृदय में भक्तिभाव को उसने धारण किया॥

अभागे दुष्ट विमुख लोग जो थे वे लज्जित हो, खिसियाके उठ गये; परंतु श्रीनरसीजी को और प्रभु को प्रणाम तक नहीं किया। जान लो, विना प्रभु की कृपा के, भक्तिपथ के सम्मुख कोई कैसे हो सकता है?॥

चौपाई।

"जो पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई"॥

रतन सेठ ने श्रीनरसीजी के ठाकुरजी से मानता की कि "यदि मेरे घर पुत्र होवे तो मैं अमुक सामग्री से आपकी पूजा करूँ।" श्रीहरिकृपा से उसी संवत्सर के भीतर उसके लड़का हुआ। सेठानी (लड़के की माता) ने लाख कहा, परन्तु कृपण रतन ने बहुत काल तक टाला ही किया, पूजा नहीं ही चढ़ाई। लड़के के आत्मा ने अपने शरीर को त्याग दिया। तब तो रतन सेठ बड़ा ही विकल हो श्रीनरसीजी के चरणों पर गिरा। उसकी स्त्री को अति दुःखी देख श्रीनरसीजी ने वृत्तान्त पूछा तब दम्पति ने मानता की वार्ता और उसका न पूरा करना कहकर लड़के के मृत्यु की बात कही और दोनों रोने चिल्लाने लगे। श्रीनरसीजी परम दयालु ने (जो सेठानी की भक्ति से प्रसन्न रहा करते थे) प्रभु से बड़ी प्रार्थना की। हरि ने कृपाकर उसके पुत्र को जिला दिया, दम्पति ने बड़े प्रेम तथा धूम से ठाकुरजी की पूजा की और रतन सेठ भी बड़ा भक्त हो गया। यह घटना संवत् १६५२ की है॥

---

* श्रीनरसीजी मेहता का वह पद नागरीदास के, संगृहीत "पदप्रसंगमाला," ग्रन्थ में है

(५५८) टीका। कवित्त। (२८५)

करन सगाई आयो, पायो वर भायो नहिं, घर घर फिस्यो, द्विज नरसी बतायौ है। आय, सुख पाय, पूछ्यौ, सुत सो दिखाय दियौ, कियौ लै तिलक मन देखत चुरायौ है॥ "अजू हम लायक * न;" "तुम सब लायक हौ" सायक सो छुट्यौ जाय नाम लै सुनायौ है। सुनत ही; माथौ ढोरि †,कहैं "ताल कूटा वह, बाल बोरि आये, जावौ फेरि, दुख छायौ है" ॥ ४५० ॥ (१७६)

वार्त्तिक तिलक।

एक ग्राम से किसी धनी ब्राह्मण की कन्या के विवाह के लिये उसका पुरोहित ब्राह्मण जूनागढ़ में आया। बहुत ठिकाने वर देखे परंतु उसको कोई अच्छा न लगा; किसी ने कहा कि "एक पुत्र नरसीजी के बहुत सुन्दर है।" सुखपूर्वक आके उस ब्राह्मण ने श्रीनरसीजी से पूछा। आपने पुत्र को दिखा दिया; देखते ही विप्रजी का मन हर गया। और उन्होंने तत्काल तिलक कर ही तो दिया॥

नरसीजी ने कहा कि "कन्या के पिता धनी हैं, मैं उनके योग्य नहीं हूँ" पुरोहितजी ने उत्तर दिया कि "आप सब लायक हैं।" तिलक करके बाण के समान वेग से आये, और कन्या के पिता से नाम सुनाया कि "मैं नरसीजी के पुत्र को तिलक चढ़ा आया हूँ।" सुनते ही कन्या का पिता दुःखित तथा उदास हो माथा हिलाके और ठोंकके कहने लगा कि "वह तो तालकूटा है; मेरी कन्या को तुमने तो डुबा दिया, मुझको इस बात का बड़ा ही दुःख है; जाओ, तिलक फेर लाओ" ॥

(५५९) टीका। कवित्त। (२८४)

"काटिकै अँगूठा डारौ, तब सो उचारौ बात, मन मैं बिचारौ, कियौ तिलक बनाय कै"। जाने "सुता भाग ऐसे" रहे सोच पागि सब आवै जब ब्याहिबे कौ धन दै अघाय कै"॥ लगन हूँ लिखि दियौ, दियौ, द्विज आनि लियौ, डारि राख्यौ कहूँ, गावैं तालए

* "लायक"= لائق =योग्य। † "ढोरि" ठोंकि, फोरि, पाठान्तर हैं॥

बजाय कै। रहे दिन चार, पै बिचार नहीं नेकु मन, आये कृष्ण रुक्मिनी जू, झूमि मिले धाय कै ॥ ४५१ ॥ (१७८)

वार्त्तिक तिलक ।

ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि "मैं जिस अँगूठे से भले प्रकार तिलक कर आया हूँ उसको यदि काट डालो तो ऐसी बात कहो, अब वह अन्यथा नहीं हो सकती, मन में विचार तो करो, मैं जाकर क्या कहूँगा ?" ऐसे वचन सुन उसने जाना कि "मेरी कन्या के ऐसे ही भाग थे;" फिर शोच युक्त हो आपस में कहने लगे कि "जब विवाह करने आवें तब बहुत सा धन दायज देकर उसको अपने योग्य कर लिया जायगा" ॥

फिर लग्नपत्र भी लिख दिया। ब्राह्मण ने आकर नरसीजी को दिया; आपने उस पत्र को कहीं योंही डाल दिया, और ताल बजा-बजाके श्रीहरिगुण गाने लगे। जब विवाह के चार ही दिन रह गये, और आपको उसकी कुछ भी चिंता व विचार चरचा तक नहीं, तब श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीरुक्मिणीजी कृपा कर रूप धर, आपके घर आये। आप प्रेम से झूम झूम दौड़कर पग में जा लगे ॥

(५६०) टीका । कवित्त । (२८३)

ठौर ठौर पकवान होत, तिया गान करैं, घुरत निसान, कान सुनिये न बात है। चित्र मुख किये लै बिचित्र पट्टरानी आय, घोरी रंग बोरी पै चढ़ायौ सुत, रात है ॥ करी सो ज्योंनार, तामें मानस अपार आये द्विजनि बिचारि पोट बाँधी, पै न मात है। मणि मैं ही साज बाज गज रथ ऊँट कोर झमकैं किशोर आज सजी यों बरात है ॥ ४५२ ॥ (१७७)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीनरसीजी के गृह में आकर श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी ने अपने संकल्प से ही, सब ऐश्वर्य प्रकट किये; अनेक ठिकाने पर पकवान मिठाई बनने लगी, बहुत सी स्त्रियाँ गान करने लगीं, मंगलीक बाजे इतने बजने लगे कि कानों में बात नहीं सुन पड़ती; स्वयं

श्रीपटरानीजी ने नरसीजी के पुत्र को मुख आदि अंगों में चित्र विचित्र शृंगार कर प्रेमरंग से डूबी हुई घोड़ी पर चढ़ाया, नेग दिये, फिर ज्यौंनार हुई, उसमें असंख्य लोग आये, ब्राह्मण लोगों ने बहुत से दिव्य पदार्थ देख देख बड़ी बड़ी गठरियाँ बाँधी; परंतु वे पदार्थ घटनेवाले तो थे ही नहीं। मणि सुवर्णों के साज से सजे कोटान हाथी, रथ, घोड़े, ऊँट, उपस्थित थे, उन पर किशोर अवस्थावाले दिव्य मनुष्य चढ़े झमक रहे थे। ऐसी अद्भुत प्रकार की बरात सजी॥

(५६१) टीका। कवित्त। (२८२)

नरसी सों कहैं गहैं हाथ "तुम साथ चलौ, अंतरिक्ष मैं हूँ चलौं, इती बात मानियै"। कही "अजू! जानौ तुम, मैं तौ हिये आनौं यहै लहै सुख मन मेरो फेंट ताल आनियै"॥ आप ही बिचारि सब भार सो उठाय लियौ, दियौ डेरा पुरी समधी की पहिचानियै। मानस पठायौ "दिन आयौ पै न आये," अहो! देखैं छबि छाये नर पूछै जू बखानियै॥ ४५३॥ (१७६)

वार्त्तिक तिलक।

जब बरात सज गई तब श्रीकृष्णचन्द्रजी नरसीजी का हाथ पकड़के बोले कि "अब बरात को संग ले तुम चलो, और अंतरिक्ष से मैं भी चलता हूँ, भला इतनी बात तो मेरी मान लो।" श्रीनरसीजी ने हाथ जोड़ प्रार्थना की कि "अजी महाराज! बरात और विवाह, सब आप जानैं आपका काम जानै, मैं तो यही जानता हूँ कि जहाँ कहो फेंट बाँध, ताल ले, आनन्द से आपका गुण गाता चलूँ, मुझे और नहीं आता भाता"॥

सुनकर प्रभु ने विचारा कि सच कहते हैं। इससे सब भार आपही उठा, बरात लाकर समधी की पुरी के निकट डेरा कराया। उधर समधी ने विवाह का दिन जान, मनुष्यों को भेजा कि "देखो तो मार्ग में कहीं आते हैं?" वे आकर बरात देख पूछने लगे कि "यहं बहुत सुन्दर बरात किसकी है?" बरातियों ने उत्तर दिया कि "श्रीमेहता नरसीजी की यह बरात है"॥

(५६२) टीका । कवित्त । (२८१)

"नरसी बरात," मत जानौ यह नरसी की, नरसी न पावै ऐसी समझ अपार है। आयकै सुनाई, सुधि बुधि बिसराई, कहौ "करत हसाई, बात भाखौ निरधार हैं" ॥ गयौ जो सगाई करि दर बर आयौ द्विज निज अंग मात कैसें रंग बिसतार है। कही "एक घास धनरासि सों न पूजै किहूँ; चहूँ दिसि पूरि रही देखौ भक्ति-सार है ॥ ४५४ ॥ (१७५)

वार्त्तिक तिलक ।

"श्रीनरसी मेहताजी की बरात है" यह सुन वे लोग विचारने कहने लगे कि "यह नरसीजी की बरात तो नरों की बरात के समान नहीं है, अर्थात् देवतों की बरात के समान है, ऐसी बरात इस लोक में तो नरसी नहीं पा सकते।" ऐसी समझ अपार है। और उन लोगों ने, दौड़के आकर, बेटी के बाप से बरात की बड़ी बड़ाई की। सुनकर उसकी सुध बुध भूल गई। विश्वास न करके वह कहने लगा कि "हँसी करते हो ? यथार्थ कहो;" इतने में जिन ब्राह्मण ने वर को तिलक किया था, सो भी बरात देख वहाँ ही आये। उन ब्राह्मणजी के प्रेमरंग का उमंग अंग में नहीं समाता था; वे कहने लगे कि "जितना तुम्हारा धन है सो बरात के घोड़ों के घासमात्र को नहीं पूरा पड़ सकेगा; देखो श्रीनरसीजी की भक्ति का सारांश चारों दिशाओं में छा रहा है ॥"

(५६३) टीका । कवित्त । (२८०)

चले अचरज मानि, देखि अभिमान गयौ, लयौ पाछौ ब्राह्मन को "हमैं राखि लीजियै"। जाय गहि पाँय रहौ भाय भरि "दया करौ;" गए दृग भरै पाँव परै "कृपा कीजियै" ॥ मिले भरिअंक, लै दिखायौ सो मयंकमुख; "हूजियै निसंक इन्हैं भार सुता दीजियै।" ब्याह करि आये; भक्तिभाव लपटाये; सब गाये गुण जाने जेते; सुनि सुनि जीजियै ॥ ४५५ ॥ (१७४)

वार्त्तिक तिलक ।

कन्या का पिता ब्राह्मण के वचन सुन आश्चर्य मान; स्वयं चल

बरात देखा, अपने धनाढ्यपने का अभिमान छोड़, ब्राह्मण के चरणों में सीस नवाके कहने लगा कि "अब मेरी लज्जा मर्यादा आपही के रखने से रह सकती है।" ब्राह्मणजी बोले कि चलो, सजल नेत्र प्रेम से श्रीनरसीजी के चरणों को पकड़के कहो कि "मेरी लज्जा आपके अधीन है, मर्यादा आपके ही हाथों में है आपके रक्खे रह सकती है, दया कीजिये अपना दास जानिये।"

उसने ऐसा ही किया। नरसीजी ने समधी (सम्बन्धी) को उठाके, अंक भर मिलके, लाके श्रीप्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन करवाया। प्रभु ने आज्ञा दी कि "तुम निशंक रहो, बरात के सत्कार का भार भी नरसी ही को है, तुम केवल कन्यादान मात्र करदो।" फिर दोनों ओर का सँभार श्रीप्रभु ही ने किया॥

बड़े आनन्द और धूमधाम से विवाह कर श्रीनरसीजी के घर आकर ऐश्वर्य सहित आप अन्तर्धान हो गये॥

नरसीजी*ब्याह कर कराके आये तो, परंतु अपनी भक्तिभाव ही में अधिकतर लिपटे रहे। भगवद्भक्त का यश संसार में प्रसिद्ध हुआ। आपके गुण जितने हम जानते थे, उतने ही गान किये; इन गुणों को सुन सुन के जीना योग्य है॥

---

(१४३) श्रीदिवदास पुत्र श्रीजसोधरजी।

(५६४) छप्पय। (२७९)

"दिवदास" बंस "जसोधर" सदन भई भक्ति अनपायनी॥ सुत कलत्र संमत सबै गोबिन्द परायन। सेवत हरि हरिदास द्रवत मुख "राम"-रसायन॥ सीतापति कौ सुजस प्रथम ही गवन बखान्यौ। है सुत दीजै मोहि कबित सबही जग जान्यौ॥ गिरा गदित लीला मधुर, संतनि आनँददायनी। "दिवदास" बंस "जसोधर" सदन भई भक्ति अनपायनी॥ १०९॥ (१०५)

---

* श्रीनरसी मेहताजी का समय, संवत् १६०० से बरंच १५५० से १६५३ तक के भीतर निश्चय है॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवद्भक्त "दिवदास" जी के वंश में उत्पन्न श्री "जसोधर" जी थे, उनके घर भर के जनों को अनपायनी श्रीरामभक्ति हुई, आपके पुत्र* और स्त्री जन सब एकमत होकर भगवत् में परायण हुए; तन मन से श्रीहरि और हरिदास वैष्णवों की सेवा करते थे, और सबके मुखचन्द्रों से श्रीसीतारामयश रसामृत द्रवता था।

एक दिवस आपके यहाँ श्रीसीतापतिजी का सुयश श्रीरामायण होता था, उसमें जो श्रीविश्वामित्रजी की यज्ञ की रक्षा हेतु प्रभु के प्रथम गवन का प्रसंग आया, वह कविता सब जगत् जानता है, मुनि ने श्रीचक्रवर्तीजी से माँगा कि "श्रीराम लक्ष्मण दोनों पुत्र मुझे दीजिये," तब श्रीअवधेश महाराज ने दिये, आप मुनि के साथ चले। सो, श्री-जसोधरजी इस कथा को पहिले पहिल सुनते ही प्रेमावेश से उस ध्यान में तन्मय हो गये और बोले "प्राणनाथ! मैं भी साथ ही चलूँगा॥"

सुनकर प्रभु ने ध्यान ही में प्रत्यक्ष सरीखा दर्शन देकर कहा कि "तुम यहाँ ही रहो, हम यज्ञ-रक्षा करके शीघ्र आते हैं।" वह वियोग वचन सुन आपने प्राण न्यवछावर कर दिया। इस प्रकार की संतन को आनन्द देनेवाली मधुर लीला हुई॥

(१४४) श्रीनन्ददासजी।

(५६५) छप्पय। (२७८)

(श्री) नंददास आनंदनिधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे॥ लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर सरस उक्तिजुत जुक्ति भक्ति रस गान उजागर॥ प्रचुर पयध लौं सुजस "रामपुर" ग्राम निवासी। सकल सुकुल। संबलित भक्त पदरेनु उपासी॥ चन्द्रहास अग्रज† सुहृद, परम प्रेम पै मैं पगे। (श्री) नंददास आनंद-

* कहते हैं कि "श्रीदिवदासात्मज श्रीजसोधर" जी के पुत्रजी बड़े भक्त थे, उनका नाम श्रीअभयरामजी था॥ † "अग्रज" पाठान्तर अंगज अर्थात् पुत्र॥

निधि, रसिक सु प्रभुहित रँगमगे ॥ ११० ॥ (१०४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनन्ददासजी आनन्दनिधि रसिक प्रभु के प्रेम में मिले हुए थे; श्रीयुगललीला रसरीति पद ग्रन्थ की रचना में बड़े प्रवीण हुए; तथा भक्तिरसयुक्त सरस उक्ति युक्ति कथन और गान में अति उजागर थे। आप "श्रीरामपुर" ग्राम के निवासी थे; समुद्रपर्यंत आपका सुयश विख्यात हुआ और सम्पूर्ण सुन्दर कुलवाले ब्राह्मणों में उत्तम ब्राह्मण होते हुए भी श्रीभगवद्भक्तों के चरणरेणु की उपासना सेवा करते थे॥

श्रीचन्द्रहासजी के बड़े भ्राता श्रीनन्ददासजी अति सुहृद परम प्रेमरूपी जल में मीन के समान पगे रहते थे। आप श्रीकृष्णयश काव्यवाले अष्टछाप (आठ प्रसिद्धों) में एक थे आपके ग्रन्थ, "पंचाध्यायी, रुक्मिणीमंगल, नाममाला, ❀ अनेकार्थ, दानलीला, मानलीला" आदिक प्रसिद्ध हैं॥

सुनते हैं कि "अष्टछाप" में ये हैं—

१ सूरदास	५ चतुर्भुजदास
२ कृष्णदास	६ चेत स्वामी
३ परमानन्द	७ नन्ददास
४ खिन्नदास चेत स्वामी	८ गोविन्द स्वामी
चारों चेले स्वामी वल्लभाचार्य्यजी के	चारों चेले गोस्वामीविट्ठलजी के

(१४५) श्रीजनगोपालजी।

(५६६) छप्पय। (२७७)

संसार सकल व्यापक भई, जकरी जन गोपाल

❀ "नाममाला" तथा "अनेकार्थ" देखने और अवश्य कण्ठस्थ करने योग्य हैं॥

की॥ भक्ति तेज अति भाल संत मंडलकौ मंडन। बुधि प्रवेश भागौत * ग्रन्थ संशय कौ खंडन॥ नरहड़ ग्राम निवास देस बागड़ निस्तार्यौ। नवधा भजन प्रबोध अनन्य दासन ब्रत धार्यौ॥ भक्त कृपा बांछी सदा पदरज राधा लाल की। संसार सकल व्यापक भई, जकरी[१] जन गोपाल की॥ १११॥ (१०२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजनगोपालजी की बनाई हुई प्रभु यशमई "जकरी" जगत् भर में व्याप्त हो गई। आपका भाल (ललाट) भक्ति तेज से प्रकाशमान्, सन्तों के मंडल का मंडन करता था; आपकी बुद्धि सब संशयों की खंडन करनेवाली श्रीमद्भागवत ग्रन्थ में अतिशय प्रविष्ट हुई। नरहड़ नाम के ग्राम में निवास कर भक्ति उपदेश से उस बागड़ देश भर को निस्तार किया। नवधा भक्ति के सहित प्रबोध युक्त अनन्य भगवतदासता का व्रत धारण किया; और श्रीहरिभक्तों के कृपा की तथा श्रीराधाकृष्णजी के चरणों की रज की वांछा सदा रखते थे॥ ऐसे श्रीजनगोपालजी की "जकरी" सारे जगत् में फैल गई॥

---

(१४६) श्रीमाधवदासजी।

(५६७) छप्पय। (२७६)

माधौ दृढ महि ऊपरैं, प्रचुर करी लोटा भगति॥ प्रसिद्ध प्रेम की बात, "गढ़ागढ़" परचौ दीयौ। ऊँचेतें भयौ पात श्याम साँचौ पन कीयौ॥ सुत नाती पुनि सदृश चलत उही परिपाटी। भक्तनि सों अतिप्रेम नेम नहिं किहुँ अँग घाटी॥ नृत्य करत नहिं तन सँभार,

---

* "भागौत"=भागवत। १ जकरी=एक छंद विशेष का नाम।

सम सर जनकन की सकति। माधौ दृढ़ महि ऊपरैं, प्रचुर करी लोटा भगति॥ ११२॥ (१०२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमाधव[1]भक्तजी ने अति प्रेम से भूमि के ऊपर लोटने की भक्ति को दृढ़ता से विख्यात किया (फैलाया)। आपने "गढ़ागढ़" में परचौ दिया; बहुत ही ऊँचे से गिरे और श्रीश्यामसुन्दरजी ने रक्षा कर आपका प्रण पूरा किया। आपके पुत्र नाती भी उसी परिपाटी से प्रेमपथ में चले, और भगवद्भक्तों से सकुटुम्ब आपका प्रेम नेम पूरा था किसी अंग में घट नहीं था॥

श्रीहरिगुन गानकर नाचने लगते तब शरीर का कुछ सँभार नहीं रहता था, और गृहस्थाश्रम में इसप्रकार रहे कि जैसे श्रीजनकवंशी जल कमल-पत्रवत् संसार से निर्लेप रहते थे। आप "गढ़ागढ़" के रहनेवाले थे॥

(५६८) टीका। कवित्त। (२७५)

गढ़ागढ़ पुर नाम "माधौ" बढ़ि प्रेमि, भूमि लोटैं, जब नृत्य करैं, भूलैं सुधि अंग की। भूपति बिमुख, झूठ जानिकै परीक्षा लई, आनि तीन छाति पर देखी गति रंग की॥ नूपुरनि बाँधि, नाचि, साँच सो दिखाय दियौ, गिर्यौ हूँ कराह मध्य, जियौ, मति पंग की। बड़ौ त्रास भयौ नृप, दास बिसवास बढ़्यौ, बढ़्यौ उर भाव, रीति न्यारी या प्रसंग की॥ ४५६॥ (१७३)

वार्त्तिक तिलक।

गढ़ागढ़ नाम नगर में "माधव" भक्त चढ़ बढ़ के प्रेमी हुए; नृत्य करते करते आपको अपने सब अंग की सुधि भूलि जाती थी तब भूमि में लोटने लगते थे। वहाँ का राजा विमुख था; उसने जाना कि "झूँठ ही पाखंड करते हैं;" इससे परीक्षा लेने के अर्थ

१ श्रीवल्लभाचार्य्य महाप्रभुजी के समसामयिक श्रीजगन्नाथपुरी वाले विख्यात प्रथम श्रीमाधवदासजी के अतिरिक्त ये दूसरे श्रीमाधवभक्तजी लोटनभक्ति फैलाने वाले, तथा तीसरे एक श्रीमाधवग्वालजी साधुसेवी परम भागवत हुए। एक चौथे माधवजी सुकवि "बरसाने" वाले हुए॥

ऊँची (तीसरी) छत पर बिछौना बिछवाकर आपके प्रेम की गति देखने लगा। आप नूपुर बाँधके नाचने लगे; फिर सच्चे प्रेम से लोटते हुए तप्त घृत के कड़ाह में गिर पड़े। परन्तु प्रभु ने इस प्रकार की रक्षा की कि आपका एक बाल भी न बाँका हुआ॥

देखकर सबकी बुद्धि पंगु हो गई। राजा को बड़ा त्रास हुआ; भगवद्दासों में विश्वास बढ़ा; और श्रीमाधवभक्तजी का दास होकर भाव भक्ति की रीति ग्रहण की॥

इस प्रेमप्रसंग की रीति जगत् से न्यारी है॥

दो० "गाए नीकी भाँति सों, कवित रीति भल कीन।
श्रीमोहन अपनाइ कै, अङ्गीकृत करि लीन॥"
(श्रीध्रुवदासजी)

दो० "तनक न रही विरक्तता, पड़ी दृगन की छाप।
कहुँ माला बटुआ कहूँ, कहुँ गीता कहुँ आप॥१॥
पंडित पूजा पाकदिल, यह गुमान मति लाय।
लगै जरब अँखियान की, सबै गरब मिटि जाय॥२॥"
(श्रीभानुप्रताप तिवारी चुनार, मिरज़ापूर.)

---

(१४७) श्रीअङ्गदजी।

(५६९) छप्पय। (२७४)

अभिलाष भक्त "अंगद" कौ, पुरुषोत्तम पूरन कर्यौ॥ नग अमोल इक, ताहि सबै भूपति मिलि जाचैं। माम, दाम, बहु करैं; दास नाहिन मत काचैं॥ एक समै संकट मैं, लै वै पानी महि डार्यौ। "प्रभो! तिहारी वस्तु," बदन तें बचन उच्चार्यौ॥ पांच दोय सत कोस तें, हरि हीरा लै उर धर्यौ। अभिलाष भक्त "अंगद" कौ, पुरुषोत्तम पूरन कर्यौ॥११३॥ (१०१)

वार्त्तिक तिलक ।

श्री "अंगद" भक्तजी की अभिलाषा ओड़ैसानाथ श्रीपुरुषोत्तम जगन्नाथजी ने पूरी की। आपके पास एक बड़ा ही अनमोल नग (रत्न) था; उसको राजा और उनके समीपी लोग माँगते; साम, दाम आदिक बहुत दिखाए (किये)। परंतु ये तो सच्चे भगवद्दास थे, इन्होंने नहीं ही दिया। एक समय संकट में पड़, मन से ध्यान कर, आपने मुख से कहा "हे प्रभो! यह आपकी वस्तु है, सो आप लीजिये;" और इतना कह रत्न को जल में डाल दिया। श्रीजगन्नाथ जी ने ७०० (सात सौ) कोस से लम्बा हाथ फैलाकर हीरा लेके अपने अंग में धारण किया॥

इस प्रकार प्रभु ने अपने भक्त की अभिलाषा पूर्ण की। आपका नाम पुनीत करनेवाला है। आपकी कविता नानकजी के "ग्रन्थ साहिब" में संग्रहीत है॥

(५७०) टीका। कवित्त। (२७३)

"रायसेन" गढ़ बास नृप सो "शिलाहदी" जू, तातो यह काका रहे, "अंगद" बिमुख है। ताकी नारी प्यारी, प्रभु साधुसेवा धारी उर, आये गुरु घर, कहैं कृष्ण कथा सुख है॥ बैठे भौन कौन ? देखि कैसैं मौन रह्यौ जात ? बोल्यौ "तिया जात, कहा करौ नर रुख है ?"। सुनि उठि गये; बधू अन्न जल त्यागि दये, लये पाँव जाय बिषैबस भयौ दुख है॥ ४५७॥ (१७२)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीअंगदसिंहजी क्षत्री "रायसेन" गढ़ के वासी, राजा, सिलाहदी-सिंह के चाचा, प्रथम अवस्था में विमुख थे; इनकी स्त्री रूपवती और भक्तिवती इनको बहुत प्यारी थी। वह श्रीहरि तथा संतों की सेवा में तत्पर हुई। एक दिवस उसके गुरुदेव उसके घर आकर सुखपूर्वक भगवत् कथा कहते थे, स्त्री आनन्द से सुनती थी। अंगद देखकर बोला "स्त्री जाति के समीप अकेले बैठकर यह क्या कर रहे हो ?॥"

वे सुनकर तत्काल ही उठके चले गये; और स्त्री ने अन्न जल

दोनों छोड़ दिया। अंगदजी प्रथम विषयवश तौ थे ही दुःखित हो, स्त्री के चरण पकड़, प्रार्थना करने लगे ॥

(५७१) टीका । कवित्त । (२७२)

मुख न दिखावै, याहि देख्यौ ही सुहावै, कही "भावै सोई करौ नेकु बदन दिखाइयै । मैं हूं जल त्यागि दियौ, अन्न जात का पै लियौ, जीवौं जब नीकौ तब आपु कछु खाइयै" ॥ बोली "मोसों बोलौ जिन, छाड़ौं तन याही छिन, पन सांचौ होतौ जौ पै सुनत समाइयै" । "कहौ अब कीजै जोई, मेरी मति गई खोई;" भोई उर दया, बात कहि समझाइयै ॥ ४५८ ॥ (१७१)

वार्त्तिक तिलक ।

परन्तु नारी ने मुख ही नहीं दिखाया; इनको तो रात दिन उसका मुख देखना बड़ा ही अच्छा लगता था, विकल हो बोले कि "जो तुमको अच्छा लगे सोई अब मैं करूँ, मुझे अपना मुख मयंक तौ थोड़ा दिखाओ, मैंने भी अन्नजल तज दिया है, मुझे जीना तभी भला लगेगा कि जब तुम कुछ खाओगी।" उसने उत्तर दिया कि "मुझसे बोलो मत, नहीं तो इसी क्षण देह तज दूँगी, मेरा पन सच्चा तो तब था कि जब तुमने श्रीगुरुजी को रूखे बचन सुनाए थे मैं उसी क्षण तन को तज देती ॥"

अंगदजी ने सुन अति दीन होकर फिर विनय किया कि "अब तुम जो कहौ सोई मैं करूं, मेरी बुद्धि नष्टहो गई।" तब तो भक्तिवती को दया लगी, और समझाकर यों कहने लगी ॥

(५७२) टीका । कवित्त । (२७१)

"वेई गुरु करौ जाय, पांयन मैं परौ," गयौ, चायनि लिवाय ल्यायौ, भयो शिष्य, दीन है। धारी उर माल, भाल तिलक बनाय कियौ, लियौ सीत, प्रीति कोऊ उपजी नवीन है ॥ चढ़ी फौज * संग, चढ्यौ बैरी पुर, मारि बढ्यौ, कढ्यौ, टोपी लैकै हीरा सत, एक पीन है। डारे सब बेचि, पागपेच मध्य राख्यौ मुख्य, भाष्यौ "सो अमोल करौं जगन्नाथ लीन है" ॥ ४५६ ॥ (१७०)

* "फ़ौज"=فوج=सेना ॥

वार्त्तिक तिलक ।

"कि तुम जाके मेरे महाराजजी के चरणों में पड़, भगवत् की भक्ति के लिये उन्हीं को गुरु करो ।" सुनते ही अंगदजी बड़े उत्साह और दीनता से जाकर गुरुजी को लिवा लाये और शिष्य हो, कंठ में श्रीतुलसी माला, भाल में तिलक अच्छे प्रकार से करके, भोजन कराय, अंगदजी ने श्रीगुरु की सीथ (जूंठ) प्रसादी ली । कोई नवीन प्रीति भक्ति उत्पन्न हुई, बड़े विनीत हो, भक्तिमार्ग में यथार्थ चलने लगे । "भक्ति, भक्त, भगवंत, गुरु" की जय ॥

एक समय राजा सिलाहदी सिंह, सेना समेत किसी दूसरे राजा पर चढ़ा, साथ श्रीअंगदसिंहजी भी थे; इनकी विजय हुई । उस राजा की एक टोपी श्रीअंगदसिंहजी के हाथ आई, उसमें एक सौ एक हीरे लगे थे, सौ हीरे बेंचकर तो संतों की सेवा में लगा दिये और एक हीरा जो महामुख्य उत्तम और अनमोल था, उसको अपने पाग (पगड़ी) के पेच में रखके कहा कि "यह हीरा श्रीजगन्नाथजी को सप्रेम अर्पण करूँगा ॥"

(५७३) टीका । कवित्त । (२७०)

काना कानी भई, नृप बात सुनि लई, "कही हीरा वह देय, तौ पै और माफ* किये हैं" । आय समुझावैं, बहु जुगति बनावैं, याके मन में न आवै; जाय, सबै कहिदिये हैं ॥ अंगद बहिन लागै वाकी भूवा पागै, तासों "देवो बिष, मारो" फिरि तू ही, पग छिये हैं । करत रसोई घोरि गरल मिलायो पाक, भोगहू लगायो, "अजू आवो" बोलि लिये हैं ॥ ४६० ॥ (१६६)

वार्त्तिक तिलक ।

इन १०१ (एकसौएक) हीरोंकी वार्त्ता कानोंकान होते २ राजातक पहुँची । उसने आपके पास अपने मंत्रियों को भेजकर कहलाया कि "वह एक हीरा मुझको दे देवें, तो सौ हीरे मैंने क्षमाकिये" वे लोग आकर बहुत युक्तियों से समझाया पर श्रीअंगदजी के मन में एक भी न आई । आप बोले "वह तो मैं श्रीजगन्नाथजी को अर्पण कर चुका ॥"

* "माफ़"=معاف=क्षमा ॥

आकर उन सबों ने राजा से कहा कि "वह ऐसे नहीं देंगे" फिर कुमंत्रियों से राजा ने विष देना यों निश्चय किया, कि श्रीअंगदजीकी बहिन जो राजाकी फूफी (बुआ) लगती, और आपके ठाकुरजी की रसोई किया करती थी सो राजाने उसके चरण पकड़कर कहा कि "विष देकर इसको मार डाल पीछे तुझे बहुत धन द्रव्य दूँगा" वह स्त्री ही जाति तो थी रसोई में घोर विष मिला, भोजन बना, प्रभुको अर्पणकर, उसने श्रीअंगदजी को प्रसाद पाने के लिये बुलाया ॥

(५७४) टीका । कवित्त । (२६६)

वाकी एक सुता, संग लैकै बैठें जेंवन कों, आई सो छिपाय, कही "जेंवौ कहूँ गई है"। जेंवत न, बोधि हारी, तब सो बिचारी प्रीति, भीति, रोय मिली गरें, रीति कहि दई है ॥ प्रभु लै जिवाये राँड़, भाँड कै निकासि द्वार, दै करि किवार, सब पायौ आप नई है। वह दुख हियें रह्यौ! कह्यौ कैसे जात काहू ? बात सुनि नृपहूँ नै, जैसी भाँति भई है ॥ ४६१ ॥ (१६८)

वार्त्तिक तिलक ।

देखिये, श्रीअंगदजी की उसी बहिन की एक लड़की थी, आप नित्य उसको साथ लेकर प्रसाद पाते थे। उस दिन वह उसको कहीं छुपा आई। आपने उसको बुलाया, बहिन बोली "आप प्रसाद पाइये, वह कहीं खेलने निकल गई है," आपने प्रसाद नहीं पाया; उसने बहुत प्रकार प्रबोध किया तब भी विना उसके नहीं ही पाया ॥

अपनी लड़की में आपकी इस प्रकार की प्रीति देख, लज्जित हो विष के भय से गले में लगके रोने लगी, और विष दिवाने का सब वृत्तांत भी कह सुनाया। सुनकर अंगदजी ने कहा कि "राँड़! तूने मेरे प्रभुको विष भोग लगा दिया! अब मुझे कहती है मत पावो;" तत्काल उसको बाहर निकाल, कपाट दे, आप विष-मिश्रित सब प्रसाद पागये ॥

आपके भाव विश्वास से वह विष अमृत सरीखा हो गया क्योंकि

प्रभु को विष भोग लग जाने की बात आपको बड़ी ही दुःखद थी। प्रसाद पाने से आपके देह में नवीन छवि प्रकाशित हुई; जिस प्रकार यह समस्त वार्त्ता हुई राजा सुनके बड़ा लज्जित तथा विस्मित हुआ॥

(५७५) टीका। कवित्त। (२६८)

चले नीलाचल, हीरा जाय पहिराय आवैं, आय घेरि लीने नृप नरनि, खिसाय कै। कही डारि देवौ, कै लराई सनमुख लेवौ, बस न हमारौ, भूप आज्ञा आये धाय कै॥ बोले "नेकु रहौ, मैं अन्हाय पकराय देत, हेत मन और, जल डार्यो लै, दिखाय कै। बस्तु है तिहारी प्रभु, लीजियै," उचारी यह; बानी लागी प्यारी, उर धारी सुख पाय कै॥ ४६२॥ (१६७)

वार्त्तिक तिलक।

इसके अनंतर, श्रीअंगदजी हीरा लेकर नीलाचल धाम को चले कि "श्रीजगन्नाथजी को पहिराय ही आऊँ।" इतने में राजा के भेजे बहुत से शस्त्रधारी लोग आके आपको चारों ओर से घेर के कहने लगे कि "अब हीरा धर दीजिये, और नहीं तो सम्मुख युद्ध कीजिये; इसमें हमारा कुछ बस नहीं, हमने तो राजा की आज्ञा से धावा किया है।" आपने कहा कि "एक क्षण भर क्षमा करो, मैं स्नान करके तुमको दिये देता हूँ॥"

मन में तो आपके और ही था, हीरा ले, सबको दिखा, उसी सर (तालाब) में डालकर, पुकार उठे कि "हे प्रभो! यह आपकी वस्तु है, सो लीजिये।" भक्त की वाणी श्रीजगन्नाथजी को अति प्यारी लगी, इससे सात सौ कोस से हाथ बढ़ा हीरा ऊपर से ऊपर रोक लिया और आपने श्रीअंग में धारण कर लिया; सो आज तक श्रीअंग में सुशोभित है॥

(५७६) टीका। कवित्त। (२६७)

एतौ घर आये, वे तौ जलमधि कूदि छाये, अति अकुलाये, नेकु खोज हूँ न पायौ है। राजा चलि आयौ, सब नीर कढ़वायौ, कीच देखि, मुरझायौ, दुख सागर अन्हायौ है॥ जगन्नाथदेव आज्ञा दई, "वाहि

सुधि देवौ," आयकै सुनाई, नर तन बिसरायौ है। गयौ, जाय देख्यौ उर पर जगमग रह्यौ, लह्यौ सुख नैननि कौ, कापै जात गायौ है॥ ४६३॥ (१६६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीअंगदजी तो अपने घर चले आए, और राजा के सब लोग जल में कूद पड़े; अकुलाके ढूँढ़ने लगे परन्तु हीरा का खोज नहीं ही पाया॥ तब बहुत से लोग साथ ले राजा स्वयं आया; तालाब को काट उसने जल निकलवाया, कितना ही ढुँढ़वाया, पर वह केवल कीचमात्र देख, मुरझाकर दुःखसिंधु में डूब गया॥

श्रीजगन्नाथदेवजी ने अपने जनों को आज्ञा दी कि "जाओ, अंगद-भक्त से समाचार कहि आओ कि तुम्हारा अर्पण किया हुआ हीरा प्रभु ने अपने श्रीअंग में धारण कर लिया।" सुनके आपने आनन्द से तन का भान भुला दिया; फिर श्रीपुरुषोत्तमपुरी में जाकर श्रीअंगदजी ने देखा कि "हीरा प्रभु के श्रीअंग पर जगमगा रहा है॥"

उस समय श्रीअंगदजी को जो नेत्रानन्द हुआ सो कौन कह सकता है?

(५७७) टीका। कवित्त। (२६६)

राजा हिय ताप भयौ, दयौ अन्न त्यागि, कह्यौ आवै जोपै, भाग मेरे, ब्राह्मण पठाये हैं। धरनौ दै रहे कहे नृप के बचन सब, तब ह्वै दयाल आप पुर ढिग आये हैं॥ भूप सुनि आगे आय पाँय लपटाय गयौ लयौ उर लाय दृग नीर लै भिजाये हैं। राजा सरबसु दियौ जियौ हरिभक्ति कियौ हियौ सरसायो गुन जानें जिते गाये हैं॥ ४६४॥ (१६५)

वार्त्तिक तिलक।

जब आप जाके श्रीजगन्नाथपुरी ही में रह गये, तब आपका प्रभाव समझ राजा के हृदय में बड़ा पश्चात्ताप हुआ, अन्न त्याग दिया; ब्राह्मणों को बुला बहुत सत्कारकर कहा "आप लोग जाइये किसी

यत्न से चाचाजी को लिवा लाइये, तो मेरे बड़े भाग्य उदय हों;" जाके ब्राह्मणों ने आपसे राजा की सब प्रार्थना सुनाई, और धरना दे उपवास किया। तब आप दयालु होकर आये। राजा ने सुना कि पुर के पास आप आ पहुँचे, तब वह सजलनेत्र आगे आकर सप्रेम चरणों में लपट गया, आपने हृदय में लगा लिया, परस्पर प्रेमाश्रुपात से भिगो दिये। राजा ने आपको सर्वस्व अर्पणकर जीवन पर्यन्त सरस हृदय से हरि-भक्ति की। सन्त के आश्रित होकर किसने कल्याण नहीं पाया? श्रीअंगद भक्तजी *के जितने गुण हम जानते थे उतने गान किये हैं॥

---

(१४८) श्रीचतुर्भुजजी।

(५७८) छप्पय। (२६५)

चतुर्भुज नृपति की भक्ति कौ, कौन भूप सरवर करैं॥ भक्त आगमन सुनत सनमुख जोजन इक जाईं। सदन आनि सतकार सदृश गोविन्द बड़ाईं॥ पाद प्रक्षालन सुहथ राय रानी मन साँचैं। धूप दीप नैवेद्य, बहुरि तिन आगें नाचैं॥ यह रीति करौलीधीस की, तन मन धन आगे धरैं। चतुर्भुज नृपति की भक्ति कौ, कौन भूप सरवर करैं॥ ११४॥ (१००)

वार्त्तिक तिलक।

"करौली" के राजा श्रीचतुर्भुजजी † की लोकोत्तर भक्ति की समता, कौन राजा कर सकता है? चार कोस पर श्रीहरिभक्त का आगमन सुन सम्मुख जाके घर लिवा लाते और भगवान् के समान

---

* ये कलियुग के श्रीअंगदजी हुए॥

† एक चतुर्भुजदास श्रीविट्ठलनाथजी के शिष्य, कृष्णदासजी के सप्तम पुत्र, बड़े सुकवि थे; व एक चतुर्भुज मिश्र भाषा दशमस्कन्ध श्रीमद्भागवत के कर्ता थे और एक चतुर्भुज श्रीवैष्णवदासजी को कहते हैं जिनकी कविता वल्लभीय मन्दिरों में गाई भी जाती है श्रीहरिवंशजी के शिष्य॥

सत्कार बड़ाई कर, सच्चे मन से, अपने हाथों से राजा रानी दोनों, चरण धो, चन्दन फूल माला धूप दीप नैवेद्य से पूजा आरती कर, फिर हरिभक्त के आगे स्वयं नृत्य कीर्त्तन करते, और तन मन धन सब आगे रख अर्पण करते थे। भक्तराज करौली के अधीश की इस प्रकार की रीति थी, दूसरे किस नृपति की उपमा इसकी कही जा सकती है ? ॥

(५७९) टीका । कवित्त । (२६४)

पुर ढिग चारौ ओर चौकी राखी जोजन पै, जो जन ही आवै तिन्हे ल्यावत लिवाय कै। मालाधारी दास मानि, आवै कोऊ द्वार जौ पै, करै वही रीति सो सुनाई छप्प गाय कै ॥ सुनी एक भूप भक्त निपट अनूप कथा, सबको भंडार खोलि देत, बोल्यौ धाय कै। "पात्र औ अपात्र यों बिचार ही जो नाहीं, तौ पै कहा ऐसी बात ?" दई नेकु मैं उड़ाय कै ॥ ४६५ ॥ (१६४)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा श्रीचतुर्भुजजी ने अपने पुर के चारों ओर चार चार कोस पर चौकी बैठा रक्खी थी कि "जो (भगवज्जन) कण्ठी तिलक धारण किये आते थे उनको वहाँ ही सत्कारपूर्वक लोग रखते थे; तब राजा आप स्वयं जाके वहाँ से उनको सादर घर लिवा लाते थे ॥

जो कोई माला तिलक धारणकर आवे, उसको जैसा कि छप्पय में श्रीनाभास्वामी ने कहा है उसी रीति से पूजा सत्कार किया करते थे ॥

इस प्रकार आपकी अनूप कथा एक दूसरे राजा ने सुनी कि "कोई तिलकधारी जाय उसको अपना धनगृह (कोष) खोल देते हैं।" उसने कहा कि "जब उनको पात्रापात्र का विचार ही नहीं है, तब क्या भक्ति करते हैं ? किसी काम की बात नहीं कुछ योग्य बात नहीं।" इस प्रकार, बात की बात में, उसने उस प्रशंसा को चुटकियों में उड़ा दिया ॥

(५८०) टीका । कवित्त । (२६३)

भागवत गावै, भक्त भूप एक विप्र तहाँ, बोलिकै सुनावै "ऐसो मन जिन ल्याइयै । पावै आसै कौन हृदय भौन मैं प्रवेश करि ? भरि अनुराग कहा उर मधि आइयै ?" ॥ करी लै परीक्षा भाट

बिमुख पठाय दियौ, "दियौ भाल तिलक द्वार दास यों सुनाइयै।" गयौ, गयौ भूलि, फूलि कुल बिसतार कियौ लियौ पहिचानि अब जान कैसे पाइयै ॥ ४६५ ॥ (१६३)

वार्त्तिक तिलक ।

उस राजा के यहाँ एक भक्तराज ब्राह्मणजी भागवत सुनाते थे; उन्होंने राजा के वचन सुनकर कहा कि "ऐसा मन में मत लाइये कि "उनको पात्र और अपात्र का विवेक नहीं है," न जानें वे अपने हृदय में क्या भाव लाकर इस प्रकार अनुराग में भरके सर्वस्व अर्पण करते हैं; ऐसी किसी की शक्ति नहीं है कि भक्तों के हृदय में प्रवेशकर उनके मन की आशय जान लेवे।" श्रीभक्तवर पंडितजी के ऐसे वचन सुन, परीक्षा के लिये, एक विमुख भाट को तिलक माला धारण करा-के उस राजा ने आपके पास भेजा, और कह दिया कि "वहाँ जा, ऐसा ही वेष बना, अपने को "भगवद्दास" कहना ॥"

भाट गया तो परंतु तिलक कंठी धारण करना और अपने तई वैष्णव बताना तो वह भूल ही गया; अपने अभ्यास से फूल के वंश-विस्तार प्रशंसा करने लगा। लोगों ने जाना कि यह तो भाट है; फिर अब भीतर कैसे जाने पाता ? ॥

(५८१) टीका । कवित्त । (२६२)

बीते दिन बीस तीस, आई वह सीख सुधि, कही "हरिदास" कोऊ आयौ, यों सुनाइयै। बोले "जू निसंक जावौ, गावौ गुनगोविन्द के", आये घर मध्य, भूप करी जैसी भाइयै ॥ भक्ति के प्रसंग कौन रंग कहूँ नैकु जान्यौ, जान्यौ उनमान सों परीक्षा मँगवाइयै। दियौ लै भंडार खोलि, लियौ मन मान्यौ, दई संपुट में कौड़ी डारि, जरी* लपटाइयै ॥ ४६६ ॥ (१६२)

वार्त्तिक तिलक ।

उस भाट को कोई एक महीना भर बीत गया पर अब अपने राजा की शिक्षा की सुधि आई; तब वेष बना उसने द्वारपाल वेतपाणि से

* "जरी"=زری=स्वर्णसूत्र का वस्त्र, गोटा ॥

कहा कि "एक भगवद्दास आये हैं ऐसा जा सुनाइये।" लोगों ने कहा "आपके लिये डेउढ़ी नहीं, आप निःशंक जाके श्रीगोविन्द के गुण गाइये।" वह गृह में गया; श्रीचतुर्भुजजी ने भक्तवेष देख वैसी ही पूजा की ॥

परंतु उस भाट के मन वचन में भक्ति प्रसंग के रंग का लेश भी नहीं पाया, सो राजा ने श्रीहरिकृपा से समझ लिया कि "किसी ने मेरी परीक्षा लेने के लिए भेजा है।" राजा ने अपना द्रव्यागार (भंडार) खोल दिया, भाट ने मनमानी सम्पत्ति ली। तब, श्रीचतुर्भुजजी ने एक कौड़ी स्वर्णसूत्र के पट में लपेट, एक उत्तम सम्पुट में रख, पीछे से यह भी भाट को दे दिया ॥

(५८२) टीका। कवित्त। (२६१)

आयौ वाही राजा पास, सभा मैं प्रकाश कियौ, लियौ धन दियौ, पाछे सोई लै दिखायौ है। खोलि कै लपेटा मध्य संपुट निहारि कौड़ी, समुझि बिचारै हारै मन मैं न आयौ है॥ बड़ौ भागवत बिप्र पंडित प्रबीन महा, निसि रस लीन जानि आयकै बतायौ है। कर्यौ उनमानि, भक्त मानिबौ प्रधान जरी मूँदिकै पठाई, ताहि गुण समझायौ है॥ ४६८॥ (१६१)

वार्त्तिक तिलक।

वह अपने राजा के पास आ, सब वृत्तांत सादर सुना, जो धन लाया था सो, और पीछे जो राजा ने डब्बा दिया सो भी, उस भाट ने आगे रख दिया। राजा ने सम्पुट खोला तो उसमें गोटे से लपेटी एक कौड़ी देखी! लाख प्रकार से विचार के हार गया परंतु उसका तात्पर्य इसकी समझ में नहीं ही आया। तब उसने अपने उन ब्राह्मण पंडितजी बड़े भागवत महाप्रवीन हरिरस लीन से रात्रि में इसका गूढ़ार्थ तथा तात्पर्य पूछा। सब वृत्तान्त सुन कानी कौड़ी आदिक देख, तात्पर्य को समझ विचारकर, प्रसन्न हो विप्र भागवतजी ने राजा से, अज्ञान अंधकार में लीन जानके, बताया कि "देखिये! श्रीचतुर्भुजजी ने ऐसा अनुमान किया है कि यह फूटी कौड़ी सरीखा भक्तिगुणहीन मनुष्य बहुमूल्य स्वर्णपट संपुट सरीखे

भागवतवेष से आच्छादित आया है; सो उसी वेष को प्रधान मान, हमने पूजन सत्कार किया है ॥"

(५८३) टीका । कवित्त । (२६०)

राजा रीझि पाँव गहे; कहे "जू बचन नीके ऐपै नेकु आप जाय तत्तु याको ल्याइयै" । आये, दौरि पाँव लपटाय भूप भाय भरे, परे प्रेमसागर मैं, चरचा चलाइयै ॥ चलिबे न देत, सुख देत चले लोलमन, खोलिकै भंडार दियौ लियौ न रिझाइयै । उभै सुवा सारौ कही एक करधारौ मेरे दई अकुलाय लई मानौ निधि पाइयै ॥ ४६६ ॥ (१६०)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा सुन, लज्जित और अति प्रसन्न हो, पंडितजी के चरण पकड़ कहने लगा कि "आपने बहुत अच्छे वचन कहे, परंतु आप चतुर्भुजजी के यहाँ तनक जाके इसका यथार्थ आशय लाइये ।" पंडितजी सहर्ष करौली आये, भक्तराज ने दौड़कर चरणों में लिपट, बड़े भाव से पूजन किया । दोनों भक्तों ने प्रेमसागर में मग्न हरिचर्चा चला, परस्पर सुख लिया ॥

कुछ दिन रह पण्डित चलना चाहते; राजा अनेक सत्संग सुख दे नहीं जाने देते । अन्त को चले, तो दोनों भक्तों के मन वियोग से चंचल हो गये । राजा ने अपना कोश (धनगृह) खोल दिया कि "जो चाहिये लीजिये ।" पर श्रीपण्डितजी ने कुछ भी न लिया । कहा कि "मैंने, आपकी भक्ति ही देख अति प्रसन्न हो, परम लाभ पाया; ये जो आपके शुक और सारिका हैं, इन दोनों में से एक मुझे दीजिये ।" वे दोनों पक्षी प्रभु का नाम सुनानेवाले, राजा को बड़े ही प्रिय थे; इससे अकुलाके एक (सारिका) को दिया । ब्राह्मण ने उसे निधि के समान सानन्द लिया ॥

(५८४) टीका । कवित्त । (२५९)

आयौ राजसभा, बहु बातनि अखारौ जहाँ, बोलि उठी सारौ "कृष्ण कहौ," झारि डारे हैं । पूछैं नृप "कहौ," "अहो ! लहौ सब याही सों जू, पच्छी वा समाज रहै हरि प्रानप्यारे हैं ॥ कोटि कोटि रसना बखानौं

पै न पाऊँ पार;" सार मुनि भक्ति, आय सीस पाँव धारे हैं। "राखौ यह खग, पगि रह्यौ तन मन श्याम," अति अभिराम रीति मिले औ पधारे हैं॥ ४७० ॥ (१५६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभक्त पंडितजी उस सारिका को लेकर राजा की सभा में आये; वहाँ लोग अनेक सांसारिक वार्ता करते थे; सो सुन, वह मैना बोली "श्रीरामकृष्ण गोविन्द हरे कह; (जिससे संसारसागर पार हो, और वार्ता करने से यमयातना के भागी होगे)–" राजा ने पंडितजी से पूछा कि "चतुर्भुजजी के प्रेम भाव की वार्ता कहिये॥"

पंडितजी ने उत्तर दिया कि "आपको इसका पूछना ही क्या है? इसी मैना के उपदेश से तो सब कुछ जान जाइये कि यह चिड़िया (पक्षी) उस समाज में रहती है, जब इसको श्रीहरि ही प्राणप्रिय हैं; तब उन राजा की क्या कहूँ? मैं कोटिन रसना से भी यदि उनकी भक्ति का बखान करूँ, तो भी पार नहीं पा सकता॥"

इस प्रकार प्रेम सारांश भक्तियुक्त वार्ता सुन स्वयं श्रीचतुर्भुजजी के यहाँ आकर राजा ने चरणों में प्रणाम किया, और वह सारिका देकर कहा "इस खग को आपही रखिये यह तन मन से श्यामसुन्दर में पग रही है।" अति अभिराम रीति से कुछ दिन श्रीचतुर्भुजजी का संग कर फिर मिल मिलाके अपने गृह आकर भगवद्भक्ति में तत्पर हो वह राजा भी कृतार्थ हुआ॥

---

(१४६) श्रीमीराबाईजी *।

(७८५) छप्पय। (२५८)

लोक लाज कुल-शृंखला तजि "मीरा" गिरिधर

---

* १ श्रीमीराबाईजी की जीवनी श्रीरूपकलाजी की लिखी हुई खड्गविलास प्रेस में सचित्र छपी है, जिसकी न्यवछावर ॥-) है॥

२ श्रीमीराजी, श्रीरूपजी, श्रीसनातनजी, श्रीजीवगुसाईंजी, प्रभृति संवत् १६११ से संवत् १६६२ के मध्य में अर्थात् अकबर बादशाह के समय में थे॥

३ एक कवि ने संवत् १५७० में उनका विराजमान रहना लिखा है। कोई १६२० और कोई १६४५ में उनका परमधाम जाना बताते हैं, कोई महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी के समय में बताते हैं। इसी प्रकार उनके समय में बहुत मतभेद है॥

भजी ॥ सदृश गोपिका प्रेम प्रगट, कलिजुगहिं दिखायो ॥
निरअंकुश अति निडर, रसिक जसरसना गायो ॥
दुष्टनि दोष बिचारि, मृत्यु को उद्दिम कीयो । बार न बाँको
भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो ॥ भक्ति निसान बजाय कै,
काहू ते नाहिन लजी । लोक लाज कुलशृंखलातजि
"मीरा*" गिरिधर भजी ॥ ११५ ॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीमीराजी ने, भक्ति बाधक लोकलाज और कुलरीति की शृंखला (बेड़ी) को तोड़कर, श्रीगिरिधरलालजी का भजन किया। श्रीगोपीजनों के समान प्रगट प्रेम कठिन कराल कलिकाल में दिखाया; और प्रेमप्रमत्तदशा से निरंकुश तथा निडर होकर रसना से रसिकशिरोमणिलाल का यश गान किया । आपकी यह प्रेमगुणयुक्त भक्तिरीति देख, दोष विचारकर दुष्टों ने मृत्यु का उद्यम कर विष दिया; सो आपने महाविष को अमृत के समान पान कर लिया, और आपका एक बाल भी न टेढ़ा हुआ ॥

भक्तिरूपी दुंदुभी बजाकर किसी से लजानी नहीं। इस प्रकार श्रीमीराबाईजी ने श्रीगिरिधरलालजी का भजन किया ॥

दो० "लाज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुलकानि ।
सोई मीरा जग बिदित, प्रगट भक्ति की खानि ॥ १ ॥
नृत्यति नूपुर बाँधिकै, नाचत लै करतार ।
विमल हियो भक्तनि मिली, तृण सम गनि संसार ॥ २ ॥
बन्धुनि विष ताको दियो, करि विचार चित आन ।
सो बिष फिरि अमृत भयो, तब लागे पछतान ॥ ३ ॥
ललिता हू लइ बोलिकै, तासों हो अति हेत ।
आनँद सों निरखत फिरै, बृन्दाबन रसखेत ॥ ४ ॥"
(श्रीध्रुवदासजी)

* "मीराँ" पाठान्तर ॥

(५८६) टीका । कवित्त । (२५७)

"मेरतौ॰" जनमभूमि, भूमि हित नैन लगे, पगे गिरिधारीलाल, पिता ही के धाम मैं । राना कै सगाई भई, करी ब्याह सामा नई, गई मति बूड़ि, वा रँगीले घनश्याम मैं ॥ भाँवर परत, मन साँवरेसरूप माँझ, ताँवरें सी आवैं चलिबे कौ पति ग्राम मैं । पूछैं पिता माता "पट आभरन लीजियै जू" लोचन भरत नीर कहा काम दाम मैं ॥ ४७१ ॥ (१५८)

वार्त्तिक तिलक ।

परम भक्तिवती रूपवती श्री १०८ मीराबाईजी की जन्मभूमि जोधपुर राज्यान्तर्गत "मेरते" में थी; वहाँ के राव रत्नसेन की कन्या और जयमलजी की बहिन थीं । प्रेम से झूमकर आपके नयन श्रीगिरिधरलाल में लग के, पिता ही के गृह में पग गये; अर्थात् एक समय राजगृह के समीप किसी श्रीमान् के गृह में दूल्हे को खिड़की से देख पाँच वर्ष की मीराजी गिरिधारीलाल के मंदिर में अपनी माता से पूछने लगीं कि "मेरा दूल्हा कहाँ है ?" माता (कोई कोई कहते हैं "भावज" ने कहा) ने हँसकर श्रीगिरिधरलाल को बता दिया कि "यही हैं ।" उसी क्षण से आपकी आँखें श्रीलालजी के प्रेम में रँग गईं; हृदय में अनुराग और अपनपौ हो गया । रात दिन एक पल न खोती थीं ! साथ रहती थीं, पास सोती थीं ॥"
"हैं तेरी ही सारी चीजें मेरी । तू मेरा है प्यारा मैं हूँ तेरी ॥"

फिर जब योग्य अवस्था हुई तब चित्तौर (मेवाड़) के राना साँगा के पुत्र भोजराज से सगाई हुई । विवाह की सामग्री पिता ने नवीन की परन्तु आपकी मति तो उस रँगीले श्यामसुन्दर में डूब गई थी; इससे भाँवरी पड़ने लगीं उस क्षण आपका मन श्यामस्वरूप ही में मग्न था ॥
"मीरा, प्रभु गिरिधारिलाल सों करी सगाई हाल ॥"

॰ राठौर घराने के राजवंश में जोधपुर राज्य के अन्तर्गत "मेरता" ग्राम में जन्म लिया था । "जयमल" की बहिन थीं । कोई २ कहते हैं कि चित्तौरगढ़ मेवाड़ के "महाराना कुम्भ" के साथ इनकी शादी हुई थी । जो १४१८ ई० में गद्दी पर बैठा था, बड़ा बहादुर था । श्रीमीराजीने वैराग्य को "घाँघरा लहँगा" विवेक ज्ञान को "सारी" प्रेम को "सारी का रंग", भजन को "सुर्मा अंजन" गाया है ॥

विवाह के अनंतर पति के ग्राम में चलने के समय आपको मूर्च्छा सी आ गई ॥

माता पिता कहने लगे "बेटी! पट वस्त्र भूषण जो तुझको लगे सो सब लो, दुखित मत हो।" आपने नेत्रों में जल भरकर कहा "मुझे धन भूषण तो कुछ भी नहीं चाहिये, परन्तु—॥"

"दे री माई! अब म्हाकों गिरिधरलाल ॥"

(५८७) टीका। कवित्त। (२५६)

"देवौ गिरिधारीलाल, जौ निहाल कियौ चाहौ, और धन माल* सब राखियै उठाय कै।" बेटी अति प्यारी, प्रीति रंग चढ़्यो भारी, रोय मिली महतारी, कही "लीजियै लड़ाय कै" ॥ डोला पधराय, दृग दृग सों लगाय चलीं, सुख न समाय चाय, प्रानपति पाय कै। पहुँचीं भवन सासु देवी पै गवन कियौ तिया अरु बर गँठजोरौ करयौ भाय कै ॥ ४७२ ॥ (१५७)

वार्त्तिक तिलक।

"जो मुझे प्रसन्न किया चाहो, तो श्रीगिरिधारीलालजी को दो, और धन भूषण वसन सब अपना रख छोड़ो।" आप माता को अति प्यारी थीं, उसने देखा कि पुत्री को प्रभु के प्रीति का रंग भारी चढ़ा है इससे रोकर हृदय में लगाकर कहा कि "बेटी! श्रीगिरिधरलालजी को ले परम प्रेम से पूजा-सेवा करना ॥"

तब आप अपनी पालकी में पधराके सामने आप भी नेत्रों को प्रभु के नेत्रों से मिलाकर बैठ गईं। और चलीं; अपने प्राणप्रिय प्राणनाथ गिरिधरगोपाल के पाने का आनन्द इतना था कि हृदय में नहीं समाता था। जो छवि दृष्टिगोचर होती थी, वह श्रीमीराजी ही से पूछना चाहिये, दूसरा क्या जाने?

"जाकर जापर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू ॥"

राना के घर पहुँचीं; सासु उतारकर स्त्री पुरुष (अपने पुत्र) की गाँठ जोड़कर, देवी के गृह में लिवा गईं ॥

* "माल"=مال=धन धान्य ॥

(५८८) टीका । कवित्त । (२५५)

देवी के पुजायबे कौं, कियौ लै उपाय सासु, बर पै पुजाइ, सुनि बधू पूजि भाखियै । बोली "जू बिकायौ माथौ लाल गिरिधारी हाथ, और कौन नव, एक वही अभिलाखियै" ॥ "बढ़त सुहाग याके पूजे ताते पूजा करौ, करौ जिनि हठ सीस पायनि पै राखियै" । कही बार बार "तुम यही निरधार जानौ, वही सुकुमार जा पै वारि फेरि नाखियै" ॥ ४७३ ॥ (१५६)

वार्त्तिक तिलक।

मीराजी की सासु ने, देवी की पूजा का उपाय कर वर (अपने पुत्र) से पुजवाके फिर, आपको आज्ञा की कि "बहू ! तुम भी देवी की पूजा करो, प्रणाम करो ।" आपने उत्तर दिया कि "मेरा माथा तो श्री-गिरिधरलालजी के हाथ बिक चुका है और के सामने अब नहीं झुकता, केवल उन्हीं के प्रणाम की अभिलाषा युक्त रहता है ।" फिर सासु कहने लगी कि "देवीजी की पूजा करने से भाग सुहाग बढ़ता है, इससे हठ मत करो, पूजा करके चरणों में सीस रक्खो ॥"

आप बोलीं कि "मैं वारंवार कहती हूँ, आप यही निश्चय जानिये, और को कदापि सीस नहीं नवाऊँगी ॥"

चौपाई।

"धर्म नीति उपदेसिय तेही । कीरति भूति सुगति प्रिय जेही ॥"

"केवल उन्हीं श्यामसुकुमार को मस्तक नवाऊँगी कि जिनके ऊपर तन मन सीस सब निवछावर करके फेंक दे चुकी हूँ; आप व्यर्थ हठ मत कीजिये ॥"

सवैया ।

"पल कांटौं सही इन नैनन के गिरिधारी बिना पल अंत निहारैं ।
जीभ कटै न भजै नँदनंदन, बुद्धि कटै हरिनाम बिसारैं ॥
"मीरा" कहै जरिजाहु हियौ पदकंज बिना पल अंतर धारै ।
सीस नवै ब्रजराज बिना वह सीसहिं काटि कुवाँ किन डारै ॥"

(५८९) टीका । कवित्त । (२५४)

तब तौ खिसानी भई, अति जरि बरि गई, गई पति पास "यह

बधू नहीं काम की । अब ही जवाब * दियो, कियो अपमान मेरो, आगे क्यों प्रमान करै ?" भरै स्वास चाम की ॥ राना सुनि कोप कस्यो, धस्यो हिये मारिबोई, दई ठौर न्यारी, देखि रीझीमति बाम को। लालनि लड़ावै गुन गाय कै मल्हावै, साधु संग ही सुहावै, जिन्हैं लागी चाह स्याम की ॥ ४७४ ॥ (१५५)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीमीराजी का उत्तर सुन, सासु अति क्रोधित हो, जर बर के, अपने पति के पास जाकर कहने लगी कि "यह बहू तो कुछ काम की नहीं है, अभी ही उसने मझे उत्तर दिया और अपमान किया, तब आगे मेरे वचनों का क्या प्रणाम करैगी ?" ऐसा कह लोहार की भाथी सरीखा श्वास भरने लगी। रानी की बात सुनकर, राना ने, वैष्णव शाक्त भेद विरोध प्रभाव, तथा रजोगुण तमोगुण सुभाव से, अतिक्रोधित हो, श्रीमीराजी को मार ही डालना निश्चय कर, अपने अंतःपुर से न्यारा एक गृह आपके रहने को दे दिया। आप एकांत देख बड़ी प्रसन्न हुई; अपने गिरिधरलाल को अष्टयाम लाड़ लड़ातीं अति प्यार से सेवा पूजा भजन गुन गान किया करतीं और श्रीश्यामसुन्दर के सनेही संतों का संग छोड़ और कुछ आपको अच्छा नहीं लगता था ॥

"मीराजी के लौकिक पति, राना के कुमार ने दूसरा विवाह कर लिया और इस संसार से भी चल दिया। श्रीमीराजी पांवों में नूपुर बांध श्रीगिरिधरजी के सन्मुख अपने पद गाया और नाचा करतीं। साधुओं की सेवा सत्कार भी भली भाँति से करतीं ॥"

चौपाई ।

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सत सरित सुहाई ॥"

माता पिता के दिये धन की त्रुटि तो थी ही नहीं ॥

(५६०) टीका । कवित्त । (२५३)

आय कै ननँद कहै "गहे किन चेत भाभी ? साधुनि सों हेतु मैं

---

* "जवाब"=جواب=उत्तर ॥

कलंक लागै भारियै। राना देसपती लाजै; बाप कुल रती जात, मानि लीजै बात बेगि संग निरवारियै"॥ "लागे प्रान साथ संत, पावत अनंत सुख, जाको दुख होय, ताको नीके करि टारियै। सुनिक, कटोरा भरि गरल पठाय दियौ, लियौ करि पान रंग चढ़्यौ यौं निहारियै॥ ४७५॥ (१५४)

वार्त्तिक तिलक।

मीराजी का भजन साधु संग देख एक दिन राना की कन्या (ऊदाबाई) आके शिक्षा करने लगी कि "भाभी! (भावज) तुम चेत नहीं करती हौ, साधुओं से प्रेम करने से बड़ा भारी कलंक लगता है; तुम्हारी रीति देख देश-पति राना लज्जित होता है; तुम्हारे पिता के कुल की भी मर्य्याद जाती (नष्ट होती) है; मेवाड़ और जोधपुर दोनों की हँसी होती है; मेरी बात मानकर अभी अभी बैरागियों का संग छोड़ दो।" वह समझाकर हार थकी पर आपने उत्तर दिया कि "मैं संतों के संग से अनंत सुख पाती हूँ, इससे संत लोग मेरे प्राणों के साथ हैं; जिसको लाज और दुख हो, उसको तुम छुड़ाओ अथवा जिसको दुख लगे सो मेरे पास न आवै॥"

निदान इस वार्त्ता को जब राना ने सुना, तब एक कटोरा भर महा-विष तुलसी छोड़ "चरणामृत" कहकर भेज दिया। आपने सीस चढ़ा प्रसन्नतापूर्वक पान कर लिया। कुछ व्यतिक्रम होने की तो बात ही क्या? बरंच आपके हृदय में प्रेम रंग की प्रभा चढ़ गई और मुख की छवि अत्यन्त बढ़ गई॥

उस समय जो पद गाया था उसकी पहिली कड़ी यह है:- "राना जी जहर दियो, हम जानी॥"

(५६१) टीका। कवित्त। (२५२)

गरल पठायौ, सो तौ सीस लै चढ़ायौ, संग त्याग विष भारी, ताकी झार न सँभारी है। राना नै लगायौ चर, बैठे साधु ढिग ढर, तब ही खबर कर; मारौ यहै धारी है॥ राजैं गिरिधारीलाल, तिनहीं सों रंग जाल, बोलत हँसत ख्याल, कानपरी प्यारी है। जाय कै

सुनाई, भई अति चपलाई, आयौ लिये तरवार, दै किवार, खोलि न्यारी है॥ ४७६॥ (१५३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमीराजी को राना ने विष भेजा सो तो सीस पर चढ़ा कर पान-कर ही गइ, परंतु संतों का त्यागरूपी महाविष की झार भी न सह सकीं; जब विष से आप नहीं मरीं, तब राना ने कई प्रतिहारों (चारों) से कहा कि "तुम यह मर्म लो जब वह किसी बैरागी के साथ एकांत बैठी हो तब शीघ्र आकर समाचार कहो, उसी क्षण मैं आकर उसको मार डालूँगा॥"

एक समय श्रीमीराजी श्रीगिरिधरलालजी के साथ एकांत में रस रंग भरी वार्ता करती हँसती हुई चौपड़ खेलती थीं, बातचीत को सुनकर जाके चर ने राना से कहा कि "इस समय मीरा किसी से हँसी वार्ता कर रही है।" राना खड्ग लेकर अति चपलता से आया, और बोला कि "खोल किवाड़!" आपने तत्कालही किवाड़ खोल दिये॥

(५६२) टीका। कवित्त। (२५१)

"जाके संग रंगभीजि, करतप्रसंग नाना, कहाँ वह नर गयौ, बेगि दै बताइयै"। "आगे ही बिराजै, कछू तोसों नहीं लाजै, अभूँ देखि सुख साजै, आँखैं खोलि दरसाइयै"॥ भयोई खिसानौ राना, लिख्यौ चित्र भीत मानो, उलटि पयानौ कियौ, नेकु मन आइयै। देख्यौ हूं प्रभाव ऐपै भाव मैं न भिद्यौ जाइ, बिना हरिकृपा कहौ कैसे करि पाइयै॥ ४७७॥ (१५२)

वार्त्तिक तिलक।

राना मीराजी के साथ किसी मनुष्य को न देख पूछने लगा कि "तू जिसके संग रंग भीज के अनेक प्रेम प्रसंग करती रही, सो मनुष्य कहाँ गया? शीघ्र बता;" आपने उत्तर दिया कि "वे पुरुष तुम्हारे आगे ही विराजमान हैं, कुछ तुम से लजानेवाले नहीं; नेत्र खोल देखो, अब भी सब सुख साजते हैं॥"

राना ने देखा तो श्रीगिरिधरजी के हाथ में पासे हैं जोकि चौपड़ में डालने को लिये थे। तब अति लज्जित हुआ, मानों चित्रका लिखा

है । लौटके अपनासा मुँह लिये चला आया, कुछ मन में विस्मित हुआ, पर प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर भी प्रीतिभाव कुछ मन में नहीं पैठा; पैठे कैसे ? विना प्रभु तथा हरिभक्तों की कृपा के भक्तिभाव कोई कैसे पा सकता है ? ॥

(५९३) टीका । कवित्त । (२५०)

बिषई कुटिल एक भेष धरि साधु लियौ, कियौ यों प्रसंग "मोसों अंग संग कीजियै । आज्ञा मोंको दई आप लाल गिरिधारी;" "अहो सीस धरि लई, करि भोजन हूं लीजियै" ॥ संतनि समाज मैं बिछाय सेज बोलि लियौ, "संक अब कौन की निसंक रस भीजियै" । सेत मुख भयौ, बिषैभाव सब गयौ, नयौ पाँयन पै आय, "मोकों भक्तिदान दीजियै" ॥ ४७८ ॥ (१५१)

वार्त्तिक तिलक ।

एक दिन की विचित्र वार्ता सुनिये, एक कुटिल विषई पापी दुष्ट साधु का भेष धारण किये हुए आके आपसे बोला कि "मुझे गिरिधर-लाल ने स्वयं आज्ञा दी है कि "तुम जाके मीरा को पुरुष संग का सुख दो," सो तुम मुझसे अंग संग करो ।" श्रीमीराजी ने उत्तर दिया कि "आज्ञा मेरे सीस पर है, प्रथम आप प्रसाद भोजन तो कर लीजिये, मैं सेवा को उपस्थित हूँ ॥"

आप संतों के समाज के मध्य में सेज बिछवाकर उस विषई से बोलीं कि "आप इस पर्यंक पर सुखपूर्वक बिराजिये और मुझे जो आज्ञा हो; जब प्रभुकी आज्ञा है ही तो अब किसकी शंका है ? आइये निशंक रस रंग में डूब के अंग संग कीजिये ॥"

श्रीमीराजी के वचन सुन उसका मुख फीका पड़गया;

शैर ।

"उसके तो रही न जान तन में । काटो तो लहू न था बदन में ॥"
(नसीम)

विषयभाव तज, आपके चरणों में पड़ गिड़गिड़ाने और कहनेलगा कि "मुझे अब हरिभक्ति दान दीजिये ।" आपने कृपादृष्टि से देख,

उसको हरि सम्मुख कर दिया। सन्तों की मण्डली को श्रीमीराजी के इस आचरण और चरित्र से बड़ा ही हर्ष प्राप्त हुआ; और आपका यश चारों ओर बहुत फैल गया। आपके हृदय में भक्तिप्रवाह के साथ रसमयी कविता का श्रोत भी आ मिला, आपके बहुत पद हैं॥

राना ने आपके मार डालने के लिये सर्प आदि प्रयोग भी किये पर न आप मरीं ही, और न राना की आँखें ही खुलीं॥

(५६४) टीका। कवित्त। (२४६)

रूप की निकाई भूप "अकबर" भाई हिये लिये संग तानसेन देखिबेकों आयो है। निरखि निहाल भयो, छबि गिरिधारीलाल, पद सुखजाल एक, तब ही चढ़ायो है॥ बृन्दाबन आई, जीवगुसाँई जू सों मिलि झिलीं, तिया मुख देखिबे को पन लैं छुटायो है। देखी कुंज कुंज लाल प्यारी सुखपुंज भरी धरी उर माँझ, आय देस, बन गायो है॥ ४७६॥ (१५०)

वार्त्तिक तिलक।

अद्भुत प्रेम और आपके रूप की सुन्दरता सुनके अकबर बादशाह के मन में छटपटी सी लगी; सो एक दिन वह अपना ऐश्वर्य छिपाके तानसेन गायक के साथ आपके दर्शन को आया। श्रीगिरिधरलाल के सहित मीराबाई का सुन्दररूप और भक्ति देख कृतार्थ हुआ। उसी समय तानसेन ने एक नवीन पद रच, गाकर आपको अर्पण किया। फिर आपकी भक्ति की प्रशंसा करते दोनों चले गए। कहते हैं कि एक बहुमूल्य महाप्रभायुक्त हार भक्तभूषणा श्रीमीराजी के करकमलों में गुप्तभेष अकबर ने बड़ी श्रद्धा, नम्रता और आदर से दिया॥

धाम प्रेम से वृन्दावन आईं। "मीरा प्रभु गिरिधर के कारण जग उपहास सहौंगी॥"

प्रशंसा सुन, एक दिन आप श्रीजीवगुसाईंजी के मिलने को गईं, गुसाईंजी ने कहला भेजा कि "मैं स्त्री का मुख नहीं देखता;" श्रीमीराजी ने उत्तर दिला भेजा कि "मैं तो आज तक पुरुष एक श्रीगिरिधरलालजी ही को जानती थी और सब जीवमात्र को स्त्री

समझती थी, परंतु जीवगुसाईंजी दूसरे पुरुष वृन्दावन में बने हुए बैठे हैं कि स्त्री का मुख नहीं देखते। श्रीवृन्दावन तो भगवान् श्रीकृष्णचंद्र का रंगमहल है आप महात्मा विख्यात होते हुये भी यदि अपने तईं भी पुरुष ही मानते हों तो अन्तःपुर में जो आपने यों स्थान रक्खा है इस निडर साहस की सूचना श्रीराधा महारानी के पास अभी अभी क्यों न पहुँचाई जावे सो आप शीघ्र बताने की कृपा कीजिये कि सच ही क्या आप अपने आपको पुरुष मानते हैं॥"

इस प्रकार उत्तर सुन गुसाँईंजी स्वयं चलके अपना पन छोड़, आपके दर्शन किये। दोनों भक्तों ने प्रेम से मिल झिलके परस्पर दर्शन संभाषण सुख लिये; फिर, "सेवा" आदि वृन्दावन के कुंज कुंजन प्रति सुखपुंज राधाकृष्णजी का दर्शनकर शोभा हृदयमें धर, जो देखी थी, सो अपनी अनुभव भावना सब सप्रेम पदों से गान किया॥

राना के यहाँ की उत्पीड़न और उपद्रव से उदासीन हो, गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी की सम्मति पा द्वारिका आईं॥

(५६५) टीका। कवित्त। (२४८)

राना की मलीन मति, देखि, बसी द्वारावति, रति गिरिधारीलाल, नित ही लड़ाइयै। लागी चटपटी भूप भक्ति को सरूप जानि, अति दुख मानि, बिप्र श्रेणी लै पठाइयै॥ बेगि लैकै आवौ मोकों प्रान द जिवावौ अहो गये द्वार धरनौ दै बिनती सुनाइयै। सुनि बिदा होन गई राय रणछोर जू पै छाँड़ौं राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै॥ ४८०॥ (१४६)

वार्त्तिक तिलक।

राना का वैरभाव और मलीनमति देख, आपने द्वारिकाजी में आकर निवास किया "द्वारिका कौ बास हो मोहिं द्वारिका कौ बास॥" नित्य सप्रेम श्रीगिरिधरलालजी को लाड़ लड़ाती थीं॥

उधर राना के चित्तौरगढ़ में बहुत से उपद्रव होने लगे। तब इसने आपकी भक्ति का स्वरूप जाना। दुःखित हुआ, मन में यह चटपटी लगी कि "मीराजी यहाँ आजायँ तो भला।" तब बहुत से ब्राह्मणों

को बुलाकर कहा कि "आप लोग जाकर मीराजी को लिवा लाइये, तो मानों मुझे प्राण जीवन दान दीजिये।" द्वारावती जाके उन ब्राह्मणों ने बहुत भाँति से कहा, परंतु आपके मन में एक न आई। तब ब्राह्मणों ने धरना देकर कहा कि "जब तक नहीं चलोगी तब तक हम अन्न जल नहीं ग्रहण करेंगे॥"

आपने कहा "अच्छा, मैं श्रीरणछोरजी से बिदा हो आऊँ।" आके एक पद बनाके गाया—

"हूँ मुलतजी मैं आपसे मेरी यही है इलतिजा।
चरणों से अपने अब अलग मुझको न दम भर कीजिये॥"
तुम बिनु मेरो और न कोऊ कृपारावरी कीजिये।
"मीरा के प्रभु गिरिधर नागर मिलि बिछुड़न नहिं दीजिये॥"

प्रभु ने सप्रेम प्रार्थना सुन, मीराजी को सदेह अपनी मूर्ति में (प्रायः संवत् १६४५ में) लीन कर लिया। मीराजी का केवल एक वस्त्रमात्र प्रभु के ऊपर रह गया। देखकर सबने "जय जय" कार किया। बाबू कार्त्तिकप्रसादजी ने और श्रीवियोगीजी ने भी आपका संक्षिप्त जीवनचरित्र लिखा है॥

(श्रीकविकीर्त्तन)

"कलियुग मीरा भई गोपिका द्वापर जैसी,
कृष्ण-भक्ति-रस-लीन मीन ह्वै है नहिं ऐसी।
भजि गिरिधरगोपाल जगत सों नातो तोख्यो,
बिमुखन सों मुख मोरि स्याम सों नेहा जोख्यो॥ २७॥"
"राणा ने विष दियो पियो चरनामृत करिकै,
बार न बाँको भयो ध्यान पिय को हिय धरिकै।
लोक-लाज तज प्रगटि संतसँग गाई नाची,
प्रेमबिरह-पद रचे लालगिरिधर-रँग-राची॥ २८॥"

(वियोगीहरि)

श्रीमीराजी के अनन्तर, अकबर ने राना के नगर को ले लिया। यहाँ श्रीमीराबाईजी के उतने ही चरित्र लिखे गये कि जो श्रीप्रियादासजी ने लिखे हैं॥

---

(१५०) श्रीपृथ्वीराजजी।

(५९६) छप्पय। (२४७)

आमेर* अछत कूरम कौं, द्वारिकानाथ दरसन दियौ॥ श्रीकृष्णदास उपदेस, परम तत्त्व परचौ पायौ। निरगुन सगुन निरूप तिमिर अज्ञान नसायौ॥ काछ बाच निकलंक मनौ गांगेय युधिष्ठिर। हरिपूजा प्रहलाद, धर्मध्वज धारी जगपर॥ "पृथीराज" परचौ प्रगट तन संख चक्र मंडित कियौ। आमेर अछत कूरम कौं, द्वारिकानाथ दरसन दियौ॥ ११६॥ (९८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपृथ्वीराजजी कूर्म अर्थात् कछवाह आमेर नगर के राजा को, आमेर ही में श्रीद्वारिकानाथजी ने कृपा करके दर्शन दिया। पयहारी श्रीकृष्णदासजी के उपदेश से आपको परब्रह्म तत्त्व का परचौ, अर्थात् साक्षात्कार ज्ञान, प्राप्त हुआ। श्रीरामजी के निर्गुण और सगुणरूप के निरूपण से गुरु श्रीकृष्णदासजी ने अज्ञानरूपी अंधकार सब नाश कर दिया। आप कच्छ में निःकलंक, अर्थात् स्वपत्नीव्रत जितेन्द्रिय श्रीगांगेय (भीष्मजी) के सरिस; सत्य वचन बोलने में श्रीयुधिष्ठिरजी के तुल्य; श्रीहरिपूजन में प्रह्लादजी के समान और सम्पूर्ण जगत् के लोगों से परे (श्रेष्ठ) धर्म की ध्वजा धारण करनेवाले हुए॥

श्रीपृथ्वीराजजी का यह परिचय प्रगट हुआ कि आमेर ही में द्वारिका के छाप शंख चक्र गदा पद्म के चिह्नों से आपका तन भूषित हुआ॥

(५९७) टीका। कवित्त। (२४६)

पृथीराज राजा चल्यौ द्वारिका श्रीस्वामी संग, अति रस रंग भर्यौ, आज्ञा प्रभु पाई है। सुनिकै दीवान† दुख मानि, निसि कान लग्यो, कही "पग्यौ साधुसेवा भक्ति पुर छाई है॥ देखिय

* "आमेर"=आँबेर पाठान्तर॥ † "दीवान"= دیوان=मुख्य मंत्री, प्रधान॥

निहारि कै बिचार कीजै, इच्छा जोई," "लीजै नहीं साथ, जावौ;" बात लै दुराई है। आयौ भोर भूप हाथ जोरि करि ठाढ़ौ रह्यौ; कह्यौ "रहौ देश;" सो निदेस न सुहाई है ॥ ४८१ ॥ (१४८)

वार्त्तिक तिलक।

आमेर के राजा श्रीपृथ्वीराजजी, स्वामी श्रीकृष्णदासजी की आज्ञा ले साथ साथ द्वारिकाजी चलने को, प्रेमरंग से भरे सन्नद्ध हुए। यह सुन मुख्य मंत्री ने दुःखित हो रात्रि में जाके श्रीस्वामीजी से प्रार्थना की कि "प्रभो! राजा साधु-सेवा में पग रहे हैं और पुरभर में भक्ति छा रही है, इस समय इनके यहाँ से चले जाने से साधु-सेवा में विघ्न होगा आप दिव्यदृष्टि से देख विचारके जो अच्छा हो सो कीजिये।" श्रीपयहारीजी ने कहा कि "तुम अच्छा कहते हो। जाओ, हम उनको साथ नहीं ले जायँगे॥"

श्रीस्वामीजी ने मंत्री की बात छिपा रक्खी; प्रातःकाल राजा आके स्वामीजी के आगे चलने के लिये हाथ जोड़ खड़े हुए; आपने आज्ञा दी कि "तुम यहाँ ही नगर में रहो, साधु-सेवा करो॥"

सुनके राजा को आज्ञा प्रिय न लगी॥

(५६८) टीका। कवित्त। (२४५)

"द्वारावतीनाथ देखि, गोमती स्नान करौं, धरौं भुज छाप," आप मन अभिलाखियै। "चिन्ता जिनि कीजै तीनों बात इहाँ लीजै अजू;" दीजै जोई आज्ञा सोई सिर धरि राखियै॥ आये पहुँचाय दूर, नैनजल पूर बहै, दहै उर भारी, "कहाँ संग रस चाखियै?"। बीते दिन दोय, निसि रहे हुते सोय, भोइ गई भक्ति गिरा आय बानी मधु भाखियै॥ ४८२ ॥ (१४७)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामीजी से राजा ने प्रार्थना की कि श्रीद्वारिकानाथ के दर्शनकर गोमती स्नान करूँगा, और भुजाओं में शंखचक्रादिक छाप लूँगा, आप कृपाकर मुझे साथ ले चलने की इच्छा करिये। आपने उत्तर दिया "तुम चिंता मत करो; दर्शन, स्नान, छाप, तीनों यहाँ ही लो।" सुनकर राजा ने कहा "जो आपकी आज्ञा है सो सीसपर रखता हूँ॥"

स्वामीजी ने द्वारिका को यात्रा किया, आप बहुत लम्बे तक पहुँचाके लौट आये। नेत्रों में प्रेमजल की धारा बहने लगी, हृदय में बड़ा अनुताप हुआ। मन में विचारने लगे कि स्वामीजी के साथ का सुख मुझ मंद-भागी को न मिला, इस अनुताप से दो दिवस बीते तीसरी रात्रि में सोने लगे; श्रीकृष्णदासजी की भक्तियुक्त वाक्य श्रीद्वारिकाधीशजी के मन में व्याप्त हो गई, इससे साक्षात् आके राजा से मधुर वाणी बोले॥

(५९९) टीका। कवित्त। (२४४)

"अहो पृथीराज" कही, स्वामी ही सी बानी लही, आयौ उठि दौरि वाही ठौर प्रभु देखे हैं। घून्यौ कह्यौ कान धरौ, गोमती स्नान करौ, सुनि कै अन्हायो, पुनि वे न कहूँ पेखे हैं॥ संख चक्र आदि छाप तन सब व्यापगई, भई यों अबार रानी आय अवरेखे हैं। बोले "रह्यौ नीर में सरीर, लै सनाथ कीजै, लीजै नाथ हियै," निज भाग करि लेखे हैं॥ ४८३॥ (१४६)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभु ने श्रीकृष्णदासजी कीसी ही वाणी से पुकारा कि "ऐ पृथ्वी-राज!" राजा सुनके उठे और दौड़के वहाँ ही आये; देखें तो श्रीद्वारिका-नाथजी खड़े हैं; प्रदक्षिणा कर साष्टांग प्रणाम किया। प्रभु ने आज्ञा दी कि "कानों को मूँद गोमतीजी में स्नान करो॥"

आज्ञा सुन राजा ने प्रत्यक्ष श्रीगोमतीजी में स्नान किया, फिर प्रभु अंतर्द्धान हो गये। उनको न देखा और शंखचक्र आदिक छापें राजा के तन में सब अंकित हो गईं॥

उठने में कुछ विलंब देख रानी ने आ देखा; आपने कहा कि "मैं गोमती के जल में रहा हूँ, मेरे शरीर और वस्त्रों का जल लेकर तुम भी स्पर्श करके अपने शरीर को सनाथ कर लो॥" (कोई कहते हैं कि गोमती ही जी प्रत्यक्ष थीं उसी में रानी को स्नान कराया) और कहा कि "हृदय में द्वारिकानाथजी का ध्यान भी कर लो;" रानी ने वैसा ही कर अपने बड़े भाग माने॥

(६००) टीका । कवित्त । (२४३)

भयौ जब भोर, पुर बड़ौ भक्ति सोर पर्यौ, कर्यौ आनि दरसन भई भीर भारी है । आये बहु संत, औ महंत बड़े बड़े धाये, अति सुख पाये, देह रचना निहारी है ॥ नाना भेंट आवैं, हित महिमा सुनावैं, राजा सुनत लजावैं, जानी कृपा बनवारी है । मंदिर करायौ, प्रभुरूप पधरायौ, सब जग जस गायौ, कथा मोको लागी प्यारी है ॥ ४८४ ॥ (१४५)

वार्त्तिक तिलक ।

जब प्रभात में राजा बाहर आये, और सब लोगों ने शंख चक्रादि मुद्रा दोनों बाहु में देखे, तब तो नगर भर में आप की भक्ति का बड़ा धूम मच गया; सब दर्शन के लिये आये, बड़ी भारी भीड़ हुई; पुर में और पुर के समीप जितने बड़े बड़े भारी संत महंत थे, सब दौड़ आये। आपके देह की रचना देख अति सुखी हुए । भले लोग अनेक प्रकार की भेंट लाते हैं, कोई आपकी भक्ति की महिमा गाते हैं; राजा सुन लज्जित होकर श्रीवनमाली प्रभु की कृपा विचारते हैं । तदनंतर राजाजी बड़ा भारी मंदिर बनवा प्रभु को पधराके सप्रेम पूजा भजन में तत्पर हुए । सम्पूर्ण जगत् के लोग आपका यश गान करते थे, श्रीपृथ्वीराजजी की यह कथा मुझे बड़ी प्यारी लगी है ॥

(६०१) टीका । कवित्त । (२४२)

बिप्र दृगहीन सो अनाथ, बैजनाथद्वार पर्यौ, चख चाहै, मास केतिक बिहाने हैं । आज्ञा बार दोय चार भई "ये न फेरि होहिं," याको हठसार देखि शिव पिघलाने हैं ॥ "पृथ्वीराज" अंग के अँगोछा सों अँगोछौ जाय, आयकै सुनाई द्विज गौरव डराने हैं। नयौ मँगवाय तन छ्वाय दियौ छ्वायौ नैन खुले चैन भयौ जन लखि सरसाने हैं ॥ ४८५ ॥ (१४४)

वार्त्तिक तिलक ।

एक समय एक अंधा अनाथ ब्राह्मण श्रीवैद्यनाथ महादेवजी के द्वार पर नेत्र प्राप्ति के लिये जा पड़ा; कई मास व्यतीत हो गये स्वप्न में (वा समीपियों के द्वारा) शिवजी ने दो चार बार आज्ञा दी

कि "ये नेत्र फूटने पर फिर ज्योतियुक्त नहीं होनेके" परंतु ब्राह्मण ने बड़ा हठ किया। उसके हठ का सारांश देख, शिवजी ने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि "जाओ, श्रीरामभक्त पृथ्वीराज के अंग पोंछने के अँगोछे से नेत्रों को पोंछो, खुल जायँगे॥"

आकर उस ब्राह्मण ने वृत्तान्त आपसे कहा। प्रथम तो आप ब्राह्मण के गौरव से अपने अंग पोंछने का वस्त्र देने में डरे। तथापि नवीन वस्त्र मँगा, अपने अंग में छुला, विप्र को दिया। ब्राह्मणजी ने आँखें पोंछीं; तत्काल नेत्र खुल गये। ब्राह्मणजी सुखी हुए। भक्ति की महिमा जानी। सब लोग यह कौतुक देख पृथ्वीराज के प्रभाव से सरस हो, जयजयकार करने लगे। पृथ्वीराज की भक्ति की जय॥

(६०२) छप्पय। (२४१)

भक्तनि कौ आदर अधिक, राजबंश में इन कियौ॥ लघु[१], मथुरा; मेरता भक्त अति जैमल[२] पोषे। टोड़े भजन निधान रामचंद्र[३] हरिजन तोषे॥ अभैराम[४] एक रसहिं नेम नीवाँ[५] के भारी। करमसी, सुरतान, भगवान[६], बीरम[७] भूपति व्रतधारी॥ ईश्वर[८], अखैराज[९], रायमल[१०], कन्हर[११], मधुकर[१२] नृप, सरबसु दियौ। भक्तनि कौ आदर अधिक, राजबंश में इन कियौ॥ ११७॥ (६७)

वार्त्तिक तिलक।

राजवंशियों में इतने राजाओं ने भगवद्भक्तों का अति आदर सेवा सत्कार किया॥

मथुरा में श्रीलघुजनजी, मेरता में श्रीजयमलजी ने भक्तों को अति पोषण किया। टोड़े में भजननिधान श्रीरामचन्द्रजनजी ने हरिजनों का अति संतोष किया। श्रीनीवाँजी ने तथा श्रीअभयरामजी ने साधुसेवा का भारी नेम एकरस निबाहा। करमसी में श्रीभगवान्जी, और सुरतान में बीरमजी, ये दोनों भूप साधुसेवाव्रत धारण करनेवाले हुए। श्रीईश्वरजी, श्रीअक्षयराजजी, श्रीरायमलजी, श्रीकान्हरजी,

श्रीमधुकरसाहजी, इन राजाओं ने भगवद्भक्तों को अपना सर्वस्व दिया और जग में यश लिया॥

१ श्रीलघुजनजी	७ श्रीबीरमजी
२ श्रीजयमलजी	८ श्रीईश्वरजी
३ श्रीरामचन्द्रजनजी	९ श्रीअक्षयराजजी
४ श्रीनीवांजी	१० श्रीरायमलजी
५ श्रीअभयरामजी	११ श्रीकान्हरजी
६ श्रीभगवान्‌जी	१२ श्रीमधुकरसाहजी

श्रीसीतारामीय मुंशी तपस्वीरामजी ने लिखा है कि किसी वृद्ध भक्तमाली तथा शुद्ध भक्तमाल की प्रति के न मिलने से "नामों का ठीक पता लगाना बड़ा ही कठिन है।" श्रीराधाकृष्णदासजी ने भी लिखा है कि "खेद का विषय है कि मुझे श्रीहरिश्चन्द्र जी की लाइब्रेरी में और काशी-नागरीप्रचारिणी सभा में भी कोई शुद्ध प्रति इसकी (नाभाजी कृत भक्तमाल की) नहीं मिली" इससे नामों के पता लगाने में बहुत कुछ कठिनता पड़ी। श्रीराधाकृष्णदासजी ने (१) "व्यासजी की वाणी" से छब्बीस २६, (२) "भगवत्‌रसिकजी की भक्तनामावली" से एकसौ उनतीस १२९, (३) "मलूकदासजी के ज्ञानबोध" से छयासठ ६६, (४) "नागरीदास के पद प्रसंगमाला" से छत्तीस ३६, और (५) "ध्रुवदासजी की भक्तनामावली" से एकसौ बाईस १२२ नामों की नामावलियाँ लिखी है इसके लिये धन्यवाद देता हूँ। पर उन्होंने भी श्रीभक्तमाल की नामावली नहीं ही लिखी॥

(१५१) श्रीजयमलजी *।

(६०३) टीका। कवित्त। (२४०)

मेरतें बसत भूप, भक्तिकौ स्वरूप जानै, जैंमल अनूप जाकी कथा कहि आये हैं। करी साधुसेवा रीति प्रीति की प्रतीति भई नई एक सुनौ हरि कैसेकै लड़ाये हैं॥ नीचे मानि मंदिर सो सुंदर बिचारी बात, छात पर बंगला कै चित्र लै बनाये हैं। बिबिधि बिछौना सेज राजत उढ़ौना पानदान धरि सौना जरी परदा सिवाये हैं॥ ४८६॥ (१४३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमीराबाईजी के भाई श्रीजयमलजी राजा मेरते (मीरथ) में बसते, भक्ति का अनूप रूप जानते थे, जिनकी कथा प्रथम

---

* कहते हैं कि श्रीजयमलजी श्रीमीराबाईजी के छोटे भाई थे। इन्होंने मीरथ (मेरठ) नगर को छोटी मथुरा ही बना रक्खा था॥

(कवित्त २३१ में) कह आये हैं। उनकी संतों में प्रतीति हुई इस लिये रीति प्रीति से सेवा की। अब जिस प्रकार से श्रीहरि को लाड़ लड़ाया सो नवीन वार्ता सुनिये। मन्दिर में प्रभु की सेवा पूजा होती थी; परंतु इसको नीचा मान एक सुन्दर बात विचार, ऊपर छत पर बड़ा विचित्र बँगला बनवाया। उसमें चँदोवा, दिव्य सेज, सुन्दर तकिये, बिछौना, ओढ़ना आदिक सज सजाके, सुन्दर जड़ाऊ सुवर्ण के पानदान, इत्रदान आदिक सामग्री सब रख, जरी के परदे द्वारों में लगवाये, भली भांति सजवाया रचना कराया॥

(६०४) टीका। कवित्त। (२३६)

ताकी दारु सीढ़ी, करि रचना, उतारि धरैं, भरैं दूरि चौकी, आप भाव स्वच्छताई है। मानसी बिचारैं "लाल सेज पग धारैं, पान खात लैं, उगार डारैं, पौढ़े सुखदाई है॥ तिया हूं न भेद जानै, सो निसेनी धरी वानैं, देखैं को किशोर सोयौ फिरी भोर आई है। पति कों सुनाई, भई अति मन भाई, वाकों खीझि डरपाई, जानी भाग अधिकाई है॥ ४८७॥ (१४२)

वार्त्तिक तिलक।

उस सदन में चढ़ने के लिये केवल काठ की सीढ़ी रक्खी। अपने हाथों सब रचना कर फिर सीढ़ी पृथक् धर देते थे। आपके मन में भावना की निर्मलता थी। इससे अलग चौकी दिया करते। यह मानसी भावना ध्यान करते थे कि "श्रीलालजी सेज पर पधारते हैं, पान खाते हैं, फिर पीकदान में उगाल डाल देते हैं। भक्तों के सुखदाता शयन करते हैं॥"

इस भेद को आपकी स्त्री भी नहीं जानती थी। एक रात वही काठ वाली सीढ़ी लगाकर चढ़के उसने झांक के देखा तो उस सेजपर कोई किशोर श्यामसुन्दर सो रहे हैं। लौट आई फिर प्रभात आके अपने पति जयमलजी को वह वार्ता सुनाई। आपने सुनके सुखपूर्वक अपना मनोरथ पूर्ण माना और ऊपर से स्त्री को रिसाके डरवाया कि "साव- धान, सुनो, अब ऐसा कभी न करना" पर हृदय में उसका भाग अधिक जाना कि "धन्य है यह जिसने श्रीप्रभु के साक्षात् दर्शन

पाये।" भावना हो तो ऐसी दृढ़ हो । सेवा हो तो यों छोड़कर। आपके अष्टयाम की जय, आपके मानसी भावना की जय ॥

(१५२) श्रीमधुकर साहजी।

(६०५) टीका। कवित्त। (२३८)

मधुकरसाह, नाम कियौ लैं सफल जातें, भेष गुनसार अहै, तजत असार है। "ओडछे" कौ भूप, भक्त भूप, सुखरूप भयौ, लयौ पनभारी जाके और न बिचार है ॥ कंठी धरि आवै कोय, धोय पग, पीवै सदा, भाई दूखि, खर गर डार्यौ मालभार है। पाँय परछाल, कही "आज जू निहाल किये," हिये द्रये दुष्ट पाँव गहे दृगधार है ॥ ४८८ ॥ (१४१)

वार्त्तिक तिलक।

"श्रीमधुकरसाह" जी, नाम देश बुँदेलखण्ड ओड़छा (टीकमगढ़) नगर के राजा, भक्तराज हुए। अपने नाम का गुण यथार्थ दिखा दिया अर्थात् जैसे मधुकर (भ्रमर) ऊँचे नीचे सब फूलों का सार रस और सुगंध ही मात्र लेता है, ऐसे ही ऊँचे नीचे कोई शरीर में हरिभक्त का वेष देख वही सार ग्रहण करते थे, जाति पक्ष नहीं। जो कोई कंठी तिलक धारण कर आवैं उसी का चरण धोके चरणामृत लेते परिक्रमा दण्डवत् करते थे। आपका ऐसा व्रत भारी था ॥

यह देख आपके भाइयों को अच्छा नहीं लगता था; दुष्टों ने एक दिवस एक गधे के तिलक कर, बहुत से माला पहनाय, आपके निवास की ओर कर दिया। आप देखते ही उस गर्दभ का चरण धो, चरणामृत ले, उसको भोजन कराया, और बोले "आज मैं कृतार्थ हुआ कि गर्दभ भी कंठी तिलक धारणकर मेरे घर आते हैं ॥"

दो० "भूतल में अबलौं मिले, द्वै पद के बहु संत।
चारि चरन के आज ही, देख्यों संत लसंत ॥ १ ॥"

दुष्ट सब आपकी निष्ठा देखकर नेत्रों में प्रेमजल भर चरणों पर पड़े और हरिसम्मुख हुए ॥

(१५३) राठौर श्रीखेमालरत्नजी।

(६०६) छप्पय। (२३७)

खेमालरतन राठौर के, अटल भक्ति आई सदन॥ "रैना[2]" पर गुण राम भजन भागौत उजागर। प्रेमी परम "किशोर[3]" उदर राजा रतनाकर॥ हरिदासनके दास, दसा ऊँची, ध्वज धारी। निर्भै,* अननि, उदार, रसिक, जस रसना भारी॥ दशधा संपति, संत बल, सदारहत प्रफुलित बदन। खेमालरतन राठौर के, अटल भक्ति आई सदन॥ ११८॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक।

छत्री राठौर श्रीखेमालरत्नजी के घर में, अटल (अचल) भगवद्भक्ति ने आके निवास किया। श्रीखेमालरत्नजी के पुत्र रामरयनजी श्रीराम-गुणश्रवण और भजन में परायण परम उजागर भागवत हुए। श्रीराम-रयनजी के पुत्र "किशोरसिंहजी" परम प्रेमी ऐसे शुभ गुणयुक्त हृदय-वाले शोभित हुए कि मानों रत्नाकर (समुद्र) हैं। ये तीनों भक्त श्रीहरिदास संतों के परम दास और उत्तम दशावाले हुए। साधुसेवारूपी कीर्ति की ऊँची ध्वजा गाड़के फहरा दिये; भक्तिमार्ग में निर्भय, अनन्य, और उदार होते श्रीरसिकराज प्रभु के यश रसना से अतिशय गान किये। संतों के बल से, दशधा कहिये प्रेमाभक्ति संपत्ति से युक्त, सदा सानन्द प्रफुल्लित मुख रहते थे॥

(१५४) राजा श्रीरामरयनजी।

(६०७) छप्पय। (२३६)

कलिजुग, भक्ति करारी कमान, "रामरैन" कैं रिजु करी॥ अजर, धर्म आचर्यौ, लोक हित मनों नील

* निर्भय, अनन्य॥

कँठ। निंदक जग अनिराय कहा महिमा जानैगो भूसठ॥ बिदित गांधर्वी ब्याह कियौ दुसकंत प्रमानै। भरत पुत्र भागौत सुमुख शुकदेव बखानै॥ और भूप कोउ छ्वै सकै, दृष्टि जाय नाहिन धरी। कलिजुग भक्ति कररी*कमान†"रामरैन" कैं रिजुकरी॥११६॥ (६५)

वार्त्तिक तिलक।

कलियुग में किसी से न चढ़नेवाले कठोर धनुष (कमान) सरीखा अनुराग (भक्ति) को श्रीरामरयनजी ने सरलता से चढ़ा लिया; कभी जीर्ण न होनेवाला जो भगवद्धर्म सो आचरण किया; सब लोगों के हितकार करने में नीलकंठ (शिवजी) के समान श्रीरामभक्ति और लोक संपत्ति दोनों देनेवाले थे। और जगत् में दुर्मतिवाला निंदक भूसठ (कुत्ता) आपकी महिमा को कैसे जान सकता है? आपने लीलास्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र से अपनी कन्या का गांधर्व विवाह इस प्रकार कर दिया कि जैसे दुष्यंत राजा और शकुंतला का गांधर्व विवाह विदित भागवत में प्रमाण है। जिन दोनों से भरत नाम का पुत्र हुआ सो भागवत में शुकदेवजी ने बखान किया है, भला इस करनी को कोई राजा कैसे छू सकता है वरंच दृष्टि से देख भी नहीं सकता इस प्रकार कठिन भक्ति, आपने सरलता से की॥

(६०८) टीका। कवित्त। (२३५)

पूनो में प्रकास भयौ सरद समाज रास बिबिधि बिलास नृत्य राग रंग भारी है। बैठे रस भीजे दोऊ, बोल्यौ राम राजा रीझि, भेंट कहा कीजै बिप्र कही जोई प्यारी है॥ प्यार को बिचारै न निहारै कहूँ नैकु छटा, सुता रूपघटा अनुरूप सेवा ज्यारी है। रही सभा सोचि, आप जाय कै लिवाय ल्याये, भेष सों दिवाये फेरे, संपत लै वारी है॥ ४८६॥ (१४०)

वार्त्तिक तिलक।

आपके लीलानुकरण निष्ठा भी बड़ी थी। आश्विन मास की

* कररी=कड़ी। † कमान=كمان=धनुष॥

शरद पूर्णमासी के समाज में रासलीला हुई; उसमें विविध प्रकार विलास नाच गान का भारी रंग बढ़ा; फिर दोऊ प्रिया प्रीतम प्रेमरस से भीगे विराजमान हुए। तब राजा रामरयन ने अपने समीपियों से पूछा कि "प्रभु को भेंट क्या करना चाहिये?" सुनके एक अनुरागी ब्राह्मण बोले कि "जो आपको प्यारी वस्तु होवे सो भेंट कीजिये।" तब, राजा अपना प्रियत्व विचारने लगे, किसी वस्तु में थोड़ी भी प्रियता न देखी; रूप के घटा के समान आपकी एक कन्या थी उसमें अपना प्रियत्व जान, सेवा के अनुरूप मान, देने के लिये निश्चय किया। सब सभा सोच विचार कर रही थी कि "ये क्या भेंट करेंगे?" आप स्वयं जाके वस्त्र भूषणों से शृंगार करा, लाके लीला स्वरूप प्रभु को सुता का हाथ पकड़ा के अर्पण कर दिया। फिर जो श्रीहरि भेष धारण किए लीला स्वरूप थे उन्ही के साथ फेरे (भाँवरी) भी दिवाए, और धन संपत्ति इतना दिया कि जो जन्म भर योग्य भोग करने में न चुके॥

---

(१५५) श्रीरामरयनजी की धर्मपत्नी।

(६०६) छप्पय। (२३४)

हरि, गुरु, हरिदासनि सों, रामघरनि सांची रही॥ आरज को उपदेश सुतो उर नीके धार्यो। नवधा, दशधा, प्रीति, आन धर्म सबै बिसार्यो॥ अच्युत कुल अनुराग प्रगट पुरषारथ जान्यो। सारासार-बिबेक, बात तीनो मन मान्यो॥ दासत्व, अनन्य, उदारता, संतनि मुख, राजा कही। हरि, गुरु, हरिदासनि सों, रामघरनि सांची रही॥ १२०॥ (६४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरि, और श्रीगुरु तथा श्रीहरिभक्तों से, श्री "रामरयनजी" की स्त्री सच्ची प्रीतियुक्त रहीं। आर्य्य (श्रेष्ठ) जनों का उपदेश हृदय में

भले प्रकार धारण किया। "नवधा" और "दशधा" (प्रेमा) भक्तियों में प्रीति कर और सब कर्म धर्म भुला दिये। अच्युत कुल वैष्णवों में प्रेम करना ही परम पुरुषार्थ जाना; और सार असार का विवेक भी यथार्थ हुआ। श्रीयुगलसर्कार की दास्यता, तथा अनन्यता, और संतसेवा में उदारता, ये तीनों वार्ताएँ, भक्तिवतीजी को अति प्रिय लगती थीं। उसका सुयश संत लोग और स्वयं राजा (उनके पति ही) अपने मुख से कहा करते थे॥

(६१०) टीका। कवित्त। (२३३)

आये मधुपुरी राजाराम अभिराम दोऊ, दाम पै न राख्यौ, साधु बिप्र भुगताये हैं। ऐसे ये उदार राहखरच * सँभार नाहिं, चलिबो बिचार भयौ चूरा दीठ आये हैं॥ मुद्रा सत पाँच मोल खोलि तिया आगे धरै, दीजै बेचि गए नाभा कर पहिराये हैं। पति को बुलाइ कही नीके देखि रीझै भीजे काढ़िकै करज † पुर आये दै पठाये हैं॥ ४६०॥ (१३६)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय राजा रामरयन अपनी धर्मपत्नी के सहित श्रीमथुराजी में आके कुछ दिन रहे। पास में जो कुछ द्रव्य था, सो सब साधु ब्राह्मणों को दे दिया; ऐसे उदार थे कि मार्ग के लिये कुछ भी न रक्खा॥

अपने पुर में चलने का विचार हुआ; तो आपकी धर्मपत्नी के हाथों में कड़े दृष्टि पड़े; सो उन्होंने उतारके दे दिया। कहा कि "इनको बेच दीजिये।" पाँचसौ रुपये के मोल के थे। आप लेकर आये, श्रीनाभास्वामीजी के करकमल में पहना दिये। वह भक्तिवती देख अति प्रसन्न हो पति को बुलाके कहने लगी "आपने बहुत ही अच्छा किया, मैं देखकर अतिप्रसन्न हुई। यह सुन, आप भी प्रेम से भीज गये; फिर ऋण द्रव्य लेकर अपने पुर में आये, और वह द्रव्य अपने वहाँ से श्रीमथुराजी भेज दिया॥

* "राह खरच"=راه خرچ=पन्थ में व्यय के अर्थ धन, राहख़र्च। † "करज़"=قرض ऋण, क़र्ज़॥

(१५६) राजकुमार श्रीकिशोरसिंहजी॥

(६११) छप्पय। (२३२)

अभिलाष उभै खेमाल का, ते किशोर पूरा किया॥ पाँयनि नूपुर बाँधि नृत्य नगधर हित नाच्यौ। राम कलस मन रली सीस तातें नहिं बाँच्यौ॥ बानी बिमल उदार, भक्ति महिमा बिसतारी। प्रेम पुंज सुठि सील बिनय संतनि रुचिकारी॥ सृष्टि सराहै रामसुव, लघु बैस लछन आरज लिया। अभिलाष उभै खेमाल का, ते किशोर पूरा किया॥१२१॥ (६३)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "खेमालरत्नजी" के शरीर त्याग समय दो अभिलाष थे; सो उन दोनों को आपके पौत्र (पोते) श्रीकिशोरजी ने पूर्ण किया॥

अपने चरणों में नूपुर बाँध, श्रीगिरिधरजी की प्रसन्नता हेतु नृत्य करते* और श्रीरामजी के पूजन हेतु मन लगाके कलश में जल स्वयं लाया करते थे। एक दिन भी उस कलश से आपका सीस नहीं बचा; और छन्दबद्ध विमल वाणी से श्रीभक्ति की उदार महिमा विस्तारपूर्वक आपने गान किया। आप प्रेमपुंज, अतिशय शीलवान्, विनय सम्पन्न थे, और सदा संतों की रुचि से चलते थे। सम्पूर्ण सृष्टि के लोग सराहते थे कि श्रीरामरयनजी के पुत्र ने थोड़ी ही अवस्था में श्रेष्ठ (सयाने) जनों के सब लक्षण धारण कर लिये और सदा उसका निर्वाह किया॥

दो० "निर्बाह्यो नीके सबै, सुन्दर भजन को नेम।
मोह छाँड़ि अभिमान सब, भक्तन सों अतिप्रेम॥ १॥"

* नृत्य, नगधर (श्रीकृष्ण) जी के हित; और कलश, श्रीरामजी के हित; कहने का हेतु। ये राजा, पयहारी श्रीकृष्णदासजी. श्रीकीलदासजी, श्रीअग्रस्वामीजी के शिष्य श्रीरामोपासक थे, परन्तु वृन्दावन की समीपता से श्रीकृष्णजी में भी अति प्रीति रखते थे॥

(६१२) टीका। कवित्त। (२३१)

खेमालरतन तन त्याग समै अश्रुपात, बात सुत पूछै अजू नीकें खोलि दीजियै। कीजै पुण्य दान बहु, संपति अमान भरी, धरी हियें दोई सोई कहा सुनि लीजियै॥ बिबिधि बड़ाई में समाई मति भई पै न नितही बिचार अब मन पर खीजियै। नीर भरि घट सीस धरिकै न ल्यायौ और नूपुर न बाँधि नृत्य कियौ नाहिं छीजियै॥४६१॥(१३८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीखेमालरत्नजी शरीरत्याग के समय श्रीप्रभुकृपा से थे तो बड़े सावधान, परंतु अश्रुपात बहुत होते थे। देखके आपके पुत्र रामरयनजी पूछने लगे कि "आप खोलके कहिये किस बात का दुःख है? जो आज्ञा हो सो पुण्य दान करें, असंख्य द्रव्य भरी धरी है।" आप बोले "हमारी दो अभिलाषाएँ हैं सो सुनो; राजसी विविध बड़ाई में हमारी मति लीन थी इससे दोनों बातें नित्य ही विचारते ही रहे, परंतु हुई नहीं, इसलिये अब हम मन पर खीझ दुःख सहते हैं, एक तो यह कि प्रभु के पूजनहेतु जल भर माथे पर घट धर, न लाये; दूसरी पग में नूपुर बाँध प्रभु के आगे नृत्य न किया, और शरीर अब छूटता है!"

(६१३) टीका। कवित्त। (२३०)

रहे चुपचाप सबै जानी काम आप ही कौ, बोल्यौ यों किशोर नाती आज्ञा मोकों दीजियै। यही नित करौं नहीं टरौं जौलौं जीवैं तन मन में हुलास उठि, छाती लाय लीजियै॥ बहु सुख पाये, पाये वैसे ही निबाहे पन, गाये गुन लाल प्यारी अति मति भीजियै। भक्ति बिसतार कियौ बैस लघु भीज्यौ हियौ, दियौ सनमान संत सभा सब रीझियै॥ ४६२॥(१३७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीखेमालरत्नजी के वचन सुन पुत्रादिक सब कोई चुप हो रहे यह जान कि "यह तो आप ही का काम था, हमारा नहीं" परन्तु आपके नाती (पोता) श्रीकिशोरसिंहजी, उठ खड़े हो, हाथ जोड़ बोले "मुझको आज्ञा हो, दोनों नित्य नियम से जब तक जीऊँगा, तब तक श्रीहरिकृपा से बड़े हुलास से करूँगा॥"

पौत्र की प्रेमप्रतिज्ञा सुन श्रीखेमालरत्नजी ने उठके छाती से लगाया, अत्यंत सुख को प्राप्त हुए। तदनंतर शरीर त्यागि प्रभु को प्राप्त हुए। श्रीकिशोरजी ने वैसा ही पन को निबाहा, श्रीयुगल सर्कार के गुण गान करते प्रेम में मति भीग गई, भक्ति को विस्तार किया॥

थोड़ी ही अवस्था में अनुराग से हृदय छक गया, आपकी दशा देख देख सन्तों के समाज रीझके बड़ा सम्मान किया करते थे॥ श्रीकिशोरसिंह की जय॥

(६१४) छप्पय। (२२६)

खेमालरतन राठौर कै, सुफल बेलि मीठी फली। हरीदास हरिभक्त भक्ति मंदिर कौ कलसौ। भजन भाव परिपक्क, हृदै भागीरथि जल सौ॥ त्रिधा भाँति अति अनन्य राम की रीति निबाही। हरि गुरु हरि बल भाँति तिनहि सेवा दृढ़ साही॥ पूरन इन्दु प्रमुदित उदधि, त्यों दास देखि बाढ़ै रली। खेमालरतन राठौर कैं, सुफल बेलि मीठी फली॥ १२२ *॥ (९२)

वार्त्तिक तिलक।

राठौर श्रीखेमालरत्नजी की मनोरथ बेलि, भक्तिभूमि में अति मिष्ट फल फली; श्रीहरिजी के और हरिदासों के ऐसे भक्त (इनके सन्तान) हुए कि श्रीहरिनिवास भक्तिरूपी मन्दिर के मानो कलश हैं। भजन और भावना से परिपक्क हृदय ऐसा निर्मल हुआ कि मानो गंगाजी का जल है; मन वचन कर्म तीनों से प्रभु में अनन्य होकर श्रीरामरयनजी की रीति का निर्वाह किया। श्रीहरिरूपी गुरु का बल आपको श्रीहरि ही के समान था, दोनों की दृढ़ सेवा राजऐश्वर्य से की और

* कोई महात्मा कहते हैं कि यह छप्पय राजकुमार श्रीकिशोरसिंहजी ही के वर्णन में है और कोई ऐसा भी कहते हैं कि यह वर्णन श्रीखेमालजी के पोते (रामरयनजी के भतीजे, वा किशोरजी के छोटे भाई) नाम श्रीहरिदासजी का है। सब बात युक्त है, आपके संतान ही का यश है॥

जैसे पूर्णचन्द्र को देख सानंदित समुद्र बढ़ै, इसी प्रकार भगवद्दासों को देख मिलके आप आनन्द से बढ़ते थे ॥

(१५८) श्रीचतुर्भुजजी (कीर्त्तननिष्ठ)

(६१५) छप्पय। (२२८)

(श्री) "हरिबंश" चरनबल "चतुरभुज," "गौंड़" देश तीरथ कियौ ॥ गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायौ। राधाबल्लभ भजन अनन्यता बर्ग बढायौ ॥ "मुरलीधर" की छाप कबित अति ही निर्दूषन। भक्तनि की अँघ्रिरेनु वहै धारी सिरभूषन ॥ सतसंग महाआनन्द मैं, प्रेम रहत भीज्यौ हियौ। (श्री) "हरिबंश" चरनबल "चतुरभुज," "गौंड़" देश तीरथ कियौ ॥ १२३ ॥ (९१)

वार्त्तिक तिलक।

अपने गुरु श्रीहितहरिवंशजी के चरणों के बल से, श्रीचतुर्भुजजी ने "गोंड़वाना देश" अधम को, तीर्थ समान पवित्र कर दिया। श्रीभक्ति का प्रताप भले प्रकार गान कर वहाँ के सब जीवों को श्रीहरिदासता दृढ़ा दी और श्रीराधावल्लभजी के भजन अनन्यता का परिवार अतिशय बढ़ाया; अपनी कविता में "मुरलीधर" की छाप रखते थे; आपका कवित्त अति ही निर्दूषण होता था, भगवद्भक्तों के चरणों की रेणु आपके भाल का भषण थी। सत्संग में, महाआनन्द देनेवाले प्रभु के प्रेम से, आपका हृदय भीगा रहता था ॥

कविता की बानगी लीजिये।

(छप्पय) "श्वपच पहिरि जज्ञोपवीत, कर कुशनि गहत जब। करम करै अघ परै डरै पुनि बिश्व त्रास तब ॥ पुनि ललाट पट तिलक देय तुलसीमाला धरि। हरिके गुन उच्चरै पाप कुल कर्महि परिहरि ॥ चतुर्भुज पुनीत अंत्यज भयौ मुरलीधर सरनौ लियौ। तोंह पाछे किन लागियै जिन लोह पलटि कंचन कियौ ॥"

दो० "हरिबंश, नाम 'ध्रुव' कहत ही, बाढ़ै आनँदबेलि ।
प्रेमरँगी उर जगमगै, नवल जुगलबर केलि ॥ १ ॥
निगम ब्रह्म परसत नहीं, सो रस सब ते दूरि ।
कियौ प्रगट हरिवंशजी, रसिकनि जीवनिमूरि ॥ २ ॥"

(६१६) टीका । कवित्त । (२२७)

गोंड़वाने देश, भक्ति लेसहूँ न देख्यौ कहूँ, मानुस कों मारि इष्टदेव कों चढ़ायौ है । तहाँ जाय देवता के मंत्र लै सुनायौ कान, लियौ उन मानि, गाँव सुपन सुनायौ है ॥ "स्वामी चतुर्भुजजू के बेगि तुम दास होहु, नातौ होय नास सब" गाँव भज्यौ आयौ है । ऐसे शिष्य किये, माला कंठी पाय जिये, पाँव लिये, मन दिये, औ अनंत सुख पायौ है ॥ ४६३ ॥ (१३६)

वार्त्तिक तिलक ।

दक्षिण नर्मदा के निकट "गोंड़वाने" देश में श्रीचतुर्भुजजी ने कहीं भक्ति का लेश भी न पाया, और दुष्टता ऐसी देखी कि वहाँ के लोग मनुष्य को मार अपनी इष्ट देवता काली को चढ़ाया करते थे । वहाँ जाके उस देवता के कान में आपने भगवत्‌मंत्र सुनाया । देवता ने श्रद्धापूर्वक मंत्र ग्रहण कर उस ग्राम के सब लोगों को स्वप्न में शिक्षा की कि "तुम सब शीघ्र स्वामी श्रीचतुर्भुजजी के दास (शिष्य) हो जाओ, भगवत् की भक्ति करो, नहीं तो सबका नाश हो जायगा ।" सुनते ही सम्पूर्ण ग्राम के लोग दौड़के आये । आपने सबको शिष्य कर माला कंठी तिलक धारण कराया; सबने आपके चरणों में प्रणाम किये । सबने हरिभक्ति-मार्ग में मन दिया; सब अति सुख को प्राप्त हुए ॥ श्रीचतुर्भुजजी और उन देवीजी की जय ॥

दो० "सकल देस पावन कियौ, भगवत जसहिं बढ़ाइ ।
जहाँ तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति लड़ाइ ॥"

(श्रीध्रुवदासजी)

(६१७) टीका । कवित्त । (२२६)

भोग लै लगावैं नाना, संतनि लड़ावैं, कथा भागवत गावैं, भाव

भक्ति बिसतारियै। भज्यौ धन लैके कोऊ, धनी पाछे पस्यौ सोऊ, आनिकै दबायौ, बैठि रह्यौ न निहारियै ॥ निकसी पुरान बात, करै नयौ गात दिक्षा, शिक्षा सुनि शिष्य भयौ, गह्यौ यों पुकारियै। कहै "याजनम मैं न लियौ कछू," दियौ फारौ हाथ लै उबास्यौ प्रभु, रीति लगी प्यारियै ॥ ४६४ ॥ (१३५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीचतुर्भुजजी वहाँ रहके नाना प्रकार के भोग श्रीभगवत् को लगाते और संतों को पवाते, लाड़ लड़ाते; श्रीभागवत कथा गानकर आपने सब लोगों में भावभक्ति का विस्तार किया ॥

एक दिन एक उचक्का किसी का धन लेकर भागा, वह धनी भी उसके पीछे पीछे दौड़ा; उचक्का आपकी कथा में घुसकर बैठ गया। धनी ने निहारा देखा, पर पाया नहीं ॥

आपकी कथा में पुराणान्तर की यह वार्ता ❀ निकली कि "जो कोई भगवत् मंत्र की दीक्षा लेता है, उस दिन से उसका दूसरा नया जन्म हो जाता है।" ऐसा उपदेश सुन वह चोर वहाँ ही आपका शिष्य हो गया; और उसने पूजाकर वह द्रव्य पुस्तक पर चढ़ा दिया। जब श्रोता उठे तब धनी उचक्के को पकड़ पुकारके कहने लगा "यह अभी मेरा धन लेकर भाग आया है ॥"

इसने कहा "मैंने इस जन्म में किसी का कुछ भी नहीं चुराया;" निदान उसने लोहे का फार तपाया हुआ हाथ में लेकर विश्वासपूर्वक कहा कि "जो मैं इस जन्म में कुछ भी न चुराया हो, तो मेरे हाथ न जलें।" प्रभु ने उसको बचा दिया, हाथों में उष्णता तक भी न आई। इसके विश्वास प्रतीति की रीति मुझे अति ही प्यारी लगी है ॥

(६१८) टीका। कवित्त। (२५५)

राजा झूठ मानि कह्यौ "करो बिन प्रान वाकौ, साधु ये बिराजमान लै कलंक दियौ है" । चले ठौर मारिबेकों, धारिबेकों सकै कैसे,

❀ "राममंत्रोपदेशेन माया दूरमुपागता। कृपया गुरुदेवस्य द्वितीयं जन्म कथ्यते ॥ १ ॥ पितृगोत्री यथा कन्या स्वामीगोत्रेण गोत्रिका। श्रीरामभक्तिमात्रेणाच्युतगोत्रेण गोत्रकः ॥ २ ॥" इति नारदपंचरात्रे प्रमाणम् ॥

नैन भरि आये नीर बोल्यौ "धन लियो है"॥ कहै नृप साँचौ ह्वैकै झूठौ जिन ह्वजै संत, महिमा अनंत कही "स्वामी ऐसौ कियौ है"। भूप सुनि आयौ उपदेश मन भायौ, शिष्य भयौ नयौ तन पायौ, भीजि गयौ हियौ है॥ ४६५॥ (१३४)

वार्त्तिक तिलक।

जब वह शपथ में शुद्ध हो गया तब राजा ने जाना कि इसने साधु को झूठ ही चोरी का कलंक लगाया है, इससे अपने जनों को आज्ञा दी कि "इसको मार डालो।" लोग आज्ञा सुन उसको वध करने को चले। तब साधु (जो पहिले जन्म में चोर था) उसका वध कैसे सहिसकें, नेत्रों में जल भर, बोले कि "इसको मारिये मत, मैंने धन लिया है॥"

राजा बोला कि "हे संत! तुम तो सच्चे होकर अब झूठ ही चोर क्यों बनते हो?" उत्तर दिया कि "यह श्रीस्वामीजी की अनंत महिमा है कि मुझे सच्चा बना दिया।" अपना सब वृत्तांत कह गया॥

राजा ने सुनके उसको छोड़ दिया; और यह मन में निश्चय किया कि "मैं भी शिष्य हो जाऊँ" और शिष्य हो ही गया॥

नवीन तन पाकर प्रभु के प्रेम में राजा का हृदय भीग गया॥

(६१६) टीका। कवित्त। (२२४)

पकि रह्यौ खेत, संत आयकर तोरि लेत, जिते रखवारे मुख सेत सोर कियौ है। कह्यौ स्वामी नाम, सुन्यौ कही "बड़ौ काम भयौ, यह तौ हमारौ," सोई आप सुनि लियौ है॥ लैके मिष्ठान आय, सुमुख बखान कीनौ, "लीनौ अपनाय आज भीज्यौ मेरौ हियौ है"। लै गये लिवाय नाना भोजन कराय, भक्ति चरचा चलाय, चाय हित रस पियौ है॥ ४६६॥ (१३३)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय श्रीचतुर्भुजजी अपने गृह में थे, आपका गेहूँ-चने का खेत पक रहा था, संतों की जमात आकर तोड़ने लगी; रखवारों ने पुकारा कि "श्रीचतुर्भुजजी का खेत है" सन्त बोले "बड़ी अच्छी बात हुई, तब तो यह हमारा ही अन्न है।" और होरा के लिये चने-गेहूँ की

बाली बहुत सी तोड़ लीं। खेत रखानेवालों का मुख सूख गया, हल्ला करने लगे। किसी ने जाके आपसे पुकार किया कि "साधु सब खेत की बाली तोड़े लेते हैं और कहते हैं कि 'यह तो हमारा ही है' ॥"

आप सुनते ही प्रेमानन्द से पूर्ण हो, बहुत सा मीठा लेकर आये और प्रसन्न मुख से कहने लगे कि "आज मैं धन्य हुआ, मुझे संतों ने अपना लिया, अपना जाना।" आपका हृदय प्रेमानंद से भीग गया फिर गुड़ दे, बाली पवाके गृह में लिवा ले गये, नाना प्रकार के भोजन कराये, फिर भक्तिमार्ग की चर्चा सत्संग कर, परस्पर, प्रेमरस पीके छक गये ॥

(१५८) श्रीकृष्णदासजी चालक * ।

(६२०) छप्पय । (२२३)

चालक की चरचरी, चहूँ दिशि उदधि अंत लौं अनुसरी ॥ सक्रकोप सुठिचरित, प्रसिध, पुनि पंचाध्याई। कृष्ण-रुक्मिनी केलि, रुचिर भोजन विधि, गाई ॥ "गिरिराज-धरन" की छाप, गिरा जलधर ज्यों गाजै। संत सिखंडी खंड हृदै आनँद के काजै ॥ जाड़ा हरन जग जड़ता कृष्णदास देही धरी। चालक की चरचरी, चहूँ दिशि उदधि अंत लौं अनुसरी ॥ १२४ ॥ (६०)

वार्त्तिक तिलक ।

चालक की रचना चरचरी छन्द की श्रीकृष्णदासजी की कविता चारों दिशाओं में वरंच समुद्रों के तट पर्यंत विख्यात हुई। उसी छन्द से इन ग्रंथों की रचना की, शक्रकोप से जो हुआ प्रसिद्ध "गोवर्धनचरित्र," और "रासपंचाध्याई," "कृष्णरुक्मिणीकेलि" तथा रुचिर "भगवद्भोजन-विधि" इत्यादि।

और, अपने काव्य में "गिरिराजधरन" की छाप रक्खा करते थे। आपकी वाणी मेघ की गर्जन समान है। संत समाज उसको सुन

* श्रीरामदासजी और श्रीकृष्णदासजी कई हुए हैं ॥

मयूर के सरिस आनंदित होते हैं। जगत् की जड़तारूपी जाड़ा हरने के लिये श्रीकृष्णदासजी ने श्रीसूर्य के सरीखा देह धारण किया था॥

दो० "युगल प्रेम रस अब्धि में, पस्यो प्रबोध मन जाय।
बृन्दाबन रस माधुरी, गाई अधिक लड़ाय॥"

(ध्रुवदास)

(१५६) श्रीसंतदासजी।

(६२१) छप्पय। (२२२)

बिमलानंद प्रबोध बंश, "संतदास" सीवाँ धरम॥ गोपीनाथ पद राग, भोग छप्पन भुंजाये। पृथु पद्धति अनुसार देव दंपति दुलराये॥ भगवत भक्त समान, ठौर द्वै कौ बल गायौ। कबित सूर सौं मिलत भेद कछु जात न पायौ॥ जन्म, कर्म, लीला, जुगति, रहसि, * भक्ति भेदी मरम। बिमलानंद प्रबोध बंस, "संतदास" सीवाँ धरम॥ १२५॥ (८६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीविमलानंदजी प्रबोधन के वंश में श्री "संतदासजी," भगवद्धर्म की सीमा (मर्यादा) हुए। श्रीगोपीनाथजी के चरणों में आपका अति अनुराग था, सो नित्य छप्पन भोग अर्पण करते थे। जिस प्रकार राजा पृथु सप्रेम प्रभु की पूजा करते थे उसी मार्ग के अनुसार दुलार प्यार से श्रीराधाकृष्णजी की पूजा किया करते॥

भगवंत् और भगवद्भक्त दोनों का एक समान बल प्रताप गान किया। और आपके कवित्त श्रीसूरदासजी के कवित्त में ऐसा मिल जाता कि कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता था। उस कविता में प्रभु के जन्म, कर्म, लीला को युक्तिपूर्वक बखान किया, क्योंकि आप रहस्य भक्तिभेद का मर्म (छिपी बातों के) जाननेवाले थे॥

* रहसि=रहस्य, रास॥

(६२२) टीका । कवित्त । (२२१)

बसत "निवाई" ग्राम, स्याम सों लगाई मति, ऐसी मन आई, भोग छप्पन लगाये हैं । प्रीति की सचाई यह जग में दिखाई, सेवैं जगन्नाथदेव आप रुचि सों जो पाये हैं ॥ राजा कों सुपन दियौ, नाम लै प्रगट कियौ, "संत ही के गृह में तो जेंवों यों रिझाये हैं।" भक्ति के अधीन, सब जानत प्रवीण, जन ऐसे हैं रँगीन, लाल ठौर ठौर गाये हैं ॥ ४६७ ॥ (१३२)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीसंतदासजी निवाई ग्राम में बसते थे। श्रीश्यामसुन्दरजी से अपनी मति लगाई । मन में उत्साह हुआ सो नित्य छप्पन भोग लगाया करते थे। आपकी सच्ची प्रीति देख श्रीजगन्नाथजी बड़ी रुचि से आप ही के यहाँ भोजन करते थे। कुछ दिन में गृह में जो धन था सो भोग में उठ गया, तब प्रभु ने विचारा कि "मेरे दास का मनोरथ पण अन्यथा न होय;" इससे राजा को स्वप्न दिया, आपका नाम प्रगट कर कहा कि "मैं तो संतदास ही के गृह में नित्य छप्पन भोग भोजन करता हूँ। उसने मुझे रिझा लिया है अर्थात् उनको मेरे भोग के लिये धन और सामग्री दिया करो ।" आपकी आज्ञा सुन राजा ने वैसा ही किया ॥

श्रीलालजी रँगीले, भक्ति के ऐसे अधीन हैं। सब प्रवीन जन जानते हैं। क्योंकि प्रभु की भक्ति विवशता ठौर ठौर में गान की गई है। भक्तवत्सल रँगीले की जय ॥

(१६०) श्रीसूरदास मदनमोहन ।

(६२३) छप्पय । (२२०)

(श्री) मदनमोहन सूरदास की, नाम शृंखला जुरी अटल ॥ गानकाव्यगुणराशि, सुहृद, सहचरिअवतारी । राधाकृष्ण उपास्य रहसि सुख के अधिकारी ॥ नवरस मुख्य सिंगार विविध भाँतिन करि गायो । बदन उच्च-

रित बेर सहस पायनि ह्वै धायौ॥ अंगीकार की अवधि यह, ज्यों आख्या भ्राता जमल। (श्री) मदनमोहन सूरदास की, नाम शृंखला जुरी अटल॥ १२६॥ (८८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमदनमोहन और सूरदास के नाम की शृंखला अचल जुट गई, अर्थात् आप थे तो नेत्रयुक्त, परंतु नाम सूरदास था सो जहाँ पर सूरदास नाम है वहाँ मदनमोहन नाम के साथ ही है॥

आप गानविद्या और काव्य में अति प्रवीण और शुभ गुणों की राशि ही थे। सबके साथ सुहृदता रखते; सखी के अवतार ही थे। श्रीराधाकृष्ण आपके उपास्य; आप रहस्यसुख के अधिकारी थे। नव रसों में जो मुख्य शृंगाररस, उसको बहुत प्रकार से गान किया। आपकी कविता ऐसी फैलती थी कि जहाँ मुख से निकली, कि मानों सहस्र चरणों को धारण कर चारों दिशाओं में दौड़ गई। सो यह प्रभु के अंगीकार करने की सीमा है। ऐसी प्रभुके और आपके नाम की आख्या हुई कि जैसे जमल भ्राता अश्विनीकुमार सदा इकट्ठे रहते हैं॥

दो० "भली भाँति सेए विपिन, तजि बंधुनि सों हेत।
सूर भजन में एकरस, छाँड़यौ नाहिन खेत॥"

(६२४) टीका। कवित्त। (२१९)

सूरदास नाम नैन कंज अभिराम फूले, झूले रंग पीके नीकें जीके और ज्याये हैं। भये सो अमीन * यों सँडीले के नवीन रीति प्रीति गुड़ देखि दाम बीस गुने लाये हैं॥ कही पूवा पावें आप मदनगोपाल लाल परे प्रेम ख्याल लादि छकरा पठाये हैं। आये निसि भये स्याम कियौ आज्ञा जोग लैकै अबही लगावौ भोग जागे फिरि पाये हैं॥ ४९८॥ (१३१)

वार्त्तिक तिलक।

आपका नाम "सूरध्वज" था, परन्तु काव्यों में "सूरदास मदन-

* "अमीन"=امین=रक्षक, थाती रखनेवाला, अधिकारी॥

मोहन" लिखा। सो यही विख्यात हो गया। आपके दोनों नेत्र फूले कमल के समान थे, प्रभु का प्रेमरंग पीके सुन्दर अनुराग से झूलते, मृतक सरीखे देहाभिमान को तज, स्वस्वरूप से जीवित रहे। और अपने सत्संग से और जीवों को भी सचेत किया। सो दिल्लीपति की ओर से सँडीले के अधिकारी (अमीन) हुए। आपकी प्रभु में प्रीति रीति नवीन थी। यहाँ (सँडीले) का गुड़ बहुत अच्छा देख विचार किया कि इस गुड़ का मालपुआ श्रीमदनगुपाललालजी को प्रिय लगेगा, इस प्रेम के कौतुक में पड़े। यद्यपि सँडीले से वृन्दावन तक के भाड़ा का दाम बीसगुना पड़ा तो भी गाड़ी में लादके भेज ही दिया। वह गुड़ वृन्दावन में आया, रात्रि बहुत बीत गई, प्रभु का शयन हो गया था; परंतु श्यामसुन्दर की आज्ञा स्वप्न में हुई कि "इसका मालपुआ अभी अभी भोग लगाओ।" सबों ने आज्ञानुसार उसी समय मालपुआ बनाया। श्रीप्रेमग्राहकजी ने जाग के भोजन किया॥

(६२५) टीका। कवित्त। (२१८)

पद लै बनायौ, भक्तिरूप दरसायौ, दूर संतनि की पानहीं कौ रक्षक कहाऊँ मैं। काहू सीखि लियौ साधु लियौ चाहै परचैकों आये द्वार मंदिर कै खोलि कही आऊँ मैं॥ रह्यौ बैठि जाय जूती हाथ में उठाय लीनी, कीनी पूरी आस मेरी निसि दिन गाऊँ मैं। भीतर बुलाये श्रीगुसाईं बार दोय चार, सेवा सौंपी सार कह्यौ जन पग ध्याऊँ मैं॥ ४६६॥(१३०)

वार्त्तिक तिलक।

आपने एक पद बनाया, उसमें दुर्लभ अनन्य भक्ति का रूप दर्शाया, अंत में यह पद रक्खा, "सूरदास मदनमोहनलाल गुण गाऊँ। संतन की पानहीं कौ रक्षक कहाऊँ॥"

इस पद को किसी साधु ने सुन सीखके परीक्षा लेनी चाही; श्री-मदनमोहनजी के दर्शन को आए, द्वार में "सूरध्वज" जी थे, साधु ने जूती आपके समीप उतारके कहा कि "देखना, मैं आता हूँ। और भीतर जाके बैठ रहे। आप पदत्राणों को हाथ से उठाकर बोले "अब तक तो मैं अपनी अभिलाषा को दिन रात गान ही मात्र करता था, परंतु आज संत ने मेरी अभिलाषा पूर्ण किया॥"

मंदिर के भीतर से श्रीगुसाईंजी ने दो चार बार बुला भेजा; आपने प्रार्थना कर भेजी कि "आज मुझे संत ने सारांश सेवा दी है। सो सेवा मैं संतचरण ध्यानपूर्वक कर रहा हूँ; अभी इससे निवृत्त होकर दर्शन करूँगा।" यह सुन वह संत और गुसाईंजी अति प्रसन्न हो, आकर हृदय में लगाया, और दोनों ने आपकी अति प्रशंसा की ॥

(६२६) टीका । कवित्त । (२१७)

पृथीपति संपति लै साधुनि खवाइ दई, भई नहीं संक यों निसंक रंग पागे हैं। आये सो खजानौं लैन मानौ यह बात अहो पाथर लै भरे आप आधी निसि भागे हैं ॥ रुक्का लिखि डारे, दाम "गटके ये संतनि नै, याते हम सटके हैं" चले जब जागे हैं। पहुँचे हुजूर, भूप खोलिकै संदूक़ देखैं, पेखैं आँक कागद मैं रीझि अनुरागे हैं ॥ ५०० ॥ (१२६)

वार्त्तिक तिलक ।

यह सँडीले की वार्त्ता है कि पृथ्वीपति (बादशाह) की तेरह लाख द्रव्य (रुपये) साधुवों को खिला दिया; मन में कुछ भी भय वा शंका न हुई, ऐसे अशंक प्रेमरंग से आप पगे थे। जब दिल्ली से नृपति के भेजे लोग रुपये लेने आये, तब मंजूषाओं में पत्थर भरके ताले जड़ दिये। प्रत्येक में यह पद लिख लिखके डाल दिया, (पद) "तेरह लाख सँडीले उपजे, सब साधुन मिलि गटके। सूरदास मदनमोहन ❀ बृन्दा-बन को सटके ॥"

आप आधी रात को (जग के) भागे। जब "संदूक़ें" दिल्ली में आईं, तब बादशाह ने खुलवाके देखा तो पत्थर ही पत्थर भरे थे; वे रुक्के भी निकले। पढ़े गए तो बादशाह अनुराग से प्रसन्न हुए ॥

(६२७) टीका । कवित्त । (२१६)

लैन कों पठाये, कही निपट रिझाये हमैं, मन मैं न ल्याये, लिखी

१ "खजानौ"=خزانه=द्रव्यसमूह, द्रव्यागार, ख़ज़ाना । २ "रुक्का"=رقعه=पत्र, लेख, संक्षिप्त पत्र । ३ "हुज़ूर"=حضور=सामने, साक्षात् । ४ "संदूक़"=صندوق=बाक्स, मंजूषा, काठ की पिटारी ॥

❀ "संडीले के अमित धन सन्तन ने गटके ।
राजभय से मदनमोहन आधीरात सटके ॥"

"वन तन डास्यौ है"। 'टोडर' दिवान[1] कह्यौ "धन कों बिरान[2] कियौ, ल्यावो रे पकरि" मूढ़ फेरिकै संभास्यौ है॥ लैगये हुजूर[3], नृप बोल्यौ "मोसों दूर[4] राखौ," ऐसौ महाक्रूर सौंपि दुष्ट कष्ट धास्यौ है। दोहा लिखि दीनौ "अकबर" देखि रीझि लीनौ, "जावौ वाही ठौर तोपै दर्व सब वास्यौ है" ॥ ५०१ ॥ (१२८)

वार्त्तिक तिलक।

आप भागके श्रीवृन्दावन में आये; "अकबरशाह" ने आपके लेने के लिये मनुष्य भेजा कि जाकर कहो कि "तुमने रुपये संतों को खिला दिये सो हम बहुत प्रसन्न हुए, अब तुम हमारे पास आवो।" आपने उत्तर लिख भेजा कि "मैंने इस शरीर को वृन्दावन में डाल दिया है, अब मुझे वहाँ मत बुलाइये।" बादशाह माना परंतु बादशाह के दीवान "टोड़रमल" ने यह कहकर "कि इसने धन को नष्ट किया" लोगों को भजा कि "जाओ, पकड़ लाओ।" उस दुष्ट ने बादशाह की मति फेर दी। लोग आके आपको पकड़ लेगये। बादशाह ने कहा "मेरे पास मत लाओ" तब दुष्ट टोडर ने "दसतम" नामक कारागाराध्यक्ष (जेलखाने के अधिपति) को सौंप दिया। उस दुष्ट ने आपको बहुत कष्ट दिया॥

तब एक दोहा लिखके आपने अकबर के पास भेजा।

दो० "यक तम, अँधियारो करै, शून्य दई पुनि ताहि।
'दसतम', ते रक्षा करौ, दिनमनि अकबर शाह !॥"

दोहा देख विज्ञ अकबर ने, बहुत प्रसन्न हो, श्रीकृपा से आज्ञा दी कि "तुम पर हमने तेरह लाख द्रव्य निछावर किया, तुम सुखपूर्वक वृन्दावन चले जाओ॥"

(६२८) टीका। कवित्त। (२१५)

आये वृन्दावन, मन माधुरी में भीजि रह्यौ, कह्यौ जोई पद, सुन्यौ रूप रस रास है। जा दिन प्रगट भयौ, गयौ शत जोजन पै, जन पै सुनत भेद बाढ़ी जग प्यास है॥ "सूर" द्विज द्विजनिज महल टहल

१ "दीवान" دیوان=प्रधान, अधिकारी। २ "बिरान" ویران=उजाड़, नष्ट, क्षय। ३ "हुजूर" حضور=सामने। ४ "दूर" دور =समीप नहीं, फैलावे॥

पाय चहल पहल हिये जुगल प्रकास है। मदनमोहन जू हैं इष्ट इष्ट महाप्रभु अचरज कहा कृपादृष्टि अनायास है॥ ५०२॥ (१२७)

वार्त्तिक तिलक।

राजराजेश्वर अकबर की आज्ञा पा, श्रीवृन्दावन में आ, श्रीयुगल माधुरी में आपने मन को भिगा दिया; फिर जो पद आपने बनाये सो सुनने में रूप रस का रास ही जान पड़ता था; जिस दिन पद प्रगट होता उसी दिन चार सौ कोस पहुँच जाता था। और उस पद का अर्थ काव्य रस भेद सुनते ही जगत् को प्यास बढ़ती थी॥

सूरध्वज द्विज, अपने प्रभु के महल की टहल पाके अति आनंदित हुए। युगल चन्द का प्रकाश हृदय में छा रहा, सो ऐसा होना योग्य ही है, क्योंकि आपके श्रीमदनमोहनजी और महाप्रभुजी इष्ट थे, दोनों की कृपादृष्टि से युगल प्रकाश हृदय में होना आश्चर्य नहीं॥

(१६१) श्रीकात्यायिनीजी।

(६२६) छप्पय। (२१४)

कात्यायिनी के प्रेम की, बात जात कापै कही॥ मारग जात अकेल, गान रसना जु उचारै। ताल मृदंगी वृक्ष, रीझि अंबर तहँ डारै॥ गोप नारि अनुसारि गिरा गदगद आवेशी। जग प्रपंच ते दूरि, अजा परसैं नहिं लेशी॥ भगवान रीति अनुराग की, संत साखि मेली सही। कात्यायिनी के प्रेम की, बातजात कापै कही॥ १२७॥ (८७)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "कात्यायिनी" जी के प्रेम की बात किससे कही जा सकता है। आपकी यह दशा थी कि अकेली मार्ग में चलती हुई सरस रसना से प्रभु सुयश गाती ऐसे प्रेमावेश में छक जाती थीं कि जो वृक्षों में पवन लगने से शब्द होता था उसको जानतीं कि ये मेरे

गान के साथ मृदंगादि बाजा बजाते हैं; इससे उनके ऊपर रीझके अपने वस्त्र भूषण दे डाला करती थीं। आपका श्रीकृष्णचन्द्रजी में गोपवधू जनों के समान ही प्रेम था। प्रभु के गुणानुवाद करने में अनुराग के आवेश से वाणी गद्गद हो जाती थी। आपके चित्त में जगत्प्रपंच का भान ही नहीं; और माया का स्पर्श लेश नहीं। श्री "कात्यायिनी" जी की भगवत्अनुराग की रीति देख संतजनों ने यही ठीक किया कि बस अनुराग इसी का नाम है॥

---

(१६२) श्रीमुरारिदासजी।

(६३०) छप्पय। (२१३)

कृष्णविरह कुंती सरीर, त्यौं "मुरारि" तन त्यागियौ॥ बिदित "बिलौंदा" गाँव देस मुरधर सब जानै। महा-महोच्छौ मध्य संत परिषद परवानै॥ पगनि घूँघुरू बाँधि रामकौ चरित दिखायौ। देसी सारँगपानि, हंस ता संग पठायौ॥ उपमा और न जगत में, "पृथा" बिना नाहिन बियौ। कृष्ण बिरह कुंती सरीर, त्यौं "मुरारि" तन त्यागियौ॥ १२८॥ (८६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकृष्णचन्द्रजी का विरह सुनते ही जिस प्रकार कुंतीजी ने शरीर तज दिया उसी प्रकार श्रीसीतारामचन्द्रजी के विरह का पद गान ध्यान करते ही, श्री "मुरारिदास" जी ने भी शरीर को त्याग दिया। आप मारवाड़ देश में विख्यात बिलौंदा (बलबंडा) गाँव में विराजते थे; और प्रति संवत् में महामहोत्सव करते थे॥

एक समय के महोत्सव में भगवत्पारषदों के समान अनेक संत विराजमान थे; वहाँ आपने अपने चरणों में नूपुर बाँधकर श्रीरामजी का चरित्र ऐसा गान किया कि उस सप्रेम शब्द से सबको प्रभु का रूप और चरित्र नेत्रों में झलक पड़ा; अंत में आपने देशीय विधान

से ऐसा आलाप किया कि श्रीरघुनन्दन शार्ङ्गपाणि के वनगवनरूप में चित्त प्रत्यक्ष पहुँच गया। प्रभु के साथ ही हंस (जीवात्मा) को भी भेज दिया। शरीर ऐसा ही रह गया। आपके तन त्यागने की उपमा श्रीकुंतीजी को छोड़ और है ही नहीं॥

(६३१) टीका। कवित्त। (२१२)

श्रीमुरारिदास रहे राजगुरु, भक्त-दास, आवत स्नान किये कान धुनि कीजियै। जाति कौ चमार करै सेवा सो उचारि कहै "प्रभु चरणामृत कौ पात्र जोई लीजियै"॥ गये घरमाँझ वाके, देखि डर काँपि उठ्यौ, "ल्यावौ देवौ हमैं, अहो पान करि जीजियै"। कही "मैं तो न्यून तुच्छ;" बोले "हमहूँ तें स्वच्छ जानै कोऊ नाहिं तुम्हैं मेरी मति भीजियै"॥ ५०३॥ (१२६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमुरारिदासजी बिलौंदा नगर के राजा के गुरुदेव, और भगवद्भक्तों के पूरे दास थे। एक दिन स्नान किये चले आते थे, एक ध्वनि आपके कान में पड़ी। एक जाति का चर्मकार अपने गृहमें भगवत्-पूजा कर नित्य पुकारता था कि "जो प्रभुके चरणामृत का पात्र हो, सो लेवै।" सोई ध्वनि सुन उसके गृह में आप गये; वह देखते ही भय से काँपने लगा; आप बोलै "लाओ, मुझको दो, पान कर जीवन को सुफल करूँ॥"

वह बोला "मैं अति तुच्छ, जाति का चमार हूँ।" आप कहने लगे कि "तुम तो भक्तियुक्त हौ इससे मुझसे भी पवित्र हौ; तुमको कोई जानता नहीं, तुम्हारा प्रेम देख मेरी मति सरस हो गई है॥"

(६३२) टीका। कवित्त। (२११)

बहे दृग नीर, कहै मेरे बड़ी पीर भई; तुम मति धीर; नहीं मेरी जोग्यताई है। लियौ ई निपट हठ, बड़े पट्ट साधुता में, स्यामै प्यारी भक्ति, जाति पाँति लै बहाई है॥ फैलि गई गाँव, वाकौ नाँव लै चवाव करैं भरैं नृप कान सुनि वाहू न सुहाई है। आयौ प्रभु देखिबे कौं, गयौ वह रंग उड़ि, जान्यौ सो प्रसंग, सुन्यौ वहै बात छाई है॥५०४॥(१२५)

वार्त्तिक तिलक ।

उसके नेत्रों में जल बहने लगा; हाथ जोड़ बोला कि "मैंने जो पुकारके चरणामृत लेने को कहा सो बड़ा दुःख हुआ, आप महात्मा हैं, मुझे आपको चरणामृत देने की योग्यता नहीं है।" निदान आपने अत्यन्त हठ करके ले ही तो लिया, क्योंकि साधुता में अति प्रवीण थे; विचार किया कि श्रीरामजी को भक्ति ही प्रिय है; इससे जाति पाँति को प्रेम के प्रवाह में बहा दिया ॥

यह बात सब नगर में फैल गई, सब विमुख लोग उसकी जाति का नाम लेकर राजा के पास आपकी निन्दा करने लगे । सुनके वह बात राजा को भी नहीं अच्छी लगी; हृदय में अभाव आ गया। एक दिवस श्रीमुरारिदासजी राजा के देखने को गये; देखें तो राजा का पहिला प्रेमरंग सब चला गया। आपने जाना कि वही बात है। फिर स्थान में आके और लोगों से भी सुना कि आपके चरणामृत लेने की निन्दा सब नगर में तथा राजा के हृदय में छा रही है ॥

(६३३) टीका । कवित्त । (२१०)

गए सब त्यागि, प्रभु सेवा ही सों राग जिन्हें, नृप दुख पागि, गयौ, सुनी यह बात है । होत हो समाज, सदा भूपके बरष माँझ, दरस न काहू होत, मान्यौ उतपात है ॥ चलेई लिवाइबे कौं जहाँ श्रीमुरारि-दास, करी साष्टांग रास नैन अस्रु पात है । मुखहूँ न देखे वाको, विमुख कै लेखे, अहो ऐसे लोग कहै यह गुरु शिष्य ख्यात है॥५०५॥(१२४)

वार्त्तिक तिलक ।

आप विरक्त तो थे ही, श्रीसीतारामजी की सेवा भजन छोड़ और किसी वस्तु में अनुराग न था; इससे सब छोड़छाड़ किसी और स्थल में जा विराजे। आपका चले जाना सुन राजा दुखित हुआ। राजा के यहाँ प्रतिवर्ष संतन का समाज उत्सव होता था सो आपके चले जाने से किसी संत का दर्शन भी नहीं हुआ । तब राजा बड़ा उत्पात मान जहाँ श्रीमुरारिदासजी विराजे थे वहाँ आपको लिवा लाने के लिये गया; और साष्टांगप्रणामकर हाथ जोड़ खड़ा हुआ। राजा के नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगी। आपने भक्ति विमुख जान उसका मुख भी न देखा;

यह दोनों की दशा देख अच्छे लोग कहने लगे कि गुरु और शिष्य ऐसे ही होना चाहिये ॥

दो० "गुरु निर्मोही चाहिये, शिष्य न छाँड़ै प्रीति ।
स्वारथ छाँड़ै, हरि मिलै, इहै भजन की रीति ॥ १ ॥"

(६३४) टीका । कवित्त । (२०९)

ठाढ़ौ हाथ जोरि, मति दीनता मैं बोरि, "कीजै दंड मोपै कोरि यों निहारि मुख भाखियै । घटती न मेरी, आप कृपा ही की घटती है; बढ़ती सी करी तातैं न्यूनताई राखियै" ॥ सुनिकै प्रसन्न भये कहे लै प्रसंग नये, बालमीकि आदि दै दै नाना बिधि साखियै । आये निज गाम, नाम सुनि सब साधु धाये भयौई समाज वैसो देखि अभि-लाखियै ॥ ५०६ ॥ (१२३)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा अपनी मति दीनताई में भिगा, हाथ जोड़, खड़ा हुआ, और प्रार्थना करने लगा कि "हे स्वामी ! मुझ पर कोटानि दंड करके शुद्ध कीजिये और जो मेरे मन में मलीनता आई सो मेरी घटती नहीं किन्तु आपकी कृपा ही को घटती थी अब फिर आपने कुछ अधिक कृपा किया इसीसे नम्रतापूर्वक विनय कर रहा हूँ।" विनय सुन आप प्रसन्न हुए और राजा को बाल्मीकि आदि के प्रसंग उपदेश सुनाये कि देखो, श्वपच बाल्मीकि को श्रीकृष्णचन्द्रजी ने किस प्रकार का सत्कार किया; तथा श्रीशबरी निषादजी को श्रीरघुनन्दनजी ने कैसी बड़ाई दी दिलाई; और गज गणिकादिक भगवद्भक्ति से कैसे पवित्र हुए; इत्यादि । सुन राजा प्रेमप्रबोधयुक्त हुआ; फिर आप अपने पूर्व स्थान में आये; आपका आ-गमन सुन सब संत मिलने को दौड़े । फिर बड़ा उत्तम समाज हुआ राजा ने देखकर अपना अभिलाष पूर्ण माना ॥

(६३५) टीका । कवित्त । (२०८)

आये बहु गुनीजन नृत्य-गान छाई धुनि ऐपै संत सभा मन स्वामी गुण देखिये । जानिकै प्रबीन उठे, नूपुर नवीन बाँधि सप्तस्वर, तीन ाम, लीन भये पेखिये ॥ गायौ रघुनाथजू कौ बनकौ गमन समै तासँग

गमन प्रान चित्र सम लेखिये। भयौ दुख रासि, "कहाँ पैये श्रीमुरारि-दास," गए रामपास, एतौ हिये अवरेखिये ॥ ५०७ ॥ (१२२)

(बलमुवाँ)

सब जग आस तजि आयउँ शरण बीच, सरस सुभाउ सुनि तोर रे बलमुवाँ । मोंहि लगि कहवाँ भुलाय दीन्हो ताहि कहँ, करि लीन्हो हियरा कठोर रे बलमुवाँ । तलफत रहत नयन छबि देखे बिनु, अँसुवा झरत अति जोर रे बलमुवाँ । बिरह बियाधि बस तन जर जर भयो, चैन ना परत कभूँ थोर रे बलमुवाँ ॥ तदपि न रंचहूँ आवत हिय दया तोहिं, अचरज लागत अथोर रे बलमुवाँ । काहे तोहिं कहहिं सुसंत सदग्रंथ श्रुति, रसिक उदार सिरमौर रे बलमुवाँ ॥ आश्रित जनन को दुखावन सिखायो कौन, जाते न हेरत दृग कोर रे बलमुवाँ । दर्शन आसहिं पतित प्राण जात नाहि, सहे निशि दिन दुख घोर रे बलमुवाँ ॥ निरखि अनाथ हाथ गहि अपनायो कैसे, प्रथम न देख्यौ अघमोर रे बलमवाँ । अब क्यों घिनात सकुचात औ लजात हाय, नयन करत मम ओर रे बलमुवाँ ॥ निज गुण बिरद बिलोकु रघुवंश बीर, कृपासिंधु अवधकिशोर रे बलमुवाँ । नेहलता ❀ चेरी को न सुधि लेहिं सियकंत, होय जैहैं बात यह शोर रे बलमुवाँ ॥

वार्त्तिक तिलक ।

उस महोत्सव समाज में बहुत से उत्तम गुणीजन आये, नाच और श्रीरामयशगान की मंगल धुनि छागई । परन्तु सभा के अनुरागी संतों के मन में अभिलाषा उत्पन्न हुई कि श्रीस्वामीजी के मुख से गान और नृत्य गुण देखें तो भला।

ऐसा जान परम प्रवीण श्रीमुरारिदासजी ने उठके नवीन नूपुर चरणों में बाँध, सप्तस्वर तान ग्राम में लीन हो आलाप कर, श्रीरघुनाथजी के वनगमन का पद गान किया । उसी समय श्रीरामरूप में तदाकार हो आपके प्राणों ने भी प्रभु के साथ ही गमन किया । शरीर चित्र के समान रह गया ॥

❀ (श्रीजानकीशरण स्नेहलताजी) नये भक्तमाल विरहानल आदि ग्रंथों के रचयिता ।

सबको बड़ा ही दुःख हुआ; कहने लगे "हाय अब श्रीमुरारिदासजी को कहाँ पावैं" आप तो श्रीरामजी के समीप प्राप्त हुए। सब इस सत्य प्रेम की जै जैकार करने लगे ॥

(१६३) भक्तमाल-सुमेर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी।

	कलि	संवत्	सन् ई०	शाके
जन्म	४६३३	१५८९*	१५३२	१४५४
परलोक	४७२४	१६८०	१६२३	१५४५

(६३६) छप्पय। (२०७)

कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीक "तुलसी" भयो ॥ त्रेता काव्य निबंध करिव सत कोटि रमायन। इक अक्षर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन ॥ अब भक्तनि सुखदैन बहुरि लीला बिसतारी। रामचरन रस मत्त रटत अह निसि ब्रतधारी ॥ संसार अपार के पार को, सुगम रूप नवका लयो। कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बाल्मीक "तुलसी" भयो ॥ १२९ ॥ (८५)

वार्त्तिक तिलक।

कलियुग में कुटिल जीवों को भवसिंधु से निस्तार करने के हेतु, श्री-वाल्मीकि मुनिवर[1] श्री १०८ तुलसीदासरूप से अवतीर्ण हुए; त्रेतायुग में शतकोटि[2] श्रीरामायण काव्य-निबंध आपने किये थे कि जिन श्रीरामायणों के एक एक अक्षर ऐसे पुनीत प्रभाववाले हैं कि उनका उच्चारण

* पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि "श्रीगोस्वामीजी संवत् १५५४ में प्रगट हुए, पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु से रामचरित श्रवण किया, ४० वर्ष सन्तों से सुन सुनकर, ३७ वर्ष मनन किया, तब ७८ वर्ष की अवस्था सं० १६३१ में मानस रचा, सं० १६८० में श्रीरामधाम पधारे ॥"

(१) प्रमाण भविष्यपुराणे ॥ बाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि! भविष्यति। रामचन्द्रकथां साध्वीं भाषारूपां करिष्यति ॥ १ ॥

(२) प्रमाण श्रीरामरक्षास्तोत्रे ॥ "चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्" ॥ १ ॥

करने से ब्रह्महत्यादि अर्थात् ब्रह्महत्या, गोहत्या, बालहत्या, स्त्रीहत्या मद्यपान इन महापापों में परायण पुरुष भी उद्धार को प्राप्त हो जाते हैं। अब इस युग में श्रीसीताराम भक्तजनों को सुख देने के अर्थ फिर श्रीरामायणी ललित लीला भाषा काव्य निबंधविस्तार किया, सो उसके भी एक एक अक्षर महापापों से उद्धार करनेवाले और भक्तों को ब्रह्मानन्द देनेवाले हैं। आप स्वयं कैसे हैं कि श्रीसीतारामचरणकमलों के प्रेमरस से मत्त मधुव्रत (भँवर) की नाईं अनन्य व्रत धारण किये दिन रात्रि श्रीरामनामयश रटते (गुंजार करते) हैं। अपार संसार-सागर से पार होने तथा कुटिल जीवों को पार करने के अर्थ सुगमरूप नौका, अर्थात् परब्रह्म द्विभुज सीतापति शार्ङ्गधर साकेतविहारी श्याम-सुन्दर श्रीरामरूप, तथा तन्नाम ("घोरभव नीरनिधि नाम निजनाव रे"), और तद्गुण लीला कथा ("भवसागर चह पार जो पावा। राम-कथाताकहँ दृढ़नावा") सुगमरूपी नौका लिया; ऐसे कलिकलुष विध्वं-सनाचार्य श्री १०८ तुलसीदासजी श्रीवाल्मीकि मुनि के अवतार हुए॥

कोई २ शंका करते हैं कि "श्रीवाल्मीकिजी ने मुक्त जीव होके क्यों जन्म लिया?" इसका उत्तर, ईश्वर को तथा साकार मुक्त जीवों को ऐसी सामर्थ्य होती है कि पूर्वरूप से ज्यों के त्यों बने भी रहें और अपने सत्य संकल्प से रूपान्तर तथा अवतार भी धारण कर लेवें। देखिए, भगवान् अपने परमधाम में विराजमान भी रहते हैं और मत्स्यादि अवतार भी धारण कर लेते हैं; ऐसे ही श्रीवाल्मीकिजी को भी जानिए॥ स्कन्दपुराण में लिखा है॥

श्लोक "वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वाक्तस्य रूपिणी॥"

श्रीब्रह्माजी के अवतार श्रीवाल्मीकिजी हुए और सरस्वतीजी आपकी वाक्य हुईं। देखिए, श्रीब्रह्माजी भी बने थे और वाल्मीकिजी भी हुए ऐसे ही जानिए॥ श्रीगोस्वामीजी ने भी अपना अवतार सूचित कियाहै (पद) "जन्म जन्म जानकीनाथ के गुनगन तुलसिदास गाए"

श्रीतुलसीदासजी के गान किए हुए प्रसिद्ध बारह ग्रंथ प्रमाण हैं।

"सिय स्वामिनी"

तव पद पदुम विहाय ना भरोस मोहिं, जोहि जिय लीजै सुधि

मेरी सिय स्वामिनी। यदपि हौं अधमा मलीन अघओघखानि, तदपि कहाऊँ तेरी चेरी सिय स्वामिनी॥ प्रभुहुँ ते सरस चमादि शुभ गुणसिंधु, कीरति बदति श्रुति तेरी सिय स्वामिनी। ताहि बल शोच ऋत नाम लै उदर भरौं, निदरि गुणादि कृत फेरी सिय स्वामिनी॥ करत अधिक छोह तापै आप प्राणनाथ, जापै रंच तोर दृग हेरी सिय स्वामिनी। ताते बार बार करजोरि माँगौं दीन होइ, राखु निज चरणन नेरी सिय स्वामिनी॥ द्रवत न कोशलकुमार तव नेह बिनु, करै क्यों न योग कर्म ढेरी सिय स्वामिनी। जैहों नहिं द्वार ते निकारे हूँ पै दयानिधे, साँची गुनौ कहत हौं टेरी सिय स्वामिनी॥ जौन माया योगी सिद्ध ज्ञानी बिधि शंभु हूँ लौं, निज बस माहिं किये जेरी सिय स्वामिनी। सोउ तव भृकुटी विलोकत रहति सदा, चाहति कटाक्ष कृपा केरी सिय स्वामिनी॥ जनक-कुमारी रघुवंशमणि प्राणप्यारी, अब जनि कीजै नेकु देरी सिय स्वामिनी॥ "नेहलता" ❀ प्रीतम से दीजिये धरायकर, बिगरी बनेगी एकै बेरी सिय स्वामिनी॥

कवित्त।

"रामलला नहछू[1] त्यों विरागसंदीपिनी[2] हूँ, बरवै[3] बनाई बिरमाई मति साईं की। पारबती[4], जानकी[5] के मंगल ललित गाय, रम्य रामआज्ञा[6] रची कामधेनु-नाईं की॥ दोहा[7], औ कवित्त[8], गीतबंध[9], कृष्ण[10] कथा कही, रामायन[11], बिनै[12] माहँ बात सब ठाईं की। जग में सोहानी, जगदीश हूँ के मनमानी, संत सुखदानी, बानी तुलसी गोसाईं की॥ १॥" लोगों ने छोटे बड़े सोलह ग्रंथ भी माने हैं, परंतु उन ग्रंथों में श्रीगोस्वामीजी की वर्ण अर्थ शैली नहीं पाई जाती॥

"जीवान्मन्दमतीन्सुभाग्यरहिताञ्ज्ञात्वा कलेर्दोषत-
स्तत्कल्याणपरायणः परकविः श्रीमन्महर्षिस्स्वयम्॥
वाल्मीकिः कृपया सुहृत्सु तुलसीदासेति नाम्ना कला-
वाविर्भूय चकार रामचरितं भाषाप्रबन्धेन वै॥ १॥"

❀ स्नेहलताजी (श्रीजानकीशरणजी) श्रीअयोध्या हनुमन्निवास भक्तमाली मानस उत्तर पत्रादि॥

Sir George Grierson on Tulasi Dasa:---

"Tulasi Dasa is surely deserving of more notice than is usually bestowed upon him in histories of the development of the religious idea in India.

"I give much less than the usual estimate when I say that fully ninety millions of people base their theories of moral and religious conduct upon his (Tulasi Das') writings. If we take the influence exercised by him at the present time as our test, he is one of the three or four great writers of Asia.

"Over the whole of the Gangetic valley his great work (the Ramayana) is better known than the Bible is in England.

"There is..........when occasion requires it, sententious' aphoristic method of dealing with narrative, which teems with similes drawn, not from the traditions of the schools, but from nature herself, and better than Kali Dasa at his best." (1903).

चौपाई।

"बन्दौं तुलसिदास गोस्वामी। जासु सुमति सबके उर जामी॥"

(६३७) टीका। कवित्त। (२०६)

तिया सों सनेह, बिनु पूछे पिता गेह गई, भूली सुधि देह, भजे वाही ठौर आए हैं। बधू अति लाज भई, रिसि सी निकसि गई, प्रीति राम नई, तन हाड़ चाम छाए हैं॥ सुनी जब बात, मानौ होइ गयौ प्रात, वह पाछे पछितात, तजि, "काशीपुरी" धाए हैं। कियौ तहाँ बास, प्रभु सेवा लै प्रकास कीनौ, लीनौ दृढ़ भाव, नैन रूप के तिसाए हैं॥ ५०८॥ (१२१)

वार्त्तिक तिलक।

आपका ब्राह्मण कुल में संवत् १५८९ में जन्म हुआ। यज्ञोपवीत होने पर विद्याध्ययन किया, विवाह गौना भी हुआ। स्त्री से स्नेह था, उसके मायके (नैहर) से पिता भ्राता कोई लिवाने आया, तब वह आपका अपने में स्नेह जान, बिना पूछे ही, पिता के गृह चली गई। पीछे आप आके उसका जाना सुन, स्नेह से देहदशा भूल, दौड़े हुए उसी के समीप जा पहुँचे। देखके स्त्री को अतिलज्जा आई॥

कुछ क्रोधयुक्त स्त्री के मुख से यही वाणी निकलपड़ी कि "आप रामजी में इस प्रकार प्रीति नहीं करते कि, जो नित्य नवीन

दोनों लोक में सुख सुयश देनेवाली है। मेरे शरीर में ऐसी प्रीति की सो इसमें मांस रुधिर हाड़ चाम छोड़ क्या और कुछ भी है ?"

दो० "काम वाम की प्रीति जग, नित नित होत पुरान।
राम प्रीति नित ही नई, वेद पुरान प्रमान ॥ १ ॥
लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसी प्रीति को, कहा कहौं मैं ? नाथ !" ॥
"अस्थि चरम मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जौं श्रीराम महँ, होति, न तौ भव भीति ॥ २ ॥"

स्त्री के मुख से श्रीरामप्रेरित ऐसे वचन सुनते ही आपके हृदय में मानो ज्ञानवैराग्यरूपी सूर्य्य उदय हो गये; प्रथम की दशा रात्रि के समान चली गई। आप उसी क्षण उस ठिकाने से चल दिये; स्त्री पीछे पश्चात्ताप करके कुछ प्रार्थना करने लगी; परन्तु आपने उसकी ओर देखा तक नहीं।

यहाँ सज्जनों ने इतनी युक्त वार्ता और भी लिखी है कि श्रीतुलसीदासजी कई कोस चले आये; एक ठिकाने श्रीगंगाजी में जल पान करके सो रहे, तो स्वप्न में श्रीशिवजी ने श्रीरामषडक्षर मंत्रराज बताया, और कहा कि "यही मंत्र और श्रीरामनाम तुम जपो, तुमको श्रीरामजी दर्शन देंगे।" आप जागे, उसी क्षण से श्रीरामनाम में अतिशय तत्पर हुए। इसी हेतु से श्रीशिवजी को गुरुदेव करके माने हैं (हित उपदेशक महेश मानौं गुरुकै) "बाहुक" में ॥

"मेरो माय बाप गुरु शंकर भवानिये"

तदनन्तर श्री "वाराहक्षेत्र" में आकर श्रीरामानन्दीय महात्मा * श्रीनरहरिदासजी से श्रीराममंत्रादिक पंचसंस्कार ग्रहण

* श्रीनरहरिदासजी की गुरुपरम्परा महात्माओं ने यों कही है:—
(१) श्री १०८ रामानन्द स्वामी (२) श्रीअनन्तानन्दजी (३) श्रीनरहरिदासजी (४) इन्हीं श्रीनरहरिदासजी के शिष्य श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी हैं ॥

और गोस्वामी श्रीनाभाजी की परम्परा यों है:—
(१) श्री १०८ रामानन्द स्वामी (२) श्रीअनन्तानन्द (३) श्रीकृष्णदास पैहारीजी (४) श्रीअग्रस्वामी (५) गोसाईं श्रीनाभाजी महाराज । और पाठक यह जानते ही हैं कि दोनों (गोसाईं श्रीनाभास्वामी तथा गोसाईं श्रीतुलसीदासजी) एक ही समय में थे, और परस्पर समागम था ॥

कर श्रीरामायणजी सुना। फिर आज्ञा लेकर वहाँ से श्रीकाशीजी आये; वहाँ निवास कर श्रीसीताराम प्रभुजी की मानसी तथा प्रत्यक्ष सेवा में तत्पर होकर दृढ़ भजन भावना में आरूढ़ हुये ❀॥

आपके नेत्र श्रीराम दर्शन रूप स्वातिबिन्दु के लिये चातक के समान प्यासे रहते थे।

अनन्त श्रीगोस्वामि तुलसीदासजी के जीवन चरित्र बहुत सज्जनों ने कई प्रकार से वर्णन किये हैं किसी २ ने आपको कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहा है परन्तु विज्ञोंने सरयूपारी ब्राह्मण लिखा है। उसमें कोई सुकुल ("सुकुल जनम" कवितावली) गर्गगोत्री कोई पराशरगोत्री द्विवेदी पत्यौंजा के लिखते हैं। "तुलसी पराशर गोत दुबे पतिऔंजा के" ऐसा श्रीकाष्ठजिह्वा स्वामीजी ने लिखा है। अस्तु, ब्राह्मणवंश ही को आपने पवित्र किया यह निश्चय हुआ।

जन्मस्थान भी लोग कई ठिकाने लिखते हैं; बांदा जिले में यमुना-तीर "राजापुर" को बहुत लोग कहते हैं परन्तु राजापुर आपका जन्म स्थान नहीं है। श्रीगोस्वामीजी का जन्म स्थान श्रीगंगा वाराह क्षेत्र (सोरौं) के प्रान्त अन्तर्वेद में "तरी" नामक ग्राम में वा "तारी" था। आपने "राजापुर" में विरक्त होने के पीछे निवास कर भजन किया है, इसी से वहाँ श्रीगोस्वामीजी की विराजमान की हुई संकष्टमोचन श्रीहनुमान्‌जी की मूर्ति है। और श्रीरामायण अयोध्याकांड भी है। यह वार्ता वहाँ जाके भली प्रकार निश्चय की गई है। आपके जन्म का संवत् १५८९ का निश्चय होता है। पिता का नाम श्रीआत्मारामजी और माता का श्रीहुलसीजी महानुभावों ने लिखा है॥ गोसाईंजी ने अपना नाम "रामबोला" भी कवित्तरामायण में लिखा है "रामबोला नाम हौं गुलाम रामसाहि कौ"॥

❀ दो० "पढ्यौं गुरू तें बीच शर[५], सन्त बीच मन[४०] जान।
गौरी शिव हनुमत कृपा, तब मैं रची "चिरान" ॥१॥" †

† "पुरान १८ पुरान चिरान" श्रीरामचरितमानस ॥

पुराणों की अपेक्षा अपनी रचना को चिरान कहा (पुरानी वस्तु को पुराण चिरान कहते हैं। चिरान शब्द की जड़ "चिर" जानिये)॥

(६३८) टीका । कवित्त । (२०५)

सौच जल सेस पाय, भूतहू विशेस कोऊ, बोल्यौ सुख मानि, हनुमानजू बताए हैं। "रामायन" कथा, सो रसायन है काननि कौ, आवत प्रथम पाछे जात, घृना छाए हैं॥ जाय पहिचानि, संग चले उर आनि, आए वन मधि, जानि, धाय, पायँ लपटाये हैं। करैं तिरस्कार, कही "सकौगे न टारि, मैं तौ जाने रससार" रूप धर्‍यौ जैसे गाए हैं॥ ५०६॥ (१२०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकाशीजी में * शौच को आप "असी" नदी के पार जाते थे। शौचशेष जल स्वाभाविक एक कंटकी बैरके वृक्ष में नित्य डाल दिया करते थे॥ वहाँ अन्यत्र का एक प्रेत आकर रहता; और वह वहाँ पानी पीता था, क्योंकि प्रेतों को अशुद्ध ही जल पीने का अधिकार है।

एक दिन वह प्रेत प्रगट हो सुखपूर्वक आपसे बोला कि "मुझ प्रेत को आपने पानी देकर प्रसन्न किया। कुछ मांगिये।" आपने कहा "मुझे श्रीरामचन्द्रजी का दर्शन करादो, और कुछ नहीं चाहना है।" उसने कहा "यह शक्ति तो मुझे नहीं है, परन्तु उपाय बतलाता हूँ। अमुक ठिकाने श्रीरामायण कथा जो उनके कानों की रसायन है सो सुनने श्रीहनुमान्‌जी छुपके आते हैं, अति दीन मलीन रूप धारण कर सबसे प्रथम आते और सबसे पीछे जाते हैं वे आपको दर्शन करा देंगे।"

दो० "रामकथा जहँ कोउ कहै, तहँ तहँ पवनकुमार।
सिर कर अंजुलि धरि सुनत, बहत नयन जलधार॥ १॥"

श्री गोस्वामीजी उस कथा में जाकर श्रीकपिराज (हनुमत) जी को पहचान बैठे रहे। चले, तब आप भी पीछे पीछे चले। जब वन में निकल आये तब श्रीगोस्वामीजी दौड़ के चरण पकड़ लपट गये। श्रीहनुमान्‌जी कहने लगे छोड़ो २ तुम साधु होकर मुझे क्यों छूते हो?" आप बोले "मैंने आपको श्रीराम-दास्य रस-सारांश-मूर्त्ति जान लिया; अब चरण नहीं छोड़ूँगा।" श्रीहनुमान्‌जी ने तब प्रसन्न

* और कोई २ कहते हैं कि श्रीगोस्वामीजी नित्य गंगापार शौच जाते थे वहाँ ही प्रेत मिला।

होकर जैसा श्रीरामायण में आपका रूप कहागया है सो उस रूपसे दर्शन दे मस्तक पर हाथ रक्खा ॥

(६३६) टीका। कवित्त। (२०४)

"माँगि लीजै वर" कही "दीजै राम भूप रूप, अति ही अनूप, नित नैन अभिलाखियै।" कियौ लै संकेत, वाही दिन ही सो लाग्यौ हेत, आई सोई समै चेत "कब छबि चाखियै॥" आए रघुनाथ, साथ लछिमन, चढ़े घोरे, पट रंग बोरे हरे, कैसे मन राखियै। पाछे हनुमान आय बोले "देखे प्रानप्यारे?" "नेकु न निहारे मैं तौ भलें! फेरि भाखियै" ॥ ५१० ॥ (११६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमारुतनन्दनजी ने आपसे कहा "वरदान माँगलो" श्रीगोस्वामीजी ने कहा कि "अति अनूप श्रीराम भूप रूपके दर्शन को मेरे नयन नित्य अति अभिलाषायुक्त हैं सो दीजिये॥"

श्रीकपीश्वरजी ने संकेत किया कि "चलो चित्रकूटजी में दर्शन होगा।" श्रीगोस्वामीजी उसी दिन दर्शनाभिलाष प्रेम उत्कंठा में भरे चले। श्रीचित्रकूट में आकर जहाँ श्रीहनुमान्जी ने बताया था वहाँ बैठके यह विचार करने लगे कि "वह शोभामृत मेरे नेत्र कब चखेंगे?" इतने ही में राजकुमार वेष से श्रीरघुनन्दनजी और लाललाड़ले श्रीलषणजी घोड़ों पर चढ़े मृगयानुकूल हरित वस्त्र धारण किये एक मृगा के पीछे घोड़ा दौड़ाये आकर निकल गये। श्रीगोस्वामीजी ने देखा तो, परन्तु मनमें श्रीराम लक्ष्मणजी का निश्चय न किया।

पीछे श्रीहनुमान्जी ने आकर पूछा "तुमने प्राणप्यारे प्रभुको देखा?" आप कहने लगे कि "मैंने भले प्रकार निश्चय करके तो नहीं देखा फिर दिखलाने की कृपा कीजिये।" तब श्रीपवनतनयजी ने कहा "अब हम भली भाँति से फिर दर्शन करावेंगे।" सो फिर मन्दाकिनी के तीर में श्रीसीतारामजी सिंहासन पर विराजमान श्रीभरत लालजी छत्र लिये श्रीलक्ष्मण शत्रुघ्न दहिने बायें चँवर चलाते थे

माधुरी का दर्शन श्रीहनुमान्‌जी कृपालु ने कराके श्रीतुलसीदासजी को कृतकृत्य किया; फिर श्रीगोस्वामीजी काशी को चले आ, उसी दिव्यरूप की माधुरी का ध्यान करते थे ॥

(६४०) टीका । कवित्त । (२०३)

हत्या करि विप्र एक, तीरथ करत आयौ, कहै मुख "राम, भिक्षा डारियै हत्यारे कौं।" सुनि अभिराम नाम धाम मैं बुलाय लियौ दियौ लै प्रसाद कियौ सुद्ध गायौ प्यारे कौं ॥ भई द्विज सभा कहि बोलि कै पठाये आप "कैसे गयौ पाप, संग लैके जेंये, न्यारे कौं।" "पोथी तुम बाँचौ, हिये सार नहीं साँचौ अजू ताते मत काँचौ, दूर करै न अँध्यारे कौं" ॥ ५११ ॥ (११८)

वार्त्तिक तिलक ।

एक समय काशीजी में एक ब्राह्मण हत्या करके अनेक तीर्थ करते आया और बड़े दीन स्वरसे पुकार के कहता था "राम, राम, हत्यारे को भिक्षा डाल दीजिये।" श्रीगोस्वामीजी ने सुना कि "प्रथम अति अभिराम शत कोटि तीर्थ सम पावन नाम कह फिर अपने को हत्यारा भी कहता है यह कौन है ?" आपने निकल के पूछा। उसने अपना वृत्तान्त कहा। आप बोले कि "जो तुम इस प्रकार ग्लानि दीनतापूर्वक मेरे प्राणप्रिय परब्रह्म श्रीरामजी का नाम उच्चारण करते हो, तो शुद्ध हो गये आवो बैठो।" फिर उसको पंक्ति में बैठाके श्रीराम प्रसाद पवाये।

(क०) "हरी भरी बाटिका सुधर्म की, विशाल अति, जाके देखे छूटि जात सबै दुख द्वंद है। व्यास, शुक, नारद, मुनीश, शेष, शारदादि, पाराशर, बालमीक, मालिन को बृन्द है ॥ चार सम्प्रदाय की बनाई चार रौशैं, 'रंग,' शास्त्र, वेद तरु पाँति, राजत स्वछन्द है। चञ्चरीक 'तुलसी,' सप्रेम ताके मध्य पैठि, अजब निकास्यो 'रामयश' मकरन्द है ॥ १ ॥"

(डाक्टर रामलालशरण मास्टर "रंग")

इस वार्ता को काशी के सब ब्राह्मणों पंडितों ने सुन कर सभा की और श्रीगोस्वामीजी को बुलाकर कहने लगे कि "विना प्रायश्चित्त किये इसका पाप कैसे छूट गया? पंक्ति से न्यारे किये हुये को आपने अपने साथ में लेकर भोजन किया, यह अयोग्य है।" आपने उत्तर दिया कि "आप लोग शास्त्रों के पुस्तक पढ़ते तो हैं परन्तु उन के सारार्थ में दृढ़ता सचाई नहीं करते; इसी से आप लोगों का मत कच्चा है, हृदय का अज्ञान अन्धकार नहीं जाता; देखिये तो श्रीराम तापिनी आदिकश्रुतियों तथा हारितादि स्मृतियों में श्रीराम नाम की कैसी महिमा लिखी है।"

(प्रमाण श्लोक) "ब्रह्मघ्नो गुरुतल्पगोपि पुरुषः स्तेयी सुरापोऽपि-वामातृभ्रातृविहिंसकोपि सततं भोगैकबद्धस्पृहः। नित्यंराममिमं जपन् रघुपतिंभक्त्याहृदिस्थं तथा ध्यायन्मुक्तिमुपैति किं पुनरसौ स्वाचारयुक्तो नरः॥ १॥ स्वप्ने तथा संभ्रमतः प्रमादाद्विजृम्भणात्संस्खलनाद्यभावात्। रामेति नाम स्मरतस्सकृद्धै नश्यत्यसंख्यद्विजधेनुहत्या॥ २॥ रकारोच्चारणेनैव बहिर्निर्याति पातकम्। पुनः प्रवेशकाले च मकारस्तु कपाटवत्॥ ३॥ (श्रुतिः) य एतत्तारकं ब्राह्मणो नित्यमधीते स सर्वं पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स ब्रह्महत्यां तरति सभ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वं हत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति सोऽविमुक्तमाश्रितो भवति स महान् भवति सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ इति श्रुतिः रामतापिनीयोपनिषदि।" श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्। ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदोविदुः॥ १॥ इतिसनत्कुमारसंहितायाम्॥

"तुलसी अघ सब दूर भै, 'रा' अक्षर के लेत।
तहाँ बहुरि आवे नहीं, 'मा' अक्षर पट देत॥"

(६४१) टीका। कवित्त। (२०२)

देखी पोथी बाँच, नाम महिमा हूँ कही साँच, "ऐपै हत्या करै कैसें तरै कहि दीजिये?" "आवै जौ प्रतीति कहौ", कही याके हाथ जेंवै शिवजूको बैल तब पंगति में लीजियै॥" थार मैं प्रसाद

दियौ चले जहाँ पन कियौ, बोले "आप नामकै प्रताप मति भीजियै। जैसी तुम जानो तैसी कैसे कै बखानो अहो" सुनिक प्रसन्न पायौ, "जै जै" धुनि रीझियै ॥ ५१२ ॥ (११७)

वार्त्तिक तिलक ।

आपके कहने पर पंडितों ने उन पुस्तकों को बाँच देखे तो ब्रह्महत्या-विमोचनी श्रीराम नाम की महिमा सत्य सत्य लिखी थी तथापि पंडितों ने कहा कि "लिखा तो है परन्तु कैसे जान पड़ै कि यह हत्या से छूट गया ?" आपने उत्तर दिया कि "जिस प्रकार से तुम लोगों को प्रतीत आवै सो कहो।" पंडितों ने आपस में संमत करके कहा कि "इसके हाथ का पदार्थ श्रीविश्वनाथजी का नन्दी (पाषाण का बैल) भक्षण कर लेवै तब इसको शुद्ध जान पंक्ति में ग्रहण कर लें।" आपने कहा बहुत अच्छा चलिये ॥

थाल में प्रसाद भर के उसके हाथ में देकर समाज सहित नन्दी के पास आये, और श्रीतुलसीदासजी ने विनयपूर्वक नन्दीजी से कहा कि "आप श्रीराम नाम के प्रताप से मतिको सरस कर इसके हाथ का प्रसाद पाइये, क्योंकि श्रीराम नाम का प्रताप जैसा आप जानते हैं वैसा मैं नहीं कह सकता।" यह सुनते ही नन्दीश्वरजी प्रसन्न होकर सब प्रसाद पागये। देखके सब सज्जन गोस्वामीजी के विश्वास पर रीझ के "जय जय" धुनि करने लगे। श्रीराम नाम की जय, श्रीतुलसीदासजी की प्रतीति की जय !

(६४२) टीका। कवित्त । (२०१)

आए निसि चोर, चोरी करन हरन धन, देखे श्याम घन, हाथ चाप सर लिये हैं। जब जब आवैं बान साँधि डरपावैं, एतो अति मड़राव, ऐपै बली दूरि किए हैं॥ भोर आय पूछैं "अजू ! साँवरो किशोर कौन ?" सुनि करि मौन रहे, आँसू डारि दिए हैं। दें सबैं लुटाय, जानी चौकी रामराय दई, लई उन्हौ दिक्षा सिक्षा, सुद्ध भए हिए हैं॥ ५१३ ॥ (११८)

वार्त्तिक तिलक ।

एक समय रात्रि में श्रीगोस्वामीजी के यहाँ कई चोर मिल के धन

चुराने को आये; सो देखते क्या हैं कि एक घनश्याम सुन्दर वीर कटि में तरकस बाँधे, हाथ में धनुष बाण लिये खड़ा है। तब चोर चले गए, कुछ देर में फिर स्थान के दूसरी दिशा में आये, वहाँ भी रक्षक खड़ा धनुष बाण को संधान कर मानो मार ही डालेगा। इसी प्रकार स्थान के तीनों दिशाओं में कई बार चोर आये, परन्तु उन सर्वतोमुख रक्षक ने सब ओर से रक्षा की, वरंच अपनी शोभा से चोरों के चित्त को भी चुरा लिया। इतने में रात्रि भी बीत गई। प्रभु के दर्शन से चोरों की कुछ और ही दशा हो गई, हृदय में उस छवि के दर्शन की बड़ी अभिलाषा, और शुद्धता, आ गई।

सबेरे सब चोर श्रीगोस्वामीजी के समीप आकर पूछने लगे कि "महाराज! आपके स्थान में श्यामसुन्दर किशोर वीर धनुष बाण लिये कौन रहता है? कहाँ है?" और कुछ अपना वृत्तान्त भी कह सुनाया। आप सुनकर मौन हो रहे; और नेत्रों से आँसुओं की धारा चलने लगी। हृदय में यह अनुताप हुआ कि "हाय! यह तुच्छ मायिक पदार्थ के लिये प्राणप्रिय श्रीरामकृपालुजी ने रात्रि में चौकी दी!" उसी क्षण सब द्रव्य बरतन आदिक पदार्थ लुटा दिये। श्रीरामदर्शन से और श्रीगोस्वामीजी की दशा देख, चोरों के हृदय अतिशुद्ध हो गये, चरणों में पड़कर, प्रार्थना कर श्रीराममंत्र पंचसंस्कार सदुपदेश लिये, और कृतार्थ हुये।

सवैया।

"अति सुन्दर रूप अनूप महाछबि कोटि मनोज लजावनिहारे।
उपमा न कहूँ सुखमा के सुमंदिर मंदिरहू के बचावनिहारे॥
दिननायकहू निशिनायकहूँ मदनायक के मद नावनिहारे।
साँवर राजकिशोर बसो चित-चोरनहू के चोरावनिहारे॥ १॥"

(६४३) टीका। कवित्त। (२००)

कियौ तन विप्र त्याग, तिया चली संग लागि; दूरहीं ते देखि, कियो चरण प्रनाम है। बोले यों "सुहागवती," "मर्यो पति होऊँ सती," "अब तो निकसि गई ज्याऊँ सेवो राम है" ॥ बोलिकै कुटुंब

कही "जौ पै भक्ति करौ सही," गही तब बात जीव दियो अभिराम है। भये सब साधु व्याधि मेटी लै बिमुखता की जाकी बास रहै तौ न सूझै स्याम धाम है॥ ५१४॥ (११५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकाशीजी में एक समय एक ब्राह्मण मर गया था। उसकी स्त्री पति के शरीर के साथ सती होने को चली जाती थी। मार्ग में श्रीगोस्वामीजी को देख दूर ही से चरणों में प्रणाम किया; आपने आशिष दिया कि "सौभाग्यवती हो।" वह बोली "स्वामीजी! मेरे पति का तो शरीर छूट गया है, मैं सती होने जाती हूँ।" आपने कहा कि "अब तो मेरे मुख से निकल गई; जो तुम श्रीरामजी की भक्ति सेवा करो तो इसको ज़िवा दूँ।"

उसके कुटुम्ब भर को बुलाके कहा कि "आज से सब श्रीसीताराम नाम जपो और प्रेमभक्ति में परायण हो, तो यह श्रीरामकृपा से जी उठ।" सुनते ही ब्राह्मण के सब परिवार बोले कि "हम सब जन्म भर भजन करेंगे जो यह जी उठै।" आपने कहा "सब हाथ उठाके 'जय-जय श्रीसीताराम' कहो।" सबने ऐसा ही किया। उन सबके साथ वह मृतक भी उठके हाथ उठाके "सीताराम" कहने लगा। उसको जीवित देख "जय-जय" कार धुनि हुई। तब तो वह ब्राह्मण और उसकी स्त्री तथा सब परिवार श्रीराममंत्र ग्रहण कर श्रीरामभक्तियुक्त साधु हो गये। श्रीगोस्वामीजी ने सबकी भक्ति-विमुखतारूपी व्याधि छुड़ा दी कि जिस विमुखता की गंधिमात्र रहने से भी श्रीरामश्यामसुन्दर का धाम नहीं सूझ पड़ता।

(६४४) टीका। कवित्त। (११६)

दिल्लीपति पातसाह[१] अहदी पठाये लैन ताकौं, सो सुनायौ सूबै बिप्र ज्यायौ जानियै। देखिबे कों चाहै नीकै सुख सों निबाहै, आय कही बहु बिनै गहीं चले मन आनियै॥ पहुँचे नृपति पास, आदर प्रकास कियौ, दियौ उच्च आसन लै, बोल्यौ मृदुबानियै। "दीजै

१ "पातसाह"=پادشاه=बादशाह=नृपति, महीप।

करामात जग ख्यात सब मात किये," कही "झूठ बात एक राम पहिचानियै" ॥ ५१५ ॥ (११४)

वार्त्तिक तिलक।

जब आपकी कृपा से ब्राह्मण जी उठा तब चारों ओर सुयश फैल गया। इस बात को दिल्लीपति جہانگیر نورالدین بادشاہ ने भी सुनके, आपका दर्शन करने के लिये, दूतों को काशी के सूबादार के पास भेजा कि "जिन साधु ने मरे ब्राह्मण को जिला दिया है, उनको यहाँ भेज दो।"

उस सूबादार ने श्रीगोस्वामीजी के समीप आकर प्रार्थना की कि "बादशाह आपका दर्शन किया चाहते हैं, कृपा करके सुखपूर्वक चलिये। महाराज ने बहुत प्रकार से विनय किया है।" आपका बुलाना सुन यहाँ के बहुत से राजा सेवक लोगों ने कहा कि "स्वामी-जी! हम सबों, को शंका होती है, आप मत जाइये; आपके अर्थ में जो हम सबों के प्राण लगें तो हम युद्ध में दे सकते हैं।" सुनके आपने आज्ञा दी कि "कोई शंका की बात नहीं है, हम जाके मिल आवेंगे।"

आप सबको समझाके श्रीगंगाजी में नौका पर चढ़ प्रयागजी आये, वहाँ से श्रीयमुनाजी में नौका पर चले; मार्ग के लोगों को दर्शन देते, कृतार्थ करते, दिल्ली में यवनराज के समीप गये। वह उठकर खड़ा हो बड़े उच्च आसन पर विराजमान कर मृदुबानी से बोला "आपने मरा मनुष्य जिवा दिया है यह बात सारे संसार में वि-ख्यात हो गई है, इससे मुझको भी करामात दिखाइये।" श्रीगोस्वामीजी ने उत्तर दिया "करामात, अजमत आदिक झूठी बात हम एक भी नहीं जानते, केवल श्रीरामजी को जानते मानते भजते हैं॥"

(६४५) टीका। कवित्त। (१६८)

"देखैं राम कैसो" कहि, कैद[1] किये, किये हिये "हूजिये कृपाल हनुमानजू दयाल हो।" ताही समै फैलि गए, कोटि कोटि कपि नये, लोचैं तन खोचैं चीर भयो यों बिहाल हो॥ फोरैं कोट, मारैं चोट, किए डारैं लोट पोट, लीजै कौन ओट जाय मान्यो प्रलय-

१ "कैद"=قید=बन्दीघर में रखना।

काल हो। भईं तब आँखें, दुखसागर कों चाखें, अब वेई हमें राखें, भाखें, बारो धन माल हो॥ ५१६॥ (११३)

वार्त्तिक तिलक।

आपका उत्तर सुन यवनराज सक्रोध बोला कि "देखें राम कैसे हैं," फिर अपने मनुष्यों को आज्ञा दी कि "इनको ले जाओ एक गृह में बैठाके पहरा में रक्खो, बिना कुछ करामात दिखाये नहीं छोड़ेंगे।" लोगों ने ऐसा ही किया। तब श्रीगोस्वामीजी ने हृदय में अपने करामाती सहायक श्रीहनुमान्‌जी को स्मरणकर विनय किया, "हे श्रीहनुमन् कृपासिंधो! अब आप दया कीजिये॥"

उसी क्षण इन पदों को बनाके प्रार्थना की—

(पद) "ऐसी तोहिं न बूझिये हनुमान हठीले।
साहेब कहूँ न राम से तोसे न वसीले॥" इत्यादि।

(दूसरा पद) "समरथ सुवन समीर के रघुवीर पिआरे।
मोपर कीबी तोहिंजो करलेहि भिआरे॥" इत्यादि।

आपकी प्रार्थना सुनते ही राजगृह में और सब नगर भर में कोटान कोट बन्दर फैल गये, सो कैसे कि नये अर्थात् स्वयं श्रीहनुमान्‌जी बड़े विकराल अनन्त रूप धारण कर आगये और सबकी दुर्दशा करने लगे। नखों से, दाँतों से, लोगों को नोचने लगे यहाँ तक कि यवनराज की नारियों बेगमों के वस्त्रों को चीरफाड़ डाले, नोच चोथ के विकल कर डाला। वानरवृन्दों ने जैसा लंका में उपद्रव किया था वैसा ही यहाँ उत्पात मचाया, कोट को तोड़ फोड़ डाला उन्हीं पत्थरोंसे लोगों को चोट मारते लोट पोट किये डालते थे सब लोग हाय हाय कर रोने पुकारने लगे कि अब हम किस की ओट से बचें। सबने यही जाना कि प्रलय हुआ, महाउत्पात देखा। तब यवनराज के हृदय की आँखें खुलीं, दुख के समुद्र में डूबके निश्चय किया कि अब वेई फ़क़ीर हमारी रक्षा करेंगे, उन्हीं के ऊपर हम अपना धन सम्पत्ति निवछावर कर देंगे॥

(६४६) टीका। कवित्त। (१६७)

आय पाय लिये, "तुम दिये हम प्रान पावैं", आप समझावैं "करामात नेकु लीजियै"। लाज दबिगयौ नृप, तब राखि लयौ कह्यौ "भयौ घर रामजू कौ बेगि छोड़ि दीजियै॥" सुनि तजि दयौ और कस्यौ लैकै कोट नयौ, अबहूँ न रहे कोऊ वामैं, तन छीजियै। काशी जाय, बृन्दाबन आय मिले नाभाजू सों, सुन्यौ हो कबित्त निज रीझ मति भीजियै॥५१७॥ (११२)

वार्त्तिक तिलक।

बादशाह दौड़ता हुआ आके श्रीगोस्वामीजी के चरण पकड़कर विनय करने लगा कि "अब हम लोगों के प्राण आपके दिये हुए मिलते, और प्रकार से नहीं बच सकते।" सुनके श्रीगोस्वामीजी ने कहा "कुछ काल करामात तो देख लो।" आपके वचन सुन अति लज्जित हो कहने लगा कि "सब देख लिया, अब रक्षा कीजिये।" आपने आज्ञा की कि "जो रक्षा चाहो तो हाथ उठाकर सब लोग श्रीरामजी की दोहाई दो।"

उन्होंने ऐसा ही किया। तब श्रीहनुमान्‌जी ने अपना क्रोध उपद्रव शांत कर लिया। तदनन्तर श्रीगोस्वामीजी ने प्रथम पदों में जो श्रीहनुमान्‌जी को प्रणय कठोरता कही थी, उसके क्षमापन में इस पद से प्रार्थना की।

(पद) "अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी।
इनको विलगन मानिये बोलहिं न विचारी" इ०।

क्षमा होने पर यवनराज ने श्रीगोस्वामीजी से बहुत प्रेम प्रार्थना कर कहा कि "अब मुझे कुछ आज्ञा दीजिये सो सेवा करूँ।" आपने कहा कि "यह तुम्हारा घर, नगर श्रीरामजी का हो गया, श्रीहनुमान्‌जी ने थाना कर लिया, इसको तुम शीघ्र छोड़ दो।" आज्ञा सुन वह उस निवास को छोड़ दूसरा नया कोट निर्माण कराके उसी में जा रहा। अब तक भी उस पुरानी जगह में कोई नहीं रहता; यदि रहै तो वह बन्दरों के मारे रहने न पावे।

फिर श्रीगोस्वामीजी दिल्ली से काशीजी को चल दिये। मार्ग में वृन्दावन में आकर श्रीनाभास्वामीजी से प्रेमपूर्वक मिले; श्रीनाभाजी ने जो भक्तमाल में आपके यश का छप्पय लिखा था सो सुनाया। श्रीसीताशमकृपास्मरण से दोनों ने परम सुख पाया॥

(६४७) टीका। कवित्त। (१६६)

मदनगोपाल जू कौ दरसन करि कही, "सही राम इष्ट मेरे दृष्टि भाव पागी है"। वैसही सरूप कियौ, दियौ लै दिखाई रूप, मन अनुरूप छबि देखि नीकी लागी है॥ काहू कही "कृष्ण अवतारीजू प्रसंस महा, राम अंस," सुनि बोले "मति अनुरागी है। दसरथसुत जानौं, सुन्दर अनूप मानौं, ईसता बताई रति बीसगुनी जागी है"॥ ५१८॥ (१११)

वार्त्तिक तिलक।

वृन्दावन में श्रीगोस्वामीजी श्रीनाभा स्वामीजी को मिलके अति सुखी हुए; फिर उन्हीं के साथ और वैष्णवों के सहित मुख्य मंदिरों में दर्शन करते, श्रीमदनगोपालजी के मंदिर में आये। वहाँ श्रीगोस्वामीजी दंडवत् प्रणाम करना चाहते थे कि एक कृष्णोपासक ने परशुरामदासजी कृत यह दोहा पढ़ा—

दो० "अपने अपने इष्ट को, नवन करैं सब कोय।
इष्ट विहीने परशुराम, नवै सो मूरख होय॥ १॥"

दो० परशुराम के वचन सुनि, मानत हिये हुलास।
सीतारवन सँभारि कै, बोले तुलसीदास॥ १॥
"कहा कहौं छवि आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धरो धनुष शर हाथ॥ २॥"
"मुरली लकुट दुराय कै, धर्यो धनुष शर हाथ।
तुलसी लखि रुचि दास की, नाथ भये रघुनाथ॥३॥"

चौ० "यह प्रत्यच्छ देख्यौ संसारा, वृन्दावन माच्यौ जयकारा।"

एक समय ज्ञानगूदरी में श्रीगोस्वामीजी जा विराजे; किसी व्रजवासी ने कहा कि "श्रीकृष्णचन्द्र अवतारी बड़े प्रशंसनीय हैं।"

(श्लोक)

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" सो "इनको छोड़ आप अंशावतार श्रीरामजी को क्यों भजते हैं ?" सुनते ही श्रीगोस्वामीजी श्रीरामरूपमाधुर्यानुरागबुद्धियुक्त बोले "मैं तो श्रीचक्रवर्ती महाराजाधिराज श्रीदशरथजी के सुत जान परम सुन्दर अति अनूप मान सानुराग भजता था, आज आपने अंश ईश्वरता भी बता दी, इससे मेरी रति प्रीति श्रीराम श्यामसुन्दरजी में बीस गुनी जग उठी" ॥

दो० "जौ जगदीश तौ अति भलो, जौ भूपति तौ भाग।
तुलसी चाहत जन्म भरि, रामचरण अनुराग ॥ १ ॥

चौ० "यह सुनि जानि अनन्य उपासी। गहे चरण सब संत हुलासी॥"

देखिये, श्रीगोस्वामीजी यद्यपि श्रीरामपरत्व सर्वावतारित्व प्रमाण देकर उनको निरुत्तर कर सकते थे तथापि माधुर्यपरत्व ही से जीति लिये, क्योंकि आपका सिद्धांत ऐसा ही है।

दो० "जो मधु दीन्हें ते मरै, माहुर दियो न जाय।
जग जित हारे परशुधर, हारि जिते रघुराय॥"

दो० "फीके विना अनन्यता, यद्यपि बड़े महान।
सुन्दरता बरबादि सब, बिना नाक अरु कान ॥"

☞ गोस्वामी श्री १०८ तुलसीदासजी महाराज तथा "श्रीराम-चरितमानस" की प्रशंसा में, काशीवासी साहित्याचार्य श्रीअम्बिकादत्त व्यासजी ने जो कवित्त लिखे हैं, सो कविता भी देखने ही योग्य है ॥ (पटना खड्गविलास-प्रेस में मिलते हैं)

श्रीजानकीघाट स्वामी श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरण महाराजजी की आज्ञानुसार एक वकील ने लखनऊ नवलकिशोर-प्रेस में १९२५=१९८२ में जो रामचरितमानस छपाई है, उसमें श्रीगोस्वामीजी की जीवनी देखिये।

गोस्वामी श्री १०८ तुलसीदासजी के चरित्र अपार हैं। इस दीन ने केवल उतना ही मात्र लिखा है कि जितना श्रीप्रियादासजी के कवित्तों में वर्णित है।

❀ श्रीभक्तमाल-सुमेर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ❀

श्रीसीतारामार्पणमस्तु

(१६३) श्रीमानदासजी ।

(६४८) छप्पय । (१९५)

गोप्य केलि रघुनाथ की मानदास परगट करी ॥
करुणा वीर सिंगार आदि उज्ज्वल रस गायो ।
पर उपकारक, धीर, कवित, कविजनमन भायो ॥
कौसलेस पदकमल अनंनि[1] दासत व्रत लीनों ।
जानकीजीवन सुजस रहत निसि दिन रँग भीनों ॥
रामायन नाटक की रहसि उक्ति भाषा धरी ।
गोप्य केलि रघुनाथ की मानदास परगट करी ॥
॥ १३० (८४)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीजानकीजीवन रघुनाथजी की गुप्त केलि (रहस्यलीला), श्रीमानदासजी ने काव्य द्वारा प्रगट की; उन लीलाओं में करुणारस, वीररस, उज्ज्वल शृङ्गाररस आदि, सबरस अति उज्ज्वलता से गान किये, और बड़े परोपकारी अति धीर हुए । आपका कवित्त कविजनों के मन में बहुत अच्छा लगता था । श्रीकोशलेश रामचन्द्रजी के चरणकमलों में अनन्य दासता का व्रत धारण किया । श्रीजानकीजीवनजी के सुयश अनुराग के रँग में दिन रात भीगे रहते थे । श्रीरामायणजी तथा श्रीहनुमन्नाटक आदिकों की सब रहस्य उक्तियाँ भाषा में वर्णन कीं । ऐसे श्रीमानदासजी हुए आपने शृङ्गाररस और माधुर्य बहुत ही उत्तम रीति से लिखा है ।

दो० "सी" कहते सुख ऊपजै, "ता" कहते तम नास ।
तुलसी "सीता" जो कहै, राम न छाँड़ैं पास ॥ १ ॥

---

१ अननि=अनन्य ॥

(१६४) श्रीगिरिधरजी।

(६४६) छप्पय। (१६४)

(श्री) बल्लभजू के बंस में सुरतरुगिरिधर भ्राजमान॥
अर्थ धर्म काम मोक्ष भक्ति अनपायनि दाता।
हस्तामल स्तुति ज्ञान सब ही सास्त्र को ज्ञाता॥
परिचर्या ब्रजराज कुँवर कें मनकों कर्षैं।
दरसन परम पुनीत सभा तन अमृत बर्षैं॥
बिठ्ठलेस नंदन सुभाव जग कोऊ नहिं ता समान।
(श्री) बल्लभजू के बंस में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान॥
१३१॥(८३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवल्लभाचार्यजी के वंश में श्री "गिरिधर" जी कल्पवृक्ष के समान शोभा को प्राप्त हुए। अर्थ धर्म काम मोक्ष तथा अनपायनी भक्ति के देनेवाले हुए। श्रुति सम्भव ज्ञान आपको हस्तामलक था, तथा सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। आपकी की हुई सेवा परिचर्या श्रीब्रजराजकुमार कृष्णचन्द्रजी के मन को खींच लेती थी। अति पुनीत दर्शनयुत सभा में बैठ वचनामृत की वर्षा करते थे। श्रीविठ्ठलेशनन्दनजी के सुभाव के समान जगत् में और किसी का सुभाव न हुआ।

---

(१६५) श्रीगुसाईं गोकुलनाथजी।

(६५०) छप्पय। (१६३)

*(श्री) बल्लभजू के बंस में गुननिधि "गोकुलनाथ"

---

* छापे की किसी पोथी में इस छप्पय के अनन्तर एक छप्पय और है कि जो पुरानी किसी प्रति में नहीं पायी जाती। निश्चय होता है कि उस पुस्तक के छपानेवाले के पुरुष सोनी थे।

"विठ्ठलवंश कल्याण के शिष्य सोनि सद्गुण निकर, इत्यादि"॥

अति ॥ उदधिसद अत्तोभ सहज सुन्दर मित भाषी।
गुरु वत्तन गिरिराज भलप्पन सब जग साषी॥
विठ्ठलेश की भक्ति भयो बेला दृढ़ ताकें।
भगवत तेज प्रताप, नमित नरवर पद जाकें॥
निर्विलीक आसय उदार, भजन पुंज गिरिधरन रति।
बल्लभजू के बंश में, गुननिधि "गोकुलनाथ" अति॥
१३२॥ (८२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीवल्लभजी के वंश में (आप के पोते) श्री "गोकुलनाथजी" अति उत्तम गुणों के सिंधु हुए। समुद्र के समान त्तोभरहित, गंभीर, सहज सुन्दर, मितभाषी हुए। और आपका शरीर पुष्ट गौरवयुक्त गिरिराज सम था, इस बात के सात्ती जगत् भर के लोग थे कि आप बड़े भलप्पन साधुतायुक्त हुए। श्रीविठ्ठलेशजी की भक्तिसागर के आप दृढ़ वेला (मर्यादा) के समान हुए। श्रीभगवान् के तेज प्रतापयुक्त होने से आपके चरणों को श्रेष्ठ नर वन्दते थे। सत्ययुक्त, उदार, अन्तःकरण भजनपुंज, गोबर्धननाथजी की प्रीति में परायण हुए॥

(६५१) टीका। कवित्त। (१६२)

आयो कोऊ शिष्य होन ल्यायो भेट लाखन की, भाखन की चातुरी पै मेरी मति रीझियै। कहूँ है सनेह तेरो? जाके मिलें बिना देह ब्याकुलता होय जौपै, तो पै दीत्ता दीजियै॥ बोल्यो "अजू मेरो काहू बस्तु सों न हेतु नैकु," "नेति नेति कही हम, गुरु ढूँढ़ि लीजियै। प्रेम ही की बात इहाँ करही पलटि जात," गयो दुख गात, कहो कैसें रंग भीजियै॥ ५१६॥ (११०)

(शेर) आँखों में मेरी जगह है तेरी।
चितवन तेरी कामना है मेरी॥

मैं चेरि तेरी तेरा दिया सब।
गुण गा सकूँ तेरा मैं पिया कब॥
जनकलली के पदकमल, जेहि उर करहीं ठौर।
तेहि उर राजहिं अवश्य श्रीरामरसिक शिरमौर॥
जय जानकि मम स्वामिनी, जय स्वामी सियनाह।
सियसहचरि नित चाहती, लली लाल की चाह॥

वार्त्तिक तिलक।

एक समय कोई धनी मनुष्य लक्षावधि की सम्पत्ति भेंट देने को लेकर श्री "गोकुलनाथजी" के समीप आया; आपके बोलने की चातुरी में मेरी मति रीझ गई कि उससे पूछा "किसी में तेरा इस प्रकार का स्नेह है कि जिसके मिले विना तेरे तन मन में व्याकुलता हो जाय? यदि हो तो हम तुझको दीक्षा देवें" वह बोला कि "मेरा किसी वस्तु में किंचित् भी स्नेह नहीं है॥"

सुनकर उत्तर दिया कि "हम तुझे शिष्य नहीं करेंगे, तू अपने लिये और गुरु कहीं ढूँढ़ ले, क्योंकि हमारे भक्तिमार्ग में एक प्रेम ही प्रेम की वार्ता है; जो उसके प्रेम पदार्थ होवे तो शिष्य कर उसको संसार की ओर से, कल सरीखे, पलटके प्रभु में लगा देवें; और जो तेरे हृदय में प्रेम का बीज ही नहीं है, तो श्रीभक्तिरूपी वृक्ष कहाँ से उत्पन्न होगा?" आपका उत्तर सुन वह दुखी होकर, चला गया। वह शून्य हृदयवाला प्रभु के प्रेमरंग में कैसे भीजै?

(६५२) टीका। कवित्त*। (१६१)

कान्हा हो[1] हलालखोर[2], घोरि दियो मन लैकै स्याम रससागर में नागर रसाल है। निसि को सुपन माँझ, निपुन श्रीनाथजूनै, आज्ञा दई, "भीत नई भई[3] ओट साल है॥ गोकुल के नाथजू सों

*इसके पूर्व छप्पय की टिप्पणी देखिये। "विट्ठल वंश कल्यान के, शिष्य सोनि सदगुण निकर॥ ६०" यह एक छप्पय किसी छपी पोथी में है, परन्तु पुरानी किसी प्रति में नहीं पाया जाता। मूल ८० देखिये आप सात भाई थे, श्रीविट्ठलनाथजी की कथा देखिये, पाँच वर्ष तक आप श्रीभगवत् आवेश विभूति थे।

१ हो=था। २ "हलालखोर", حلال‌خور=भंगी। ३ भई=हुई।

बेगि दै जताइ दीजै 'कीजै याहि दूर छबि पूर देखौ ख्याल है'।" भोर जो बिचारै, नहिं धीरजकों धारै, "उहाँ जाऊँ कोऊ मारै, पैंड़ें पस्यौ यह लाल है"॥ ५२०॥ (१०९)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीगोकुलनाथजी ने देखा कि श्रीगोवर्द्धननाथजी के मंदिर के सामने खड़े होकर बहुत नीच लोग भी दर्शन करते हैं; इससे सामने एक भीत की आड़ खिंचवा दिया। एक "कान्हा" जात का भंगी था, परन्तु उसने अतिनागर रसाल श्यामसुन्दररूपी सागर में अपना मन मिला दिया। वह नित्य आता दर्शन करता था पर उस भीत के बनने से अब उसको दर्शन मिलना रुक गया, इससे वह बड़ा व्याकुल हुआ। तब प्रेमप्रवीण श्रीनाथजी ने रात्रि को स्वप्न में उसको आज्ञा दी कि "यह जो नवीन भीत ओट करनेवाली हुई है सो हमारे मन में सालती है इससे तू गोकुलनाथजी से कहदे कि इसको शीघ्र गिरवा दें हम अपने सामने सब शोभा से पूर्ण कौतुक देखा करें।"

उसने प्रभात में कहने का विचार किया, परन्तु धैर्य न हुआ, डर गया, कि "मैं कहने जाऊँ, तो कोई मारै न; और ये लालजी मेरे पैंड़े पड़े हैं मुझको पुनः पुनः आज्ञा देते हैं।"

"धन्य धन्य भंगी बड़ भागी। जगतपूज्य हरिपद अनुरागी॥"

(६५३) टीका। कवित्त। (१६०)

ऐसे दिन तीन आज्ञा देते वे प्रवीननाथ, हाथ कहाँ, मेरे बिन काज नहीं सरैगो। गए द्वार द्वारपाल बोले, "जू बिचार एक दीजै सुधि कान," सुनि खीझे "बात करैगो"॥ काह्नै सुनाय दई, लीजियै बुलाय "अहो कहौ," और "दूर करौ," करे दूरि ढरैगो। जाय वही कही, लही आपनी पिछानि, मिले, सुन्यौ "मेरो नाम स्याम कह्यौ, नहीं टरैगो"॥ ५२१॥ (१०८)

वार्त्तिक तिलक ।

प्रेम में प्रवीण श्रीनाथजी ने कान्हा को इसी प्रकार स्वप्न में

तीन रात्रि आज्ञा दी। तब उसने विचार किया कि "अब मेरा बस नहीं है विना श्रीगोसाइंजी के समीप गये काम नहीं चलेगा।" जाकर द्वारपालों से विनय किया कि "मुझे कुछ कहना है सो आप गोसाइँ जी के कान में सुना दीजिये"। सुनकर द्वारपाल खीझ उठे कि तू "उनसे बात करेगा?"

परन्तु किसी ने सुना दिया; तब आपने बुलाकर पूछा कि "कहो," उसने कहा कि आपके समीप से और लोग उठ जावें तब कहूँगा; सब उठ गये, तब कान्हा स्वप्न में जो नाथजी की आज्ञा हुई थी सो सब कह गया। श्रीगोकुलनाथजी सुनके अति हर्षित हुए कि "प्रभु ने मुझे अपना जान आज्ञा दी, बड़ी मंगल की बात है, और कान्हा से मिल-के कहा कि "जो श्यामसुन्दरजी ने मेरा नाम लेकर कहा है तो अवश्य करूँगा।" फिर वह भीत गिरवा दी। और प्रेमी कान्हा को कुछ कार्य किये विना ही भोजन वस्त्रादि से सत्कार करने लगे॥

---

(१६६) श्रीबनवारीदासजी।

(६५४) छप्पय। (१८९)

रसिक रँगीलौ, भजन पुंज सुठि, "बनवारी" * श्याम कौ॥ बात कबित बड़ चतुर चोख चौकस अति जानै। सारा-सार बिबेक परमहंसनि परवानै॥ सदाचार संतोष भूत सबको हितकारी। आरज गुन तन अमित, भक्ति दसधा ब्रतधारी॥ दरसन पुनीत, आसय उदार, आलाप रुचिर सुख धामकौ। रसिक रँगीलौ, भजन पुंज सुठि, "बनवारी" श्याम कौ॥ १३३॥ (८१)

---

* बनवारी=वनमाली॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबनवारीदास श्रीश्यामसुन्दरजी के अति रँगीले रसिक भक्त भजन पुंज थे। कविता और वार्ता करनी बड़ी चतुरता चोखाई और अति यथार्थता से जानते थे। सारासारविवेक में परमहंसों की नाईं थे। सदाचार में तत्पर, संतोषी, सब प्राणियों के हितकारी, अमित श्रेष्ठ गुणों के निधान, और प्रेमाभक्ति व्रत को धारण करनेवाले थे। उदार अन्तःकरण, प्रियदर्शन * रुचिर आलाप करनेवाले, सुखधाम श्याम के थे॥ आपके दर्शन से लोग पवित्र हो जाते थे॥

(श्लोक) "हे जिह्वे! रस-सारज्ञे! मधुरं किं न भाषसे?
मधुरं वद कल्याणि, सर्वदा मधुरप्रिये" ॥ १ ॥

---

(१६७) श्रीनारायण मिश्रजी।

(६५५) छप्पय। (१८८)

भागौत † भली बिधि कथन कौं, धनि जननी एकै जन्यौ॥ नाम नरायण मिश्र, बंश नवला जु उजागर। भक्तन की अति भीर भक्ति दशधा कौ आगर॥ आगम निगम पुरान सार शास्त्रनि सब देखे। सुरगुरु, शुक, सनकादि, ब्यास, नारद, जु बिसेखे॥ सुधा बोध मुख सुरधुनी, जस बितान जग मैं तन्यौ। भागौत भली बिधि कथन कौं, धनि जननी एकै जन्यौ॥ १३४॥ (८०)

वार्त्तिक तिलक।

उजागर नवलावंशविभूषण श्रीनारायण मिश्रजी की माता

---

* प्रभु यश गान के। † भागौत=श्रीभागवत॥

धन्य हैं, जिनने, भली विधि से श्रीभागवत कथन करने के लिये, आपको अद्वितीय उत्पन्न किया। क्योंकि आगम, निगम (वेद), पुराण, शास्त्रों का सारांश देखे हुए, बृहस्पति, शुक, सनकादिक, व्यासदेव, नारदजी के समान आप थे। आपकी कथा में भगवभक्तों की भीड़ लग जाती थी, और प्रेमाभक्ति में प्रवीण सुधा बोध मुख अर्थात् निज मुख वचन से अमृत सम सुखस्वाद सुबोध देनेवाले हुए। आपकी कथा का जसरूपी वितान, गंगाजी के जस के समान, जगत् में छा गया ॥

दो०—"नाम "नरायन मिश्रजी," "नवला बंस" सुहात।
कोटि जन्म के तम हरैं, आतपलौं बिख्यात" ॥ १ ॥

महानुभाव लोग कहते हैं कि आपको श्रीशुकदेवजी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर श्रीमद्भागवत समझने का आशीर्वाद दिया था ॥

---

(१६८) श्रीराघवदासजी।

(६५६) छप्पय। (१८७)

कलिकाल कठिन जग जीति यों, राघौ की पूरी परी ॥ काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ की लहर न लागी। सूरज ज्यों जलग्रहै, बहुरि ताही ज्यों त्यागी ॥ सुन्दर शील सुभाव, सदा संतन सेवाव्रत। गुरु धर्म निकख निर्बह्यौ, बिश्वमें बिदित बड़ौ भृत ॥ अल्हराम रावल कृपा, आदि अंत धुकती धरी। कलिकाल कठिन जग जीति यों, राघौ की पूरी परी ॥ १३५ ॥ (७६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीराघवदासजी ने जगत् में कठिन कलिकाल को जीत लिया, आपकी भक्ति साधुता पूरी पूरी निबहि गई। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ इन सब अग्नियों की लहर आपको नहीं लगी; जसे सूर्य्य अपनी किरणों से जल को सोख लेते हैं, और समय पर वर्षते हैं, ऐसे

ही आपने भी सबसे धनादि लेकर साधुसेवा के समय में त्याग किया और सुन्दर शील सुभाव से युक्त, सदा संतसेवा का व्रत धारण निकख (कसौटी) में जैसे उत्तम सुवर्ण की परीक्षा हो जाती है, इसी प्रकार गुरुसेवाधर्म में आपका निर्वाह हो जाने से विश्व में बड़े गुरुसेवक विदित हुए। आपने श्री "श्रीअल्हजी और श्रीरामरावल-जी" की कृपा से, आदि से अंत तक धुकती अर्थात् प्रभु के ओर झुकती ही दशा को धारण किये रहे।

☞श्रीरामरावलजी, श्रीअल्हजी के शिष्य और श्रीराघवदासजी के गुरु हैं।

(१६९) श्रीबावनजी।

(६५७) छप्पय। (१८६)

हरिदास भलप्पन भजन बल, "बावन" ज्यों बढ़्यौ "बावनौ"॥ अच्युत कुल सों दोष सुपनेहूँ उर नहिं आनै। तिलक दाम अनुराग सबनिगुरु जनकरि मानै॥ सदन माहिं बैराग्य बिदेहिन कीसी भाँती। रामचरण मकरंद रहति मनसा मदमाती॥ "जोगा-नंद" उजागर वंस करि, निसि दिन हरि गुन गावनौ। हरिदास भलप्पन भजन बल, "बावन" ज्यों बढ़्यौ "बावनौ"॥ १३६॥ (७८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिभक्तों के भलप्पन (कृपा) से, तथा श्रीसीताराम भजन के बल से हरि के दास "श्रीबावनजी" भी साधुत्व स्वरूप से श्रीबावन भगवान् के समान बढ़े। अच्युतगोत्री वैष्णवों में, दैवयोग कोई दोष[2] हो भी तथापि आप स्वप्न में भी उन दोषों को अपने हृदय

(१) इस छप्पय के अर्थ करने में बहुतों ने विशेषण हरिदास शब्द को ही भक्त का नाम माना है, और "बावन" शब्द के दो बेर होते हुए भी उस पर पूरा ध्यान नहीं दिया।

(२) दोहा "कामी साधुहि 'कृष्ण' कहि, लोभी 'बावन' जानि।
क्रोधी को 'नरसिंह' कहि, नहीं भक्त की हानि॥ १॥"

में नहीं लाते, परंच माला कंठी तिलक वेषमात्र धारण करनेवालों को अनुराग सहित गुरुजन करके मानते थे। पिता श्रीविदेहजी की नाईं, गृह में रहते हुए ही परम वैराग्यमान थे।

श्रीरामचरणकमल के प्रेम मकरन्द से आपका मनरूपी भ्रमर मदमत्त रहा करता था। "श्रीयोगानन्द" जी के वंश को उजागर करके दिन रात श्रीबावनजी श्रीसीताराम गुणगान किया करते थे।

---

(१७०) श्रीपरशुरामजी।

(६५८) छप्पय। (१८५)

जंगली देशके लोग सब, "परशुराम" किय पारषद॥
ज्यों चन्दन को पवन नीम्ब पुनि चन्दन करई।
बहुत काल तम निबिड़ उदै दीपक ज्यों हरई॥
श्रीभट पुनि हरि व्यास संत मारग अनुसरई।
कथा कीरतन नेम रसन हरि गुण उच्चरई॥
गोबिन्द भक्ति गदरोगगति, तिलक दाम सद बैद हद।
जंगली देश के लोग सब, "परशुराम" किय पारषद॥
१३७॥ (७७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपरशुरामदेवजी ने अपने उपदेश से जंगली देश के लोगों को भगवत् पार्षदों के समान कर दिया किस प्रकार कि जैसे दिव्य मलयागिरि चन्दन का पवन नींब के वृक्ष को चन्दन कर देता है; और जैसे बहुत काल के सघन अन्धकार को दीपक हर लेता है; इसी प्रकार जंगली लोगों का अज्ञान आपने हर लिया। "श्रीभट्टजी" और "श्रीहरिव्यासजी" के साधु मार्ग में आप भी चले; सदा नेम से भगवत्कथा नाम कीर्तन श्रीहरि गुण रसना से उच्चारण करते थे; जैसे रोगी को अनुपानयुक्त रसायन औषधि देकर सद्वैद्य

नीरोग कर देते हैं; इसी प्रकार श्रीपरशुरामजी ने गोविन्दभक्ति-रसायन, माला तिलक अनुपान के साथ देकर, पाप रोग को नाश कर दिया ॥

श्री "श्रीभट्ट" जी के श्रीहरिव्यासदेव शिष्य थे, जिनसे हरि-वंशी (राधावल्लभी) हरिदासी, आदि, पाँच शाखाएँ निम्बार्क सम्प्रदाय की चली हैं।

(छप्पय) "तिलक है सत अस्नान तिलक ब्राह्मन सिर सोहै। तिलक बिना कछु करौ सबै फल निरफल जोहै॥ तिलक तिया सिंगार तिलक नृप सीस लगावैं। तिलक वेद परमान तिलक त्रैलोक चढ़ावैं॥ तिलक तत्त्व जुग जुग सदा तिलक मिलै सिधि पाइए। परसराम ब्रह्मांड मै सुजस तिलक कौ गाइए" ॥ १ ॥

दो० "कथासुनै नहिं कीरतन, बकै आपनी बाइ।
पापी मानुष परशुराम, कै ऊँघै, उठि जाइ॥ १ ॥
श्रोता ऐसो चाहिये, जाके तन मन राम।
वक्ताहू हरि कौ भगत, जाके लोभ न काम॥ २ ॥
साधु तहाँ ही संचरै, जहाँ धर्म की सीर।
सरवर सूखे परशुराम, हंस न बैठे तीर ॥ ३ ॥"

(६५६) टीका। कवित्त। (१८४)

राजसी महंत देखि, गयौ कोऊ अंत लैन, बोल्यौ "जू अनंत हरि सग, माया टारियै"। चले संग वाके, त्यागि, पहिरि कुपीन अंग, बैठे गिरि कंदरा में लागी ठौर प्यारियै॥ तहाँ बनिजारौ आय संपति चढ़ाय दई, दई और पालकी हूँ, महिमा निहारियै। जाय लपटायौ पाय, "भाव मैं न जान्यौं कछू, आन्यौं उर माँझ, आवै प्रान वार डारियै" ॥ ५२२ ॥ (१०७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीपरशुरामदेवजी को राजसी महंत देखे, और उनके ये दोहे सुन, कोई परीक्षा लेने को गया।

दो० "माया सगी न तन सगो, सगो न यह संसार।
परशुराम, या जीव को, सगा सो सिरजनहार॥ १ ॥

कहते हैं करते नहीं, मुँहके बड़े लबार।
कारो मुँहड़ो होइगो, साईं के दरबार॥ २ ॥"

उसने ये दोहे पढ़कर कहा कि "आपने तो लिखा है" कि 'इस जीव के केवल श्रीहरि सगे हैं माया नहीं सगी' इससे माया को छोड़ दीजिये। आपने कहा "बहुत अच्छा" और केवल एक कौपीन पहनके उसके साथ चले। आके पर्वत के कन्दरा में बैठे। वह ठौर आपको बहुत अच्छा लगा। प्रभु को स्मरण करने लगे।

इतने ही में एक बनिजारा (बैपारी) आकर बहुतसी सम्पत्ति और एक पालकी चरणों में चढ़ाके शिष्य हुआ। वह परीक्षा करनेवाला साथ था, आपकी महिमा देख, दौड़ चरणों में लपट कहने लगा कि मैं आपका प्रभाव कुछ नहीं जानता था, मन में और ही विचार किया, अब मेरे मन में ऐसा आता है कि आपके ऊपर प्राण नेवछावर कर दूँ॥"

---

(१७१) श्रीगदाधरभट्टजी।

(६६०) छप्पय। (१८३)

गुननिकर "गदाधरभट्ट" अति, सबहिन कों लागै सुखद॥ सज्जन, सुहृद, सुशील, बचन आरजप्रतिपालय। निर्मत्सर, निहकाम कृपा करुणाकौ आलय॥ अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्‍यो बपु भक्तनि काजै। परम धरम को सेतु, विदित वृंदाबन गाजै॥ भागौत सुधा बरषै बदन, काहूकों नाहिन दुखद। गुननिकर "गदाधरभट्ट" अति, सबहिन कों लागै सुखद॥ १३८॥ (७६)

वार्त्तिक तिलक।

शुभ साधुगणों के पुंज श्री "गदाधरभट्ट" जी सबको सुखदाता लगते थे। सज्जन, सुहृद, सुशील, श्रेष्ठों के वचनप्रतिपालक, निर्मत्सर,

निःकाम, और कृपा करुणा के निधान थे । भगवद्भक्तों को अनन्य भजन दृढ़ कराने के लिये शरीर धारण किया। परमधर्म जो भगवद्धर्म उसके सेतु ही विख्यात थे। वृन्दावन में गर्ज के अपने मुख से श्रीभागवतरूपी अमृत की मेघ के सम वर्षा करते थे। और किसी को भी आपसे दुख नहीं पहुँचता था। भाषा के अत्युत्कृष्ट कवि थे। इनके विरक्तता की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध हैं ॥

ये बंगाली नहीं थे, और बाँदावाले भी नहीं थे; और श्रीवल्लभाचार्यजा के शिष्य गदाधर मिश्र, दूसरे ही थे।

"भट्ट गदाधर" विद्या भजन प्रवीन। सरस कथा बानी मधुर, सुनि रुचि होत नवीन।

(६६१) टीका। कवित्त। (१८२)

"स्याम रंग रँगी" पद सुनिकै, "गुसाँईजीव" पत्र दै पठाये उभै साधु बेगि धाये हैं। "रैनी बिन रंग कैसे चढ़यौ" "अति सोच बढ्यौ," कागद में प्रेम मढ्यौ तहाँ लैकै आये हैं॥ पुरढिग कूप, तहाँ बैठे रस रूप, लगे पूछिबे कौ तिनहीं सों नाम लै बताये हैं। "रहौ कौन ठौर," "सिरमौर बृन्दाबन धाम," नाम सुनि मुरछा ह्वै गिरे प्रान पाये हैं॥ ५२३ ॥ (१०६)

वार्त्तिक तिलक।

श्री गदाधरभट्ट जी, प्रथम अपने घर ही में, "सखी हौं श्याम रंग रँगी। देख बिकाय गई वह मूरति सूरति माहिं पगी। इत्यादि।" यह पद बनाया। वृन्दावन में उसीको श्रीजीवगोसाईंजी सुनके ऐसे मोहित हुए कि एक पत्र लिखा कि "रैनी (रँगनेवाले के स्थान) विनाही आपको श्याम रंग कैसे चढ़ गया? मेरे मन में बड़ाही सोच है। ऐसा प्रेम मढ़ा हुआ पत्र दो साधुओं के हाथ आपके यहाँ भेजा। वे लेकर उसी नगर के समीप आये; एक कूप के ऊपर रसरूप श्रीगदाधरभट्ट जी प्रभाती (दँतून) कररहे थे, सो आप ही से वे पूछने लगे कि "गदाधरभट्ट जी इस ग्राम में कहाँ पर रहते हैं?"

आपने पूछा कि "आप कहाँ रहते हैं ?" संतों ने उत्तर दिया कि "सिरमौर वृन्दावन धाम में ।" 'श्रीवृन्दावन' का नाम सुनते ही श्रीगदाधरभट्टजी प्रेम से मूर्च्छित हो गिर पड़े मानो प्राण निकल गये ॥

(६६२) टीका । कवित्त । (१८१)

काहू कही "भट्ट श्रीगदाधरजू एई जानौ" मानौ उही पाती चाह फेरिकै जिवाये हैं। दियौ पत्र, हाथ लियो, सीस सौं लगाय, चाय, बाँचत ही, चले, बेगि बृन्दाबन आये हैं ॥ मिले श्रीगुसाईंजू सों आँखैं भरि आईं नीर, सुधि न सरीर धरि धीर वही गाये हैं। पढ़े सब ग्रंथ, संग, नाना, कृष्णकथा रंग रस की उमंग अंग अंग भाव छाये हैं ॥ ५२४ ॥ (१०५)

वार्त्तिक तिलक ।

आपकी दशा देख उन संतों से किसी ने कहा कि "यही गदाधरभट्टजी हैं ।" तब उन संतों ने आपसे कहा कि "हम आपके लिये पत्र लेकर आये हैं" सो सुनकर उठ बैठे, मानो उस पत्र की चाह ही ने आपको फिरके जिला लिया। पत्र दिया, आप हाथ में ले शीश और नेत्रों में लगाकर प्रेमानन्द से पढ़ और वैष्णवों को सत्कार कर, सीधे श्रीवृन्दावन को चल ही दिये।

श्रीवृन्दावन में आकर श्रीजीवगुसाईंजी से मिले, नेत्रों में प्रेमाम्बु का प्रवाह चलने लगा, देह की दशा भूल गई, फिर धैर्य धरके फिर वहीं पद गाने लगे। रहकर, संतसंग में उपासना के सब ग्रंथ पढ़, श्रीकृष्णकथा कहने लगे। आपके अंग-अंग में भाव रसरंग की उमंग छागई। फिर आजन्म पर्यंत धाम ही में रहे। इनकी कथा सुनकर कितने ही पर्यंत लोग विरक्त हो गए।

(६६३) टीका । कवित्त । (१८०)

नाम हो कल्यानसिंह जात रजपूत पूत, बैठ्यो आय, कथा सों अभूत रंग लाग्यो है। निपट निकट बास "धौरहरा" प्रवास गाँव हास परिहास तज्यो, तिया दुःख पाग्यो है ॥ जानी भट्ट संग सो अनंग बास दूर भई, करौं लैकै नई आनि हिये काम जाग्यो है।

माँगत फिरत हुती जुवती औ गर्भवती, कही लै रुपैया बीस "नैकु कह्यो राग्यो है" ॥ ५२५ ॥ (१०४)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय कल्याणसिंह नाम का राजपूत कथा में आ बैठा सुनते ही उसको लोकोत्तर प्रेम रंग लग गया। बहुत समीप ही "धौरहरा" ग्राम में रहता था; नित्य कथा सुनने से विषय विरक्त हो उनने नारी से हास विलास तज दिया। स्त्री दुखित हुई और जान गई कि 'इस भट्टजी की कथा सुनने से इनकी कामवासना छूट गई है।'

स्त्री ने कामवश हो विचार किया कि "मैं भट्ट की नई निन्दा कराऊँ।" एक युवा स्त्री गर्भवती भीख माँगती फिरती थी, उससे कहा कि "मुझसे बीस रुपये ले लो मैं कहूँ सो कर"। उसने कहा "बहुत अच्छा॥"

(६६४) टीका। कवित्त। (१७६)

गदाधरभट्टजू की कथा में प्रकाश कहौ "अहौ कृपाकरी अब मेरी सुधि लीजियै"। दई लौंडी संग, लोभ रंग चित भंग किये, दिये लै बताय, बोली "मेरौ काम कीजियै"। बोले आप "बैठियै जू जाप नित करौं हिये, पाप नहीं मेरौ गई दर्शन दीजियै"। स्रोता दुख पाय, भाखैं "झूँठी याहि मारि नाखैं" साँची कहि राखैं, सुनि तन मन छीजियै॥ ५२६ ॥ (१०३)

वार्त्तिक तिलक।

उसने कहा जा, गदाधरभट्टजी की कथा में प्रकाश कर उन्हीं से अच्छे प्रकार कह कि "मेरे ऊपर कृपा कर आपने गर्भवती किया तो अब मेरी सुधि लीजिये।" इस प्रकार सिखाकर बताने के लिये लौंड़ी संग कर दी। द्रव्य के लोभ से वह आकर उसी प्रकार बोली कि "महाराज! आपका दिया गर्भ पूरा हुआ; मुझे रहने को ठिकाना बताइये।" सुनके उस कलंक से आपको कुछ क्षोभ न हुआ, बरंच आपने कहा कि "मैं तो तेरा नित्य स्मरण करता था मेरा दोष नहीं

तू कहाँ चली गई थी, भला आज दर्शन दिया, बैठ जा।"

उस दुष्टा के वचन सुन श्रोता लोग कहने लगे कि "यह झूठी बात कह रही है इसको हम मार डालेंगे"। आपने कहा कि "यह सत्य कहती है।" श्रोता लोग सुन तन मन से अति दुखी हुए॥

(६६५) टीका। कवित्त। (१७८)

फटि जाय भूमि तौ समाय जायँ श्रोता कहैं, बहैं दृग नीर ह्वै अधीर सुधि गई है। "राधिकाबल्लभदास" प्रगट प्रकास भास, भयौ दुख रास, सुनि सो बुलाय लई है॥ "साँच कहि दीजै नहीं अभी जीव लीजै," डरि, सबैकहि दियौ, सुख लियौ, संज्ञा भई है। काढ़ि तरवार तिया मारिबे कल्यान गयौ, दयौ परबोध "हमे करी दया नई है"॥ ५२७॥ (१०२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रोताजन अति दुखी होकर आपस में कहने लगे कि जो भूमि फट जाती हम सब समा जाते तो भला था इस दुष्टा के वचन न सुनते। सब के नेत्रों से जल बहने लगा, अधीरता से देह सुधि भूल गई। तब एक संत राधिकावल्लभदासजी जो बड़े बुद्धिमान् थे, वे उसको समीप में बुलाके कहने लगे कि "सच सच बता तू क्यों ऐसे वचन बोलती है? झूठ कहेगी तो अभी तेरे प्राण ले लेवेंगे।" तब डरके उसने यथार्थ सब बात कह दी। सच्ची बात खुल गई। सुनके सब श्रोताओं को सुख और संज्ञा (सुधि) हुई। कल्यानसिंहजी अपनी स्त्री की दुष्टता सुनते ही खड्ग निकाल उसका माथा काटने को दौड़े, भट्टजी ने बहुत प्रकार से प्रबोध कर निवारण किया और कहने लगे कि "उसने मुझ पर नवीन दया की है"!

(६६६) टीका। कवित्त। (१७७)

रहैं काहू देस मैं महंत, आये कथा माँझ, आगें लै बैठाये देखैं सबै साधु भीजे हैं। "मेरे अश्रुपात क्यों न होत?" सोच सोत परे करें लै उपाय दै लगाय मिर्च खीजे हैं॥ संत एक जानिकै जताय दई भट्टजू कौ, गए उठि सब जब, मिलि अति रीझे हैं। "ऐसी चाह

होय मेरे" रोयकै पुकारि कही, चली जलधार नैन प्रेम आप भीजे हैं ॥ ५२८ ॥ (१०१)

वार्त्तिक तिलक ।

एक समय की वार्ता है कि किसी देश के एक महंत कथा में आये; सब ने आदर से आगे बैठाया उनने देखा कि सब संतों के नेत्रों से प्रेमाम्बुकी धारा चल रही है; "मेरे आँसू क्यों नहीं चलते ?" इस सोच के प्रवाह में पड़ गये। दूसरे दिन मिर्च पीसके लेते आये, खीझके, युक्ति से नेत्रों में लगाली, अश्रुपात होनेलगे। एक संत ने जानके भट्टजी से कह दिया।

जब सब श्रोता उठ गये तब भट्टजी अति प्रसन्न हो उनको छाती से लगा रोकर कहने लगे कि ऐसी रोने की मेरे भी चाह हो, तो भली है। आपके नेत्रों से जल की धारा चलने लगी। महंत के कृत्रिम प्रेम पर अति प्रसन्न हुए। आपके हृदय में लगाने से महंत के नित्य स्वतः अश्रुपात होने लगे ॥

(६६७) टीका । कवित्त । (१७६)

आयौ एक चोर, घर संपति बटोरि, गाँठि बाँधी; लै मरोरि किहूँ, उठै नाहिं भारी है। आयकै उठाय दई, देखी इन रीति नई, पूछ्यौ नाम, प्रीति भई, भूलो मैं बिचारी है ॥ बोले आप लै पधारौ, होत ही सवारौ आवै और दसगुनी मेरें तेरी यह ज्यारी है । प्राननिकौं आगें धरौ आनि कै उपाय करौ रहे समझाय भयौ शिष्य चोरी टारी है ॥ ५२६ ॥ (१००)

वार्त्तिक तिलक ।

किसी रात को एक चोर आकर घर की सब सम्पत्ति लेकर उसने गठरी बाँधी; परन्तु गठरी भारी हो गई किसी प्रकार उठती न थी; भट्टजी ने आकर चुपचाप उठा दी। चोर ने आपकी नवीन रीति देख, पूछा कि "आपका नाम क्या है ?" आपने नाम बताया, सुनते ही चोर के हृदय में प्रीति प्रगट हुई, और विचार करने लगा कि "ऐसे महात्मा के यहाँ चोरी करनी मेरी बड़ी भूल

है।" आपने कहा "लेकर पधारो, तुम्हारी तो यही जीविका है, और मुझे तो प्रभात होते ही इससे दसगुनी लोग दे जायँगे।" चोर चरणों में पड़कर विनय करने लगा कि "मैं अब धन कैसे ले जाऊँ? मेरी इच्छा होती है कि आपके ऊपर अपना प्राण न्यवछावर कर दूँ।" आप समझाने लगे कि तुमने प्राणों का भय छोड़ उपाय और परिश्रम किया है, ले जाओ।" निदान चोर चोरी छोड़, आपका शिष्य हो गया। भक्ति में तत्पर हो संसार से मुक्त हुआ।

(६६८) टीका। कवित्त। (१७५)

प्रभु की टहल निज करनि करत आप, भक्ति कौ प्रताप जानै भागवत गाई है। देत हुते चौका, कोऊ शिष्य बहु भेट ल्यायौ, दूरहीं ते देखि, दास आयौ सो जनाई है॥ "धोवौ हाथ बैठौ आप," सुनिकै रिसाय उठे, सेवा ही में चाय वाकों खीझि समझाई है। हिये हित रासि जग आसकों बिनास कियौ, पियौ प्रेमरस; ताकी बात लै दिखाई है॥ ५३०॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभु की परिचर्य्या टहल नित्य आप अपने ही हाथों से किया करते थे, क्योंकि भक्ति की रीति और प्रताप जिस प्रकार भागवत आदि ग्रंथों में कहा गया है सो आप भले प्रकार जानते थे। एक दिन आप पूजा के लिये चौका लगा रहे थे, उसी समय एक शिष्य बहुतसा धन भेंट लिये आया; आपका दास उसको देख, आकर, कहने लगा कि "अमुक सेवक चला आता है, आप हाथ धोकर बैठ जाइये चौका मैं लगा दूँगा॥"

आपने सुनकर खीजकर उस सेवक को शिक्षा दी कि "मैं अपना भजन कैंकर्य छोड़ किस लिये बैठ जाऊँ? ऐसा कौन सा बड़ा कार्य्य है? सेवक आता है तो मेरी टहल देख और भी प्रभु की सेवा में तत्पर होगा।"

इत्यादिक, श्रीगदाधरभट्टजी के अलौकिक चरित्र हैं। आपके हृदय में सबका हित ही बसता था। जगत् की आसा को सर्वथा

नाश कर प्रेमरस पान किया। सो बात मैंने आप के चरित्र ही वर्णन कर दिखा दी।

आप भी, भाग्यमान नृपति "अकबर اکبر" के समय में विराजमान थे॥

(६६६) छप्पय। (१७४)

चरण शरण चारण भगत, हरि गायक एताहुआ॥ चौमुख[1], चौरा[2], चंड[3], जगत ईश्वर गुण जाने। करमानन्द[4] अरु कोल्ह[5], अल्ह[6], अच्छर परवाने॥ माधो[7], मथुरा मध्य, साधु[8], जीवानंद[9], सींवा[10]। दूदा[11], नारायणदास[12], नाम माड़न[13] नतग्रीवा॥ चौरासी[14], रूपक चतुर, बरनत बानी, जूजुवा[15]॥ चरण शरण चारण भगत, हरि गायक एता हुआ॥ १३६॥ (७५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिजी के चरण शरण होकर भगवत् गुण गानेवाले चारण (कथक) भक्त इतने हुए।

१ श्रीचौमुखजी
२ श्रीचौड़ाजी
३ श्रीचंडजी
ये जगत् में ईश्वरही के गुण गाना जानते थे।
४ श्रीकरमानन्दजी
५ श्रीकोल्हजी
६ श्रीअल्हजी
इन्होंने भगवत पद रचना में प्रामाणिक अक्षर रक्खे।
७ श्रीमाधोजी
श्रीमथुरा में।
८ श्रीसाधूजी
९ श्रीजीवानन्दजी
१० श्रीसीवाजी
११ श्रीदूदाजी
१२ श्रीनारायणदासजी
१३ श्रीमाड़नजी
प्रभु के चरणों में कण्ठ नवानेवाले।
१४ श्रीचौरासीजी
रूपक देखाने में चतुर और वर्णन की वाणी में प्रवीण।
१५ श्रीजुजुवाजी

नामों का (उनके विशेषणों से अलग करके) ठीक पता लगाना अत्यन्त ही कठिन (वरन सच तो यह कि असम्भव) है॥

(१७२) श्रीकरमानन्दजी ।

(६७०) टीका । कवित्त । (१७३)

करमानंद चारन की बानी की उचारन मैं, दारुन जो हियौ होय, सोऊ पिघलाइयै। दियौ गृह त्यागि, हरिसेवा अनुराग भरे, बटुवा सुग्रीव हाथ छरी पधराइयै॥ काहू ठौर जाय गाड़ि, वहीं पधराये वापै ल्याए उर प्रभु, भूलि आये! कहाँ पाइयै?। फेर चाह भई, दई श्याम को जताय बात, लई मँगवाय, देखि मति लै भिंजाइयै॥ ५३१॥ (६८)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीकर्मानन्दजी चारण (गायक) की वाणी का उच्चारण गान सुन, कैसा ही कठोर हृदय होय, पर कोमल ही हो जाता था। आप गृहत्याग के तीर्थादि दर्शन के लिये विचरने लगे, श्रीहरिपूजा सेवा के अनुराग में भरे, ठाकुर सालग्रामजी का बटुआ कंठ में, और हाथ में एक कुबरी छड़ी रखते थे; उसी को गाड़कर प्रभु का बटुआ झूला सा उसमें लटका देते थे॥

किसी एक ठिकाने गाड़कर श्रीठाकुरजी को पधराया, चलते समय प्रभु को तो ले लिया पर छड़ी उसी ठिकाने भूल आये। फिर दूसरे ठिकाने आकर देखें तो प्रभु के विराजने के लिये छड़ी नहीं, तब तो श्रीश्यामसुन्दरजी से विनय करने लगे कि "प्रभो! उस समय मुझे आपने कृपाकर सुधि न करा दी! अब मैं आपके विराजने के लिये छड़ी कहाँ पाऊँ?" प्रभु ने आपकी सच्ची सुन्दर प्रार्थना सुन प्रसन्न हो वहाँ ही छड़ी ऊपर से गिरा दी। आपने देखकर छड़ी धन्यवादपूर्वक ले, प्रेम से भीग के उसी में प्रभु को पधरा दिया॥

दो० "प्रेम मग्न कछु समय रहि, पुनि मन बाहिर कीन्ह।
तब चारण निज नियम सों, सेवै पूजै लीन्ह॥"

(१७३ । १७४) श्रीकोल्हजी, श्रीअल्हूजी ।

(६७१) टीका । कवित्त । (१७२)

कोल्ह अल्हू भाई दोऊ, कथा सुखदाई सुनौ, पहिलौ विरक्त

मद मांस नहीं खात है। हरि ही के रूप गुण वाणी में उचार करै, धरै भक्ति भाव हिये, ताकी यह बात है॥ दूसरौ अनुज, जानौ खाय सब उन मानौ, नृपही कों गावै प्रभु कभूँ गाय जात है। बड़े के अधीन रहै, सोई करै जोई कहै, ईश करि चहै, आप दीनता में मात है॥ ५३२॥ (९७)

वार्त्तिक तिलक।

जातिके चारन जेठे श्रीकोल्हजी और छोटे श्रीअल्हूजी, दोनों भाइयों की सुखदाई कथा सुनिये। श्रीकोल्हजी विषय से विरक्त मद मांसादि तजके श्रीहरि के नाम रूप गुण वाणी से उच्चारण करते गाते भक्ति भाव हृदय में सदैव धारण करते थे। दूसरे आपके छोटे भाई अल्हूजी सब खाते पीते सदा राजा ही का गुण गान करते, कभी कभी श्रीप्रभु का भी यश गान कर लेते थे। परन्तु अपने बड़े भाई के आधीन आज्ञाकारी रहते, ईश्वर के समान मानते, आप दीनता में लीन रहते थे॥

(६७२) टीका। कवित्त। (१७१)

बड़े आय कही चलौ द्वारिका निहारैं सही, मिथ्या जग भोग, या में आयु ही बिहात है। आज्ञा के अधीन चल्यो, आये पुर, लीन भये, नये चोज मंदिर में, सुनौ कान बात है॥ कोल्ह नै सुनाये सब जे जे नाना छंद गाये, पाछे अल्हू दोय चार कहे सकुचात है। भयो ही "हुं" कारौ, प्रभु कही माला गरें डारौ, ल्याए पहिरावैं, कह्यो "मेरौ बड़ौ भ्रात है"॥ ५३३॥ (९६)

वार्त्तिक तिलक।

एक दिवस कोल्हजी ने अल्हूजी से कहा कि "चलो द्वारिकाधीशजी के दर्शन करें क्योंकि यह संसारी भोग सब झूठा है, इसमें पड़े रहने से वृथा आयु चली जाती है। श्रीअल्हूजी बड़े भाई के आज्ञाकारी तो थे ही, साथ साथ चल दिये; दोनों भाई द्वारिकापुरी में आ, स्नानादि कर, प्रभु के मंदिर में आये। सो वहाँ की नवीन चमत्कार युक्त वार्ता कान देके सुनिये॥

प्रथम श्रीकोल्हजी ने जो जो छन्द पदों में प्रभु के यश रचे थे सो सब सुनाये; पीछे श्रीअल्हजी ने भी दीनता ग्लानि संकोचयुक्त दो चार पद सुनाये। इनके पद सुनते ही प्रभु "हुं" कारी देते थे और अपनी प्रसादी माला देने की आज्ञा दी। पुजारी माला पहिराने को लाये, श्रीअल्हजी ने कहा कि "मेरे बड़े भाईजी को माला दीजिये, मैं माला पाने का पात्र नहीं हूं॥"

(६७३) टीका। कवित्त। (१७०)

दयौ पै न याहि दयौ बड़ौ अपमान भयौ, गयौ बूड़्यौ सागर में, दुखकौ न पार है। बूड़तहीं आगे भूमि पाई, चल्यो भूमि प्रीति, सो अनीति भूलै नाहिं मानौ तरवार है॥ सौंही आये लैन हरिजन, मन चैन भिल्यो, मिल्यौ कृष्ण जाय, पायौ अति सुखसार है। बैठे जब भोजन कों दई उभै पातर लै दूसरी जू कैसी कही वही भाई प्यार है॥ ५३४॥ (६५)

वार्त्तिक तिलक।

पुजारी ने उत्तर दिया कि "बड़े भाई को तो प्रभु की आज्ञा ही नहीं, कैसे दूँ तुम्हारे ही लिये आज्ञा है;" और श्रीअल्हजी के गले में माला डाल दी तब कोल्ह अपना अति अपमान जान अति दुखी होकर जा समुद्र में डूब गये। डूबते ही नीचे भूमि मिल गई, तब प्रीतिपूर्वक आगे को चल दिये; परन्तु माला न पाने का अपमान भूलता नहीं। खड्ग लगने का सा दुःख हो रहा। उधर से हरिपार्षद आके लिवा ले चले तब मन में सुख हुआ और आगे जाके श्रीकृष्णचन्द्रजी का दर्शन प्रणाम कर अति आनन्द को प्राप्त हुए॥

जब प्रसाद लेने को बैठे तब प्रभु की आज्ञा से दो पत्रों में प्रसाद पूर्ण कर पार्षदों ने दिया। श्रीकोल्हजी ने पूछा कि "दूसरा पारस किस के लिये है?" आज्ञा हुई कि "तुम्हारा छोटा भाई जो हमारा प्यारा है उसके लिये लेते जाना॥"

(६७४) टीका। कवित्त। (१६९)

सबै बिष भयौ, दुख गयौ सोई हुयौ नयौ, दयौ परमोध वाकी

बात सुनि लीजियै। "तेरो छोटौ भाई, मेरौ भक्त सुखदाई," ताकी कथा लै चलाई जामैं आप ही सों धीजियै॥ "प्रथम जनम माँझ बड़ौ राज-पुत्र भयौ, गयौ गृह त्यागि सदा मोसों मति भीजियै। आयौ बन, कोऊ भूप संग राग रंग रूप, देखि चाह भई, देह दई भोग कीजियै" ॥ ५३५ ॥ (६४)

वार्त्तिक तिलक।

सगुण उपासक भक्तों की निराली विचित्र दशा सुनिये, प्रभु के वचन सुनते ही कोल्हजी का जो दुःख भूल गया था सोई फिर नवीन हो आया अर्थात् मंदिर में मुझे माला न दी उसको दी, और यहाँ वह नहीं है तौ भी प्रसाद दिये॥

प्रभु इन की दशा देख उसके प्रथम जन्म की कथा कहके प्रबोध करने लगे जिसमें ये प्रसन्न हो जायँ। आप बोले कि "उसका बात सुनो, तुम्हारा छोटा भाई मेरा सुखदाई भक्त प्रथम जन्म में बड़े राजा का पुत्र था, सो गृह तजि वनमें जाके मुझमें मन लगाके भजन करता था, वहाँ एक राजा शिकार खेलने आया। एक दिन रह गया उसका भोग विलास देख इसको भी चाह हुई इसी से हमने देह दिया कि जिसमें भोग करके वासना से मुक्त हो मुझे प्राप्त होवै॥"

(६७५) टीका। कवित्त। (१६८)

तेरेई बियोग अन्न जल सब त्यागि दियौ जियौ नहीं जात वापै बेगि सुधि लीजियै। हाथ पै प्रसाद दीनों, आय घर चीन्ह लीनों, सुपनौ सौ गयौ बीति, प्रीति वासों कीजियै॥ द्वारिका कौ संग सुनि आवतही आगै चल्यौ मिल्यौ भूमि पर दृग भरि वहै दीजियै। कही सब बात स्याम धाम तज्यौ ताही छिन कस्यौ बन बास दोऊ अति मति भीजियै॥ ५३६ ॥ (६३)

वार्त्तिक तिलक।

"अब वह तुम्हारे वियोग से, अन्न जल त्याग कर, मरणप्राय होरहा है। जाओ, शीघ्र उसकी सुधि लो।" प्रभुजी ने हाथ में प्रसाद

दिया सोई चिह्न लेकर चले । बाहर आ गये और शंख चक्रादि चिह्न ले कर, श्रीअल्हूजी को यहाँ न पाकर घर को चले। प्रथम अपमान की वार्त्ता स्वप्ने सरीखे भूल, उससे अति प्रीतियुक्त हुये ॥

अपने गृह में पहुँचे। श्रीअल्हूजी ने सुना कि कोल्हजी जो समुद्र में डूब गए थे, सो दिव्य द्वारिका में श्रीकृष्ण दर्शन सङ्ग पाके, चले आते हैं; तब आगे आये नेत्रों में जल भर भूमि पर साष्टांग प्रणाम किया, श्रीकोल्हजी ने हृदय में लगाकर, वही प्रसाद दे, श्रीकृष्णचन्द्रजी का कहा हुआ वृत्तांत सुनाया । सुनते ही उसी क्षण घर को त्याग वन में जा, दोनों भाई सप्रेम भजन कर अन्त में प्रभु को प्राप्त हुये ॥

---

(१७५) श्रीनारायणदासजी ।

(६७६) टीका । कवित्त । (१६७)

अल्हू ही के वंश में प्रसंस याहि जानिलेव, बड़ौ और भाई छोटे श्रीनारायणदास है । दीरघ कमाऊ, लघु उपज्यौ उड़ाऊ, भाभी दियो सीरौ भोजन, लै भयौ दुख रास है ॥ "देवौ मोकों तातौ करि," बोली वह क्रोध भरि यहूँ जा हुँकारौ भर, "बाबै ?" कियौ हाँस है । गयौ गृह त्यागि हरि पागि कर्यौ वैसे ही जू, भक्ति बस स्याम कह्यौ प्रगट प्रकाश है ॥ ५३७ ॥ (६२)

वार्त्तिक तिलक ।

चारन श्रीनारायणदासजी भी अल्हूजी ही के वंश में प्रशंसनीय हुये। इनके एक बड़ा भाई धन कमानेवाला था । आप छोटे थे धन उड़ाते थे कमाते नहीं ॥

एक दिन भौजाई ने बासी भोजन खाने को दिया, आपको बड़ा दुख हुआ। तब बोले "मुझे अभी भोजन बनाकर दो।" तब भाभी क्रोध कर हुंकार भर के, बोली मार कर कहने लगी, "क्या तू भगवद्भक्त बाबा अल्हूजी है कि तेरी आज्ञानुसार सेवा करूँ ?" ऐसा वचन सुन नारायणदासजी गृह को तज प्रेम में पग, अपने बाबा के समान श्रीहरिभक्ति की। प्रभु ने कृपा कर प्रगट दर्शन दे, कृतकृत्य किया ॥

(१७६) श्रीपृथ्वीराजजी।

(६७७) छप्पय। (१६६)

नरदेव उभै भाषा निपुन, "पृथीराज" कबिराज हुव॥ सवैया, गीत, श्लोक, बेलि, दोहा, गुन नवरस। पिंगल काव्य प्रमान बिबिध विधि गायो हरि जस॥ पर दुख विदुख, श्लाघ्य वचन, रचना जु बिचारै। अर्थ वित्त निर्मोल सबै सारंग उर धारै। रुक्मिनी लता बरनन अनूप, बागीश बदन कल्यान सुव। नरदेव उभै भाषा निपुन, "पृथीराज" कबिराज हुव॥ १४०॥ (७४)

वार्त्तिक तिलक।

बीकानेर के राजा श्रीपृथीराजजी, देववाणी (संस्कृत) तथा प्राकृत भाषा (हिन्दी काव्य), दोनों ही में बड़े प्रवीण कविराज हुये। सवैया, गीत, पद, श्लोक, वेली, दोहा आदि छन्दों से नवरसों और गुणगणों से युक्त, पिंगल काव्य के प्रमाण सहित, विविध प्रकार से श्रीहरि-सुयश आपने गान किया। दूसरे का दुख जाननेवाले और यथाशक्ति निवारण करनेवाले थे, प्रशंसनीय वचन रचना विचार कर और अर्थ वित्त निर्मोल सब का सारांश सारंग (भँवर) की नाईं, हृदय में ग्रहण करते थे। "रुक्मिणीलता" नामक ग्रंथ अति अनूप ऐसा वर्णन किया कि मानों मुख में सरस्वती बैठी थीं, ऐसे "श्रीकल्यानसिंहजी" के पुत्र पृथीराज हुये॥

(६७८) टीका। कवित्त। (१६५)

मारवार देस बीकानेर कौ नरेश बड़ौ, "पृथीराज" नाम भक्तराज कविराज है। सेवा अनुराग, और विषै वैराग ऐसौ, रानी पहिचानी नाहिं मानों देखी आज है॥ गयौ ही बिदेस, तहाँ मानसी प्रवेस कियौ, हियौ नहीं छुवै ! कैसे सरै मन काज है? । बीते

दिन तीन प्रभु मंदिर न दीठि परै ! पाछै, हरि देखि, भयौ सुख कौ समाज है ॥ ५३८ ॥ (८९)

वार्त्तिक तिलक ।

मारवाड़ देश बीकानेर नगर के राजा श्रीपृथीराजजी, श्रीकल्यान-सिंहजी के पुत्र, बड़े भक्तराज और कविराज थे। प्रभु की सेवा में अनुराग और विषय से विराग ऐसा था कि रानी को पहिचाना नहीं; मानों आज ही देखी है ॥

आप अपने गृह से विदेश गये थे वहाँ जो बीकानेर के मंदिर में प्रभु विराजे थे उन्हीं की मानसी सेवा किया करते थे। एक दिन मन से उस मंदिर में प्रवेश किया, श्रीप्रभु के मंगल विग्रह के दर्शन स्पर्श नहीं हुए! तब कैसे मानसी सेवा कार्य्य हो सके ? इसी प्रकार तीन दिन बीत गये मंदिर में प्रभु के दर्शन न हुए; पीछे चौथे दिन से मानसी में प्रभु दिखाने लगे। तब मानसी सेवा में बड़ा सुख हुआ ॥

(६७६) टीका । कवित्त । (१६४)

लिखिकै पठायौ देस, सुन्दर संदेस यह "मंदिर न देखे हरि बीते दिन तीन है"। लिख्यौ आयो साँच बाँचि अतिही प्रसन्न भए लगे राज बैठे प्रभु बाहर प्रबीन है ॥ सुनौ एक और यों प्रतिज्ञाकरी हिये धरी "मथुरा सरीर त्याग करौं" रस लीन है। पृथीपति जानि कै मुहीम[1] दई काबुल[2] की; बल अधिकाई, नहीं काल के अधीन है ॥ ५३९ ॥ (९०)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा ने पत्र में सुन्दर संदेस लिख देश को साँड़िनी दौड़ाई कि "मैंने तीन दिन बीते श्रीहरिजी को मंदिर में नहीं देखा ! क्या हेतु है ?" यहाँ से लिख गया कि "मंदिर को सुधारने के लिये काम लगा था, इससे तीन दिन प्रभु बाहर विराजे थे" यह सत्य बात जान, राजाजी अति प्रसन्न हुए ॥

एक बात और सुनिए भक्ति रसलीन राजा ने यह प्रतिज्ञा की

१ "मुहीम"=مهم=कठिन चढ़ाई । २ "काबुल"=کابل=देशविशेष ॥

कि "मैं हरिकृपा से मथुराजी में शरीर त्याग करूँगा।" ऐसा दृढ़ हृदय में रक्खे थे। कहीं इस वृत्तान्त को बादशाह ने सुनकर द्वेषवश आपको काबुल की लड़ाई में नियोजित कर दिया। राजा और लोगों की नाईं कालके अधीन नहीं थे, इससे आपकी देह में बल अधिक ही बना रहा, और जीवन की अवधि भी हरिकृपा से ज्ञात हो गई॥

(६८०) टीका। कवित्त। (१६३)

जीवन अवधि रहे निपट अलप दिन, कलप समान बीतैं पल न बिहात है। आगम जनाय दियौ, चाहैं इन्हैं साँचौ कियौ, लियौ भक्ति भाव जाके छायौ गात गात है॥ चल्यौ चढ़ि साँड़िनी पै लई मधुपुरी आनि, करिकै असनान प्रान तजे, सुनी बात है। जै जै धुनि भई ब्यापि गई चहूँ ओर अहो; भूपति चकोर जस चंद दिन रात है॥५४०॥ (८६)

वार्त्तिक तिलक।

आपके जीवन की अवधि बहुतही थोड़े दिन रह गई इससे पल पल कल्प समान बीतने लगे। प्रभुजी सच्चा किया चाहते थे इसलिये आगम जना दिया। आपके भक्ति भाव तो सर्वांग में पूर्ण था ही, उसी क्षण साँड़िनी पर चढ़ चले; श्रीमथुराजी में आके विश्रान्तघाट स्नान कर, पद्मासन से बैठे प्रभु का ध्यान धर, प्राण त्याग कर दिये सब भक्तों ने जय-जयकार धुनि की और यह कीर्ति चारों ओर छागई॥

"श्रीपृथ्वीराज के यश चन्द्रमा को बादशाह चकोर सरीखा चितै रहा था," यह वार्ता हमने श्रवण की है॥

एक और वार्ता सुनने योग्य है कि एक समय एक जंगल में श्रीपृथ्वीराजजी तथा आपकी सेना को रह जाना पड़ा। भक्तवत्सल श्रीभगवत् ने सबको सुख देने के लिये एक नगर बसा दिया जिससे सेना सुखी हुई, राजा ने हरिकृपा के लिये अनेक धन्यवाद किये॥

(१७७) श्रीसीवाँजी।

(६८१) छप्पय। (१६२)

द्वारिका देखि पालटती, अचढ़ सीवैं कीधी अटल॥

असुर 'अजीज' * अनीति अगिनि में हरिपुर कीधौ। साँगन सुत नैं सादराय रनछोरैं दीधौ॥ धरा धाम धन काज मरन बीजाहूँ माँड़ै। कमधुज कुटकै हुवौ चौक चतुरभुजनी चाँड़ै॥ बाढ़ै लबाढ कीधी कटक, चाँद नाम चाँड़ै सबल। द्वारिका देखि पालंटती, अचढ़ सीवैं कीधी अटल॥ १४१॥ (७३)

वार्त्तिक तिलक।

पालंटती (जलकर पलट के छार); अचढ़ (दौड़ाकर चढ़); कीधी अटल (अचल कर दी); असुर (मुसलिम); कीधौ (कर दिया); नैं (समीप); सांगनसुत (सीवाँजी); दीधौ (पुकार दिया); माँड़ै (करते हैं); कुटकै (कटक); कमधुज हुवो (कबन्ध होकर); चाँड़ै (प्रबल लड़े); बाढ़ (धार); कीधी (कर दिया)॥ कावावों के देश की भाषा॥

(६८२) टीका। कवित्त। (१६१)

कावा पति, सीवाँ, सुत साँगन कौ, प्यारौ हरि, द्वारावति ईश, यों पुकारैं रक्षा कीजियै। सदा भगवान आप भक्त प्रतिपाल करैं करौ प्रतिपाल मेरौ सुनि मति भीजियै॥ तुरक अजीज नाम धामकों लगाई आगि लई बाग घोरन की आये टूक कीजियै। दुष्ट सब मारे प्रभु कष्ट ते उबारे निज प्रान वारि डारे यह नयौ रस पीजियै॥ ५४१॥ (८८)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय स्वयं श्रीद्वारिकाधीश रणछोरजी ने, अपने परम प्रिय भक्त, श्री "सीवाँ" जी, "साँगन" जी के पुत्र, 'कावा' जाति के लोगों के स्वामी (राजा) को, (जाके, स्वरूप धर, दर्शन दे) सादर यों पुकारा कि "हे भक्त! हे वीर! मेरी तथा मेरी पुरी की रक्षा कीजिये, "अजीज खाँ" असुर (तुर्क) ने, मेरी पुरी द्वारावती को, अनीति दुष्टता से अग्निमय कर दिया है॥"

* अजीज=عزیز

प्रभु की पुकार सुन, श्रीसीवाँजी ने विचार किया कि 'जो भगवान् स्वयं सब भक्तों का सदैव प्रतिपाल करते हैं, सो दयालु मुझ दीन को अपने धाम सहित अपनी रक्षा करने के लिये आज्ञा दे रहे हैं,' इससे श्रीसीवाँजी की मति प्रेम से भीग गई ॥

बहुत ही शीघ्र, श्रीसीवाँजी ने शस्त्र ग्रहण कर, घोड़े पर चढ़, थोड़ी सी सेना साथ ले, धावा किया। श्रीद्वारिकापुरी को अग्नि से क्षार होते देख, रक्षा की। अजीजखाँ के अधीन जो बादशाही फौज थी, श्रीसीवाँजी ने उससे भारी मार काट मचा दी। सब सेना समेत दुष्ट अजीजखाँ को काट डाला, जहन्नुम (यमपुर) भेज दिया। दूसरे लोग तो अपनी भूमि गृह धन इत्यादिक के लिये युद्ध करके मर जाते हैं, पर ये (श्रीसीवाँजी) श्रीचतुर्भुज प्रभु के निमित्त, चौक में, अति तीक्ष्ण युद्ध करके काम आए, अपने प्राण न्यवछावर कर दिये। धाम तथा धामी को कष्ट से छुड़ाया। मुक्त हो श्रीसीवाँजी परमधाम में विराजे। इस नवीन आत्मसमर्पण भक्तरूपी रस को पान कर जगत् में यश विस्तार कर गए। इस रस का आनन्द लीजिये। भक्तसुखद भक्तयशवर्द्धक प्रभु, नए नए अपूर्व ढंग से चमत्कृत चरित्र करके अपने भक्तों को विलक्षण बड़ाई और आनन्द देते हैं। कृपा की जय ॥

☞ इस (१४१ वें) मूल में, बहुतेरे (कावाओं के देश की भाषा के) शब्दों के अर्थ, तथा "कमध्वज" वाली वार्ता, इस दीन की समझ में नहीं आई! विज्ञ महात्मा कृपाकर इसको सुधार लेंगे ॥

---

(१७८) श्रीमती रत्नावतीजी।

(६८३) छप्पय। (१६०)

पृथीराज नृप कुलबधू, भक्तभूप "रतनावती"[1]॥ कथा कीरतन प्रीति भीर भक्तनि की भावै। महा महोछौ मुदित नित्य नँदलाल लड़ावै॥ मुकुंद चरण

---

१ रत्नावती सुनखाजीत की कन्या है॥

चिन्तवन भक्ति महिमा ध्वजधारी। पति पर लोभ न कियौ टेक अपनी नहिं टारी॥ भल पन सबै विशेष ही आमेर सदन सुनखाजिती। पृथीराज नृप कुल बधू, भक्तभूप "रतनावती"॥ १४२॥ (७२)

वार्त्तिक तिलक।

आमेर के राजा परम भक्त श्रीपृथ्वीराजजी के कुल की वधू श्री-"रत्नावती" जी श्रीहरिभक्तों में महारानी हुई। सत्संग, कथा, कीर्तन में अति प्रीतिवती हुई; और हरिभक्तों की भीड़ आपको परम प्यारी लगती थी। आनन्द से महामहोत्सव किया करतीं; नन्दलालजी को नित्य लाड़ लड़ाती थीं। मुकुन्दचरण चिन्तवन में तत्पर हो आपने भक्ति की महिमा की ध्वजा गाड़ दी। लोकलाज और रानीपने को तज दिया; भजन सत्संग की अपनी टेक नहीं त्याग की; पति पर लोभ नहीं किया, किन्तु उसको भक्तिविमुख जान उससे अपना चित्त हटा लिया। आमेर सदन वासिनी "सुनखाजीत" जी की सुता के भले पण (प्रतिज्ञा), तथा भलप्पन (भलाई), साधुता, का सब सज्जन लोग विशेष वर्णन करते हैं, ऐसी "श्रीरत्नावतीजी" हुई॥

(६८४) टीका। कवित्त। (१५६)

मानसिंघ राजा ताकौ छोटौ भाई माधौसिंघ, ताकी जानौ तिया, जाकी बात लैं बखानियै। ढिग जो खवासिनि सों स्वासनि भरत नाम*रटति जटति प्रेम रानी उर आनियै॥ नवलकिसोर कभूँ नन्द के किसोर कभूँ बृन्दावन चन्द कहि आँखैं भरि पानियै। सुनत बिकल भई, सुनिबे की चाह भई, रीति यह नई कछु प्रीति पहिचानियै॥ ५४२॥ (८७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमती "रत्नावतीजी" राजा "मानसिंह" के छोटे भाई "माधवसिंह" की रानी थीं, जिनकी वार्ता वर्णन होती है। आपके

समीप जो दासी थी सो हरिभक्ता, सानुराग स्वास भरती हुई नाम रटा करती थी ॥

सुनके रानी के हृदय में भी कुछ प्रेम आजाता था। एक दिन यह दासी "नवलकिशोर, नन्दकिशोर, वृन्दावनचन्द," इत्यादि नाम सप्रेम कह रही थी, और नेत्रों में जल भर रहा था; श्रीरत्नावतीजी भी सुनते ही विकल हो गईं, और नाम यश सुनने की चाहना हुई ॥

यह नवीन दशा होने से आप उस दासी की प्रीति कुछ पहिचानने लगीं ॥

(६८५) टीका। कवित्त। (१५८)

"बार बार कहै, कहा कहै? उर गहै मेरौ, बहै दृग नीर हो, शरीर सुधि गई है"। "पूछौ मत बात, सुख करौ दिन रात, यह सहै निज गात, रागी साधु कृपा भई है" ॥ अति उतकंठा देखि, कह्यौ सो विशेष सब, रसिक नरेसनि की बानी कहि दई है। टहल छुटाई, औ सिरहाने लै बैठाई वाहि, गुरु बुद्धि आई; यह जानौ रीति नई है ॥ ५४३ ॥(८६)

वार्त्तिक तिलक।

रानी उस टहलनी से पूछने लगी कि "तू बारम्बार क्या कहती है? किसका नाम लेती है? मेरा हृदय पकड़कर तू अपनी ओर खींचे लेती है!" रानी के भी नेत्रों में जल की धारा चलने लगी, देह की सुधि भूल गई ॥

दासी ने उत्तर दिया कि "आप यह बात मत पूछिये, दिन रात अपने राजसी सुख में लीन रहिये; मुझपर अनुरागी साधु की अलभ्य कृपा हुई है, सो उस प्रेम के अलौकिक सुख दुख को मेरा ही तन मन सहता है।" तब तो रानीजी की अतिसय उत्कण्ठा हुई; बोलीं कि "अवश्य ही मुझे सब बात बताव ॥"

उसने अति श्रद्धा देख विशेष प्रेमपथ की वार्त्ता वर्णन कर कुछ रसिक-राज भक्तों सन्तों की बानी और कथा कह सुनाई ॥

दो० "नेह नेह सब कोउ कहै, नेह करौ मति कोइ ।
मिले दुखी बिछुरे दुखी, नेही सुखी न होइ ॥ १ ॥
नेह स्वर्ग ते ऊतस्यो, भूपर कीन्हों गौन ।
गली गली ढूँढ़त फिरै, बिन सिर को घर कौन ? ॥ २ ॥
बिरह असी जा उर धसी, लसी रसीली प्रीति ।
चहत न मरहम घाव पर, यह प्रेमिन की रीति ॥ ३ ॥
प्रेम कठिन संसार में, नहिं कीजै जगदीश ।
जो कीजै तौ दीजिये, तन मन धन अरु शीश ॥ ४ ॥
धनि वृन्दावन धाम है, धनि वृन्दावन नाम ।
धनि वृन्दावन रसिकजन, धनि श्रीश्यामाश्याम ॥ ५ ॥"
आली ! होली सुखद तेहि, जो श्रीसियपद पास ।
रूपकला फगुनहट लहि, झुरवति रहति उदास ॥ ६ ॥

इत्यादि उपदेश सुन, उस दासी को सेवा टहल करना छुड़ाके रानी ने अपने शीश की ओर बैठाया, और गुरुबुद्धि करके, उसका बहुत मान मर्याद आदर सत्कार करने लगी ॥

यह नवीन प्रीति की रीति जानना चाहिये ॥

(६८६) टीका । कवित्त । (१५७)

निसि दिन सुन्यौ करै, देखिबे को अरबरै, देखे कैसें जात जलजात दृग भरे हैं । कछुक उपाय कीजै, मोहन दिखाय दीजै, तब ही तौ जीजै वे तौ आनि उर अरे हैं ॥ दरशन दूर, राज छोड़ै लोटै धूर, पै न पावै छबि पूर, एक प्रेमबस करे हैं । करौ हरिसेवा, भरि भाव धरि मेवा पकवान रस खान, दै बखान मन धरे हैं ॥ ५४४ ॥ (८५)

वार्त्तिक तिलक ।

अब तो दिन रात उसी दासी के मुख से प्रभु रूप माधुरी का बखान और चरित्र सुना करती थीं; सुनते सुनते प्रभु के देखने की अतिशय चाह उत्पन्न हुई । मन और नेत्र अति विकल हुए । प्रेम के अश्रु बहने लगे । दासी से कहा कि "कुछ उपाय करके मनमोहन के दर्शन करा दो, तब ही मेरा जीवन है, क्योंकि वे मेरे हृदय में समा गये हैं ।" उसने कहा कि

"महारानी! दर्शन तो बहुत कठिन हैं, दर्शनाभिलाषी लोग राज छोड़के धूल में लोटते हैं, अनेक उपाय करते हैं, परन्तु उस छविसमुद्र के दर्शन नहीं पाते। हाँ, उसके वश करने का यत्न एक "प्रेम" ही है; इससे आप प्रेमभाव में परायण होकर, श्रीहरि की भोग पूजा सेवा में लगिये। उसमें अनेक रसीले मेवा पकवान वस्त्र भूषण फूल माला आदिक सब सानुराग अर्पण करिये॥"

श्रीरत्नावतीजी ने दासीजी का कहना सब अपने मन में लिया॥

(६८७) टीका। कवित्त। (१५६)

इन्द्रनीलमणि रूप प्रगट सरूप कियौ, लियौ वहै भाव यों सुभाव मिलि चली है। नाना बिधि राग भोग लाड़कौ प्रयोग जामें, जामिनी सुपन जोग भई रंग रली है॥ करत सिंगार छबिसागर न वारापार रहत निहारि वाही माधुरी सो पली है। कोटिक उपाय करै, जोग जज्ञ पार परै, ऐ पै नहीं पावै यह दूर प्रेम गली है॥ ५४५॥(८४)

वार्त्तिक तिलक।

रानीजी, इन्द्रनीलमणि के स्वरूप प्रगट करा, प्रतिष्ठापूर्वक, भावसे अपनी उपदेशिका दासी के सुभाव में मिलकर, सेवा करने लगीं। नाना प्रकार के राग भोग से लाड़ लड़ातीं और प्रेम गुन गातीं रात्रि में स्वप्न भी उसी सेवा अनुराग का देखती थीं। दिन में शृंगार करके अपार छविसागर की छवि देखती रहती थीं। केवल प्रभु की माधुरी से पुष्ट रहने लगीं॥

कोई कोटान उपाय करै, योग यज्ञ व्रतादिकों को करके पार हो जाय, परन्तु इस प्रेमपथ को सहज नहीं पा सक्ता; प्रेममार्ग विलक्षण है॥

(६८८) टीका। कवित्त। (१५५)

देख्योई चहति तऊ कहति "उपाय कहा? अहो, चाह बात कहौ कौनकौ सुनाइयै"?। कहौ जू बनावौ ढिग महल कै ठौर एक चौकी लै बैठावौ चहूँ ओर समझाइयै॥ आवैं हरि प्यारे तिन्हैं ल्यावैं वे लिवाय इहाँ, रहै ते धुवाय पाँय रुचि उपजाइयै। नाना

बिधि पाक सामा आगे आनि धरैं; आप डारि चिक देखौ, स्याम दृगनि लखाइयै ॥ ५४६ ॥ (८३)

वार्त्तिक तिलक।

रानीजी प्रभु को साक्षात् देखना चाहती ही हैं, तथापि कहती हैं कि "क्या उपाय करूं ? प्रभु के दर्शन की चाह की बात किसको सुनाऊँ ?" तब हितकारिणि दासी ने शिक्षा की कि "अपने राजगृह के पास आप एक 'संतसेवाशाला' बनवाइये, चारों ओर सावधान मनुष्यों की चौकी बैठा दीजिये, आज्ञा दे दीजिये कि जो कोई हरिके प्यारे भक्त साधु आवैं उनको सादर विनय कर इस सन्तनिवास में लिवा लावैं और यहाँ के लोग चरण धोकर आसन बिछा बैठाके नाना प्रकार के पकवान भोजन आगे धर भोजन कराया करें। आप ऊपर से चिक डालके दर्शन किया करें। तब श्यामसुन्दर प्रभु नेत्रों से दीख पड़ेंगे ॥"

श्रीमती रत्नावतीजी ने ऐसा ही किया, और करने लगीं ॥

(६८६) टीका। कवित्त। (१५४)

आवैं हरिप्यारे साधु सेवा करि टारे दिन किहूँ पाँव धारे जिन्हैं ब्रजभूमि प्यारियै। जुगुलकिसोर गावैं, नैननि बहावैं नीर; ह्वै गई अधीर रूप दृगनि निहारियै॥ पूछी वा खवासी सों "जू 'रानी' कौन अंग ? जाके इतनी अटक संग भंग सुख भारियै।" चली उठि हाथ गह्यौ, "रह्यौ नहीं जात, अहो सहो दुख लाज बड़ी तनक बिचारियै" ॥ ५४७ ॥ (८२)

वार्त्तिक तिलक।

प्रभु के प्यारे साधु आया करते उनकी सेवा कर कुछ दिन बिताये। एक दिन किसी प्रकार ब्रजभूमि के रहनेवाले प्रेमी उपासक पधारे। युगुलकिशोर के यश गान कर नेत्रों से प्रेमाश्रु बहाने लगे। रानी उनके दर्शन करते ही अधीर हो, उस दासी से पूछने लगीं कि "भला कहो तो मेरे अंगों में 'रानी' कौनसा अंग है कि जिसके अनुरोध से मैं सतसंग सुख से विमुख हो रही हूँ ? अब तो मैं इन

संतों के बिन सन्मुख हुए, चरण गहे, नहीं रहूँगी।" ऐसा कह, उठके, चल ही तो दिया। दासी ने हाथ पकड़ रोका; परन्तु आपने कहा कि, "मुझे अब मत रोको; क्योंकि लज्जा तो बिचारी बहुत छोटी है और संत चरणवियोग का दुख बड़ा भारी है॥"

(६६०) टीका । कवित्त । (१५३)

"देख्यौं मैं विचारि, 'हरिरूपरससार' ताकौ कीजिये अहार, लाज कानि नीकें टारियै," । रोकत उतरि आई, जहाँ साधु सुखदाई, आनि लपटाई पाँय, बिनती लै धारियै ॥ सन्तनि जिमायबे की निजकर अभिलाष, लाख लाख भाँतिनि सौं कैसे कै उचारियै । आज्ञा जोई दीजै, सोई कीजै, सुख वाही मैं, जु, प्रीति अवगाही कही "करौ लागी प्यारियै" ॥ ५४८ ॥ (८१)

वार्त्तिक तिलक ।

"और मैंने अच्छे प्रकार से विचार कर देखा कि श्रीहरिरूप रस सब सुखोंका सारांश है, सो लाज कुलकानि को तज, उसीको पान करूँगी॥"

निदान, वह रोकती ही रही, पर आप उतरके चली आईं, उन सुखदाई सन्तों के चरणों में लिपटकर प्रार्थना करने लगीं। "मुझे अपने हाथों से सन्तों को प्रसाद पवाने की अभिलाषा लक्ष लक्ष भाँति से अकथनीय होरही है परन्तु जैसी आज्ञा हो उसीमें मुझे सुख है॥"

श्रीरत्नावतीजी की अथाह प्रीति देख, सन्तों ने आज्ञा की कि "जिसमें तुमको सुख हो, सोई करो, वही हमको प्रिय है॥"

(६६१) टीका । कवित्त । (१५२)

प्रेम मैं न नेम, हेम थारलै उमगि चली, दृगधार, सो परोसिकै जिवाँये हैं। भीजि गए साधु नेह सागर अगाध देखि, नैननि निमेखि तजी, भए मन भाये हैं॥ चंदन लगाय आनि बीरीऊ खवाय; स्याम चरचा चलाय चख रूप सरसाये हैं। धूम परी गाँव, भूमि आये, सब देखिबेकों; देखि नृप पास लिखि मानस पठाये हैं॥ ५४९ ॥ (८०)

वार्त्तिक तिलक।

प्रेम में नेम तो रहता ही नहीं, संतों की आज्ञा पाय, सुवर्ण के थार में भगवत् प्रसाद पदार्थ लेकर, प्रेमानन्द का जल नैनों में भर, उमंग से परोस के, सबको भोजन कराया। रानी का समुद्रवत् अथाह प्रेम देख, साधुजन भी स्नेह में डूब नेत्रों के निमेष तज मन भाते आनन्द में मग्न और प्रेम से प्रफुल्लित हो गये। श्रीरत्नावतीजी ने अपने कर कमलों से चन्दन लगा, ताम्बूल के बीड़े खिला, फिर बैठकर श्रीश्यामसुन्दरजी की चरचा सुनने लगीं। नेत्र रूप से सरसा उठे॥

रानी के राजगृह से बाहर चले आने की धूम नगर भर में छागई, सब लोग देखने को आये; राजसम्बन्धी लोगों ने यह बात लिखकर पत्र मनुष्यों के हाथ, राजा के पास भेज दिये॥

(६९२) टीका। कवित्त। (१५१)

ह्वै करि निसंक, रानी बंक गति लई नई, दई तजि लाज, बैठी मोड़नि की भीर मैं। लिख्यौ लै दिवान नर आये, सो बखान कियो, बाँच सुनि, आँच लागी नृप के सरीर मैं॥ "प्रेमसिंह" सुत, ताही काल सो रसाल आयौ, भाल पै तिलक, माल कंठी कंठ तीर मैं। भूपकौ सलाम * कियौ, नरनि जताय दियौ, बोल्यौ "आव मोड़ी के रे," पर्‍यौ मन पीर मैं॥ ५५०॥ (७६)

वार्त्तिक तिलक।

मन्त्रियों ने यह लिखा कि "रानीजी निशंक हो, नई टेढ़ी चाल गहके, लाज तज, मोड़नि अर्थात् मुड़िया वैरागियों के समूह में जाबैठी।

माधवसिंह इस पत्र को पढ़, और पत्र लानेवाले जनों से वार्त्ता सुन, तन मन से जल गया। दैवयोग उसी समय "श्रीरत्नावतीजी" के पुत्र प्रेमसिंहजी ने, रसाल भाल में तिलक कंठ में कंठी माला धारण किये आकर, राजा को प्रणाम किया। समीपी लोगों ने जताया कि "कुमारजी जुहार करते हैं॥"

* "सलाम"=سلام=जुहार, नमस्कार, प्रणाम॥

राजा क्रोध से बोल उठा कि "मुंडी बैरागिनि का बेटा आ" पिता के वचन सुन प्रेमसिंहजी के मन में बड़ा दुःख हुआ ॥

(६९३) टीका । कवित्त । (१५०)

कोप भरि राजा गयौ भीतर, सो सोच नयौ, पाछे पूछि लयौ, कह्यौ नरनि बखान कै। तब तो बिचारी, "अहो मौड़ा ही हमारी जाति," भयौ दुख गात, भक्ति भाव उर आन कै ॥ लिख्यौ पत्र माजी कों "जु प्रीति हिये साजी जौ पै सीस पर बाजी आय राखौ तजि प्रान कै। सभा मधि, भूप कही 'मोड़ी को बिरूप भयौ' रहैं अब मोड़ी के हीं भूलौ मति जान कै" ॥ ५५१ ॥ (७८)

वार्त्तिक तिलक ।

राजा क्रोध में भर गृह के भीतर चला गया ॥

कुमार प्रेमसिंहजी ने सोचयुक्त, लोगों से इस वचन का हेतु पूछा; उन्होंने रानी का सब वृत्तान्त कह सुनाया। तब प्रेमसिंहजी ने विचारा कि "ओह ! जो मैं मोड़ी का पुत्र हूँ, तो मैं भी मोड़ा (वैरागी) ही हूँ, अर्थात् मैं साधु हूँ, तौ तो अच्छा है।" अपनी माता का भक्ति भाव समझ बड़ा सुखी हुआ, और उसी क्षण इसने अपनी माताजी को पत्र लिखा कि "आपने जो भगवद्भक्ति प्रीति हृदय में धारण की, सो अब भली भाँति सत्य कीजिये; चाहे प्राण तज दीजिये परन्तु इस टेक को नहीं तजियेगा; क्योंकि आज मेरे सीस पर यह बीती कि राजा ने भरी सभा में 'मोड़ी का पुत्र' मुझको कहा; सो जिसमें अब मैं मोड़ी ही का पुत्र रहूँ, इस बात को जानकर कदापि भूलिये नहीं॥"

(६९४) टीका । कवित्त । (१४९)

लिख्यौ दै पठाये बेगि मानस, लै आये जहाँ रानी भक्ति सानी हाथ दई, पाती बाँचियै । आयौ चढ़ि रंग, बाँचि सुत कौ प्रसंग, बार भीजे जे फुलेल, दूर किये, प्रेम सांचियै ॥ आगे सेवा पाक निसि महल बसत जाय, ल्याय याही ठौर प्रभु नीके गाय नाचियै । नृप अन्न त्यागि दियौ, दियौ लिखि पत्र पुत्र, भई मोड़ी आज, तुम हित करि जांचियै ॥ ५५२ ॥ (७७)

वार्त्तिक तिलक।

कुँवरजीने पत्र लिख दिल्ली से मनुष्य के हाथ भेज दिया। जहां भक्ति रस से भीगी रानीजी थीं शीघ्र वहां लाके उसने पत्र दिया॥

पत्र पढ़, पुत्र की प्रार्थना सुन आपको प्रेम रंग का आवेश आ-गया; सच्ची प्रेमिन तो थीं ही, उसी क्षण फुलेल से भीगे हुए बालों को मुड़वा कर मुंडी हो गईं। आगे संतों को भोजन करा, रात्रि में राजस्थान में जा शयन करती थीं, अब उस दिन से उसी संतशाला ही में प्रभु को लाके दिनरात पूजा गान नाच भजन करने लगीं; और राजा का अन्नादि लेना छोड़ दिया॥

उन्हीं मनुष्यों के हाथ पत्र लिख पुत्र को भेज दिया कि "आज तुम्हारी प्रेम प्रार्थना सुन, मैं सच्ची मोड़ी हो गई; तुम आनन्द से सच्चे मोड़ा (वैरागी) रहना॥"

(६६५) टीका। कवित्त। (१४८)

गए नर पत्र दियौ, सीस सो लगाय लियौ, बांचि कै मगन हियौ, रीझि बहु दई है। नौबत बजाई द्वार बांटत बधाई; काहू नृपति सुनाई कही "कहा रीति नई है"॥ पूछ भूप लोग कह्यौ मिटे सब सोग भये मोड़ी के जू जोग स्वांग कियौ बनि गई है। भूपति सुनत बात, अति दुख गात भयौ, लयौ वैर भाव चढ़्यो त्यारी इत भई है॥ ५५३॥ (७६)

वार्त्तिक तिलक।

उन लोगों ने पत्र लेकर जा कुंवर जी को दिया; प्रेमसिंह पत्र को ले मस्तक में लगा, पढ़ कर प्रेमानन्द में डूब गये। और बहुत सा द्रव्य याचकों को बधाई बांट, द्वार पर मंगल के बाजे बजवाने लगे॥

किसी ने माधवसिंह से कहा कि "कुँवर के द्वार पर आज रीझ बटती, बधाई बजती है।" उसने कहा "पूछो कि यह नया आनन्द किस हेतु है?" राजा के लोगों ने आकर पूछा। प्रेमसिंहजी ने उत्तर दिया कि "हमारी माता ने अब यथार्थ विरक्त भक्त भेष बना लिया; हम सच सच मोड़ी के होगये! उसी आनन्द की बधाई है॥"

राजा को यह बात सुनते ही अतिशय दुख, क्रोध तथा वैर उत्पन्न हुआ कुँवर को घात करने को सेना सहित चढ़ चला। प्रेमसिंहजी भी सुन युद्ध के लिये सन्नद्ध हुये ॥

(६६६) टीका । कवित्त । (१४७)

नृप समझाय राख्यौ "देस में चवाय ह्वै है" बुधिवंत जन आय सुत सों जताई है। बोल्यौ "बिषै लगि कोटि कोटि तन खोये, एक भक्ति पर आवै काम यह मन आई है॥ पांय परि, मांगि लई, दई जो प्रसन्न तुम; राजा निसि चल्यो जाय करौं जिय भाई है। आयौ निज पुर ढिग ढुरि नर मिले आनि कह्यौ सो बखानि सब; चिन्ता उपजाई है॥ ५५४॥ (७५)

वार्त्तिक तिलक।

मंत्रियों ने माधवसिंह को बहुत समझाया कि "देखिये; यदि आप पुत्र का घात करेंगे तो लोक में बड़ी ही निन्दा होगी इससे क्षमा कीजिये।" और इधर प्रेमसिंहजी को भी आकर समझाया। "कुँवरजी कहने लगे कि संसारी विषय के हेतु मैंने कोटिन शरीर खोडाले, एक शरीर भला भगवद्भक्ति पर भी काम आजाय तो बहुत अच्छा है।" बुद्धिमान् लोगों ने कुँवर के चरणों में पड़, क्षमा कराई और दोनों ओर शान्त किया॥

तब माधवसिंह दिल्ली से रात्रि में चला कि जाकर रानी को मार डालूँगा। अपने पुरके पास आया; उसके सब लोग आकर मिले और रानीका सब वृत्तांत सुनाया। उसको बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई॥

(६६७) टीका । कवित्त। (१४६)

भवन प्रवेश कियौ, मंत्री जो बुलाय लियौ, दियौ कहि "कटी नाक लोहू निरवारियै। मारिबौ कलंक हू न आवै" यौं सुनावै भूप काहू बुधिवंत नै बिचारि लै उचारियै॥ "नाहर जु पींजरा में दीजै छांड़ि लीजै मारि पाछे ते पकरि वह बात दाबि डारियै।" सबनि सुहाई; जाय करी मन भाई; आयो, देख्यौ वा खवासी कही "सिंह-जू निहारियै" ॥ ५५५ ॥ (७४)

वार्त्तिक तिलक।

माधवसिंह ने अपने घर में जाकर मंत्रियों को बुलाकर कहा कि "इस स्त्री ने मेरी नाक काट ली! पर जब तक रानी रहेगी, तब तक मानों रक्त चल रहा है, सो बन्द करो; जिसमें मारने का कलंक भी न लगे और इसका वध हो ही जाय।" सुनकर कोई संसारी बुद्धिमान् विचारके बोला कि "जो पिंजड़े में बाघ है उसी को उस घर के भीतर छुड़वा दीजिये। वह रानी को मार डालेगा पीछे बाघ को पकड़के बात छिपा लेंगे कह देंगे कि बाघ छूट गया था सो उसने रानी को मार डाला—।" सुनते ही राजा और सब कुमंत्रियों को यह बात अच्छी लगी जाकर ऐसा ही किया।

रानी पूजा करती थी वह दासी देख कर बोली कि "देखिये सिंह आया॥"

(६९८) टीका। कवित्त। (१४५)

करें हरिसेवा भरि रंग अनुराग दृग, सुनी यह बात नेकु नैन उन टारे हैं। भाव ही सो जाने, उठि अति सनमाने, "अहो! आज मेरे भाग, श्रीनृसिंह जू पधारे हैं॥ भावना सचाई वही शोभा लै दिखाई फूल माल पहिराई, रचि टीकौ लागैं प्यारे हैं। भौन ते निकसि धाए, मानौं खंभ फारि आये, बिमुख समूह ततकाल मारि डारे हैं॥ ५५६॥ (७३)

वार्त्तिक तिलक।

रानीजी, आनन्द से भरी, नेत्रों को अनुराग रंग से रँग के, श्रीहरिसेवा करती थीं; यह बात सुन नैन उठाके उधर देख श्रीनृसिंह-भाव से निश्चय कर बोलीं कि "आज मेरे भाग्यवश श्रीनृसिंहजी पधारे हैं" और उठके प्रणाम कर पूजा की सामग्री ले अति सम्मान-पूर्वक पूजा करने को चलीं॥

सर्वान्तर्यामी प्रभु ने भावना की सचाई देख, नृसिंहरूप की शोभा से दर्शन दिया। आप जाके श्रीनृसिंहजी को तिलक दे, माला पहिरा, भोग लगाके आरती प्रणाम कर, प्रीतियुक्त दर्शन करने लगीं॥

श्रीरत्नावतीजी की जय॥

फिर व्याघ्ररूप प्रभु उस घर से निकले, मानो श्रीप्रह्लादपतिजी खंभा को फाड़कर प्रगट हुए। जो दुष्ट पिंजड़ा लेकर छोड़ने आये थे, उन सबको उसी क्षण हिरण्यकशिपु के समान मार डाला। श्री-नृसिंह भगवान् की जय ॥

(६६६) टीका। कवित्त। (१४४)

भूप कों खबरि भई, रानीजू की सुधि लई, सुनी नीकी भाँति; आप नम्र ह्वैके आये हैं। भूमि पर साष्टांग करी, कैकै यों * मति हरी, भरी दया आय वाके वचन सुनाये हैं॥ "करत प्रनाम राजा," बोली "अजू लालजू कौं," "नैकु फिरि देखौ" "एक ओर ए लगाए हैं"। बोल्यो नृप "राज धन सबही तिहारो धारौ" पति पै न लोभ कही "करौ सुख भाये हैं" ॥ ५५७ ॥ (७२)

वार्त्तिक तिलक।

जो व्याघ्र को छोड़ने आये थे वे सब मारे गये और लोग भाग गए, जाके माधवसिंह से उन्होंने कहा कि "बाघ लोगों को मार के चला गया।" पूछा कि "रानी की क्या दशा हुई?" लोगों ने कहा कि "वे तो आनन्द से भजन कर रही हैं; उन्होंने बाघ की पूजा की तब कूद के बाहर आ उसने लोगों को मारा॥"

यह प्रभाव सुन राजा ने, अति नम्र होकर श्रीरत्नावतीजी के पास आ, भूमि पर पड़के, कई बार साष्टांग प्रणाम किये क्योंकि परचो पाकर मति हर गई॥

राजा को प्रणाम करते देख उस दासी ने, दया से पूर्ण हो, रानी को वचन सुनाया कि "राजाजी प्रणाम करते हैं," आप बोलीं कि "श्री-नन्दलालजी को प्रणाम करते हैं," उसने विनय किया "भला थोड़ा इधर दृष्टि तो कीजिये" रानी ने उत्तर दिया कि "नेत्र एक ओर लगे हुए हैं, अब दूसरी दिशि नहीं हो सकते॥"

तब माधवसिंहजी ने विनय किया कि "राज और धन सब तुम्हारा है, जो मन में आवै सो करो" रानीजी को तो पति पर लोभ

* सब प्रतियों में ऐसा ही पाठ पाया गया॥

था ही नहीं, कह दिया कि "आप अपने मनमाने राजसुख कीजिये; मैं अपने सुखदायक में लगी हूँ॥"

(७००) टीका। कवित्त। (१४३)

राजा "मानसिंह" "माधौसिंह" उभै भाई चढ़े, नावपरि कहूँ, तहाँ बुड़िबे कों भई है। बोल्यौ बड़ौ भ्राता "अब कीजिये जतन कौन ? भौन तिया भक्त" कहि छोटे सुधि दई है॥ नैकु ध्यान कियौ, तब अनिकै किनारौ ❀ लियौ, हियौ हुलसायौ, जेठ चाह नई लई है। कस्यौ आय दरसन बिनै करि गयौ भूप, अतिही अनूप कथा, हिये ब्यापि गई है॥ ५५८॥ (७१)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय राजा मानसिंह और छोटे भाई माधवसिंह दोनों, किसी महानदी के पार होने को नाव पर चढ़े थे, दैवयोग नाव डूबने लगी। मानसिंहजी अतिशय घबरा के भाई से बोले कि "अब क्या यत्न करना चाहिये ?" माधवसिंह ने कहा, "मेरे गृह की स्त्री परम भक्त है;" बस दोनों जनोंने रानीजी का ध्यान किया। उसी क्षण रामकृपा से नौका तीर पर लग गई। दोनों भाई अपना नवीन जन्म मान अति आनन्दित हुये; और मानसिंहजी को रानीजी के दर्शन की नवीन चाह उत्पन्न हुई। सो आकर दर्शन विनय किया, तब अपने घर गये। इस प्रकार महा भक्ता रानी श्रीरत्नावती जी की अतिशय अनूप कथा मेरे हृदय में व्याप्त थी सो सुना दी॥

---

(१७९) श्रीजगन्नाथपारीष।

(७०१) छप्पय। (१४२)

पारीष प्रसिद्ध कुल काँथड्या, जगन्नाथ सीवाँ धरम॥ (श्री) रामानुज की रीति प्रीति पन हिरदैं धार्‌यो। संस्कार सम तत्त्व हंस ज्यौं बुद्धि बिचार्‌यो॥ सदाचार, मुनि वृत्ति, इंदिरा पधति उजागर। रामदास

❀ "किनारौ"=کنار=तीर, तट, छोर, पॉजर॥

सुतसंत अननिदमधाकौआगर ॥ पुरुषोत्तम परसादतें, उभै अंग पहिर्यो बरम। पारीष प्रसिद्धकुल काँथड़्या, जगन्नाथ सींवाँ धरम ॥ १४३ ॥ (७१)

वार्त्तिक तिलक।

पारीष ब्राह्मण, काँथड़्या कुल में उत्पन्न श्रीरामदासजी के पुत्र भक्त श्रीजगन्नाथजी भागवतधर्म की सीमा हुये। अनन्त श्रीरामानुज स्वामीजी की रीति से भगवत् प्रीतिपन (नियम) आपने अपने हृदय में धारण किया। पंचसंस्कार तथा शास्त्रसंस्कार और सब जगत् में सम व्याप्त भगवत् तत्त्व को, बुद्धि से, दूध के समान सार विचार के, हंसवत्, ग्रहण कर आपने असत् वस्तु को जल के सम त्याग किया ॥

मुनि जनों की सी सदाचारवृत्ति, धारण कर, श्रीलक्ष्मी संप्रदाय में, परम प्रकाशमान हुये। और साधु सुभाव, अनन्य शरणागत, दशधा (प्रेमा)-भक्ति में परम प्रवीण हुए ॥

आपने गुरु श्रीपुरुषोत्तमजी की कृपा से बाह्यान्तर दोनों अंगों में वर्म (बखतर) धारण किया अर्थात् आप राजा के पुरोहित शूरवीर विख्यात थे इससे प्रगट शरीर में कवच पहिनते थे दूसरा सूक्ष्म अन्तर अंग में क्षमा सहिष्णुता भक्ति का कवच पहिना जिसमें अन्तर शत्रुओं के शस्त्र आपको न लगें। और दोनों भुजाओं पर भगवदायुध छाप तथा सूक्ष्म अन्तर अंग में श्रीचरण चिह्न ध्यान भी कलि के शस्त्रों के लिये कवच थे सो सब धारण किए ॥

दो० "नैन सजल तिहिं रंग में, चित पायौ बिश्राम।
बिबस बेगि ह्वै जात सुनि, लाल लाड़िले नाम ॥"

---

(१८०) श्रीमथुरादासजी।

(७०२) छप्पय। (१४१)

कीरतन करत कर सुपनेहूँ, मथुरादास न मंड्यौ॥ सदाचार, संतोष, सुहृद, सुठि, सील, सुभासे। हस्तक

दीपक उदय, मेटि तम, वस्तु प्रकासै ॥ हरि कौं हिय बिस्वास नंदनंदन बल भारी। कृष्ण कलस सों नेम जगत जानै सिरधारी ॥ (श्री) वर्द्धमान गुरु वचन रति, सो संग्रह नहिं छंडयौ। कीरतन करत कर सुपनेहूँ, मथुरादास न मंडयौ ॥ १४४ ॥ (७०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीमथुरादासजी के भगवन्नाम कीर्तन स्मरण करते समय चेटकी का कर, (कर्त्तव्य, जादू, पाखण्ड), स्वपने में भी नहीं मंडित हुआ; अर्थात् प्रथम जो मंडित किये हुए था सो आपके जाने से रुक गया। पूर्वाचार्य्यों के सदाचार, संतोष, सावधानता, सुहृदयता, अतिशय शील आदिक गुण सुन्दर आपमें झलकते थे; और भगवत् विषय वस्तु तत्त्व का ज्ञान ऐसा था कि जैसे हाथ में दीपक लेने से गृह के सब वस्तु प्रकाशमान होते हैं ॥

आपके हृदय में श्रीहरि नन्दनन्दनजी का विश्वास बल बड़ा भारी था। श्रीकृष्ण पूजा जल का कलश नित्य नियम से आप अपने मस्तक पर रखकर लाते थे, यह सब जगत् जानता है ॥

अपने गुरु "श्रीवर्द्धमान" जी के वचनों में अतिशय प्रीति थी, उसका संग्रह जन्मभर आपने नहीं छोड़ा ॥

(७०३) टीका। कवित्त। (१४०)

बसकै "तिजारे" माँझ, भक्तिरस रास करी; करी एक बात, ताकौ प्रगट सुनाइये। आयौ भेषधारी कोऊ करै सालग्राम सेवा, डोलत सिंहासन पै, आनि भीर छाइयै ॥ स्वामी के जु शिष्य भयौ, तिनहूँ कै भाव देखि, वाही कौ प्रभाव आय कह्यौ हिय भाइयै। नेकु आप चलौ, उह रीति कों बिलोकियै जु, बड़े सरवज्ञ, कही "दूखै नहीं जाइयै" ॥ ५५६ ॥ (७०)

वार्त्तिक तिलक।

तिजारे ग्राम में निवास कर, रसराशि-भक्ति की आपने एक बात

और की, सो हम प्रगटकर सुनाते हैं। उस ग्राम में एक चेटकी (धूर्त) वैष्णव का वेष धारण किये आया; सो श्रीशालग्रामजी की पूजा करता था, चेटक यह करता था कि सिंहासन पर शालग्रामजी आपसे आप डोलते रहते थे। यह विचित्रता देख लोगों की भीड़ छा गई ॥

स्वामी मथुरादासजी के शिष्यों को भी देखकर बड़ा भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव कहकर, आपसे उन्होंने विनय किया कि "थोड़ा चलके उस रीति को देखिये।" आप तो बड़े सर्वज्ञ थे; बोले कि "हमारे जाने से उसका हृदय दुखित होगा इससे नहीं जायँगे ॥"

(७०४) टीका । कवित्त । (१३६)

पाँय परि, गये लै कै, जाय ढिग ठाढ़े भये, चाहत फिरायौ, पै न फिरैं सोच पर्‌यौ है। जानि गयौ आप, कछु याही कौ प्रताप, ऐ पै मारौं करि जाप यों बिचार मन धर्‌यौ है ॥ मूठ लै चलाई, भक्ति तेज आगे पाई नहिं, वाही लपटाई, भयौ ऐसौ मानौ मर्‌यौ है। ह्वै करि दयाल, जा जिवायौ, समझायौ; प्रीतिपंथ दरसायौ, हिय भायौ, शिष्य कर्‌यौ है ॥ ५६० ॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक ।

पर, शिष्य लोग चरणों में पड़के लिवा गये। आप मन में भगवन्नाम कीर्तन करते जाकर समीप में खड़े हुए। उसने शालग्रामजी को फिराना डोलाना चाहा, पर नहीं डोले फिरे। चेटकी को बड़ा सोच हुआ। जान गया कि "इसी का प्रताप है जो नहीं डोलते; इससे मैं अपने जादू का मंत्र जपके इसको मार डालूँ।" यह मन में निश्चय कर (मारण मंत्र की) मूठ चलाई ॥

श्रीमथुरादासजी की भक्ति तेज के आगे वह प्राप्त नहीं हुई, वरंच वह मूठ उलटकर उसी को लगी, मृतक समान हो गिर पड़ा ॥

सुनके, दयालु हो, जाकर आपने जिलाया, और समझाकर उपदेश दे श्रीभगवद्भक्ति प्रीति का मार्ग दिखाया। तब जादू तज, आपका शिष्य हो, साधुता में प्रवृत्त हुआ, भगवद्भजन करने लगा। श्रीशालग्रामजी की सच सच पूजा करने लगा।

---

(१८१) श्रीनारायणदास नृतक।

(७०५) छप्पय। (१३८)

नृतक नरायनदास कौ, प्रेमपुंज आगे बढ़्यौ॥ पद लीनौ परसिद्ध प्रीति जामें दृढ़ नातो। अच्छर तनमय भयौ मदनमोहन रँगरातो॥ नाचत सब कोउ आहि, काहि पै यह बनि आवै। चित्र लिखित सो रह्यौ त्रिभंग देसी जु दिखावै॥ "हँडिया * सराय" देखत दुनी, हरिपुर पदवी † कौं चढ़्यौ। नृतक नरायनदास कौ, प्रेमपुंज आगे बढ़्यौ॥ १४५॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक।

नृतक (नाच करनेवाले कथिक) श्रीनारायणदासजी का प्रेमपुंज आगे ही को बढ़ता गया अर्थात् प्रभु के समीप तक पहुँच गया। एक समय सप्रेम नृत्य करने को खड़े हो, प्रसिद्ध पद जिसमें प्रथम ही "दृढ़ प्रीति का नाता" ऐसा शब्द पड़ा है सो गाने लगे—

पद—("साँचो एक प्रीति को नातो॥
कै जाने राधिका नागरी कै मदनमोहन रँगरातो॥")

सो "मदनमोहन रँगरातो" इन अक्षरों में तन्मय हो गये अर्थात् मदनमोहन के अनुराग में रँगके लीन होगये। नाचते गाते तो सबही हैं, परंतु जैसी श्रीनारायणदासजी से बन आई, वैसी दूसरे से कहाँ बन आती है। पद गान के ध्यान में ऐसे तदाकार हुए कि मानों चित्र के लिखे हैं; और जिस नित्य निकुंज देस में त्रिभंगीलाल श्रीराधिकाजी सहित विराजते विहार करते हैं, मन चित्त से वहाँ जाकर प्रत्यक्ष दर्शन किए॥

हँड़िया सराय*में सब लोगों के देखते २ उसी दशा में तन तज ऊपर हरिपुर के मार्ग में चढ़ प्रभु को प्राप्त हुए॥

---

* हँड़िया सराय जो प्रयागराज से छः कोस है। प्रसिद्ध "मुल्ला दो प्याज़ाँ" वाला हँड़िया सराय। † "पदवी"=मार्ग, पथ, रास्ता॥

(७०६) टीका। कवित्त। (१३७)

हरिही कें आगे नृत्य करै, हिये धरै यही, ढरै देस देसनि में जहाँ भक्त भीर है। "हँड़िया सराय" मध्य जाइकै निवास लियौ, लियौ सुनि नाम सो मलेछ ज्ञाति "मीर*" है॥ बोलिकै पठाये, "महाजन हरिजन सबै आयौ है सदन" गुनौ ल्यावौ चाह पीर है। आनिकै सुनाई, भई बड़ी कठिनाई, "अब कीजै जोई भाई वह निपट अधीर है"॥ ५६१॥ (६८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनारायणदासजी का नियम था कि श्रीहरि की मूर्त्ति ही के आगे नाचते अन्यत्र नहीं; जहाँ जहाँ श्रीभगवद्भक्त बसते थे, उन्हीं देशों में विचरा करते थे॥

एक समय "हँड़ियासराय" में एक भगवद्भक्त के घर में जाके ठहरे; नृत्य गान किया, उसकी धूम ग्रामभर में हुई। हँड़ियासराय का अधिपति (हाकिम) म्लेच्छ जाति "मीर" था, सो सुनकर उसने आपको सँदेशा भेजा कि मेरे यहाँ महाजन भक्तजन सब कोई आये हैं, और मुझे भी बड़ी चाह है, सो अवश्य आइये। लोगों ने आकर सुनाया॥

आपके हृदय में बड़ा संकष्ट पड़ा; आपने कहा कि "मैं वहाँ नहीं जासक्ता।" फिर लोगों ने आकर कहा कि "वह आपके लिये बहुत अधीर हो रहा है, हाकिम है, जो आपको अच्छा लगै सो कीजिये॥"

(७०७) टीका। कवित्त। (१३६)

बिना प्रभु आगें नृत्य करियै न नेम यहै, सेवा वाके आगें कहौं कैसें बिस्तारियै। कियो यों बिचार ऊँच सिंहासन माला धारि तुलसी निहारि हरि गान कस्यौ भारियै॥ एक ओर बैठ्यौ मीर, निरखैं न कोर दृग, मगन किशोररूप, सुधि लै बिसारियै। चाहैं कछु वारौं परे औचक ही प्रान हाथ, रीझि सनमान कीनौ मीचि लागी प्यारियै॥५६२॥(६७)

वार्त्तिक तिलक।

आपने उत्तर दिया, "यह मेरा नेम है कि 'प्रभु के ही आगे नृत्य

---

* "मीर"=میر=सैयद=سید प्रतिष्ठित मुसलमान जाति॥

करूँ अन्यत्र नहीं,' और प्रभु के सेवास्वरूप उस यवन के आगे कैसे पधराऊँ?" फिर सबका आग्रह देख, परवशता विचार कर, ऐसा यत्न किया कि ऊँचे सिंहासन पर श्रीतुलसीजी * की माला विराजमान की; भावदृष्टि से श्रीभगवत् में और तुलसीजी में अभेद देख, अति उत्तम नृत्य गान किया॥

एक ओर वह "मीर" (यवनपति) भी बैठा था, उसकी दिशि भूलकर भी आपने न देखा। भाव की सबलता से युगलकिशोररूप में ऐसे मग्न हुये कि देहकी सुधि किंचित् भी न रहगई। मानसी में श्रीप्रभु पर आपने कुछ नेवछावर करना चाहा; अचानक प्राण हाथ पड़गये; युगलरूप में रीझ, सनमानपूर्वक, वही (प्राण ही) नेवछावर कर फेंक के, प्रभुको प्राप्त होगए। नित्य विहार में जा मिले। आपकी मृत्यु हमको अतिही प्रिय लगी॥

सो० "प्राण तोर, मैं तोर, बुधि, मन, चित, यश, तोर सब।
एक तुही तो मोर, काह निवेदौं? तोहिं पिय!" (रूपकला)

(७०८) छप्पय। (१३५)

गुनगन बिसद गोपाल के, एते जन भये भूरिदा॥
बोहिथ[१], रामगुपाल[२], कुँवरबर[३], गोबिन्द[४], मांडिल[५]। छीत
स्वामि[६], जसवन्त[७], गदाधर[८], अनंतानंद[९], भल॥ हरिनाभ-
मिश्र[१०], दीनदास[११], बछपाल[१२], कन्हर[१३] जसगायन। गोसू[१४], राम-
दास[१५], नारद[१६], श्याम[१७], पुनि हरिनारायन[१८]॥ कृष्णजीवन[१९],
भगवानजन[२०], श्यामदास[२१], बिहारी[२२], अमृतदा। गुनगन
बिसद गोपाल के, एते जन भये भूरिदा॥ १४६॥ (६८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवत् के विशद गुणगण सुयशरूपी बड़ाभारी दान देनेवाले अर्थात् कथनकर जीवों को सुनानेवाले इतने सुजन हुए, उनके नाम॥

* श्रीवैष्णव, श्रीशालग्राम तथा श्रीतुलसी में अभेद मानते हैं॥

इन सबों ने भले प्रकार श्रीहरियशामृत की बरषा की ॥

(१) श्रीबोहिथजी
(२) श्रीरामगोपालजी
(३) श्रीकुँवरवरजी
(४) श्रीगोविन्दजी
(५) श्रीमांडिलजी
(६) श्रीछीतस्वामीजी
(७) श्रीयशवन्तजी
(८) श्रीगदाधरजी
(९) श्रीअनन्तानन्दजी
(१०) श्रीहरिनाभ मिश्रजी
(११) श्रीदीनदासजी
(१२) श्रीवछपालजी
(१३) श्रीकन्हरजी
(१४) श्रीगोसूजी
(१५) श्रीरामदासजी
(१६) श्रीनारदजी
(१७) श्रीश्यामजी
(१८) श्रीहरिनारायणजी
(१९) श्रीकृष्णजीवनजी
(२०) श्रीजन भगवान्जी
(२१) श्रीश्यामदासजी
(२२) श्रीबिहारीजी

(७०१) छप्पय । (१३४)

निरबर्त्त भये संसारतें, ते मेरे जजमान सब ॥ उद्धव, रामरेनु, परसराम, गंगा, धूषेत निवासी । अच्युतकुल, ब्रह्मदास, बिश्राम, सेषमाईके बासी ॥ किंकर, कुंडा, कृष्णदास, खेम, सोठा, गोपानँद । जैदेव, राघौ, बिदुर, दयाल, दामोदर, मोहन, परमानँद ॥ उद्धव, रघुनाथी, चतुरोनगन, कुंज ओक जे बसत अब । निरबर्त्त भये संसारतें, ते मेरे जजमान सब ॥ १४७ ॥ (६७)

वार्त्तिक तिलक ।

जो भक्त संसार से निवृत्त हुये वे सब मेरे यजमान हैं और मैं उनका यशगायक याचक हूँ, उनमें विशेषों के नाम ॥

(१) श्रीउद्धवजी
(२) श्रीरामरेनुजी
(३) श्रीपरसरामजी
(४) धूषेतनिवासी श्रीगंगाजी

(५) श्रीअच्युतकुलजी
(६) श्रीब्रह्मदासजी
(७) सेषसाई के वासी श्रीविश्रामजी
(८) श्रीकिंकरजी
(९) श्रीकुंडाजी
(१०) श्रीकृष्णदासजी
(११) श्रीखेमजी
(१२) श्रीसोठाजी
(१३) श्रीगोपानन्दजी
(१४) श्रीजयदेवजी
(१५) श्रीराघौजी
(१६) श्रीजयतारन बिदुरजी
(१७) श्रीदयालजी
(१८) श्रीदामोदरजी
(१९) श्रीमोहनजी
(२०) श्रीपरमानन्दजी
(२१) दूसरे श्रीउद्धवजी
(२२) श्रीरघुनाथीजी अब वृन्दावन कुंज के निवासी
(२३) श्रीचतुरोनगनजी॥

(१८२) श्रीजयतारन बिदुरजी।

(७१०) टीका। कवित्त। (१३३)

झीथड़ौ ढिगही मैं जैतारन बिदुर भयौ, भयौ हरिभक्त, साधु-सेवा मति पागी है। बरषा न भई, सब खेती सूखि गई, चिंता नई, प्रभु आज्ञा दई, बड़ौ बड़भागी है॥ "खेत कों कटावौ, औ गहावौ, लै उड़ावौ, पावौ दो हजार[1] मन अन्न," सुनी प्रीति जागी है। करी वही रीति, लोग देखैं न प्रतीति होत, गाए हरि मीत राशि लागी अनुरागी है॥ ५६३॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक।

जोधपुर राज्य में झीथड़ा गाँव के पास ही में श्रीहरिभक्त "जयतारन-बिदुरजी" अपनी मति संतसेवा में लगानेवाले हुये। एक समय वर्षा न होने से सब खेती सूख गई। दुर्भिक्ष पड़ा, आपको संतों के भोजन के लिये नवीन चिन्ता हुई। तब स्वप्न में कृपासिन्धु प्रभु ने आज्ञा दी, क्योंकि आप बड़े भाग्यवान् थे कि "सूखे खेत को कटाकर गहावो उड़ाओ (उसावो), उसमें तुमको २००० (दो सहस्र) मन अन्न मिलेगा॥"

आज्ञा सुनते ही जागे; अति प्रीतिमान हो आपने वैसा ही किया

१ "हजार"=१०००=सहस्र=दस सौ॥

लोग देखकर विश्वास के अभाव से हँसते थे; और विदुरजी श्री-कृपालु हरि के चरणों में प्रीति विश्वास पूर्वक गुन गाते थे; इससे दो सहस्र मन की राशि लग गई। देखकर सबने अनुराग से "जय जय" कार किया। (कुछ आश्चर्य नहीं)॥

चौपाई।

"सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु शत सरिस सोहाई॥"

कैसे सेवक ?—

दो० "राम अमल माते फिरैं, पीवैं प्रेम निशंक।
आठ गांठि कोपीन में, कहा इन्द्र सो रंक॥"

---

(१८३) स्वामी श्रीचतुरोनगन (नागाचतुरदासजी)

(७११) छप्पय। (१३२)

श्रीस्वामी चतुरोनगन, मगन रैन दिन भजन हित॥ सदा जुक्त अनुरक्त भक्त मंडल को पोखत। पुर मथुरा ब्रजभूमि रमत, सबहीं को तोखत॥ परम धरम दृढ़ करन देव श्रीगुरु आराध्यौ। मधुर बैन सुठि, ठौर ठौर हरिजन सुख साध्यौ॥ संत महंत अनंत जन, जस बिस्तारत जासु नित। श्रीस्वामी चतुरोनगन, मगन रैन दिन भजन हित॥ १४८॥ (६६)

वार्त्तिक तिलक।

नागा (नंगे) नग्नरूप श्रीस्वामी "चतुरोजी" दिन रात भजन में मग्न रहते थे। सदा भगवत् अनुराग युक्त भक्त मंडल को भी अनुराग से पुष्ट करते, मथुरापुरी तथा श्रीब्रजभूमि में रमते हुये सब को सुख संतोष देते थे; परम धर्म दृढ़ करने के लिये श्रीगुरुदेव की अति अलौकिक सेवा की; आपने अति मधुर वचन सुनाके ठौर २ में हरिभक्तों को सुख दिया। सब संत महंत और समस्त सज्जन लोग श्रीनागाजी का यश नित्य ही विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं॥

"'चतुरदास' वृन्दाविपिन वास कियौ भलि भाँति॥"

दो० "तृणतें नीचौ आपको, जानि बसे "बन" माहिं ।
मोह छाँड़ि ऐसे रहे, मनो चिन्हारिहु नाहिं ॥"

(७१२) टीका । कवित्त । (१३१)

आयौ गुरु गेह यों सनेहसों लै सेवा करैं, धरैं साँचौ भावहियें अति मति भीजियै । टहल लगाय दई नई रूपवती तिया, दियौ वासों कहि "स्वामी कहै सोई कीजियै" ॥ देख्यो उरझाव अंग संग को लखाव भयौ दयौ घर धन वधू "कृपाकर लीजियै" । धाम पधराय, सुख पायकै, प्रनाम करी, धरी ब्रजभूमि उर बसे, रस पीजियै ॥ ५६४ ॥ (६५)

वार्त्तिक तिलक ।

आपके श्रीगुरुजी घर में आये, अतिसच्चे स्नेह भाव से मति को भिगोकर सेवा करने लगे; और नवीन अवस्थावाली अति रूपवती अपनी धर्मपत्नी को गुरुजी के टहल में लगाकर कह दिया कि "जो स्वामीजी की आज्ञा हो सोई करना ।" सब काल इकट्ठे रहने से अंग संग का उरझाव हो जाना जान लिया । तब घर और धन तथा अपनी स्त्री श्रीगुरु महाराज को सब देकर विनय किया कि "ये सब कृपा करके लीजिये ।" अति आनन्दित हो उन्हें गृह में पधरा, साष्टांग प्रणाम कर, आज्ञा माँग, आकर, ब्रजभूमि में बस, श्रीभगवत् प्रेमरस को पान किया करते ॥

दो० "गजधन, गोधन, भूमिधन, हेम रत्न-धन-खान ।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥"

(७१३) टीका । कवित्त । (१३०)

श्रीगोबिंदचंदजू को भोर ही दरस करि; केसव सिंगार; राजभोग नंदग्राम मैं । गोबर्धन, राधाकुंड ह्वैकै, आवैं बृन्दाबन, मन में हुलास नित करैं चारि जाम मैं ॥ रहे पुनि पावन पै भूखे दिन तीन बीते, आये दूध लै प्रबीन, एऊ रँगे स्याम मैं । माँग्यौ "नैकु पानी ल्यावौ;" फेर वह प्रानी कहाँ ? दुख मति सानी, निसि कही "कियौ काम मैं" ॥ ५६५ ॥ (६४)

वार्त्तिक तिलक ।

आप वृन्दावन में नित्य आनन्द हुलास से प्रदक्षिणापूर्वक इस

प्रकार विचरते थे कि श्रीगोविन्ददेवजी की भोर मंगला आर्ती का दर्शन, और श्रीकेशवदेवजी की शृंगार आर्ती का दर्शन कर, राज-भोग नन्दग्राम में देखते। गोवर्द्धनजी राधाकुंड होकर चौथे पहर वृन्दावन में आजाते थे। एकबेर पावन मानसरोवर पर दैवयोग से तीन दिन भूखे रह गये। तब भक्तवत्सल प्रवीण श्रीनन्दकुमारजी ने सुंदर मनुष्यरूप से दूध लाके पान कराया। श्रीचतुरदासजी को वह रूप बड़ा प्यारा लगा। बोले कि "थोड़ा जल भी पिला दो॥"

आप पानी लेने को गये; फिर कहाँ देख पड़ें? उस रूप के वियोग से नागाजी को बड़ा दुख हुआ, तब रात्रि को स्वप्न में श्रीप्रभु ने कहा कि "वह दूध मैं ही तुमको पिला गया था॥"

सवैया।

"डोलत हैं इक तीरथ, एकनि बार हजार पुरान बके हैं।
एक लगे जप में, तप में, इक सिद्धि समाधिन में अटके हैं॥
बूझि जो देखत हौ, रसखानि जू, मूढ़ महा सिगरे भटके हैं।
साँचे हैं वे, जिन आपनज्यौं; इहि साँवरो श्यामपै वांर छके हैं॥ १॥"

(७१४) टीका। कवित्त। (१२९)

"पानी सौं न काज, ब्रजभूमि मैं बिराज दूध, पीवौ घर घर," यह आज्ञा प्रभु दई है। एतौ ब्रजबासी सब छीर के उपासी, कैसें मोको लेन दैहैं?" कही "दैहैं;" सुनी नई है॥ डोल धाम धाम श्याम कह्यौ जोई मानि लियौ, दियौ परचै हूँ, परतीति तब भई है। कहाँ जा छिपावैं पात्र, बेगि आप ढूँढ़ि ल्यावैं, अति सुख पावैं, कीनी लीला रसमई है॥ ५६६॥ (६३)

वार्त्तिक तिलक।

"और तुमने जल माँगा सो मैंने इसलिये नहीं दिया कि, अब जल से कुछ प्रयोजन मत रक्खो, ब्रजभूमि में विराजमान हो ब्रजवासियों के घर घर में जाकर दूध ही पिया करो।" प्रभु की ऐसी आज्ञा सुन स्वप्न ही में आपने विनय किया कि "ये ब्रजवासी सब अतिप्रेम से दूध ही की उपासना करते हैं। (अर्थात् यशोदाजी ने दूध के हेतु आपही को गोद से उतार दिया था)॥

सवैया।

"जप, यज्ञ, सुदान, सुमानैं, करैं, बहु कूप, रु वापी तड़ाग बनावैं।
करैं व्रत, नेम, सुइन्द्रियनिग्रह, उग्रह योग समाधि लगावैं॥
कहै रसखानि, हृदय तिनके कबहूँ नहिं जो सुपने महँ आवैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाँछ पै नाच नचावैं॥ १॥"

सो मुझे वे लोग, हे सुखसागर! दूध कैसे लेने देंगी।" प्रभुने कहा "हमारी आज्ञा है, देंगी।" आपकी नवीन आज्ञा सुनकर मानली॥

उस दिन से सबके घर घर जाके दूध लिया करते थे। व्रजवासियों से कह दिया कि "मुझे नन्दकुमार की आज्ञा है दो," किसी किसी ने नहीं दिया उनको आपने परचो दिया जैसे उनका सम्पूर्ण दूध फट गया वा कीड़ा पड़ गया, एवमादि तब लोगों को प्रभु की आज्ञा की प्रतीति हुई; दूध देने लगे। कोई कोई हाँसी से दूधका पात्र छिपा देती थीं, तब श्रीनागाजी स्वयं जाके ढूँढ़ लेते। तब सब बड़ा सुख मानती थीं इस प्रकार की रसमयी लीला आपने की॥

(७१५) छप्पय। (१२८)

माधूकरी माँगि सेवैं भगत, तिनपर हौं बलिहार कियो॥ गोमा परमानन्द[१], प्रधान[२], द्वारिका, मथुरा खोरा[३]। कालख[४] सांगानेर[५] भलो भगवानेको जोरा॥ बीठल[६] ओड़[७], खेम[८] पंडा गुनौ रै गाजै। श्यामसेन के बंश, "चीधर[९]" "पीपा[१०]" रवि राजै॥ जैतारन[११] गोपाल[१२] के, केवल[१३] कूबै मोल लियो। माधूकरी माँगि सेवैं भगत, तिनपर हौं बलिहार कियो॥ १४९॥ (६५)

वार्त्तिक तिलक।

जिन जिन महात्माओं ने माधूकरी मुट्ठी भिक्षा माँग कर हरि-भक्तों की सेवा की, उनके ऊपर मैं अपना तन मन धन सब बलिहारी करता हूँ॥

(१) गोमा में परमानन्दजी
(२) द्वारिका में प्रधान भक्तजी
(३) मथुरा में खोरा भक्तजी
(४-५) कालख में और सांगानेर में भगवान् का भला जोड़ा अर्थात् एक भगवान्जी कालख में दूसरे भगवान्जी सांगानेर में।
(६) ठोंड़े में बीठलजी।
(७) गुनौरे में खेम पंडा, भक्तों की सेवाकर सुख से गर्जते थे।
(८) सेन भक्त के वंश में श्यामदासजी।
(९।१०) और चीधड़जी तथा श्री पीपाजी, दोनों संत-सेवी सूर्य के समान प्रकाशमान।
(११।१२) जैतारनजी के और गोपालजी के भी मैं बलिहारी जाता हूँ।
(१३) श्रीकेवलदास कूबाजी ने अपने कूबरही से मुझे मोल ले लिया।

---

(१८४) श्रीकूबाजी (केवलदास)

(७१६) टीका। कवित्त। (१२७)

कहत कुम्हार, जगकुलनिसतार कियौ, "केवल" सुनाम साधु सेवा अभिराम है। आये बहु संत, प्रीति करी लै अनंत, जाकौ अंत कौन पावै, एपै सीधौ नहीं धाम है॥ बड़ीए गरज, * चले करज † निकासिबेकों, बनिया न देत, "कुवाँ खोदौ कीजै काम है"। कही बोल कियौ तोल लियौ नीके रोलकरि, हित सो जिवाँये जिन्हैं प्यारो एक श्याम है॥ ५६७॥ (६२)

वार्त्तिक तिलक।

आपको सब जगत् कुम्हार जाति कहते हैं श्री "केवल" जी नाम था आपने अपने कुलभर बरन जगत् भर को भवसागर के पार उतार दिया, अति उत्तम रीति से साधुसेवा करते थे। एक दिवस बहुत से संत घर में आये, देख अति अनंत प्रीति की; परन्तु घर में अन्न सीधा कुछ नहीं। बड़ी चाहना से ऋण लेने को गये बनियों ने नहीं दिया, एक ने कही कि "जो मेरा कुआँ खोद देने का वचन दो तो मैं दूँ॥"

---

* "ग़रज़"=غرض=आवश्यकीय चाह। † "क़रज़"=قرض=ऋण, उधार॥

आपने कहा "बहुत अच्छा खोद दूंगा," उसी वचन पर सब सामग्री लाकर, जिन सन्तों को एक श्रीसीतारामजी ही प्यारे हैं, उनको बड़े प्रेम से भोजन कराया ॥

श्रीअयोध्याजी लक्ष्मणकिला तथा सारन चिराँद में जो स्थान हैं, वहाँ के महात्मा, "श्रीकेवलकूबाजी ही के द्वारा" के हैं ॥

(७१७) टीका । कवित्त । (१२६)

गए कुवा खोदिबेकों, सुवा ज्यों उचारै नाम, हुआ काम जान्यौ बनिभयौ सुख भारी है । आई रेत भूमि, भूमिमाटी गिरि दबे वामें, केतिक हज़ार मन होत कैसे न्यारी है ॥ सोक करि, आये धाम, "राम" नाम धुनि काहू कान परी, बीत्यो मास, कही बात प्यारी है । चले वाही ठौर स्वर सुनि प्रीति भौंर परे, रीति कछु और, यह सुधि बुधि टारी है ॥ ५६८ ॥ (६१)

वार्त्तिक तिलक ।

संतों के चले जाने पर आप जाकर कुआँ खोदने लगे, और मुख से शुक (तोते) के समान सप्रेम श्रीसीताराम नाम उच्चारण करते, बहुत प्रसन्नतापूर्वक नीचे तक खोद लेगये । "कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जनकीनाथ पढ़ायो" कुआँ तैयार होते देख बनियाँ और भी आनन्दित हुये ॥

इतने ही में नीचे बालू मिली बस ऊपर से टूटके सहस्रों मन मिट्टी आपके ऊपर गिरपड़ी ! वह कैसे निकल सकै ? सबोंने जाना कि दबकर मरगये; शोक करते चले आये ॥

एक मास पीछे उस ठिकाने कोई गया उसके कानों में श्रीराम नाम की धुनि पड़ी, गाँव में दौड़ आया सुखदप्रिय समाचार सुनाया, सब लोग आकर वहाँ श्रीराम नाम का शब्द सुन मानों प्रीति के भँवर में पड़ गये । सबकी तनमन की सुधि भूलि गई, क्योंकि वह नामोच्चारण और ही सप्रेम रीति से सुनाई देता था ॥

(७१८) टीका । कवित्त । (१२५)

माटी दूर ❀ करी, सब पहुंचे निकट जब, बोलिकै सुनायौ "हरि"

❀ "दूर" =دور=अलग ॥

बानी लागी प्यारियै । दरसन भयौ, जाय पाँय लपटाय गए, रही मिहराब ❀ सी ह्वै, कूबहू निहारियै ॥ धस्यौ जलपात्र एक, देखि बड़े पात्र जाने, आने निज गेह पूजा लागी अति भारियै । भई द्वार भीर, नर उमड़ि अपार आये, महिमा बिचारि बहु संपति ल वारियै ॥ ५६९ ॥ (६०)

वार्त्तिक तिलक ।

गाँव के सब लोग लगकर अति शीघ्रता तथा सावधानता से हाथों-हाथ मिट्टी निकालकर आपके निकट पहुँचे । "हरेराम हरेराम" यह वाणी कहकर सुनाया, अति प्यारी लगी; श्रीकेवलजी का दर्शन कर लोग चरणों में लिपट गये देखा कि श्रीरामकृपा से नीचे गुफा (महराब❀) सरीखा हो रहा था, नीचा बहुत था; इससे एक मास भर वहीं बैठे रह गए इससे आपकी पीठ में कूबर हो गया । "कूबाजी" कहलाने लगे ॥

आपके आगे एक जल भरा पात्र रक्खा हुआ था । सबने जाना कि ये श्रीरामजी के बड़े कृपापात्र हैं, सो निकाल के बाजा बजाते बड़े प्रेमसे घरलाकर लोगोंने विराजमान किया । सबने आपको बड़ी भारी पूजा चढ़ाई । एक एक से सुनकर बहुत से लोग आये द्वार में बड़ी ही भीड़ हुई । श्रीकेवलजी की महिमा विचार कर लोगों ने बहुत सा धन चढ़ाया, और नेवछावर करके लुटा भी दिया ॥

(७१९) टीका । कवित्त । (१२४)

सुंदर स्वरूप श्याम ल्याये पधरायबेकों; साधु निज धाम आय कूबाजू के बसे हैं । रूप कों निहारि मन मैं बिचार कियौ आप "करैं कृपा मोकों प्रभु" अचल ह्वै लसे हैं ॥ करत उपाय संत टरत न नेक किहूँ कहीजू अनंत हरि रीझे स्वामी हसे हैं । धस्यौ "जानराय" नाम जानि लई ही की बात, अंग मैं न मात सदा सेवा सुख रसे हैं ॥ ५७० ॥ (५९)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीकेवलजी "कूबाजी" विख्यात हो, मनमानी संतसेवा करने

❀ "मिहराब" =محراب=गोलशून्य, धनुषाकार आकाश ॥

लगे। कोई संत प्रभु की बहुत सुन्दर श्याम मूर्त्ति अपने मंदिर में पधराने को लिये जाते थे; मार्ग में कूबाजी के यहाँ निवास किया, आपने मोहनीस्वरूप को देख, मन में विचार कर, प्रार्थना की कि "प्रभु मुझ पर कृपाकर रह जाते, तो भला था।" आपकी प्रार्थना सुन प्रभु वहाँ ही अचल होगये; वे संत उठाने के लिये लाख उपाय करने लगे पर किंचित् भी नहीं टरे। श्रीकेवलजी ने हँसके कहा "अजी! हरि अनन्त हैं आपके उठाये नहीं उठेंगे, मुझपर प्रसन्न होकर यहां हीं रहेंगे।" संत आपका वचन सत्य जान, छोड़कर चले गये। कूबाजी ने अति प्रसन्न होकर कहा कि मेरे हृदय की बात जान गये इससे आपका नाम "जान-राय" जी है, प्रभु को पधराके सुख से पगसेवा करने लगे॥

(७२०) टीका। कवित्त । (१२३)

चले द्वारावति, "छाप ल्यावैं," यह मति भई; आज्ञा प्रभु दई, फिरि घर ही को आये हैं। "करौ साधुसेवा, धरौ भाव दृढ़ हिये माँझ, टरौ जिनि कहूँ, कीजै जे जे मन भाये हैं"। गेह ही में संख चक्र आदि निज देह भए, नये नये कौतुक प्रगट जग गाये हैं। गोमती कौ सागर सौ संगम सो रह्यौ सुन्यौ, सुमिरनी पठायकै यों दोऊ लै मिलाये हैं ॥ ५७१ ॥ (५८)

वार्त्तिक तिलक ।

कूबाजी के इच्छा हुई कि 'द्वारिकाजी जाके शंख चक्रादिक छाप ले आऊँ' सो घर से चल दिये। भगवत् की आज्ञा हुई कि "तुम हृदय में दृढ़ भाव रखकर साधुसेवा करो; यहाँ से न टरो कहीं नहीं जाव, तुम्हारे मन में जो जो अभिलाषा होगी सो सब यहाँ ही पूर्ण हो जायगी।"

आज्ञा मान लौटके घर ही चले आये। श्रीजानरायजी के समीप ही शंख चक्रादिक छाप आपके बाहों में स्वतः अंकित हो गये। इत्यादिक नवीन नवीन कौतुक तथा चमत्कार प्रभुकृपा से प्रगट देख सब जगत् यश गान करने लगा। गोमती और समुद्र के बीच में बड़ी रेती है,

समुद्र की लहर आने से दोनों का संगम हो जाता है; एक समय लहर आना संगम होना बन्द हो गया। श्रीकेवलजी ने सुना कि संगम न होने से माहात्म्य की हानि हुई, और रेती उड़ने से वहाँ के लोग बड़े दुखी हैं। तब आपने श्रीसीतारामनामस्मरण करने की अपनी सुमिरनी माला भेज दी। उसको रख देने से गोमती समुद्र का संगम पूर्ववत् होने लगा॥

(७२१) टीका। कवित्त। (१२२)

भए शिष्य शाखा, अभिलाषा साधु सेवा ही की, महिमा अगाध, जग प्रगट दिखाई है। आये घर संत, तिया करति रसोई, कोई आयौ वाको भाई, ताकों खीर लै बनाई है। कूबाजी निहारि जानी याकौ हित दूसरों सौं कीजियै बिचार एक सुमति उपाई है। कही "भरि ल्यावौ जल" गई डरि कलपै न लई तसमई सब भक्तनि जिमाई है॥५७२॥(५७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकेवलजी के अनेक शिष्य और प्रशिष्यों की शाखाएँ हुईं; उन सबको साधुसेवा ही की अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ी; क्योंकि श्रीकूबाजी ने संतसेवा की अथाह महिमा प्रत्यक्ष दिखा दी। एक दिवस गृह में संत आये दैवसंयोग से उनकी स्त्री का भाई भी आ पड़ा; आपकी स्त्री ने संतों के लिये नित्य कीसी रसोई की, पर अपने भाई के लिये खीर बनाई; कूबाजी ने यह चरित्र देखकर विचारा इसकी प्रीति अपने भाई में है, इससे मैं ऐसा उपाय करूँ कि अपने प्यारे भाइयों को खीर खिला दूँ, नारी को आज्ञा दी कि "जा जल भरला" वह गई परन्तु डरती हुई कि 'खीर खिला न दें', आपने तुलसी छोड़ प्रभु को अर्पणकर सब तसमई हरिभक्तों को पवा दी॥

(७२२) टीका। कवित्त। (१२१)

बेगि जल ल्याई, देखि आगिसी बराई हियें, झाँकै मुँह भाई, दुख-सागर बुड़ाई है। बिमुख बिचारि, तिया कूबाजी निकारि दई, गई पति कियो और, ऐसी मन आई है॥ पर्यौ अकाल बेटा बेटी सो न पाल सकै, तकै कोऊ ठौर मति अति अकुलाई है। लियें संग

कह्यौ जोई, पुत्र सुता भूख भोई, आय परी झींथड़ा में स्वामी को सुनाई है॥ ५७३ ॥ (५६)

वार्त्तिक तिलक।

जल ले बहुत त्वरा से आके संतों को खीर पाते देख क्रोधाग्नि से जलती हुई, भाई का मुख देख दुखसमुद्र में डूब गई। आपने उसको विमुख पा, घर से निकाल दिया॥

उसने जाके दूसरा पति कर लिया और उससे बेटी बेटे हुए। एक समय दुकाल पड़ा, वह पुरुष अपने ही भूखों से मरने लगा, तब इसके बेटी बेटों को कैसे पाल सकै। निदान अति व्याकुल हो, वह उस पति और बेटी बेटों को लिये भूख से पीड़ित "झींथड़ा" में आके रो रोकर स्वामीजी को विनय सुनाने लगी॥

(७२३) टीका। कवित्त। (१२०)

नाना बिधि पाक होत, संत आवैं जैसें सोत, सुख अधिकाई, रीति कैसे जात गाई है। सुनत बचन वाके दीन दुख लीन महा, निपट प्रबीन मन माँझ दया आई है॥ "देखि पति मेरौ और तेरौ पति देखि याहि कैसे कै निबाहि सक परी कठिनाई है। रहौ द्वार झाऱ्यौ करौ पहुँचै अहार तुमैं" महिमा निहारि दृग धार लै बहाई है ॥ ५७४ ॥ (५५)

वार्त्तिक तिलक।

आपके यहाँ नित्य श्रीसीतारामजी के लिये अनेक प्रकार की रसोई हो रही है, चारों ओर से जैसे समुद्र में नदियाँ आती हैं, इसी प्रकार संत आते हैं; आपकी सेवा की रीति और आनन्द की अधिकता कैसे कही जासक्ती है?

दुख से भरे दीन वचन उस स्त्री के सुन, आप साधुता में अति प्रवीण तो थे ही, मन में दया लाकर बोले कि "री मूर्ख! देख मेरे पति का प्रभाव कि कैसा आनन्द हो रहा है; और अपने पति को भी देख कैसी कठिनता में पड़ रहा है। अच्छा, बाहर पड़ी रह, द्वार में झाड़ू लगाया कर, तुम सबको खाने को मिला करेगा॥"

आपकी महिमा देख भाग्यहीना रोने लगी॥

(७२४) टीका । कवित्त । (११९)

कियौ प्रतिपाल तिया पूरी कौ अकालमास भयौ जब समै बिदा कीनी उठिगई है। अतिपछितात वह बात अब पावै कहाँ ? जहाँ साधु-संग रंग सभा रसमई है ॥ करैं जाको शिष्य, संतसेवाही बतावै "करौ जो अनेक रूप गुन चाह मन भई है" । नाभाजू बखान कियौ, मोकों इन मोल लियौ, दियौ दरसाय सब लीला नितनई है ॥५७५॥ (५४)

वार्त्तिक तिलक ।

जबतक अकाल के मास पूर्ण नहीं हुए, तबतक पति पुत्रों के सहित उस स्त्री को भोजन दिलाया; फिर समय होने पर बिदा कर दिया; चली गई। यह रसमई संतसभा के संग का प्रेमरंग देख, उसने मन में अति पश्चात्ताप किया। परन्तु वह बात अब कैसे पासकै ?

श्रीकूबाजी जिसको शिष्य करते, उसको संतसेवा ही का इस प्रकार उपदेश देते थे कि "जो तुम्हारे मन में भगवत् के रूप गुणों की चाह हुई है तो प्रीति से यही करो ॥"

श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि जो श्रीनाभास्वामीजी ने बखान किया, "केवल कूबै मोल लियो" सो मैंने आपकी नित्य नवीन लीला कहकर दरसा दी कि श्रीकेवलजी संतसेवा ही के लिये "कूबा" हुए। संतों की जय, संतसेवियों की जय ॥

(७२५) छप्पय । (११८)

श्रीअग्र अनुग्रह तें भये, शिष्य सबै धर्म की धुजा ॥ जंगी[१], प्रसिद्ध प्रयाग[२], बिनोदी[३], पूरन[४], बनवारी[५] । नर-सिंह[६], भलभगवान[७], दिवाकर[८], दृढ़ व्रतधारी ॥ कोमल हृदै किशोर[९], जगत[१०], जगन्नाथ[११], सलूधौ[१२] । औरौ अनुग उदार खेम[१३], खीची[१४], धरमधीर[१५], लघुऊधौ[१६] ॥ त्रिबिधि ताप मोचन सबै, सौरभ प्रभु निज सिर भुजा । श्रीअग्र अनुग्रह तें भये, शिष्य सबै धर्म की धुजा ॥१५०॥ (६४)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी श्रीअग्रदासजी की कृपा अनुग्रह तें, उनके ये सब शिष्य भागवतधर्म की ध्वजा के सरीखे हुए। जिनके मस्तक पर प्रभु समर्थ "सौरभ" अर्थात् श्रीअग्रस्वामीजी ने अपना करकमल रक्खा वे सब अपने, तथा शरणागत जीवों के, तीनों ताप छुड़ानेवाले हुये; जिनमें परम प्रसिद्ध—

(१) श्रीजंगीजी
(२) श्रीप्रयागदासजी
(३) श्रीविनोदीजी
(४) श्रीपूरनदासजी
(५) श्रीबनवारीदासजी
(६) श्रीनरसिंहदासजी
(७) श्रीभगवानदासजी
(८) श्रीरामभजन दृढ़व्रत धारण करनेवाले श्रीदिवा-करजी
(९) कोमल हृदयवाले श्रीकिशोरजी
(१०) श्रीजगतदासजी
(११) श्रीजगन्नाथदासजी
(१२) श्रीसलूधौजी
(१३) श्रीअग्रदेवानुगामी (शिष्य) श्रीखेमदासजी
(१४) श्रीखीचीजी
(१५) श्रीधर्मदासजी परमधीर
(१६) श्रीलघुऊधौजी इत्यादि।

(७२६) छप्पय। (११७)

भरतखंड भूधर सुमेर टीला[१] लाहा[२] की पद्धति प्रगट॥ अंगज परमानंद[३] दास जोगी जग जागे। खरतर[४], खेम[५], उदार ध्यान[६], केसो[७] हरिजन अनुरागे॥ सस्फुट त्योला[८] शब्द लोहकर वंश उजागर। हरिदास[९] कपि प्रेम, सबै नवधा के आगर॥ अच्युत कुल सेवैं सदा, दासन तन दसधा अघट। भरतखंड भूधर सुमेर टीला लाहा की पद्धति प्रगट॥ १५१॥ (६३)

वार्त्तिक तिलक।

(१) भरतखंडरूपी सुमेर पर्वत के टीला (शिखर) के समान श्री-"टीला" जी भक्त हुये॥

(२) उनके शिष्य श्री "लाहा" जी हुये; इनकी पद्धति कहिये शिष्य-परम्परा परम प्रकाशमान हुई ॥

(३) आपके अंगज (पुत्र) श्रीपरमानन्ददासजी जगत् में विख्यात योगी हुये ॥

(४-७) अति उदार खरतरदासजी, खेमदासजी, ध्यानदासजी, केशौदासजी, इन सबों का श्रीहरिभक्तों में बड़ा ही अनुराग हुआ ॥

(८) सस्फुट प्रसिद्ध त्योला शब्द अर्थात् "त्योला" इति विख्यात लोहार जाति के वंश में जन्म लेकर उसको उजागर किया ॥

(९) और हरीदासजी का कपि श्रीहनुमान्जी में बड़ा प्रेम था, नवधा भक्ति में सब ही निपुण हुये ॥

ये सब अपनी देह में दासता को धारण कर अच्युतकुल वैष्णवों की सेवा करते थे, इससे भगवत् की अनपायिनी प्रेमाभक्ति को प्राप्त हुये ॥

---

(१८५) श्रीकन्हरजी (श्रीबिठ्ठलसुत)।

(७२७) छप्पय। (११६)

मधुपुरी महोछौ मंगलरूप "कान्हर" कैसो को करै ॥ चारि बरन आश्रम रंक राजा अन पावै। भक्तनि कौं बहु मान बिमुख कोऊ नहिं जावै ॥ बीरी चन्दन बसन कृष्ण कीरतन बरखै। प्रभु के भूषन देय महामन अतिसय हरखै ॥ "बीठल" सुत बिमल्यौ फिरै, दासचरण रज सिर धरै। मधुपुरी महोछौ मंगलरूप "कान्हर" कैसो को करै ॥ १५२ ॥ (६२)

वार्त्तिक तिलक।

मथुरापुरी में मंगलरूप महाउत्सव "श्रीकान्हरजी" के समान और कौन कर सक्ता है? जिस उत्सव में चारो वर्ण चारो आश्रम के जन, राजा से रंक तक सबको सादर भोजन अन्न मिलता था।

और भगवद्भक्तों का अतिसम्मान से सत्कार होता था, विमुख कोई नहीं जाता था। "दीया जगत अनूप है, दिया करौ सब कोय। घर को धर्यौ न पाइयै, जो कर दिया न होय ॥" सभासमाज में चन्दन माला बीड़े मेवादिक और वस्त्र दिये जाते थे। फिर गुणीजन श्रीकृष्ण-कीर्तन यशगान की वर्षा करते थे; उस समय श्रीकान्हरजी प्रभु के भूषण उतार गुणीजनों को देकर मन में अति आनन्दित होते थे। श्रीविट्ठलजी के परम विमल पुत्र श्रीकान्हरजी संतों के चरणों की रज शीश पर धारण करने के लिये प्रमुदित चारों ओर फिरते थे ॥

(१८६) श्रीनीवाजी।

(७२८) छप्पय। (११५)

भक्तनि सों कलिजुग भलैं, निबाही "नीवा," खेतसी ॥ आवहिं दास अनेक उठि सु आदर करिलीजै। चरण धोय दंडौत सदन में डेरा दीजै ॥ ठौर ठौर हरिकथा हृदै अति हरिजन भावैं। मधुर बचन मुह* लाय बिबिधि भाँतिन्ह जु लड़ावैं ॥ सावधान सेवा करैं, निर्दूषन रति चेतसी ॥ भक्तनि सों कलिजुग भलैं, निबाही "नीवा," खेतसी ॥१५३॥ (६१)

वार्त्तिक तिलक।

कलियुग में श्रीनीवाजी ने भगवद्भक्तों से प्रीति रीति खेतसरीखी† भलेप्रकार निर्वाह किया, अर्थात् जैसे किसान किसी विघ्न से भी खेत की प्रीति नहीं छोड़ता ऐसे ही आपके गृह में अनेक भगवद्दास आते थे उन सबको उठकर अतिआदरपूर्वक आगे से ले दण्डवत् प्रणामकर चरण धोके गृह में आसन कराते थे। आपको हरिभक्त बहुत ही प्यारे

---

* "महु" पाठभेद।

† दो० "हरिया हरिसों प्रीति करु, ज्यों किसान की रीति।
दाम चौगुनो, ऋण घनो, तऊ खेत सों प्रीति ॥ १ ॥
राम लगावहु आपमें, ज्यों किसान मन खेत।
रामचरण सीतोष्ण सहि, निसिदिन तहाँ सचेत ॥ २ ॥"

लगते, सब ठिकाने में हरिकथा बैठाकर मधुर वचन कह प्रसन्न करते, बहुत प्रकार से लाड़ लड़ाते थे। नीवाजी के चित्त में निर्दूषण प्रीति थी इससे अति सावधानता से संतों की सेवा करते थे॥

(१८७) श्रीतूँवर भगवान् (भगवान् तूँवरसेठ)

(७२९) छप्पय। (११४)

बसन बढ़े कुन्तीबधू, त्यों "तूँवर भगवान" कै॥ यह अचिरज भयौ एक, खांड घृत मैदा बरषै। रजत रुक्म की रेल सृष्ट सबही मन हरषै॥ भोजन रास बिलास कृष्ण कीरतन कीनौ। भक्तनिकौ बहुमान दान सबही कौ दीनौ॥ कीरति कीनी भीमसुत, सुनि भूपमनोरथ आनकै। बसन बढ़े कुन्तीबधू, त्यों "तूँवर भगवान" कै॥ १५४॥ (६०)

वार्त्तिक तिलक।

जैसे श्रीद्रौपदीजी के वस्त्र बढ़े थे, ऐसे ही "तूँवर" जाति के सेठ भक्त "श्रीभगवानदासजी" के अन्न द्रव्यादि सब उत्सव के पदार्थ प्रभुकृपा से बढ़े। यह एक आश्चर्य हुआ कि जो मित का पदार्थ रक्खा था सो खाँड़ घृत मैदा आदिक देते समय में इतना बढ़गया कि वर्षासी हुई। और सुवर्णरूप की मुद्रा भी रेलारेल दी गई। सम्पूर्ण सृष्टि के लोग देखके मन में हर्षित हुए। भोजन कराते समय भी सब पदार्थ बढ़े, फिर रासविलास श्रीकृष्णकीर्तन कराया और भगवद्भक्तों को बहुमान्य से सब पदार्थ अर्पण कर सबको दान दिया। भीमजी के पुत्र (श्रीभगवानदास) ने मथुरा में ऐसी कीर्ति की कि जिसको सुनकर राजा लोग मनोरथ करने लगे कि ऐसी करनी हम भी करैं परन्तु बनेगी नहीं॥

दो० "करत महोच्छव प्रेमभर, बहुबिधि करत समाज।
षटरस असनजिंवाय जन, देत बसन सिरताज॥ १॥"

(७३०) टीका । कवित्त । (११३)

बीतत बरस मास आवैं "मधुपुरी," नेम प्रेमसों महोछौ रास हेम हीं लुटाइयै । संतनि जिवाँय, नाना पट पहिराय, पाछे द्विजन बुलाय, कछु पूजें, पै, न भाइयै ॥ आयौ कोऊ काल, धन माल जा बिहाल* भए, चाहैं पन पाखौ आए "अलप कराइयै" । रहे विप्र दूषि सुनि भयौ सुख भूख बढ़ी, आयौ यों समाज करौं ख्वारी† मन आइयै ॥ ५७६ ॥ (५३)

वार्त्तिक तिलक ।

सेठ श्रीभगवानदासजी का नियम था कि बारह महीना बीते गृह से बहुतसा द्रव्य ले, मथुराजी में आकर प्रेम से महोत्सव, रासलीला करते सुवर्ण लुटाते थे; फिर संतों को भोजन कराके अनेक प्रकार के वस्त्र पहिराते थे । पीछे, ब्राह्मणों को बुलाकर कुछ पूजन करते ॥

परन्तु ब्राह्मण प्रसन्न नहीं होते थे । कोई ऐसा काल आपड़ा कि धन सम्पत्ति घटने से और ही दशा होगई, तथापि अपना नियम नहीं छोड़ा । थोड़ा द्रव्य ले, आकर विनय किया कि "थोड़ासा नियम करा दीजिये ।" ब्राह्मण लोग प्रथम से दुखित तो थे ही, सुनके मन में सुखी हो उन्होंने विचार किया कि "भला हुआ, आओ, अब इसका उत्सव समाज सब बिगाड़ देंगे ॥"

(७३१) टीका । कवित्त । (११२)

अति सनमान कियौ, ल्याए जोई सौंपि दियौ, लियौ गाँठ बाँधि, तब बिनती सुनाइयै । "संतनि जिंवावौ, भावै रास लै करावौ, भावै जेंवौ सुख पावौ, कीजै बात मनभाइयै ॥" सीधौ ल्याय कोठे धखो, रोक हो, सो थैली भखो, द्विजन बुलाय देत कि हूँ निघटाइयै । जितनौ निकासैं ताते सौगुनौ बढ़त और, एक एक ठौर बीस गुनौ दै पठाइयै ॥ ५७७ ॥ (५२)

वार्त्तिक तिलक ।

आप जहाँ टिके थे उन पंडाओं को बड़े सम्मान से, जो कुछ धन लाये सो सौंप दिया; उन्होंने जब गाँठि में बाँध लिया, तब आपने

* "बिहाल"=بےحال=कुदशा को प्राप्त । † "ख्वारी"=خواری=अनादर, मानहानि ।

उनको विनय सुनाया कि "इतना ही धन है, इसी में चाहे संतों को भोजन कराइये, चाहे रासलीला कराइये, चाहे आप सब ब्राह्मणलोग भोजन कीजिये। जो आपके मन में रुचै और सुखहोय सोई कीजिये॥"

वे उस द्रव्य से सीधा मँगाकर कोठार में रख, और रोकड़ रुपये थैली में भर, प्रथम ब्राह्मणों ही को बुलाके सीधा और दक्षिणा देने लगे। मन में यह ठीक किया कि "शीघ्र ही सब चुक जाय तो इसका दुर्यश होय।" परन्तु प्रभुकृपा से जिस वस्तु में से जितना निकालते थे उसका सौगुना वह वस्तु बढ़ती जाती थी, एक एक ठिकाने में बीस बीस गुना दिये, भेजे, तौ भी सब पदार्थ बनाही रहा। उसी में वैष्णवों का भी भोजन, और रासलीला भी हुई; तथापि पदार्थ बना ही रहा। भक्त-मनोरथपूरक कृपालु की जय॥

छप्पय।

"सुनि सठ द्विज मन हर्ष, लगे बाँटन धन रासा।
इक छटाँक जहँ देन देहिं तेहिं हरषि पचासा॥
यहि विधि धन पट असन कुटिल अति भूरि लुटायो।
नेकु न घटइ सौंज, सबन मन बिस्मय पायो॥
पुनि परेउ चरण "अवगुण छमहु," प्रभुता बढ़ी अपार जब।
लज्जा राखी हरि भगत की, भए शिष्य बहु आय तब॥

विदित हो कि इस (भगवान्) नाम के भी भक्त कई हुए हैं॥

(१८८) श्रीजसवन्तजी।

(७३२) छप्पय। (१११)

जसवंत भक्ति जयमाल की, रूड़ा राखी राठवड़॥ भक्तनि सों अति भाव निरंतर, अंतर नाहीं। कर जोरे इक पाय, मुदित मन आज्ञा माहीं॥ श्रीवृन्दावनवास, कुंज क्रीड़ा रुचि भावै। राधावल्लभ लाल नित्तप्रति ताहि लड़ावै॥ परम धरम नवधा प्रधान, सदन साँच

निधि प्रेम जड़। "जसवंत" भक्ति "जयमाल" की, रूड़ा राखी राठवड़ ॥ १५५ ॥ (५६)

वार्त्तिक तिलक।

राठवड़ अर्थात् "राठूर जाति" के क्षत्री "श्रीजसवन्तसिंहजी," ने अपने बड़े भाई "श्रीजयमालसिंहजी" की भक्ति को रूड़ा रक्खी अर्थात् उनके पीछे उस भक्ति को ग्रहण कर सुन्दर रक्षा की, वह हीन न होने पाई। भगवद्भक्तों से छल छोड़ निरंतर प्रेमभाव करते; आनन्द से हाथ जोड़े, आज्ञा में एक चरण से खड़े रहते थे; और श्रीवृन्दावनवास कुंजक्रीड़ा दर्शन में अति प्रीति थी; श्रीराधा-वल्लभलाल को नित्यप्रति लाड़ लड़ाते थे, प्रेम किया करते; और सब धर्मों का सार नवधा भक्ति, तथा प्रधान प्रेमाभक्तिरूपी बड़ी भारी निधि हृदयरूपी गृह में सदा संचित करते, परम प्रेम में मग्न हो जड़ सरीखे हो जाते थे। आप श्रीहरिदासजी के शिष्य थे॥

---

(१८६) श्रीहरिदासजी।

(७३१) छप्पय। (११०)

"हरीदास" भक्तनि हित, धनि जननी एकै जन्यौ ॥ अमित महागुन गोप्य सार वित सोई जानै। देखत कौ तुलाधार दूर आसै उनमानै ॥ देय दमामौ * पैज बिदित बृन्दाबन पायौ। राधाबल्लभ भजन प्रगट पर-ताप दिखायौ ॥ परम धरम साधन सुदृढ़, कलियुग कामधेनु में गन्यौ। हरीदास" † भक्तनि हित, धनि जननी एकै जन्यौ ॥ १५६ ॥ (५८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिदासजी की माता धन्य हैं कि जिन्होंने भगवद्भक्तों का हित

---

* "दमामौ"=नगारा, डंका।

† "श्रीहरिदासजी" नाम के कई महात्मा श्रीभक्तमालजी में वर्णित हैं।

कार करने के लिये एक अद्वितीय पुत्र उत्पन्न किया। प्रभु के अमित महागुन गुप्त और भगवत्चरित्रों का सारांश जाननेवाले हुए। जाति के तुलाधार (बनिये) तो थे ही, इससे शास्त्रों की और सज्जनों की गम्भीर आशय देख के अनुमान से तोल लेते थे। वृन्दावन प्राप्ति होने का अपना पैज (प्रण), दमामा डंका बजाकर ले लिया, इससे श्रीराधावल्लभजी के भजन का प्रत्यक्ष प्रताप दिखा दिया। भगवद्भक्ति साधन में अति सुदृढ़ कलियुग में कामधेनु के समान गिने गये ॥

दो० "हरीदास कुल बनिक में, प्रेमभक्ति की खान ।
पुर काशी ढिग रहतही, बृन्दाबन तज प्रान ॥"

(७३४) टीका। कवित्त। (१०६)

हरीदास बनिक, सो कासी ढिग बास जाकौ, ताकौ यह पन तन त्यागौं ब्रजभूमहीं। नयौज्वर नाड़ी छीन, छोड़ि गए बैद तीन, बोल्यौ यों प्रबीन "बृन्दाबन रस भूमहीं ॥" बेटी चारि संतनिकौ दई "अंगीकार करौ, धरौ डोली माँझ मोको ध्यान दृग घूमहीं"। चले सावधान राधाबल्लभकौ गान करै, करै अचिरज लोग परी गाँव धूम हीं ॥ ५७६ ॥ (५१)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीहरिदासजी बनिये काशीजी के समीप में बसते बड़े संतसेवी भक्त थे। आपका पन था कि "मैं वृन्दावन ही में शरीर छोडूँ।" कालज्वर होने से नाड़ी छूट गई; दो तीन बैद भी छोड़के चले गये ॥

इन परम प्रवीण ने कहा कि "मेरा मन वृन्दावन के प्रेमरस से भूम रहा है।" चार बेटियाँ थीं, सज्जनों को देकर, प्रार्थना की कि "इनको अंगीकार कीजिये, और मुझे डोली में धर वृन्दावन को ले चलिये, मेरे नेत्र वहीं ध्यान से घूमते हैं ॥"

दो० "बनप्रमोदके फिरत हैं मम आँखिन जे कुंज ।
हरिप्रसाद मैं फिरब कब ? तेइ कुंजन सुखपुंज ॥ १ ॥"

नाड़ी छूट गई तो भी सावधानता से श्रीराधावल्लभजी (रूपकला)

का नाम गान करते चले; ग्राम में धूम पड़ गई; लोग आश्चर्य करने लगे कि "यह वृन्दावन कैसे पहुँच सक्ता है ?"

(७३५) टीका। कवित्त। (१०८)

आवतही मग माँझ छूटिगयौ तन, पन साँचौ कियौ स्याम, बन प्रगट दिखायौ है। आय दरसन कियौ, इष्ट गुरु प्रेम भरि नेम पखौ पूरौ, जाय चीरघाट न्हायौ है॥ पाछें आए लोग, सोग करत भरत नैन बैन सब कही, कही "ताही दिन आयौ है"। भक्तिकौ प्रभाव यामें भाव और आनौ जिनि, बिन हरिकृपा यह कैसें जात पायौ है॥ ५८०॥ (५०)

वार्त्तिक तिलक।

आप आते थे, बीचही में शरीर छूट गया॥

प्रभु ने पन सच्चा कर सबको प्रतीति कराने के लिये वैसा ही दिव्य दूसरा शरीर दिया उसीसे वृन्दावन में आकर श्रीराधावल्लभजी के और अपने गुरु गोसाईं सुन्दरदासजी के, सप्रेम दर्शन करके, चीरघाट स्नान-कर, नेम पूरा किया। पीछे ले आनेवाले लोग नेत्रों में शोकजल भरे वृन्दावन में आकर कहने लगे कि "अमुक दिन मार्ग में हरिदासजी का शरीर छूट गया, यहाँ नहीं पहुँचे॥"

सुनके सुन्दरदासादि कहने लगे कि "उसी दिन तो आकर श्रीराधा-वल्लभजी का हरिदास ने दर्शन किया है॥"

दो० "चीरघाट न्हावत दिख्यौ, बृन्दाबन नर नारि।
कहौ सुयश सो ताहिकर, करहु हर्ष दुख टारि॥"

यह सुन सब लोगों को बड़ा ही हर्ष हुआ। भक्ति का प्रभाव ऐसा ही है। प्रभु अपने भक्तों का प्रण अवश्य पूर्ण करते हैं। इसमें कोई और भाव कुतर्क का न लावें कि "वह प्रेत होकर आये होंगे।" वह प्रभु का दिया दिव्य ही शरीर था; विना हरि की कृपा ऐसा नहीं होता॥

(१९०।१९१) श्रीगोपालभक्त। श्रीविष्णुदास।

(७३६) छप्पय। (१०७)

भक्ति भार जूड़ैं जुगल, धर्म धुरंधर जग बिदित॥
"बांबोली" "गोपाल" गुननि गंभीर गुनारट। दच्छिन

दिसि बिष्णुदास गाँव "काशीर" भजनभट॥ भक्तनिसों यह भाय भजे गुरुगोबिंद जैसे। तिलक दाम आधीन सुवर संतनि प्रति तैसे॥ अच्युत कुल पन एकरस, निबह्यौ ज्यौं श्रीमुख गदित। भक्ति भार जूड़ें जुगल, धर्म धुरंधर जग बिदित॥ १५७॥ (५७)

वार्त्तिक तिलक।

ये युगल भक्त एक गुरु के शिष्य कर्म वचन मन से मिलके भक्तिरूपी भार को उठानेवाले भागवतधर्म-धुरंधर जगत् में विख्यात हुये॥

(१) काशीजी के समीप "बाबुलिआ" ग्राम में बसनेवाले "श्रीगोपालभक्तजी" दिव्य गुणों से भरे हुये बड़े गम्भीर भगवद्गुणों को रटा करते थे॥

(२) दूसरे दक्षिणदिशि "काशीर" ग्राम के निवासी "श्रीविष्णु-दासजी" भगवद्भजन में बड़े सुभट हुये॥

दोनों महानुभावों का हरिभक्तों में यह भाव था कि जैसा श्रीनाभाजी स्वामी ने कहा है "भक्त भक्ति भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक" ऐसाही गुरु गोविन्द के समान जानके संतसेवा करते थे; और जैसा श्रेष्ठ संतों को मानते थे वैसा ही कंठी तिलकमात्र धारण करनेवालों के भी आधीन रहते थे। अच्युत कुल का प्रेमपण दोनों भक्तों का, जैसा भगवान् ने श्रीमुख से कहा है कि "मेरे भक्त को मुझसे अधिक मानै," इसी प्रकार एक रस निबह गया॥

(७३७) टीका। कवित्त। (१०६)

रहे गुरुभाई दोऊ, भाई साधुसेवा हिये, ऐसे सुखदाई, नई रीति ल चलाइयै। जायँ जा महोछौ मैं बुलाए हुलसाए अंग संग गाड़ी सामा सो भडारी दै मिलाइयै॥ याकौ तातपर्य्य सत घटती न सही जात, बात वे न जानै, सुखमानै मनभाइय। बड़े गुरु सिद्ध जग महिमा प्रसिद्ध, बोले बिनै कर जोरि सोई कहिकै सुनाइयै॥ ५८१॥ (४९)

वार्त्तिक तिलक।

दोनों गुरुबन्धुओं के हृदय में संतसेवा की बड़ी प्रीति थी; सज्जन ऐसे सुखदाता थे कि दोनों ने मिलके एक नवीन उत्तम रीति चलाई। जहाँ संतसेवा महोत्सव में बुलाये जाते, वहाँ अति आनन्दपूर्वक घर से घृत आटा आदिक सामग्री गाड़ी में भर ले जाके चुपचाप भंडारी कोठारी को दे, उनकी सामग्री में मिलवा देते थे। इसका तात्पर्य यह कि जिसमें कहीं सामग्री घटने से सज्जनों की निन्दा न हो। इस बात को उत्सव-करनेवाले नहीं जानते थे। जब सामग्री पूर्ण हो जाय तब सुख मानते थे॥

दोनों गुरुभाइयों के श्रीगुरु स्वामी जगत् में प्रसिद्ध महिमायुक्त सिद्ध थे; उनसे दोनों हाथ जोड़ आप दोनों ने विनय सुनाये, कि—

(७३८) टीका। कवित्त। (१०५)

चाहत महोछौ कियौ हुलसत हियौ नित, लियौ सुनि बोले "करौ बेगि दै तियारियै *।" चहूँदिशि डार्यौ नीर, कर्यौ न्यौतौ ऐसे धीर, आवैं बहु भीर संत, ठौरनि सँवारियै॥ आए हरिप्यारे चारौ खूँटतें निहारे नैन, जाय पगुधारे सीस बिनै लै, उचारियै। भोजन कराय दिन पाँच लगि छाय रहे पट पहिराय सुख दियौ अति भारियै॥ ५८२॥(४८)

वार्त्तिक तिलक।

"हे नाथ! संत महोत्सव करने के लिये हृदय में नित्य हुलास होता है।" सुनकर स्वामीजी ने कहा कि "अच्छा है, शीघ्र जुटाव बनाव करो। संतों का नेवता हम यहाँ ही से किये देते हैं॥"

ऐसा कह जल लेकर चारों दिशाओं में डाल दिया। ऐसे धीर समर्थ थे कि सब संतों के यहाँ नेवता पहुँच गया। आपने आज्ञा दी कि "संतों की बड़ी भीड़ आवेगी रहने के लिये छाया ठौर बनाओ।" ऐसा ही किया। चारों खूँट से हरिप्यारे संत आ बिराजे; दोनों भाइयों ने नेत्रों से दर्शन प्रणाम कर, श्रीगुरुचरणों में सीस नवाके विनय सुनाया कि "महाराज! संत तो बहुत आये, सामग्री इतनी कहाँ है?" श्रीगुरु ने आज्ञा की कि "जितना मनमाने उतना

* "तियारियै"=تیاری=तैयारी=बनाव, जुटाव॥

दो, घटेगा नहीं, देनेहारे प्रभु समर्थ हैं।" आज्ञा सुन, सुखी हो, भोजन कराके, पाँच दिन तक सत्कार किये, फिर संतों को वस्त्रादिक पहिनाके बड़ा भारी सुख दिया॥

(७३९) टीका। कवित्त। (१०४)

आज्ञा गुरु दई "भोर आवौ फिरि आसपास, महासुखरासि 'नामदेव जू' निहारियै।" उज्ज्वल बसन तन एक ले प्रसन्न मन, चले जात बेगि सीस पाँयनिपै धारियै॥ वेई दें बताय 'श्रीकबीर' अति धीर साधु, चेले दोऊ भाई परदच्छिना बिचारियै। प्रथम निरखि "नाम" हरखि लपटि पग लगि रहे छोड़त न बोले सुनौ धारियै॥ ५८३॥ (४७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगुरुदेवजी ने दोनों शिष्यों को आज्ञा दी कि "बड़े प्रभात इस संतशालाकी प्रदच्छिणा करना; उज्ज्वल वस्त्र धारण किये अकेले प्रसन्न मन चले जाते हुए महासुखराशि श्रीनामदेवजी का दर्शन तुमको होगा, शीघ्रही चरणों में सीस रख प्रणाम करना, फिर श्रीनामदेवजी ही परम धीर साधु श्रीकबीरजी का दर्शन करादेंगे॥"

आज्ञा सुन दोनों भाई परिक्रमा को चले। पहिले श्रीनामदेवजी का दर्शन पा हर्षित हो चरणों में लिपटगये, छोड़ते न थे; तब श्रीनामदेवजी ने कहा कि "अब चरण छोड़के हमारा वचन सुनो॥"

(७४०) टीका। कवित्त। (१०३)

"साधु अपराध जहाँ होत तहाँ आवत न, होय सनमान सब संत तौहीं आइयै। देखि प्रीति रीति हम निपट प्रसन्न भए," लये उर लाय "जावौ श्रीकबीर पाइयै॥" आगें जो निहारैं भक्तराज दृग धारैं चलीं बोले हँसि आप "कोऊ मिल्यौ सुखदाइयै?।" कह्यौ "हाँ जू," मान दई भई कृपा पूरन यों, सेवाकौ प्रताप कहौ कहाँ लगि गाइयै॥ ५८४॥ (४६)

वार्त्तिक तिलक।

"सुनो, जहाँ साधुओं का अपराध होता है वहाँ हम नहीं आते, और जहाँ सब संतों का सन्मान होता है तहाँ ही हम आते हैं;

तुम्हारी प्रीति रीति देख हम प्रसन्न हुए," ऐसा कह दोनों को हृदय में लगा आज्ञा दी कि "जाओ आगे श्रीकबीरजी को पाओगे॥"

दोनों भक्त चलके देखें तो भक्तराज श्रीकबीरजी चले जाते हैं, चरणों में पड़ गये, नेत्रों से जल की धारा चलने लगी। श्रीकबीरजी ने हँसके पूछा कि "कोई और सुखदाई संत अर्थात् नामदेवजी तुमको मिले हैं?" भक्तों ने उत्तर दिया कि "हाँ महाराज मिले॥" उसी प्रकार श्रीकबीरजी ने भी दोनों को कृपा से मान दिया॥

इस प्रकार श्रीगुरु और संतों की पूर्ण कृपा पा, भगवत्प्राप्ति के अधिकारी हुये॥

कहिये, "संतसेवा का प्रताप कैसे कोई कह सक्ता है?"

दो० "जिन जिन भक्तनि प्रीति की, ताके बस भए आनि।
सन होइ नृप टहलकिय, नामा (नामदेव) छाई छानि॥१॥"
"जगत बिदित पीपा, धना, अरु रैदास, कबीर।
महाधीर, दृढ़ एकरस, भरेभक्ति गम्भीर॥ २॥"

(७४१) छप्पय। (१०२)

कील्ह कृपा कीरति बिशद, परम पारषद सिष प्रगट॥ आसकरन[१] रिषिराज, रूप[२] भगवान[३], भक्तगुर। चतुरदास[४] जग अभै छाप, छीतर[५] जु चतुर बर॥ लाखै[६] अद्भुत, रायमल[७] खेम मनसा क्रम वाचा। रसिक रायमल[८], गौर[९] देवा[१०] दामोदर[११] हरिरँग राचा॥ सबै सुमंगल दास दृढ़, धर्म धुरंधर भजन भट। कील्ह कृपा कीरति बिशद परम पारषद सिष प्रगट॥ १५८॥ (५६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगुरु कील्हदेवजी की कृपा से सब शिष्य श्रीसीतारामजी के परम पारषद उज्ज्वल कीर्तिवाले प्रगट हुये॥

(१) श्रीआसकरनजी राजर्षि॥
(२।३) श्रीरूपदासजी, श्रीभगवानदासजी परम गुरु भक्त॥

(४) श्रीचतुरदासजी ने जगत् में अभै छाप पाया ॥
(५।६) श्रीछीतरजी अतिशय चतुर; श्रीलाखैंजी बड़े अद्भुत ॥
(७) श्रीरायमलजी मन वचन कर्म से चेम (मंगल) युक्त ॥
(८।६।१०।११) श्रीरसिकरायमलजी, श्रीगौरदासजी, श्रीदेवा-
दासजी, श्रीदामोदरजी, श्रीहरि के प्रेमरंग में रँग गये ॥

ये सब परम मंगलरूप श्रीरामदासत्व में दृढ़, धर्मधुरंधर, श्रीसीताराम-भजन के सुभट हुये ॥

---

(१६२) श्रीनाथभट्टजी।

(७४२) छप्पय। (१०१)

रसरास*उपासक भक्तराज, "नाथभट्ट" निर्मल बयन॥ आगम निगम पुरान सार शास्त्रनिजु बिचाख्यौ। ज्यों पारौ दै पुटहिं सबनि कौ सार उधाख्यौ॥ श्रीरूप सनातन जीव भट्ट नारायन भाख्यौ। सो सर्वस उर सांचि जतन करि नीके राख्यौ॥ फनी वंश गोपाल सुव, रागा अनुगा कौ अयन। रसरास उपासक भक्तराज, "नाथभट्ट" निर्मल बयन॥ १५६॥ (५५)

वार्त्तिक तिलक।

"रसरास" (शृंगार†रस) के उपासक भक्तराज श्रीनाथभट्टजी निर्मल वचन बोलनेवाले थे। आगम और निगम पुराण सत शास्त्रों को विचारके सबों का सारांश निकालके जैसे पारा में औषधियों का पुट देकर सिद्ध रसायन बना लेते हैं ऐसे ही आपने रसायन कर लिया। जो श्रीरूपसनातनजी ने तथा श्रीनारायणभट्टजी ने प्रेम-भक्ति प्रतिपादन कथन किया था, सो सर्वस्व भले प्रकार यत्न से अपने हृदय में संचित कर रक्खा। फणीवंश में उत्पन्न ऊँचेगाँव-

---

* रसरास=शृंगाररस, रसों की राशि. सर्व रसोंवाला रस।

† शृंगाररसवाली समय समय पर सब रसों का बर्ताव अर्थात् सर्वभाव से सेवाप्रेम करती है। इसी से इस रस के कई नाम हैं पृष्ठ १४ देखिये॥ "रसपुंज" आदि॥

वाले के पुत्र गोपालदासजी के पुत्र नाथभट्टजी रागाऽनुगा भक्ति के स्थान ही हुये॥

☞ शृङ्गाररस को "रसराशि" इसलिये कहा करते हैं कि इसमें पाँचो रसों की राशि होती है अर्थात् इस रस के उपासक में सब रसों की बातें इकट्ठी ही पाई जाती हैं॥

---

(१९३) श्रीकरमैतीजी।

(७४३) छप्पय। (१००)

कठिन काल कलिजुग्ग में, "करमैती" निःकलंक रही॥ नस्वर पति रति त्यागि, कृष्णपद सों रति जोरी। सबै जगत की फांसि तरकि, तिनुका ज्यों तोरी। निर्मल कुल कांथड्याधन्नि परसा जिहिं जाई। बिदित बृन्दाबन बास संत मुख करत बड़ाई॥ संसारस्वाद-सुख बांत करि, फेर नहीं तिन तन चही। कठिन काल कलिजुग्ग में, "करमैती" निःकलंक रही॥१९०॥ (५४)

दो० सबै कहत "हम राम के", सबहिं आस, पिय! तोरि।
मैं बिनवौं पिय! तुम कहो, "रूपकला है मोरि॥"

वार्त्तिक तिलक।

कलियुग ऐसे कठिन काल में जन्म लेकर श्रीकरमैतीजी कलियुग के अघों से बचीं और निष्कलंक ही रहीं। संसारी मिथ्या पति की रति को त्यागकर, श्रीकृष्णचरणों में दृढ़ रति की। "बसी श्याम मूरति हियें बाढ़यो प्रेम अपार।" जगत् के सब संबंधियों की प्रीतिरूपी फाँसी तर्ककर, तृणसमान तोड़ डाली। निर्मल "कांथड्या" कुल धन्य है और पिता "परशुरामजी" धन्य हैं कि जिनके ऐसी हरिभक्ता पुत्री उत्पन्न हुई। विख्यात वृन्दावनवास किया, जिसकी बड़ाई सब संत अपने मुख से करते थे, संसारस्वाद विषयसुख को वमन करके, फिर उन सुखों की ओर देखा भी नहीं॥

(७४४) टीका। कवित्त। (९९)

शेषावति नृपके पुरोहित की बेटी जानौ, बास है खँड़ेला करमैती जो बखानियै। बस्यो उर श्याम अभिराम कोटि काम हूँ ते, भूले धाम काम सेवा मानसी पिछानियै॥ बीत जात जाम तन बाम अनुकूल भयौ, फूलि फूलि अंग गति मति छबि सानियै। आयौ पति गौनौ लैन, भायौ पितु मातु हिये, लिये चित चाव पट आभरन आनियै॥ ५८५॥ (४५)

वार्त्तिक तिलक।

शेषावति नगर के राजा के पुरोहित खँड़ेला के रहनेवाले श्रीपरशुरामजी की कन्या श्रीकरमैतीजी को जानिये॥

कोटानि काम से अधिक अभिराम श्यामसुन्दर ने आपके हृदय में निवास किया; इससे गृह के कामों को भूल, केवल मानसी पूजा करने लगीं। सेवा करते करते पहर के पहर बीत जाते थे; यद्यपि देह तो कुटिल स्त्री जाति का था, तथापि प्रभुकृपा से अति अनुकूल हो गया। अंग अंग से प्रफुल्लित हो आपने अपनी मति की गति को श्रीकृष्णछवि में मिला दिया॥

जिस समय पति गवना लेने आया उस समय माता पिता को बहुत प्रसन्नता हुई; बड़े आनन्द से वस्त्र भूषण आदि सब साज प्रस्तुत किये॥

(७४५) टीका। कवित्त। (९८)

पर्यो सोच भारी कहा कीजियै बिचारी, "हाड़ चाम सों सँवारी देह रति के न काम की। तातें देवौ त्यागि मन! सोवै जनि, जाग अरे, मिटै उर दाग * एक साँची प्रीति स्याम की॥ लाज कौन काज? जौपै चाहै ब्रजराजसुत, बड़ोई अकाज, जौपै करै सुधि धाम की। जानी भोर गौनौ होत, सानी अनुराग रंग, संग एक वही, चली भीजी मति बाम की॥ ५८६॥ (४४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकरमैतीजी को बड़ा भारी सोच पड़ा। विचार करने लगीं कि "अब क्या करूँ? इस पुरुष की देह हाड़ मांस चाम से बनाई, प्रीति

* "दाग"=داغ=चिह्न, कलंकित चिह्न॥

करने के योग्य नहीं; इससे इसे त्याग देना चाहिये। हे मन! तू सोवै मत, मोहनींद से जागके सच्ची प्रीति एक श्रीश्याम की कर, जिससे हृदय की मलीनता मिट जाय; जो श्रीव्रजराजनन्दसुत को चाहै तो लाज मत कर; जो घर की सुधि करेगा तो बड़ा ही अकाज होगा॥"

मन को ऐसे समझाकर जिस दिन के प्रभात में गौना होना था, उसी रात्रि में अनुराग रंग से पगी, मति को प्रेम में भिगाकर, अकेले एक प्रभु ही का ध्यान साथ ले, आप चल दीं॥

(७४६) टीका। कवित्त। (४७)

आधी निसि निकसी यों बसी हिये मूरति सो, पूरति सनेह तन सुधि बिसराई है। भोर भये सोर पर्यौ, पर्यौ पितु मातु सोच, कर्यौ लै जतन ठौर ठौर ढूँढ़ि आई है॥ चारों ओर दौरे नर, आये ढिग ढुरि जानि, ऊँट के करंक मध्य देह जा दुराई है। जग दुरगंध कोऊ ऐसी बुरी लागी, जामें वह दुरगंधसो सुगंध सी सुहाई है॥५८७॥(४३)

वार्त्तिक तिलक।

आधी रात को निकलकर चल दीं। वही साँवली मूरति हृदय में बसी, स्नेह को पूर्ण करती और उसी ने शरीर की सुधि भुला दी। प्रभात होने पर बड़ा कुलाहल पड़ा; माता पिता अत्यन्त सोचकर यत्न से ठौर २ ढूँढ़ आये, और बहुतसे लोगों को चारों ओर ढूँढ़ने को दौड़ाए॥

श्रीकरमतीजी ने जाना कि ढूँढ़नेवाले लोग समीप आ गये, तब, एक मरे ऊँट के करंक को सिआरों ने खोल डाला था उसी में घुस कर छिप गईं। देखिये, आपको जगत् के पापों की दुर्गंधि इतनी दुःसह लगी कि आपने उसके सामने उस करंक की दुर्गंधि को सुगंध के सम मान लिया॥

(७४७) टीका। कवित्त। (४६)

बीते दिन तीन वा करंक ही मैं संक नहीं, बंक प्रीति रीति यह कैसें करि गाइयै। आयौ कोऊ संग, ताही संग गंग तीर आई, तहाँ सो अन्हाई दै भूषन बन आइयै॥ ढूँढ़त परसराम पिता मधुपुरी आये, पते लै बताये जाय मथुरा मिलाइयै। सघन बिपिन ब्रह्मकुंड पर, बर एक, चढ़ि करि, देखी, भूमि अँसुवा भिंजाइयै॥ ५८८॥ (४२)

वार्त्तिक तिलक।

उसी खाकर (करंक) ही में बैठे तीन दिन बीत गये, मन में कुछ भी शंका नहीं। यह बाँकी प्रीति की रीति किस प्रकार गान हो सकती है ?

चौथे दिन कोई श्रीगंगा को जाता था उसी के साथ आकर गंगा में स्नानकर, अपने सब भूषण दान दे, वृन्दावन में चली आई। हरिस्मरण में मग्न रहती थीं॥

पीछे, आपके पिता परशुरामजी ढूँढ़ते २ मथुराजी में आये; और मथुरियों से पता पाकर उनको साथ में ले सघन वन ब्रह्मकुंड के समीप एक वट के वृक्ष पर चढ़, श्रीकरमैतीजी को देख उन्होंने आँसुओं से भूमि को भिगा दिया॥

(७४८) टीका। कवित्त। (६५)

उतरि कै आय रोय पाँय लपटाय गयौ, "कटी मेरी नाक जग मुख न दिखाइयै। चलौ गृह बास करौ, लोक उपहास मिटै, सासु घर जावौ मत सेवा चितलाइयै॥ कोऊ सिंह व्याघ्र अजू वपुकों बिनास करै, त्रास मेरे होत, फिरि मृतक जिवाइयै।" बोली "कही साँच बिन भक्ति तन ऐसो जानौ जौपै जियौ चाहौ, करौ प्रीति, जस गाइयै" ॥५८६॥ (४१)

वार्त्तिक तिलक।

परशुराम वृक्ष से उतरके रोते हुए श्रीकरमैतीजी के पास पहुँच चरणों में लपटकर कहने लगे कि "बेटी ! तुम्हारे चले आने से संसार में मेरी नाट कटगई; मैं लज्जा से किसी को मुख नहीं दिखाता। तुम चलो; अपने घर में निवास करो, लोक की उपहास मिटै, ससुराल मत जाओ, घर ही में चित्त लगाके भजन पूजा करो, यहाँ वन में कोई सिंह व्याघ्र खा जाय, तो मुझे बड़ा दुःख होगा, तुम्हारी माता और मैं मृतकप्राय हूँ, सो फिर चलकर दोनों को जिलाओ॥"

आपने उत्तर दिया कि "सत्य कहते हो, भक्ति के विना शरीर को मृतक ही जानो, जो जिया चाहो, तो श्रीप्रभु के पद में प्रीति कर, श्रीनामयश को गान करो॥"

सवैया।

"राम है मातु, पिता, सुत, बन्धु, औ संगि, सखा, गुरु, स्वामी, सनेही।
रामकी सौं हैं, भरोसो है राम को, रामरँगी रुचि, राचौं न केही॥
जीवत राम, मुए पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति जेही।
सोई जियै जग मैं तुलसी, नतु डोलत और मुए धरि देही॥ १॥"

(७४६) टीका। कवित्त। (६४)

कही तुम कटी नाक, कटै जौ पै होय कहूँ, नाक एक भक्ति, नाक लोक में न पाइयै। बरस पचास लगि विषै ही में बास कियौ, तऊ न उदासभये चबेकों चबाइयै॥ देखे सब भोग मैं न देखे, एक देखे श्याम, तातें तजि काम तन सेवा मैं लगाइयै। राततें ज्यौं प्रात होत, ऐसे तम जातभयौ, दयौ लै सरूप प्रभु, गयौ, हिये आइयै॥ ५६०॥ (४०)

वार्त्तिक तिलक।

और, "जो तुमने कहा कि मेरी नाक कट गई सो विना विचार का वचन है क्योंकि कटै तो तब जो कहीं नाक हो भी तो सही? नाक तो एक भगवद्भक्ति ही है, सो भक्ति के विना इस लोक में और स्वर्गलोक में जितने जीव हैं वे सब नकटे ही हैं। विचार करो कि पचास वर्ष तक तुमने विषयभोग किया, तथापि उससे उदास न हुये, चबाए हुए ही को चबाते हो, अर्थात् जैसे पशु एकबेर घास को चबाके लील जाता है उसी को फिर पागुर करके चबाता है, ऐसे ही संसारी लोग कार्य एक बेर कर फिर उसी को अनुमोदन चिन्तवन करते हैं। देखो, मैंने सब भोगों की ओर देखते भी नहीं देखा, एक श्याम ही की ओर देखा। इससे तुम भी सब काम भोग को तज तन मन को हरिभजन में लगाओ॥

"बहु बिधि बचन कठोर कहि, सबै निरादर करौ किनि। बृन्दाबन को छाँड़िये, यह लाओ मन भूलि जिनि॥" ऐसा श्रीकरमैतीजी का उपदेश सुन, जैसे प्रभात होते रात्रि चली जाती है ऐसे ही परशुरामजी का तम अज्ञान चला गया; श्रीकरमैतीजी ने एक शालग्रामस्वरूप दिया, सो लेकर घर को चले गये, श्रीकरमैतीजी के वचन हृदय में धारण किये रहे॥

(७५०) टीका । कवित्त । (९३)

आयें निसि घर, हरिसेवा पधराय, चाय मन को लगाय, वही टहल सुहाई है । कहूँ जात आवत न भावत मिलाप कहूँ, आप नृप पूछे द्विज कहाँ ? सुधि आई है ॥ बोल्यौ कोऊ जन धाम स्याम संग पागे, सुनि अति अनुरागे, वेगि खबर मँगाई है । कहौ तुम जाय "ईश इहाँई असीस करौं," कही भूप आयौ, हिये चाह उपजाई है ॥ ५९१ ॥ (३९)

वार्त्तिक तिलक ।

परशुरामजी रात्रि में अपने घर आये, और श्रीहरिसेवास्वरूप पधरा के उत्साह से मन को लगाकर पूजा टहल भजन करने लगे, किसी का मिलाप अच्छा नहीं लगता, इससे कहीं भी नहीं जाते आते थे ॥

एक दिन राजा ने स्मृति कर लोगों से पूछा कि "बहुत दिन हुये ब्राह्मण परशुरामजी यहाँ नहीं आये कहाँ हैं ?" किसी ने कहा कि "श्रीवृन्दावन से आ, अब अपने घर ही में प्रेम से पगे भगवद्भजन करते हैं ।" सुनके राजा को अनुराग हुआ; शीघ्र ही मनुष्य को भेजकर कहवाया कि "हम दर्शन किया चाहते हैं ।" श्रीपरशुरामजी ने उत्तर कहला भेजा कि "मैं राजाजी को यहाँ ही से आशीर्वाद देता हूँ, मनुष्य तन पाकर जिस राजा की सेवा करनी चाहिये उसी की कर रहा हूँ ।" उसने आकर कहा । सुनकर राजा को दर्शनों की प्रीति चाह उत्पन्न हुई ॥

दो० "जो मन से आसा गई, योगी गुरु जगदास ।
नृप गुरु निश्चय जानियै, जब मन में नृप आस ॥ १ ॥"

चौपाई ।

"जिनके नयन सन्त नहिं देखा । लोचन मोरपंख के लेखा ॥ २ ॥"

दो० "सन्त दरस को जाइये, तजि आलस अभिमान ।
ज्यों ज्यों पग आगे पड़ै, उतने यज्ञ समान ॥ ३ ॥"

(७५१) टीका । कवित्त । (९२)

देखी नृप प्रीति रीति, पूछी, सब बातैं कही, नैन अश्रुपात, "वह रँगी श्याम रंग मैं ।" बरजत आयौ भूप "जायकेलिवाय

ल्याउँ पाऊँ जोपै भाग मेरे" बड़ी चाह अंग में॥ कालिन्दी के तीर ठाढ़ी नीर दृग, भूप लखी, रूप कछु और, कहा कहै वे उमंग में। कियो मने लाख बेर ऐपै अभिलाष राजा कीनी कुटी, आए देस, भीजें सो प्रसंग में॥ ५६२॥ (३८)

वार्त्तिक तिलक।

आकर परशुरामजी की प्रीति देख, राजा ने भक्ति होने का हेतु पूछा। आप श्रीकरमैतीजी का सब वृत्तान्त सुनाके नेत्रों में आँसू भर कहने लगे कि "वह तो श्यामसुन्दर के रंग में रँग गई।" राजा ने कहा कि "मैं जाता हूँ लिवा लाऊँगा।" आपने कहा कि "महाराज! आप मत जाइये, वह नहीं आवैगी॥"

तथापि राजा ने उत्तर दिया कि "मैं जाता हूँ जो दर्शन पाऊँ और लिवा लाऊँ तो मेरा बड़ा भाग्य उदय हो।" प्रीति चाह की अधिकता से श्रीवृन्दावन में आकर देखें तो श्रीयमुनाजी के तीर में खड़ी नेत्रों में प्रेमजल भरके प्रभु का चिन्तवन कर रही हैं। राजा ने प्रणाम कर रूप अवलोकन किया तो कुछ और ही अकथनीय अनुराग के उमंग की प्रभा चमक रही है। राजा ने चलने की प्रार्थना की; आपने अभियुक्त उत्तर दे दिया। तब यहाँ ही कुटी बनाने को विनय किया। आपने तब भी वारंवार निषेध किया॥

तथापि राजा ने ब्रह्मकुण्ड के पास एक कुटी बनवा ही दी। सो अब तक उपस्थित है। फिर राजा श्रीकरमैतीजी के दर्शन प्रेम से भीज देश में आकर भक्ति में तत्पर हुआ॥

---

(१९४) श्रीखड्गसेनजी कायस्थ।

(७५२) छप्पय। (९१)

गोबिंद चंदगुन ग्रथन को "खर्गसेन" बानी बिसद॥ गोपी ग्वाल पितु मातु नाम निरनै कियो भारी। दान केलि दीपक प्रचुर अति बुद्धि उचारी॥ सखा सखी गोपाल, काल लीला में बितयो। कायथकुल उद्धार

भक्ति दृढ़ अनत न चितयौ॥ "गौतमी तंत्र" उर ध्यान धरि, तन त्याग्यो मंडल सरद। गोबिंदचंद गुन ग्रथन कौ "खर्गसेन" बानी बिसद॥ १६१॥ (५३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगोविन्दचन्द्रजी के गुणों को ग्रथित करने के लिये "खर्गसेन (खड्गसेन)" जी की बानी बड़ी ही उज्ज्वल थी। गोपिका और ग्वालों के माता पिताओं के नाम ग्रंथों से ढूँढ़ २ कर एक ग्रंथ बनाया, और दानकेलि लीला, दीपमालिका चरित्र, बड़ी बुद्धिमानी से रचना किया। श्रीगोपालजी और उनके सखा सखियों की लीला वर्णन ही में अपना सम्पूर्ण काल बिताया। जाति के कायस्थ, अपने कुलका उद्धार करनेवाले, दृढ़ भक्ति को छोड़ आपने किसी ओर देखा भी नहीं॥

"गौतमी तंत्र" की रीति से ध्यान धर, शरद रासमंडल में, देह को तज नित्य रासमंडल में प्राप्त हुये॥

दो० "खरगसेन के प्रेम की, बात कही नहिं जात।
लिखत ललित लीला करत, गए प्रान तजि गात॥"

(७५३) टीका। कवित्त। (१६०)

ग्वालियर बास, सदा रास कौ समाज करैं, सरद उजारी, अति रंग चढ़्यौ भारी है। भावकी बढ़नि दृगरूप की चढ़नि ततथेई की रढ़नि जोरी सुन्दर निहारी है॥ खेलत में जाय मिले त्यागि तन भावना सो झेलत अपार सुख, रीझि देहवारी है। प्रेमकी सचाई ताकी रीति लै दिखाई, भई भावकनि सरसाई, बात लागी प्यारी है॥॥ ५६३॥ (३७)

वार्त्तिक तिलक।

कहते हैं कि ये श्रीहितहरिवंशजी के संप्रदाययुक्त थे॥

आप ग्वालियर में बसते सदा रासका समाज करते थे। एक समय शरद उजारी में रास होता था उसमें प्रेमरंग बहुत बढ़गया नृत्य में परस्पर भाव की बढ़न नेत्रों में रूप की चढ़न युक्त "ताताथेई" आदि गान करनेवाली श्यामा श्यामकी सुन्दर जोड़ी को निरख

भावना से भिलके, अपार सुख को प्राप्त हो, रीझ के देह को नेवछावर कर, तज, नित्यकेलि में जा मिले ॥

दो० "चढ़िकै काम तुरंग पर, चलिबो पावक माहिं।
प्रेमपंथ अतिशय कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं ॥ १ ॥"

यह प्रेम की सचाई की रीति दिखाई दी, जिसको देख सुनके भावुकों के मन में अति सरसता हुई। यह बात मुझे बड़ी ही प्यारी लगी ॥

(१९५) श्रीगंगग्वालजी।

(७५४) छप्पय। (८९)

सखा श्याम मनभावतौ, "गंगग्वाल" गंभीर मति॥ स्यामाजू की सखी नाम आगम बिधि पायौ। ग्वाल गाय ब्रजगाँव पृथक नीके करि गायौ ॥ कृष्ण केलि सुखसिंधु अघट उर अंतर धरई। ता रस में नित मगन असद आलाप न करई॥ ब्रजबास आस, "ब्रजनाथ" गुरु*भक्त, चरण रज अनानि गति। सखा श्याम मन भावतौ, "गंग-ग्वाल" गंभीर मति॥ १६२॥ (५२)

वार्त्तिक तिलक।

"पियप्यारी को जस कह्यौ, रागरङ्ग सों गाइ ॥"

श्रीश्यामसुन्दरजी के मन भावते सखा श्रीगंगग्वालजी बड़ी गंभीर बुद्धिवाले थे। श्रीराधिकाजी की सखियों के नाम आगम ग्रंथों से खोज के, और गायों के नाम, व्रजग्रामों के नाम, पृथक् २ आपने भले प्रकार गान किये। श्रीकृष्णचन्द्रजी की केलिसुखसिंधु एकरस हृदय के अन्तर धारण कर उसी के रस में सदा निमग्न रहते असत वार्ता कभी नहीं करते थे। श्रीव्रज में बसके, व्रजराज ही की आशा रखते थे; और अपने गुरु श्रीव्रजनाथ*जी की चरणरज के अनन्य गति भक्त थे ॥

* सम्भवतः श्रीवल्लभाचार्य्यजी के प्रपौत्र, "श्रीव्रजनाथजी" ॥

दो० "काया कसो, कि बन बसो, हँसो, रहो, गहि मौन।
तुलसी मन जीते बिना, मिटै न, है दुख जौन ॥ १ ॥"
"प्रेम नीर गंभीर अति, कोउ न पावत थाह।
मीन लीन रसरसिक जो, सोई पावत ताह ॥ २ ॥"

(७५५) टीका। कवित्त। (८८)

पृथ्वीपति आयो बृन्दाबन, मन चाह भई सारँग सुनावै कोऊ जोरावरी * ल्याये हैं। वल्लभहूँ संग, सुर भरतही, छायौ रंग, अति ही रिझायौ, दृग अँसुवा बहाये हैं ॥ ठाढ़ौ कर जोरि बिनै करी, पै न धरी हियै, जियै, ब्रजभूमि ही, सो बचन सुनाये हैं। कैद † करि साथ लिये दिल्ली ते छुटाय दिये "हरीदास तूँवर" नै आये प्रान पाये हैं ॥ ५६४ ॥ (३६)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय अवनीश (बादशाह सम्भवतः अकबर) बृन्दावनमें आया, मध्याह्न के समय उसके मनमें चाह हुई कि "यहाँ कोई अच्छा गानेवाला हो तो मुझे सारंग राग सुनावै।" लोग इन्हीं को अति प्रशंसनीय प्रवीण जान, बल से लिवा लाये। एक वल्लभनाम गुणी गायक भी साथमें आया; मिलके दोनों के स्वर भरते ही, अतिशय रंग छा गया सबके नेत्रों से प्रेम के आँसू बहने लगे ॥

अति प्रसन्नता से खड़ा हो हाथ जोड़ भूपाल ने विनय किया कि "मेरे साथ चलिये।" आपने उत्तर दिया कि "मेरा जीवन ब्रजभूमि ही है इस को नहीं छोड़ सक्ता ॥"

निदान, यवनराज बलात्कार पकड़ साथ में दिल्ली ले ही गया। वहाँ से राजा "तूँवर हरीदास" (पाटम नगर के राजा हरीदास तोदरजी राजपूत) ने उससे प्रार्थना कर, आपको छुड़वा दिया। ब्रज में आए, प्रियतम के दर्शन पाए। "मृतक शरीर प्रान जनु भेंटे ॥"

जान पड़ता है कि ये श्रीबल्लभाचार्य्यजी के सम्प्रदाय में थे ॥

---

* "जोरावरी"=زوراوری=ज़बरदस्ती, बलात्, बलसे। † "कैद"=قید=बन्दी ॥

(१६६) श्रीसोतीजी।

(७५६) छप्पय। (८७)

"सोती" श्लाघ्य संतनिसभा, द्वुतिय दिवाकर जानियो॥ परमभक्ति परताप, धर्मध्वज नेजा * धारी। सीतापति को सुजस बदन शोभित अति भारी॥ जानकीजीवन चरण शरण थाती थिर पाई। नरहरि गुरु परसाद पूत पोते चलि आई॥ "राम उपासक" छापदृढ़, औरन कछु उर आनियो। "सोती" श्लाघ्य संतनिसभा, द्वुतिय दिवाकर जानियो॥ १६३॥ (५१)

वार्त्तिक तिलक।

संतों की सभा में परम प्रशंसनीय श्री "सोती" जी को दूसरे सूर्य जानना चाहिये; जैसे भानु का प्रताप होता है ऐसा ही आपका परम भक्तिरूपी प्रताप था। और धर्म की ध्वजा के दण्ड को धारण करनेवालों में उत्तम वीर थे। श्रीसीतापतिजी तथा श्रीसरयू अयोध्याजी का बड़े भारी सुयश कथन से आपका वदन अत्यन्त शोभित था। श्रीजानकीजीवनजी के चरणों की शरणागति रूप महानिधि आपके हृदय में स्थिर रक्खी हुई थी॥

श्रीगुरु "स्वामी नरहरिदास" जी की कृपा प्रसाद से वह महानिधि पुत्र पौत्रों तक एक रस चली आई। "श्रीरामउपासक सोती" आपकी दृढ़ छाप थी। श्रीसीतारामजी के नाम रूप लीलाधाम प्रीति छोड़ मन में और कुछ भी नहीं चिन्तवन करते थे॥

दो० "राम सनेही, राम गति, राम चरण रति जाहि।
तुलसी फल जग जन्म को, दियो विधाता ताहि॥ १॥"

---

(१६७) श्रीलालदासजी।

(७५७) छप्पय। (८६)

जीवत जस, पुनि परमपद, "लालदास" दोनौं

---

* "नेजा"=نیزہ=दण्ड॥

लही॥ हृदै हरिगुण खानि, सदा सतसँग अनुरागी। पद्मपत्र ज्यों रह्यौ, लोभ की लहर न लागी॥ बिष्णुरात सम रीति "बँघेरे" त्यों तन त्याज्यो। भक्त बराती वृन्द मध्य, दूलह ज्यों राज्यो॥ खरी भक्ति "हरिषाँपुरे" गुरुप्रताप गाढ़ी गही। जीवत जस, पुनि परमपद, "लाल-दास" दोनौं लही॥ १६४॥ (५०)

कहते हैं कि मुसलिम हुक्मराँ (दाराशिकोह) को इन महात्मा के कदमों में बड़ा एतकाद था॥

वार्त्तिक तिलक।

जीते में सुयश और शरीर त्यागने पर परमपद श्रीहरिकृपा से श्री-लालदासजी को दोनों दिव्य सम्पत्ति प्राप्त हुये। आपका हृदय श्री-हरिगुणों की खानि था। और सदा सत्संग के अनुरागी थे और जैसे जल में कमल का पत्र रहता है परंतु उसमें जल नहीं स्पर्श होता ऐसेही आप जगत् में थे पर जगत् के दोष लोभादिकों की लहर आपको नहीं लगी। जिस रीति से परीक्षितजी ने श्रीमद्भागवत सुनते समाप्त में तनु त्यागा, उसी प्रकार "बँघेरे" (बँधेरे) ग्राम में आप ने भागवत सुनते कथा पूरी होते ही शरीर त्याग दिया॥

जैसे बरातियों के वृन्द में दूलह सोहता है, ऐसे ही आप भगवद्भक्तों के मध्य में शोभा पाते थे। आपने, गुरुस्थान "हरिषाँपुर" में रहके, श्रीगुरुप्रताप से उत्तम भक्ति अति दृढ़ता से ग्रहण की। इस प्रकार से यश तथा मोक्ष दोनों के आप भागी हुये॥

---

(१६८) श्रीमाधव ग्वाल।

(७५८) छप्पय। (८५)

भक्तनि हित भगवतरची, देही "माधवग्वाल" की॥ निसिदिन यहै विचार दास जिहि बिधि सुख पावैं। तिलक दाम सों प्रीति, हृदै अति हरिजन भावैं॥ पर

मारथ सों काज हिये स्वारथ नहिं जानै। दसधा मत्त मराल सदा लीला गुण गानै॥ आरत हरिगुण सील सम, प्रीति रीति प्रतिपाल की। भक्तनि हित भगवत रची, देही "माधव ग्वाल" की॥ १६५॥ (४६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवद्भक्तों के हित करने ही के लिये "श्रीमाधवग्वालजी" के देह को श्रीब्रह्माजी ने रचा। जिस प्रकार भगवद्दासों को सुख प्राप्त हो, उसी विचार में दिन-रात लगे रहते थे। तिलकदाम (उर्द्ध्व पुण्ड्र और कण्ठीमाला) से बड़ी ही प्रीति थी, और उसके धारण करनेवाले हरिजन आपके हृदय में अति प्यारे लगते थे। केवल परमार्थ से प्रयोजन रखते, स्वार्थ जानते ही नहीं थे। प्रेमाभक्ति से मत्त हंसके समान सदा हरिलीला गुणगानरूपी मुक्ता चुनते थे॥

चौपाई।

"कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना। जाके श्रवन समुद्र समाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिनके हृदय सदन सुभरूरे॥"
दो० "यश तुम्हार मानस बिमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुणगण चुनइ, राम बसहु मन तासु॥"

और हरिगुण सुनने के लिये सदा आर्त रहते थे। बड़े ही शील समतापूर्वक सबसे, और मुख्यतः हरिभक्तों के साथ, निर्मल अन्तःकरण से प्रीति रीति प्रतिपाल करते थे॥

चौपाई।

"रामभक्त प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥"

---

(१६६) श्रीप्रयागदासजी।

(७५६) छप्पय। (८४)

"श्रीअगर सुगुरु" परतापतें, पूरी परी "प्रयाग" की॥ मानस बाचक काय रामचरणनि चित दीनों।

भक्तनि सों अति प्रेम, भावना करि सिर लीनौ॥ रास मध्य निर्जान देह दुति दसा दिखाई। "आड़ौ बलियों" अंक महोछौ पूरी पाई॥ "क्यारे" कलस औली ध्वजा, बिदुष श्लाघा भाग की। "श्रीअगर सुगुरु" परतापतें, पूरी परी "प्रयाग" की॥ १६६॥ (४८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीसीतारामकृपा से स्वामी श्री ६ अग्रदासजी को गुरु पाके, उनके प्रताप से "श्रीप्रयागदासजी" की भगवद्भागवत में भक्ति हुई और सब प्रकार से पूरी पड़ी। मन वचन कर्म से श्रीसीतारामजी में तत्पर हो युगल चरणों में चित्त लगाया। और भगवद्भक्तों से अति प्रेम भावना कर, उनको आते देख माथे से लेते, अर्थात् चरणों में मस्तक रख आगे से लेकर सेवा किया करते थे॥

एक समय "आरा बलिया" ग्राम में संतसेवा की उत्तम ध्वजा गाड़ने का, और "क्यारे ग्राम" में भगवन्मंदिर में कलश चढ़ाने का महोत्सव था; दोनों ठिकाने से आपको नेवता आया। एकही दिन दोनों उत्सव में एक शरीर से कैसे जा सकें और एक उत्सव में जाने से एक का अपमान होता इससे विचारकर दोनों ग्राम के मध्य में बैठकर दोनों उत्सव करनेवालों से विनय किया कि "इसी ठिकाने से दोनों ओर पंगति बैठा दो और दोनों ओर से पूरी परसते चले आओ दोनों ओर से पूरी प्रसाद दो; मैं दोनों उत्सवों का प्रसाद पाऊँगा।" लोगों ने कहा कि "कोसभर का अन्तर दोनों ग्रामों में है, इतनी पंगति के लिये पदार्थ नहीं पूजेगा।" आपने आज्ञा दी कि "श्रीगुरुप्रताप से सब परा पड़ जायगा॥"

लोगों ने ऐसा ही किया। आपने दोनों महोत्सवों की पूरी प्रसाद पाया, और सबोंही के लिये सब पदार्थ पूरा पूरा होगया॥

अन्त में रासलीला होती थी उसमें प्रभु की प्रत्यक्ष छवि आपको दीख पड़ी; उसी समय देह त्यागकर भगवद्धाम को प्राप्त हुये।

आपके भाग्य की बड़ाई प्रशंसा विदुष सज्जनों ने किया और किसी ने लिखा है कि श्रीप्रयागदासजी ने दो देह धारण कर दोनों उत्सवों में जाके ध्वजा और कलश चढ़ाया। जैसा हो सो विज्ञ लोग जानें; दोनों हो सक्ता है॥

"खेलैं राम रंगीलौ फागरी आज रंगीलौ फागरी। चन्द्रकला बिमलादि रंगीली प्यारी रंगीली नागरी॥ कनक महल भजि कुंज २ प्रति उमगि रह्यो अनुरागरी। युगल प्रिया अधिकार सदा कै अग्रस्वामि पद लागरी॥"

(२००) श्रीप्रेमनिधिजी।

(७६०) छप्पय। (८३)

प्रगट अमित गुन "प्रेमनिधि," धन्य बिप्र जे नाम धर्यौ॥ सुन्दर सील सुभाव, मधुर बानी, मंगल करु। भक्तनिकों सुख दैन फल्यौ बहुधा दसधा तरु॥ सदन बसत निर्वेद, सारभुक, जगत असंगी। सदाचार उद्धार नेम हरिदास प्रसंगी॥ दया दृष्टि बसि "आगरैं" कथा लोग पावन कर्यौ। प्रगट अमित गुन "प्रेमनिधि," धन्य विप्र जे नाम धर्यौ॥ १६७॥ (४७)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "प्रेमनिधि" जी में अपार प्रेम गुण प्रगट था, वास्तव में आप प्रेम के निधि ही थे। इससे जिस ब्राह्मण ने आपका यह नाम रक्खा था सो धन्य है। प्रेम के साथ ही और भी गुण आप में थे, आप सुन्दर शील-वान् स्वभावयुक्त, और मंगल करनेवाली मधुर वाणी आपकी परमा-नन्ददा थी। भगवद्भक्तों को सुख देनेवाले प्रेम लक्षणा भक्तिरूपी बहुत फलों से युक्त मानो कल्पवृक्ष थे। घर रहकर भी वैराग्ययुक्त, सारग्राही, जगत् से असंग थे॥

जाति के ब्राह्मण सदाचार नियम में तत्पर, अति उदार, हरि-

दासों के संग में निरत भजन में रत हुये। जीवों के ऊपर उदार दृष्टि कर, (समीप ही वृन्दावनवास छोड़) आगरे में रहकर, वहाँ के लोगों को कथा सुनाके पावन कर भवपार उतार दिया ॥

दो० "परहितरत, सियरामपद, भक्ति, सदा सत्संग ।
सहज विराग, उदार जे, का वन ? का गृहरंग ? ॥ १ ॥"
"जे जन रूखे विषय, पुनि, चिकने रामसनेह ।
ते बसि नित सियरामपद, कानन रहहिं कि गेह ॥ २ ॥"

(७६१) टीका । कवित्त । (८२)

प्रेमनिधि नाम, करैं सेवा अभिराम स्याम, आगरौ सहर निसिसेस जल ल्याइयै। बरखा सु रितु जित तित अति कीच भई, भई चित चिंता "कैसे अपरस आइयै ॥ जौ पै अंधकार ही मैं चलौं तौ बिगार होत," चले यों बिचारि "नीच छुवै न सुहाइयै"। निकसत द्वार जब देख्यौ सुकुमार एक हाथ में मसाल "याके पीछे चले जाइयै" ॥ ५६५ ॥ (३५)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीप्रेमनिधि नाम के भक्त श्रीश्यामसुन्दर की पूजा सेवा अति अभिराम करते थे। आगरे नगर में रहते, नित्य कुछ रात्रि रहते ही श्रीप्रभु के लिये श्रीयमुनाजल लाया करते थे ॥

एक दिवस वर्षा के ऋतु में मार्ग में जहाँ तहाँ कीच हो गई। रात्रि थोड़ी शेष थी, तथापि अंधकार बड़ा था; आपके मन में चिन्ता हुई कि "किस प्रकार से अछूत जल लाऊँ ? प्रकाश होने पर जाऊँ तो लोगों से छू जायगा" जो अँधेरे में जाऊँ तो भी ठीक नहीं। फिर मन में ठीक किया कि "अन्धकार में चलना ही अच्छा है, नीच तो नहीं छुयेंगे।" ऐसा निश्चय कर, घर से निकलते ही देखते क्या हैं कि "एक सुकुमार हाथ में प्रकाश लिये आगे जा रहा है ॥"

दो० "प्रेम कि-निधि प्रति प्रेमनिधि, भस्यौ प्रेम उर जाल ।
सोई मूरति धारिक, प्रगट भयो तिहि काल ॥१॥"
"दीप हाथ लिय ढीठ अस, यमुना तट जो चोर ।

कै माखन ? कै दधि, हरै ? हरै कि सखि चित मोर ? ॥ २ ॥"

मोहित हो आपने विचारा कि "राम कृपा से इसी के पीछे पीछे चला चलूँ ॥" "जैसे धन धाम भाम श्याम जू के लागे काम, होत अभिराम, दुखग्राम नाशै मन की। जैसे रसिकाई-औ-अनन्यताई-बात मुख शोभित है क्रियामान-ज्ञानवान-जन की ॥"

(७६२) टीका। कवित्त। (८१)

जानी यहै बात पहुँचाए कहूँ जात यह अबहीं बिलात भले चैन कोऊ घरी है। जमुना लौं आयौ, अचरज सा लगायौ मन, तन अन्हवायौ, मति वाही रूप हरी है ॥ घट भरि धर्यौ सीस, पट वह आय गयौ, आय गयौ घर, नहीं देखी, कहा करी है। लगी चटपटी अटपटो न समझि परै, भटभटी भई नई, नैन नीर झरी है ॥ ५६६ ॥ (३४)

वार्त्तिक तिलक।

आप यह समझे कि "यह किसी को पहुँचाकर लौटा जाता है, जहाँ इसका घर होगा वहाँ तो चलाही जावेगा भला जै क्षण उजाला है तब ही तक सुख सही।" वह मनमोहन प्रकाशयुत (मशालची) श्रीयमुनाजी तक आया; आपने मन में आश्चर्यमान तन से स्नान किया परन्तु आपकी बुद्धि को उस सुकुमार के रूप ने हर लिया। स्नान कर, जल भर, घड़ा माथे पर धर, चले ही कि झट वही आकर आगे आगे चला; अपने घर आप आ पहुँचे कि वह अन्तर्धान हो गया, उसको न देखा! न जानै कहाँ गया ? कुछ पता न चला ॥

अब तो मन और नेत्रों में उसके देखने की चटपटी पड़ी, यह अटपटी बात समझ में नहीं आती, नई भटभटी भई कि यह कहाँ गया ? नेत्र बिचारे जल की झड़ी करने लगे ॥

चौपाई।

"बरसै मघा झकोरि झकोरी। मुर दुउ नैन चुवैं जनु ओरी!"
(पद्मावत—मलिकमुहम्मद जायसी)

(पद) "नयन लगि जायँ जो राजिव नैन। भटकत हैं दरसन अभिलाषे, खटकत हैं दिन-रैन ॥"

दो० "पुतरी कारी आँख की, रूप श्याम को मान।
वासों सब जग देखिये, वा बिन अन्धो मान ॥ १ ॥"

श्रीप्रेमनिधि के सोच विचार तथा अपार प्रेम किस से वर्णन हो सकते हैं ?

दो० "जब लगि भक्ति सकामता, तब लगि कच्ची सेव।
कह कबीर वे क्यों मिलैं, निहकामी निज देव ॥"

(कबीरसाहब)

(७६३) टीका। कवित्त। (८०)

कथा ऐसी कहे जामैं गहे मन भाव भरे, करें कृपादृष्टि दुष्टजन दुख पायौ है। जायकै सिखायौ बादशाह उरदाह भयौ, कही तिया भलीकौ समूह घर छायौ है ॥ आए चोबदार कहै चलौ एही बारबार, भारी प्रभु आगे धखौ चाहे सोर लायौ है। चलै तब संग गए पूछै नृपरंग कहा ? तियनि प्रसंग करौ ? कहिकै सुनायौ है ॥ ५६७ ॥ (३२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीप्रेमनिधिजी श्रीभागवत की कथा इस प्रकार कहते थे कि जिसको मन एकाग्र हो ग्रहण कर प्रेमभाव से भर जाता था। स्वयं पाठक समझ सकते हैं कि श्रीप्रेमनिधिजी की कथन कैसी विलक्षण तथा प्रभावयुक्त होती होगी। उनकी कथा में पुरुषों और स्त्रियों की बहुत भीड़ होती थी। जीवों पर आपकी ऐसी कृपादृष्टि देख दुष्टों ने स्वभावतः दुख पाकर जाके नृपति (बादशाह) से झूठी निन्दा की कि "उसके घर में नगर भर के अच्छे अच्छे घरों की सब स्त्रियाँ आके बैठी रहती हैं ॥

कवित्त।

"आजु कलिकाल ऐसो आयौ है कराल अति, राखैं भगवान टेक, तौ तो बृन्द जीजियै। बोलियै न चालियै जु, बैठि, पिंड पालियै जु, आँखि कान दोउ मूँदि, मौनव्रत लीजियै ॥ देखी अनदेखी जानि, सुनी अनसुनी मानि, माला गहि पानि, हानि लाभ चित दीजियै।

कीजियै न रोष जो पै कहै कोऊ बीस सीस, लीजै धरि सीस, जगदीस साखि कीजियै ॥ १ ॥"

यवनराज ने सुनते ही क्रोधाग्नि से जलके लोगों को भेजा कि "उसको बुला लाओ" आकर उन्होंने कहा कि "इसी क्षण चलो।" उस समय आप जलसे झारी भरके प्रभु के पीने को आगे रखना चाहते थे, पर उन लोगों का कठोर हाँक सुन उनके साथ चल ही दिये ॥

गये; यवनराज पूछने लगा "तुम्हारा क्या रंग है? हम सुनते हैं कि नगरभर की अच्छी अच्छी नारियों का प्रसंग रखते हो" उसका कहना सुन आपने उत्तर दिया ॥

(७६४) टीका। कवित्त। (७९)

कान्ह भगवान ही की बात सो बखानि कहौं; आनि बैठैं नारी नर लागी कथा प्यारी है। काहू कों बिडारैं, झिरकारैं, नैकु टारैं, बिषै दृष्टि कै निहारैं, ताको लागै दोष भारी है" ॥ "कही तुम भली तेरी गली ही के लोग मोसों आयकै जताई वह रीति कछु न्यारी है"। बोल्यौ "याहि राखौ सब करौ निरधार नीके," चले चोबदार लैकै, रोके प्रभु धारी है। ॥ ५६८ ॥ (३२)

वार्त्तिक तिलक।

"खोटी कहनेवालों का मुँह कौन रोके, परन्तु मैं तो श्रीकृष्ण भगवान् की ही कथा बखान करता हूँ; सुनने के लिये नारी पुरुष सब आकर बैठते हैं क्योंकि सबको प्यारी लगती है; उसमें कोई किसी को अपमान करके उठा दे, या विषयदृष्टि से देखै, तो उसको बड़ा भारी दोष होता है, इससे मैं किसी को निषेध नहीं करता ॥"

यवनराज ने कहा कि "तुमने तो अच्छी बात कही, परंतु तुम्हारे समीप ही के लोगों ने आकर हमसे जताया है कि उसकी रीति कुछ और ही प्रकार की है।" ऐसा कह, सेवकों को आज्ञा दी कि "ले जाओ, इसको नज़रबन्द (बन्धन पहरे में) रक्खो, इसका निर्णय हो जायगा, तब छोड़ेंगे।" आज्ञा सुन चोबदारों ने ले जाकर बन्धन में डाल रक्खा ॥

श्रीप्रेमनिधिजी प्रभु से प्रार्थना करने लगे।

प्रभु ने कृपाकर विनय को श्रवण में धारण किया ॥

(७६५) टीका । कवित्त । (७८)

सोयौ बादसाह निसि, आयकै सुपन दियौ, कियौ वाकौ इष्टभेव, कही "प्यास लागी है" । "पीवौ जल," कही "आबखाने लै बखाने" तब अति ही रिसाने "को पियावै, कोऊ रागी है !" ॥ फेर मारीलात अरे सुनी नहीं बात मेरी; आप फुरमावौ * जोई प्यावै बड़भागी है। सोतौ तैं लै कैद कर्‌यौ सुनि अरबर्‌यौ डर्‌यौ भर्‌यौ हिये भाव मति सोवत तें जागी है ॥ ५६६ ॥ (३१)

वार्त्तिक तिलक ।

जब रात को यवनराज सोया, तब प्रभु ने यवनों के इष्टदेव मुहम्मद-साहिब का रूप वेष बनाकर स्वप्न में उसको आज्ञा की कि "हमको प्यास लगी है," सुनके भूपाल ने सादर कहा कि "जल पीजिये ।" आपने पूछा कि "पानी कहाँ है ?" उसने बताया "आबखाने में है ॥"

तब आपने रिस में आकर कहा कि "वहाँ कोई प्रेमी सेवक तो है ही नहीं, पिलावै कौन ?" वह कुछ न बोला। तब आपने उसको एक लात मारकर पूछा कि "अरे, तूने हमारी बात सुनी अनसुनी कर दी ?" तब घबड़ाके कहने लगा कि "जिस बड़भागी को आप आज्ञा दीजिये सो पिलावै ।" आपने आज्ञा की कि "उस पिलानेवाले प्रेमी को तो तूने पकड़कर क़ैद किया है ॥"

ऐसा सुन बादशाह बहुत घबड़ाया, डरा, और उसके हृदय में भक्ति-भाव उत्पन्न हुआ। उसकी सोती हुई बुद्धि जाग उठी और स्वयं उसकी नींद भी टूट गई ॥

चौपाई ।

"अब समझ्यो कछु सो नर नाहू । टेढ़ देखि शंका सबकाहू ॥"

दो० "सन्तननिन्दा अति बुरी, भूलि सुनो जनि कोइ ।
किये सुने सब जन्म के सुकृतहु डार खोइ ॥ १ ॥"

* "फुरमावौ"=فرماؤ=आज्ञा कीजिये ॥

(७६६) टीका । कवित्त । (७७)

दौरे नर ताही समै बेगि दै लिवाय ल्याये, देखि लपटाये पाँय नृप दृग भीजे हैं। "साहिब * तिसाये, जाय अबहीं पियावौ नीर, और पै न पीवैं, एक तुमहीं पै रीझे हैं ॥ लेवौ देस गाँव," "सदा पीवहीं सो लाग्यौ रहौं, गहौं नहीं नैकु धन पाय बहु छीजे हैं"। संग दै मसाल, † ताही काल में पठाये, यौं कपाट जाल खुले, लाल प्यायौ जल, धीजे हैं ॥ ६०० ॥ (३०)

वार्त्तिक तिलक ।

यवनराज की आज्ञा से उसी क्षण लोग दौड़े जाके श्रीप्रेमनिधिजी को लिवालाये, बादशाह देख नेत्रों में प्रेम के आँसू भर आपके चरणों में पड़के कहने लगा कि "साहिब को तृषा लगी है; और के हाथ से नहीं पीते; एक आप ही पर प्रसन्न हैं, आप शीघ्र अभी जाकर जल पिलाइये; और मुझसे देश गाँव जो चाहिये सो लीजिये, मुझे दास समझिये, मैं सदा चरणों ही से लगा रहूँगा ॥"

आपने उत्तर दिया कि "मैं उसी से लगा रहता हूँ धन कुछ भी नहीं लूँगा मुझको बहुत धन मिला और चला गया। धन अनित्य है ॥"

बादशाह ने उसी क्षण प्रकाश के साथ आपको घर भेजवा दिया। सब किवाड़ खुले, आके स्नानकर, आपने प्रभु को जलपान कराया। आप प्रसन्न हुये और प्रभु भी प्रसन्न हुये। श्रीप्रेमनिधिजी की जय। प्रेम की जय जय जय ॥

---

(२०१) श्रीराघवदास दूबलौजी ।

(७६७) छप्पय । (७६)

"दूबलौ" जाहि दुनियाँ ‡ कहै, सो भक्त भजन मोटौ महंत ॥ सदाचार गुरु शिष्य, त्याग बिधि प्रगट दिखाई। बाहेर भीतर बिसद, लगी नहिं कलिजुग काई ॥ राघौ रुचिर सुभाव असद आलाप न भावै। कथा कीर्त्तन नेम मिलैं संतनि गुन गावै ॥ तायतोलि पूरौ निकष,

---

* "साहिब" = صاحب = प्रभु। † "मसाल" = مشعل = प्रकाश ॥ ‡ "दुनियाँ" = دنیا = संसार ॥

ज्यौं घन अहरनि हीरौ सहंत । "दूबलो" जाहि दुनियाँ कहै, सो भक्त भजनमोटौ महंत ॥ १६८ ॥ (४६)

वार्त्तिक तिलक।

जिन राघव को संसार के लोग "दुबलेजी" वा "दूबरजी" कहते हैं, सो भगवद्भक्ति और नामस्मरण भजन में बड़े मोटे महंत थे। सुन्दर आचार तथा गुरु शिष्य की रीति त्यागविधि आपने अपने आचरणों से प्रगट दिखा दिया। बाहर और भीतर हृदय से अति निर्मल थे। कलियुग की कोई मलीनता नहीं लगने पाई। "श्रीराघवदासदुबलेजी" का स्वभाव बहुत ही अच्छा था क्योंकि आपको असद् वार्ता का कहना सुनना प्रिय नहीं लगता था। संतों में मिले हुये नियम से श्रीहरिकथा नाम कीर्तन प्रभु के गुणों को सदा गाते थे। जैसे सुवर्ण को तपाय के कसौटी में कसने से चोखाई की परीक्षा होती है और हीरा की अहरनि (निहाई) पर रखकर घन की चोट सहने से परीक्षा होती है ऐसे ही आप गुरु संतों की चोट सहनेवाले परीक्षा में पूरे थे; भक्ति, भजन और सत्संग में मोटे महन्त थे। अपने पदों में आप "दुबारा" वा "दूबर" छाप (भोग) रखते थे॥

(७६८) छप्पय। (७५)

दासनि के दासत्त कों, चौकस चौकी ए मड़ी॥ हरिनारायण[1], नृपति पदम[2], "बेरछे" बिराजैं। गाँव "हुसंगाबाद" अटल[3], ऊधौ[4], भलआजैं॥ भले तुलसीदास, भट ख्यात, देवकल्यानौ[6]। बोहिथ बीरारामदास, "सुहेलै" परम सुजानौ॥ "औली" परमानंद[8] के, ध्वजा सबल धर्म की गड़ी। दासनि के दासत्त कों, चौकस चौकी ए मड़ी॥ १६९॥ (४५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवद्दासों की दासता के लिये, ये चौकस चौकी मढ़ी हुए

अर्थात् जैसे मार्ग चलनेवालों को टिकने की चौकियाँ होती हैं, ऐसे ही श्रीभगवद्दासों के रहने के अर्थ इन संतसेवियों के पुनीत गृह सुशोभित हुये॥

(१।२) बेरछैग्राम में श्रीहरिनारायणजी, और राजा पदुमजी विराजमान हुए॥

(३।४) हुसंगाबाद नगर में श्रीअटलजी और ऊँधोजी बहुत अच्छे शोभित हुए॥

(५।६) पास ही में मिले हुये श्रीतुलसीदासजी तथा देवकल्यानजी संतसेवा में विख्यात सुभट थे॥

(७) सुहेले में भवसागर की नौका सरीखे बीरारामदासजी परम सुजान थे। और—

(८) "औली" में श्रीपरमानन्दजी के द्वार पर भागवतधर्म की दृढ़ ध्वजा गड़ी थी॥

(७६९) छप्पय। (७४)

अबला सरीर साधन सबल, ए बाई हरिभक्ति बल॥ देमा, प्रगट सब दुनी, रामाबाई, बीरां, हीरामनि। लाली, नीरा, लछि, जुगल पार्वती, जगत धनि॥ खीचनि, केसी, धना, गोमती, भक्त उपासिनि। बादरानी, बिदित गंगा, जमुना, रैदासिनि॥ जेवा, हरिषां, जोइसिनि, कुँवरिराय, कीरति अमल। अबला सरीर साधन सबल, ए बाई हरिभक्ति बल॥ १७०॥ (४४)

वार्त्तिक तिलक।

इन बाइयों के शरीर तो अबला स्त्रियों के थे, परन्तु सबल साधन करके ये श्रीहरिभक्ति में बड़ी बलवान हुईं॥

(१) सब जगत्में प्रगट श्रीदेमाबाईजी

(२) श्रीरामाबाईजी

(३) श्रीबीरांबाईजी

(४) श्रीहीरामनिजी
(५) श्रीलालीजी
(६) श्रीनीरांजी
(७) श्रीलक्ष्मीबाईजी
(८।६) दोनों "पार्वती" जगत् में धन्य हुईं
(१०) श्रीखीचनिजी
(११) श्रीकेशीजी
(१२) श्रीधनाबाईजी
(१३) श्रीगोमतीजी, श्रीहरिभक्तों की उपासना करनेवाली
(१४) जगत् विख्यात श्रीबादरानीजी
(१५) श्रीगंगाबाईजी
(१६) श्रीयमुनाबाईजी
(१७) श्रीरैदासिनिजी
(१८) श्रीजेवाबाईजी
(१६) श्रीहरिषाँबाईजी
(२०) श्रीजोइसिनिजी
(२१) निर्मलकीर्तियुक्त श्रीकुँवरिरायजी

(२०२) श्रीकान्हरदासजी।

(७७०) छप्पय। (७३)

"कान्हरदास" संतनिकृपा, हरि हिरदै लाहौ लह्यौ॥ श्रीगुरु शरणै आय भक्ति मारग सत जान्यौ। संसारी धर्महि छाँड़ि झूठ अरु सांच पिछान्यौ[1]॥ ज्यौं साखा द्रुम चंद जगतसौं इहिं विधि न्यारौ। सर्बभूत सम दृष्टि गुननि गम्भीर अति भारौ॥ भक्त भलाई बदन नित, कुबचन कबहुँ नाहिन कह्यौ। "कान्हरदास" संतनि कृपा, हरि हिरदै लाहौ लह्यौ॥ १७१॥ (४३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकान्हरदासजी ने संतों की कृपा से अपने हृदय में परम लाभ श्रीहरिस्वरूप को पाया। श्रीगुरु शरण में आकर सुन्दर भक्ति के मार्ग को यथार्थ जाना, संसारियों के धर्म कर्मों को छोड़, जगत् को झूठा तथा आत्मस्वरूप को सत्य पहिचाना। जैसे लोग बतलाते हैं कि "अमुक वृक्ष की शाखा पर वह चन्द्रमा दिखाता है" पर चन्द्रमा

[1] "पिछान्यौ"=पहिचाना

उस शाखा से लाखों कोस पर है, इसी प्रकार चन्द्रशाखा न्याय से श्रीकान्हरदासजी कहनेमात्र ही को तो संसार में रहे परन्तु वस्तुतः पृथक् थे। और सर्व भूतों में समदृष्टि से भगवद्रूप व्याप्त देखते; शुभगुणों से भरे, अतिगंभीर, समुद्र के समान थे; अपने मुखसे भगवद्भक्तों की भलाई बड़ाई सदा कहते; कुवचन कभी न बोले। इस प्रकार आपने अपने हृदय में हरिरूप का लाभ उठाया॥

(२०३।२०४) श्रीकेशवलटेरा; श्रीपरशुरामजी।

(७७१) छप्पय। (७२)

लट्यौ "लटेरा" आनबिधि, परम धरम अति पीन तन॥ कहनी रहनी एक, एक प्रभु पद अनुरागी। जस बितान जग तन्यौ संत संमत बड़भागी॥ तैसोई पूत सपूत नूत फल जैसोई परसा। हरिहरिदासनि टहल, कबित रचना पुनि सरसा॥ (श्री) सुरसुरानन्द संप्रदाय दृढ़, "केसव" अधिक उदार मन। लट्यौ "लटेरा" आनबिधि परमधरम अति पीनतन॥ १७२॥ (४२)

वार्त्तिक तिलक।

(१) श्रीकेशवलटेराजी जगत् की विधि से अति दुर्बल थे॥

दो० "नारायण तू भजन कर, काह करैंगे कूर।
अस्तुति निन्दा जगत की, दोउनके शिर धूर"॥

और परमधर्म श्रीभगवद्भक्ति से परम पुष्ट थे॥

दो० "स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिनके सब तुम्ह तात।
तिनके मनमन्दिर बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात"॥

आपकी कहनी और रहनी एक समान थी, तथा श्रीसीतारामचरणानुराग में अद्वितीय थे। आपके संतसंमत सुयश का वितान लोक में तन गया था॥

(२) जैसे बड़भागी श्रीकेशवजी थे वैसेही आपके सुकृत वृक्ष के

नवीन फल सपूत पूत श्रीपरशुरामजी श्रीहरि और हरिदासों की सेवा टहल में तत्पर हुये। तथा हरियशयुक्त कवित्त अति सरस रचते थे। श्री १०८ सुरसुरानन्दस्वामीजी के संप्रदाय में दृढ़ श्रीकेशव लटेराजी अतिशय उदार मनवाले हुये। स्वामी श्री १०८ सुरसुरानन्दजी की जय॥

---

(२०५) श्रीकेवलरामजी॥

(७७२) छप्पय।(७१)

"केवलराम" कलियुग के, पतित जीव पावन किये॥ भक्ति भागवत बिमुख जगत, गुरु नाम न जानैं। ऐसे लोक अनेक ऐंचि सनमारग आनैं॥ निर्मल रति निहकाम अजा तें सदा उदासी। तत्त्वदरसी तम हरन, सील करुना की रासी॥ तिलक दाम नवधा रतन, कृष्णकृपा करि दृढ़ दिये। "केवलराम" कलियुग के, पतित जीव पावन किये॥ १७२॥ (४१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकेवलरामजीने कलियुग के पतित जीवोंको पावन किया। जो जगत् के जीव भक्ति भक्त भगवंत गुरु को नाममात्र भी नहीं जानते थे, उनको भी विमुखता से खींचकर, भक्ति सतमार्ग में आरूढ़कर दिया। प्रभुके बिषे आपकी निर्मल प्रीति थी, विषयसुख से निष्काम, माया से सदा उदासीन रहते थे। अनात्म, आत्म, परमात्म तीनों तत्त्वों को ज्ञानदृष्टि से यथार्थ देखनेवाले विवेकी थे और सब जीवों का अज्ञानरूपी अन्धकार हरनेवाले, शील और करुणा की राशि ही थे। आपने जीवों को तिलक कंठी माला और नवधा भक्तिरूपी रत्न तथा श्रीकृष्णकृपालुता भले प्रकार दृढ़ा दी। इस प्रकार कलियुग के बहुत से पतित जीव आपने पावन किये॥

(७७३) टीका । कवित्त । (७०)

घर घर जाय कहै यहै दान दीजै मोकों कृष्णसेवा कीजै नाम लीजै चित लायकै। देखे भेषधारी दस बीस कहूँ अनाचारी, दये प्रभु सेवनिकों रीति दी सिखायकै ॥ करुणानिधान कोऊ सुने नहीं कान कहूँ, बैल के लगायौ साँटो लोटे दया आयकै। उपट्यो प्रगट तनमनकी सचाई अहो भए तदाकार कहौं कैसे समझाय कै ॥ ६०१॥ (२६)

वार्त्तिक तिलक ।

आप सबों के घर में जा जाके यही कहते थे कि "श्रीकृष्णसेवा करो और चित्त लगा के उनका नाम लिया करो; मुझे यही दान दो।" जहाँ कहीं दसबीस वैष्णव वेषधारी अनाचारी देखते थे, उनको अपने पास से प्रभुकी मूर्तियाँ देकर सेवा पूजा भजन की रीति सिखला देते थे॥

करुणानिधान तो आप ऐसे थे कि वैसा कहीं कोई कानों से सुनने में भी नहीं आता, एक समय मार्ग में कोई बनजारा बैल लिये जाता था, आप भी पास पास चले जा रहे थे, उसने अपने बैल को एक साँटी मारी, यह देखते ही श्रीकेवलरामजी दया से भूमि पर गिरपड़े, लोगों ने उठाकर देखा तो आपकी पीठ में वही साँटी ज्यों की त्यों प्रत्यक्ष उपटी है! देखिये, आपके मनकी कृपाकी सचाई कि तदाकार होगये। यह आश्चर्य रीति किसप्रकार कहने और समझाने में आसक्ती है ?

---

(२०६) श्रीआसकरनजी।

(७७४) छप्पय। (६९)

(श्री) मोहन मिश्रित पदकमल, "आसकरन" जस बिस्तर्यो ॥ धर्मसीलगुनसींव महाभागौत राजरिषि। पृथीराज कुलदीपभीम सुत बिदित कील्हसिषि ॥ सदाचार अति चतुर, बिमल बानी, रचना पद। सूर धीर उद्दार बिनै भलपन भक्तनि हद ॥ सीतापति राधासुवर,

भजन नेम कूरम धर्यो। (श्री) मोहन मिश्रित पद-कमल, "आसकरन" जस बिस्तर्यौ॥ १७४॥ (४०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजानकीमोहन और श्रीराधिकामोहन दोनों मोहन मिश्रित चरणकमलों की आसा करनेवाले श्री "आसकरनजी" ने प्रभुका तथा अपना यश विस्तार किया। आप, कूर्मवंशी (कछवाह) श्रीपृथीराज-जी के कुल के दीपक, भीमसिंहजी के पुत्र, श्रीस्वामी कील्हदेवजी के शिष्य, नरवरगढ़ के राजा परम विख्यात हुये। बड़े धर्मशील, शुभ गुणों के सीम, महाभागवत राजर्षि, सूर, धीर, अति उदार, विनययुक्त, सदाचार तत्पर, हरिभक्तों से अनुराग तथा भलप्पन करनेवालों में श्रेष्ठ हुए। विमल बानी से, प्रभु सुयशयुतपद, रचना करने में अति चतुर थे। श्रीसीतापति और श्रीराधावर के पूजन भजन का नियम आपने अपने हृदय में दृढ़ धारण किया॥

(७७५) टीका। कवित्त। (६८)

नरवरपुर ताकौ राजा नरवर जानौ मोहन जू धरि हियें सेवा नीके करी है। घरी दस मंदिर में रहैं रहै चौकी द्वार, पावत न जान कोऊ ऐसी मति हरी है॥ पर्यो कोऊ काम आय अबहीं लिवाय ल्यावौ कहे पृथीपति लोग कान में न धरी है। आई फौज भारी, सुधि दीजियै हमारी, सुनि वहू बात टारी, परी अति खरबरी है॥६०२॥(२८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीआसकरनजी सब नरों में श्रेष्ठ नरवरगढ़ के राजा युगलमोहन जी को हृदय में धारणकर बहुत अच्छी सेवा पूजा इस प्रकार करते थे कि दस घड़ी दिन चढ़े तक मंदिर में रहते थे, और द्वारपर चौकी खड़ी रहती थी कि उतने समय भीतर कोई भी नहीं जाने पाता था। ऐसी मति भजन में एकाग्र थी॥

एक समय संयोगवश नरवरगढ़ में बादशाह आया, और दोपहर के पहिले ही सुभटों को आज्ञा दी कि "आसकरनजी को अभी लिवा लाओ" राजभटों ने, आकर भक्तराज के द्वारपालों से कहा, पर

किसी ने उन दूतों की नहीं सुनी। तब बहुत भारी सेना आई; सेनापति ने कहा कि "राजा को हमारी बात सुनाओ" लोगों ने वह बातभी टाल दी। तब सेनापति लोग क्रोध से अति आतुर हुये॥

(७७६) टीका। कवित्त। (६७)

कहिकै पठाई, "कहो कीजियै लराई" सुनि रुचि उपचाई चलि पृथीपति आयो है। पस्यो सोच भारी, तब बात यों बिचारि कही "आप एक जावो," गयो अचिरज पायो है॥ सेवा करि सिद्धि, साष्टांग ह्वैकै भूमि परे, देखि बड़ी बेर, पाँव खडग लगायो है। कटिगई एड़ी, ऐपै टेढ़ीहू न भौंह करी, करी नित नेम रीति धीरज दिखायो है॥ ६०३॥ (२७)

वार्त्तिक तिलक।

सेनापति ने बादशाह के पास कहला भेजा कि "यदि आज्ञा हो तो हम युद्ध का आरंभ करैं, क्योंकि हमारा वृत्तान्त राजा के पास कोई भी पहुंचाता ही नहीं।" सुनकर बादशाह के मन में राजा के देखने की रुचि उत्पन्न हुई। स्वयं आया॥

तब राजा के मंत्री आदिकों को बड़ा सोच पड़ा, विचार कर यवनाधीश से बोले कि "केवल एक आप मंदिर के भीतर जाइये।" मनमें आश्चर्य मान भीतर जाकर देखा कि "आसकरनजी पूजा समाप्त कर भूमि में पड़े साष्टांग प्रणाम कर रहे हैं॥"

दो० "प्रेम सहित अँसुअन ढरैं, धरे युगल कौ ध्यान।
नारायण ता भक्त को, जग में दुर्लभ जान॥"

ध्यानयुक्त बड़ी बेर पड़े देख; यवनराज ने राजा के चरण में धीरे से खड्ग मारा। आपकी एड़ी कटगई तथापि न दुख का कुछ भान, और न भौंह तक टेढ़ी हुई। जिस प्रकार नित्य प्रणाम करने का नियम था उसी प्रकार धैर्य देखने में आया॥

चौपाई।

"मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन, तन दुख सुख सुधि केही॥"

(७७७) टीका। कवित्त। (६६)

उठि चिक डारि; तब पाछें सो निहारि, कियौ मुजरा ❀ बिचारि, बादशाह अति रीझे हैं। हित की सचाई यहै, नेकु न कचाई होत, चरचा चलाई भाव सुनि सुनि भीजे हैं॥ बीते दिन कोऊ नृपभक्त सो समायौ, पृथीपति दुख पायौ, सुनी भोग हरि छीजे हैं। करैं विप्र सेवा तिन्हे गाँव लिखि न्यारे दिये वाके प्रान प्यारे लाड़ करौ कहि धीजे हैं † ॥ ६०४ ॥ (२६)

वार्त्तिक तिलक।

फिर उठकर प्रभु के मंदिर में चिलमन (व्यवधान, चिक) डाल, पीछे देखा, बादशाह को खड़े पा, यथोचित जोहार किया आदाब बजा-लाया। बादशाह, राजा की भक्ति प्रीति नियम की सचाई तथा दृढ़ता देख विचारकर अतीव प्रसन्न हुआ॥

फिर कुछ भाव भक्ति का प्रश्न किया। श्रीआसकरनजी के मुख से उत्तम उत्तर सुन, सरस हृदय होकर, चला गया॥

चौपाई।

"जो प्रभु से सच्चा सो जीता। श्रीहरि साँचे मन के मीता॥"

कुछ कालान्तर में वह भक्त राजा (श्रीआसकरनजी) भगवत् धाम को पधारे; बादशाह सुन बड़ा दुखी हुआ। पीछे यह भी सुना कि "उनके प्रभु को भोग राग यथार्थ नहीं लगता।" तब पूजा सेवा करने वाले ब्राह्मणों को राज्य से न्यारे ग्राम लिख दिया और कहा कि "आसकरनजी के प्राणप्यारे प्रभु को यथार्थ पूजन प्रेम लाड़ प्यार किया करो।" ब्राह्मण वैसाही करने लगे। यवनराज अति प्रसन्न हुये॥

(२०७) श्रीहरिवंशजी।

(७७८) छप्पय। (६५)

निहिकिंचनभक्तनि भजै, हरि प्रतीति "हरिबंस"

❀ "मुजरा"=مجرا=जुहार, प्रणाम॥

† "धीजे हैं"=प्रसन्न, सुखी हुए॥

के ॥ कथा कीर्तन प्रीति, संतसेवा अनुरागी। खरिया खुरपा रीति ताहि ज्यौं सर्बसु त्यागी ॥ संतोषी, सुठि, सील, असद आलाप न भावै ॥ काल बृथा नहिं जाय निरंतर गोबिंद गावै ॥ सिष सपूत श्रीरङ्ग को, उदित पारषद अंस के। निहिकिंचन भक्तनि भजै, हरि प्रतीति "हरिबंस" के ॥ १७५ ॥ (३९)

वार्त्तिक तिलक।

निष्किचन होके अर्थात् कुछ पदार्थ का संग्रह नहीं रखके, श्रीहरि विषे प्रीति प्रतीतियुक्त होके, "श्रीहरिवंश भक्त" निष्किचन (विरक्त) हरिभक्तों की सेवा करते थे ॥

चौपाई।

"तेहिते कहत संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ॥"

श्रीसीतारामकथा श्रवण तथा नाम कीर्त्तन में अति प्रीति, और संत-सेवा में परम अनुराग था ॥

दो० "रसिकन को सतसंग नित, युगल ध्यान दिन रैन।
परम विराग सुवेष वर, बोलत सुखद सुबैन ॥"

जैसे एक समय एक राजा ने गंगास्नान कर अपने पास के लाखों रुपये के पदार्थ दान कर दिये, और उसी समय एक घसियारा जिसके पास केवल खरिया (जाली) और खुर्पा मात्र था उसने भी दोनों (सर्वस्व) दान कर दिया; स्वर्ग में राजा और घसियारा दोनों में घसियारा राजा से उत्तम लिखा गया क्योंकि घसियारे ने अपना सर्वस्व दान किया; ऐसे ही "हरिवंश" सर्वस्व के त्यागी (दानी) थे ॥

अति संतोषी, परम सुशील थे; असत् वार्ता का कहना और सुनना आपको कभी न अच्छा लगता, थोड़ा भी काल वृथा नहीं जाता; निरन्तर श्रीगोविन्दगुण गान करते थे। श्रीरंगजी के बड़े

सपूत शिष्य श्रीहरिवंशजी भगवत् पार्षदों के अंश से उदय (प्रगट) हुये॥

(२०८) श्रीकल्यानजी।

(७७६) छप्पय। (६४)

हरिभक्ति, भलाई, गुन गँभीर, बाँटें परी "कल्यान" के॥ नवकिसोर दृढ़व्रत अनन्य मारग इक धारा। मधुर बचन मन हरन सुखद जानत संसारा॥ पर उपकार बिचार सदा करुना की रासी। मन बच सर्बस रूप भक्तपद रेनु उपासी॥ "धर्मदास" सुत सीलसुठि, मनमान्यौ कृष्ण सुजान के। हरिभक्ति, भलाई, गुन गँभीर, बाँटें परी "कल्यान" के॥ १७६॥ (३८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिभक्ति, और सबसे भलाई करनी, तथा सन्तगुणों की गंभीरता "श्रीधर्मदासजी के पुत्र श्रीकल्यान भक्तजी" के बखरे में पड़ी। नवलनन्दकिशोर के दृढ़ प्रेमव्रत में आपकी अनन्य मन की वृत्ति नदी के धारा की नाईं एकरस लगी रहती थी। मनहरन मधुर वचनों से सबको सुखद थे यह बात संसार में विदित थी। सदा परोपकार, सारासारविचार, और करुणा की राशि थे। मन वचन तन धन सर्वस्व रूप से हरिभक्तों के चरणों की रेणु की उपासना करते थे। आप सुठि, सुशीलयुक्त, श्रीकृष्ण सुजानजी के मन के भावते हुये॥

(२०९) श्रीबीठलदासजी।

(७८०) छप्पय। (६३)

"बीठलदास" हरिभक्ति के दुहूं हाथ लाड़ू लिये॥ आदि अंत निर्बाह भक्तपदरज व्रतधारी। रह्यो जगत सों ऐंड़, तुच्छ जाने संसारी॥ प्रभुता पति की पधति

१ लाड़ू=लड्डू॥

प्रगट कुल दीप प्रकासी। महत सभा में मान जगत जानै रैदासी॥ पद पढ़त भई परलोक गति, गुरु गोविंद जुग फल दिये। "बीठलदास" हरि भक्ति के, दुहूं हाथ लाडू लिये॥ १७७॥ (३७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीबीठलदासजी दोनों हाथों में श्रीहरिभक्ति के लड्डू लिये अर्थात् जीवनावधि इस लोक में हरिभक्तिमय सुयश, और शरीर छूटने पर भगवद्धाम का लाभ उठाया। श्रीहरिभक्तों के चरणरज सेवन का व्रत धारणकर आदि से अंत तक निर्वाह किया; जगत् से ऐंड़युक्त होकर संसार के धनी लोगों को तुच्छ समझा। प्रभुता पति की पद्धति अर्थात् श्रीश्री (लक्ष्मी) संप्रदाय में प्रगट कुलदीप होकर प्रकाश किया॥

सर्व जगत् जानता था कि आप रैदासजी के वंश में उत्पन्न हुये तथापि महज्जनों की सभा में आपका बड़ा मान होता था। श्रीरामसुयशयुत पद को पढ़ते पढ़ते परलोक गति हुई अर्थात् तन तजके श्रीरामधाम को प्राप्त हुये। इस प्रकार श्रीगुरुगोविंद ने युगल फल दिये॥

(७८१) छप्पय। (६२)

भगवंत रचे भारी भगत, भक्तनि के सनमान को॥ "काहब *" श्रीरँग[1] सुमति, सदानँद[2] सर्वसु त्यागी। स्यामदास[3] "लघुलंब" अनानि, लाखैं[4] अनुरागी॥ मारू मुदित कल्यान[5], "परस" बंसी नारायन[6]। "चेता" ग्वाल

* "काहब" कोई महात्मा बताते हैं कि (१) काह (२) श्रीरङ्ग (३) सदानन्द (४) श्यामदास (५) मारू (६) मुदित (७) कल्यान (८) परस (९) बंशी (१०) नारायन (११) चेता (१२) ग्वाल गोपाल (१३) शङ्कर ये सब (तेरहों) नाम भक्तों ही के हैं। और किसी ने लघुलंब के स्थान में पाठान्तर "लघुबंश" बताया है और नीच कुल में उत्पन्न श्यामदास यह अर्थ उसके किये हैं।

गोपाल, संकर लीला पारायन ॥ संतसेय कारज किया, तोषत स्याम सुजान को । भगवंत रचे भारी भगत, भक्तनि के सनमान को ॥ १७८ ॥ (३६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवन्त ने, अपने भक्तों के सम्मान के अर्थ, अपने इन भारी भक्तों को बनाया। जिन्होंने सन्तों की सेवा की और अपने कार्य से श्रीश्याम-सुजान को संतुष्ट किया ॥

(१) काहब ग्राम में श्रीरंगजी सुन्दर मतिवाले
(२) श्रीसदानन्दजी, अपना सर्वस्व त्याग करनेवाले
(३) श्रीलघुलंब ग्राम में श्री-श्यामदासजी अनन्य
(४) श्रीलाखैंजी अनुरागी
(५) मारवाड़ में श्रीकल्यान-जी मुदित सन्तसेवक
(६) परस में श्रीवंशीनारा-यणजी
(७) चेता में गोपालजी ग्वाल
(८) भगवत्लीला-परायण श्रीशङ्करजी

---

(२१०) श्रीहरीदासजी

(७८२) छप्पय। (६१)

तिलक दाम पर कामकों, "हरीदास" हरिनिर्मयो ॥ सरनागत कों "सिवर;" दान "दधीच;" टेक "बलि"। परम धर्म "प्रहलाद;" सीस देन "जगदेव" कलि ॥ बीकावत बानैत भक्तपन धर्मधुरंधर। "तूंवर" कुल-दीपक, संतसेवा नित अनुसर ॥ पारथपीठ * अचरज कौन, † सकल जगत में जस लियो। तिलक दाम पर

* "पारथपीठ" =श्रीपारथ (अर्जुन) जी की पीढ़ी (वंश) में--श्रीअर्जुनजी के पुत्र श्रीअभिमन्युजी, उनके श्रीपरीक्षितजी, सो परीक्षितजी की पीढ़ी (वंश) में श्रीहरिदासजी थे। श्रीअर्जुनजी के समान कहैं तो आश्चर्य ही क्या ?

† पाठान्तर कौन, कवन ॥

काम कों; "हरीदास" हरि निर्मयो ॥ १७९ ॥ (३५)

वार्त्तिक तिलक।

तिलक कंठी मालामात्र धारण करनेवाले वैष्णवों के भी कामना पूर्ति करने के लिये हरि ने श्रीहरीदासजी को निर्मान किया। आपके गुणगण अति अनुपम थे, शरणागत जन की रच्छा करने के लिये राजा शिबि के समान; दान देने में दधीचि के सरीखे; दान देकर सत्यता की टेक न छोड़ने में राजा बलि के सदृश; परम धर्म भगवद्भक्ति में प्रह्लाद-जी के सरिस थे और रीझ के सीस तक दे देने में कलियुग में जैसे जगदेव थे उसी प्रकार के थे। श्रीहरीदासजी बीकावत* भक्तपन का बाना धरनेवाले, धर्मधुरंधर, "तूँवर" कुल के दीपक, संतसेवा में नित्य तत्पर रहनेवाले थे (वंश का प्रभाव)॥

"बीकावत बानैत भक्तबंस पाण्डव अवतारी। कपि जो बीरा लियो उठाय सीस अम्बर कइ भारी॥ पीठ परीक्षित (पारथ) सार का सभा साख सन्तन कही। टेक एक बंसी तनी, जन गोबिंद की निर्बही"॥

(७८३) टीका। कवित्त। (६०)

प्रह्लाद आदि भक्त गाए गुण भागवत सब इक ठौर आए देखें "हरिदास" में। "रीझि 'जगदेव,'" सों यों कहिकै बखान कियौ, जानत न कोऊ सुनौ कख्यौं लै प्रकास में॥ रहै एक नटी सक्तिरूप गुण जटी गावै लागै चटपटी मोह पावै मृदु हाँस में। राजा रिझवार करै देबे को बिचार, पै न पावै सार काटै सीस "राख्यौ तेरे पास में"॥ ६०५॥ (२५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीप्रह्लादजी, शिबि, दधीचि, बलि इन भक्तों के गुण श्रीभागवतग्रंथ में प्रसिद्ध हैं; उन सबों के गुण इकट्ठे श्रीहरीदासजी में देखे गये॥

श्रीनाभास्वामीजी ने रीझ में जगदेवजी के समान बखान किया सो "जगदेव" की रीझ का वृत्तान्त (श्रीप्रियादासजी) कहते हैं कि

* "बीकावती रानी" के समान श्रीहरीदासजी का बान, भक्ति में था। सब संसार में इन्होंने यश लिया॥

कोई नहीं जानता, इससे मैं प्रकाश करता हूँ । एक शक्तिरूपिणी नाचने वाली नटी रूप गुणयुक्त बड़ी चटकीली तान गाके मंद मंद हँसी से मोह उत्पन्न करती थी । राजा जगदेवरिझवार, देखके, देने को विचार करता, परन्तु उसके योग्य कोई द्रव्य नहीं पाया तब नटी से कहा कि "मैंने अपना सीस तुझको दिया, काटले ।" नटी ने उत्तर दिया कि "सीस अब मेरा है, अभी मैं आपके ही पास रखती हूँ ॥"

(७८४) टीका । कवित्त । (५६)

दियौ कर दाहिनो मैं, यासों नहीं जाचौं कहूं, सुनि एक राजा भेदभाव सों बुलाई है । निर्त्तकरि गाई रीझि "लेवौ कही;" आई "देहु" ओड़्यो बायों हाथ; रिस भरिकै सुनाई है ॥ "इतौ अपमान;" "पानि दछिन लै दियौ अहो नृप जगदेवजू कों;" "ऐसी कहा पाई है ?" । "तासों दसगुणी लीजै, मोको सो दिखाय दीजै;" "दई नहीं जाय काहू, मोहिये सुहाई है" ॥ ६०६ ॥ (२४)

वार्त्तिक तिलक ।

जब जगदेव ने मस्तक दे दिया तब नटी ने कहा कि "मैंने अपना दाहिना हाथ आपको दिया, अब इस हाथ से किसी से न मांगूंगी और न लूंगी ॥

यह सुनकर उस नटी को एक राजा भेदभाव से बुलाकर नाच करा और रीझ के कुछ देने लगा । उसने बायां हाथ बढ़ाया । राजा रिसा के कहने लगा कि "बायाँ हाथ पसार तुम हमारा अपमान करता हो ?" उसने उत्तर दिया कि "मैं अपना दाहिना हाथ राजा जगदेवजी को दे चुकी हूँ, उसके समान वस्तु दूसरा कौन दे सकता है ?"

राजा कहने लगा कि "उसने क्या दिया ? मुझे दिखादो; मैं उससे दशगुणी वस्तु दूंगा ।" नटी बोली कि "उसने मुझे बहुत प्यारी वस्तु दी है सर्वस्व दिया है; वैसा कोई भी नहीं दे सकता ॥" एक महात्मा ने लिखा है कि वह नटी श्रीकाली का अंश अवतार थी ॥

(७८५) टीका । कवित्त । (५८)

कितौ समझावै "ल्यावौ" कहै, यहै जक लागी, गई बड़भागी

पास "वस्तु मेरी दीजियै"। काटि दियो सीस, तन रहै ईश शक्ति लखो, ल्याई बकसीस थार ढांपि, देखि लीजियै॥ खोलि कै दिखायो, नृप मुरछा गिरायो तन, धन की न बात अब याकौ कहा कीजियै। मैं जु दीनौ हाथ जानि आनि ग्रीव जोरि दई लई वही रीझि पद तान सुनि जीजियै॥ ६०७॥ (२३)

वार्त्तिक तिलक।

नटी ने बहुत समझाया, पर उस राजा ने बड़ी हठ से कहा कि "वह वस्तु लेही आवो॥"

नटी ने जगदेव के पास जाके कहा कि "मेरी वस्तु मुझे दीजिये।" राजा ने अपना सीस काट दिया। नटी नें शरीर को बड़े यत्न से रखवा सीस को थाल में धरके ढाँक के इस राजा के पास लाकर दिखाके कहा कि "श्रीजगदेवजी की दी हुई वस्तु देखो।" देखते राजा मूर्च्छित हो गिर पड़ा, कहने लगा कि "धन तो है नहीं यह तो मस्तक है, यह मैं कैसे दे सकता हूँ?" नटी ने कहा कि "ऐसी वस्तु पाकर तब अपना दाहिना हाथ दे दिया है॥"

फिर उस नटी की शक्ति देखिये कि माथा लाकर जगदेवजी के गले में जोड़कर वही पद तान गाने लगी, सीस जुड़ गया, वह जी उठा॥

(७८६) टीका। कवित्त। (५७)

सुनी जगदेव रीति, प्रीति नृपराज सुता पिता सों बखानि कही वाही कौ लै दीजियै॥ तब तौ बुलाये समझाये बहु भाँति खोलि वचन सुनाये, "अजू बेटी मेरी लीजियै"॥ नट्यो सतबार जब कही "डारौ मारि," चले मारिबे कौं, बोली वह "मारौ मत भीजियै"। "दृष्टि सो न देखै" कही "ल्यावौ काटि मूँड़;" लाए, चाहै सीस आँखिन को, गयौ फिरि, रीझियै॥ ६०८॥ (२२)

वार्त्तिक तिलक।

रूप और गान पर कौन नहीं रीझता? जगदेवजी का यह सब वृत्तांत एक बड़े राजा की बेटी ने सुन उस पर प्रीति से आसक्त होकर,

१ "बकसीस"=بخشش=पारितोषिक॥

अपने पिता से कहा कि "मेरा उसी से विवाह कर दो।"

दो० "विद्या अरु बेली, तिया, ये न गनैं कुल जाति।
जो इनके नियरे बसैं, ताही को लपटाति॥ १॥"

"प्रीति न जानै जात कुजात। भूख न जानै रूखा भात॥"

तब वह जो बड़ा राजा था कि जिसके राज के अंतर्गत जगदेव राजा था, सो उसने जगदेव को बुलाकर बहुत प्रकार समझाकर खुलके कहा कि "मेरी बेटी तुम लो॥"

इसने नहीं अंगीकार किया। तब उस राजा ने जगदेव के मार डालने की आज्ञा दी। उसकी बेटी ने कहा कि "मैं उसके प्रेम में डूबी हूँ, मारो मत, मेरे सामने लाओ।" लोगों ने कहा कि "तुम्हारी ओर दृष्टि नहीं करेगा;" तब वह दुष्टा बोली कि "सीस काट के लाओ" जब मस्तक काटकर लाये, राजा की बेटी जगदेवजी के नेत्रों को देखने लगी; तब सीस का मुँह फिर गया। यह बात रीझने समझने योग्य है॥

(७८७) टीका। कवित्त। (७६)

निष्ठा रिझवार रीति कीनी विस्तार यह सुनौ साधु सेवा हरीदास जू ने करी है। परदा न संत सों है देत हैं अनन्त सुख रह्यो रुख जानि भक्त सुता चित धरी है॥ दोऊ मिलि सोवैं रितु ग्रीषम की छात पर गात पर गात सोये सुधि नहीं परी है। दातुन के करिबे को चढ़े निसि सेस आप चादर उढ़ाय नीचे आए ध्यान हरी है॥६०६॥ (२१)

वार्त्तिक तिलक।

यह तो जगदेव रिझवार-निष्ठा विस्तार से वर्णित हुई। अब जिस प्रकार श्रीहरीदासजी ने साधु-सेवा की है सो सुनिये। आपके गृह में साधु मात्र को ओट (परदा) नहीं था, अनेक प्रकार से सेवा कर सुख देते थे। खान पान पाकर एक बेषधारी आपके यहाँ रह गया, सो हरीदासजी की कन्या से विषयासक्त हो गया। एक दिवस ग्रीष्म ऋतु में छत पर दोनों इकट्ठे सोते थे; श्रीहरीदासजी कुछ रात्रि शेष में प्रभाती (दतुअन) करने के लिये अकस्मात् कोठे पर चढ़े; सो

दोनों को देख के अपना दुपट्टा ओढ़ाकर, नीचे आ श्रीभगवत् का ध्यान करने लगे ॥

दो० "या भव पारावार को, उलँघि पार को जाय ।
तिय छबि छाया ग्राहिनी, बीचहि पकरय आय ॥ १ ॥
रसन सिसन संजम करै, प्रभु चरनन तर वास ।
तबहीं निश्चै जानिये, राम मिलन की आस ॥ २ ॥"

(७८८) टीका । कवित्त । (५५)

जागि परे दोऊ, अरबरे देखि चादर कों, पेखि पहिचानी सुता पिताही की जानी है । संत दृग नये चले बैठे मग पग लये गये लै एकांत में यों बिनती बखानी है ॥ "नेकु सावधान ह्वैकै कीजिये निसंक काज, दुष्टराज छिद्र पाय कहै कटुबानी है । तुमको जु नाव धरै जरै सुनि हियौ मेरौ, डरै निन्दा आपनी न होत सुखदानी है ॥ ६१०॥ (२०)

वार्त्तिक तिलक ।

दोनों जागे और दुपट्टा देख घबड़ा गये; कन्या ने पहिचाना कि यह मेरे पिता ही का वस्त्र है, नामका साधु ऊपर से उतर लज्जा से नेत्र नवाये चला; श्रीहरीदास मार्ग में नीचे बैठे थे देखकर, उसके चरणों में प्रणाम कर एकान्त में ले गये और विनयपूर्वक शिक्षा करने लगे कि "ऐसा कार्य युक्ति सावधानी से किया करिये, निःसंक होकर करने में दुष्ट लोग छिद्र देख पाय कटुबानी कहते हैं; आप सब संतों की निन्दा सुन मेरा हृदय जलेगा इससे मैं डरता हूँ; सन्त की निन्दा अपनी ही निन्दा है सो अपनी निन्दा सुख देनेवाली नहीं होती है (वा, सन्त की निन्दा अप्रिय है मुझे, और मैं अपनी निन्दा से नहीं डरता, वह तो सुखदाई है, "निन्दकबपुरा प्राण हमारा") ॥

(७८९) टीका । कवित्त । (५४)

इतनी जतावनी में भक्तिकों कलंक लगै, ऐपै संक वही, साधु घटती न भाइयै । भई लाज भारी, बिषैबास धोय डारी नीके, जीके दुख रासि, चाहै कहूँ उठि जाइयै ॥ निपट मगन किये नाना बिधि सुख दिये,

दिये पै न जान, "मिल लालन लड़ाइयै" । गोबिन्द अनुज जाके बाँसुरी कौ साँचोपन मन मैं न ल्यायौ नृप इहि बिधि गाइयै ॥ ६११ ॥ (१६)

वार्त्तिक तिलक।

मैंने आपको इतनी बात जो जताई सो मैं उचित नहीं समझता मानो मेरी भक्ति में इतना कलंक सरीखा लगा, पर क्या करूँ ? साधु की निन्दा वा घटती मुझे नहीं अच्छी लगती इससे इतना कहा है । सुनकर उस साधु को बड़ी भारी लज्जा और ग्लानि हुई, सब विषय दुर्गंध को छोड़ मन में बड़ा दुखी हो, वहाँ से चले जाने को चाहा; परन्तु आपने बहुत समझाकर उसको अनेक प्रकार का सुख दे रक्खा और कहा कि "मैं और आप मिलजुलकर प्रभु को लाड़लड़ाएँ ॥"

श्रीहरीदासजी के छोटे भाई "श्रीगोविन्द" जी थे उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि श्रीकृष्णचन्द्रजी के आगे और संतों के समीप में बहुत उत्तम बाँसुरी बजाते थे। यह सुन बादशाह ने कहा कि "मुझे बाँसुरी सुना दो।" पर आपने किसी प्रकार उसके समीप नहीं बजाया। अपनी टेक नहीं छोड़ी ॥

इस प्रकार हमने श्रीहरिदासजी की कथा गान की ॥

"टेक एक बंशी तनी "जन गोबिंद" की निर्बही ॥ युगलचन्द किरपाल तासु को दास कहावै। बादशाह सों पैंज हुकुम नहिं बेणु बजावै ॥ &c. &c.

☞ज़िला मिर्ज़ापूर "चुनार" के पण्डित श्रीभानुप्रतापतिवारी जी, जिन्होंने श्रीकबीरजी की साखी, तथा श्रीगोस्वामीजी की विनयपत्रिका और भक्तमाल को अंग्रेजी में उल्था किया है, इन महाशय से भी मुझे समय समय पर सहायता मिली है। इसके लिये इन महाशय को मेरे अनेक धन्यवाद हैं। शोक की बात है कि इनकी ये तीनों पुस्तकें छपीं नहीं ॥

(२११) श्रीकृष्णदासजी।

(७९०) छप्पय। (५३)

नन्दकुँवर "कृष्णदास" कों, निज पग तें नूपुर दियौ॥ तान मान सुर ताल सुलय सुंदरि सुठि सोहै। सुधा अंग भ्रूभंग गान उपमाको को है॥ रत्नाकरसंगीत, रागमाला, रँगरासी। रिझये राधालाल, भक्तपद-रेनु उपासी॥ स्वर्णकार "खरगू" सुवन, भक्तभजन-पद दृढ़ लियौ। नन्दकुँवर "कृष्णदास" कों, निज पग तें नूपुर दियौ॥ १८०॥ (३४)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकृष्णदासजी को नृत्य करते समय में श्रीनन्दकुमारजी ने अपने चरणों से नूपुर (घुँघुरू) निकालके पहना दिया। आप नृत्यभेद और गान में बड़े प्रवीण थे। पद तान का प्रमान स्वर ताल अच्छी लय ये सब आपके गान नृत्य में अंग सुन्दर शोभते थे। सुधा भ्रूभंग आदिक व्यंजक अभिनय और गान अनुपम था। संगीतरत्नाकर और रागमाला, रंगरासि आदि में जो गान नृत्य के भेद लिखे हैं सो सब आप जानते थे। इन गुणों से श्रीराधालालजी को प्रसन्न कर लिया। श्रीहरिभक्तों के चरणरेणु के उपासक स्वर्णकार (सोनार) "श्रीखड़गू-जी" के पुत्र (कृष्णदासजी) ने भगवद्भक्तों के भजन का पद दृढ़कर ग्रहण किया॥

जिनको गाना भले प्रकार आता है, जिनका स्वर अति मधुर है, जिनको प्रेम के पद बहुत कण्ठस्थ हैं वा स्वयं रच सकते हैं, और गाने के समय जो रस का अनुभव करते हैं, उन बड़भागियों की प्रशंसा किससे हो सकती है॥

(७९१) टीका। कवित्त। (५२)

कृष्णदास ये सुनार राधाकृष्ण सुखसार, लियौ सेवाकरि पाछे

नृत्य बिसतारियै। ह्वै करि मगन काहू दिन तन सुधि भूली, एक पग नूपुर सो गिस्यौ न सँभारियै ॥ लाल अति रंग भरे जानी जति भंग भई पाँय निज खोलि आय बाँध्यौ सुख भारियै। फेरि सुधि आई देखि धारा लै बहाई नैन कीरति यों छाई जग भक्ति लागी प्यारियै ॥ ६१२ ॥ (१८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीकृष्णदासजी सोनार ने श्रीराधाकृष्णजी की भक्ति का सुखसार लिया। पहिले सप्रेम सेवा-पूजा करते, पीछे प्रभु के आगे नृत्य विस्तार करते थे ॥

एक दिन नाचते समय आनन्द में मग्न हो शरीर की सुधि भूल गए। एक चरण का नूपुर गिर गया। उसको आपने सुधारा नहीं। श्रीनन्दलालजी ने नृत्य देख रंग में भरे जाना कि नृत्य की जति गति भंग हुआ चाहती है; इससे अपने चरण का नूपुर खोल कृष्णदास के पग में बाँध अति सुख पाया। फिर पीछे जब देह की सुधि हुई तब देखें तो अपना नूपुर भूमि में पड़ा है और प्रभु का नूपुर अपने पग में ॥

प्रभु की कृपालुता को समझ नेत्रों से प्रेमजल की धारा बहने लगी। इसी प्रकार आपकी कीर्ति जग में छा गई, और भक्ति सबको प्रिय लगी ॥

(७६२) छप्पय। (५१)

परमधर्म प्रति पोषकौं, संन्यासी ए मुकुटमनि ॥ चितसुखटीकाकार भक्ति सर्वोपरि राखी। श्रीदामोदर तीर्थ राम अर्चन विधि भाखी ॥ चन्द्रोदय हरिभक्ति नरसिंहारन्य कीनी। माधौ, मधुसूदन सरस्वती, परमहंस कीरति लीनी ॥ प्रबोधानंद, रामभद्र जगदानंद,

कलिजुग्ग धनि। परमधर्म प्रति पोषकौं, संन्यासी*ए मुकुटमनि ॥ १८१ ॥ (३३)

वार्त्तिक तिलक ।

परमधर्म अर्थात् श्रीभगवद्भक्ति को अपने २ ग्रन्थद्वारा परमपुष्ट करनेवाले ये संन्यासी सब संन्यासियों के मुकुटमणि के समान हरिभक्त हुये ॥

(१) चितसुखानन्द सरस्वती ने गीता आदिक की चितसुखी टीका में श्रीभक्ति ही को सर्वोपरि वर्णन किया है ।

(२) श्रीदामोदरतीर्थजी ने श्रीरामार्चन चंद्रिका में श्रीरामपूजन-विधि भक्तिपूर्वक वर्णन किये हैं । देखने योग्य है ॥

(३) नृसिंहारण्यजी ने श्रीहरिभक्तिचंद्रोदय ग्रंथ सप्रेम निर्माण किया ॥

(४।५) मधुसूदन सरस्वतीजी ने भक्तिरसायन आदिक ग्रंथ बनाये । ऐसे ही माधवानन्द सरस्वतीजी हुये। इन्होंने परमहंस कीर्ति का लाभ लिया ॥

(६) श्रीप्रबोधानन्दजी (७) श्रीरामभद्रसरस्वतीजी ।

(८) श्रीजगदानन्दजी श्रीहरिभक्तिप्रतिपोष करनेवाले कलियुग में धन्यतर हुये ॥

---

(२१२) श्रीप्रबोधानंदसरस्वतीजी ।

(७६३) टीका । कवित्त । (५०)

श्रीप्रबोधानंद, बड़े रसिक आनन्दकन्द, श्री "चैतन्यचन्द" जू के पारखद प्यारे हैं । राधाकृष्णकुंजकेलि, निपट नवेलि कही, झेलि रसरूप, दोऊ किए दृग तारे हैं ॥ बृन्दाबन बास कौ हुलास लै प्रकाश कियौ, दियौ सुखसिंधु, कर्म धर्म सब टारे हैं। ताही सुनि सुनि कोटि कोटि जन रंग पायो, बिपिन सुहायौ बसे तन मन वारे हैं ॥ ६१३ ॥ (१७)

---

* "संन्यासी"=वैरागी, उदासी, वियोगी और विरक्त ॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीप्रबोधानन्दजी बड़े ही रसिक, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचैतन्यजी के प्रिय पार्षद थे। श्रीराधाकृष्णकुंजकेलि अति नवीन वर्णन किया और रूपरस को पान कर युगलचन्द को अपने नेत्रों के तारे कर लिये। आपने अपने काव्य में श्रीवृन्दावनवास के उल्लास का प्रकाश कर उपासकों को सुखसिंधु में मग्न किया और कर्म धर्म को न्यारे करदिया। उस ग्रंथ को सुन २ के करोड़ों लोगों ने प्रेमरंग को पाया। आपने स्वयम् सुन्दर श्रीवृन्दावन में बसके तन मन धन सब न्यवछावर करदिये॥

---

(२१३) श्रीद्वारकादासजी।

(७९४) छप्पय। (४९)

अष्टांग जोग तन त्यागियौ, "द्वारिकादास" जानै दुनी॥ सरिता "कूकस" गाँवसलिल में ध्यान धर्‌यौमन। रामचरण अनुराग सुदृढ़ जाके साँचौ पन॥ सुत कलत्र धन धाम ताहि सों सदा उदासी। कठिन मोह कौ फन्द तरकि तोरी कुल फाँसी॥ "कील्ह" कृपा बल भजन के ज्ञान खड्ग माया हनी। अष्टाङ्ग जोग तन त्यागियौ, "द्वारिकादास" जानै दुनी॥ १८२॥ (३२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीद्वारिकादासजी, क्रम से यम[1], नियम[2], आसन[3], प्राणायाम[4], प्रत्याहार[5], धारणा[6], ध्यान[7], इन सातों अंगों को साधके, आठवें अंग समाधि में स्थित होकर, ब्रह्मरंध्र फोड़, तन त्यागके, श्रीरामधाम को प्राप्त हुये, यह सब संसार जानता है॥

कूकस ग्राम के निकट, नदी के जल में स्थित हो, मन में ध्यान धरा। आपके प्रेमभक्ति का प्रण सच्चा था इससे श्रीरामचन्द्रचरणों

---

१ "दुनी"=دنیا=दुनिया. संसार॥

में अतिशय दृढ़ अनुराग कर, स्त्री पुत्र धन धाम आदिकों से सदा उदासीन हो, कठिन मोहजाल की सब फाँसियाँ तोड़ दीं। अपने गुरु स्वामी श्रीकील्हदेवजी की कृपादत्त भजन के बल से, ज्ञानखड्ग ले, अविद्या माया को नाश कर, अष्टांग योग से तन त्याग, श्रीराम-धाम में जा बसे ॥

(२१४) श्रीपूर्णजी ।

(७९५) छप्पय । (४८)

पूरन प्रगट महिमा अनंत, करिहै कौन बखान ॥ उदै अस्त परबत गहिर मधि * सरिता भारी । जोग जुगति बिस्वास, तहां दृढ़ आसन धारी ॥ व्याघ्र सिंघ गुंजैं खरा कछु संक न मानै । अर्द्धन जातैं पौन उलटि ऊरध कौं आनै ॥ साखि शब्द निर्मल कहा, कथिया पद निर्बान । पूरन प्रगट महिमा अनंत, करिहै कौन बखान ॥ १८३ ॥ (३१)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीपूर्णदासजी की अनंत महिमा प्रगट हुई उसको कौन बखान सकेगा। उदयाचल और अस्ताचल के मध्य में जितनी नदियाँ हैं, उन सबों में अति गहिरी सरिता श्रीगंगाजी के निकट, हिमाचल में आप योगयुक्ति से भगवत् के विश्वासपूर्वक दृढ़ आसन धारण कर, ध्यान समाधि लगा, समीप में व्याघ्र सिंह खड़े हुये गर्जते थे, अपने अपान वायु को प्राण में मिलाकर ऊर्ध्व ही को ले जाते, नीचे नहीं जाने पाता। आपने साखी, शब्द, निर्मल कहकर निर्वान पद मोक्ष का उपाय वर्णन किया। निश्चय होता है कि ये पूर्णजी वही हैं कि जिन "पूर्ण विराटीजी"-का 'द्वारा' है।

---

* अर्थात् श्रीगंगाजी ॥

(२१५) श्रीलक्ष्मणभट्टजी ।

(७९६) छप्पय । (४७)

श्रीरामानुज पद्धति प्रताप, "भट्ट लक्ष्मन" अनुसर्यौ ॥ सदाचार मुनिवृत्ति भजन भागौत उजागर । भक्तनि सों अति प्रीति भक्ति दसधा[1] कौ आगर ॥ संतोषी सुठि सील हृदै स्वारथ नहिं लेसी ॥ परम धर्म प्रतिपाल संत मारग उपदेसी ॥ श्रीभागौत बखान के, नीर क्षीर बिबरन[2] कर्यौ । श्रीरामानुज पद्धति प्रताप, "भट्ट लक्ष्मन" अनुसर्यौ ॥ १८४ ॥ (३०)

वार्त्तिक तिलक ।

अनन्त श्रीरामानुजस्वामीजी की पद्धति (संप्रदाय) के प्रताप से श्रीलक्ष्मणभट्टजी शरणागति भक्तिमार्ग में यथार्थ प्रवृत्त थे। सदाचार तथा मुनिवृत्ति से भजन करनेवाले उत्तम भागवत हुये। और भगवद्भक्तों से अति प्रीति करते, दशधा (प्रेमा) भक्ति के स्थान ही थे। अति संतोषी, परम सुशील, स्वार्थरहित परमधर्म प्रतिपालक, संतमार्ग के उपदेश करनेवाले थे। श्रीभागवत की कथा कहकर नीररूपी मायिक पदार्थ और क्षीररूपी परमार्थ वस्तु दोनों का विवरण करके पृथक् २ दिखा देते थे। ऐसे विराग ज्ञान भक्ति के धाम आप थे ॥

---

(२१६) स्वामी श्रीकृष्णदास पयहारीजी ।

(७९७) कुण्डलिया । (४६)

गलतें गलित अमित गुण, सदाचार सुठि नीति । दधीचि पाछें दूसरि करी, कृष्णदास कलि जीति ॥

---

१ "दसधा"=पराभक्ति (नवधा के परे)। २ "विवरन"=विवेक। ३ छप्पय ३८ कवित्त ११९ देखिये ॥

कृष्णदास कलिजीति, न्यौति नाहर पल दीयौ। अतिथि-धर्म प्रतिपालि, प्रगट जस जग में लीयौ॥ उदासीनता अवधि, कनक कामिनि नहिं रातो। रामचरण मकरंद रहत निसि दिन मदमातो॥ गलतें गलित अमित गुण, सदाचार सुठि नीति। दधीचि पाछें दूसरि करी, कृष्णदास कलि जीति॥१८५॥ (२९)

वार्त्तिक तिलक।

जैसे दधीचिऋषिजी ने देवताओं के माँगने से अपना शरीर दे दिया, ऐसे ही दधीचिगोत्र में उत्पन्न श्रीस्वामी कृष्णदास पयहारीजी ने कलिकाल को जीत दधीचि की नाईं दूसरी बात की। एक समय आपकी गुफा के सामने बाघ आया तो आपने उसको अतिथि जान नेवताकर आतिथ्यधर्म प्रतिपालपूर्वक अपना पल (मांस) काटके दिया। इस प्रकार के प्रसिद्ध यश को आप जग में प्राप्त हुये॥

उदासीनता (वैराग्य) की मर्यादा हुये। और इस संसारसागर में जो कनककामिनीरूप दो भँवर सबको डुबा देनेवाले हैं, उन दोनों के रंग से आप नहीं रँगे। केवल श्रीरामचरणकमल के अनुरागरूपी मकरंद से भ्रमर की नाईं मदमत्त आनन्दित रहते थे। संतों के अमित दिव्य गुणों से गलित अर्थात् परिपक्व, सदाचार, अति नीतियुक्त, "गलते" गादी में विराजमान हुये॥

(७६८) टीका। कवित्त। (४५)

बैठे हे गुफा में, देखि सिंह द्वार आय गयो, लयौ यों बिचारि "हो अतिथि आज आयो है" दई जाँघ काटि डारि, "कीजियै अहार अजू" महिमा अपार धर्म कठिन बतायो है॥ दियौ दरसन आय, साँच मैं रह्यो न जाय, निपट सचाई, दुख जान्यौ न बिलायो है। अन्न जल देवै ही कों झींखत जगत नर, करि कौन सकै जन मन भरमायो है॥६१४॥ (१६)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय स्वामी श्री ६ कृष्णदासजी गलता की गुफा में बैठे थे देखें तो एक व्याघ्र आकर खड़ा है। आपने विचार किया कि "यह कभी यहाँ नहीं आया इससे हमारा अतिथि है, इसको भोजन देना चाहिये।" अपनी जंघाओं का मांस काटकर उसके आगे डाल दिया और कहा "कि इसका आहार करो।" देखिये आपकी अपार महिमा, हिंसक अतिथि को भी भोजन देना बताया अर्थात् अपनी करनी से उपदेश दिया। वह मांस खाकर व्याघ्र चला गया। श्री ६ कृष्णदासजी की यह धर्मपालनरूप अतिशय सचाई देख परम धर्मधुरंधर श्रीरामजी से नहीं रहा गया; कोटि कामअभिरूप से आकर दर्शन दिये और मस्तक पर कमलकर धर सब दुःख दूर कर दिये। जंघा भी ज्यों की त्यों होगई। श्री १०८ पयहारीजी नयनानन्द पाकर कृतार्थ हुये॥

देखिये, लोग अतिथि को अन्न जल देने में झँखते हैं, आपके समान कर्म कौन कर सकता है इस बात को मन में विचार करने से ही जीव घबड़ा जाते हैं सो कर कैसे सकैं?॥

---

(२१७) श्रीगदाधरदासजी।

(७६६) छप्पय। (४४)

भलीभांति निबही भगति, सदा "गदाधरदास" की॥ लालबिहारी जपत रहत निशिबासर फूल्यौ। सेवा सहज सनेह सदा आनँद रस झूल्यौ॥ भक्तनि सों अति प्रीति रीति सबही मन भाई। आसय अधिक उदार रसन हरि-कीरति गाई॥ हरि विश्वास हिय आनिकै, सुपनेहुँ आन न आस की। भली भाँति निबही भगति, सदा "गदाधर-दास" की॥१८६॥(२८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगदाधरदासजी की भक्ति, आदि से अन्त तक सदा एकरस भले प्रकार से निबह गई। प्रफुल्लित मन से दिन रात श्री "लालविहारी" जी का नाम जपते रहते थे, और प्रभुकी सेवा सहज स्नेह से किया करते। सदा आनन्द के रस से झूलते भगवद्भक्तों से अति प्रीति रखते थे॥

आपकी रीति सबके मन में भाती थी और अन्तःकरण की आशय अतिशय उदार रही। रसना से हरिकीर्त्ति गाते, हृदय में श्रीहरि का विश्वास लाते; किसी और की आशा आपने स्वप्ने में भी नहीं की॥

(८००) टीका। कवित्त। (४३)

बुरहानपुर ढिग बाग तामें बैठे आय करि अनुराग गृह त्याग पागे स्याम सों। गांव मैं न जात, लोग किते हाहा खात, सुख मानि लियौ गात, नहीं काम और काम सों॥ पर्यौ अति मेह, देह बसन भिजाय डारे, तब हरि प्यारे बोले सुर अभिराम सों। रहै एक साह भक्त कही जाय ल्यावौ उन्हैं मन्दिर करावौ तेरौ भर्यौ घर दाम सों॥ ६१५॥ (१५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगदाधरदासजी वैराग्य से गृह को त्याग के श्रीश्यामसुन्दर के प्रेम में पगे "बुरहानपुर" के निकट आकर बिराजे। लोग बहुत प्रार्थना करते, परन्तु आप ग्राम में नहीं जाते थे आपके मन और शरीर ने यहाँ ही सुख मान लिया। आप और कामों से प्रयोजन नहीं रखते थे॥

एक दिन मेघों ने जलकी बड़ी वर्षा की आपके सब वस्त्र भीग गये, भक्त का दुःख देख भगवान् को बड़ी दया लगी, तब एक भक्त सेठ को स्वप्न में अति अभिराम स्वर से आज्ञा दी कि तेरे घर में बहुत द्रव्य भरा है इससे जा मेरे प्रियभक्त गदाधरदास को लिवा ला सुन्दर मंदिर बनवा दे। तेरे घर में श्रीलक्ष्मीजी की कृपा बनी रहैगी॥

(८०१) टीका। कवित्त। (४२)

नीठ नीठ ल्याये हरि बचन सुनाए जब, तब करवायौ ऊंचौ मंदिर सँवारिकै। प्रभु पधराये, नाम "लाल" औ "बिहारी" स्याम अति अभिराम रूप रहत निहारिकै॥ करैं साधुसेवा जामें निपट प्रसन्न होत, बासी न रहत अन्न सोवैं पात्र झारिकै। करत रसोई जोई राखी ही छिपाय सामा आये घर संत, आप कही "ज्यावौ प्यारिकै"॥६१६॥ (१४)

वार्त्तिक तिलक।

वैश्य भक्त ने प्रभु की आज्ञा मान आपके पास आकर ग्राम में चलने की प्रार्थना की। नहीं अंगीकार किया; तब श्रीहरि के वचन सुनाए; बड़ी कठिनता से लिवालाये, और सुन्दर विचित्र ऊंचा मन्दिर बनवाके प्रभु को पधराया। ठाकुरजी का नाम "श्रीलालविहारी" जी रक्खा। अति सुन्दर श्याम स्वरूप को देखते प्रेम में मग्न हो जाते थे॥

सन्तों की सेवा ऐसी करते कि जिसमें साधु अति प्रसन्न होते थे; अन्न आदिक जो आता, सो दूसरे दिन को नहीं रहता, अन्न के पात्रों को (अशेष) झार करके सोते थे। परन्तु रसोई करनेवाले कुछ सामग्री भगवत् के भोग के लिये छिपा रखते थे। एक समय रात में संत आये; श्रीगदाधरदासजी ने रसोइयों पुजारियों से कहा कि "जो कुछ सामग्री होय सो प्रीतिपूर्वक बना के भोजन करावो॥"

(८०२) टीका। कवित्त। (४१)

बोल्यौ प्रभु भूखे रहैं ताके लिये राख्यौ कछू भाष्यो तब आप काढ़ौ भोर और आवैगौ। करिकै प्रसाद दियौ लियौ सुख पायौ सब सेवारीति देखि कही जग जस गावैगौ॥ प्रात भये भूखे हरि गए तीन जाम ढरि रहे क्रोध भरि कहै कबधौं छुटावैगौ। आयो कोऊ ताही समै दो सत रुपैया धरे बोले गुरु "सीस लै कै मारौ" कि तौ पावैगौ॥६१७॥ (१३)

वार्त्तिक तिलक।

आपके वचन सुन शिष्य बोला कि "ठाकुरजी भूखे रह जाते

हैं इसलिये थोड़ा सा अन्न रख छोड़ा है।" आपने कहा "वही निकाल के सन्तों को पवावो, प्रातःकाल और आवेगा।" शिष्य ने रसोई कर भोग लगा के सन्तों को दिया; सन्त प्रसाद पाकर सुखी हुये; श्रीगदाधरदासजी की सेवा रीति देख कहने लगे कि "आपका यश सब जगत् गावेगा॥"

प्रातःकाल कुछ आया नहीं; प्रभु भूखे ही रह गये! तीन पहर बीत गये!! तब आपके शिष्य क्रोध कर कहने लगे कि "देखो, अब तक भोग नहीं लगा, हम लोग भूखे मरते हैं, न जानें इस दुःख को ब्रह्मा कब छुड़ावेगा?" उसी समय कोई भक्त आकर श्री-गदाधरदासजी के सामने दो सौ रुपये पूजा रक्खी। आप बोल उठे कि "ये रुपये लेकर इसके माथे में मारो, जितनी इच्छा हो उतना पावै, भूख से व्याकुल हो रहा है॥"

(८०३) टीका। कवित्त। (४०)

डर्‌यो वह साह, "मत मोपै कछु कोप कियौ?" कियौ समाधान सब बात समझाई है। तब तौ प्रसन्न भयो अन्न लगै जितौ देत, सेवा सुख लेत, साधु रुचि उपजाई है॥ रहे कोऊ दिन, पुनि मधुपुरी वास लियौ, पियौ ब्रजरस लीला अति सुखदाई है। लाल लै लड़ाए, संत नीके भुगताए गुन जाने जिते, गाये, मति सुन्दर लगाई है॥ ६१८॥ (१२)

वार्त्तिक तिलक।

आपके वचन सुन वह भक्त सेठ डरगया कि "स्वामीजी ने कुछ मुझ पर तो क्रोध नहीं किया।" तब श्रीगदाधरदासजी ने सब बात समझाकर उस भक्त का समाधान किया। वृत्तान्त सुन सेठ प्रसन्न हुआ; और जितना अन्न लगता उतना देने लगा। उत्तम रुचि से साधुसेवा का सुख लेने लगा॥

आप कुछ दिन वहाँ रहकर फिर श्रीमथुरापुरी में आकर बसे। अति सुखदाई ब्रजलीलारस को पान किया; इस प्रकार आपने श्रीलालजी को लाड़ लड़ाया और भले प्रकार संतसेवा का सुख लिया।

"हम आपके जितने गुण (यश) जानते थे उतने सुन्दर मति लगा के गान किये॥"

दो गदाधरजी श्रीकृष्ण चैतन्यमहाप्रभु के चौंसठ महन्तों में थे। एक गदाधरदास श्री ६ कृष्णदास पयहारीजी के शिष्य थे। एक गदाधरजी बाँदावाले, और एक गदाधरजी श्रीवल्लभाचार्यजी के शिष्यों में थे। श्रीगदाधर वाणी बड़ी उत्कृष्ट कविता हुई॥

---

(२१८) श्रीनारायणदासजी।

(८०४) छप्पय। (३६)

हरिभजन सींव स्वामी सरस, श्रीनारायणदास अति॥ भक्ति जोग जुत, सुदृढ़ देह, निज बल करि राखी। हिये सरूपानन्द, लाल जस रसना भाखी॥ परिचै प्रचुर प्रताप जानमनि रहस सहायक। श्रीनारायण प्रगट मनों लोगनि सुखदायक॥ नित सेवत संतनि सहित, दाता उत्तर देसगति। हरिभजन सींव स्वामी सरस, श्रीनारायणदास अति॥ १८७॥ (२७)

वार्त्तिक तिलक।

अति सरस मतिवाले श्रीहरि भजन की सीमा स्वामी श्रीनारायणदासजी हुये। अतिशय दृढ़ भक्तियोग से युक्त अपने देह को वीर्य बल के सहित कर रक्खा, और स्वरूपानन्द में मन मग्न किया। जीभ से श्रीलालजी के नाम और यश कहा करते थे। अपने विख्यात प्रताप से परिचय भी दिया; ज्ञानियों में शिरोमणि भगवत् रहस्य के सहायक थे। आपकी बड़ाई कहाँ तक की जाय लोगों को सुख देने के लिये मानो साक्षात् श्रीनारायण स्वयं प्रगट हुये। हित सहित नित्य संतों की सेवा करते, उत्तर देश बदरिकाश्रम के जीवों को गति देनेवाले हुये॥

"श्रीनारायणभट्टजी, (जिनकी कथा मूल ८७ कवित्त ३५६ में कह

आए हैं,) "भट्ट नारायन अति सरस, ब्रजमण्डल सों हेत, ठौर ठौर रचना करी, प्रगट कियो संकेत॥" सो भास्करजी के पुत्र श्रीसनातन गोस्वामी के शिष्य थे। बताते हैं कि उनका जन्म संवत् १६२० (१५६३ ई०) में हुआ था। Sir George Grierson ने भी १५६३ ई० लिखी है। सं० १६८८ में आपका जन्म किसी ने भूल से लिखा है। आपका "ब्रजभक्तिबिलास" नामक ग्रन्थ श्रीराधाकृष्णदास के मतानुसार १५५३ ईसवी में बना। एक श्रीनारायणदास की कथा मूल १४६ कवित्त ५६१।५६२ में कही है। और एक नारायणदासजी इस (मूल १८७) में वर्णित हैं। इत्यादि। इत्यादि॥"

श्रीतपस्वीरामजी सीतारामीय॥

(८०५) टीका। कवित्त। (३८)

आये बद्रीनाथजू तें, मथुरा निहारि नैन, चैन भयौ, रहैं जहां केसौजू कौ द्वार है। आवैं दरसनी लोग जूतिन कौ सोग हिये, रूप कौ न भोग होत कियो यों बिचार है॥ करैं रखवारी, सुख पावत हैं भारी, कोऊ जानै न प्रभाव, उर भाव सो अपार है। आयो एक दुष्ट पोट पुष्ट सो तौ सीस दई, लई, चले मग ऐसौ धीरज कौ सार है॥ ६१६॥ (११)

वार्त्तिक तिलक।

स्वामी श्रीनारायणदासजी बद्रीनाथ (बदरिकाश्रम)जी से आकर मथुराजी को नेत्रों से देख अति आनन्दित हुये, फिर श्रीकेशवदेवजी के द्वार पर रहने लगे। वहाँ पर दर्शन करनेवाले लोग आते थे, उनके जोड़े (पनही) चुरा ले जाने की संका मन में बनी रहती थी॥

दो० "हरि के मन्दिर जात हैं, हरिदर्शन के आस।
लम्बी दँडवत करत, पर, चित्त पनहियन पास॥"

आपने विचार किया कि "इन सबको दुचितई से प्रभु के रूप दर्शन का सुख नहीं होता।" इससे आप द्वार पर बैठे जूतियों की रक्षा किया करते थे, गूढ़ और परहितरत सुभाव की बलिहारी। प्रभुरूपचिन्तवन से

भारी सुख में मग्न रहते थे, अन्तर के अपार प्रेमभाव का प्रभाव कोई नहीं जानता था ॥

एक दिन एक दुष्ट आया; ऊपर का वैष्णव वेष आपके नहीं देखा इससे बड़ी भारी गठरी आपके सीस पर रखवायके ले चला, आपने कुछ भी न कहा हरि ही की इच्छा समझे। ऐसे धैर्य दीनता और ज्ञान का सारांश आपके हृदय में था। बलिहारी और जयजय आपकी ॥

(८०६) टीका । कवित्त । (३७)

कोऊ बड़ौ नर, देखि मग पहिचानि लिये, किये परनाम भूमिपरि, भरिनेह कौ। जानिकै प्रभाव, पाँव लीने महादुष्ट हूँ नै, कष्ट अति पायो, छुट्यौ अभिमान देह कौ॥ बोले आप "चिंता जिनि करौ, तेरौ काम होत;" नैन नीर सोते "मुख देखौं नहीं गेह कौ"। भयौ उपदेश, भक्ति देस उन जान्यौ, साधु सक्तिकौ बिसेस, इहाँ जानौ भाव मेह कौ॥ ६२० ॥ (१०)

वार्त्तिक तिलक ।

मार्ग में किसी श्रीमान् भक्तनर ने देख पहिचानकर पूर्ण स्नेह से भूमि पर साष्टांग प्रणाम किया। तब वह दुष्ट भी आपका प्रभाव जान चरणों में गिर पड़ा; और देह का अभिमान छोड़ ग्लानि से दुखित हो रोने लगा। श्रीनारायणदासजी ने कहा कि "तुम चिंता मत करो, तुम्हारा यह कार्य मेरे शरीर से हुआ सो भला है ॥"

दो० "क्षमा बड़ेन को चाहिये, ओछन के उतपात।
कहा विष्णु को घटिगयो ? जो भृगु मारी लात ॥"

आपके ऐसे साधुता के वचन सुन वह नेत्रों में जल भरके प्रार्थना करने लगा कि "मैं अब घर का और घर के लोगों का मुख नहीं देखूँगा।" तब आपने कृपाकर उसको भक्तिमार्ग का उपदेश देकर कृतार्थ किया। देखिये, सन्तों की ऐसी शक्ति है कि जैसे मेघ दुष्ट और सज्जनों के खेत में समान वर्षा करते हैं, इसी प्रकार सन्त सब ही पर कृपादृष्टि वृष्टि कर कृतार्थ करते हैं ॥

---

(२१९) श्रीभगवानदासजी ।

(८०७) छप्पय । (३६)

भगवानदास श्रीसहित नित, सुहृद सील सज्जन सरस ॥ भजन भाव आरूढ़, गूढ़ गुन बलित ललित जस । श्रोता श्रीभागौत रहसि ज्ञाता अच्छर रस ॥ मथुरापुरी निवास आस पद संतनि इकचित । श्रीजुत "षोजी" "स्याम" धाम सुखकर अनुचर हित ॥ अति गंभीर सुधीर मति, हुलसत मन जाके दरस । भगवानदास श्रीसहित नित, सुहृद सील सज्जन सरस ॥१८८॥ (२६)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीभगवानदासजी नित्य ही भक्ति श्री के सहित, सर्वभूतों के सुहृद, शीलवान, सरस हृदय युक्त, अति सज्जन हुये । श्रीभगवद्भजन भावना में आरूढ़, प्रभुके गूढ़ गुण और ललित यश से आच्छादित अन्तःकरणवाले थे । श्रीभागवत कथा के रहस्य के और अक्षरोंके रस के जाननेवाले श्रोता थे । मथुरापुरी में बसते, और सन्तों के पद की अनन्य आशा चित्त में रखते थे । श्रीयुत खोजीजी तथा श्रीस्यामदासजी के गृह के सुखकारी हितकारी सेवक शिष्य थे । अति गंभीर, सुन्दर धीर मति युक्त थे, और अपने दर्शन से सब जनों के मनमें प्रेमानन्द का उल्लास करदेते थे ॥

(८०८) टीका । कवित्त । (३५)

जानिबेकों पन, पृथीपति मन आई, यों दुहाई, लै दिवाई "माला तिलक न धारियै" । मानि आनि मान लोभ, केतिकनि त्याग दिये; छिए, नहीं जात, जानि बेगि मारि डारियै ॥ भगवानदास उर भक्ति सुख-रास भर्‌यौ, कर्‌यौ लै सुदेस बेस; रीति लागी प्यारियै । रीझ्यौ नृप देखि, रीझि, मथुरा निवास पायौ, मंदिर करायौ, "हरिदेव" सों निहारियै ॥ ६२१ ॥ (६)

वार्त्तिक तिलक।

एक समय पृथ्वीपति (बादशाह) के मन में यह आया कि "बहुत से लोग माला और तिलक धारण किये रहते हैं, देखूँ तो कि इनमें सच्ची प्रीति और निष्ठा किसकी है?" इसलिये मथुरामें डौंड़ी (मुनादी) फिरवा दी कि "जो कोई माला तिलक धारण करेगा वह मार डाला जायगा।" उसकी आज्ञा मान अपने प्राण के लोभ से बहुत लोगों ने माला तिलक तज दिये। बहुत से लोग गृह में छिपे रहे, क्योंकि जानते थे कि जो पृथ्वीपति जानेगा तो शीघ्र मार डालेगा॥

परन्तु श्रीभगवानदासजी के हृदय में तो भक्तिसुख का सिन्धु भरा था, इससे सुन्दर दीर्घ द्वादस तिलक और बहुतसी तुलसीकी माला धारणकर पृथ्वीपति के समीप गये। देखके हृदय में प्रसन्न हो, ऊपर से रुष्ट होकर उसने पूछा कि "तुमने मेरी आज्ञा क्यों नहीं मानी?" आपने अशंक उत्तर दिया कि "हमारे मत में सिद्धान्त है कि जो माला तिलक धारण-कर प्राण त्याग करता है, वह अवश्य भगवान् के धाम को जाता है। इस लाभ के लिये आपकी आज्ञा को धन्य माना।" आपकी सच्ची निष्ठा देख नृपति ने पूछा कहा कि "जो इच्छा हो सो माँगो।" आपने कहा कि "मैं जीवनावधि मथुरा निवास चाहता हूँ।" उसने लिख दिया कि "मथुरा की अध्यक्षता जबतक जियो तबतक करो।" श्रीभगवानदासजी ने जन्मभर मथुरावास किया, और गोवर्द्धनजी के समीप श्रीहरिदेवजी का मन्दिर बनवाया सो अबतक विराजमान है, दर्शन करिये॥

---

(२२०) श्रीकल्याणसिंहजी।

(८०६) छप्पय। (३४)

भक्तपक्ष, उद्दारता, यह निबही "कल्यान" की॥ जगन्नाथ को दास निपुन, अति प्रभु मन भायो। परम पारषद समुझि जानि प्रिय निकट बुलायो॥ प्रान पयानो करत, नेह रघुपति सों जोरयो। सुत दारा धन

धाम मोह, तिनुका ज्यों तोस्यो॥ कौंधनी ध्यान उर में लस्यो, "राम" नाम मुख "जानकी"। भक्तपच्छ, उद्दारता, यह निबही "कल्यान" की॥ १८६॥ (२५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवद्भक्तों का पक्ष करना और उदारता अर्थात् धन आदिक पदार्थ तथा प्राणतक दूसरे को दे देना, श्रीरामकृपा से ये दोनों बातें नोनेरे नगरवाले श्रीकल्यानसिंहजी की, जीवनपर्य्यन्त निबह गईं। आप श्रीजगन्नाथजी की दासता में अति निपुण थे और श्रीप्रभु के मन में भाते थे। श्रीजगन्नाथजी ने अपना परम पार्षद विचार, प्रिय जान, अपने निकट बुला लिया। अन्त में प्राण त्याग करते समय अपना स्नेह केवल श्रीरघुनन्दनजी से लगाया, और स्त्री पुत्र धन धाम आदिकों का मोह तृण के समान तोड़ डाला। "जरौ सो सम्पति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ। सन्मुख होत जो रामपद, करै न सहज सहाइ॥" आप ऐसे बड़भागी थे कि अन्त में श्रीरघुवरजी के कटि कौंधनी (करधनी) का ध्यान हृदय में साक्षात् आगया और मुख से "श्रीजानकी राम" नाम उच्चारणकर प्राण को त्यागके साकेत श्रीरामधाम को प्राप्त हुये॥

श्रीहरिभक्तों के पक्ष करने का एक वृत्तान्त यह है कि एक समय अपने स्थान नोनेरे नगर से अपने भाई अनूपसिंह के सहित उत्सव दर्शनार्थ श्रीवृन्दावन को चले जाते थे मार्ग में देखा कि एक धनी सरावगी दुष्ट एक दीन वैष्णव को दुःख दे रहा है। आपने इन वैष्णव साधु का पक्षकर उस दुष्ट से बचा लिया तथा धनादिक दे सुखी कर दिया॥

श्रीराधाकृष्णदासजी के अनुमान में श्रीरूप गोस्वामी के शिष्य कल्यानदास यही महानुभाव हैं परन्तु शृङ्गारनिष्ठावाले श्रीकल्यानदासजी और दास्यनिष्ठावाले कल्यानसिंहजी दो जान पड़ते हैं॥

(२२१।२२२) श्रीसंतदास; श्रीमाधवदास।

(८१०) छप्पय। (३३)

सोदर "सोभूराम" के, सुनौं संत तिनकी कथा॥ "संतराम" सदवृत्ति जगत छोई[1] करिडास्यो। महिमा महाप्रवीन भक्ति वित धर्म विचास्यो॥ बहुस्यो "माधवदास" भजन बल परचौ दीनौ। करि जोगिनि सों बाद बसन पावक प्रति लीनौ॥ परम धर्म बिस्तार हित, प्रगट भए नाहिन तथा। सोदर "सोभूराम" के, सुनौ संत तिनकी कथा॥१६०॥ (२४)

वार्त्तिक तिलक।

हे सन्तजनो! श्रीसोभूरामजी के दोनों भाइयों की कथा सुनिये। श्रीसन्तदासजी ने सद्वृत्तियुक्त, जगत् को छोई (सीठी) के समान निरस तुच्छ जानके छोड़ दिया, और भगवद्धर्म भक्ति ज्ञान को प्रवीनता से विचारकर हृदय में धारण किया; इससे आपकी महा-महिमा हुई॥

दूसरे भ्राता श्रीमाधवदासजी ने भजन के बल से ऐसा परचौ दिया कि एक समय कनफटे योगी लोग आपसे विवाद करते बोले कि "हम अपने शृंग और मुद्रा को अग्नि में डालते हैं, और तुम अपनी कण्ठी माला डालो, देखें किसके जलते हैं।" आपने कहा कि "मैं कंठी माला अग्नि में नहीं डालूँगा, मैं अपना अँचला वस्त्र अग्नि में डालता हूँ, तुम अपने पत्थर के मुद्रा, शृंगी को डालो।" ऐसा ही किया, कनफटे के शृंगी, मुद्रा जल गये परन्तु आपका वस्त्र न जला, आपने अग्नि से ज्यों का त्यों वस्त्र ले लिया॥

परम धर्म (भक्ति) के विस्तार के लिये जैसे सोभूरामजी के भ्राता प्रगट हुए वैसा दूसरा नहीं हुआ॥

---

१ "छोई"=सीठी॥

माधवदास कई हुए हैं—
१ श्रीमाधवदास जिनका वस्त्र अग्नि में न जला ।
२ श्रीमाधवदासजी जगन्नाथपुरीय ।
३ श्रीमाधवदास साधुसेवी ।
४ माधवदास गढ़ा के ।
५ माधवदास बरसानेवाले ।
६ माधवदास कपूर खत्री ।
७ माधवदास भगवत् रसिकजी के पिता ।
८ माधवदास दादूजी के शिष्य ।
९ माधवभट्ट काश्मीरी ।
१०माधवदास (मीरमाधव) काबुली
११माधवदास कायस्थ सहारनपुरवाले ॥

इत्यादि

(२२३) श्रीकन्हरदासजी ।

(८११) छप्पय । (३२)

बूड़िऐ बिदित, "कन्हर" कृपाल, आत्माराम, आगमदरसी ॥ कृष्णभक्ति को थंभ, ब्रह्मकुल परम उजागर । छमासील, गंभीर, सर्व लच्छन को आगर ॥ सर्वसु हरिजन जानि, हृदै अनुराग प्रकासै । असन, बसन, सनमान करत, अति उज्ज्वल आसै ॥ "सोभूराम" प्रसाद तें, कृपादृष्टि सब पर बसी । बूड़ि ऐ बिदित, "कन्हर" कृपाल, आत्माराम, आगमदरसी ॥१६१॥ (२३)

वार्त्तिक तिलक ।

बूड़िया ग्राम में श्रीकन्हरदासजी जगत्विख्यात, परमकृपालु, अपने आत्मा में रमण करनेवाले, आगमदर्शी अर्थात् भविष्य जाननेवाले हुये । श्रीकृष्णभक्तिरूपी गृह के स्तंभ (खंभा) आधार के समान, ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, अति प्रकाशमान, क्षमाशील, गंभीर, सर्व शुभ लक्षणों के स्थान हुए । श्रीहरिभक्तों को हृदय में अपना सर्वस्व जान, अतिशय प्रेम करते; खान पान वस्त्रादि देकर अति सम्मान करते थे;

एक श्रीकन्हरजी, बिट्ठलदास चौबे के पुत्र थे । और ये श्रीकन्हरदासजी ज्ञानी भक्त थे ॥

श्रीसोभूरामजी की कृपा प्रसन्नता पाके अति प्रसन्न मन से, सब जीवों को कृपादृष्टि से देखते थे ॥

---

(२२४) श्रीगोविंददासजी "भक्तमाली" ।

(८१२) छप्पय । (३१)

"भक्त-रत्नमाला" सुधन, "गोविंद" कंठ बिकास किय ॥ रुचिर सीलघननील लीलि रुचि, सुमति सरित पति । बिबिधि भक्त अनुरक्त ब्यक्त, बहु चरित चतुर अति ॥ लघु दीरघ सुर सुद्ध बचन अबिरुद्ध उचारन । बिस्व बास बिस्वास दास परिचय बिस्तारन ॥ जानि जगत हित, सब गुननि सु[1] सम, "नरायनदास"[2] दिय । "भक्त-रत्नमाला"[3] सुधन, "गोविंद" कंठ बिकास किय ॥ १९२ ॥ (२२)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीभगवद्भक्त नामयशरूपी रत्नों की महामूल्य माला (यह भक्तमाल ग्रंथ) श्रीगोविंददासजी के कंठ में विकसित हुई, अर्थात् उन्होंने कण्ठाग्र (कण्ठस्थ) किया । आप अतिसुन्दर शीलवान्, श्रीरामघन-श्यामसुन्दरजी की लीला में रुचिवाले सुन्दर मति के सिंधु ही थे । अनेक भक्तों में अनुराग करनेवाले, और उन भक्तों के यथार्थ स्पष्ट चरित्रों के जाननेवाले, अति चतुर थे । श्रीभक्तमाल पढ़ते में जहाँ जैसा लघु दीर्घ अक्षर और स्वर चाहिए वहाँ वैसे ही शुद्ध अविरुद्ध शब्द उच्चारण करते थे । विश्व निवासी भगवान् का सदा विश्वास करनेवाले, संतों के परिचय को अर्थात् जो परीक्षा भाव प्रगट हुए, उनको आप विस्तार-पूर्वक कहा करते थे ॥

---

१ "सु"=स्व ।
२ "श्रीनारायणदास" जी=श्रीनाभाजी गोस्वामी भक्तमाल कर्त्ता ।
३ "भक्त-रत्नमाला"=यही "भक्तमाल" ग्रंथ ॥

श्रीगोविन्ददासजी को, सब जगत् के जीवों का हित करनेवाले और सब शुभ गुणों में (सु=स्व) अपने समान जानकर श्री ६ नारायणदासजी (श्री १०८ नाभास्वामीजी) ने स्वयं भक्तरत्नमाला दी, अर्थात् अर्थ तथा आख्यायिकायुक्त इस "भक्तमाल" को उन्हें पढ़ा दिया था। और श्रीगोविन्ददासजी ने संपूर्ण भक्तमाल को कण्ठस्थ कर रक्खा, बड़े मीठे स्वर से पढ़ा करते थे॥

☞ निश्चय होता है कि यह छप्पय भक्तमाल पूर्ण हुये पीछे स्वयं श्रीकृपालु नाभास्वामीजी हीने लिख दिया है। (यह छप्पय बड़े मनन कर रखने के योग्य है)॥

और "नारायणदास ने दिया" ऐसा परोक्ष (अन्य पुरुष) नाम लिखा, सो अपना नाम परोक्ष से भी लिखने की कवियों की रीति प्रसिद्ध है ही॥

जो मूल १०२ कवित्त ४१० में श्रीगोविंदस्वामी वर्णित हैं, उनसे ये महात्मा भिन्न हैं॥

---

(२२५) श्रीनृपमणि जगतसिंहजी।

(८१३) छप्पय। (३०)

भक्तेश भक्त, भवतोषकर, संत नृपति "बासो" कुँवर॥ श्रीयुत नृपमनि "जगतसिंह" दृढ़ भक्तिपरायन। परम प्रीति किये सुबस शील लक्ष्मीनारायन॥ जासु सुजश सहजही कुटिल कलि कल्प जुघायक। आज्ञा अटल सुप्रगट, सुभट कटकनि सुखदायक॥ अति ही प्रचंड मारतंड सम, तम खंडन दोरदंड वर। भक्तेश भक्त, भवतोषकर, संत नृपति "बासो" कुँवर॥ १९३॥ (२१)

वार्त्तिक तिलक।

भक्तों के स्वामी, श्रीभगवान् के तोष प्रसन्नता करनेवाले, "संत

राजा आनन्दसिंह" के और "बासोदेई" के कुँवर (पुत्र), नृपशिरोमणि श्रीजगतसिंहजी जगत् में परम भक्त हुये। आप दृढ़ भक्ति में तत्पर थे। परम प्रीति से आपने श्रीलक्ष्मीनारायणजी को स्वाभाविक अपने वश कर लिया। जिन भक्तराजजी का सुन्दर यश, सहज ही में, कुटिल कलिकाल के कल्प कहिये सामर्थ्य अर्थात् पाप का घायक (नाशक) था। आपकी आज्ञा अटल अर्थात् कोई मेट नहीं सकता था, यह बात प्रकट है। आप ऐसे सुभट थे कि जहाँ वीर सेनाओं में प्राप्त होते वहाँ सबको अति युद्धोत्साह सुख देते थे। आपके श्रेष्ठ भुजदंडों का प्रताप अज्ञान और अन्धकाररूपी शत्रुओं के नाश करने के लिये अतिप्रचंड मार्तण्ड (सूर्य्य) के समान था ॥

(८१४) टीका। कवित्त। (२६)

जगता कौ पन मन सेवा श्रीनारायणजू, भयौ ऐसौ पारायण, रहे डोला संग ही। लरिबे कों चलै आगै, आगै सदा पाछे रहै, ल्यावैं जल सीस, ईश भख्यौ हियौ रंग ही॥ सुनि जसवन्त जयसिंह कै हुलास भयौ, देख्यौ, दिल्ली माँझ, नीर ल्यावत अभंग ही। भूमि परि, बिनैकरी, "धरी देह तुमहीं नै, जात पायौ नेह भीजि गये यों प्रसंग ही" ॥ ६२२ ॥ (८)

वार्त्तिक तिलक।

सन्तनृपति आनन्दसिंह के बेटे श्रीजगतसिंहजी का श्रीलक्ष्मी-नारायणजी की सेवा में बड़ा प्रेमपण और मन ऐसा तत्पर था कि जो अपने गृह से कहीं जाते थें तो उत्तम पालकी पर विराजमानकर श्रीलक्ष्मीनारायणजी को आगे २ ले चलते थे और चाकर सरिस आप पीछे पीछे; परन्तु जब यद्ध करने को चलते थे, तब आपही आगे रहा करते थे और प्रभु की पालकी पीछे रहा करती थी। पूजा सेवा की जितनी कृत्य हैं सो सब अपने हा हाथों से करते, यहाँ तक कि प्रभु के स्नान के लिये जल प्रेमरंग से भरे नित्य अपने माथे पर रखकर लाया करते थे ॥

एक बेर शाहजहानाबाद (दिल्ली) में सब राजा इकट्ठे थे, तब आपका जल-लाना सुनके जयपुर के राजा जयसिंह और जसवन्तसिंह-

जीके मन में दर्शनका हुलास हुआ; दोनों जाके मार्ग में बैठे; श्रीजगतसिंहजी ब्राह्मण, वैष्णव, सिपाहियों और शतावधि मनुष्यों के साथ नंगे पाँव, सुवर्ण के कलश में जल मस्तकपर लिये, सीताराम नाम जपते चले आते थे, वे दोनों राजा देख प्रेम से भर, भूमिपर पड़, प्रणामकर प्रशंसा करने लगे, कि "मनुष्यदेह धरनेका फल आप ही ने पाया, कि जो आपका श्रीप्रभु में ऐसा प्रेम है॥"

(८१५) टीका। कवित्त। (२८)

नृपति जैसिंहजू सों बोल्यौ "कहा नेह मेरे? तेरी जो बहिन ताकी गंध को न पाऊँ मैं। नाम "दीपकुँवरि" सो बड़ी भक्तिमान जानि, वह रसखानि ऐपै कछुक लड़ाऊँ मैं॥ सुनि सुख भयौ भारी, हुती रिस वासों, टारी, लिये गाँव काढ़ि फेरि दिये, हरि ध्याऊँ मैं। लिखि कै पठाई "बाई करैं सो करन दीजै, लीजै साधु सेवा करि निसि दिन गाऊँ मैं॥६२३॥ (७)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीजगतसिंहजी सुनके राजा जयसिंहजी से कहने लगे कि "मेरे क्या प्रेमभक्ति है, आपकी बहिन, जो 'दीपकुँवरि' नामकी हैं, सो अवश्य बड़ी ही भक्ता हैं, और प्रेमरसकी खान ही हैं, उनके प्रेम का गंध भी मैं नहीं पासकता; हाँ, उन्हींकी प्रीति रीति देख सुनके संग प्रभाव से मुझे भी प्रभुकी ओर कुछ २ प्रेमभक्ति हुई है लाड़ लड़ाता हूँ॥"

आपके वचन सुन जयसिंहजी को बड़ा ही आनन्द हुआ। किसी कारण से "दीपकुँवरि" से अप्रसन्नता होगई थी, सो अपनेजी से हटाकर, उनके ग्राम (जागीर) जो ले लिये थे सो सब छोड़ देकर प्रार्थनापत्र लिखकर, अपराध क्षमा कराकर, प्रसन्न किया। और अपने प्रधान मंत्रियों को लिख भेजा कि "बाईजी (बहिन) जो पूजा भजन दान साधुसेवा आदिक करें, सो भलेप्रकार करने देना; धनादिक जो लगे सो देना; मैं उनकी कृपा से श्रीहरि के ध्यान में लगूँगा। और भगवद् यश गान करूँगा॥"

(२२६) श्रीगिरिधरग्वालजी।

(८१६) छप्पय। (२७)

गिरिधरन ग्वाल, गोपाल कौ, सखा साँच लौ संग कौ॥ प्रेमी भक्त, प्रसिद्ध गान, अति गद गद बानी। अंतर प्रभु सों प्रीति, प्रगट रहै नाहिन छानी*॥ नृत्य करत आमोद बिपिन तन बसन बिसारै। हाटक पट हित दान रीझि ततकाल उतारै॥ "मालपुरै" मंगल करन रास रच्यौ, रस-रंग कौ। गिरिधरन ग्वाल, गोपाल कौ, सखा साँच लौ संग कौ॥१९४॥ (२०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगोपालीदेई के पुत्र श्रीगिरिधरग्वालजी श्रीगोपालजी के सच्चे संगी सखा थे। प्रसिद्ध प्रेमी भक्त; परम उदार और कवि थे; प्रभुयश गान करते समय में आपकी अति गद्गद बानी हो जाती थी। आपके अन्तर हृदय की प्रीति छिपाने से भी नहीं † छिपती थी; नामगुण गाते, गुण श्रवण करते में प्रगट हो जाती थी; जब श्रीवृन्दावन के एकांत वन में प्रेमानन्द से मत्त, गुणगान कर नाचने लगते थे, तब देह के वस्त्र, व देह का भान, भूल जाते थे; जो और कोई भगवद्यश गान करने लगै, तो रीझ के अपने सुवर्ण के आभूषण और वस्त्र तत्काल उतार के दे देते थे॥

एक समय "मालपुर" ग्राम में मंगल का करनेहारा रास रचके कराया देखके परम प्रेम रसरंग में पगके घर का सब धन वस्तु प्रभु को भेंट कर दिया॥

---

* "छानी"=छन्न=छिपाई, ढाँकी।

† दो० "प्रेम छिपाए ना छिपै, हो ही जात प्रकास।
दावे दूबे ना दबै, करतूरी की बास॥"

दो० "गिरिधर स्वामी पर कृपा, बहुत भई, दशकुञ्ज।
रसिक रसिक नीकौ सुजस, गायौ तिहि रसपुञ्ज ॥"
(श्रीध्रुवदास)

ग्वालपदवी आपने श्रीनन्दनन्दनजी के सखा होने से पाई थी। गिरिधरजी कई हुये हैं। एक बरसानेवाले—

दो० "बरसाने गिरिधर सुहृद्, जाकैं ऐसा हेत।
भोजन हू भक्तन बिना, धस्यौ रहै, नहिं लेत ॥"

और श्रीवल्लभाचार्य्यजी के पोते, बिट्ठलनाथ के बेटे श्रीगिरिधरजी मूल ८० में तथा मूल १३१ में वर्णित हुए ॥

(८१७) टीका। कवित्त। (२६)

गिरिधर ग्वाल, साधुसेवा ही कौ ख्याल[१] जाके, देखि यौं निहाल होत प्रीति साँची पाई है। संत तन छूटें हूँते लेत चरणामृत जो, और अब रीति कहौ कापै जात गाई है ॥ भये द्विज पंच इकठौरे सो प्रपंच मान्यौ, आन्यौ सभामाँझ कहैं "छोड़ौ न सुहाई है। जाकै हो अभाव मत लेवौ, मैं प्रभाव जानौं मृतक यों बुद्धि ताकौ बारो" सुनि भाई है ॥ ६२४ ॥ (६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगिरिधरग्वालजी परम भक्त हुये। आपके चित्त में सदा साधु-सेवा ही का चिन्तवन बना रहा करता था। सन्तों का दर्शन करते ही प्रेमानन्द से निहाल हो जाते थे। क्योंकि प्रभु की कृपा से सच्ची प्रीति प्राप्त थी, यहाँ तक कि साधु का प्राण छूट जाने पर भी चरणामृत ले लेते थे, तब सजीव सन्तों में आपकी जैसी प्रीति रीति थी वह कौन कह सकता है? इस बात को देख सब ब्राह्मण प्रपंच पंचायत और सभा कर श्रीगिरिधरजी को बुलाकर कहने लगे कि "मृतक वैष्णवों का चरणामृत लेना छोड़ दो यह भला नहीं है।" उनके वचन सुन आपको नहीं अच्छे लगे; उत्तर दिया कि "जिसके अभाव हो वह मत ले, मैं तो भगवद्भक्तों का प्रभाव जानता हूँ

१ "ख्याल"=खयाल=خیال=सुरति, सुधि, स्मरण ॥

कि वे कभी मरते नहीं, वे तो प्रभु के ध्यान में समा जाते हैं, आप लोग भी सन्तों में से मृतक बुद्धि उठा लीजिये॥"

आपकी वार्ता सुन अच्छे लोगों को बहुत अच्छी लगी॥

(२२७) देवी श्रीगोपालीजी।

(८१८) छप्पय। (२५)

"गोपाली" जनपोषकों, जगत "जसोदा" अवतरी॥ प्रगट अंग में प्रेम नेम सों मोहन सेवा। कलिजुग कलुष न लग्यौ, दासतें कबहुँ न छेवा॥ बानी सीतल, सुखद, सहज गोबिंद धुनि लागी। लच्छन कला गँभीर, धीर, संतनि अनुरागी॥ अंतर सुद्ध सदा रहै, रसिक भक्ति निज उर धरी। "गोपाली" जनपोपकों, जगत "जसोदा" अवतरी॥ १९५॥ (१९)

वार्त्तिक तिलक।

श्री "गोपाली" जी हरिभक्त जनों के पोषण करने के लिये मानो श्री "यशोदा" जी ने अवतार लिया। तन मन में प्रेम प्रगट दीखता था; श्रीमोहनलाल की सेवा पूजा सप्रेम नियम से करती थीं, कलियुगकृत पाप आपके तन मन में नहीं छूगया, और आपने भगवद्दासों से अंतर कपट कभी न किया; वाणी शीतल सुख देनेवाली बोलतीं, सहज ही गोविन्द नाम की धुनि लगी रहती थी; शुभ लक्षण, कलाचातुर्य्य, गाम्भीर्य्य, धीरता आदिक गुणों से सम्पन्न, और सन्तों में अति अनुरागवती थीं। "श्रीगोपालीजी" का अन्तःकरण सदा शुद्ध रहता था, उस शुद्ध हृदय में आपने वात्सल्य रस की भक्ति धारण की। आपके पुत्र बड़े हरिभक्त हुए॥

(२२८) श्रीरामदासजी।

(८१९) छप्पय। (२४)

श्रीरामदास रसरीति सों, भली भाँति सेवत भगत॥

सीतल, परम सुशील, बचन कोमल मुख निकसै। भक्त उदित रबि देखि, हृदै बारिज जिमि बिकसै॥ अति आनँद, मन उमँगि संत परिचर्य्या करई। चरण धोय, दंडौत, बिबिध भोजन बिस्तरई॥ "बत्स-वन" निवास, बिस्वास हरि, जुगल चरण उर जग-मगत। श्रीरामदास रसरीति सों, भली भाँति सेवत भगत॥ १६६॥ (१८)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरामदासजी परम प्रीति रसरीति से भलीभाँति भगवद्भक्तों की सेवा करते थे। अति शीतल, परम सुशील, स्वभाव से आपके मुख से सदा कोमल वचन निकलते थे; जैसे उदित सूर्य्य को देख कमल बिकसते हैं, इसी प्रकार हरिभक्तों को देख अति प्रफुल्लित होते थे, मन में अति आनन्द उमँगाके, संतों की सेवा परिचर्य्या इस प्रकार करते थे कि प्रथम दण्डवत् कर, चरणों को धो विभव विस्तार से विविध भाँति के भोजन कराते थे। ब्रज के "वत्सवन" में निवास कर, श्रीविहारीजी में विश्वासयुक्त जग-मगाते श्रीहरियुगल चरणों को हृदय में धारण किया॥

(८२०) टीका। कवित्त। (२३)

सुनि एक साधु आयौ, भक्तिभाव देखिबेकों, बैठे रामदास, पूछैं "रामदास कौन है?"। उठे आप धोए पाँव, "आवैं रामदास अब," "रामदास कहो? मेरे चाह और गौन है"॥ "चलौ जू प्रसाद लीजै, दीजै रामदास आनि," "यही रामदास, पग धारौ निज भौन है"। लपटानौ पाँयन सों, चायन समात नाहिं, भायनि सों भर्यौ हिये, छाई जस जौन्ह[1] है॥ ६२५॥ (५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीरामदासजी की प्रीति रीति साधुसेवा की बड़ाई सुन, एक

१ "जौन्ह"=उजाला॥

साधु भक्तिभाव देखने के लिये आये; श्रीरामदासजी बैठे थे; सो उन्हीं से पूछा कि "रामदास कौन हैं?" आप उठके सन्त को दण्डवत् कर, चरण धो, बोले कि "अभी आता है रामदास आप चलिये प्रसाद पाइये," सन्त ने कहा कि "रामदास कहाँ हैं? उनके दर्शन की मुझे विशेष चाह है, प्रसादादिक की चाह सामान्य है।" तब आपने हाथ जोड़कर विनय किया कि "चलिये प्रसाद पाइये, तब मैं रामदास को बुला दूँगा।" सन्त ने पुनः कहा कि "नहीं रामदासजी के दर्शन कर, तब पाऊँगा।" तब आप बोले कि "आप अपने गृह में पधारिये, 'रामदास' यही है।" साधुजी सुनतेही चरणों में लपट गये, प्रेमानन्द हृदय में नहीं समाता था, और भाव से भरके कहने लगे कि "धन्य आप हैं, आपके यशरूपी चन्द्रमा की जौन्ह (जोन्हाई, उजियारी) जगत् में छा रही है॥"

(८२१) टीका। कवित्त। (२२)

बेटी को विवाह, घर बड़ौ उतसाह भयौ, किए पकवान नाना, कोठे माँझ धरे हैं। करैं रखवारी सुत नाती दिये तारौ रहैं; और ही लगाये तारौ खोल्यौ नहीं डरे हैं॥ आये गृह संत तिन्हैं पोट बँधवाय दई, पायो यों अनन्त सुख ऐसे भाव भरे हैं। सेवा श्रीबिहारीलाल, गाई पाक सुद्धताई, मेरे मन भाई, सब साधु उर हरे हैं॥ ६२६॥ (४)

वार्त्तिक तिलक।

आपके गृह में बेटी के विवाह का बड़ा उत्साह था, बरात के लिये घर के लोग पकवान मिठाई बनवा, कोठे में रक्खे, ताला दे, पुत्र पौत्रादिक आपसे डरते, रक्षा करते थे। सन्तों की एक 'जमात' आई, आप गृहके लोगों का भय छोड़ दूसरी कुंजी लगाकर ताला खोल, सन्तों को सब पकवान की गठरियाँ बँधवा दीं; सन्त पाकर अति सुखी हुये; देकर आप भी सुखी हुये। सन्तों के प्रेमभावसे आप ऐसे भरे थे। श्रीविहारीलालजी की सेवा सप्रेम करते थे भोग के लिये पाक रसोई अति स्वच्छता से कर, सन्तों को प्रसाद पवाते थे। आपकी सचाई

ने सब संतों का मन हरलिया और मेरे मनको अति प्रिय लगी इससे मैंने गान किया है ॥

श्रीरामदास बहुत हुए—एक ये, एक श्रीडाकौर के क्षेत्र के रहनेवाले, एक रामदासजी श्रीमीराबाई के पुरोहित, एक चौहान राजपूत एक खमाच के रहनेवाले इत्यादि ॥

---

(२२९) श्रीरामरायजी।

(८२२) छप्पय। (२१)

बिप्र सारसुत घर जनम, रामराय हरि रति करी॥ भक्ति, ज्ञान, बैराग, जोग, अंतरगति पाग्यौ। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मतसर, सब त्याग्यौ॥ कथा कीरतन मगन सदा आनँद रस झूल्यौ। संत निरखि मन मुदित, उदित रबि पंकज फूल्यौ॥ बैर भाव जिन द्रोह किय, तासु पाग खसि, भ्वैं[1] परी। बिप्र सारसुत घर जनम, रामराय हरि रति करी॥ १९७॥ (१७)

वार्त्तिक तिलक।

सारस्वत ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर, श्रीरामरायजी ने भगवत् से प्रीति की। आपका हृदय भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग इन साधनों से पग रहा था; और काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि दुर्गुणों को आपने त्याग किया था। श्रीहरिकथा कीर्तन में मग्न होकर सदा आनन्द के रस से झूलते थे। जैसे सूर्य्य को उदित देख कमल फूलते हैं इसी प्रकार आप सन्तों को देख प्रमुदित प्रफुल्लित होते थे; आपसे जिसने बैरभाव से द्रोह किया उसके सीसकी पाग भूमि में गिर पड़ी॥

एक समय सज्जनों की सभा में एक धनी दुष्ट आपसे द्रोहकर निन्दा करने लगा, उसकी पाग प्रभुप्रेरणा से अनायास भूमि में

---

१ भ्वैं=भूमि॥

यों गिरपड़ी कि जैसे किसी ने धौल मारा हो। वह अति लज्जित हो, सभा से चला गया ॥

एक रामरायजी ये, और एक राठौर खेमालरत्न के पुत्र रामरैन हैं ॥

मूल १५२। श्रीकन्हरदासजी के महामहोत्सव में, संवत् १६५२ में, सब सन्तोंने मिलकर "गोस्वामी" की पदवी श्री १०८ नाभाजी को दी ॥ श्रीकन्हरदास पर श्रीसोभूरामजी की भी कृपा हुई थी ॥

(२७०) श्रीसोभूरामज (मूल १६०) ब्राह्मण, श्रीहरिव्यासजी के शिष्य बड़े भक्त हुए। इनका एक मन्दिर अभीतक उड़ीसा जगाधरी के पास वर्त्तमान है। आपके नगर के पास श्रीयमुनाजी बहती थीं। एक बेर बाढ़से क्लेशित हो नगर के लोग आपके पास पहुँचे, आपने आकर श्रीयमुनाजी से विनय किया "माता पुत्रों को पालती है, न कि डुबोती है। यदि ऐसी ही रुचि हो तो कुदाल (फावड़े) से मैं इधर बढ़ने के लिये आपको मार्ग बनादूँ।" सुनके श्रीयमुनाजी प्रसन्न हो हट गईं। फिर उधर न बढ़ीं ॥

वहाँ के नगर अधिपति (हाकिम) ने, शंखध्वनि सुन चाहा कि आप पर कोप करे। उसके मनकी जानकर, आप प्रातःकाल उसके पास पहुँचकर बोले कि यदि मुझसे आपको क्लेश होता है तो जहाँ आपकी इच्छा हो मैं चला जाऊँ।" "हाकिम" ने क्षमा माँगी, विनय किया॥

---

(२३०) श्रीभगवन्तजी (श्रीमाधवदास के पुत्र)।

(८२३) छप्पय। (२०)

भगवन्त मुदित उदार जस, रस रसना आस्वाद किय ॥ कुंजबिहारी केलि सदा अभ्यन्तर भासै। दम्पति सहज सनेह प्रीति परमिति परकासै ॥ अननि भजन रस रीति पुष्ट मारग करि देखी। बिधि निषेध बल त्यागि पागि रति, हृदय बिशेखी ॥ "माधव" सुत संमत रसिक, तिलक दाम धरि सेव लिय। भगवन्त

मुदित उदार जस, रस रसना आस्वाद किय॥ १६८॥ (१६)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवन्त भक्तजी ने भगवत् का सरस उदार यश अपनी जीभ से आस्वादन किया। श्रीकुंजविहारीजी की केलि आपके हृदय में सदा भासती थी, दंपति श्रीराधाकृष्णजी का स्नेह और परम प्रेम प्रकाशित होता था; अनन्य रसरीति भजन के पुष्ट मार्ग को देखके उसी में प्रवृत्त थे, और साधारण धर्म अर्थात् विधिनिषेध कर्मों के बल को तजके, विशेष प्रीति से आपका हृदय पगा था; श्रीमाधवदासजी के पुत्र (भगवन्तजी) ने सन्त सम्मत रसिक, कंठी तिलक धारण कर, भगवत् भागवत सेवा ग्रहण किया॥

(८२४) टीका। कवित्त। (१६)

सूजा * के दिवान भगवंत रसवंत भए, बृन्दाबन बासिन की सेवा ऐसी करी है। बिप्र कै गुसाईं साधु कोऊ ब्रजबासी जाहु, देत बहु धन एक प्रीति मति हरी है॥ सुनी गुरुदेव, अधिकारी श्रीगोबिंददेव, नाम हरिदास "जाय देखैं" चित धरी है। जोग्यताई सीवाँ प्रभु दूध भात माँगि लियो कियो उत्साह तऊ पेखैं अरबरी है॥ ६२७॥ (३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवन्तभक्तजी आगरे के सूबा के मुख्य मंत्री, बड़े रसवंत थे। वृन्दावनवासियों की ऐसी सेवा की कि जो ब्राह्मण, गोसाईं, सन्त, कोई 'ब्रजवासी' उनके पास जाता, उसको बड़ी मनोहर प्रीति रीति से बहुत धन देते थे॥

एक समय श्रीगोविंददेवजी के अधिकारी "श्रीहरिदासजी" भगवन्तजी के गुरुदेव ने आपके यहाँ जाने का निश्चय किया। वे श्रीहरिदासजी योग्यताई के सीमा ऐसे थे कि जिनसे श्रीगोविंदजी

* नवाब शुजाउलमुल्क सूबादार के दीवान॥

ने दूध भात माँग के भोजन किया। तथापि आपने श्रीभगवन्तजी की भक्ति सुनकर देखने को उत्साह उत्कण्ठा किया॥

(८२५) टीका। कवित्त। (१८)

सुनी, गुरु आवत, अमावत न किहूँ अंग, रंग भरि तिया सों, यों कही "कहा कीजियै ?"। बोली "घरबार पट संपति भंडार सब भेंट करि दीजै, एक धोती धारि लीजियै"॥ रीझे सुनि बानी, "साँची भक्ति तैं ही जानी, मेरे अति मन मानी" कहि आँखैं जल भींजियै। यही बात परी कान, श्रीगुसाईं लई जान, आये फिरे बृन्दाबन, पन मति धीजियै॥ ६२८॥ (२)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीगुरु भगवान् का आगमन सुन, आपके अंग में प्रेमानन्द समाता नहीं था; अपनी धर्म्मपत्नी से पूछा कि "कहो, श्रीगुरुजी की भेंट पूजा किस प्रकार करनी चाहिये ?" वह उदार, अनुरागवती बोली कि आप और मैं एक एक धोती धारण कर, और घर की सब सम्पत्ति वस्त्र भूषण द्रव्य सबका सब भेंट कर देवें" ऐसे वचन सुन श्रीभगवंतजी अति प्रसन्न होकर कहने लगे कि "सच्ची भक्ति एक तुमहीं ने जानी, तुम्हारा वचन मुझे अति प्रिय लगा," ऐसा कहते नेत्रों से प्रेम का जल बहने लगा॥

यह बात कहीं श्रीगुसाईंजी के कानों में पड़ी, दोनों का निश्चय जान, मार्ग से लौटके श्रीवृन्दावन चले आये; और अपने शिष्य (श्रीभगवन्तजी) के प्रेमपन पर अति प्रसन्न हुये॥

(८२६) टीका। कवित्त। (१७)

रह्यौ उतसाह उर दाह कौ न पारावार, कियौ लै बिचार, आज्ञा माँगि, बन आये हैं। रहे, सुख लहे, नाना पद रचि कहे, एकरस निबँहे, ब्रजबासी जा छुटाये हैं॥ कीनी घर चोरी, तऊ नेकु नासा मोरी नाहिं, बोरी मति रंग, लाल प्यारी दृग छाये हैं। बड़े बड़भागी, अनुरागी, रति जागी, जग माधव रसिक बात सुनौ पिता पाये हैं॥ ६२९॥ (१)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवंतजी ने भी सुना कि "श्रीगुरुस्वामी वृन्दावन को लौट गये।" तब दर्शन का वह उत्साह चला गया! बरंच हृदय में बड़ा ही अनुताप हुआ!! वह ताप शान्त होने का विचारकर, सूबे से आज्ञा लेकर श्रीवृन्दावन आ, श्रीगुरुदेव का दर्शन पूजन कर सुखी हुये। कुछ दिन रहकर, अनेक पद बनाके प्रभु का यश गान किया; आपकी प्रीति रीति का एक रस निर्वाह हुआ॥

फिर गुरु आज्ञा ले, आगरे को गये; वहाँ कई एक व्रजवासी चोर कारागार (कैदखाने) में पड़े थे, उनको छुड़ा दिये॥

एक बेर और व्रजवासी चोर भगवंतजी के गृह की सब वस्तु चुरा ले गये। परन्तु आपने दुःख से नाक न सिकोड़ी बरंच अति आनन्दित हुये, क्योंकि मति प्रेम रंग से रँगी, और नेत्रों में लाल प्यारी की छवि छा रही थी॥

बड़े ही बड़भागी अनुरागी थे, रीति प्रीति जगत् में जगमगा रही है। अब भगवन्तजी के पिता श्रीमाधव रसिक की अन्तकाल की बात सुनिये॥

(२३१) श्रीमाधवदासजी (श्रीभगवन्तजी के पिता)।

(८२७) टीका। कवित्त। (१६)

आयौ अन्तकाल जानि बेसुधि पिछानि, सब आगरे तें लैकै चले बृन्दावन जाइयै॥ आए आधी दूर, सुधि आई बोले चूर ह्वैकै "कहाँ लिये जात कूर?" कही "जोई ध्याइयै"॥ कह्यो "फेरो तन बन जाइबे कौ पात्र नहीं, जरै बास आवै प्रिय पियको न भाइयै"। जानहारौ होई, सोई जायगौ जुगल पास, ऐसे भावरासि, ताही ठौर चलि आइयै॥ ६३०॥ (०)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभगवन्तजा के पिता श्रीमाधवदासजी के अन्तकाल में, सब कोई बेसुधि जानके आगरे से पालकी पर वृन्दावन को ले चले; जब आधे मार्ग में पहुँचे, तब आपको सुधि हुई; बड़े दुखितहोकरलोगों से पूछा

कि "अरे क्रूर लोगो ! मुझे कहाँ लिये जाते हो?" लोगों ने उत्तर दिया कि "जिसका आप नित्य ध्यान करते थे, उसी वृन्दावन को लिये चलते हैं," आपने कहा कि "फेर ले चलो, यह शरीर श्रीवृन्दावन जाने का पात्र नहीं है, वहाँ जलावोगे तब प्रिया प्रियतम को दुःसह दुर्गन्धि प्राप्त होगी, जो जानेवाला है, सो जीव तो युगल के पास पहुँचेहीगा।" ऐसे भाव के भरे श्रीमाधवदासजी आगरे में आकर शरीर छोड़ प्रिया प्रियतम को प्राप्त हुये॥

दो० "जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह।
तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसहिं कि गेह॥ १॥"
"भजन भरोसे राम के, मगहर तजे सरीर।
अविनासी की गोद में, बिलसैं दास कबीर॥ २॥"

---

(२३२) श्रीलालमती देवीजी।

(८२८) छप्पय। (१५)

दुर्लभ मानुष देह कौ, "लालमती" लाहौ लियौ॥ गौर स्याम सों प्रीति, प्रीति जमुना कुंजनि सों। बंसीबट सों प्रीति, प्रीति ब्रजरज पुंजनि सों॥ गोकुल गुरुजन प्रीति, प्रीति घन बारह बन सों। पुर मथुरा सों प्रीति, प्रीति गिरि गोबर्द्धन सों॥ बास अटल बृन्दा बिपिन, दृढ़करि सो नागरि कियौ। दुर्लभ मानुष देह कौ, "लालमती" लाहौ लियौ॥ १६६॥ (१५*)

यहाँ किसी छपी प्रति में एक छप्पय अधिक है; पर किसी लिखी प्रति में वह पाया नहीं जाता॥

वार्त्तिक तिलक।

देवी श्रीलालमतीजी ने दुर्लभ मनुष्य देह का लाभ भले प्रकार

---

* नोट—"शाहजहाँ ने तजि दुनियाई। औरंगज़ेब की फिरी दुहाई"॥
श्रीधरनीदास, माँझी, सारन, श्रीसरयूतट॥

लिया। क्योंकि गौर श्याम श्रीराधाकृष्णजी में अति प्रीति थी; यमुनाजी में और यमुनाकूल के कुंजों में अति प्रीति, बंसीबट में और ब्रजरज के पुंजों में प्रीति, गोकुल में तथा गोकुलनिवासी गुरुजनों में प्रीति, और सघन बारहो वन में प्रीति, पुर मथुरा से प्रीति, और गिरिगोवर्द्धन से प्रीति थी; उस नागरी ने अर्थात् प्रीतिपथ-प्रवीना ने इन सबों को प्रीति से युक्त अचल दृढ़ वृन्दावन वास कर, मनुष्यदेह का लाभ लिया। श्रीराधाकृष्ण में प्रीति वात्सल्यभाव से इन्हें थी सो जानिये॥

☞मूल १९९ तक गोस्वामी श्रीनाभाजी महाराज समर्थ ने इतने एक सहस्र से अधिक भक्तों सन्तों के नाम और यश के वर्णन को समाप्त किया। अब शेष १५ में आप कुछ माहात्म्य, विनय, तथा अनुक्रमणिका लिखते हैं॥

(८२९) छप्पय। (१४)

कबिजन करत बिचार बड़ौ कोउ ताहि भनिज्जै। कोउ कह अवनी बड़ी, जगत आधार फनिज्जै॥ सो धारी सिर सेस सेस शिव भूषन कीनौ। शिव आसन कैलास भुजा भरि रावन लीनौ॥ रावन जीत्यौ बालि बालि राघो इक सायक दँड़े। "अगर*" कहै त्रैलोक में हरि उर धरें तेई बड़े॥ २००॥ (१४)

धरणी, श्रीशेषजी, श्रीशिवजी, कैलास, रावण, बालि, श्रीराघव रामचन्द्रजी, क्रम से एक से एक बड़े, पर श्रीअग्रजी कहते हैं कि तीनों लोकों में श्रीराघव को जो हृदय में धारण करता है सोई सबसे बड़ा है, उन्हीं को भजना चाहिये॥

(८३०) छप्पय। (१३)

हरि सुजस प्रीति हरिदास कैं, त्यौं भावै हरिदास-

* बोध होता है कि श्रीअग्रदासजी के इन छप्पयों को श्रीनाभास्वामी ने परम उत्तम मंगलप्रद जानकर यहाँ स्थान दिया है अथवा मंगल के लिये अपने ही इन छन्दों में "श्रीअग्रजी" का छाप दे दिया है। इति शुभ॥

जस ॥ नेह परसपर अघट निबहि चारौं जुग आयौ । अनुचर कौ उतकर्ष स्याम अपने मुख गायौ ॥ ओत प्रोत अनुराग प्रीति सबही जगजानैं । पुर प्रवेश रघुबीर भृत्य कीरति जु बखानैं ॥ अगर अनुग गुन बरनते सीतापति नित होयँ बस । हरिसुजस प्रीति हरिदास कैं, त्यौं भावै हरिदासजस ॥ २०१ ॥ (१३)

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीभगवान् हरिका सुयश सुनने में जैसे हरिदासों की प्रीति है, ऐसेही अपने दासों का सुयश (भक्तमाल) सुनने में श्रीहरिकी भी प्रीति है; श्रीभगवत् और भगवद्भक्तों का परस्पर अघट एक रस स्नेह कृतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, इन चारों युगों में निबह आया, और जैसे भक्त लोग भगवत् की कीर्त्ति कहते हैं तैसे ही भगवान् भी अपने भक्तों की कीर्त्ति कहते हैं, सो देखिये "भागवत एकादश" में उद्धव के प्रति श्रीकृष्णचन्द्रजी ने अपने अनुचरों (भक्तों) के उत्कर्ष अर्थात् अतिशय यश अपने मुखसे गान किये हैं, और प्रभु श्रीरघुबीरजीने भी (जब वन से आकर श्रीअवधपुर में प्रवेश करने लगे तब) श्रीभरत वशिष्ठ सुमन्त्र आदिकों से अपने भृत्य हनुमत्, सुग्रीवादि बानरों की कीर्त्ति श्रीमुख से बखान की है । इसप्रकार भगवत् का भक्तों के विषय अनुराग और भक्तों की भगवत् में प्रीति ओत प्रोत है सो सम्पूर्ण जगत् जानता है । श्रीअग्रस्वामी कहते हैं कि दासों के गुण वर्णन करने से तथा सुनने से श्रीसीतापतिजी नित्यही बस होते हैं इससे वर्णन करना चाहिये ॥

श्लोक भागवते ।

"निरपेक्षं मुनिं शांतं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यं ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥"

तथा वाल्मीकीयरामायणे ।
"सख्यं च रामः सुग्रीवे प्रभावश्चानिलात्मजे ।
वानराणाञ्च तत्कर्म व्याचचक्षे च मंत्रिणाम् ॥"

चौपाई ।

"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर सागर कहँ बेरे ॥
मम हित लागि जन्म इन हारे । भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे ॥"

(८३१) छप्पय । (१२)

उतकर्ष सुनत संतनि कौ, अचरज कोऊ जिनि करौ ॥ दुर्बासा प्रति, स्याम दासबसता हरि भाषी । ध्रुव, गज, पुनि प्रह्लाद, राम, शबरी फल साखी ॥ राजसूय यदुनाथ चरण धोय जूंठ*उठाई । पांडव बिपति निवारि, दियो बिष बिषया पाई ॥ कलि विशेष परचौ प्रगट, आस्तिक ह्वैकै चित धरौ । उतकर्ष सुनत संतनि कौ, अचरज कोऊ जिनि करौ ॥ २०२ ॥ (१२)

*जब ते रसखानि विलोकत ही, तब ते कछु और न मोहिं सोहातो ।
प्रीति की रीति में लाज कहाँ, कछु है सो बड़ो यह प्रेम कै नातो ॥"

वार्त्तिक तिलक ।

श्रीभक्तमालकार स्वामी सबसे कहते हैं कि सन्तों का उत्कर्ष अर्थात् उत्तम प्रताप प्रभाव प्रभु के दिये परचौ आदिक सुनके कोई आश्चर्य मत करो कि "यह कैसे हुआ ? हमारे मन में नहीं आता ।" देखो चारों युगों में भगवान् ने अपने भक्तों की रक्षा की, और उनके साथ अनेक आश्चर्य चरित्र किये । दुर्वासाजी से श्रीनारायणभगवान्जी ने श्रीमुख से कहा कि "हे मुने ! हम अपने भक्तों के आधीन, और उनके बस हैं ॥" और देखो ध्रुवजी पर कैसी कृपा की और गजराज की कैसी रक्षा की, प्रह्लादभक्त के लिये किस प्रकार खंभा फाड़के

नृसिंहरूप धारण किया और श्रीरघुनन्दनजी ने श्रीशबरीजी पर कैसी कृपा करके फल खाये तथा उनके चरणों से जल शुद्ध किया, और माता के समान मानि परमपद दिया। ये सब भक्त साखी दे रहे हैं। श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में श्रीयदुनाथ (कृष्ण) जी ने भक्तों के चरण धोये और जूँठे पात्र उठाये, फिर पाण्डवों की विपत्ति नाश की, ऐसे ही श्रीचन्द्रहासभक्त ने विष के पलटे विषया स्त्री पाई, इस प्रकार कृतयुग, त्रेता, द्वापर के भक्तों की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है; और कलियुग में विशेष भक्तों के परचौ प्रगट जो हम (श्रीनाभास्वामी) ने गान किया है जैसे पृथ्वीराजको प्रभु ने द्वारका से आकर दर्शन दिया, नामदेव के हाथ से दूध पिया, कर्म्मा की खिचड़ी खाई, त्रिलोचनभक्त के घर में रहके चौदह महीने सन्तसेवा की, सदाव्रतीभक्त का बेटा मरगया जला दिया और फिर आ गया; इत्यादिक (☞ और आज भी श्रीहरिकृपा विशेष अलौकिक अनुभूत हो ही जाती है,) सो श्रीहरिकृपा में आस्तिक होकर चित्त में विश्वास धारणकर सुनो और भक्तिपथ में चलो॥

(ग्रन्थफलस्तुति)

(८३२) दोहा। (११)

☞पादप पेड़हिं सींचते, पावै अँग अँग पोष।
पूरबजा ज्यौं बरनते, सब मानियो सँतोष॥२०३॥ (११)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनाभास्वामीजी ने जिन सन्तों के यश इस ग्रंथ में नहीं वर्णन किये उनसे तथा आगे होनेवाले सन्तों से प्रार्थना करते हैं कि जैसे वृक्ष के मूल को सींचने से उसके स्कंध शाखा आदिक सब अंग पुष्ट और हरित होते हैं ऐसे ही पूरबजा की नाईं अर्थात् दोपहर के पीछे की छाया जैसे छोटी से बढ़ती जाती है वैसे ही अपनी प्रीति श्रद्धा बढ़ाके आपके पूर्वज श्रीआचार्य गुरुजन मूल पुरुषों के यश जो मैंने वर्णन किये उसी में आप सब भी अपने तईं सम्मिलित समझकर संतोष मानिये और मुझ पर प्रसन्न हूजिये॥

(८३३) दोहा। (१०)

भक्त जिते भूलोक मैं, कथे कौन पै जायँ।
समुँद[1] पान श्रद्धा करै, कहँ चिरि पेट समायँ॥२०४॥(१०)

वार्त्तिक तिलक।

भूलोक में जितने भगवद्भक्त हैं वे सब किससे कहे जा सकते हैं! जैसे सब समुद्रों का जल पी लेने की कोई चिरि (चिड़िया) श्रद्धा करै तो क्या यह हो सकता है? ॥

(८३४) दोहा। (९)

श्रीमूर्ति सबवैष्णवलघु, दीरघगुणनि अगाध।
आगे पीछे बरनते, जिनि मानौ अपराध॥२०५॥ (९)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनाभास्वामीजी सब वैष्णवों से प्रार्थना करते हैं कि "आप सब श्रीभगवत्, शालग्रामजी की मूर्ति हैं, सो जैसे शालग्रामजी की मूर्ति और श्रीतुलसीदल बड़ा होय या छोटा हो पर उनका गुण माहात्म्य सबों का ही अथाह है; ऐसे ही, आप सबका गुण माहात्म्य अथाह है, किसी का आगे किसी का पीछे वर्णन हुआ है, सो कृपा करके यह पहिले पीछे वर्णन का दोष न मानियेगा, क्षमा कीजियेगा॥"

(८३५) दोहा। (८)

फल की सोभा लाभ तरु, तरुसोभा फल होय।
गुरुशिष्य की कीर्ति मैं, अचरज नाहीं कोय॥२०६॥(८)

वार्त्तिक तिलक।

जैसे वृक्ष में लगे रहने से फलों को शोभा मिलती है, और फलों से वृक्ष को भी अधिक शोभा प्राप्त होती है, ऐसे ही गुरु शिष्य की कीर्ति में है अर्थात् गुरुरूपी वृक्ष से फलरूपी शिष्य को कीर्ति शोभा प्राप्त होती है और फलरूपी शिष्यों से गुरु वृक्ष को अधिक कीर्ति शोभा मिलती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। दोनों पिछले छप्पय भी देखिये॥

---

१ "समुँद"=समुद्र, सागर॥

(८३६) दोहा। (७)

चारि जुगन में भगत * जे, तिनके पद की धूरि।
सर्बसु सिर धरि राखिहौं, मेरो जीवन मूरि॥ २०७॥ (७)

वार्त्तिक तिलक।

चारों युगों में जो भगवद्भक्त हुए हैं, और होंगे, उन सबों के चरणों की धूलि मैं अपने सीस पर धारण कर रक्खूँगा, क्योंकि वही मेरा धन प्राण सर्वस्व और जीवनमूरि है॥

"मियकन्त! तेरी मोहनि मूरत पै वारी हूँ।
तुम मेरे प्राणनाथ मैं दासी तुम्हारी हूँ॥"

(८३७) दोहा। (६)

जग कीरति मंगल उदै, तीनो ताप नसायँ।
हरिजन को गुण बरनते, हरिहृदि अटल बसायँ २०८॥ ६

इसे मनस्थ कीजिये॥

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिजनों के गुण वर्णन करना परम साध्य है, जो कोई हरिभक्तों का गुण वर्णन करता है उसके तीनों ताप नाश होते हैं और जगत् में कीर्ति तथा मंगल का उदय होता है, और उसके हृदय में श्रीहरि अचल निवास करते हैं॥

दो० "सबहि कहावत राम के, सबहि राम की आस।
राम कहैं जेहि "आपनो", तेहि भजु तुलसीदास॥"

(८३८) दोहा। (५)

हरिजन को गुण बरनते, जो करै असूया आय।
इहां उदर बाढ़ै बिथा, औ परलोक नसाय॥ २०९ (५)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीहरिजनों के गुण यश वर्णन करने में श्रीभक्तमाल की कथा

* श्रीलालदासजी यमुनातटनिवासी के चरणों में दाराशिकोह داراشکوه पुण्यपुंज को बड़ी श्रद्धा थी। (आलमगीर عالمگیر को शाप सा दिया था)॥

कहते सुनते में, जो कोई दुष्ट आकर असूया (निन्दा कुतर्क) करता है, उसके पेट में, इस लोक में जलंधर, शूल आदिक रोगों की व्यथाएँ बढ़ती हैं, और परलोक भी नष्ट हो जाता है।

श्लोक–"यो हि भागवतां लोके उपहासं द्विजोत्तम।
करोति तस्य नश्यन्ति धर्ममर्थो यशः सुताः॥ १॥
निन्दां कुर्वन्ति ये मूढा वैष्णवानां महात्मनाम्।
पतन्ति पितृभिस्साद्धं महारौरवसंज्ञके॥ २॥"

चौपाई।

"होहिं उलूक सन्त निन्दारत। मोहनिशा प्रिय ज्ञानभानु मत॥"
"सन्तद्रोह, प्रीति मोहूँ सों, मेरो नाम निरन्तर लैहै।
अग्रदास भागौत बदत है, मोहिं भजत, पर यमपुर जैहै॥"

(८३६) दोहा। (४)

जौ हरि प्राप्ति की आस है, तौ हरिजन-गुन गाय।
नतरुसुकृत भुँजेबीज ज्यों, जनम जनम पछिताय २१०

इसे कभी नहीं भूलिए॥

वार्त्तिक तिलक।

जो श्रीहरिरूप प्राप्ति होने की आशा किसी को होय तो श्रीहरि भक्तों के गुण यश सप्रेम गान करै (श्रीभक्तमाल पाठ करे), इससे श्रीहरि अवश्य मिलते हैं। और जो श्रीभगवद्भक्तों के सुयश का निरादर करके और अनेक सुकृत धर्मकर्मों की आस करता है तो, जैसे भूँजा बीज (अन्न) भूमि में बोने से जमता नहीं है बरञ्च सड़ जाता है, ऐसे ही उसके सुकर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं। वह प्राणी जन्म जन्म पश्चात्ताप करता है और करेगा। प्रियपाठक! यह समझने की बात है॥

(८४०) दोहा। (३)

भक्तदाम संग्रह करै, कथन, स्रवन, अनुमोद।
सो प्रभु प्यारो पुत्र ज्यों, बैठे हरि की गोद॥२११॥ (३)

वार्त्तिक तिलक।

श्रीभक्तदाम ("भक्तमाल") इस ग्रन्थ को जो कोई प्रेमपूर्वक कहैगा और सुनैगा तथा संग्रह अनुमोदन करैगा अर्थात् भाव और अर्थ विचार-के आनन्दित होगा सो प्रभु के पुत्र के समान प्यारा होगा और श्रीहरि के गोद (अंक) में बैठेगा॥

यह श्रीनाभा स्वामीजीकृत आशीर्वाद है॥

श्लोक–"तिष्ठते वैष्णवं शास्त्रं लिखितं यशमन्दिरे।
तत्र नारायणो देवः स्वयं वसति नारद॥ १॥"

(८४१) दोहा। (२)

अच्युतकुलजस यक बेरहुँ, जाकी मति अनुरागि।
उनकी भक्ति*सुकृत को, निहचै होयविभागि ११२॥ २

वार्त्तिक तिलक।

इस अच्युत कुल (वैष्णवों) के यश में एक बेर भी जिसकी मति ने अनुराग किया, अर्थात् प्रेमपूर्वक कथन या श्रवण किया, सो अनुरागी इन सब सन्तों के भक्ति भजन सुकृत का विभागी होगा अर्थात् अवश्य भाग पावेगा इसमें सन्देह नहीं है॥

(८४२) दोहा। (१)

भक्तदाम जिन जिन कथी, तिनकी जूंठनि पाय।
मों मतिसार अच्छरद्वै, कीनौं सिलौ बनाय २१३ (१)

वार्त्तिक तिलक।

जिन जिन महानुभावों वाल्मीकि शुकादि ने भगवद्भक्तों के सुयश की माला कही है, उन्हीं की जूठनि पायके मेरी मति सारांश उञ्छशिला बनाकर चुन बिन के दो चार अक्षर और मिलाके भक्तमाल बना दी है। (आपकी दीनता है॥)

(८४३) दोहा। (०)

काहू के बल जोग जग, कुल करनी की आस।

* भजन॥

भक्तनाममाला अगर, उर (बसो) नारायणदास २१४(०)

इति मूल भक्तमाल

वार्त्तिक तिलक ।

किसी को योग का बल है, किसी को यज्ञ का बल है और किसी को कुल का बल है तथा किसी को अपनी करनी के फल की आशा है, परन्तु मेरे तो योग यज्ञ कुल करनी किसी की भी आशा नहीं है, केवल यही आस है कि अनन्त श्रीगुरु अग्र स्वामी की कृपा से मुझ नारायण-दास (नाभा) के हृदय में श्रीअग्रदेव तथा यह भक्तनाम-माल बसैं (या, बसे हैं) ॥

इति श्रीमद्रामानन्दीय वैष्णव श्री १०८ अग्रदेवशिष्य नाभाख्य (सियसहचरी) श्रीनारायणदास ग्रथिता भगवद्भक्त रत्नमाला सटीक सतिलक समाप्ता, श्रीभगवत्प्रीयताम् ॥

☞ श्रीगोविन्ददासजी (छप्पय १६२) को स्वयं श्रीनाभा स्वामी-जी ने यह "भक्तनाममाला" पढ़ाई ("तसनीफ़् रा मुसन्निफ़् नेको कुनद् बयाँ")

टीकाकर्त्ता श्रीप्रियादासजी अब आगे वर्णन करते हैं कि—

कवित्त ।

रसिकाई कविताई जीन्ही दीनी तिनि पाई भई सरसाई हिये नव नव चाय हैं। उर रंगभवन में राधिका रवन बसैं लस ज्यों मुकुर मध्य प्रतिबिंब भाय हैं। रसिक समाज में बिराज रसराज कहैं चहैं मुख सब फलैं सुख समुदाय हैं। जन मन हरि लाल मनोहर नांव पायो उनहूँ को मन हरि लीनो ताते राय हैं ॥ ६३० ॥

इनहीं के दास दास दास प्रियादास जानौ तिन लै बखानौ मानौ टीका सुखदाई है। गोवर्द्धननाथजू कें हाथ मन पर्‍यो जाको कर्‍यो वास वृन्दावन लीला मिलि गाई है ॥ मति उनमान कह्यो लह्यो मुख

संतनि के अंत कौन पावै जोई गावै हिय आई है । घट बढ़ जानि अपराध मेरो क्षमा कीजै साधु गुण ग्राही यह मानि मैं सुनाई है॥६३१॥

वार्त्तिक तिलक ।

श्री ५ प्रियादासजी कहते हैं कि—

मेरे गुरुदेवजी (श्रीमनोहरदासजी) स्वयं बड़े कवि और भारी रसिक तो थे ही, वरन् ऐसे महात्मा थे कि आपने जिस जिसको कृपा करके कविताई तथा रसिकाई दी, उस उसने भी पाई; तात्पर्य यह है कि ये दोनों वस्तुएँ श्रीगुरुदेवप्रसाद से मुझे भी मिलीं; हृदय में सरसता के नये नये उत्साह हुए । श्रीगुरुदेवजी के हृदयरूपी रंगभवन में श्रीराधिकारमणजी इस प्रकार विराजते थे कि जैसे दर्पण में रूप का प्रतिबिंब विराजता है । आप रसिकमण्डली के मध्य में विराजमान हो-कर जब रसराज (शृङ्गार) कहते थे, तब सब सज्जन सुनके आपके मुख की ओर देख देख सुख से फूल जाते थे । श्रीलालजी ने तो अपने जनों के मन हर लेने से "मनोहर" नाम पाया, पर मेरे गुरुभगवान्‌जी ने श्री-मनोहरलाल का भी मन हर लिय, इससे सच्चे "मनोहरराय" थे ॥६३०॥

अब टीकाकार दो चरणों में तो परोक्ष और दो चरणों में प्रत्यक्ष विनय सज्जनों से करते हैं कि—जानिये कि इन्हीं श्रीमनोहरराय के दासों के दास का दास प्रियादास है कि जिसने श्रीभक्तमाल की यह सुख देनेवाली टीका बखान की है; और जिसका मन श्रीगोवर्द्धननाथजी के हाथों में पड़ गया, इसी से श्रीवृन्दावन में वास करके यह भगवत् भागवतों की मिलित लीला जिसने (मुझ प्रियादास ने) गान की। सो, मैंने जिस प्रकार सन्तों के मुख से सुना वैसा ही अपनी मति के अनुसार गाया । सन्तों के चरित्र का अन्त कौन पा सकता है? कि सम्पूर्ण गान करै, जितनी हृदय में आई उतनी कथा मैंने गान की (गाई) । सन्तों की इन कथाओं के कहने में जो घटी बढ़ी हो गई हो, सो मेरा अपराध आप कृपा करके क्षमा कीजियेगा। क्योंकि साधु लोग केवल गुणों ही को ग्रहण करते हैं, अवगुण में दृष्टि नहीं

देते। ऐसा समझ के मैंने यथा मति कथा सुनादी है॥ ६३१॥

कवित्त।

कीनी भक्तमाल सुरसाल नाभा स्वामी जू नै तरे जीव जाल जग जन मनजोहनी। भक्ति रस बोधनी सो टीका मति सोधनी है बाँचत कहत अर्थ लागै अति सोहनी॥ जो पै प्रेम लच्छना की चाह अवगाहि याहि मिटै उरदाह नैकु नैननिहूँ जोहनी। टीका और मूल नाम भूल जात सुनै जब रसिक अनन्य मुख होत विश्वमोहनी॥ ६३२॥

नाभा जू कौ अभिलाष पूरन लै कियौ मैं तौ ताकी साखी प्रथम सुनाई नीके गाइकै। भक्ति बिस्वास जाके ताही कों प्रकाश कीजै भीजै रंग हियो लीजै संतनि लड़ाइकै॥ संबत प्रसिद्ध दस सात सत उन्हत्तर फालगुन ही मास बदी सप्तमी बिताइकै। नारायणदास सुख रास भक्तमाल लै कै प्रियदास दास उर बसौ रहौ छाइकै॥ ६३३॥

अगिनि जरावौ लैके जल में बुड़ावौ भावै सूली पै चढ़ावौ घोरि गरल पिवायबी। बीछू कटवावौ कोटि साँप लपटावौ हाथी आगे डरवावौ ईति * भीति उपजायबी॥ सिंह पै खवावौ चाहौ भूमि गड़वावौ तीखी अनी बिधवावौ मोहि दुख नहीं पायबी। ब्रजजन-प्रान कान्ह बात यह कान करौ भक्ति सो बिमुख ताको मुख न दिखायबी॥ ६३४॥

इति "भक्तिरसबोधिनी"। टीका।

वार्त्तिक तिलक।

श्रीनाभा स्वामीकृत सुन्दर रसाल भक्तमाल जो भक्तजनों के मन चुभ जाती है, और जिसको कथन, श्रवण करके अनेक जीव जगत् से तर जाते हैं, उसी श्रीभक्तमाल की यह "भक्तिरस-

*"ईति"-(श्लोक) "अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाशलभाशुकाः। स्वचक्रं परचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥ १॥" अर्थात् अत्यन्त वर्षा का होना, वर्षा का नहीं होना, चूहों का उपद्रव, टिड्डियों का उपद्रव, और शुकादि चिड़ियाओं का उपद्रव, आपस का द्रोह, पराए किसी का अत्याचार, इन सातों को, स्मृतियाँ कहती हैं कि, "ईति" यही हैं॥

बोधिनी" टीका मति को शुद्ध करनेवाली है। इसको पढ़कर अर्थ कहने में अतिही सुहावनी लगती है। जो कदाचित् किसी को प्रेम लक्षणा भक्ति की चाह हो, और इस टीका को मानसिक नेत्रों से देख के अवगाहे अर्थात् इसमें प्रवेश करे, तो अवश्य उसके हृदय की ताप मिट जाय, और प्रेमाभक्ति को प्राप्त हो। इसको सप्रेम सुनने में टीका और मूल का नाम भूल जाता है, यह भेद नहीं बूझ पड़ता कि हम मूल सुन रहे हैं कि टीका। और, भगवत् रसिक अनन्यों के मुख से तो इसकी कथा विश्वमोहिनी हो जाती है॥ ६३२॥

श्रीलालप्यारी प्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभा स्वामीजी का अभिलाष मैंने पूर्ण किया। उस अभिलाष की साक्षी मैंने प्रथम ही प्रारंभ में भले प्रकार गान करके सुना दी है। जिसको भगवद्भक्ति में विश्वास हो, उसी को यह ग्रंथ प्रकाश करना (सुनाना) चाहिये; अभक्त अविश्वासी को नहीं; भक्तियुक्त को सुनाने से उसका हृदय प्रेमरंग से भीग जायगा तब प्रेम लाड़ लड़ा के सन्तों की सेवा करेगा॥

प्रसिद्ध विक्रमीय संवत् १७६९ (सत्रह सौ उन्हत्तर) के फाल्गुन कृष्ण सप्तमी को टीका (भक्तिरसबोधिनी) पूर्ण हुई॥

टीकाकार (श्री ५ प्रियादासजी) प्रार्थना करते हैं कि "हे श्रीनारायणदासजी स्वामी (श्री १०८ नाभा स्वामी)! अपनी सुखरास भक्तमाल लेके मुझ प्रियादास को अपना दास जानकर मेरे हृदय में बस के छा रहिये" ॥ ६३३॥

अन्त में, श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि हे प्रभो! मेरे जन्म जन्मान्तरीय दुष्कर्म पातकों से जो आपकी इच्छा हो, तो चाहे मुझे अग्नि में जला दीजिये, जल में डुबा दीजिये, सूली पर चढ़वा दीजिये, हलाहल विष घोर के पिवा दीजिये, बहुत से बिच्छुओं से कटवा दीजिये, इत्यादि इत्यादि, परन्तु करुणानिधे! आपकी भक्ति से जो विमुख हो उसका मुख मुझे कभी मत दिखलाइये। यही मेरी प्रार्थना है, प्राणनाथ!!॥ ६३४॥

इति श्री "भक्तिरसबोधिनी" टीका समाप्त॥

* श्रीः *
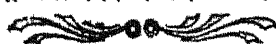
चौबीस निष्ठाओं में विभक्त २८९ भक्तों की नामावली।

(मुंशी तुलसीराम के विचारानुसार)
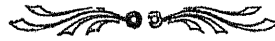
(१) अर्चा प्रतिमा निष्ठा, १७ भक्त।

१ अल्हजी (रसाल वृक्ष)	४५८	११ रामदासजी एकादशी डाकोर	४५०
२ अल्हजी कोल्हजी	७६४	१२ सदनजी सधना	६३१
३ कर्मानन्दजी	७६४	१३ सन्तदास प्रबोधवंश	७४४
४ कोल्हजी अल्हजी	७६४	१४ श्रीसाक्षीगोपालजीकेभक्त	४४७
५ चन्द्रहासजा	१०६	१५ सिलपिल्ले भक्ता उभयबाई	४०२
६ जगन्नाथ थानेश्वरीजी	६१६	१६ भूम्यधिकारी सुता (जमींदारकीलड़की)	४०४
७ श्रीपंडा देवाजी	४३४	१७ सीवां जी	८०१
८ धनाजी	५२१		
९ नामदेवजी	३२२		
१० पृथीराजजी हरिमन्दिर	७६६		

(२) अहिंसा, दया, ६ भक्त।

१ केवलरामजी (बैलकीसाटी)	८७६	५ राजा श्रीशिबिजी	१६८
२ श्रीभुवनजी चौहान	४३१	६ हरिव्यासजी	५६५
३ श्रीमोरध्वजजी ताम्रध्वजजी	१७२		
४ राँगाजी (कुम्हार)	३०८		

(३) आत्मनिवेदन, शरणागति, १२ भक्त।

१ श्रीअक्रूरजी	२०६	३ ग्राहजी	१२७
२ गजेन्द्रजी, ग्राहजी	१२७	४ खगपति श्रीजटायुजी	८६

(०) दया अहिंसा (अहिंसा दया) २।

(८) दास्यनिष्ठा १६ भक्त।

(०) धर्म कर्म (कर्म धर्म)

(९) धर्म प्रचारक २१ भक्त।

(१०) धामनिष्ठा ८ भक्त।

(११) नाम ७ भक्त।

(०) प्रतिमा अर्चा (१)

(१२) प्रेम १७ भक्त।

(०) व्रत उपवास (४)

(१३) भेष ८ भक्त ।

(१४) महाप्रसाद ४ भक्त ।

(१५) माधुर्य्य शृङ्गार २० भक्त ।

(१६) लीला मूर्ति में निष्ठा ६ भक्त।

(१७) वात्सल्य १० भक्त।

(१८) वैराग्य सान्ती १४ भक्त।

(०) शरण आत्मनिवेदन (३)

(०) शान्ति विराग (१८)

(१९) श्रवणनिष्ठा ४ भक्त।

(०) शृङ्गार माधुर्य्य।

(२०) सख्यनिष्ठा ५ भक्त।

१	श्रीअर्जुनजी पाण्डव	१२५, २०६
२	गोबिंद स्वामीजी	६५२
३	गंगग्वालजी	८५८
४	गोपवृन्द श्रीसहचरियाँ ग्वाल मंडल	२४४, २४५
५	सुदामाजी	१०४

(२१) सत्सङ्गसाधुसेवा २९ भक्त।

१	श्रीकन्हर श्रीबिट्ठलसुत	८३७
२	श्रीकूबाजीकेवलदास	८२६
३	श्रीगणेशदेई रानी	६५६
४	गोपालीजी देवी	६१५
५	गोपाल बांबोली	८४४
६	एक ग्वालभक्तजी	४४०
७	श्रीजसू स्वामीजी	४५५
८	श्रीतिलोक सोनारजी	६४३
९	श्रीत्रिलोचनजी	३८२
१०	श्रीनन्ददासवैष्णवसेवी	४५७
११	नीवाजी	८३८
१२	विष्णुदास काशीर	८४४
१३	दो बाई सुत विष देनी	४०६
१४	वारमुखीजी	४५९
१५	(जयतारन) बिदुर खेतीवाले	८२४
१६	मनसुखदास स्वीनथ	
१७	श्रीमाधवदासजी	६६८
१८	श्रीरामदासजी	४५०
१९	श्रीरसिकमुरारिजी	६२१
२०	रानीजी सुत विष देनी	३९६
२१	राजा उस रानी का	३९६
२२	राजा उस बाई का	४०९
२३	श्रीरामरयन की धर्मपत्नी	७३४
२४	श्रीलाखाजी	६६७
२५	सदाव्रती महाजन	४२५
२६	श्रीसंतजी	६४२
२७	श्री ६ सेनजी	५२५
२८	श्रीहरिरामहठीले	५८७
२९	निष्किंचन नाम हरिपाल ब्राह्मण	४४४

(०) साधुसेवा सत्संग (२१)

(२२) सेवानिष्ठा १० भक्त।

१	श्रीआसकरन	८७६
२	राजकुमार श्रीकिशोर सिंहजी	७३६
३	श्रीनृपमणिजगतसिंहजी	६१०
४	श्रीजयमलजी	४३८

५ श्री६नरहरियानन्दजी ५३१
६ श्रीप्रेमनिधिजी ८६४
७ श्रीविष्वक्सेनजी ६५
८ श्रीलक्ष्मीदेवीजी ७४
९ श्रीशेषजी १३६
१० श्रीरामदूतश्रीहनुमानजी { २३५, ७६, २०५

(२३) सौहार्दनिष्ठा ५ भक्त।

१ श्रीकुन्तीजी १२६
२ राजर्षि श्रीजनकजी / श्रीमिथिलेशजी { ६७, १५६
३ श्रीयुधिष्ठिरादि पाण्डव १२६
श्रीद्रौपदीजी १३०
५ वृषभानुजी पुण्यपुंज २४४

(२४) ज्ञानी १३ भक्त।

१ श्रीअलर्कजी १७६
२ श्रीऊधवजी १२१
३ कान्हर समदृष्टि ७२८
४ नारायण बदरिकाश्रम ६०१
५ पूरनजोगी बिराटी ६५१
६ श्रीगुरुवर्य्य वशिष्ठजी २१५
७ श्रीबहुलाश्वराजामिथिला १३६
८ महर्षिश्रीबाल्मीकिजी द्वापरयुग १४८
९ श्रीविश्वामित्रजी २२६
१० श्रीजड़भरतजी (भरतखंड) { १६६, ५३२
११ श्रीलड्डूभक्तजी ५३२, ६४१
१२ श्रीश्रुतिदेवजी { १३६, २७७
१३ श्रीज्ञानदेवजी ३८१

संक्षिप्तयन्त्र (१)

पृष्ठ	युग	पूर्ण	मूल	टीका कवित्त	उपसंहार कवित्त	जिनकी कथा वर्णित	कितने नाम भक्तों के
२५६	सतयुग, त्रेता, द्वापर,	१३२	३७	१०५	....	१८० भक्त	३८२
६२७	कलि १७ शताब्दि	७११	१८७	५२४	५	२३५ भक्त	६५०
	जोड़	८४३	२१४	६२६	५	४१५ कथा	१०३२

संक्षिप्त यन्त्र (२)

नं०	निष्ठा	भक्त	नं०	निष्ठा	भक्त
१	अर्चा प्रतिमा	१७	१४	महाप्रसाद	४
२	अहिंसा दया	६	१५	माधुर्य्य शृङ्गार	२०
३	आत्मनिवेदन शरणागति	१२	१६	लीलामूर्ति	६
४	उपवास व्रत	२	१७	वात्सल्य	१०
५	कर्म धर्म	७	१८	वैराग्य शान्ति	१४
६	कीर्त्तन	१६	१९	श्रवण	४
७	गुरुनिष्ठ	१२	२०	सख्य	५
८	दास्य	१६	२१	सत्संग साधुसेवा	२९
९	धर्मप्रचारक	२१	२२	सेवा	१०
१०	धामनिष्ठ	८	२३	सौहार्द	५
११	नामनिष्ठ	७	२४	ज्ञानी	१३
१२	प्रेमी	१७			
१३	भेष	८	२५	सहस्र में से	२६९

॥ श्रीः ॥

(१) साधु शिरोमणि संतवर, हरिदासन के दास।
पंडितवर "श्रीप्रेमनिधि", प्रियवर "मधुकर वास" ॥ १ ॥
जानकिघाट प्रसिद्ध श्रीस्वामि विवेक प्रवीन।
"रामवल्लभाशरणजी", शोभा नित्य नवीन ॥ २ ॥
भक्तमाल भागौत श्री, वाल्मीकि तुलसीक।
संत समाज बखानहीं, होत पियूषहु फीक ॥ ३ ॥
(२) श्रीजानकिवर शरणजी, पंडित प्रेमागार।
"सहस धार" लक्ष्मण क़िला, परम प्रसिद्ध उदार ॥ ४ ॥
(३) श्यामसुन्दरी शरणजी, रसिक संत अविकारि।
कनकभवन श्रीप्यारिपिय, चरण प्रेम अधिकारि ॥ ५ ॥
(४) हनुमतपद-पंकज मधुप, संत गोमतीदास।
नेम प्रेम रत सर्वहित, शृंगारी तपरास ॥ ६ ॥
(५) स्वामी गंगादासजी, परमहंस शुचि शिष्ठ।
(६) रामनरायनदासजी, पंडित संत सुनिष्ठ ॥ ७ ॥
(७) लक्ष्मण शरण सुसन्तवर, कामद कुंज निवासि।
पूज्य वृद्ध विवेक निधि, प्रणतपाल तपरासि ॥ ८ ॥
सप्तऋषी श्रीअवध के, परम सुपूज्य महान।
भक्त उदार सुनेम के, खानि सुसन्त सुजान ॥ ९ ॥

नम्रनिवेदन।

जय श्रीजानकीवल्लभ करुणानिधि प्रियतम प्रभो, प्राणनाथ, तुम्हारी जय। नमामि नमामि। तुम्हारी कृपासे इस "भक्ति-सुधा-स्वाद तिलकयुत श्रीभक्तमाल" को प्रथम श्रीकाशीजी में सन् १९०३ में तुम्हारी "प्रणयकलाजी" (बलदेवनारायणसिंह) ने छः जिल्दों में छपवाया, (और केवल पूर्वार्द्धही को खड्गविलासप्रेम में भी) ॥

इसकी दूसरी आवृत्ति १९१३ में लखनऊ "नवलकिशोर यन्त्रालय से एक जिल्द में निकली ॥

अब तुम्हारी ही असीम कृपा से यह तीसरी आवृत्ति भी पुनः तेजकुमार प्रेस से ही प्रकाशित होती है। लो, प्यारे ! अपनी वस्तु तुम अपनाने की कृपा करो॥

जैसे तुम्हारे अनन्य प्रेमी भक्तों को तुम्हारा चरित (मानस-रामायण) प्रिय है, वैसेही स्वयं तुमको श्रीनाभाजी कृत यह भक्ति नाम माला गले का हार है; इस रहस्य और मर्म को गोस्वामी श्री-नाभाजी और उनके शिष्य श्रीगोविन्ददासजी एवम् श्रीप्रियादासजी भली भाँति जानते हैं। यही समझकर तुम्हारे एकान्त प्रेमियों की भी यह माला विशेष प्रिय है और यह उनका धन ही है, इसके अनुमोदक पाठकों पर तुम्हारी कैसी कृपा रहती है इसके कहने की आवश्यकता नहीं—

"सो जानइ जेहि देहु जनाई"॥
"चार जुगन में भक्त जे, तिनके पद की धूरि।
सरबस सिर धरि राखिहौं, मेरी जीवनि मूरि॥"

स्वामी पंडित श्रीप्रेमनिधि रामवल्लभाशरण महाराजजी, पं० श्री गंगादासजी भक्तमाली, श्रीतपस्वीराम भक्तमालीजी, पं० श्रीराम नारायणदासजी तथा श्रीश्यामसुंदरीशरणजी की कृपा जो इस दीन पर तुम्हारी प्रेरणा से हुई उसके लिये तुमको किन वचनों में और किस अन्तष्करण से धन्यवाद दूँ॥

अन्त में इस दीनकी यह भी प्रार्थना है कि तुम्हारी कृपा उन सज्जनों पर हो जिनने इस तृतीय संस्करण के मुद्रण में किसी प्रकार का उत्साह और श्रद्धायुत परिश्रम दिखाया है अर्थात्—

(१) बाबू श्रीराधारमनजी (२) बाबू बनबिहारीलाल और (३) श्रीगनेशप्रसाद (४) श्रीशीतलासहाय॥ पुनः यह तुमको समर्पित है।

बीसवीं (२०वीं) जनवरी सन् १९१६ से ही बाबू बलदेवनारायण-सिंह की यह इच्छा थी कि नवलकिशोर प्रेस इस ग्रंथ की तीसरी आवृत्ति छापने की कृपा करे परन्तु दूसरी आवृत्ति की सैकड़ों प्रतियाँ रहने के कारण बलदेव बाबू को सफलता नहीं हुई थी॥ श्रीअयोध्याजी १९८३ दीन रुपिया (रूपकला)॥

※ श्रीः ※

※ श्रीहनुमते नमः ※

१. श्रीसमर्थ रामदास स्वामी की जय (दक्षिण में)
२. श्रीतुकारामजी की जय (दक्षिण में)
३. श्रीधरनीदासजी महाराजकी जय
(श्रीसरयूतट माँझी स्थान ज़िला छपरा सारन)
४. श्रीपरसादीदासजी की जय
(परसा ग्राम महाराजगंज के पास ज़िला सारन छपरा)
५. स्वामीश्रीरामचरणदासजी की जय
(ग्राम परसा, महाराजगंज के पास ज़िला सारन छपरा)
६. स्वामी श्रीरामदास श्यामनायिकाजी की जय
(विष्णुपुर बेगूसराय ज़िला मुँगेर)
७. स्वामी श्रीरामचरणदास हंसकलाजी की जय (गुड़हट्टाभागलपुर)
८. स्वामी श्रीरामवल्लभाशरण प्रेमनिधिजी की जय जय जय
(श्रीजानकीघाट, अयोध्याजी)
९. श्रीटीकमदासजी महाराज की जय
(काशीनरेश का मंदिर श्रीकाशीजी)
१०. श्रीयुगलप्रियाजी की जय (चिरान श्रीगंगातट, ज़िला छपरा)
११. श्रीरामचरणदासजीमहाराजकीजय (बड़ीकुटियाश्रीअयोध्याजी)
१२. श्रीजानकीवरशरणजीकीजय (लक्ष्मणकिलापर, श्रीअयोध्याजी).
१३. श्रीगोमतीदासमाधुर्यलताजी की जय
(श्रीहनुमन्निवास, श्रीअयोध्याजी)
१४. श्रीपं० गंगादासजी परमहंसकीजय (बड़ीकुटियाश्रीअयोध्याजी)

श्रीहनुमते नमः

(सन्त भगवन्त)

कवित्त ।

"जैसे प्रभु मानुष बपुष धरि लीला करैं, तैसे सुखशीला हैं चरित सब सन्त के। सठन की सिला सम कुमति सुशीला करैं, भंजैं भवचाप ज्यों कुदोष जे दुरन्त के ॥ बिमल बचन धनु बान हीं ते जातुधान काम कोह लोभ मोह मारैं उर अन्त के। चारौं जुग जीवन उधारकारी रसराम सन्त अवतार सम राम भगवन्तके ॥ १ ॥

(सन्त बिन कैसे कोऊ जानै भगवन्तको) ।

कवित्त ।

माया को देखाय कै छिपाय भगवन्त जब तब सन्त बुद्धि सों बतावत अनन्त को। धारैं भगवन्त जब मानुष बपुष तब सन्त भगवन्त कहि गावैं रसवन्त को ॥ ईश्वर न कोई जीव नश्वर कुवादी कहैं तिन्हैं सन्त जीति वाद थापैं सीता कन्त को। नाम को सुनायके जनावैं रसराम रूप सन्त बिन कैसे कोऊ जानै भगवन्त को ॥ २ ॥

कवित्त ।

नाम रूप लीला धाम निष्ठा रसरंगप्रेम भनी नौधा भक्ति परा प्रेमा रस पाँच है। गाई है सँचाई भरी कथा सन्तसेविन की जिनको सुनत साधु सेवा मन राँच है ॥ प्रेमिन को पूरो प्रेम नेमिन को नेह नेम कान कौं करत मिटै मद मान आँच है। पागि प्रीति आभा दियो नाभा जू अलभ्य लाभा भाष्यो भक्तमाल मध्य भक्तिरूप साँच है ॥ ३ ॥

दो० "भवसागर भवरत्न बहु, भक्त सु तिनकी माल ।
नाभा जू आभा भरी, अर्पे हरिहिं विशाल ॥ १ ॥
हरि भक्तनि हिय बीस धरे, माला कंठ अमोल ।
धन्य सुजन जे प्रेम ते, बाँचहिं सुनहिं अमोल ॥ २ ॥"

श्रीश्यामनायिकायै नमः । श्रीहंसकलायै नमः ॥ श्रीप्रेमनिधये नमः ॥

श्रीसियसहचरीगोस्वामीनाभाजी (श्रीनारायणदास)

दो० "भक्तमाल आचार्य्यवर, श्रीनाभा पदकंज ।
भवसागर दृढ़ नाव बड़, बन्दौं मंगल पुंज ॥ १ ॥"
"श्रीनाभा नभ उदित ससि, भक्तमाल सो जान ।
रसिक अनन्य चकोर ह्वै, पान करैं रसखान ॥ २ ॥"

छप्पय ।

"कमलनाभ अज विष्णुके, त्यों अग्रनाभ नाभा भयो ॥
उन हरि आज्ञा पाय सकल ब्रह्मांड उपायो ।
इन गुरु आज्ञा पाय भक्त निर्णय को गायो ॥
चार युगन के भक्त गुणन की गूँथी माला ।
अंगहि अंग विचित्र बनी यह परम रसाला ॥
व्रजवल्लभ अचरज कहा, सीतापति जापै जयो ।
कमलनाभ अज विष्णुके, त्यों अग्रनाभ नाभा भयो" ॥ ३ ॥

कवित्त ।

नाभाजू बिसाल बुद्धि आज्ञा अग्र धारि सिर, बिरचे कराल शस्त्र काटने को भ्रमजाल । पढ़त अनन्द बाढ़े रसिक सु भक्त हिये, सरल मनोहर सुखद कविता रसाल ॥ भने व्रजवल्लभ अविद्या कर अन्धकार करे दूर, सन्तनको सहज करे निहाल । प्रेम दीप बारे उर, पतित उधारे कोटि, काग ते मराल करे, साँची ऐसी भक्तमाल ॥ ४ ॥

सवैया ।

भक्तन को यश पुंज बटोर सु नाभा अलौकिक माला बनायो ।
ताकर टीको कियो प्रियादासजू सन्तन को अतिही मन भायो ॥
त्यों व्रजवल्लभ रूपकला सिय किंकरि 'भाश' अनूप लगायो ।
"भक्तसुधा" रस "स्वाद" ललाम सु प्रेमिन को मन मोद बढ़ायो ॥ ५ ॥

सवैया ।

चारु सरोज सो छप्पै सुहावन सन्तन को मन भृङ्ग लुभायो ।
सादर पान करे रस को ज्यों चकोर मयङ्क के नेह भुलायो ॥

प्रेम पराग को त्यों ब्रजबल्लभ गन्ध मनोहर है जग छायो।
पावनि भक्तन को गुन गाथ की माल अनूपम नाभा बनायो ॥ ६ ॥

दो० भक्त नारायण भक्त सब, धरे हिये दृढ़ प्रीति।
बरने आछी भाँति सो, जैसी जाकी रीति ॥

"श्रीहनुमत् जन्म विलास" में नामानुरागी मुंशीराम अम्बेसहायजी ने लिखा है कि—

चौपाई।

"एक दिवस, हरि हररस पागे। योगाभ्यास करन तहँ लागे ॥
नैन मूँदि, बैठे गुणसागर। तपनिधान कपिबंश दिवाकर ॥
बह्यो प्रस्वेद शरम अति कीन्हा। गुप्तभेव गिरिनायक चीन्हा ॥
सो श्रमबिन्दु ईश गहि लीन्ही। जगतारनकी इच्छा कीन्ही ॥
शिवानाथ तेहि राख्यो गोई। यह प्रसङ्ग जाना नहिं कोई ॥
हे मुनिगण ! हे तपबलरासा। यहाँ भविष्य सुनो इतिहासा ॥
ह्वैहै जब कलिकर परचारा। छीजै भक्तिभाव आचारा ॥
तब गिरीश सो बिन्दु सुहाई। नभमगतजिहिं देव सुखदाई ॥

दो० "गहै भूमि बरबिन्दु सो, हरि जन काज विचार।
उपजै ताते रूप शुभ, भक्ति योग आगार ॥
नन मूँदि बैठे कपी, यहिते होइ अनैन।
"हनुमतवंशी" विमल मति, योग भक्ति तप ऐन ॥
सो अयोनिजा, योगधन, जाको वर्ण न ज्ञात।
स्वयं सिद्ध, पातक विगत, जग में हो विख्यात ॥
'भक्तमाल' अद्भुत रचै, पूरै जन मन काम।
'नाभा' 'नाभा' सब कहैं, 'नभोभूज' हो नाम ॥"

स्वामी अनन्त श्रीरामानन्दजी महाप्रभु के प्रशिष्य तथा श्री-अनन्तानन्दजी के शिष्य श्रीकृष्णदासपयहारीजी के कृपापात्र श्री १०८ अग्रदासजी तथा श्रीकील्हजी ने एक दिन किसी वन के मध्यमार्ग में एक पाँच वर्ष के अन्धे बालक को देखा, जिसके माता पिता कौन थे सो कैसे जाना जाय ? पर यह निश्चय होता है कि महाघोर अकाल के कारण उन्होंने उन्हें अनाथ छोड़कर चल देने

का साहस किया अतएव निर्दयी कहलाना अंगीकार किया ॥

महात्माओं ने उन्हें वानर वा हनुमान्वंशीय लिखा है और महाराष्ट्र वा लांगूली ब्राह्मण श्रीरामदासजी के भाई के वंश में उनका उद्भव वर्णन किया है; किसी किसी ने उन्हें 'डोम' जाति का लिखा है जो जाति उस देश में उत्तम भाट, चारण, तथा कत्थक की सी है (इधर का सा नीच बँसफोड़ डोम नही); किसी महात्मा ने उन्हें अयोनिज लिखा है और श्रीहनुमान्जी का अंशावतार बताया है। किसी ने ब्रह्माजी के अवतार श्रीलाखाजी भक्तकी जाति का कहा है। (पृष्ठ ४७।५१ देखिये) अस्तु, श्रीहरिभक्तों की जाति पांति वक्तव्य नहीं है ॥

उक्त दोनों महानुभाव वहाँ रुके। असहाय बालक देख उन्हें "लागि दया को मल चित संता" अतएव उन लोगों ने कृपादृष्टि की। सच कहा है "सन्त विशुद्ध मिलहिं परि ताही। चितवहिं राम कृपा करि जाही ॥" दोनों महानुभावों ने पूछा "बालक! तुम कौन हो?" उत्तर मिला "महाराज! आप इस पंचभूत रचित क्षणभंगुर शरीर को पूछते हैं? वा परमात्मा के करुणापात्र अविनाशी जीवात्मा को?" (पाठक! होनहार बिरवान के होत चीकने पात।) "शारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अन्तर्यामी ॥"

उक्त महानुभावों ने उन पर श्रीहरिकृपा होनेवाली समझ, अपने कमण्डलु के जल के छींटे से बालक की आँखों में ज्योतिप्रदान किया और अपनी "गलता" गादी में लाकर श्रीरामकृपा से सन्तों की सीथ प्रसादी तथा चरणामृत पाने को बताकर, भजन के समय पंखा करने की सेवा दी, नारायणदास 'नाभा' पुकारे जाने लगे। सन्तों के चरणोदक तथा सीथ प्रसादी से जो पाला जाय एवम् महानुभाव की सेवा कैंकर्य्य का सौभाग्य जिसको हो उस भागवत कृपापात्र महाभाग्य भाजन का कहना ही क्या है। ऐसे भागवतकृपा की जय तथा हरिकृपा की बलिहारी।

एक समय श्रीअग्रस्वामीजी मानसी भावना में निमग्न थे, और आप (श्री ६ नाभाजी) नियमानुसार पंखा झल रहे थे। इतने में श्रीस्वामीजी

महाराज के एक चेले ने, (जो समुद्र पर एक जहाज़ में जा रहा था जहाज़ के रुक जाने से विकल हो आरत वाणी से पुकारते हुए, श्री अग्रदेव महाराज का ध्यान किया। श्रीरामकृपाभाजन नाभाजी अपने महा प्रभुजी की अनुपम रहस्य श्रीसेवा में यों विघ्न आ पड़ना सह न सके; कृपापूर्वक उसी पंखे के वायुबल से उन्होंने जहाज़ को चला दिया; और श्रीमहाराजजी से प्रार्थना की कि प्रभो! दीनबन्धो! वह बोहित तो आपकी कृपा से ही आपदा से बचकर कहीं का कहीं निकल गया और दूर जा रहा; अब आप, अपने श्रीचित्त को उधर न ले जाकर, शान्तिपूर्वक स्वकार्य्य में तत्पर रहें और पुनः उसी अनुपम भावना में लगें। यह सुन नेत्र उघार, उनकी ओर निहार, श्रीस्वामीजी ने पूछा "कौन बोला?" (आपने श्री १०८ नाभाजी ने) हाथ जोड़ विनय किया और कहा कि "नाथ! वही शरणागत बालक, जिसे आपने सीथप्रसाद से कृपा पूर्वक पाला है॥"

इतना सुनते ही आप नवीन आश्चर्य्य में आकर विचारने लगे कि "भगवत् भागवत कृपा से इसकी यहाँ तक पहुँच हो गयी!" और साथ ही श्रीस्वामीजी के मन में आनन्द भी छा गया कि अपना लगाया वृक्ष यों फूलने फलने लगा॥

श्री १०८ अग्रदेवजी ने आपके हाथ से पंखा ले लिया और यह आज्ञा दी कि "वत्स! तुझ पर भक्तों सन्तों का अनुग्रह और प्रभाव हुआ; अतः तू श्रीहरिभक्तों का चरित्र गान कर॥"

आपने सादर निवेदन किया "प्रभो! भगवद्गुण तो उलटा सीधा गा लेना इतना कठिन नहीं है, पर भागवतों का यश वर्णन करना तो महा कठिन है।" श्री १०८ स्वामीजी महाराज ने समझाया कि "पुत्र! जिनने तुझे सागर में बोहित और मेरे हृदय में श्रीस्वरूप दिखा दिया, वे ही तुझे अपना तथा और और महानुभावों का अलौकिक एवम् पवित्र चरित्र दिखा देंगे। सो तू अब भागवतयश कहही चल॥"

ऐसा वरदानात्मक श्रीवचन सुन के आप उद्यत हो गये। और आपने "श्रीभक्तमाल" को २१४ छन्दों में रच डाला। जिसमें चारों युगों के भक्तों का पुनीत यश वर्णित है॥

श्रीकान्हरदासजी के भण्डारे महामहोत्सव में संवत् १६५२ में बहुत महानुभाव इकट्ठे थे। वहीं सबों ने मिलकर आपको "गोस्वामी" की पदवी दी॥

श्रीभक्तमालजी*का बनना विज्ञजनोंने ("संवत् १६३१ के पीछे और संवत् १६८० के पहले"), १६४६ के लगभग निश्चय किया है। आपके परमधाम गमन का समय महात्माओं से १७१६ सुना गया है। श्रीप्रियादासजी ने जो श्रीनाभा स्वामीजी की आज्ञा से १७६६ में टीका बनाई; वह आज्ञा (पचासवर्ष पीछे) "ध्यान के समय हुई थी॥"

श्रीभक्तमाल ग्रन्थ की प्रशंसा किस से हो सकती है। इसके विषय में जो कुछ कहा जाय वह थोड़ा ही है। "विना 'भक्तमाल' भक्तिमणि अति दूर है।" एक तो इसमें भक्तों की गुणावली है॥

दो० "सब सन्तन निर्णय कियो, श्रुति, पुराण, इतिहास।
भजबे को द्वौ सुघर हैं, की हरि, की हरिदास॥"

तिस पर इसके रचयिता स्वयम् परम भक्त ठहरे॥

पद्य होने के कारण श्रीप्रियादासजी की टीका सर्वसाधारण की समझ में नहीं आती थी अतएव श्रीसीतारामशरण भगवान् प्रसादजी ने सन्त चरित्र जानने की सुगमता के लिये तथा अपने आनन्द के निमित्त गद्य में "भक्तिसुधास्वाद" नामक तिलक लिखा है। यह पुस्तक अपने नाम के अनुसार ठीक बनी है तथा पाठकों के हृदय में पीयूषधारा प्रवाहित करती है। इसमें सन्देह नहीं। भक्ति तथा प्रेम की जय मनाता हुआ मैं इस प्रबन्ध को समाप्त करता हूँ॥

गोस्वामि श्रीनाभाजी।

"श्रीनाभा नभ उदित ससि, भक्तमाल सो जान।
रसिक अनन्य चकोर ह्वै, पान करैं रसखान॥"

(षट्पदी)

"कमलनाभ अज विष्णु के, त्यों अग्रनाभ नाभा भयौ॥
उन हरि आज्ञा पाय सकल ब्रह्माण्ड उपायौ।

* दोहे १७, कुंडलिया १, छप्पय १९६ सब छन्द २१४

इन गुरु आज्ञा पाय भक्तमाला शुचि गायो ॥
चार युगन के भक्त गुणन की गूँथी माला ।
अंगहि अंग बिचित्र बनी जू परम रसाला ॥
लघुमोहन अचरज कहा सीतापति जापै जयो ।
कमलनाभ अज विष्णु के त्यों अग्रनाभ नाभा भयो ॥"

श्रीभक्तमाल के कर्त्ता श्रीअग्रस्वामी के शिष्य श्रीनाभा स्वामीजी श्रीरामानन्दीय वैष्णव थे और भक्तिमार्ग के प्रचारक। जिस किसी प्राणी में श्रीभगवत् की भक्ति हो उसी के आदर करनेवाले थे। नीच जाति और भक्तिरहित उच्च जाति अभिमानी दोनों ही को बराबर समझते। परमहंस संहिता श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी परमहंस का भी यही सिद्धान्त है। "श्रीधर श्रीभागौत में परमधरम निर्णय कियो।" भगवत-भक्तों को ही अपना पूज्य शिरोमणि मानते थे॥

चौपाई ।

"जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरिका होई॥"
"कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगतिकर नाता॥"
दो० "अग्र कहै तिहुँ लोक में हरि उर धर सोई बड़ो॥"

चौपाई ।

"पर हित बस जिनके मन माहीं। तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥"
दो० "भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम बपु एक॥"

जीवमात्र को हरिसन्मुख करना यही आपका उद्देश्य था और यही श्रीरामानन्द स्वामीजी के सम्प्रदाय का मत है॥

चौपाई ।

"कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा॥
सोह सैलगिरिजा गृह आये। जिमि नर रामभक्ति के पाये॥"

श्लो० "शतकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः।
एक एव परोमन्त्रो 'राम' इत्यक्षरद्वयम्॥"

☞ पतितपावन नाम 'श्रीराम' की जय॥ ☜

इति श्रीभक्तिसुधास्वाद तिलक समाप्त॥ श्रीसीतारामार्पणमस्तु॥

श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

श्रीहनुमते नमः।

भक्तिसुधास्वाद श्रीभक्तमाल के तिलक के कर्ता की संक्षिप्त जीवनी।

"स्वामी श्री १०८ रामचरणदास महाराजजी के शिष्य, श्रीवास्तव कायस्थ मुंशीतपस्वीराम भक्तमालीजी के आत्मज, श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद रूपकलाजी बाईस वर्ष की अवस्था में सन् १८६३ ईसवी में ३० रु० पर पटने के सब इन्स्पेक्टर-ऑफ़ स्कूल्स नियत हुए। शाहाबाद, गया, चम्पारन, सारन, मुजफ़्फ़रपुर, दरभंगा, इत्यादि ज़िलों में फिरने के अनन्तर, पुरनिया नार्मल स्कूल के हेडमास्टर ८० रुपये पर नियत हुए; १८६७ में १०० रु० की डिपुटी इन्स्पेक्टरी का पद पाकर मुँगेर गए; जहाँ प्रायः बारह वर्ष रहे; सन् १८७८ से २०० रु० वेतन पाने लगे; और १८८१ में भागलपुर गए। सन् १८८४ में श्रीसीताराम कृपा से आपकी उन्नति गज़टेड डिप्टी इन्स्पेक्टर ३०० रु० मासिक पर हुई। १८८६ में आप फिर पटने आए। संवत् १९४२ (१८८५ ई०) में आपके पिताजी का वैकुण्ठवास हुआ, और १९४७ (१८९० ई०) में आपकी स्त्री का भी, सन् १८९५ में श्रीमाताजी का भी॥

(२) तीस ३० वर्ष से अधिक गवर्नमेंट की नौकरी कर संवत् १९५० (१८९३ ई०) में काम छोड़, श्रीसीताराम कृपा से सीधे श्रीअयोध्याजी पहुँचे, आपने वैराग्य धारण किया॥

(३) श्रीभक्तमाल का तिलक, इत्यादि लिखे॥ आप सन् १८९३ ई० से श्रीसीताराम कृपा का धन्यवाद गुणानुवाद गाते गवाते हुए, बराबर श्रीसरयू अयोध्याजी के शरण में विराजते रहे। डेढ़ सौ महीना पेन्शन पाते थे। अब आप इस असार संसार को त्यागकर वैकुण्ठ धाम को चले गये॥

"प्रसाद रामनाम के पसारि पाँय सूतिहौं॥"

भक्तमाल सटीक के भक्तिसुधास्वाद तिलक के प्रकाशक की संक्षिप्त जीवनी सचित्र।

श्रीसीतामढ़ी ज़िला मुज़फ़्फ़रपूर ग्राम बुलाकीपूर में ऐठाना कायस्थ बाबू बलदेवनारायणसिंहजी का जन्म संवत् १९१७ के फाल्गुन में हुआ। आपने सन् १८८२ में एन्ट्रेन्स पास किया। मुज़फ़्फ़रपूर एक्स्ट्रा सबजज्ज की कचहरी में पेशकार और सन् १८८३ में गया अडिशनल सबजज्ज के सरिश्तेदार बहाल हुए। १८८६ में नौकरी छोड़, तारीख़ ६ अगस्त से गयाजी में वकालत करने लगे। गयाजी में भी एक उमदा मकान और वाटिका है आपके पुत्र नहीं परन्तु दो लड़कियाँ हैं॥

(२) बाबू बलदेवनारायणसिंहजी श्रीरामानन्दीय वैष्णव थे। आपने तीर्थाटन भी किया था। वकालत छोड़ श्रीअयोध्यावास करने लगे। श्रीस्वर्गद्वार का रूपकला कुञ्ज भी आपही का बनवाया हुआ है। आपके "रुक्मिणी बल्देवफ़ण्ड" से उसकी मालगुज़ारी अदा और मरम्मत होती है। इसको श्रीरूपकलाजी के निमित्त वक़्फ़ कर दिया है॥

(३) श्रीभक्तमाल सटीक सतिलक को आपही ने श्रीकाशीजी में छपवाकर प्रकाशित किया। श्रीअयोध्याजी ही में १९८२ संवत् में आप परमधाम गये। आप बड़े धर्मात्मा, विवेकी, उदार और भजनानन्द और विशेषतः नामानुरागी थे। इनका चित्र यह है॥

श्रीसीताराम

बाबू बल्देवनारायण सिंह। (१९०३)

श्रीश्यामनायिकायै नमः । श्रीहंसकलायै नमः । श्रीप्रेमनिधये नमोनमः ॥

श्रीभक्तगुण और लक्षण ।

श्रीहंसकलाशिष्य बाबू खेदनलाल लिखित ।

"सुनु मुनि सन्तन के गुण जेते । कहि न सकहिं शारद श्रुति तेते ॥"

[१] भगवत् नाम, मन्त्र, जाप

[२] भगवत् पदकंजस्मरण

[३] श्रीगुरुहरिपदपद्म में पराअनुरक्ति

[४] भागवतों (भक्तों) की सेवा

[५] भगवत्धाम में निवास

[६] श्रीअयोध्याजी में प्रेम

[७] हरिलीलाकथाश्रवण

[८] हरियशस्तुतिकीर्तन

[९] भक्तों के यशकीर्तन

[१०] श्रीरूप का ध्यान

[११] सादर लीलादर्शन

[१२] सादर भक्तपदवन्दन

[१३] ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक करना

[१४] कण्ठी धारण (वैष्णववेष)

[१५] माला (सुमिरिनी) फेरनी

[१६] भगवदायुध छाप धारण

[१७] प्रपत्तिशरणसूचक नाम

[१८] प्रपन्नता (शरणागति)

[१९] भागवत (भक्त) पदप्रेम

[२०] भगवत्विमुखों से दूर रहना

[२१] कुसमाज से अलग रहना

[२२] वैरी से वैर तजना

[२३] वैष्णव भक्तसन्त का संग

[२४] विराग और उदासीन वृत्ति

[२५] भगवत् भागवत चरणामृतपान सादर-सप्रेम करना

[२६] श्रीमहाप्रसादसेवन

[२७] शृङ्गार आदिक रसनिष्ठा

[२८] जगत् को निज प्रभुमय देखना मन क्रम वचन से

[२९] भागवत धर्मों का मनन

[३०] भजन, कैंकर्य, दास्य, सेवा

[३१] भगवत् आस विश्वास

[३२] केवल एक भगवत् आस और भरोस

[३३] आत्मनिवेदन सर्व समर्पण

[३४] जगज्जाल का समेटना

[३५] परनिन्दा, परदोष तजना

[३६] छल कपट कुटिलाई का त्याग

[३७] सरलता, सुशीलता, सत्य व्यापार से भूषित होना

[३८] मितिभाषिता और मिष्ठभाषण, मौन (चुप)

[३९] दीनता, नम्रता (वस्तुतः), विनय, कार्पण्य

[४०] मद, मान, अभिमान छोड़ना (मन वचन कर्म से)

[४१] क्रोध छोड़ना, क्षमा और सहन-शीलता धारण करना

[४२] लोभ से बचना, और संतोष धारण; प्रसन्नता

[४३] विषयवासनात्याग, निष्कामता, निर्मलता

[४४] परनारी को नागिनी सी देखना, कलंकमूल जानना

[४५] परवित्त को विषवत् जानना

[४६] दम्भ नहीं (मन कर्म वचन)

[४७] अहिंसा, कर्म मन वाणी से

[४८] दया, करुणा, कृपा, छोह

[४९] सच्चा बर्ताव

[५०] सत्य वँचन (प्रिय करके)

[५१] कुतर्कहीनता

[५२] मोहपरित्याग

[५३] भक्तिपक्ष का आश्रय

[५४] शोच-विचार-विवेक

[५५] अनघता, पाप से डर

[५६] जितेंद्रियता और मितभोगिता धर्मानुकूल

[५७] मानदाता अर्थात् औरों को मान देना कर्म वच मन

[५८] धीरता गम्भीरता भारीपन

[५९] विगतसन्देह होना

[६०] पर गुण सुनकर हर्षित होना

[६१] सब पर समदृष्टि, समता

[६२] भागवत व्रत किया करना

[६३] दम, [६४] नियम और [६५] संयम

[६६] मृत्युकाल को न भूलना

[६७] अमूल्य समय को न खोना

[६८] श्रद्धा [६९] अमाया

[७०] कुपथ को छोड़ना

[७१] सुपथ चलना और [७२] चलाना

[७३] दास्यनिष्ठा

[७४] शृङ्गारनिष्ठा

[७५] निर्जन एकान्तप्रियता

[७६] माधुर्य्य-ऐश्वर्य्य, दोनों

[७७] सख्यनिष्ठा

[७८] सौहार्दनिष्ठा

[७९] वात्सल्यनिष्ठा

[८०] अपने को जगत्पिता माता का पुत्र मानना

[८१] भजन में चित्त अचंचल, तथा मन को स्वाद और आनन्द आना

[८२] पवित्रता, शौच, शुद्ध अन्तःकरण होना

[८३] अल्पाहार, विना भूख के भोजन न करना

[८४] शील, उदारता, दान, परहित

[८५] अपने दूषणों, अपराधों, और दोषों को समझना, उन पर ग्लानि लज्जा भय और पश्चात्ताप करना

[८६] सन्ध्या, अर्द्धरात्रि और ब्राह्ममुहूर्त को भगवत्पदचिन्तवन-ध्यान में अवश्य सुरति को लगाना

[८७] श्रवण, नयन, रसना और मन को विशेषतः रोकना

[८८] अन्तःकरण को भगवत् बिन अन्य किसी में रमने न देना

[८९] कर्मेन्द्रियाँ जो कर्म करें उसमें अन्तःकरण को लगने न देना स्वास न खोना

[९०] भगवत् कृपाओं को समझना और धन्यवाद करना गुण गाना

[९१] प्रियतम प्रभु से बातें किया करना

[९२] अपने तईं भजन पूजा व किसी सुकर्म का कर्ता न जानना

[९३] निद्रा, आलस्य, प्रमाद, असावधानता-त्याग, स्मरण भजन सत्संग में रमना

[९४] श्रीगुरु भगवत् और भागवतों के सामने जो काम न करना चाहिए उसको कदापि न करना

[९५] मरने की घड़ी जिसकी ओर चित्त जाना भला समझा जाता है उसी ओर सदा मन चित्त लगाना

[९६] इस घड़ी के कृत्य कर्तव्य को भविष्य पर न उठा रखना

[९७] मत्सर तज, अपने सरिस औरों के लिये चाहना

[९८] अहंता ममता मैं मोर हम हमार तजके, जो कुछ जानते हैं उसको आचरण में चरितार्थ करना

[९९] अष्टयाम मानस भावना

[१००] सुरति सदैव अचल वहीं

[१०१] गुप्त जाप और उच्च स्वर से भी नामोच्चारण करना

[१०२] अभ्यास, जतन, श्रम

[१०३] शान्ति, निर्द्वन्द्वता विरति

[१०४] प्रेमदशा, जैसे गद्गद वचन सजल नयन इत्यादि

[१०५] विप्रचरण अति प्रीति

[१०६] श्रीसरयू गंगा यमुना महिमा

(१०७) कवित्त ।

'श्रद्धा' ई फुलेल औ उबटनौ 'सरवन कथा' मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये । 'मनन' 'सुनीर' अन्हवाइ अँगुछाइ 'दया' 'नवनि' वसन, 'पन' सोंधो, लै लगाइये ॥ आभरन 'नाम' 'हरि' 'साधुसेवा' कर्ण-फूल, 'मानसी' सुनथ, 'संग' अंजन, बनाइये । "भक्ति महारानी" कौ सिंगार चारु, बीरी 'चाह', रहै जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये ॥ १ ॥

बड़े भक्तिमान, निशि दिन गुणगान करैं, हरैं जगपाप, जाप हियो परिपूर है । जानि सुखमानी हरि सन्त सनमान सचे, बचेऊ जगत रीति, प्रीति, जानी मूर है ॥ तऊ दुराराध्य, कोऊ कैसे के अराधि सकै, समझो न जात, मन कंप भयो चूर है । शोभित तिलक भाल, माल उर राजै, ऐपै 'बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है' ॥ २ ॥

(१०८) श्रीभक्तमाल, श्रीभागवत, श्रीनारदभक्तिसूत्र, श्रीरामचरित्रमानस, श्रीजानकी-स्तवराज, श्रीरामस्तवराज, श्रीभगवद्गीता, श्रीवाल्मीकीय रामायण, इत्यादि को पाठ करना तथा सुनना सुनाना ॥

चौपाई ।

एवमादि हरिजन गुण जेते । कहि न सकहिं श्रुति शारद तेते ॥
जलसीकर महिरज गनि जाहीं । हरिजनगुण नहिं बरनि सिराहीं ॥

दीन खेदनलाल *

* बाबू खेदनलाल कसवन्दन पेन्शनर, श्रीस्वामी हंसकलाजी के शिष्य, महल्ला गुदड़हट्टा शहर भागलपुर ॥

श्रीभगवद्भक्तेभ्यो नमः ॥

अथ श्रीभक्तमाल-माहात्म्य ।

वृन्दावनवासी श्रीवैष्णवदासजी प्रणीत

दो० वन्दौं भक्तसुमाल भल, भक्तन यश मुद मूल ।
जो अति प्रियभगवंतकौं, हरन घोर त्रय शूल ॥ १ ॥
रसिकरूप हरिरूप पुनि, श्री चैतन्य स्वरूप ।
हृदय कूप अनुरूप रस, उभल्यो बहै अनूप ॥ २ ॥
श्री नारायणदास जी, कीन्ही भक्तसुमाल ।
पुनि ताकी टीका करी, प्रियादास सुरसाल ॥ ३ ॥
ताको साधुनि के कहे, करौं महात्म बखानि ।
लै ग्रंथन मत साधुनिक, परचै रस की खानि ॥ ४ ॥
भक्तनि की महिमा कही, कपिल ऋषी भगवान ।
नारायण अरु शौनकहु, मैं का करौं बखान ॥ ५ ॥
सबै शास्त्र हैं आरसी, जन महिमा प्रतिबिंब ।
रति दृग बिन सूझै नहीं, ज्यों अंधहि तरु निंब ॥ ६ ॥
और शास्त्र के श्रवण के, फल श्रीहरि निर्धार ।
ते यहि के श्रोता अहो, याते महिम अपार ॥ ७ ॥
जोइ चाहै हरिप्राप्तिको, सुनै सोइ हरषाय ।
यामें दुइ इतिहास हैं, सुनिये चित्त लगाय ॥ ८ ॥

चौपाई ।

प्रियादास के मित्र ललामा । श्रीगोवरधननाथ सुनामा ॥ १ ॥
तिन श्रीभक्तमाल पढ़िलए । साभरि की रामत को गए ॥ २ ॥
मग में श्री गोविंद देव के । दरश हेतु गे सुरन सेव के ॥ ३ ॥
तहँ श्री राधारमन पुजारी । हरिप्रियरसिकअनन्यसुभारी ॥ ४ ॥
सो तिन कहँ राखे सुखसाजा । भक्तमाल सुनबे के काजा ॥ ५ ॥
होन लगी तहँ भक्तसुमाला । जहाँविराजत गोविंदलाला ॥ ६ ॥
कछुक दिनन तौ बाँचत भए । पुनि साभरि के रामत गए ॥ ७ ॥
यहै कौल कीन्हों निरधारा । पूरन करिहौं फिरती बारा ॥ ८ ॥

रामत करि जब आए सही। काल्हि कथा कहिहैं तब कही ॥ ९ ॥
पै कहँ रही सँभार सुनाहीं। तब श्रीप्रभुनिशिसपनेमाहीं ॥ १० ॥
कही पुजारी सों यह बाता। हमने कथा सुनी सुखदाता ॥ ११ ॥
श्री रैदास भक्त की अहो। कथा भई अब आगे कहो ॥ १२ ॥

दो० सुनत पुजारी के दृगन, आँसू बहे अपार।
याके श्रोता आप हैं, यहै कियो निरधार ॥ १ ॥

चौपाई।

पुनि दूजो इतिहास सुनो अब। प्रियादास टीका कीन्हीं जब॥ १ ॥
तब व्रज परिकरमा को गये। फिरत फिरन होड़ल जा छये॥ २ ॥
लालदास तहँ रहें महन्ता। बड़े सन्तसेवी रसवन्ता ॥ ३ ॥
सब समाज तिन राख्यो सही। भक्तमाल कहिये यह कही ॥ ४ ॥
भक्तमाल तहँ होन सुलागी। सुनन लगे सबलोग सुभागी ॥ ५ ॥
यक दिन तहँ निशि आये चोरा। सबै वस्तु लीन्हीं सु ढँढोरा ॥ ६ ॥
ठाकुर हूँ को ते लै गये। हरिही के ये कौतुक नये ॥ ७ ॥
प्रात भये सबही दुख छाये। प्रियादास हूँ अति अकुलाये॥ ८ ॥
कथा कही न रसोई कीनी। बहुरो यहि दुख में मति भीनी ॥ ९ ॥
ठाकुर को यह चरित न प्यारे। यहि ते चोरन संग पधारे॥ १० ॥
तब तों श्रीमहंत यह कही। हरि तो त्यागि गये मोहिंसही॥ ११ ॥
तुमहूँ त्याग करोगे जो पै। मेरी गति का होइहै तोपै ॥ १२ ॥
ताते हरि इच्छा मन दीजै। कहिये कथा रसोई कीजै ॥ १३ ॥
तब श्री प्रियादास यों कही। अब ते कथा न कहिहौं सही॥ १४॥
श्रीनाभाजी वचन उचारे। ज्यों जनको हरिके गुन प्यारे॥ १५॥
त्यों जन के गुन प्यारे हरिको। अब यह सतमानै उरधरिको॥ १६॥
अस कहि सब दिन भूखे रहे। तब सपने हरि चोरनि कहे ॥ १७॥
मोहिं जहाँ के तहँ पहुँचावो। नातरु तुम बहुतो दुख पावो ॥ १८॥
दुगुने दुःख परे हैं हम पर। चौगुन दुख डारब हम तुमपर॥ १९॥
एक भक्त मम है दुखमाहीं। भक्तमाल पुनि सुनी सुनाहीं॥ २०॥
अस सुनि चोर उठे अधराता। ठाकुर को लै हरषितगाता ॥ २१॥

ढोल बजावत गावत आये। संग सबै सामग्री लाये॥ २२॥
प्रात होन पायो नहिं सही। यक दुजआय सबनसोंकही॥ २३॥
चोर तुम्हारे ठाकुर ल्यावत। झाँझ बजावत गावत आवत॥ २४॥
सुनि सब साधु निपट हरषाये। नाम उचारत सनमुख धाये॥ २५॥
सुधि बुधि गई प्रेम उर छाये। जाय परस्पर मिले सोहाये॥ २६॥
चोरौ कछु कहिसकैं न बतिया। दृग भरि आये फाटतछतिया॥ २७॥
पुनि धरि धीर कहनअसलागे। स्वपने कह्यो जो हरिदुख पागे॥ २८॥
दोहरे दुःख परे हैं हमको। देहैं दुःख चौहरे तुमको॥ २९॥
नातो अबहिं हमहिं लै चलो। सन्तनि को देवो अति भलो॥ ३०॥
यक दुख मम जन भूखे सही। सुने जु भक्तमाल पुनि नही॥ ३१॥
सुनि यह बात सबै हर्षाने। नाभा वचन सत्य सब जाने॥ ३२॥
गेह ल्याय बड़ उत्सव कीनों। सबको मन जन चरितन भीनों॥ ३३॥
याके श्रोता हैं हरि आपै। सब यह जानि तजे मन तापै॥ ३४॥

दो० हाथ कंकनहिं आरसी, कहा दिखाये माहिं।
हरि श्रोता बिन सबनि के, यों मन अटकत नाहिं॥ ३५॥

चौपाई।

श्रोता वक्ता को फल जोई। कापै कहि आवत है सोई॥ ३६॥
जो लिखाय उर राखै याको। अन्तकाल हरिप्रापति ताको॥ ३७॥
तहाँ एक सुनिये इतिहासा। आयो प्रियादास कोउ पासा॥ ३८॥
तिन कहि भक्तमाल जो आही। मोहिं लिखाय देहु प्रभु ताही॥ ३९॥
तिन तेहिकही सुनहु सुखरासा। कहन सुननको है अभ्यासा॥ ४०॥
सोकहि मैं कछु कहिनहिंजानौं। सुनवेहुँ की गति नहिंपहिचानौं॥ ४१॥
आप कहे तौ करिहौ काहा। तिनयक कह्यो वचनअवगाहा॥ ४२॥
महाराज मैं हौं व्यवहारी। गृह कामनि मैं बूड़यों भारी॥ ४३॥
साधु संगतिहुँ को नहिं धारी। ताते मैं मन माहिं बिचारी॥ ४४॥
मरती बार हृदय पर धरिहौं। इतने साधुन संग उबरिहौं॥ ४५॥
सुनि यह बात नयन भरिआये। बहुत बड़ाई करि सुख छाये॥ ४६॥
ताको पोथी दियो लिखाई। सो लै घर गवन्यो सुखपाई॥ ४७॥

गृह कारज में अटक्यो भारी । आई ताहि मीचु भयकारी ॥ ४८ ॥
यमके दूतनि आय दबायो । दयो त्रास पुनि कंठ रुकायो ॥ ४९ ॥
पुत्रादिक रोवहिं बिललाता । तिन्हैं सयनदै कही सुबाता ॥ ५० ॥
भक्तमाल की पोथी लाई । मो छाती में देहु लगाई ॥ ५१ ॥
ते लाये पोथी रसभरी । मरत पिता के हिय पर धरी ॥ ५२ ॥
सब यमदूत धरत डरि भाजे । ज्यों कायर शूरन के गाजे ॥ ५३ ॥
कंठ खुल्यो नैननि जल ढार्‌यौ । हरे राम गोविंद उचार्‌यौ ॥ ५४ ॥
पुनि सब भक्तनि दरशन दीनौ । हिये माहिं आनँद सो भीनौ ॥ ५५ ॥
सुत हरषे पुनि पूछा अहो । कहा भयो सो हमसों कहो ॥ ५६ ॥
सो कह यमदूतनि दुखदीन्हों । हरिभक्तनि उबारि अब लीन्हों ॥ ५७ ॥
नामदेव रैदास कबीरा । धना सेन पीपा मति धीरा ॥ ५८ ॥
ठाढ़े मोहिं कहैं यह बाता । हमरे सँग आवहु हे ताता ॥ ५९ ॥
सो मैं अब इनके सँग जैहौं । यमदूतनि के मुख न चितैहौं ॥ ६० ॥
असकहि राम कृष्ण उच्चारत । नैनमूँदि हरि को उरधारत ॥ ६१ ॥
प्राण त्यागिहरिकोमिलिगयो । बेटन को अति ही सुख भयो ॥ ६२ ॥
तब ते तिनने यह मन भज्यो । जिन काहू कुल में तन तज्यो ॥ ६३ ॥
तिनके हिये धरेउ यहि काहीं । तुलसी चरणामृत मुख माहीं ॥ ६४ ॥
तिन कुटुम्ब नेवते जे आये । तिन सबको यह चरित सुनाये ॥ ६५ ॥
सो हम लिखनिकियोहै सही । और कहो महिमा का रही ॥ ६६ ॥
शेष सहस मुख जेहिं गावैंगुन । सोउ जन चरण रेणु जाँचैं पुन ॥ ६७ ॥
आपते अधिकदास को गावैं । जनकी महिमा किमि कहिआवैं ॥ ६८ ॥
प्रियादास अतिही सुखकारी । भक्तमाल टीका विस्तारी ॥ ६९ ॥
तिनको पौत्रपरम रँग भीनों । वक्तनहित महात्म यहकीनों ॥ ७० ॥

दो० "भक्तमाल के गंधकों, लेत भक्त अलि आय ।
भेक विमुख ढिगहीं बसैं, रहैं कीच लपटाय ॥"

इति श्रीभक्तमालमाहात्म्यं सम्पूर्णम् ॥

॥ प्रमाणिका छन्द ॥

नमामि भक्तमाल को ॥

"पढ़ें जो आदिअन्तलों बढ़ें सो पर्मतंत लों, दहै अनन्त साल को नमामि भक्तमाल को ॥ १ ॥ कथा करै जो याहि की व्यथा रहै न ताहि की, मिल सो रामलाल को नमामि भक्तमाल को ॥ २ ॥ प्रकार नौ की भक्ति जो सो अंग होत शक्ति सो, कहै गिरा रसाल को नमामि भक्तमाल को ॥ ३ ॥ गढ़े सो अन्य भाव है लहै जो भक्ति दाव है, यही प्रमाण भाल को नमामि भक्तमाल को ॥ ४ ॥ अभक्त भक्ति को लहै सभक्ति मुक्त ह्वै रहै, गिनै सो तुच्छ काल को नमामि भक्तमाल को ॥ ५ ॥ करै जो पाठ प्रात में सरै सुकाज गात में, हरैहि कर्मजाल को नमामि भक्तमाल को ॥ ६ ॥ मिलाय दुग्ध तक्र ते जु होत सर्पि चक्र ते, तथा सुबुद्धि बाल को नमामि भक्तमाल को ॥ ७ ॥ बहूपमा कहौं कहा कहे न पार को लहा, बखान सूर्य ख्याल को नमामि भक्तमाल को ॥ ८ ॥"

॥ श्रीः ॥

काशीकान्यकुब्जसभातः

समालोचना

श्री ५ युत-महामान्य—धन्यतम—सौजन्यमूर्तिभिः श्रीसीतारामशरण-भगवत्प्रसादैः श्री १००८ नाभास्वामिकृत-भक्तमालग्रन्थस्य तदुपरि श्री १०८ प्रियादासप्रणीतटीकाप्रबन्धस्यापि निर्मातुः भक्तिसुधास्वाद-नामको व्याख्यानरूपः संदर्भो भक्तिरसिकजनानां चेतस्सु परमाह्लाद-मुत्पादयति ।

प्रायश्चैतादृशी सरलता सरसता च व्याख्यानग्रन्थेषु न क्वापि दृग्गोचरीभूता, प्रशंसनीयः खलु व्याख्यातुर्महाशयस्य परिश्रमः किंच बहुस्थलेषु प्रियादासेन यः कथाभागो न समासादितः, सोपि भगव-द्भक्तिपरायणैर्भगवत्प्रसादैर्महता परिश्रमेणान्विष्य परिपूर्तिमापितः ॥

तथाच अस्य ग्रन्थस्य पूर्वोभागस्तिलककर्त्रा प्रेषितस्तत्समालो-चनायां सभातो यानि दूषणानि परिमार्ष्टुं विज्ञप्तिः कृता तद्विषये यथाशक्यं यतते ग्रन्थकारः ॥

समायात द्वितीयभागे ऋष्यशृङ्ग (शृङ्गीऋषि) वृत्तान्तं समीक्ष्या-पूर्वतरं साश्चर्या भवन्ति सभ्याः ॥

एवं च श्वपचवाल्मीकेः कथापि भगवद्भक्तिं सुदृढं दृढयति ॥ गोपिकावृन्दस्य भगवच्चरणारविन्दे परमप्रेमबोधिकां गीतिं दृष्ट्वा प्रस्तरमयहृदयस्यापि द्रवता भवति । इत्थमनेकगुणगणगुम्फितोयं ग्रन्थः सुभक्तजनानां परमोपादेयः ॥

भाषापि प्रशंसनीया, पुष्टचिक्कणपत्राणामुपरि मुद्रणमिति शम् ॥

श्रीकाशीजीटेढ़ीनीम
तारीख़ १७ मार्च, सन् १९०७

(हस्ताक्षर) काशीनाथ
मंत्री, कान्यकुब्जसभा
(हस्ताक्षर) Mani Ram Shastri.
सहकारी मंत्री, का० स०

पण्डित श्री ५ रामवल्लभाशरणजी।
पण्डित श्री ५ गंगादासजी भक्तमाली।
पण्डित श्री ५ रामनारायणदासजी।

(श्रीअयोध्याजी, १४ नवम्बर, १६०५)

"भक्तिसुधास्वाद नामक व्याख्यारूप संदर्भस्य काशीकान्यकुब्ज सभाया या सुष्टुतरा समालोचनाऽस्ति, तद्विषये श्रीपण्डित रामवल्लभाशरणस्य परमहंस गंगादासस्य श्रीपण्डित रामनारायणदासस्य च सम्मतिरस्ति ॥"

श्रीकाशी "भारतजीवन"

(८ अगस्त, १६०४)

(५ मार्च, १६०६)

"श्रीभक्तमाल"। टीका, तिलक सहित।

श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद विरचित।

"छपाई सफाई बहुत अच्छी प्रशंसनीय है। विशेषता यह है कि पुस्तक शुद्धतापूर्वक छपी है॥"

"भक्तपुरुषों के अवश्य धारण करने के योग्य है। कथा उत्तम रूप से वर्णित है॥"

पण्डित श्रीगंगादासजी परमहंस।

"छप्पय तथा कवित्त की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया हुआ है। चन्द्र-प्रभा प्रेस की उत्तमता का कहना ही क्या है। इस तिलक की सहायता से अब साधारणतः सबको बड़ी सुभीता होगी; और प्रेमी जन तो अतिशय आनन्द प्राप्त करेंगे। जहाँ प्रबन्ध में बहुत गुण होते हैं, वहाँ दोष का होना भी अवश्य ही है। किन्तु, हितकारी तिलककार की सच्ची दीनता-प्रार्थना, उससे बढ़ी हुई है॥"

(१५ मार्च, १६०६)

श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार

[२३ फेब्रिवरी, १९०६]

"जो कुछ लिखा गया है, बहुत सुन्दर लिखा गया है। पुस्तक संग्रह करने योग्य है।"

"श्रीवेङ्कटेश्वर समाचार"

(१३ अप्रैल, १९०६)

"भक्तमाल। श्रीस्वामी नाभाजी कृत मूल छप्पय, प्रियादासजी प्रणीत टीका कवित्त, तथा श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसादजी (अयोध्यानिवासी) कृत भाषा वार्तिक तिलक सहित। प्रत्येक भाग का मूल्य १) है। पुस्तक का विषय जैसा उत्तम है, छपाई इत्यादि भी वैसी ही अच्छी है। वैष्णवों को तो अवश्य मँगानी चाहिये॥"

Nabha Swami's "Bhaktamala", with annotations by Shri Sita Ram Sharan Bhagwan Prasad of Ayodhya, published by B. Baldeva Narayan Sinha, a pleader of Gaya, will prove a very valuable additoin to every efficient library of Hindi Literature.

10—4—'06. (Sd.) HARJIWAN LAL, B. A.

I have gone through the first three volumes of the work. It is a book I have read with keen interest and much pleasure. I think every Hindi library should have a copy of this valuable publication, and no Hindu family should be without a copy of this book which is bound to evolve sincere love for the *Maker* in any mind it meets.

Nowgong, Bundelkhand. (Sd.) **Mathura Prasad, B. A.**

रामायणी कविवर श्रीरामप्रसादशरणजी।

"शुद्ध अंतःकरण में विशेषरूप से वास करनेवाले प्रभु ने, अपने एक कृपापात्र (श्रीरूपकलाजी) के करकमल में विचित्र लेखनी देकर इस अपूर्वकार्य पर उद्यत करही तो दिया जैसी कठिन रास्ता था वैसेही "भक्ति सुधा स्वाद" के रसिक तिलककार ने राह निकाली और वह सीधा पथ भी कैसा कि जिस पर चलने से श्रीरामकृपा से फिर कठिनता से भेंटही न हो। सूक्ष्म विचार से तिलककार ने निस्सन्देह आवश्यकीय कार्य किया है, कि श्रीनाभाजी का मूल और साथ ही साथ श्रीप्रियादास-जी की टीका और फिर सरल भाषा में दोनों का भावार्थ; ठौर ठौर पर भाषा और संस्कृत ग्रंथों के प्रमाण के साथ, कि जो अन्तःकरण से मोह की जड़ को उखाड़ कर भक्तमाल के मूल को जमा दे, वर्णन किया है॥

सुगमता और सरलता को देखकर शुद्धता ने भी पूरा साथ दिया। मूल दोहे, छप्पय और कवित्तों के भावार्थके अतिरिक्त प्रायः कठिन शब्दों के अर्थ भी लिख दिये हैं। चौथे कवित्त के अर्थ में भक्ति पंचरस का वशीकरण यन्त्र देखकर अन्तःकरण अपना तन्त्र मंत्र भूल ही जाता है।—यह तिलक, रसिक के रस का भी पता बताता है श्रीसन्तों के चरणारविंद में तिलककार की प्रीति प्रतीति और सत्संग की व्यवस्था बताए देती है॥

छप्पय के तिलक में श्रीचरणचिह्नों का वर्णन महारामायण आदि ग्रंथों के अनुकूल और रसों की और परमात्मा जीवात्मा के चौबीस २४ सम्बन्धों की, व्याख्या कैसी विचित्र यन्त्रों में दर्शाया है कि जिसको करतल गत आमलक ही सा कहना चाहिए—॥ रसिक तिलककारजीने एक सराहनीय कार्य यह भी किया है कि प्रत्येक छप्पय और कवित्त के साथ ऐसा अङ्क लगा दिया है कि जिससे सर्वत्र शीघ्र ही यह निश्चय हो सकता है कि मूल में से कितने हो चुके और कितने अब शेष रह गये हैं॥"

रामप्रसादशरण दीन

"माधुरी"

"व्याख्यान की भाषा सरल और मनोहारिणी है। प्रत्येक पढ़े-लिखे हिन्दी-प्रेमियों को यह भक्तमाल मँगाकर अवश्य पढ़ना और लाभ उठाना चाहिए। जिन्हें अध्यात्मज्ञान प्राप्त करने के लिये बड़े-बड़े ग्रन्थों क पढ़ने का अवकाश न मिलता हो, उनके लिये यह ग्रंथ अति लाभ-दायक है। काग़ज़, छपाई-सफ़ाई अति उत्तम। पृष्ठ-संख्या लगभग १०००, सजिल्द का मूल्य" १५)

"खड्गविलास प्रेस से दो भागों में निकलने की बात थी; परन्तु एक ही भाग (मूल्य १)) उत्तम रूप से प्रकाश होकर रहगया कलियुग खण्ड नहीं छपा। कारण यह बताया गया कि प्रकाशक (बाबू बलदेव-नारायण सिंहजी) ने उसका अधिकार नवलकिशोरप्रेस को देदिया॥ अस्तु॥"

महेशप्रसाद (बी० ए०)

'मानस पीयूष'—"श्रीभक्तमाल और भक्तिरसबोधिनी की समालोचना की तो आवश्यकता ही नहीं। तिलक 'भक्तिसुधास्वाद' की प्रशंसा जो और महानुभाव कर चुके हैं उनको दुहराना आवश्यक नहीं। इस तीसरी आवृत्ति में पाठक कुछ विशेषता (चरणचिह्न चित्रइत्यादि) स्वयं अनुभव करेंगे॥ तिलककार के जीतेजी २० वर्ष के बीचही में तीन संस्करण हो जाना ऐसे ग्रंथकी कम प्रशंसा नहीं है॥"

(मूल ५ छप्पय १ देखिये)
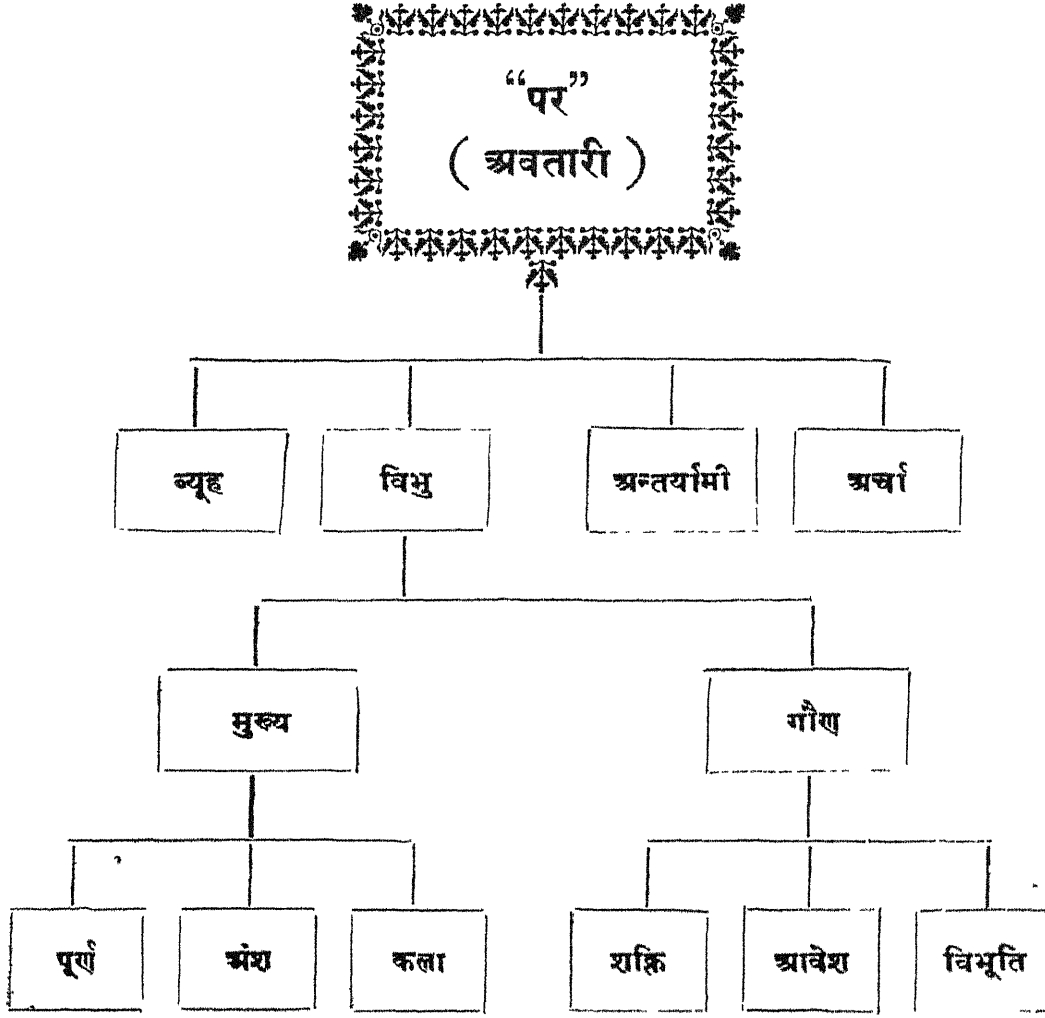
☞ **Sir George Grierson's "Gleanings from the Bhakta Mala."**

सर डाक्टर जार्ज ग्रियर्सनजी से ॥

* श्रीः *

श्रीभक्तनामावली वर्णमालाक्रमानुसार ॥